ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार प्रवचन

भाग-१

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
संकलित प्रवचन
(गाथा क्रमांक १ से १२ तक)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ
ललितपुर (उत्तरप्रदेश)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचन को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्व लाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रन्थराज की विस्तृत व्याख्या का प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है, यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रन्थराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से ही मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावना में दिया हुआ है, इसलिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसार में कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर 1008 श्री सीमन्धर भगवान के पादमूल में आठ दिवस तक रहकर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवों के लिए उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों के रूप से परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवं भविष्य में भी लगेंगे।

इसी प्रकार समयसार के अत्यन्त गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों का प्रकाशन करनेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी भगवान के गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गम्भीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिए उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवं रुचि की मन्दता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवं रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्व की जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से

समयसार के मर्मज्ञ एवं अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के सत् समागम का महान लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुननेवाला धुनिया रुई के बँधे पिण्ड को धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है। उसी प्रकार आपने भी समयसार के एवं उसकी टीका के गम्भीर से गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों को इतनी सरल एवं सादी भाषा में खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धिवाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्त काल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए हम मन्द बुद्धिवाले जीवों पर तो श्री कानजीस्वामी का महान-महान उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होती ? इसलिए हमारे पास आपके उपकार का वर्णन करने के लिए कोई शब्द ही नहीं है। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीरस्वामी के समय में दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेप में ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवों की रुचि, आयु, बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान का निर्वाण होने के करीब पाँच सौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्त्व का श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूप में संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उनकी और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या हो गयी और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करनेवाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजीस्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी संकलनता किस प्रकार किसके द्वारा और क्यों की गयी, यह सब प्रस्तावना में खुलासा किया गया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् पण्डित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अति उत्साह से यह अनुवाद-कार्य किया।

अन्त में पूज्य उपकारी गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसार को नष्ट कर देनेवाले सत्धर्म की प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १ — भवदीय—

वीर नि० सं० 2475 — **नेमीचन्द पाटनी, आगरा**

इस आवृत्ति का निवेदन

श्री समयसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गये प्रवचनों से अनेक मुमुक्षुओं को इस अध्यात्मशास्त्र का सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझने में तथा आत्महित की साधना में बहुत सहायता मिली है, अत: जैन समाज की विशेष माँग होने पर यह आवृत्ति प्रसिद्ध करने में आयी है।

वीर नि०सं० 2503
वैशाख शुक्ला-2

-साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मङ्गल भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमोगणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलं॥

भरतक्षेत्र की पुण्य भूमि में आज से 2474 वर्ष पूर्व जगत पूज्य परम भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाण के उपरान्त कालदोष से क्रमशः अपार ज्ञानसिन्धु का अधिकांश भाग तो विच्छेद हो गया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परम्परा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से आकाश स्तम्भ की भाँति कितने ही आचार्यों ने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्यों में से एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रवर्तित ज्ञान को गुरु-परम्परा से प्राप्त करके, उसमें से पञ्चास्तिकाय प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्रों की रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञान को चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हो गये हैं, दिगम्बर जैन परम्परा में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् होनेवाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, इसलिए यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तव में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने परमागमों में तीर्थंकर देवों के द्वारा प्ररूपति उत्तमोत्तम सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्ग को स्थापित किया है। विक्रम संवत् 990 में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि—'विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धरस्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ ने (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञान के द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते?' एक दूसरा उल्लेख देखिये,

जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है।'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए, श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है ऐसे श्री जिनचन्द्रसूरि' भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थ में.... सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।' इस प्रकार षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीका के अन्त में लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की महत्ता को दर्शानेवाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन सम्प्रदाय में कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से कुछ इस समय भी विद्यमान हैं, त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से प्रवाहित श्रुतामृत की सरिता में भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमान में भी अनेक आत्मार्थियों को आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रों में श्री समयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगत के जीवों पर परम करुणा करके आचार्य भगवान ने इस शास्त्र की रचना की है, इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्त काल से परिभ्रमण करनेवाले जीवों को कुछ समझाना शेष रह गया है, वह इस परमागम में समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान श्री समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में कहते हैं :—'काम-भोग-बन्ध की कथा सभी ने सुनी है, परिचय एवं अनुभवन किया है, किन्तु मात्र पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है। उसे एकत्व की - पर से भिन्न आत्मा की बात इस शास्त्र में मैं निजविभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञा के अनुसार समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा का एकत्व, परद्रव्य से और परभावों से भिन्नत्व को समझाया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसार का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये आचार्य भगवान ने उसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव, जीव और पुद्गल की निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतन्त्र परिणमन, नव तत्त्वों का भूतार्थस्वरूप, ज्ञानी के राग-द्वेष का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानी के राग-द्वेष का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्यदर्शन की एकान्तिकता, गुणस्थान आरोहण में भाव की और द्रव्य की निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होने में अज्ञानियों का अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदि की जड़ता उसी प्रकार चेतनता, पुण्य-पाप दोनों की बन्धनस्वरूपता, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान आदि अनेक विषयों का प्ररूपण श्री समयसारजी में किया गया है। इस सबका हेतु जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाना है।

श्री समयसारजी की महत्ता को देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवन्त हों वे पद्मनन्दि आचार्य आर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने महान तत्त्वों से परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्य जीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्य जीवों का परम आधार है। ऐसे दुषम काल में भी ऐसा अद्‌भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेव के मुखारविन्द से प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्‌भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजीस्वामी के शब्दों में कहा जाये तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें विद्यमान है, जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधकों के लिये कामधेनु कृल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व का रहस्य इमसें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।'

श्री समयसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १०वीं शताब्दी में हो गये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिस प्रकार श्री समयसार के मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्माख्याति के समान टीका आज तक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होंने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करनेवाले को ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भलीभाँति अनुभव हो जाता है। संक्षेप में गम्भीर-गूढ़ रहस्यों को भर देनेवाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जैसे मूल शास्त्रकर्ता ने समयसारजी शास्त्र को समस्त निज वैभव से रचा है, वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभव से टीका की रचना की है; टीका के पढ़नेवाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस कलिकाल में जगद्‌गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हों इस प्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति में विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरंगों से परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनियों पर उन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकों की हृदयतन्त्री को झंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कवि के रूप में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 गाथाओं की रचना प्राकृत में की है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्यदेव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवन्तों द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण में उन्हें अत्यन्त भक्तिभाव से वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पण्डित जयचन्द्रजी ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का हिन्दी में अनुवाद किया और स्वत: भी उसका कुछ भावार्थ लिखा। यह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नाम से विक्रम सम्वत् 1964 में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पण्डित मनोहरलालजी ने उसको प्रचलित हिन्दी भाषा में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम सम्वत् 1975 में प्रकाशित किया गया। इस प्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पण्डित मनोहरलालजी का और श्री परम श्रुतप्रभावक मुण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसार का अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी पर परम उपकार हुआ। विक्रम संवत् 1878 में उन महात्मा के कर कमलों में यह परमपावन चिन्तामणि आते ही उन कुशल जौहरी ने इसे परख लिया। सर्व रीति से स्पष्ट देखने पर उनके हृदय में परम उल्लास जागृत हुआ, आत्म भगवान ने विस्मृत हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्ति को सम्भाला और अनादि काल से पर के प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल हो गयी; तथा परसम्बन्ध से छूटकर स्वरूप में लीन हो गयी। इस प्रकार ग्रन्थाधिराज समयसार की असीम कृपा से बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजीस्वामी ने चैतन्यमूर्ति भगवान समयसार के दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसार में गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पिता से उत्तराधिकार में आई हुई अद्‌भुत निधियों को उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजी का गम्भीरतापूर्वक गहरा मनन करने के पश्चात् 'किसी भी प्रकार जगत के जीव सर्वज्ञ पिता की इस अमूल्य सम्पत्ति को समझ लें तथा अनादिकालीन दीनता का नाश कर दें।' ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आज तक पूज्य श्री कानजीस्वामी ने सात बार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़ में आठवीं बार वह अमृतवर्षा हो रही है। संवत् 1999-2000 की साल में जिस समय उनकी राजकोट में 9 महीने की स्थिति थी उस समय श्री समयसार के कितने ही अधिकारों पर उनके (छठवीं बार) प्रवचन हुए थे। इस समय श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट को ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल खिरे जाते हैं, यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओं की दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मी की प्राप्ति करा दें।' ऐसा विचार करके ट्रस्ट ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराने के हेतु

से उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखों से श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और उन्हीं का हिन्दी अनुवाद करके श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओं के हाथ में देते हुए हर्ष हो रहा है। इस अनुवाद में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आ जाये इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्र के मूल-कर्त्ता और टीकाकार अत्यन्त आत्मस्थित आचार्य भगवान थे, वैसे ही उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त अनके शास्त्रों के पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना-उदय के धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकों को उनके आत्म-अनुभव, गाढ़, अध्यात्म-प्रेम स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्ति के रंग में रंगा हुआ उनका चित्त अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उनका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिए उनके गुणों के विषय में यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावना का उदय होने के कारण गत चौदह वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम पद्मनन्दिपंचविंशतिका तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धिशास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगम रहस्य प्रकाशक स्वानुभव-मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्र में आत्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र सौराष्ट्र में ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्र के द्वारा प्रकाशित होने के कारण समस्त भारतवर्ष में अध्यात्मविद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत हो रहा है। इस प्रकार स्वभाव से सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण और अनादि अज्ञान को लेकर अतिशय दुर्गम हो गये जिनागम के गम्भीर आशय को यथार्थरूप से स्पष्ट प्रगट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानों से परिपूर्ण है; किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि गुरुदेव के समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए प्रवचन अंजन के बिना हम अल्पबुद्धिओं को वह कैसे प्राप्त होता? पंचम काल में चतुर्थ काल की झलक दिखानेवाले शासनप्रभावक गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने आगम रहस्यों को खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता।

जिस प्रकार गुरुदेव का प्रत्यक्ष समगाम अनेक जीवों का अपार उपकारक रहा है। उसी प्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्य काल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने के लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषम काल में जीव प्राय: बन्धमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ के बिना-निश्चयनय के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता उस पुरुषार्थ की जीवों को गन्ध भी नहीं आयी है, किन्तु मात्र

परावलम्बी भावों को – व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुषार्थ का उपदेश देनेवाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता है एवं समयसार परमागम का अभ्यास भी अति न्यून है। कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगम के बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीन वीर्य जीवों को अनादि अपरिचित होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यक्ष समागम के बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनों के बिना समझना अत्यन्त कठिन है। श्री समयसारजी की प्राथमिक भूमिका की बातों को ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिका की कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते हैं तथा निरालम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्र ही वस्तु है, इस प्रकार उसकी अपेक्षा करके सालम्बी(परावलम्बी) भावों के प्रति जो आग्रह है, उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थिति में जब कि सम्यक्-उपदेष्टाओं की अधिकांश न्यूनता के कारण मोक्षमार्ग का प्रायः लोप हो गया है तब युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने श्री समयसारजी के विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनों के द्वारा जिनागमों का मर्म खोलकर मोक्षमार्ग को अनावृत करके वीतराग दर्शन का पुनुरुद्धार किया है, मोक्ष के महामन्त्र समान समयसारजी की प्रत्येक गाथा को पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थ को प्रवचनरूप से प्रगट किया है। सभी ने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परमभक्त श्री कानजीस्वामी ने समयसारजी के अत्यन्त अर्थ-गम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव के कैसे भाव रहें तब नव तत्त्वों का भूतार्थ स्वरूप समझ में आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिक की प्राप्ति हुई कहलाती है—आदि विषयों का मुनष्य के जीवन में आने वाले सैकड़ों प्रसंगों के प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओं को उन-उन विषयों का स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर हो और वे बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग की कल्पना को छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक्-पुरुषार्थ में लीन हो जायें। इस प्रकार श्री समयसारजी के मोक्षदायक भावों को अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषा में अत्यन्त स्पष्ट से समझाकर जगत का अपार उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्त्व-रत्नों का मूल्य ज्ञानियों के हृदय में छुपा हुआ था। उसे उन्होंने जगत को बतलाया है।

किसी परम मंगलयोग में दिव्यध्वनि के नवनीत स्वरूप श्री समयसार परमागम की रचना हुई। इस रचना के पश्चात् एक हजार वर्ष में जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसारजी के गहन तत्त्वों को विकसित करनेवाली भगवती आत्मख्याति की रचना हुई और उनके उपरान्त एक हजार

वर्ष पश्चात् जगत में पुनः महापुण्योदय से मन्दबुद्धियों को भी समयसार के मोक्षदायक तत्त्व ग्रहण करनेवाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि क्रमशः मन्द होती जा रही है तथापि पंचम काल के अन्त तक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजी के गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होने के लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगों में प्रगट हुए जगत के तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवन्त रहें। और स्वानुभूति के पंथ को प्रकाशित करें।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशतः सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजीस्वामी के चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप बह रह हों। ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी अन्तर-वेदन को उग्ररूप से व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अपार प्रेम से उभराती, हृदयस्पर्शी वार्णी सुपात्र पाठक के हृदय को हर्षित कर देती है और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण करके शुद्धात्म रुचि जागृत करती है। प्रवचनों के प्रत्येक पृष्ठ में शुद्धात्म महिमा का अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गुंजित हो रहा है, और प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभव रस झर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरस से और अनुभव रस से मुमुक्षु का हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्मा की लय में मग्न हो जाता है, शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इस प्रकार दिव्य तत्त्वज्ञान के गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्म रुचि को जाग्रत करके पुरुषार्थ का आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी दिखलानेवाले यह प्रवचन जैन साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं एवं जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आ गया है, जैसे श्रुतामृत का परम आह्लादजनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचन-ग्रन्थ हजारों प्रश्नों के सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, परके प्रति जो रुचि है, उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थियों के लिये यह अत्यन्त उपकारी है। परम पूज्य कानजीस्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेंट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करनायोग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्व प्रथम यदि कोई कर्तव्य हो तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत है। हे मुमुक्षओं! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इसमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो।

रामजी माणेकचन्द दोशी

प्रमुख

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अगहन वदी 12

वीर सम्वत् 2475

ॐ

!! नमः समयसाराय !!

समयसार प्रवचन

(भाग-१)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के संकलित प्रवचन

मङ्गलाचरण

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनमः॥

श्री पंच परमेष्ठी को नमस्कार!

प्रथम 'ॐ' शब्द है। जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहन्त परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के पुण्यप्रारब्ध के कारण दिव्यवाणी का योग होने से ओष्ठ बन्द होने पर भी आत्मा के सर्व प्रदेशों से ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्यवाणी खिरती है। (उसे वचन-ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्द ब्रह्मरूप है) अरहन्त भगवान सर्वथा अकषाय शुद्धभाव से परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होने से वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है। और वह वाणी ॐकाररूप में बिना ही इच्छा के खिरती है। इस प्रकार की ॐकार दिव्यध्वनि-सरस्वती के रूप में तीर्थंकर की वाणी सहज भाव से खिरती है।

+ॐकारमय ध्वनि—तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना को सुननेवाला जीव अन्तरंग से अपूर्व भाव से उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा—इतना ही हूँ। ऐसी सहज 'हाँ' कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्याय को प्राप्त करता है। जो जीव नित्य स्वभाव भाव से, नित्य मंगल पर्याय से परिणमित हुआ है, वह भव्य जीव नैगमनय से परमार्थ का आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करके वह अल्प काल में ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशा को प्रगट कर लेता है, जो शक्तिरूप में विद्यमान है।

यहाँ ॐकार से शुद्ध स्वरूप को नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्मस्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्धदशा जिसे प्रगट हो गयी है, उसे पहचानकर नमस्कार करना, सो व्यवहारभावस्तुति है। उससे हटकर स्वरूप में लीन होना हो निश्चयभावस्तुति है। परमात्मा को नमस्कार करनेवाला अपने भाव से अपने इष्ट स्वभाव को नमस्कार करता है, वह उसी की ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पूर्व भगवान की दिव्यवाणी के नमस्कार के रूप में मंगलाचरण किया है।

स्वाध्याय का अर्थ है—स्व के सम्मुख जाना; स्वभाव के अभ्यास में ही परिणमित होना। अधि-सन्मुख; आय-युक्त होना। स्वरूप में युक्त होना, सो स्वाध्याय है। जो पाप को गाले और पवित्रता को प्राप्त करावे, सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रगट है, ऐसे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की अखण्ड देशना को जो भव्य जीव अन्तरंग में उतारकर, अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को निश्चय से जानकर, 'मैं भी ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभाव की दृष्टि से अभेद को लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक पुण्य-पाप उपाधिमय सर्व कर्मों का नश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥२॥

+ अ=अरिहन्त, अ=अशरीरी, सिद्धपरमात्मा, अ=आचार्य, उ=उपाध्याय, म=मुनि, अ+अ+आ+ऊ +म=ॐ (ओम्)
इस महामन्त्र में पंच परमेष्ठी पद, सर्व शास्त्रों का सार, सर्वगुणसम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का भाव अन्तर्हित है।

भावार्थ:—ओम्कार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओम्कार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूप की पहचान और रुचि परमात्म पदरूप पूर्ण पवित्र इष्ट को देनवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्मा का नित्य ध्यान करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यदि किसी अंश में दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ऐसे 'ओम्' को बारम्बार नमस्कार हो!

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्॥२॥

भावार्थ:—अविरल सम्बन्धरूप शब्दमेघ ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्यध्वनि की दिव्यधारारूपी तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना, सद्बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञान को कहनेवाली है। वह कैसी है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जैसे मेघ-वर्षा पृथ्वी के मैल को धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवान की दिव्यध्वनिरूपी सरस्वती अखण्ड ज्ञानधारा के द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवों के दोष-दु:खरूप मल-मैल-पाप को धो डाला है; अशुद्ध परिणति का नाश कर दिया है, जिसके तीर्थ की मुनीश्वरों द्वारा उपासना की गयी है। ऐसी सरस्वती हमारे दोषों को हरो।

दूसरे मंगल में श्री गुरुदेव को नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥३॥

भावार्थ:—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में अन्ध बने हुओं की आँखों को ज्ञानाञ्जनरूपी शलाका से खोल दिया है, उन श्री गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रान्ति, राग-द्वेष और मोह का नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्य के देनेवाले हैं। ज्ञानी का वचन सुयोग्य जीव को प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणी को सावधान होकर श्रवण करो और मोह का नाश करके स्वरूप में सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्य की यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टि के द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायकस्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागम का सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समय-साराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।

अर्थः—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थों में साररूप है। सार = द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूप को पहचानकर भाव से नमस्कार करके अन्तःस्वरूप में झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूप का आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़रूपी कर्मप्रकृति है।

भावकर्म = राग-द्वेष विकाररूप विभावादिक शक्ति का परिणमन; द्रव्यकर्म का निमित्त प्राप्त करके जीव में विकार होता है, वह अशुद्ध उपादान के आश्रित है, किन्तु स्वभाव में नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भाव भूलरूप नहीं है-क्षणिक विकारी भाव हैं। कर्म = कार्य।

विभावरूप = शुभाशुभ कर्मभाव के रूप में अशुद्ध-विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्रूप; अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, पर के आधार से रहित त्रैकालिक, सहजस्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, पर से असंयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाली स्थिर रहनेवाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि-अन्त नहीं है, वह स्वतन्त्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप संज्ञा के द्वारा गुण-गुणी अभेद स्वतन्त्र पदार्थ का लक्ष्य करके (वाचक शब्द से उसके वाच्य-पदार्थ को) ज्ञान ने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप असंग निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञान के द्वारा पहचान करके, पर से पृथक् सम्यग्ज्ञान द्वारा समझकर उसे नमस्कार करता हूँ।

पदार्थ किसी अपेक्षा से भावरूप है और किसी अपेक्षा से अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपन से भावरूप है, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपन से है; और पर की अपेक्षा से नहीं है; अतः उस अपेक्षा से अभावरूप है।

स्वाधीनरूप से भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भाव में आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नहीं खुली है, उतने अंश में अभावरूप है। नित्य द्रव्यस्वभाव से भावरूप है।

(द्रव्य = वस्तु) क्षणवर्ती पर्याय का व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय = अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानन्द त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसे असली स्वभाव को भूलकर मैं रागी-द्वेषी हूँ, क्षणिक कषाय वेग की वृत्तियाँ ठीक हैं, पुण्यादिक देहादि में सुखबुद्धि के द्वारा ठीक रहें, स्थिर रहें; ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व-विभक्त भाव का अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भाव से अविनाशी सहज स्वभाव की 'हाँ' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभाव को अपने अनुभव से निश्चय के द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार परभाव का निषेध करता है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म मैं नहीं हूँ, तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में एकत्वभाव से स्थिर होता है अर्थात् स्वभाव में परिणमन करता है, नमता है या उस ओर ढलता है, तब नास्तिक मतरूप विपरीत दशा का (विकारी पर्याय का) अभाव हो जाता है।

चित्स्वभावाय = ज्ञानचेतना जिसका मुख्य गुण है, उससे पूर्ण चैतन्यस्वभाव त्रिकाल स्वाधीनरूप है। जो 'है' उसी को पहचानने से भेद-विकल्प (राग) का लक्ष्य छूट जाता है, इसलिए उस अखण्ड गुण में एकाग्र स्थिरता होने पर शुद्धस्वभाव की प्राप्ति होती है। ज्ञानचेतना की अनुभूति के द्वारा प्राप्त की प्राप्ति होती है। पर निमित्त रहित अन्तर में, स्थिर स्वभाव में स्थिर होने से वह प्रगट होता है। बाह्य लक्ष्य से वह स्वरूप प्रगट नहीं होता। 'मैं' अखण्डित चैतन्यरूप अपार अनन्त सामर्थ्य से पूर्ण हूँ। पर से भिन्न अकेला पूर्ण और स्वाधीन हूँ। इस प्रकार की श्रद्धा अन्तरंग एकाग्रता से प्रगट होती है। अपना गुण किसी बाह्य निमित्त से नहीं आता, किन्तु अपने स्वभाव में से ही प्रगट होता है।

अधूरी अवस्था समस्त द्रव्य को एक ही साथ प्रत्यक्ष लक्ष्य में नहीं ले सकती, किन्तु अपने त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य को पहचानने के लिए गुण-गुणी में व्यवहारदृष्टि से भेद करके अभेद के लक्ष्य से प्रत्येक गुण को लक्ष्य में लेकर निर्णय किया जा सकता है। उससे कहीं वस्तु-स्वभाव में सर्वथा भेद नहीं होता। वर्तमान मतिश्रुतज्ञान से त्रैकालिक पूर्ण

आत्मस्वभाव का स्वाधीनतया निर्णय किया जा सकता है। वह असली स्वभाव क्योंकर प्रगट होता है? 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् अपने ही अनुभव से प्रगट होता है। पर से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञदेव ने जैसा निर्णय किया है, वैसा ही निश्चय करने से स्वाधीन अनुभूतिरूप शुद्ध निर्मल अवस्था अन्तरंग परिणतिरूप ज्ञानक्रिया के द्वारा प्रगट होती है। उससे शुद्धस्वभाव की प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्धस्वभाव दशा प्रगट होती है। (अन्तरंग स्थिति के लिए आभ्यन्तर ज्ञानक्रिया में सक्रिय है और पर से अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भाव से राग (विकल्प) से अविकारी स्वभाव प्रगट नहीं होता।

निश्चय से अर्थात् यथार्थ दृष्टि से स्वयं निज को अपने से ही जानता है, उसमें किसी निमित्त का आधार नहीं है। अपनी सहज शक्ति से ही स्वयं परिणमन करता है जानता है और प्रगट प्रकाश करता है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ता के भान में स्वयं प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। अज्ञानी भी निज को ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूप से मानता है। वास्तव में तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्म-अभिप्राय पराश्रित है, वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्त का साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यों माननेवाले निज को ही नहीं मानते। और फिर कोई यह माने कि पहले भव का स्मरण हो तो जान सकूँ, वर्तमान सीधी बात को मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञानस्वरूप का लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमान में ज्ञान की निर्मलता से स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहले का भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अभी जाग और उन्हें देख। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और अनन्त बलस्वरूप धर्म तो आत्मा के स्वभाव में ही है; किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थ से त्रिकाल स्वभाव को जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थ के लिए पूर्वभव का स्मरण तथा किसी निमित्त के आधार पर ज्ञानधर्म होता हो तो एक गुण के लिए दूसरे पर-गुण का आधार तथा अन्य पर-पदार्थ का आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परम्परा से पराश्रितपन का बहुत बड़ा दोष होता है। पराश्रित सत्ता को नित्य स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एकरूप हैं। अवस्था में शक्ति-व्यक्ति का भेद है, किन्तु वस्तु में-गुण में खण्ड-भेद नहीं है। गुणी के आधार से त्रिकाल गुण साथ ही रहते

हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलता से, पुरुषार्थ से स्वानुभव से प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधार से स्वयं निज को जानता है, इसलिए प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिे—अपने को तथा समस्त जीव-अजीव चराचर विश्व में स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओं को एक ही साथ जानने की स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीव में है। ऐसा चैतन्यस्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा इतना पूर्णस्वभाववान ही आत्मा है। उसकी हाँ कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है, बड़ा है, पूर्ण स्वभाव में त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त, अपार के ज्ञाता तथा अपार और अनन्तता को ध्यान में लेनेवाले की थैली (ज्ञान-समझशक्तिरूपी थैली) भावदृष्टि से (गम्भीरता में) अमाप है; अनन्त गम्भीर भावयुक्त है। इस प्रकार का मान करनेवाला स्वयं ही शक्तिरूप में पूर्ण परमात्मस्वरूप, सर्वज्ञ स्वभाव को पहचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्य के लक्ष्य से प्रगट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है, रुचि है, वह उस रूप हो जाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति के बिना परमात्मा की भक्ति नहीं हो सकती। परमात्मा की पहचान के बिना राग का-विकार का-संसारपक्ष का बहुमान करेगा। स्वरूप की प्रतीतिवाला नि:शंकतया पूर्ण को (साध्य को) नमस्कार करता हुआ अखण्डता से, अखण्ड सत् के बहुमान द्वारा पूर्ण को प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय अनन्त पदार्थ को सर्वरीत्या जानने की शक्ति प्रत्येक जीवद्रव्य में विद्यमान है। प्रत्येक समय में तीनों काल और तीनों लोक केवलज्ञान में सहज दिखायी देते हैं। अनन्त के वाच्यरूप भाव को भव्य जीव श्रवण करके एक क्षण भर में अनन्त का विचार कर लेते हैं। अनन्त ज्ञान की शक्ति और सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहनेवाले समस्त जीव शक्तित: सर्वज्ञ हैं। ना कहनेवाला भी अपार अनन्त को ध्यान में लेनेवाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अत: प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। निश्चय से मैं पूर्ण अखण्ड आनन्दघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वत: हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट अनुपम स्वभाव को पहचानकर अपनी अपूर्व महिमा को प्राप्त करके अपने को देखनेवाला

अपूर्व महिमा को लाकर नम्रीभूत होता हुआ वैसा ही है। पूर्ण स्वभाव को माना-जाना और उसमें नत होता हुआ, वह श्रद्धा से पूर्ण ही है। वह बीच में पुरुषार्थ के काल के अन्तर को भाव से पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्मा को देखता हुआ पूर्ण स्वभाव की महिमा को गाता है। वह संसार की महिमा को नहीं देखता। बाह्य इन्द्रियों के आधीन बाह्य दृष्टि करनेवाला, अपने को भूलकर दूसरे के बड़प्पन को आँकता है। किन्तु पूर्ण शक्ति को बतानेवाली जो दिव्यदृष्टि है उस पर वह विश्वास नहीं ला सकता और वर्तमान को ही मानता है।'

अधूरी दशा होने पर भी मेरे में शक्ति की अपेक्षा से तीन काल और तीन लोक को जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखायी नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय निज से हो सकता है। जिसमें तीन काल और तीन लोक एक ही समय में दिखायी देते हैं, ऐसे अपने त्रैकालिक ज्ञान को ही मैं जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहनेवाला वर्तमान अपूर्ण ज्ञान से सम्पूर्ण का निर्णय नि:सन्देह तत्त्व में से लाता है।

मैं पर को जानूँ तभी मैं बड़ा हूँ, यह बात नहीं है; किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्त ज्ञान ऐश्वर्य के रूप में होने से मैं पूर्ण ज्ञानघन आत्मा हूँ। इस प्रकार पूर्ण साध्य का निश्चय करके उसी में एकत्व-विभक्त, भिन्न एकाकार (पर से भिन्न, अपने से अभिन्न) परिणति को युक्त करके 'आत्मख्याति टीका' के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्ति को जानकर जो निश्चय से नमता है, वही अपनी शुद्ध परिणतिरूप होकर स्वाधीन स्वभावरूप से नत हुआ है। वही परमात्मा का भक्त है। प्रतीतिहीन जीव ही राग के प्रति नत होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनन्त गुण युक्त समस्त जीव-अजीवादि पदार्थों को एक समय में ही एक ही साथ प्रगटरूप से जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही साररूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभाव में तन्मय अस्तिरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसार के रूप में नहीं हुआ। अब राग -द्वेषरूप संसार का आदर कभी नहीं करूँगा इस प्रकार की सौगन्धविधि सहित भाववन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है, उपादेय है, उसी की श्रद्धा, रुचि और

प्रतीति के द्वारा सर्वज्ञ के न्याय से जिसने त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव को स्वीकार किया, वह सर्व पदार्थ, त्रिकाल की अवस्था को प्रतीति के द्वारा जाननेवाला हुआ। अब यदि वह उसी भाव से स्थिर रहे तो उसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक उत्पन्न न हो। 'मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भाव से अशान्ति और असमता नहीं होती। जैसी सुन्दर रूपवाली अवस्था को लिये हुए आम (आम नाम का पुद्गल पिण्ड) पहले विष्टा के खाद में से उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्था में सुन्दर दिखायी देता है। स्मरण रहे कि वह पुन: विष्टारूप परिणमित होनेवाला है। इस प्रकार त्रिकाल की अवस्था को देखनेवाले को सुन्दर-असुन्दर दिखायी देनेवाले किसी भी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष या हर्ष-विषाद नहीं होता, और इस प्रकार किसी के प्रति मोह नहीं होता। नारकी के शरीर को छोड़कर बहुत बड़ी महारानी के पद पर उत्पन्न हुआ जीव पुन: नरक में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पुद्गल की विचित्रता को देखनेवाले को, त्रिकाल लगातार जाननेवाले को राग-द्वेष अथवा मोहरूप में अटकना नहीं होता। देहादिक अशुचिमय-दु:खमय क्षणिक अवस्थावाले पदार्थ वर्तमान में कदाचित् पुण्यवाले, सुन्दररूपवाले दिखायी दें अथवा कुरूप या रोगरूप दिखायी दें तो भी उनमें मोह नहीं करता। क्योंकि त्रिकाल के ज्ञान को जाननेवाला यह वीतरागदृष्टि है और वह सर्वज्ञदृष्टि धर्मात्मा है।

प्रश्न:—यहाँ इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया? और शुद्ध आत्मा को क्यों नमस्कार किया है?

उत्तर:—आत्मा अनेकान्त धर्मस्वरूप है। उसे पहचाननेवाला अनेक अपेक्षित धर्मों को जानकर (समझकर) उसे गुण-वाचक इत्यादि चाहे जिस नाम से सम्बोधित करता है।

जैनधर्म राग-द्वेष, अज्ञान को जीतनेवाला आत्मस्वभाव है। इस प्रकार शुद्धस्वभाव को माननेवाला धर्मात्मा जहाँ देखता है, वहाँ गुण को ही देखता है, गुण को ही प्रधानता देता है व्यक्ति को नहीं। जैसे पंच परमेष्ठी में पहले णमो अरिहताणं कहकर गुण-वाचक पद की ही वन्दना की है। 'णमो महावीराणं' इस प्रकार एक नाम लेकर किसी व्यक्ति विशेष की वन्दना नहीं की है। वह जो जैसा होता है, उस व्यक्ति को वैसा ही जानता है। व्यक्तिभेद करने पर राग होता है। इसलिए गुण-पूजा प्रधान है। धर्मात्मा किसी एक भगवान का नाम

लेकर भी वन्दना करता है। किन्तु धर्मात्मा का लक्ष्य तो गुणी के गुणों के प्रति ही होता है। व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होता। इसलिए गुण-पूजा प्रधान है।

ब्रह्मा = अपने सहज आनन्द गुण को ब्रह्म (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भोगता है अथवा ब्रह्मा = सृष्टा, अपनी स्वाधीन सुखमय अवस्था को उत्पन्न करनेवाला। प्रत्येक समय नयी-नयी पर्याय को उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वस्वभाव परिणमनरूप सृष्टि का कर्ता जीव है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव स्वयं स्वतन्त्र ब्रह्मा है।

विष्णु = राग-द्वेष-मोहरूप विकार से रहित अपने शुद्ध स्वभाव को स्थिर रखनेवाला अथवा विभाव से निज को बचानेवाला और निजगुण की रक्षा करनेवाला विष्णु है। प्रत्येक समय अपने अनन्त गुण की शक्ति की सत्ता से निज ध्रुवशक्ति (सदृश अंश) को लगातार स्थिर रखने के कारण प्रत्येक आत्मा स्वभाव से विष्णु है।

महेश = जो राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है अथवा पूर्ववर्ती क्षणिक पर्याय का नाश करता है, वह महेश है। जो अनुपम है अर्थात् जिसे किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती, जो स्वयं ही समस्त पदार्थों को जाननेवाला है और ज्ञान के द्वारा माप करनेवाला तथा अपना ज्ञान एवं ऐश्वर्यवाला है, इसलिए वह अनुपमेय है। तथापि कथन में वह सिद्ध परमात्मा के समान कहा जा सकता है। जैसे शुद्ध आत्मा कैसा है ? जो शुद्ध बुद्ध मुक्त प्रगट सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वैसा है। जैसा है वैसा (शाश्वत् टंकोत्कीर्ण) परसत्ता से भिन्न स्वसत्ता में निश्चल है।

पुरुष = जो अखण्ड ज्ञान-दर्शन-उपयोग में एकत्व मानता और जानता हुआ उपयोगपूर्वक स्वरूप में एकाकार होकर पूर्ण पवित्र दशा को प्राप्त करके उत्कृष्ट आनन्दरसरूपी 'शिव-रमणी' के साथ रमण करता है, तथा शुद्ध 'चेतना सखी' के साथ निराकुलता सहित निजानन्द पूर्वक केलि करता है, वह पुरुष है।.....

पुरुष = आत्मा।

सत्य आत्मा = अपने पूर्ण स्वरूप को पहचाननेवाला तथा शुद्धस्वरूप में सुनिश्चित भाव से रहनेवाला, स्थिर होनेवाला एवं परमात्मदशा को प्राप्त सत्य आत्मा है और राग -द्वेष-अज्ञान भाव को प्राप्त मूढ़ आत्मा मिथ्यादृष्टि है, अनात्मा है।

अरहन्त = पूज्य = त्रिकाल के इन्द्रों के द्वारा पूजा के योग्य त्रिलोक पूज्य हैं, तीनों

लोक में सबके लिये वन्दनीय हैं सभी गुण निर्मल प्रगट हो गये हैं और जिनमें परम पूज्य गुण की मुख्यता प्रगट है, वे पूज्य हैं।

जिन = राग-द्वेष और अज्ञान को स्वरूप की स्थिरता के द्वारा जीत लिया है, ऐसे पूर्ण पवित्र वीतरागता को जिन कहते हैं।

आप्त = अठारह दोषों से रहित परम हितोपदेशक सर्वज्ञ आप्त हैं।

भगवान् = महिमावान्। सहज आनन्द = पर निमित्त से रहित निरुपाधिक स्वाभाविक आनन्द।

हरि = जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति से मिथ्यात्व और पुण्य-पाप के रोग को हर लेता है सो हरि है। जो पराधीनता का, रागादि मल का, कर्म कलंक का नाश करके पूर्ण पवित्र स्वाधीनता प्रगट करता है, पुण्य-पाप की उपाधि को हरता है और पवित्रता को प्राप्त करता है, वह हरि है। इस प्रकार जो-जो गुणनिष्पन्न नाम हैं, उन गुणों को लक्ष्य में रखकर उस अपेक्षा से आत्मा का कथन करने में कोई विरोध नहीं है। (एकान्त पक्षवाले को नामादि में विरोध होता है।) यदि कोई 'पापी' नाम रखे तो पापी अर्थात् पा + पी = दूसरे को सत्बोधरूपी धर्म अथवा अमृतरूपी उपदेश को पिलानेवाला और स्वयं पीनेवाला अर्थात् स्वयं अपने ही सहज समता आनन्द गुण को धारण करनेवाला सिद्ध हुआ। इस प्रकार गुण की दृष्टि को ही मुख्य करनेवाले, अनेक अपेक्षाओं को समझनेवाले अर्थात् इस प्रकार विशाल बुद्धि द्वारा सम्यक् अपेक्षारूप स्याद्वाद से वस्तुस्वभाव को समझनेवाले का राग-द्वेष विलीन हो जाता है।

इस समयसार में आत्मा की शुद्धि का अधिकार है।

आत्मा देहादि-रागादि से पृथक् है। जब तक आत्मा ऐसी वास्तविकता नहीं जानता तब तक मोह कम नहीं होता। जब यथार्थता जानी जाती है, तभी अन्तरंग से परपदार्थ की महिमा दूर होती है और निज का माहात्म्य प्रगट होता है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को जैसा देखा, वैसा ही आत्मस्वभाव इस समयसार शास्त्र में वर्णित है।

दूसरे कलश का प्रारम्भ

अनन्त-धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्त-मयी मूर्तिर्नित्य-मेव प्रकाशताम्।।२।।

अर्थः—जिसमें अनेक अन्त-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाशतां अर्थात् प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं, ऐसा और प्रत्येक-परद्रव्यों से, परद्रव्य के गुण-पर्यायों से भिन्न तथा पर द्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निजस्वरूप को पश्यन्ती-अवलोकन करती (देखती) है।

यहाँ पर सरस्वती को नमस्कार किया है। वह कैसी है—अनन्त धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती। उसमें कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है। उसके स्वभावरूप अनन्त धर्म एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसे सर्व पदार्थों के स्वरूप को सरस्वतीरूप सम्यग्ज्ञान यथार्थ प्रकाशित करता है। आत्मा में अनन्त धर्म स्वाधीनतया भरे हुए हैं। वे आत्मा की पहिचान और स्थिरता के द्वारा आत्मा से प्रगट होते हैं।

कोई कहता है—'अभी यह समझ में नहीं आ सकता' किन्तु आत्मा कब नहीं है? देह, इन्द्रियादिक तो कोई जानता नहीं है। जो जानता है वही स्वयं है, इसलिए अवश्य समझा जा सकता है। अपने को सर्वज्ञ के न्यायानुसार जाने तो उसमें स्थिर हो और अतीन्द्रिय आनन्द आवे।

अनन्त गुण = अपार गुण। प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में स्वतन्त्रतया अनन्त धर्म हैं। देह-मन्दिर में भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान-आनन्द स्वरूप में अनन्त गुणरूप तत्त्व है, उसे पहचानकर स्थिरता करे तो शुद्धस्वरूप प्रगट हो। इसका नाम है धर्म।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन प्रत्येक में शाश्वत् अनन्त गुण देखे हैं। किसी के गुण किसी के आधीन नहीं हैं। पर-वस्तु किसी के लिए मदद्गार नहीं है, इसलिए वस्तु अर्थात् पदार्थ के कोई गुण किसी के आधीन नहीं होते।

कुछ गुणों का कथन

[१] प्रत्येक पदार्थ में सत् (अस्तित्व) गुण अनादि-अनन्त है, इसलिए प्रत्येक वस्तु नाशरहित है, अपनी अपेक्षा से सत् है, किसी के आधीन नहीं है। यह समझने से स्वाधीन सुखरूप धर्म अपने आप से प्रगट हो जाता है। इस प्रकार पर से भिन्न ज्ञान हो जाये तो अपने सुख को स्वत: प्राप्त कर ले।

[२] प्रत्येक पदार्थ में वस्तुत्व नाम का गुण है! प्रत्येक पदार्थ अपने आप प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं ही कर सकता है। इसलिए अन्य कर्ता की उसकी क्रिया में अपेक्षा नहीं है। आत्मा पर से भिन्न है। और मन, वाणी, देहादि सर्व संयोग आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इसलिए आत्मधर्म में किसी अन्य पदार्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

(यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात मेरी समझ में नहीं आती, तब उसे अनन्त काल में जो महा दुर्लभ मनुष्यभव मिला वह किस काम का? आत्म प्रतीति के बिना जगत में अनन्त कुत्ते, बिल्ली, कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, उनका क्या महत्त्व है? इसी प्रकार अनन्त काल में अनन्त प्रकार से महान् दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके अपूर्व आत्मस्वभाव को सत्समागम के द्वारा न जाना तो उसकी कोई कीमत नहीं है। और यदि पात्रता के द्वारा आत्मस्वभाव को जान ले तो उसकी महिमा अपार है।)

वस्तुत्वगुण का अर्थ प्रयोजनभूत अपनी क्रिया का करना है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रवृत्ति अपने आप करती है, तद्नुसार आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा करता है। जड़-परमाणु इत्यादि अपनी क्रिया अपने आप करते हैं, उसमें किसी की सहायता नहीं होती। इसलिए देह की क्रिया जीव की सहायता के बिना देह स्वतन्त्रतया करती है। देह की क्रिया देह में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्रतया करता है। उसमें आत्मा कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा और जड़ देहादि क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्व का अज्ञान है। पर वस्तु की क्रिया तीन काल और तीन लोक में कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थ में 'प्रमेयत्व' अर्थात् किसी भी ज्ञान का विषय होना विद्यमान है। उसमें बताने की योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेय का अर्थ है—ज्ञान में किसी न किसी

ज्ञान में ज्ञात होने योग्यपना-अपने को जानने की योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्न:—क्या वह आँखों से दिखायी देता है।

उत्तर:—नहीं; वह ज्ञान के द्वारा ही दिखायी देता है—ज्ञात होता है। आँख तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जाननेवाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञान के द्वारा ठण्डा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञान में जानने की क्रिया करता है। उस ज्ञान की क्रिया में ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपने को जानता है। और ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्नरूप से ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्मा का गुण है। स्वयं अपने को ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझ में आ जाते हैं।

इस देह में रहनेवाला आत्मा देह से भिन्न है। यदि यह न जाने तो अन्तरंग में पृथक्त्व के ज्ञान का कार्य जो शान्ति है वह न हो, किन्तु अज्ञान का कार्य जो अशान्ति है, जिसे जीव अनादि काल से कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्मा का त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है, उसमें अनन्त पदार्थों को युगपत् जानने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादि से देह-इन्द्रियों से दृष्टिपात करके अपने को भूलकर राग के द्वारा पर को जानता रहता है। दृष्टिपात करनेवाला तो स्वयं है किन्तु मोल दूसरे को चुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुण का मूलधन किस प्रकार विद्यमान है यह तो नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता है कि घर पर नालियाँ, खिड़कियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे हैं। इसीप्रकार सबको जाननेवाला यह नहीं जानता कि वह स्वयं कैसा है। देह, इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं जानतीं, किन्तु वे चैतन्य पदार्थ के ज्ञान में ज्ञेयरूप हैं। जड़ नहीं जानता, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, किन्तु वह ज्ञेय है।

(४) चौथा गुण प्रदेशत्व है।

प्रत्येक पदार्थ सदा अपने आकारवाला होता है परक्षेत्र के सम्बन्ध से रहित अपने स्वक्षेत्र में स्वगुणरूप प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल अपने स्वरूप में है। *कोई पदार्थ असंख्य प्रदेशी है। कालाणु और परमाणु एकप्रदेशी हैं। बहुत से परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होने पर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हो जाते हैं।

* प्रत्येक जीव, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण असंख्यात होती है। वह उनके स्वक्षेत्र-प्रदेशमय आकार है।

(५) चैतन्य आत्मा का जानने-देखनेरूप गुण है।

देह के किसी भाग में किसी वस्तु का संयोग होने पर आत्मा उसे चेतनागुण के द्वारा जान लेता है। देह जड़ में ज्ञातृत्व शक्ति नहीं है; क्योंकि जड़ में सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होता। चैतन्यघन आत्मा देह से भिन्न देहाकार है। वह स्वयं स्व आकारवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि को जाननेवाला आत्मा है। जब तक वह स्व और पर का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, तब तक उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।

निरंजन = राग-द्वेष और रूप रहित।

निराकार = जड़ पुद्गल के आकार से रहित। आत्मा निरंजन निराकार है। वह शरीर के समस्त भाग में विद्यमान है। अपने अनन्त गुणों का पिण्ड है तथा देहाकार और देह से भिन्न है।

(६) 'अचेतनत्व'—आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) 'मूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल में रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ अरूपी (अमूर्तिक) हैं।

(८) 'अमूर्तिकत्व'=स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित।

उन-उन गुणों में समय-समय पर परिणमन होना सो पर्याय है, जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तु में एकत्व है। अपना-अपना अनन्त स्वभाव अर्थात् गुण वस्तुरूप में एक है, इसलिए एकत्व है।

(१०) अनन्त गुण के लक्षण, संख्यादि भेद से देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु में अनेकत्व भी है।

(११) वस्तु में त्रिकाल स्थिर रहने की अपेक्षा से नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्था का बदलना और नयी अवस्था का उत्पन्न होना; इस प्रकार का अनित्यत्व भी है।

यह जानने की इसलिए आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, त्रिकाल में पर

से भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके स्वभाव को नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) 'भेदत्व' प्रत्येक वस्तु में है। वस्तु अनन्त गुण स्वरूप से अभिन्न है। तथापि गुण-गुणी के भेद से नाम, संख्या, लक्षण, प्रयोजन से भेद है। जैसे गुड़ नाम का पदार्थ है, उसमें मिठास, गन्ध, वर्ण इत्यादि अनेक गुण हैं, उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान, दर्शन, इत्यादि अनन्त गुण हैं। गुण-गुणी के नाम से जो भेद होता है, सो संज्ञाभेद है। गुणों की संख्या अनन्त है और आत्मा एक है, यह संख्याभेद है।

लक्षण भेद

आत्मा का लक्षण चैतन्य आदि गुणों का धारण करना है। ज्ञान-गुण का लक्षण स्वपर को जानना है। चारित्रगुण का लक्षण स्थिर होना है। श्रद्धागुण का लक्षण प्रतीति करना है।

इस प्रकार गुण-गुणी में लक्षण भेद है।

(१४) 'अभेदत्व'—सभी गुण एक वस्तुरूप हैं, इसलिए अभेदत्व है।

अपने स्वाधीन स्वभाव को समझने की यह बात है। समझ के साथ सब सरल है और बिना समझे सब मुश्किल है। अन्धकार को दूर करने के लिए मूसल अथवा सूपा की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रकाश की ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अनन्त काल का अज्ञान दूर करने के लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। जैसे अन्धकार में देखने पर कोयला, सोना, कपड़ा इत्यादि तमाम वस्तुएँ एक-सी दिखायी देती हैं और यदि प्रकाश लेकर देखा जाये तो वे जैसी भिन्न-भिन्न हैं वैसी ही दिखायी देती हैं। इसी प्रकार देह, मन, वाणी को राग-द्वेष से देखने पर अज्ञान के कारण सब एक सी दिखायी देती हैं। रागादि तथा देहादि के साथ आत्मा एक-सा दिखायी देता है। उसे सम्यग्ज्ञान से देखने पर वह पृथक् दिखायी देता है। यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय करे तो शुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता, इसलिए सच्चे ज्ञान के द्वारा अनेक अपेक्षाओं से अनेक धर्मों को बराबर समझना चाहिए।

(१५) शुद्धत्व-द्रव्यदृष्टि से स्वभाव की अपेक्षा से जीव के शुद्धत्व है। वर्तमान में

पायी जानेवाली प्रत्येक अवस्था में अशुद्धता का अंश है। उसे देखने की दृष्टि को गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा का स्वभाव शुद्ध ही है। शुद्ध-अशुद्ध दोनों धर्म एक आत्मा में एक ही साथ विद्यमान हैं। जैसे पानी स्वभाव से शीतल है, किन्तु वर्तमान अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्था होने पर भी वर्तमान निमित्ताधीन उष्ण अवस्था को न देखकर त्रैकालिक शीतल स्वभाव को देखें, तो जल स्वभाव से शीतल ही है। इसी प्रकार द्रव्य-दृष्टि से आत्मा में सदा शुद्धत्व ही है।

(१६) अशुद्धत्व—काम-क्रोध-मोह की वृत्ति वर्तमान अवस्था में क्षणिक है। उस (अशुद्धि) का नाश हो सकता है और स्वभाव में जो निर्मलतादिरूप में अनन्त गुण हैं, वे रह सकते हैं। वर्तमान अशुद्ध अवस्था भी है और द्रव्य स्वभाव में पूर्ण शुद्धता भी है। इन दोनों पहलुओं को जानना चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान अवस्था में भी शुद्ध ही हो तो समझ और पुरुषार्थ करके अशुद्धता को दूर करने का प्रयोजन न रहे।

ऊपर कुछ धर्म कहे गये हैं। उनमें से सामान्य धर्म तो वचन द्वारा कहे जा सकते हैं और कुछ ऐसे भी धर्म हैं, जो वचन से नहीं कहे जा सकते, किन्तु ज्ञान में जाने जा सकते हैं। ज्ञान में प्रत्येक वस्तु के धर्म भली भाँति जाने जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी अनन्त धर्म हैं। उसमें चेतनता असाधारण गुण है। यह गुण अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं है। और फिर दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनन्त धर्म हैं, जो सब निर्विकल्प हैं। ज्ञातृत्व का लक्षण उन धर्मों में नहीं है। एक ज्ञान-गुण ही सविकल्प अर्थात् स्व-पर को जाननेवाला है। ज्ञानगुण अपने को स्व के रूप में जानता है और पर को पर के रूप में जानता है। शेष गुण भी स्वतन्त्र हैं। वे अपने को नहीं जानते तथापि प्रत्येक गुण स्वतन्त्र रूप में अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को कर सकता है। उन समस्त गुणों को एक ज्ञानगुण जानता है। वह ज्ञातृत्व अन्य अनन्त अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय चेतन अर्थात् जीवद्रव्य अनन्त है तथापि सबका चेतनत्व भिन्न-भिन्न है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अनन्त धर्म अपने-अपने स्वतन्त्र हैं। वे दूसरे चेतन द्रव्यों में नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिल सकता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्त्व कहा है।

कर्मों के निमित्त की क्षणिक उपाधिवाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है, उसे

जो अपना स्वरूप मानता है, उस जीव को स्वतन्त्र स्वतत्त्व की प्रतीति नहीं है। किन्तु पर से भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपने को जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुखगुण को प्रगट कर सकता है। इसलिए आत्मा का अनन्त गुण ही आत्मा का तत्त्व है। राग-द्वेष, मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति आत्मा का तत्त्व नहीं है।

आत्मा सदा पर से भिन्न रहकर अपने अनन्त गुणों से अभिन्न होने के कारण अपने में व्यापक है और इसलिए अनन्त गुणों में फैला हुआ है। उसे तत्त्व रूप में जैसा है वैसा ही इस सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझे तो इससे (इस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति से-सरस्वती से) सर्व प्राणियों का कल्याण होता है। इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इस प्रकार का आशीर्वादरूप वचनमात्र पर को नहीं किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूप को लक्ष्य में रखकर कहा है।

समयसारजी में अपूर्व सत्श्रुत की स्थापना की है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धता को प्रगट करनेवाला है। यह अजोड़ सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक (अद्वितीय जगत चक्षु) परमात्मदशा को प्राप्त करने के लिए है। यह सम्यग्ज्ञान के द्वारा दी गयी अपूर्व भेंट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीका के द्वारा मैं इसका स्पष्टीकरण करूँगा। इसकी टीका करने का फल अपनी वर्तमान दशा की निर्मलता के रूप में चाहता हूँ। पूजा सत्कार आदि नहीं चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परम-विशुद्धिः शुद्धचिन्मात्र-
मूर्तेर्भवतु समयसार-व्याख्ययैवानुभूतेः।।३।।

महा-महिमावन्त भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो, मेरा पूर्ण वीतरागभाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। 'इस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा की कथनी तथा टीका से ही मेरी अनुभूतिरूप परिणति की परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भायी है।

शुद्ध आत्मा को जाननेवाले ज्ञान अभ्यास की दृढ़ता से रागादि कलुषित भाव का

अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मलदशा प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करने का महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास के बल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'इस टीका से मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायेगी।'

जैसे पैसे की प्रीतिवाला व्यक्ति धनवान के गुण गाता है, वह वास्तव में धनवान के नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धन की रुचि है। वह उस रुचि के ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्मा के अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं, वह निमित्त में आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है, वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणति को सुधारने की भावना करते हैं। मेरी वर्तमानदशा मोह के द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टि से मलिन नहीं है, इसलिए पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार सुखरूप है। उसकी प्रतीति के बल पर 'वर्तमान अशुद्धता का अंश दूर हो जायेगा।' आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इस प्रकार जो कोई योग्य जीव सत्समागम के द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट पवित्र दशा को प्राप्त होगा।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतन्त्र स्वरूप जैसा है, वैसा कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग है। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परमतत्त्व (आत्मा का सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। यदि जीव उस यथार्थता को न जाने तो कदापि बन्धन से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। उसे समझे बिना यह जीव अनन्त बार पुण्य, क्रियाकाण्ड इत्यादि कर चुका; किन्तु पराश्रय दृष्टि के कारण आत्मधर्म नहीं हुआ।

आत्मा पर से निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादि के सम्बन्ध से रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्र की टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीका के फलस्वरूप मेरी वर्तमान दशा की परम विशुद्धि हो, यही भावना है।'

आचार्य महाराज ने महान् गम्भीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार

(टेलीग्राम) की डेढ़ पंक्ति में यह लिखा हो कि 'रुई की पाँच हजार गाँठें चार सौ पचास के भाव में खरीदो' इसे पढ़नेवाला उस डेढ़ पंक्ति में समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारी का साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्ति में लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भाव से अधिक भाव में खरीद करनेवाला और खरीद करानेवाला दोनों कैसे हैं? कैसी हिम्मतवाले हैं? इसका परस्पर दोनों को भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अजान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जाननेवाला, जो पढ़ा-लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़नेवाला होता है, वह दोनों तरफ की दोनों पेढ़ी के सभी भावों को जान लेता है। 440 का तो भाव चल रहा है, तथापि 450 के भाव से इतनी बड़ी खरीद करने को लिखा है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं उठती। यदि कोई अजान पढ़े तो वह उस बात को न माने। दुकान तो छोटी-सी लेकर बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमें सारा वैभव समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पढ़ा-लिखा हो तो देख सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ के अनन्त आगम का रहस्य डेढ़ पंक्ति में हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी के द्वारा आगत शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश, उसकी व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है, इस प्रकार ही है, यों शुद्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा की दृढ़ता के द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी, परम विशुद्धि होगी, इसके लिए मेरी टीका (तत्त्व की व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वयं (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते हैं।

यथार्थ वक्ता की पहचान करके श्रोताओं को भरोसा रखकर खूब श्रवण-मनन करना चाहिए। समझने की पात्रता पहले चाहिए। कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। किन्तु विनय से उपचार दृष्टि से दिया हुआ कहा जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभाव से देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमान में चलनेवाली प्रत्येक अवस्था चारित्रमोह के द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्था में पूर्ण आनन्द नहीं है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होने के बाद पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती) कर्म के निमित्त में युक्त होने से जितना परवस्तु की ओर जुड़ने का लक्ष्य करता है, उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखायी देती है। वर्तमान में चलनेवाली अवस्था में क्षण-क्षण करके अनन्त काल व्यतीत हो गया तथापि वह अशुद्धता अनन्तगुनी नहीं हुई है, जैसे

पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इसलिए त्रिकाल के लिए गरम नहीं हो गया है, इसी प्रकार आत्मा द्रव्य-स्वभाव से नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्था में क्रोध, मान आदि वृत्तियाँ उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक अशुद्धता का रक्षक नहीं है, प्रत्युत नाशक ही है और अनन्त गुण का स्वभावत: ही रक्षक है। उसे भूलकर जीव यह मानता है कि 'मैं रागी, द्वेषी, ममतावाला हूँ, देहादि संयोगवाला हूँ' किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी गरम हुआ दिखायी देता है, किन्तु वह स्वभावत: (उसका नित्य शीतल का भाव) उष्ण नहीं हुआ है। क्योंकि वह बहुल काल से गरम है तथापि उसी समय उसमें शीतल होने का स्वभाव है इसलिए उष्णता का नाश करके शीतल हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपनी भूल से अपने को देहवान और उपाधिवान मानता है, फिर भी वह एक क्षण में शुद्ध हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप किस प्रकार है, स्वभाव-विभाव क्या है, पुण्य-पाप का भाव होता है, वह क्या है, मेरा एकरूप स्वभाव क्या है? इत्यादि समझ में नहीं आता, इसलिए वह कठिन मालूम होता है। किन्तु वह सब यहाँ पर बहुत सरल रीति से कहा जाता है। पानी का दृष्टान्त सरल है। किन्तु आत्मा का सिद्धान्त आत्मा में अनुभवरूप में बैठाना आवश्यक है। कच्चे चने में मिठास भरी होती है। यदि उसे भूना जाये तो उसके भीतर जो मिठास भरी हुई है, वह प्रगट होती है। उसमें जो मिठास थी, वह प्रगट दशा में आयी है। यदि भाड़ के कड़ाहे, करछी और रेती से स्वाद आता हो तो कंकड़ों को भूनो, उनमें से भी मिठास आनी चाहिए। कच्चे चने में अम्लता विद्यमान है, इसलिए उसका स्वाद नहीं मिलता और वह उग सकता है। किन्तु यदि उसे भून डाला जाये तो वह उग नहीं सकता और उसमें स्वाद भी आता है। इसी प्रकार आत्मा में शक्तिरूप से पूर्ण आनन्द भरा हुआ है। उसमें वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन होकर अज्ञान के कारण से अम्लतारूपी आकुलता का स्वाद आत्मा को आता है। जैसे चने के भूनने से उसकी कचाई का नाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा स्वरूप की दृढ़ता से अज्ञान का नाश हो जाता है। अपनी अप्रतीति ही वास्तव में बन्धन है। 'मैं कर्मों से बद्ध हूँ, पर-वस्तु मुझे बाधा पहुँचाती है', यह मानने से 'मैं स्वयं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार मानकर पुरुषार्थ करने का अवकाश नहीं रहता।

आत्मा स्वयं ही अपने अबन्धक भाव को भूलकर बन्धन भाव करता है और स्वयं

ही निज को पहचान कर अन्तरंग स्थिरता के द्वारा अशुद्धता को दूर करता है। जैसे वस्त्र का मूल स्वभाव मैला नहीं है, किन्तु पर-संयोग से वर्तमान अवस्था में मैल दिखायी देता है। यदि वस्त्र के उज्ज्वल स्वभाव का ज्ञान हो जाये तो उस मैल के संयोग का अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्मा का पूर्ण-पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूर की जा सकती है। इसलिए यहाँ टीका में मुख्यतया शुद्ध आत्मा का कथन किया गया है। और यों तो इसमें अचिन्त्य आत्मस्वरूप का गुण-गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि पर के आश्रय, अवलम्बन से रहित जैसा मेरा शुद्धस्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है, उसका दृढ़ निश्चय करके और अब तुम्हारी पूर्ण शक्ति को देखकर तुम्हें पूर्णता निश्चय कराता हूँ, उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसार में प्रशंसा करनेवाले की दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जानने के बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसी की प्रशंसा वास्तव में नहीं करता, किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है, वह उसी की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करनेवाला भी अपने बुरे भाव को प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा? सब अपनी-अपनी भावना का फल पाते हैं। उसमें दूसरों का क्या है?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताया।
वाको बुरो न मानिये और कहाँ से लाय॥

अपनी भूल से आत्मा स्वयं दुःखी होता है। आत्मा क्या है, इसकी खबर न होने से, अज्ञानी अज्ञान भाव से निन्दा करता है, उस व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभर में बदल भी सकता है।

आचार्य कहते हैं कि—'मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूप शुद्धदशा को प्रगट करना चाहता हूँ, जगत की पूजा-ख्याति नहीं चाहता, क्योंकि कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी सर्व शक्ति से पूर्ण है। उस पूर्ण के लक्ष्य से धर्म का प्रारम्भ होता है।'

अब मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए मंगल सूत्र कहते हैं:—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली-भणिदं॥१॥

अर्थ:—आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहूँगा।

यह महामन्त्र है। जैसे बीन के नाद से सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की महिमा को कहनेवाला जो समयसार है, उसके कथन से 'मैं शुद्ध हूँ' इस प्रकार के आनन्द में आत्मा डोलने लगता है।

देह, मन और वाणी रूपी गुफा में छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थस्वरूप सर्वज्ञ की दिव्यवाणी का बोध और माधुर्य जानकर अपनी महिमा को ज्ञात करके निजस्वरूप को सुनने और सम्हालने के लिए जागृत होता है। जैसे मन्त्र के द्वारा सर्प का विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर से भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित मुक्त है। ऐसी प्रतीति के द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी मन्त्र के द्वारा अज्ञानरूपी विष उतर जाता है।

संसार की चार अध्रुव गतियाँ हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकार की आत्मा की निर्मल दशा को प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा हैं, उनके लिए जगत के किसी भी पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणों से युक्त उत्कृष्ट गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे गये इस शुद्धात्मा के अधिकार को कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहने से सब मिलकर एक आत्मा हो गया मानना मिथ्या ठहरा।'

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इसका अर्थ यह है कि ''मैं पूर्ण पवित्रदशा को ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावों की ओर नहीं जाता, संसार की ओर किसी भी भाव से नहीं देखता'' इस प्रकार अपने पूर्ण साध्य को नमस्कार करके पूर्ण शुद्ध स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जो सर्वज्ञ भगवान के द्वारा बताया गया है, उसी को कहना चाहते हैं।

श्रुत-केवली = भीतर के भावज्ञान में पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगम को जाननेवाले। 'समय'= पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजा से मिलने के लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को अन्तरंग में मिलने के लिए सम्यग्ज्ञान की भेंट देनी होती है। टीका में 'अथ' शब्द मंगलसूचक है। 'अथ' साधकता का द्योतक है।

पूर्णता के लक्ष्य से अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्त बार बाह्य साधनों से जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नहीं है। यहाँ पर अपूर्व साधकदशा को प्रगट करने की बात है। संस्कृत में 'अथ' का अर्थ 'अब' होता है। अनन्त काल से जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा है वही अब कहता हूँ। 'अथ' शब्द इसी का द्योतक है।

इसी अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना यह जीव पुण्य के फल से अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ, पर के आश्रय से रहित हूँ, यह भूलकर जैन के महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्र के एक सूत से भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनन्त बार पंच महाव्रत पालन किये, उत्कृष्ट तप किया। किसी ने अग्नि में जला दिया, तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि ''ऐसा अनन्त बार करने पर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्ग में गया। उसे स्वरूप की पूर्ण स्वाधीनता की यह बात नहीं जम पायी कि आत्मा पर से निराला है और पुण्य-पाप की उद्भूतवृत्ति से परमार्थतः मैं भिन्न ही हूँ। मैं मन की सहायता से शुद्धदशा को प्रगट नहीं कर सकता।''

शास्त्र के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों की भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करके अपने तथा पर के आत्मा को सिद्ध समान स्थापित करके उसका विवेचन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हटकर अन्तरंग में स्थिर होना सो भाव-स्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्य -स्तुति है। इसमें से पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, इस प्रकार अपने को स्थापित करके कहे कि मुझमें सिद्धत्व पूर्णता है। किसी को भले ही यह छोटे मुँह बड़ी बात मालूम हो किन्तु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किये बिना पूर्ण का प्रारम्भ कैसे होगा?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इसे सुनते ही लोग बिचक जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्मा को प्रभु कैसे कहा! ज्ञानी कहते हैं—'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय -कषाय में जिनकी दृष्टि है, वे आत्मा को प्रभु मानने से इन्कार करते हैं। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ इस प्रकार विश्वास करके 'हाँ' कहो! पूर्णता के लक्ष्य के बिना वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। मैं पामर हूँ, मैं हीन हूँ, यह मानकर जो कुछ करता है, उसके

परमार्थत: कोई प्रारम्भ नहीं होती। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' यह कहने से 'ना' में से 'हाँ' प्राप्त नहीं होता। यदि कोई केंचुए को दूध-शक्कर पिलाये तो वह नाग नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई पहले से ही अपने को हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। नाग का बच्चा केंचुए के बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में भले ही शक्तिहीन दिखायी दे तथापि स्वभाव से तो वह सिद्ध समान पूर्णदशावाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहले से ही पूर्ण सिद्ध, साध्यभाव से बात को प्रारम्भ करते हैं। उन्हें कितनी उमंग है।

लोग भी पूर्ण की भावना के गाने गाते हैं। शादी के समय ममताभाव से गीत गाये जाते हैं कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये' भले ही घर में एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना भाते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हाथी झूमे द्वार पर।' भले ही घर में एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवों के गीत अपनी ममता, स्नेह और अनुकूलता को लेकर होते हैं। इसी न्याय के अनुसार आत्मा स्वयं पर से भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है। इसलिए वह पूर्णता की भावना प्रगट करता है। बाह्य में कुलांट खाकर विकार में खड़ा है, इसलिए विकार में पूर्ण की तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये, मोतियन थाल भराये' अथवा 'हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णा का भाव भीतर से आया है। स्वयं अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। उससे कुलाँट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णा के विपरीत भाव करता है।

कभी-कभी कहा जाता है कि 'आज तो सोने का सूर्य उगा है।' भला यह प्रतिदिन नहीं और आज क्यों ? जिस बात की महिमा को जाना, उसी की महिमा के गीत गाता है। उस संसार की वृत्ति को बदलवाकर यहाँ पर पूर्ण पवित्रता की भावना है। आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपूर्व आत्मधर्म को चाहता है, उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार की दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मा में करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्ण की बात सुनते ही 'हाँ' कहनी होगी। किन्तु जिसका सुंघनी, जर्दा या बीड़ी के बिना काम नहीं चलता, उससे कहा जाये कि तू परमात्मा है तो वह इस बात को किस मन से बिठायेगा ? 'पुण्य का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार

पूर्ण आत्मा के निर्णय के द्वारा अपने आत्मा में और पर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हें सुनाता हूँ, वे सब प्रभु हैं। यह देखकर प्रभुत्व का उपदेश देता हूँ। आचार्यदेव घोषणा करते हैं कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा हूँ और तुम भी स्वभावत: पूर्ण ही हो, यह बात तुम्हें नि:सन्देह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण प्रभुत्वशक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कह। उससे इन्कार करनेवाला प्रभुत्वदशा को कैसे प्रगट कर सकता है ?

प्रश्न:—बहुत से लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब इस सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं ?

उत्तर:—ऐसी बातें करने से अन्तरंग अनुभव के साथ मेल नहीं बैठता। मन के पहाड़े में यह धारण कर रखा हो कि सात पंचे पैंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौका पर पहाड़े का हिसाब न जमा सके तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस काम का ? इसी प्रकार में राग-द्वेष-मोह से रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरन्तर अखण्ड स्वभाव की प्रतीति न रहे तो मन का धारण किया हुआ विचार किस काम का ?

आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' इस प्रकार निश्चय करके तुम भी प्रभुत्व को मानो और उस पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करने का उपाय जिस प्रकार यहाँ कहा गया है, उसी प्रकार उसे यथार्थ ग्रहण करो। कहा जाता है कि पूत के लक्षण पालने में मालूम हो जाता है। यहाँ पर आचार्यदेव कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तुम भी प्रभु हो, पहले इस बात की स्वीकृति जमती है या नहीं। कोई कहता है कि छोटी थैली में बड़ी थैली के रुपये कैसे समा सकते हैं ? किन्तु भाई! तू अनन्त ज्ञान-आनन्दरूप है, इसलिए तू इतना बड़ा 'प्रभु स्वरूप' है। ऐसी बात सुनकर समझकर और उसे जमाकर, अन्तरंग से स्वीकार कर। यदि कोई भाग्यशाली पिता, पुत्र से कहे कि तू इतनी रकम लेकर अमुक व्यापार कर, तो वह 'हाँ' ही कहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और अनन्त ज्ञानी आचार्यों ने सभी आत्माओं को पूर्णतया देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्मा के समान है। ज्ञानी स्वभाव को देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्ध तेरा स्वरूप नहीं है। हम भूल को नहीं देखते, क्योंकि हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभाव को देखनेवाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके उसमें स्थिरता के द्वारा अनन्त जीव परमात्मदशारूप हो चुके हैं, इसलिए जो तुमसे हो सकता है, वही कहा जा रहा है।'

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धों को नमस्कार करके पहली गाथा का प्रारम्भ करते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सिद्ध समान है। अपने आत्मा में ऐसा निर्णय करके समयसार का स्वरूप कहते हैं। परमात्मस्वरूप सिद्ध पद को अपने आत्मा में और पर के आत्मा में स्थापित करके कहूँगा, ऐसा अर्थ 'वंदित्तु सव्वसिद्ध' में से निकलता है।

प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र सुख लेना चाहता है। उसमें कोई बाधा उपाधि नहीं चाहता। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। उसमें मन, वचन-काय अथवा राग-द्वेष नहीं है। मुक्त स्वभाववाले आत्मा की पहिचान के साथ महिमा गायी जाती है। निर्धन आदमी धनवान की प्रशंसा करता है। वहाँ पर धनवान के बड़प्पन का भाव उसके हृदय में बैठा हुआ है। लक्ष्मी की मिठास अनुकूल मालूम होती है, इसलिए उस अनुकूलता के गाने गाता है। अन्तरंग में जो तृष्णा जमी है, उसके गीत गाया करता है। सामनेवाले व्यक्ति की तारीफ कोई नहीं करता। कहीं कहीं राजा को ईश्वर का अवतार कहा जाता है; किन्तु यह उपमा राजा कहे जानेवाले आदमी के लिए नहीं है, किन्तु उसके (प्रशंसक के) हृदय में राजा के वैभव का प्रभाव है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता। इसी प्रकार जिसे सहजानन्द पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वभाव के प्रति आदर है, वह सिद्ध भगवान के गीत गाता है। अर्थात् अपने आत्मा में पूर्ण सिद्ध स्वभाव को जमा लिया है—स्थापित कर रखा है, उसी के गीत गाता है।

आचार्यदेव ने अद्‌भुत मंगलाचरण किया है। अखण्ड जिनशासन को जीवित रखा है। जो स्वतन्त्रता लेना चाहता है, वह ऐसा पद चाहता है कि जो किसी के आश्रित न हो। सिद्ध को वही वन्दना कर सकता है, जिसके स्वाधीन परमात्मदशा जम गयी है। जिसके हृदय में यह बात जम गयी है, वही भाव-वन्दना कर सकता है। 'मैं सिद्ध-स्वभाव पूर्ण पवित्र परमात्मा हूँ' ऐसी बात सुनते ही जिसके अन्तरंग में जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी है और जो जीव धर्म को समझना चाहता है, उसी की यह बात है। शंका में फँस जानेवाले के लिए नहीं है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। यहाँ वस्तु का अर्थ आत्मा है। आत्मा का स्वभाव, मन, वाणी, देह तथा रागादि-उपाधि से रहित है। ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्मा का जो स्वभाव है, सो धर्म है। जिसे यह स्वभाव प्रगट करना है, वह सिद्ध को पहचानकर वन्दना करता है अर्थात् राग से किंचित् मुक्त होकर एकाग्र हो जाता है।

प्रश्न:—सिद्ध किसे कहते हैं।

उत्तर:—जिसके पूर्ण कृतकृत्य परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसे सिद्ध कहते हैं।

भाव-वन्दना—'मैं पूर्ण ज्ञानघन एवं स्वभाव से निर्मल हूँ'—ऐसे भावरहित रागादि को विस्मरण करके अपने लक्ष में रागरहित अन्तरंग में स्थिर होना सो अन्तरंग एकाग्रता अर्थात् भाव-वन्दना है। शुभलक्षी भक्ति-भाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्य वन्दना है। उस द्रव्यस्तुति में यद्यपि अल्प राग का भाव है, तथापि वह गौण है। पहले अपने और दूसरे के आत्मा में भी सिद्धत्व स्थापित करके सबको प्रभु के रूप में स्थापित किया है। यही सर्वज्ञ वीतराग का प्रसिद्ध मार्ग है। अहा! कैसी अद्भुत बात है और कैसा अपूर्व उपदेश है। जिसको पात्रता हो वह 'हाँ' कहे। जो दूसरे में अर्थात् पुण्य-पाप में रुक जाये और पर का अवलम्बन ले तथा इस प्रकार पर की ओर देखने में लग जाये, उसका सच्चा हित नहीं हो सकता। जो अच्छा करना चाहता है अथवा भला करना चाहता है, वह सम्पूर्ण अच्छा करना चाहेगा या अपूर्ण? सब सम्पूर्ण ही अच्छा करना चाहेंगे। इसलिए आत्मा को पूर्ण माने बिना काम नहीं चल सकता। आत्मा को पूर्ण मानने पर ही वह पूर्ण प्रगट होगा। अच्छा, ठीक, परमार्थ, कल्याण और आनन्द इत्यादि सब निर्मल निरुपाधिक दशा है जो कि अपने में विद्यमान है। जो सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मदशा को याद करते हैं, उनका आदर करते हैं, उनकी आन्तरिक दशा परमात्मा के बराबर ही है। मुझे पूर्ण परमात्मस्वभाव ही आदरणीय है। दूसरे पुण्य-पाप का अंश मुझे नहीं चाहिए। नित्य, निरावलम्बी, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा होने के बाद शुद्ध दृष्टि के द्वारा वह सब मार्ग बना लेना। दृष्टि खुलने के बाद अल्प राग रहेगा, किन्तु गुण को रोकनेवाला वैसा राग नहीं रहेगा। यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है, जिसका शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति से अहंकार उठ गया है। 'मैं पुण्य-पाप, उपाधिरहित, असंग ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ,' जिसे ऐसा ज्ञान है वह सत् के प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है। जिसे अन्तरंग में-आत्मा में, परमात्मा की बात जम गयी है, वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हें मुक्ति की बात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय-तौबा मचा देते हैं, उनके लिये ज्ञानी कहते हैं कि हम सबको प्रभु के रूप में देखकर कह रहे हैं। क्षणिक उपाधि के भेद को सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो। जब तक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तब तक सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कही गयी बातें तुम्हारे अन्तरंग में नहीं जम सकतीं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा। उसे श्रवण करते हुए तू एक बार अन्तरंग में इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है। मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूँ। दूसरी बात यह है कि जैसे सिद्ध को सुनने इत्यादि की इच्छा नहीं है, उसी प्रकार मुझे भी नहीं है। सिद्ध भगवान का आत्मा जितना बड़ा है, उतना मेरा भी है। ऐसा निर्णय कर। इस प्रकार यह समयसार शास्त्र (आत्मस्वभाव) का कथन है। इस शास्त्र को भाव वचन से अर्थात् अन्तरंग एकाग्रता से और द्रव्य वचन से अर्थात् शुभभाव से कहूँगा। इसके बाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाण से कहूँगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना, कल्पना मत करना।

यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं:—

पूर्वभव में द्रोपदी का एक धनिक सेठ के यहाँ विषकन्या के रूप में जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नी के भाव से स्पर्श करेगा, उसके शरीर में विषैला दाह उत्पन्न हो जायेगा। इसीलिए उस विषकन्या का धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्या के साथ कौन विवाह करेगा? अपनी जाति का कोई भी व्यक्ति ग्रहण नहीं करेगा।

एक दिन मार्ग में एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था। उसके वस्त्र फटे हुए, लकड़ी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। उसे देखकर सेठ ने विचार कि इस भिखारी को अपने घर रखकर अच्छे कपड़े पहनाऊँगा, इसका शृंगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दूँगा। ऐसा विचार करके उसने अपने नौकर को वैसा करने की आज्ञा दी।

नौकर उस भिखारी को घर में ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनाने के लिये उसके फटे-पुराने कपड़ों को उतारने लगा, तब वह भिखारी बड़े जोर से चिल्लाने लगा। उस भिखारी के जो वस्त्र और भिक्षा-पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हें नौकर फेंकने लगा कि—वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने-चिल्लाने लगा। सेठ ने उसके रोने का कारण पूछा, तो नौकर ने कहा कि मैं इसका पुराना वेश उतारता हूँ, इसलिए यह चिल्लाता है। उसके पुण्य नहीं है, इसलिए वह पहले से ही घर में प्रवेश करने से ही इंकार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपड़े इत्यादि उतारे जो रहे हैं; किन्तु वह यह नहीं सोच

सकता कि भले आदमी के घर में बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा!

सेठ ने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करने के लिये उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिंकवाकर वहीं एक कौने में रख देने को कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न-मण्डप में बिठाया। ज्यों ही उसका विष-कन्या के साथ हस्तमिलाप कराया गया ज्यों ही उसके शरीर में विष-कन्या के विष का दाह उत्पन्न हो गया।

भिखारी के पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं इस कन्या को नहीं रख सकूँगा, इसलिए वह मध्यरात्रि में उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणों को उतारकर और कोने में रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रों को पहनकर वहाँ से ऐसा भागा जैसे कसाई के हाथ से छूटकर कोई जानकर भागता है।

इस दृष्टान्त से यह सिद्धान्त निकलता है कि संसार की चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करनेवाले भिखारियों को देखकर (जैसे उस सेठ ने नौकर को आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभास्थित मुनियों को आज्ञा दी कि जगत् के जीवों को यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु हैं, सिद्धस्वरूप हैं; तुम पूर्ण हो, प्रभु हो, इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हें पर की कोई इच्छा करनी पड़े। पर-पदार्थ की इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक माँगे सो बड़ा भिखारी और थोड़ा माँगे सो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओं के छोटे-बड़े भिखारी हैं।

लोग जब तक संसार की प्रतिष्ठा देखते हैं, धन, घर इत्यादि का संयोग चाहते हैं, तब तक वे सब उस भिखारी के समान हैं। वे बाहर से ऐसे बड़प्पन को ढूँढ़ते हैं कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठा के गीत गाये, प्रशंसा करे और हम गणमान्य लोगों में गिने जाने लगें। ऐसे जो चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करनेवाले भिखारी हैं, उनके लिए शाश्वत् उद्धार का उपाय बताने के लिये तीर्थंकर प्रभु ने सन्तों से कहा कि जगत् के लोगों से कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन शक्ति की महिमा को सम्हालो। हम तुम्हारा, तुम्हारी शुद्ध परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराये देते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियों से कहा कि इन चौरासी के भिखारियों को बुलाकर उनके हृदय में उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु

हो, अनन्त पुरुषार्थ, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतन्त्रता की बात सुनते ही जो आत्मार्थी हैं, पुरुषार्थी हैं, उन्हें तो सबसे पहले पूर्ण के प्रति श्रद्धा हो जाती है और वे पूर्ण के प्रति अपूर्व रुचि दिखाकर विशेष समझने का उत्साह दिखाते हैं। और उनका जो विश्वास करते हैं, वे स्वाधीन-निज घर में प्रवेश करते हैं। पश्चात् अल्प-रागरूप अस्थिरता रह जाती है, उसे कैसे टाला जाये ? उस पुरुषार्थ को वह सम्हाल लेगा और निरन्तर अपने पूर्ण साध्य के गीत गायेगा। ज्ञानी के पास से सुनकर स्वीकार करके और आत्मा में निर्णय करके कहेगा कि मैं पूर्ण सिद्धसमान परमात्मा हूँ, प्रभु हूँ। उसके पूर्ण सिद्धपद शक्तिरूप में विद्यमान है। उसकी निर्मलता की परिणति प्रगट करके वह मुक्तदशा के साथ परिणमन करेगा, अखण्ड आनन्द प्राप्त करेगा, किन्तु भिखारी को अनादि काल से परिभ्रमण करने की रुचि है। यदि उससे ज्ञानी कहे कि आत्मा पुण्य-पाप रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्प की सहायता की आवश्यकता नहीं है, तो वह इसे सुनकर चिल्लपों मचायेगा कि हाय! यह कैसे हो सकता है ?

किन्तु एकबार तो श्रद्धापूर्वक कह कि मुझे पुण्यादि कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि सिद्ध परमात्मा में किसी उपाधि का अंश नहीं है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।

पर के लिए जो चाह उत्पन्न होती है वह भी विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अन्तरंग से एकबार स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो सुनते ही इन्कार कर देता है और चिल्लाता है, उसे संसार में पुण्यादि पराश्रय की मिठास से भटकना अच्छा लगता है। उसे मुक्त होने की बात नहीं जमती। इसलिए कहता है कि इतने लम्बे समय से हमारा जो किया कराया है, उस सब पर पानी फिरता है। इसलिए हमारे कृतपुण्य की रक्षा करते हुए यदि कोई बात हो तो कहो! किन्तु जो जैसा मार्ग हो उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा पर से से भिन्न चिदानन्द स्वरूप है। पुण्य-पाप की वृत्ति अथवा दया, हिंसा की वृत्ति तेरा स्वरूप नहीं है। पहले ऐसा विश्वास कर, फिर शुभ वृत्ति भी आयेगी। किन्तु इसे सुनते ही जो चिल्लाता है, इन्कार करता है, उसके मन में भगवानपने की मान्यता नहीं जमती।

जैसे पहले भिखारी के पूर्व पुण्य नहीं था, इसलिए उसके मन में सेठ की बात नहीं जमीं, उसी प्रकार ज्ञानी ने अनन्त दुःख से छूटकर अनन्त सुख का उपाय बताया कि वहाँ

वह सबसे पहले इन्कार कर बैठता है। क्योंकि उसे अपनी महत्ता का और पूर्णता का विश्वास नहीं है। अन्तरंग पुरुषार्थ दिखायी नहीं देता, इसलिए वह भविष्य में अनन्त संसार का भिखारी रहना चाहता है। जितना वीर्य पुण्य-पापरूप बन्धन-भाव में लगा रहता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभ भाव से पाप-बन्ध होता है, उसी प्रकार दया, सत्य, व्रत आदि शुभभाव से पुण्य-बन्ध होता है, धर्म नहीं। मात्र आत्मा के शुभभाव से ही धर्म होता है। इस प्रकार पहली बात के सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा; हमें यह प्रारम्भ में तो चाहिए ही है; उसके बाद भले ही छोड़ने को कहो! किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धा में पहले से ही छोड़ दे। मैं सिद्ध समान हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिए, इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर, फिर तू राग को दूर करने का उपाय समझे बिना न रहेगा। तू मोक्षस्वरूप है, इसे एक बार स्वीकार कर।

आचार्यदेव मोक्ष का मण्डप तानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते हैं। एक बार धर्म अर्थात् स्वभाव का निश्चय कर, तो तुझे ऐसी महिमा स्वत: प्रगट हो जायेगी कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णता को न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण स्वभाव को देख। यदि ऐसा विश्वास अन्तरंग में लाये और उसकी महिमा को समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहले से ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्य के बिना अकेला आत्मा रह सकता है, वह केवली के पास रहकर भी कोरा का कोरा ही रहा। वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्य के भाव में चक्कर लगाता रहा। पुण्य तो क्षणिक संयोग देकर छूट जायेगा। उससे आत्मा को क्या मिलनेवाला है ? मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वास से जिसने अन्तरंग में काम नहीं लिया, वह पुण्यादि में मिठास मानकर बाह्य में सन्तुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्ति की श्रद्धा के बिना पुण्य-बन्ध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्य को सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मन में यह बात नहीं जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नहीं है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नहीं है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावना की हद नहीं होती। तू अखण्डानन्द अकेला

परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की यह आज्ञा है कि पूर्ण की रुचि और अपार स्वभाव को स्वतन्त्ररूप में घोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुति से मोक्ष के उपाय का प्रारम्भ होता है। परम कल्याण स्वयं ही अपने पूर्ण पद को मानने-जानने से और उसमें एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्‌भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगड़े दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और स्वतन्त्र हैं। यह जानने में विरोध कहाँ है? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वयं सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा? सिद्ध में जो नहीं है वह मेरा स्वरूप नहीं है, और सिद्ध में जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखायी देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखायी देते हैं, उन्हें निकाल देने से मात्र पूर्णस्वरूप रह जायेगा। जिस-जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहचानकर अपने में उसकी दृढ़ता की स्थापना की है, वह पुण्य-पापादि अन्य किसी की स्थापना नहीं करेगा। लोकोत्तर स्वरूप के माहात्म्य के लिये सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हें हम अपने आत्मा में स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अतिरिक्त जो शुभ-अशुभ राग की वृत्ति उठती हैं, वह पर है। यह जानकर जिसने यह स्थापित किया कि मैं सिद्धात्मा अशरीरी हूँ, उसने अपने में महा-मांगलिक मोक्ष का प्रारम्भ किया है। और अपने को भूलकर पूजा, व्रत, दान इत्यादि में शुभभाव के द्वारा जो कुछ पुण्य किया वह स्वामीभाव से किया है, इसलिए वह पर का बन्धन और अभिमान करता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञाता है। उसमें पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित किये बिना मुक्ति के लिए तीन काल और तीन लोक में दूसरा कोई उपाय नहीं है।

भाव-वचन का अर्थ है—अन्तरंग एकाग्रता। द्रव्य-वचन का अर्थ है शुभभाव और शुभविकल्प। इन दोनों के द्वारा शुद्धात्मा का कथन किया जायेगा।

आचार्य कहते हैं कि यह सिद्ध भगवान, साध्य जो शुद्ध आत्मा है, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है। साध्य का अर्थ है—साधन करने योग्य। जो पूर्ण निर्मलदशा है, वह स्वरूप -साध्य है। धर्मी का ध्येय हितस्वरूप आत्मा का सिद्धस्वरूप है। अशरीरी शुद्ध आत्मा

उसका लक्ष्य है। ध्येय का अर्थ है—निशान, साध्य। पूर्ण पवित्र सिद्धस्वरूप आत्मा का ध्येय आत्मा स्वयं ही है। जिसने यह निश्चय किया, वह सिद्ध भगवन्त सिद्धत्व के कारण, शुद्ध आत्मा के प्रतिच्छन्द के स्थान में है। मैं शुद्ध, चिदानन्द, पूर्ण, कृतकृत्य, परमात्मा हूँ। इसी प्रकार ज्ञान में उठता हुआ ज्ञानभाव स्वभाव की घोषणा के द्वारा कहता है कि हे सिद्ध भगवान! आप परमेश्वर हैं। और उधर सामने से आवाज होती है कि आप परमेश्वर हैं। इस प्रकार मानों प्रतिध्वनित होकर उत्तर आता है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं।

हे सिद्ध भगवान! आप मेरे स्वभाव स्वरूप हैं। हे सिद्ध परमात्मन! मैं आपकी वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार की प्रतिध्वनि ज्ञान में प्रतिच्छन्द के रूप में स्थापित हो जाती है।

सिद्ध तो कृतकृत्य होते हैं। उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं होता। मैं द्रव्यस्वभाव से सर्व जीवों को सिद्ध परमात्मा के समान देखता हूँ। सर्वज्ञ वीतराग जगत् के सभी प्राणियों के लिए स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। जो सिद्ध भगवान में नहीं है, वह मुझमें नहीं है और जो सिद्ध भगवान में है, वह मुझमें हैं। इस प्रकार की नि:शंक दृढ़ता किसी के साथ बातचीत करते हुए अथवा किसी भी प्रसंग पर दूर नहीं होनी चाहिए। किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में आत्मा का विश्वास आत्मा से पृथक् अर्थात विस्मरणरूप नहीं होता, ऐसी रुचि निरन्तर रहनी चाहिए। धर्मी अपने को निश्चय से ऐसा ही मानता है कि जैसे सिद्ध परमात्मा के संकल्प-विकल्प अथवा रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे ही मेरे भी नहीं है। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त गुण और अनन्त बल के द्वारा स्वाभाविक तत्त्व हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध परमात्मा की जाति का हूँ। वे अनन्त ज्ञान-आनन्द के रसकन्द हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार पहिचानकर उनका चिन्तवन करके उन्हीं के समान अपने स्वरूप का ध्यान करके योग्य संसारी जीव उन्हीं जैसे हो जाते हैं।

ध्यान करके अर्थात् त्रैकालिक निज शक्ति में से खींचकर अन्तरंग एकाग्रता के द्वारा अपनी पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करते हैं।

पर से भिन्न अपने परमार्थ स्वरूप की जो प्रतीति है, सो निश्चय है और पुरुषार्थ के द्वारा मोक्षमार्ग को सिद्ध करना सो व्यवहार है। यहाँ पर इसमें दोनों कहे गये हैं। पहले मैं

सिद्धस्वरूप हूँ, परमात्मा के समान ही हूँ, ऐसा जो द्रव्यदृष्टि है सो निश्चय है और उसमें भाव-वन्दनारूप स्वभाव में एकाग्र होकर अनन्त जीव सिद्ध भगवान के समान हो गये हैं, सो मोक्ष का उपाय है। उसे व्यवहार कहा जाता है।

यह अन्तरंग स्थिर होने की (एकाग्र होने की) ज्ञान की क्रिया कही है। देहादि बाह्य की प्रवृत्ति आत्मा की क्रिया नहीं है क्योंकि, जहाँ गुण हो, वहाँ अवगुण (दोष) दशा हो सकती है और वह परावलम्बी, क्षणिक विकारीभाव है। स्वभाव की स्थिरता से उसे दूर किया जा सकता है। तीनों काल में एक ही उपाय और एक ही रीति है। अहो! कितनी विशाल दृष्टि है! प्रभु होने का उपाय अपने में ही है। यथा :—

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूँ रे!
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे!
मुक्तानन्द के नाथ विहारी रे!
शुद्ध जीवन डोरी हमारी रे!

पुण्य-पाप इत्यादि जो पर हैं, वे मेरे हैं। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकार की मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है, (हरि=आत्मा)। विशाल दृष्टि का अर्थ है स्वतन्त्र स्वभाव को देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरे के आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ वैर-विरोध रह सकता है? सबको पवित्र प्रभु के रूप में देखनेवाला आत्मा के निर्विकारी स्वभाव को देखता है। वह उसमें छुटाई-बड़ाई का भेद नहीं करता। जगत् में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है, वैर-विरोध को अज्ञानभाव से—कल्पना से मान लिया गया है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में जाननेरूप क्रिया होती है। उसे भूलकर पर को अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है? हे भाई! इस अनन्त काल में दुर्लभ मानव-जीवन और उसमें भी महामूल्य सत्समागम तथा उनकी वाणी का श्रवण प्राप्त होता है, तथापि अपने स्वतन्त्र स्वभाव को न माने, यह कैसे चल सकता है?

बाप, बेटे से कहे कि 'बेटा! यह कमाई के दिन हैं। यदि अभी न कमायेगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महीने के परिश्रम से बारह महीने की रोटियाँ निकल सकती हैं।' सो यह तो धूल समान है, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य

जीवन और सत्य को सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्ष का मण्डप तैयार है; तेरा सिद्ध -मुक्त स्वभाव है; उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। उसमें कहीं भी वैर-विरोध नहीं है। चैतन्य आत्मा के स्वभाव में विरोध नहीं है, इसलिए मेरा स्वभाव भी वैर-विरोध रखना नहीं है; किन्तु विरोध-दोष का नाशक है, क्योंकि सिद्ध में दोष नहीं है। पूर्ण होने से पूर्व पूर्ण के गीत गाये हैं। जहाँ शंका है, वहीं रोना है। ज्ञानी तो प्रभुता को ही देखता है।

आत्मा का पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्य में लेना निर्मल परिणामी की डोरी का साध्य (लक्ष्य-ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरे के प्रति लक्ष्य नहीं करना है। ऐसे निर्णय के बाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुण का नाश नहीं होने देगा। संसारी योग्य जीव को सिद्ध के समान स्थापित किया है। उसका आश्रय लेनेवाले को बाद में उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि मैं एकाग्रता के द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्प काल में साक्षात् सिद्ध होऊँगा।

संकल्प-विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार स्वतन्त्र स्वभाव को प्रगट करके जागृत होता है। उसमें कोई काल और कर्म बाधक नहीं होते। कर्म तो जड़-मूर्तिक हैं। वे स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुए हैं। क्योंकि आत्मा सदा अपने रूप में है, पर रूप में नहीं है। जो तुझमें नहीं है, वह तुझे तीन काल और तीन लोक में हानि नहीं पहुँचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा नहीं है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के हानि-लाभ का कारण नहीं है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यता ने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड़-कर्मों ने मुझे मार डाला, उन्हें सुधरना नहीं है। तेरी भूल के कारण ही राग-द्वेष और विकाररूप संसार है। अपने बड़प्पन को भूलकर दूसरे को बड़प्पन देता है, मानों तुझमें पानी—(बल) ही नहीं। तू मानता है कि पर मुझे हैरान करता है या कुछ तुझे दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अपने को पूर्ण और स्वतन्त्र प्रभु न माने तो भी स्वयं वैसा ही है। अपने स्वभाव से विपरीत मानने पर भी स्वभाव कहीं बदल नहीं जाता। जो अपने आत्मा को परमार्थत: सिद्ध समान जानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है। त्रिकाल ज्ञानी प्रथम ही शुद्ध आत्मा की स्थापना का उपदेश देते हैं। जो साहूकार होता है, वह सोलहों आना चुकाता है; आठ आनेवाले की आड़ नहीं लेता। वह अशक्त की बात

को याद नहीं करता। वैसे ही मैं पूर्ण निर्मल सिद्ध समान हूँ और वैसा ही होनेवाला हूँ। उसमें तीन काल और तीन लोक में कोई विघ्न नहीं देखता। आत्मा के लिए कर्म बाधक हैं, इस प्रकार चिल्लाहट मचानेवाले को भी याद नहीं करता, और जानता है कि इस प्रकार सिद्धस्वरूप का ध्यान करके अनन्त जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धगति कैसी है ? = संसार की चारों गतियों से विलक्षण (विपरीत लक्षण) पंचम गति अर्थात् मोक्ष है, उसे अनन्त जीवों ने प्राप्त किया है। जिसकी जैसी रुचि होती है, वह उसी के गीत गाता है। इसी प्रकार ज्ञानी (धर्मात्मा) जगत के सुपात्र जीवों को अपने समान सिद्ध समान बनाते हैं और कहते हैं कि ऐसे त्रिकाल अखण्ड स्वाधीनता के आन्तरिक स्वभाव में से 'हाँ' कहकर उस बात को श्रवण करनेवाले, तथा श्रवण करानेवाले सभी मोक्ष के मोती हैं, तीर्थंकर भगवान ने भी हमारा-तुम्हारा और सबका सिद्धत्व स्थापित किया है।

इस टीका में परम अद्‌भुत अलौकिक बातें भरी पड़ी हैं। अपूर्व सत् की स्थापना करके सर्व प्रथम मोक्ष का मंगल गान गाया है और यही सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है। उसकी घोषणा करके आचार्य महाराज संसार में सोये हुए प्राणियों को जगाते हैं। जैसे बीन के नाद से सर्प जागृत होकर आनन्द से डोलने लगता है, उसी प्रकार इस देह रूपी गुफा में त्रिलोकीनाथ आत्मा विराजमान है और तेरी महिमा के गीत गाये जा रहें हैं, तब फिर तू क्यों न नाच उठेगा ? तू पूर्ण है, प्रभु है; इसे उमंगपूर्वक सुनकर एकबार मत्त होकर कह दे कि मुझे इस पूर्ण स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने तो तेरी स्वतन्त्रता के विज्ञापन की घोषणा की है। जैसे राजा डोंडी पिटवाकर घोषित करता है कि अब यहाँ मेरा राज्य है, इसी प्रकार ज्ञानी होकर और आत्मलीन होकर तू घोषित कर दे कि मेरा सिद्धपद का राज्य है और इसमें संसारपद का नाश है। हम पहले गद्दी पर बैठे हैं और घोषणा की है; तू भी ऐसा ही कर।

अहा ! पंचम काल में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अमृतवर्षा की है। उसके श्रवण की मिठास और माधुर्य का क्या कहना ? जिसे सुनते ही तत्त्व के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है कि अहो ! ऐसी बात तो कभी सुनी ही न थी। कैसी स्पष्ट बात है। जिसके आत्मा में ऐसी निर्मल-स्पष्ट बात जम गयी, वह कभी पीछे नहीं रह सकता। मैं

देख-भाल कर कहता हूँ कि यह स्वीकार कर कि मैं सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है। ऐसे सुपात्र जीव को ही यह रहस्य सुनाया है।

सिद्धगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है। उसे किसी बाह्य आश्रय या अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। जो पराश्रय से उत्पन्न होता है वह स्वभाविक अर्थात् स्वाधीन नहीं कहलाता है। इसलिए पर निमित्त के बिना स्वभाव से उत्पन्न सिद्धगति ध्रुव और निश्चल है; चारों गतियाँ पर निमित्त से अर्थात् पुण्य-पाप में, विकार के कारण संयोग से उत्पन्न होती हैं, इसलिए देव, इन्द्र आदि पद मिले तो भी वह ध्रुव नहीं है। इसलिए चारों गतियाँ नाशवान हैं और इसलिए इस पंचम गति में विनाशीकता का अभाव है।

और फिर वह गति अचल है। चैतन्य उपयोग में अशुद्धता, चलता जो कि पर निमित्त से अपनी भूल से भी अपने स्वभाव की प्रतीति और पुरुषार्थ से सर्वथा नष्ट कर दी गयी है। इसलिए अचल गति प्राप्त हुई है। पुनः अशुद्धता आनेवाली नहीं है, इसलिए वह गति अचल है। जीव पहले परमात्मदशा में था, पश्चात् अशुद्ध हुआ है, सो बात नहीं है। किन्तु अनादि काल से अपनी ही भूल के कारण आत्मा में संसार दशा थी, उसका आत्मस्वभाव प्रतीति से सर्वथा नाश करके सिद्धगति प्रगट की है। वह कभी पलट नहीं सकेगी, इसलिए अचल है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ध्रुव, अचल और शुद्ध है, इसलिए यदि स्वभाव के प्रति लक्ष्य हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती। किन्तु यह जीव पर लक्ष्य से विकार करके चारों गतियों में अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। यदि वह एक बार सिद्ध -ध्रुवस्वभाव का आश्रय ले तो विश्रान्ति मिले। पुण्य-पाप की ओर का जो पर भाव है, उसके निमित्त से चौरासी में परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभाव के घर में आये तो शान्ति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घर में आकर शान्ति का अनुभव करते हैं।

जैसे एक आदमी धन कमाने के लिए परदेश गया। वहाँ वह एक नगर से दूसरे नगर में और दूसरे नगर से तीसरे नगर में गया, वहाँ उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया जहाँ उसे विश्रान्ति का अनुभव हुआ और वह वहाँ पर जम गया, तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए क्योंकि मुझे जीवनपर्यन्त यहीं रहना है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि उसकी आयु कब पूर्ण हो

जायेगी और वह यहाँ से कब, कहाँ चला जायेगा! ज्ञानी कहते हैं कि वह अपनी रुचि विचार और प्रवृत्ति के अनुसार दूसरे भव में जायेगा। यदि इस समय भव के अभाव का निर्णय न किया तो यह जीवन किस काम का? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया, तो भी किस काम का? जो सिद्ध भगवान ऐसी गति को प्राप्त हुए हैं, उस सिद्धपद को पहचानकर उसे हृदय में स्थापित कर वन्दना करते हैं। पहचाने बिना कोरी वन्दना किस काम की?

समयसार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है परनिमित्ताधीन जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे मूलस्वभाव नहीं हैं। जैसे-पानी का मूल-स्वभाव निर्मल है, उसी प्रकार आत्मा का मूलस्वभाव पवित्र, ज्ञान-आनन्द स्वरूप है। भूल और आकुलता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ज्ञाता दृष्टा और स्वतन्त्रता का भाव क्या है, यह बतलाने के लिए इस शास्त्र की व्याख्या की गयी है। पहले ''वंदित्तु सव्वसिद्धे'' कहकर प्रारम्भ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभाव दशा प्रगट हो गयी है, उसे मुक्तदशा अर्थात् परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अन्तरंग से आत्मा में आदर होना चाहिए। जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूँ। पुण्य-पाप आदि का आदर नहीं करता। इस प्रकार अन्तरंग से निर्णय होना ही प्रारम्भिक धर्म है।

मैं बन्ध-विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा-सिद्ध समान हूँ, यह स्थापित किया अर्थात् सिद्ध परमात्मा को भाव से अपने आत्मा में स्थापित किया, उसी का आदर करके 'मैं ही वैसा आत्मा हूँ', इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करना सर्व प्रथम उपाय है, अथवा बन्धन से मुक्त होने का मार्ग है। सिद्ध भगवान नीचे नहीं आते; किन्तु जिसके अन्त:करण में, ज्ञान में ऐसी दृढ़ता हो गयी कि मैं सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, उसके विरुद्धभाव का नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धा से मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अबन्ध हूँ; इस प्रकार मोक्ष स्वभाव का निर्णय करने के बाद अल्प राग-द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नहीं; लेकिन दूर हो जायेगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनन्द रह जायेगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गति को अपने में देखकर भाव में एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्षगति को सिद्ध भगवान ने प्राप्त किया है, वह अनुपम है अर्थात्

जगत में जितने पदार्थ हैं, उसकी उपमा से रहित हैं। इसलिए जैसे उनमें कोई उपाधि अथवा कमी नहीं है; वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार समझकर परमात्मा की वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व-विरोधभाव, राग-द्वेष और अज्ञानभाव को आदर नहीं देना चाहता। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगत की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। यह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानी ने जड़ में आनन्द मान रखा है, किन्तु कहीं जड़ में से सुख नहीं आता। मात्र कल्पना से मान रखा है। उस कल्पना से भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दस्वरूप ज्ञातृत्वभाव है। उसी का आदर करे और उस स्वरूप में स्थिरता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। संसार के किसी पदार्थ की कोई उपमा उस दशा को नहीं दी जा सकती। जैसे-गाय का ताजा घी कैसा है ? यह पूछने पर उस घी को दूसरे पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसकी ताजगी और उसकी मिठास की उपमा के योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्राय: सभी को घी प्रारम्भ से प्राप्त है। उसे कई बार चखा है, तथापि उसका स्वाद वाणी में पूरा नहीं कहा जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय है, वह वाणी में कैसे आ सकता है ?

आत्मा का स्वरूप अनुपम है, इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधन से नहीं हो सकता। 'पुण्य की प्रवृत्ति अथवा मन' वाणी और देह की प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, इसलिए मेरे लिए सहायक नहीं है। हित-अहित का कारण मैं ही हूँ। इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूप को पहचानकर वन्दना करता है, आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पूरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है, तब खाते-खाते चप-चप आवाज होती है, उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किन्तु वह आमरस, पूरी अथवा गुलाबजामुन मुँह में डालकर और चबाकर गले में उतारने में पूर्व दर्पण में देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ ? वह कुत्ते की कै (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा ! किन्तु रस का लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गले में क्या उतार रहा हूँ। मिठास की उपमा देकर वह गद्‌गद् हो जाता है, किन्तु यह नहीं सोचता कि धूल जैसे परमाणुओं की अवस्था का वह रूपान्तर मात्र है। क्षणभर में मिठाई, क्षणभर

में जूठा और क्षणभर में विष्ठा हो जाता है। इस प्रकार परमाणु की त्रैकालिक वस्तुस्थिति को देखे, तो उसको पर में सुखबुद्धि न हो। और फिर पर में सुख है, ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तु में से नहीं आती; किन्तु अपने शुभ गुण को विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे-बुरे की कल्पना करता है। यदि उस विकार को दूर कर दे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मा में से ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूप में नहीं हूँ, इस प्रकार पहले श्रद्धा से विकार का त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड़ और शक्कर दोनों की मिठास का अनुभव होता है और उन दोनों की मिठास का पृथक्-पृथक् अन्तर भी ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा सन्तोषकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सिद्धपद ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वह कहा नहीं जा सकता। सबसे अनुपम, आत्मा का पवित्र स्वरूप यह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषण से यह बताया गया है कि चारों गतियों में जो परस्पर किसी प्रकार समानता दिखायी देती है, वैसा कोई प्रकार इस पंचम गति में नहीं है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; ये चारों गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नहीं है। वे जीवों के परिणाम का फल हैं। जिसने दूसरे को मार डालने के क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलता के साधन के लिए बीच में विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी संख्या की कोई सीमा नहीं है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नहीं है। इसलिए उसका फल असीम-अनन्त दु:ख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कहीं वृथालाप नहीं है। जो भी प्रतिकूलता को दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियों को मारना चाहता है। भले ही मरनेवाले अथवा बाधा डालनेवाले दो चार हों या बहुत हों, वह सबको नाश करने की भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक-गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नहीं है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे हैं, इस प्रकार जो मानता है, वह पर में ममत्ववान होता हुआ महा हिंसा के भाव का सेवन करता है। क्योंकि उसके अभिप्राय से अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करने के भाव, विद्यमान हैं। उन भावों की अनन्त संख्या में अनन्त जीवों को मारने का उनके संहार करने का भाव है। इस प्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवों को मारने के और

उनके बीच बाधक होने के भावों का सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप तीव्र दु:ख के संयोग की प्राप्ति होती है और वह नरक गति है। लाखों हत्यायें करनेवाले को लाखों बार फाँसी होना इस मनुष्यलोक में सम्भव नहीं है। यहाँ उसे अपने क्रूर भावों के अनुसार पूरा फल नहीं मिलता; इसलिए बहुत काल तक अनन्त दु:ख भोगने का क्षेत्र नरक स्थान शाश्वत् विद्यमान है। युक्तिपूर्वक उसे सिद्ध किया जा सकता है। तिर्यंचों के वक्र शरीर होते हैं। उन्होंने पहले कपट या वक्रता बहुत की थी; वे मध्यम पाप करके पशु हुए हैं। मुनष्यों के भी मध्यम पुण्य है। देवों को बहुत से पुण्य का फल प्राप्त है, इसलिए मनुष्यों के साथ आंशिक पुण्य की उपमा मिलती है। किन्तु पुण्य, पाप और विकार भाव से रहित मोक्षगति अनुपम है। इसलिए उस पंचम गति से विरोधी भाव-पुण्य पाप, देहादि की जो क्रिया है उससे मुक्ति नहीं मिलती। क्योंकि जिस भाव से बन्धन मिलता है, उसी भाव से मुक्ति नहीं मिल सकती। और उससे प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। जिस भाव से मुक्ति होती है, धर्म का प्रारम्भ होता है, उससे किंचित् मात्र बन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्ष के मार्ग को भी किसी पुण्यादिक की उपमा नहीं मिलती, क्योंकि पुण्य-पाप की सहायता के बिना वह आन्तरिक मार्ग है। वह बाह्य क्रियाकाण्ड का मार्ग नहीं है। अत: आत्मस्वभाव में धर्म-साधन के लिए प्रारम्भ में ही पुण्य-पाप की उपाधि से रहित पराश्रयहीन स्वतन्त्र सिद्ध परमात्मा का स्वभाव ही एक उपादेय है, ऐसा मानना होगा। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके स्वरूप में स्थिरता करनेरूप अन्तरंग किया ही स्वतन्त्र उपाय है। यह समझकर अन्तरंग में स्थिर हो जाना चाहिए। यह अन्तरंग स्वभाविक क्रिया है। निर्णय में पूर्ण स्थिरता उपादेय है, किन्तु साधक एक साथ सारी स्थिरता नहीं कर सकता, इसलिए क्रम होता है। मोक्षमार्ग की भी बाह्य शुभ प्रवृत्ति के साथ कोई समानता नहीं है। इसलिए मोक्ष और मोक्षमार्ग को कोई उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि दोनों स्वरूप और आत्मा के परिणाम आत्मा में ही हैं। मोक्ष और मोक्ष का उपाय दोनों पराश्रयरहित स्वतन्त्र हैं। पर से भिन्न जो मुक्तिस्वरूप अपने में निश्चय किया, उसमें मन, इन्द्रिय इत्यादि कोई बाह्य वस्तु साधन नहीं है। इसी प्रकार उसके चारित्र में भी समझना चाहिए। इसलिए मोक्ष के साधनरूप में, अन्तरंग में तू है और साध्य-पूर्ण पद में भी तू है। उसकी श्रद्धा, उसका अन्तर्ज्ञान और उसरूप स्थिरता का चारित्र एवं उसकी एकता और उसके फल इत्यादि के लिए कोई उपमा लागू नहीं होती।

मोक्षगति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम वर्ग हैं। उससे रहित अपवर्ग कहलाता है।

यहाँ पर धर्म, आत्मा के स्वभाव के अर्थ में नहीं किन्तु पुण्य के अर्थ में है। दया, दान, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं। मोक्षगति और उसके प्रारम्भ का मार्ग पुण्यादि शुभ से परे है। हिंसादि पापों को छोड़ने के लिए शुभभाव के द्वारा पुण्य होता है। वह भी आन्तरिक धर्म में सहायक नहीं है। अर्थात् रुपया-पैसा भी ममता का वर्ग है।

काम अर्थात् पुण्यादि की इच्छा भी एक वर्ग है। यह सभी वर्ग संसार सम्बन्धी हैं। काम-भोग की वासना से मोक्षगति भिन्न है। ऐसे वर्ग से भिन्न मोक्षरूप शुद्ध, सिद्ध कृतकृत्य पंचम गति है। इस प्रकार अन्तरंग में निश्चय करने स्थिर होनेवाले अनन्त आत्मा उस गति को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी अन्त:करण में अर्थात् ज्ञानस्वरूप से सिद्ध परमात्मदशा को पहचान कर उसका आदर करो, तो उसमें स्थिरता के द्वारा मोक्षदशा प्रगट होगी। रुपये-पैसे से, पुण्य से, अथवा पर के आश्रय से अविकारी आत्मा का स्वभाव नहीं मिलता। किन्तु यदि कोई आत्मा को समझे तो उससे मिलता है। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की यह कैसी सुन्दर बात कही है।

ऐसे सिद्ध परमात्मा की पहचान करके, स्व-पर के आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करके, पुण्य-पाप से रहित पराश्रय रहित, शुद्ध आत्मा का ही आदर करने को कहा है। यहाँ पर प्रथम निर्णय या श्रद्धा करने की बात है। पश्चात् राग-द्वेष घटाने का कार्य और अन्तरंग स्थिरता अर्थात् चारित्र क्या है, यह स्वमेव समझ में आ जायेगा; और उससे राग को दूर करनेवाले ज्ञान की क्रिया अवश्य होगी। किन्तु आत्मा की सत्ता कैसी होती है, यह ज्ञात न हो तो उपयोग अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है। और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की है, इसलिए मुझे धर्मलाभ होता है। किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई! पहले तू अपने को समझ। आचार्यदेव ने ग्रन्थ का बहुत ही अद्‌भुत प्रारम्भ किया है। और कहा है कि पहले सच्ची समझ को पाकर अपनी स्वतन्त्रता का निर्णय कर। इससे तुझमें पूर्णता का स्थापन किया है।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और मुझे भगवान बना देना चाहते हैं? किन्तु अभी 'हाँ' कहकर उसका आदर तो करे।

तू परम शुद्ध स्वरूप है। थोड़ी-सी बात में (अच्छे-बुरे से) अटक जाने में तुझे शुद्ध आत्मा का प्रेम कहाँ से हो सकता है ? जिसे देहादि में अत्यधिक आसक्ति है, उसे ऐसा पवित्र ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा ? किन्तु एक बार तो इस ओर कुलाँट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये सत्य को सुनना चाहता है, तो वह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र हैं वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर; इंकार मत कर। पूर्ण का आदर करनेवाला पूर्ण हो जायेगा। मैं विकार रहित हूँ और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इस प्रकार अपने आत्मा में भगवत्ता स्थापित करके—निर्णय करके मोक्षगति कैसी है, यह सुनाते हुए आचार्यदेव मोक्ष-मण्डली का प्रारम्भ करते हैं। और कहते हैं कि अब परमपूज्य सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्व को कहता हूँ, सो सुनो।

समय का प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का वर्णन करनेवाला जो प्राभृत यानी अर्हत् प्रवचन का अवयव (सर्वज्ञ भगवान के प्रवचन का अंश) है, उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करने के लिये विवेचन करता हूँ।

जिसमें राग-द्वेष, अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमल से (वाणी से) साक्षात् या परम्परा से जो प्रमात्तरूप मिला है, उसे ही मैं कहूँगा; कुछ अपने घर का-मनमाना नहीं कहूँगा। जैसे कोई मकान खरीदकर दस्तावेज लिखवाता है, तो उसमें पूर्व, पश्चिम आदि की निशानी लिखवाता है, और इस प्रकार तमाम प्रमाण को निश्चित कर लेता है। उसमें चाहे जिस आदमी के दस्तखत नहीं चल सकते। इसी प्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के आगम-प्रमाण से यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूँगा। मुझे कुछ मनमानी, ऊपरी या व्यर्थ की बातें नहीं कहना है किन्तु जो कहूँगा वह साक्षात् और परम्परा से आगत परमागम से ही कहूँगा। उसमें सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोज का चन्द्रमा तीन प्रकारों को बताता है—दोज की आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमा की आकृति और कितना विकास शेष है; इसी प्रकार यह परमागम आत्मा की पूर्णता, प्रारम्भिक अंश और आवरण को बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ के द्वारा प्रमाणित होने से, अरहन्त भगवान के मुख से निकले हुए पूर्ण द्वादशांग भाग को प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं; इसलिए वह परमागम सफल है। उसमें जगत् के सर्व पदार्थों का विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण अल्पज्ञ प्राणी के मुख से नहीं निकल सकती।

जहाँ दो-चार गाड़ी ही अनाज उत्पन्न होता है, उसके रखवाले को अधिक अनाज नहीं मिलता, किन्तु जहाँ लाखों मन अनाज पैदा होता है, उसके सेवक को बहुत-सा अनाज मिल जाता है, इसी प्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नहीं है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोड़ा ही कह सकता है, और उसके सेवक (श्रोता) को थोड़ा ही प्राप्त होता है, तथा दोनों को एक-सा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के केवलज्ञान की खेती हुई है, इसलिए वहाँ अनन्त भाव और महिमा को लेकर वाणी का बोध खिरता है। उसके सुननेवाले सेवक गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेव का प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इस प्रकार की इच्छा उनके नहीं होती। जैसे मेघ की गर्जना सहज ही होती है उसी प्रकार 'ॐकार' की भी सहज ध्वनि उद्‌भुत होती है; वह द्वादशांग सूत्ररूप में रची जाती है। इसे जिनागम या जिनप्रवचन कहा जाता है। उस शास्त्र के फलस्वरूप हम अनादि काल से उत्पन्न मोह, राग, द्वेष आदि का नाश होना कहेंगे। संसार में पुण्य, देह, इन्द्रिय आदि मेरे हैं, यह अनादिकालीन अज्ञानभाव है। यह बात नहीं है कि जीव पहले शुद्ध आनन्दरूप था और बाद में अशुद्ध दशावाला हो गया है। किन्तु मेरी वर्तमान प्रगट अवस्था में अशुद्धता भी है, और त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में पूर्ण शुद्धत्व भी है। इसका वर्णन आगे अनेक प्रकार से आयेगा। वह वर्णन स्व-पर के मोह का नाश करने के लिये है। इस शास्त्र रचना में पुजवाने, मान-बड़ाई तथा मतमतान्तर की बाड़ बाँधने का अभिप्राय नहीं है।

परिभाषण का अर्थ है—यथास्थान अर्थ के द्वारा के द्वारा वस्तुस्वरूप को सूचित करनेवाली शास्त्र रचना। पुरुष की प्रामणिकता पर वचन की प्रामाणिकता निर्भर है। केवलज्ञानी निर्दोषस्वरूप निश्चित होने पर उनके वचन से परमार्थ-सत्यस्वरूप जाना जा सकता है। शब्द से अर्थ ज्ञात होता है। जैसे 'मिश्री' शब्द से मिश्री नामक पदार्थ का ज्ञान होता है। उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की वाणी से वाच्य पदार्थ का स्वरूप ज्ञात होता है। आगम का अर्थ है शास्त्र, ज्ञान की मर्यादा है, पूर्णस्वभाव सहित जानना। यह समयसार शास्त्र अनेक प्रकार से सर्वोत्तम प्रमाणता को प्राप्त है।

किन्तु जिसकी बुद्धि में दोष है, उसे शास्त्र की बात नहीं जमती, वह निषेध करता

है। वाद-विवाद या तर्क से वस्तु का पार नहीं आ सकता। पत्थर की कसौटी हो तो सोने की कीमत हो, किन्तु कोयले पर सोने की परीक्षा नहीं हो सकती। उसी प्रकार सर्वज्ञ के अपूर्व न्याय (वचन) पात्र जीवों को हृदय की परीक्षा के द्वारा निश्चय होते हैं। कदाग्रही अपात्र से निश्चय नहीं हो सकता। आचार्यदेव इस शास्त्र की महत्ता-प्रतिष्ठा करते हुए कहते हैं कि 'सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है और वह अनादि-अनन्त परमागम शास्त्र चला आ रहा है, उसी का यह भाग है।' मनुष्य की समझ में नहीं आता तब वह कहता है कि— यह नया है, यह मिथ्या है; इत्यादि। किन्तु किसी के कहने से कुछ मिथ्या नहीं हो जाता।

पहले अनन्त भव धारण किये हैं, उनमें यह बात अनन्त काल में भी कभी सुनने को नहीं मिली कि आत्मा पर से निराला है। यदि कभी अच्छा समागम मिलता है, सत्य सुनने को मिलता है तो सबसे पहले इन्कार कर देता है। जैसे लक्ष्मी टीका करने आती है तो अभागा मुँह धोने चला जाता है, इसी प्रकार वह ऊँची बात सुनकर मोक्ष की बात सुनकर पहले ही इन्कार करता है कि हम तो पात्र नहीं है; किन्तु आचार्यदेव सबकी पात्रता बताते हुए कहते हैं कि तुम अनन्त ज्ञानस्वरूप भगवान हो, स्वतन्त्र हो।

जैसे बहुत समय से पानी गरम किया हुआ रखा हो तथापि वह सारा का सारा सत्व उष्णरूप नहीं हो गया है; अनित्य उष्ण अवस्था होने पर भी उसका शीतल स्वभाव विद्यमान है। यदि वह चाहे तो जिससे गरम हुआ है, उसी को मिटा सकता है। अग्नि को बुझाने की शक्ति पानी में कब नहीं थी ? वह तो उष्ण होकर भी अग्नि को बुझा सकता है; अपने स्वभाव को व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल पूर्ण ज्ञान-आनन्द स्वरूप है। देह, इन्द्रिय, राग-द्वेष और पुण्य-पाप की अनित्य उपाधिरूप नहीं है। जड़कर्म के निमित्ताधीन वर्तमान क्षणिक अवस्था में राग की तीव्रता-मन्दता मालूम होती है, उसे नष्ट करने की शक्ति आत्मा में प्रतिक्षण स्वाधीनतया विद्यमान है। इसलिए यह बात स्पष्ट समझ में आ जायेगी कि जैसे गर्म पानी का घड़ा यदि टेढ़ा होकर अग्नि पर कुछ गर्म पानी गिर जाये तो अग्नि बुझ जाती है, और फिर शेष पानी ठण्डा हो जाता है; और तब पानी के स्वभाव पर विश्वास जम जाता है। कोई कहता है कि हम तो कर्म के संयोग के वश में पड़े हुए हैं, क्या करें; कर्मों का जोर बहुत है, कर्म हैरान करते हैं; किसे खबर है कि कल कर्म का कैसा उदय आयेगा! इसलिए हमें तो रुपयों-पैसों की सम्भाल करनी चाहिए; इत्यादि।

इस प्रकार जो कर्म दिखायी नहीं देते उनका तो विश्वास है और सदा स्वयं सबको जाननेवाला होने पर भी अपना विश्वास नहीं करता। भविष्य के फल की कारणरूप अप्रगट शक्ति का विश्वास करता है, पर का विश्वास करता है और इधर प्रगट अपनी सुध नहीं है। इसलिए सत् की बात सुनते ही कह उठता है कि हम अभी पात्र नहीं हैं। अत: आचार्यदेव उन्हीं को उपदेश देते हैं जो यह स्वीकार करें कि आत्मा त्रिकाल ज्ञायक है, पर से भिन्न, और स्वरूप से पूर्ण है, शक्ति में सिद्ध भगवान के समान है। पहले श्रद्धा से पूर्ण का आदर करने की बात है। अनन्त जीव इसे स्वीकार करके मोक्ष गये हैं। शास्त्र में कहा है कि 'काल का कठियारा अपूर्व प्रतीति करके ४८ मिनिट में मोक्ष गया, इसी प्रकार और भी अनन्त जीव मोक्ष गये हैं; उन्हें तो याद नहीं करता और कर्म को यह कहकर याद किया करता है कि ढ़के-मुँदे कर्मों की किसे खबर है ?' ऐसे अपात्र जीवों को यहाँ नहीं लिया है। जिन्होंने ज्ञानी से सुनकर आत्म-प्रतीति की है कि अहो ! मैं ऐसा शुद्ध पूर्ण आत्मा हूँ, मेरी भूल से अनन्त शक्ति रुकी हुई थी; ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा ४८ मिनट में ही अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उनके हजारों दृष्टान्त शास्त्रों में विद्यमान हैं। उनका स्मरण करके मैं भी वैसा हो जाऊँ' इस प्रकार विश्वास लाना चाहिए। किन्तु अज्ञानी जीव उसका निर्णय नहीं करता और पर का निर्णय करता है। जो बात जम गयी है, उसी के विश्वास के बल पर उसमें सम्भावित विघ्न को वह याद नहीं करता। परवस्तु का तो विश्वास है, किन्तु तू उससे भिन्न, अखण्ड, ज्ञायकतत्त्व है यह सुनाने पर भी उसका विश्वास अथवा रुचि नहीं करता, और कहता है कि 'हम पात्र नहीं हैं।' छूटने की बात सुनकर हर्ष क्यों नहीं होता ? योग्य जीव तो तत्त्व की बात सुनकर उसका बहुमान करता है कि जितनी प्रशंसा के गीत शास्त्र में गाये जाते हैं, वह मेरे ही गीत गाये जाते हैं।

सूक्ष्मबुद्धि के बिना सर्वज्ञ का कथन नहीं पकड़ा जाता, जैसे मोटी संसी से मोती नहीं पकड़ा जाता। इसी प्रकार स्वयं जैसा है वैसा समझने की रीति भी सूक्ष्म है। वह भूलकर दूसरा सब कुछ करे, किन्तु उसका फल संसार ही है। इस अवतार को रोकने के लिये अनन्त-तीर्थंकरों ने पुण्य-पाप रहित की श्रद्धा, उसकी समझ तथा स्थिरता का उपाय कहा है। उसे तो नहीं समझता है और कहता है कि 'हमें यह कथन बारीक मालूम होता है, यह नहीं समझा जाता।' यह बात सज्जन के मुख से शोभा नहीं देती; इसलिए मुक्तस्वभाव

का ही आदर कर। मुक्तस्वभाव का आदर करनेवाला कर्म अथवा काल का विघ्न नहीं गिनता। यह सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र है अर्थात् केवली भगवान के द्वारा यह शास्त्र कहा गया है और उनके पास रहनेवाले साक्षात् श्रवण करनेवाले सन्त-मुनियों की परम्परा से समागत है। तथा केवली के पास रहते हुए साक्षात् श्रवण करनेवाले अथवा स्वयं ही अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली गणधरदेवों से कहा हुआ होने से (जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा वैसा ही सुना और उनसे आया हुआ परमागम शास्त्र होने से) यह आगम प्रमाणभूत है। इसलिए कई लोग जैसी निराधार पौराणिक बातें करते हैं; वैसी कल्पनावाला यह शास्त्र नहीं है।

इस प्रकार पहली गाथा में आत्मस्वभाव का जो वर्णन किया है, उसकी प्रमाणता बतायी है। उसमें साध्य-साधकभाव तथा अनन्त आत्माओं में से प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, स्वतन्त्र है, यह स्थापित किया है। यदि कोई कहे कि आत्मा मोक्ष जाकर वापिस आ जाये तो क्या हो? उसकी यह शंका वृथा है। क्योंकि यहाँ पर भी अल्प-पुरुषार्थ से जितना राग छेदता है, उसे फिर नहीं होने देता, तो फिर जिसने पूर्ण राग-द्वेष का नाश करके अनन्त-शक्ति प्रगट की है, वह फिर से राग क्यों उत्पन्न होने देगा? और जब राग नहीं होता तो फिर वापिस कैसे आयेगा? मोक्ष जाकर कोई वापिस नहीं आता। एक बार यथार्थ पुरुषार्थ किया कि फिर पुरुषार्थ नहीं करना होता। मक्खन का घी बन जाने पर फिर उसका मक्खन नहीं बन सकता। इसी प्रकार एक बार सर्व-उपाधि और आवरण का विनाश किया कि फिर संसार में आना नहीं होता। इसलिए जिसने ध्रुवगति प्राप्त की है, उनमें चार गतियों से विलक्षणता कही गयी है और उनकी अचलता कहकर संसार परिभ्रमण का अभाव बताया गया है; तथा अनुपम कहकर उन्हें संसार की उपमा से रहित बताया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी कल्पना से कुछ नहीं कूहँगा। किन्तु जो सर्वज्ञ वीतराग से आया हुआ है, उस मूल शास्त्र का रहस्य आचार्य परम्परा से चला आ रहा है, और जो सर्वज्ञ कथित है तथा जो अर्थ को यथास्थान बतानेवाला है; ऐसा परिभाषण-सूत्र कहूँगा।

आचार्यदेव ने मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार किया है।

मंगल (मंग + ल) मंग=पवित्रता, ल=लाये। अर्थात् जो पवित्रता को लाता है, सो मंगल है। आत्मा की पूर्ण पवित्रता आत्मभाव से प्राप्त होती है, वह भाव मांगलिक है।

आत्मा ज्ञानानन्द, अविकारी है, उसे भूलकर रागादि में अहंभाव या ममकार करता है; उस ममतारूपी पाप को आत्मस्वभाव की प्रतीति से टालकर जो पवित्रता लाता है, सो मंगल है। सर्व उपाधियों से रहित पूर्ण शुद्ध सिद्ध को ही (पूर्ण साध्य को ही) नमस्कार करता हूँ। अर्थात् उस वास्तविक स्वभाव का ही आदर करता हूँ और उससे विरुद्ध भाव का (पुण्य-पाप इत्यादि का) आदर नहीं करता।

इन्द्रों के पास बहुत वैभव है तथापि वे वीतरागी और त्यागी मुनियों का आदर करते हैं। इसके अर्थ में 'हमें जो संयोगी वस्तु मिली है, उसका हमारे मन में आदर नहीं है,' यह समझकर शुद्धात्मा का आदर करता है, वही यथार्थ वन्दना है, शेष सब रूढ़िगत वन्दना है। 'पर के सम्बन्ध से रहित, अखण्ड, ज्ञानानन्द, पवित्र जो परमानन्द वीतरागपना है सो सत्य है,' ऐसा निश्चय करके जो उसका आदर करता है, तभी वह वन्दना करनेवाला, उस भाव में सच्ची वन्दना करता है और शुभ-अशुभ विकार-विरोध भाव का आदर नहीं करता। इस प्रकार अविरोध की 'अस्ति में विरोध भाव की' 'नास्ति' आ गयी।

संसार में—चौरासी में परिभ्रमण करते हुये आत्मा को शुद्ध-आत्मा ही साध्य है। स्त्री-पुत्रादि में संसार नहीं है, किन्तु आत्मा की अज्ञान, राग-द्वेषरूप वर्तमान एक अवस्था में संसार है। यह विपरीत अवस्था जीव में होती है, वह विकारी अवस्था है। आत्मा में संसारदशा और सिद्ध-निर्मलदशा दोनों होती हैं।

जड़ के संसार नहीं होता, क्योंकि उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता और उसमें ज्ञातृत्व भी नहीं है, इसलिए मैं देहादि, रागादि से भिन्न हूँ, इस प्रकार स्वरूप को समझे बिना देह, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि में जो अपनेपन की दृष्टि होती है, वही अज्ञानभाव है; और उसी को परमार्थ से संसार कहा है। संसारभाव कहाँ है यह निश्चय करो। जैसे मिश्री शब्द के द्वारा मिश्री पदार्थ का ज्ञान होता है, इसी प्रकार संसार शब्द भी वाचक है। उसका वाच्यभाव यह है कि परवस्तु मेरी है, पुण्य-पाप और देहादि की क्रिया मेरी है, और इस प्रकार अपनेपन की मान्यता ही संसार है।

इस विकार अवस्था में शुद्ध आत्मा साध्य है। पानी अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्थारूप हुआ है। उस उष्ण अवस्था के समय भी पानी की शीतलता पानी में रहती है। संसारी जीव को अज्ञान-आकुलता से रहित निराकुल, शान्तस्वभाव साध्य है। जैसे तृषातुर

को उष्ण जल में से शीतल स्वभाव प्रगट करना साध्य है। इसी प्रकार यदि गरम पानी में शीतलता के गुण को मानें तो फिर पानी को ठण्डा करने का उपाय करके प्यास भी बुझा सकता है। इसी प्रकार वर्तमान पर्याय में अशुद्धतारूप उष्णता के होने पर भी चैतन्यद्रव्य स्वभाव से शुद्ध-शीतल है, यह माने तो उष्णता को दूर करके शीतलता को भी प्रगट करने का उपाय कर सकता है।

निमित्त पर दृष्टि न दे तो अशरीरी, अविकारी, अनादि-अनन्त पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। उस शुद्धता का अपार सामर्थ्यरूप आत्मतत्त्व भरा हुआ है, वह शुद्ध आत्मा साध्य है। आत्मा में त्रिकाल शक्ति से शुद्धता है। और वर्तमान में रहनेवाली प्रत्येक अवस्था में निमित्त के अनुसरण से विकार भी है। विकार के कहते ही अविकारी का ज्ञान हो जाता है, अन्दर की ध्रुव शक्ति को देखना चाहिए। जैसे भैंस खूँटे के बल पर घूमती है, लोग उसे न देखकर भैंस की क्रिया का बल देखते हैं, किन्तु अक्रिय खूँटा जो वहाँ विद्यमान है, उसके बल को नहीं देखते। इसी प्रकार लोग बाहर से चालू क्रिया को ही देखते हैं अथवा पुण्य-पाप की वृत्तिरूप विकार को ही देखते हैं, किन्तु अक्रिय, शुद्ध, त्रिकाल, ज्ञानमय आत्मा को नहीं देखते। आत्मा त्रिकाल विकार रहित अक्रिय खूँटे की तरह ज्ञातास्वभावरूप से विद्यमान है, उसे न देखकर क्षणिक पराश्रितवृत्ति की क्रिया को देखते हैं, और जो त्रिकाली एकरूप आत्मा स्वयं है, शुद्ध शक्तिरूप विद्यमान है उसे नहीं देखते। राग-द्वेष और मोह के आधीन होनेवाला क्षणिक विकार नाशवान है और सर्व उपाधिरहित अबाधित ज्ञायकतत्त्व अविनाशी हैं; इसलिए वही आदरणीय है। जो उसे साध्य करता है, वह सिद्ध होता है और जो राग-द्वेष की क्षणिक वृत्ति के बराबर आत्मा को मानता है, वह वर्तमान सक्रियता पर अटक जाता है और संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए प्रथम ही शुद्धता की स्थापना करके उसी को साध्य बनाने का उपदेश है। यह बात अनन्त काल में जीवों ने नहीं सुनी; वे बाह्य क्रिया या पुण्य की क्रिया में सन्तुष्ट हो रहे हैं। धर्म के नाम पर बाह्य क्रिया तो अनन्त बार की है और उससे शरीर को सुखाया है, किन्तु शरीर के सूख जाने से आत्मा को क्या लाभ है ? पर के अवलम्बन से तो धर्म माना, किन्तु यह नहीं माना कि मैं पर से भिन्न स्वतन्त्र हूँ। आत्मा असंयोगी तत्त्व है, अनादि-अनन्त है। जो है उसका भविष्य में अन्त नहीं है। संसार की विकारी अवस्था क्षणिक है। वर्तमान एक समयमात्र की अवस्था में परनिमित्ताधीन

भाव से युक्त होता है, वह क्षणिक अवस्था उत्पन्नध्वंसी है, उसके लक्ष्य को छोड़कर त्रिकाल शुद्ध स्वभावी परमात्मस्वरूप को साध्य बनाने की आवश्यकता है; और यह सम्पूर्ण सुखस्वरूप होने से संसारी जीवों के लिए ध्येयरूप है।

जैसे पानी में उष्ण होने की योग्यता के कारण अग्नि के निमित्त से वर्तमान उष्णता है, उसी प्रकार संसारी जीवों में अपनी योग्यता के कारण क्षणिक अशुद्धता है, उसका अभाव करनेवाला साध्यरूप जो शुद्धात्मा है, वही ध्येय करने योग्य है। और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं, इसलिए उनको नमस्कार करना उचित है। आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा को जिनने प्राप्त किया है, उन्हें पहचानकर उनको नमस्कार करना और उनका आदर करना उचित है। आत्मा अपने स्वरूप में रहता है। यह कहना कि आकाश में रहता है, केवल उपचार और कथनमात्र है। गुड़ मटके में नहीं, किन्तु गुड़, गुड़ में है, और मटका मटके में है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कोई वस्तु किसी परवस्तु के आधार से रहती है, यह कहना वैसा व्यवहार है, जैसे पीतल के घड़े को पानी का घड़ा कहना। उसी प्रकार भगवान आत्मा राग-द्वेष और कर्मों के आवरण से रहित है, उसे देहवाला, रागी, द्वेषी कहना सो व्यवहार है।

प्रश्न:—यदि पतेली का आधार न हो तो घी कैसे रहेगा?

उत्तर:— घी और पतेली भिन्न ही हैं। घी, घी के आधार से है, और पतेली, पतेली के आधार से है। घी के बिगड़ने पर पतेली नहीं बिगड़ जाती। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अपनेरूप में है, पररूप में नहीं है। इसलिए सिद्ध भगवान देह के आधार के बिना अपने आत्मा के आधार से ही हैं। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण दिया गया है, इसलिए सिद्ध अनन्त हैं, यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अत: 'ज्योति में ज्योति मिल जाती है, सभी आत्मा एक है अथवा शुद्धात्मा एक ही है', यह कहनेवाले अन्य मतावलम्बियों का निषेध हो गया। क्योंकि जो संसार में पराधीनतारूप सुख-दु:ख को स्वतन्त्रतया पृथक् रखकर सत्ता का अनुभव करना है, वह किसी की सत्ता में मिल नहीं जाता, वह उस विकार का नाश करके पूर्ण शुद्धोपयोगी होने के बाद परसत्ता में एकमेक होकर स्वाधीन सत्ता का नाश कैसे होने देगा?

यहाँ भी पृथक् तत्त्व है। दु:ख भोगने में तो अलग रहे और अनन्त सुख, स्वाधीन,

आनन्ददशा प्रगट करके परसत्ता में मिलकर पराधीन हो जाये यह कैसे हो सकता है ? किसी को बिच्छू काटे तो उसकी वेदना को दूसरा आदमी नहीं भोग सकता, इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को दु:ख का संवेदन देह की प्रीति के कारण स्वतन्त्रतया होता है, परन्तु उस राग-द्वेष, अज्ञानरूप संसारी विकारी अवस्था की आत्मप्रतीति और स्थिरता के द्वारा नाश करने पर अनन्त काल तक अव्याबाध, शाश्वत् सुख को भोगना रहता है। उसे सर्व सिद्ध स्वतन्त्रतया भोगते हैं। इसलिए 'सब एक ही शुद्धात्मा हैं।' यह कहनेवाले अन्य मतावलम्बियों का व्यवच्छेद हो गया।

'श्रुतकेवली' शब्द के अर्थ में, श्रुत का अर्थ 'अनादि अनन्त, प्रवाहरूप आगम है।' श्रुतकेवली अर्थात् 'सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी (समस्त द्वादशांग) को जाननेवाले।' गणधरदेव आदि जो श्रुतकेवली हैं, उनसे इस समयसार शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। आचार्य कहते हैं कि मैंने यह कोई कल्पना नहीं की है, किन्तु अनादि से शुद्ध आम्नायानुसार चला आया प्रवाहरूप आगम, जैसा है उसी प्रकार कहा है। इस परमागम को समझने के लिये अन्तरंग का अनुभव चाहिए। वाद-विवाद से पार नहीं आ सकता। सूक्ष्मज्ञान का अभ्यास चाहिए, बाहर से कहीं नहीं जाना जा सकता।

श्रुत का अर्थ है आगम शास्त्र; अर्थात् 'सर्वज्ञ से आई हुई वाणी, उस श्रुत से गूंथे गये सूत्र।' एक व्यक्ति के द्वारा निमित्तरूप से जो वाणी कही गयी है, उस अपेक्षा से वह आदि कहलाता है, और एक व्यक्ति के द्वारा कहने से पहले भी आगमरूप शास्त्र की वाणी थी। इस अपेक्षा से अनादि के प्रवाहरूप आगम-वाणी हुई। केवली के उपदेश से विनिर्गत शास्त्र, अर्थात् उस केवलज्ञानी के द्वारा कथित आगम अनादि काल से है। सर्वज्ञ अर्थात् निरावरण ज्ञानी। जिसका स्वभाव ज्ञान है, उसमें नहीं जानना हो ही नहीं सकता। जो आवरण (उपाधि) रहित, निर्मल अखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ उसमें कुछ अज्ञात नहीं रहता। जिसका स्वभाव जानना है, उसमें क्रम रहित, सीमातीत जानना होता है, इसलिए जिसके पूर्ण, निवारण, ज्ञायक-स्वभाव प्रगट है, वह सर्वज्ञ है। फिर श्रुतकेवली से जो सुना, आत्मा से अनुभव करके जाना, वह परम्परा से आचार्य द्वारा आया हुआ श्रुतज्ञान है, और जो उस सर्व श्रुतज्ञान में पूर्ण है, वह श्रुतकेवली है। सर्वज्ञ-वीतरागदशा प्रगट होने के बाद जिसको वाणी का योग हो उसकी सर्व अर्थ सहित वाणी होती है। उसको साक्षात् गणधरदेव

द्वादशांग सूत्र में गूँथते हैं। उसमें भी अन्तरंग में भावज्ञान-भावशास्त्रज्ञान के तक की बहुलता से पूर्ण छद्मस्थ ज्ञानी-द्वादशांग के जाननेवाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्र की प्रमाणता बतायी है और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है, और अन्यमती अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जिस प्रकार से कहता है; उसका असत्यार्थपना बताया है।

प्रारम्भ में कहा गया है कि इस शास्त्र में 'अभिधेय' तथा 'सम्बन्ध' पूर्वक कहेंगे। अभिधेय अर्थात् कहने योग्य वाच्यभाव। पवित्र, निर्मल, असंयोगी, शुद्ध आत्मस्वभाव कहने योग्य है, वह वाच्य है और उसका बतानेवाला शब्द वाचक है। जैसे 'मिश्री' शब्द वाचक है, और मिश्री पदार्थ वाच्य है। उस वाच्य-वाचक सम्बन्ध से आत्मा का स्वरूप कहेंगे। उसमें आत्मा कैसा है ? यह बताने के लिए शब्द निमित्त है, इसलिए वस्तु को सर्वथा अवाच्य न कहकर जैसा त्रैकालिक वस्तु का स्वभाव है, उसे उसी क्रम से कहा जायेगा ॥१ ॥

पहली गाथा में समय का सार कहने की प्रतिज्ञा की है। वहाँ शिष्य को ऐसी जिज्ञासा होती है कि ''समय क्या है ?'' इसलिए अब पहले समय अर्थात् आत्मा को ही कहना चाहिए। जिसको रुचि (आदर) है उसी के लिये कहते हैं। यदि आकांक्षा बलात् कराई जाये तो प्रस्तुत जीव पराधीन हुआ कहलायेगा। किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जिसे अन्तरंग में स्वरूप को समझने की चाह है वह पूछे और उसके लिये हम शुद्धात्मरूप समय को कहेंगे। इसलिए वह समय क्या है ? यह समझने की जिज्ञासा जिस शिष्य को हुई है, वही समझाने के योग्य है। जिस स्वाभाविक आनन्द में परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है और जो पूर्ण प्रभु स्वाधीनरूप है, वह कैसा होगा ? वैभव की और कमाई की बात सुनकर जैसे पुत्र पिता से पूछता है कि वह कैसे होगी ? उसी प्रकार शिष्य प्रथम तत्त्व की महिमा को सुनकर आदरपूर्वक पूछता है। जिसे सत्य की चाह है, उसे पराधीनता के दु:ख की प्रतीति होनी चाहिए। दु:खरहित क्या है ? इसके विचार सहित जिसे पराधीनता का दु:ख हुआ है कि अरे ! मैं कौन हूँ, मेरा क्या होगा ? कोई भी संयोगी वस्तु मेरी नहीं है, इस प्रकार प्रतीति होनी चाहिए; किन्तु यह कहाँ से सूझ सकता है ? बाह्यविषयों में सुख मान रखा है, प्रतिष्ठा, पैसा और हलुवा, पुरी में सुख मान रखा है किन्तु उसमें सुख नहीं है। जितनी

पराधीनता है, वह सब दु:खरूप है। पराधीनता की व्याख्या यह है कि एक अंश भी राग की वृत्ति उत्पन्न हो, पर का आश्रय लेना पड़े तो सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी वर्तमान पर्याय की अशक्ति की अपेक्षा से अस्थिरता के कारण सम्पूर्ण स्वाधीन नहीं है। पर की जितनी आवश्यकता होती है, उतना ही दु:ख है। इसलिए पर के अवलम्बन में स्वाधीनता नहीं हो सकती। रात-दिन जीव पराधीनता भोगता है, किन्तु उस पर ध्यान नहीं देता।

सिद्ध भगवान का पराश्रयरहित, स्वाधीन सुख कैसा होता है, इसे कभी नहीं जाना। यदि उसे एक बार रुचिपूर्वक सुन ले तो संसार में सर्वत्र आकुलतामय भयंकर दु:ख ही दु:ख दिखायी देगा। इस प्रकार पराधीनता का दु:ख देखकर पूछनेवाले को ऐसी अपूर्व जिज्ञासा होगी कि हे प्रभु! सर्व दु:खरहित स्वाधीन समय का स्वरूप कैसा होगा? और वह इस समयसार शुद्धात्मा को बराबर समझ लेगा। जिसे आकांक्षा नहीं है, वह तो पहले से ही इंकार करेगा कि जो यह शुद्ध, देह-इन्द्रियरहित आत्मा कहते हो सो वह क्या है? जहाँ ज्ञानी 'शुद्ध आत्मा नित्य है' इसके अस्तित्व को स्थापित करना चाहता है, वहाँ वह पहले ही शंका करके विरोधभाव को प्रगट करता है। किन्तु जो सुयोग्य जीव है, वह आदर से बहुमान पूर्वक उछल उठता है कि अहो! यह अपूर्व बात है, और इस प्रकार स्वीकार करके प्रश्न करता है, 'न्याय' से बात करता है। न्याय शब्द में 'नी' धातु है, 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वास्तविक स्वभाव है, उस ओर ले जाना। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ ऐसी अपूर्व रुचिवाली आकांक्षा होती है। 'है' इस प्रकार आदरवाली जिज्ञासा से समझना चाहे तो वह सम्पूर्ण सत्य को समझ लेगा। किन्तु यदि पहले से ही इंकार करे तो नास्ति में अस्ति कहाँ से आयेगी? अस्ति में से ही अस्ति आती है।

कोई कहे कि ज्ञानियों ने आत्मा की बहुत महिमा गायी है, लाओ, मैं भी देखूँ और आँखें बन्द करके, विचार करके देखने जायें तो मात्र अन्धकार या धुन्धला ही दिखायी देगा, और बाहर जड़ पदार्थ का स्थूल समूह दिखायी देगा। किन्तु उस अन्धेरे को, धुन्धले को तथा देह, इन्द्रिय इत्यादि को जाननेवाला, नित्य स्थिर रहनेवाला कैसा है। इसके विचार में आगे नहीं बढ़ता; क्योंकि अतीन्द्रिय आत्मा इस देह से भिन्न परमात्मा है, उसका विश्वास नहीं करता। परन्तु जिसने अन्तरंग से आदर किया है, उस श्रोता की पात्रता से यहाँ बात कही गयी है। हाँ कहने के बाद यदि वास्तविक शंका से पूछे तो बात दूसरी है। अन्तरंग से आदरपूर्वक आकांक्षा से प्रश्न होने पर उत्तर प्राप्त होता है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गल-कम्म-पदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।२।।

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्।।२।।

अर्थः—हे भव्य! जो जीव, दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय जान, और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है, उसे परसमय जान।

यहाँ यह नहीं कहा है कि 'अभी तू पात्र नहीं है, कर्म बाधक है,' किन्तु पात्रता का स्वीकार करके समझाते हैं कि पुण्य-पाप का भाव विकार है, अपवित्र है, और आत्मभाव पवित्र है, इसलिए अपवित्र भाव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। चारित्र का अर्थ है अन्तरंग स्वरूप में स्थिर होना, गुण की एकाग्रता के स्वभाव में जम जाना। ऐसे शुद्धभाव को भगवान ने चारित्र कहा है। बाह्य में अर्थात् क्रियाकाण्ड, पुण्य-पाप, वस्त्र अथवा किसी वेष इत्यादि में आत्मा का चारित्र नहीं होता, बाह्यक्रिया में तप नहीं होता, किन्तु इच्छारहित अतीन्द्रिय ज्ञान में लीन होने पर इच्छा के सहज निरोध होने को भगवान ने तप कहा है। ऐसी श्रद्धा होने के बाद जितनी लीनता करता है उतनी ही इच्छा रुकती है। क्रमशः सर्व इच्छा दूर होकर पूर्ण आनन्द प्रगट होता है।

पानी में वर्तमान अग्नि के सम्बन्ध से उष्णता होने पर भी उसमें प्रतिक्षण अग्नि को बुझाने की शक्ति रहती है, इसी प्रकार आत्मा में प्रतिक्षण विकार का नाश करने की शक्ति विद्यमान है। जैसे अग्नि के संयोग की क्षणिक अवस्था के लक्ष्य को छोड़े तो पानी शीतल स्वभावी ही दिखायी देगा, इसी प्रकार पुण्य-पाप और पर के सम्बन्ध का लक्ष्य छोड़े तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव दिखायी देगा। चैतन्य-स्वभाव शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है। हे शिष्य! तू उसे स्वसमयरूप जान। यही बात यहाँ कही गयी है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें शक्ति है यह देखकर आत्मा ऐसा है यह समझ। इसीलिए कहा है कि जो नित्य, शुद्ध, दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है, वह आत्मा है। जिसमें यह शक्ति देखते हैं, उसी से ज्ञानी कहते हैं, किसी पत्थर, जड़ अथवा भैंसे से नहीं कहते कि तू इस बात को समझ। इसलिए यह कहकर इंकार मत कर कि मैं समझता नहीं हूँ, और इस प्रकार का बहाना भी मत बना कि मैं अभी तैयार नहीं हूँ, या मेरे लिये अच्छा अवसर

अच्छा संयोग नहीं है। भलीभाँति न्याय, युक्ति और प्रमाण से कहा जायेगा, सो उसे उमंगपूर्वक स्वीकार कर। रणभेरी सुनकर शरीर के साढ़े तीन करोड़ रोमों में राजपूत शौर्य उछलने लगता है। इसी प्रकार तत्त्व की महिमा को सुनते ही आत्मचैतन्य की शक्ति उछलने लगती है।

जो सिद्ध भगवान पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हुये हैं उन्हीं की जाति का उत्तराधिकारी मैं हूँ। मैंने अपनी स्वतन्त्रता की रणभेरी सुनी है। इस प्रकार स्वतन्त्रता की बात सुनकर उसकी महिमा को समझ। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार की रणभेरी बजाकर गीत गाते हैं; उसे सुनकर तू न उछलने लगेगा, यह कैसे हो सकता है ?

जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर हुआ उसके स्वसमय जान और जो पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थित हुआ उसके परसमय जान। जो जीव अपने गुण में स्थिर न रहकर परद्रव्य के संयोग में अर्थात् पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित हो रहा है, उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्नः—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्म के प्रदेशों को देखता है ?

उत्तरः—नहीं, नहीं देखता; किन्तु मोहकर्म की फलदायी शक्ति के उदय में युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपने में युक्त होने से अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो परनिमित्त जुड़ने से होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्था में विकारभाव दिखायी देता है। कर्म संयोगी-विकारी पुद्गल की अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है; वह पुद्गलकर्मप्रदेश में युक्त होने से उत्पन्न होता है। जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते; किन्तु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गलप्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बीभाव करता है। कर्मों ने जीव को नहीं बिगाड़ा किन्तु जब जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मों की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिए बँधना या मुक्त होना अपने भावों के आधीन है, और यह अपनी शक्ति के बिना नहीं हो सकता। पुद्गल कर्मप्रदेश की ओर स्वयं रुका, इसलिए उस विकार के द्वारा व्यवहार से परसमय में स्थित कहलाया। स्वभाव से अपने में ही स्थिर है, किन्तु यदि अवस्था में स्वरूपस्थित हो तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि आत्मा क्या है ? इसीलिए अवस्था में विकार हुआ है।

प्रश्न:—जबकि कर्म दिखायी नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाये ? क्योंकि लोक -व्यवहार में भी किसी का देखा हुआ या अपनी आँखों से देखा हुआ ही माना जाता है ?

उत्तर:—अज्ञानी जीवों ने बाह्य विषयों में सुख है, यह पर में अपनी दृष्टि से देखकर निश्चय नहीं किया है, किन्तु अपनी कल्पना से मान रखा है। इसी प्रकार कर्म सूक्ष्म हैं, इसलिए वे आँखों से भले दिखायी नहीं देते, किन्तु उनका फल अनेकरूप से बाहर दिखायी देता है। उस कार्य का कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अशुद्धता में दूसरी वस्तु का संयोग है तथा आत्मा की वर्तमान अवस्था में निमित्त होनेवाली दूसरी वस्तु विकार में विद्यमान है, उसे शास्त्र में कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिए दोनों वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कर; क्योंकि आत्मा का ज्ञानसामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझने की शक्ति का विकास किया है और जो आदरपूर्वक सुनता है, उसे सुनाते हैं। वह यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है, किन्तु जिसकी पर के ऊपर दृष्टि है; और जिसे मैं जुदा हूँ यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्म की उपस्थिति की जहाँ बात आयी वहाँ निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्म को निमित्त मात्र कहा है, वह आत्मा से परवस्तु है। परवस्तु किसी का कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके खोटी कल्पना कर ली है कि कर्म मुझे अनादिकाल से बाधा पहुँचा रहे हैं, राग-द्वेष कर्म कराते हैं तथा देह, मन और वाणी की प्रवृत्ति मुझसे होती है; इस प्रकार की विपरीत मान्यता से पर में उलझ गया सो परसमय है। और जो पराश्रय रहित, पुण्य-पाप रहित, शुद्ध दर्शन, ज्ञान और स्वरूपस्थिरता से आत्मा में स्थिर है, वह स्वसमय है। अर्थात् वह स्व-सन्मुख है। पर की ओर झुकाव होने से जिसने पर के साथ सम्बन्ध मान रखा है, और जो पर में अटक रहा है, वह पर-सन्मुख अर्थात् परसमय है।

जिसे स्वत: जिज्ञासा प्रगट हुई है वह विचार करता है कि यह क्या है ? अनादि काल से स्वरूप का विस्मरण क्यों हो रहा है ? अनादि काल से विकार और जड़ का ही स्मरण क्यों हो रहा है ? यदि वास्तविकतया अपना स्मरण हो तो परिभ्रमण न हो। जाननेवाले को जाने बिना जो जाननेवाले में ज्ञात होता है, उसे जीव अपना स्वरूप मान लेता है,

इसलिए यहाँ यह बताते हैं कि जाननेवाला पर से भिन्न कैसा है, जिससे पराधीनता न रहे। जो 'है' उसे यदि पराश्रय की आवश्यकता हो तो वह जीवन सुखी कैसे कहला सकता है ? जहाँ राग का आश्रय लेना पड़ता है, वह भी वास्तविक जीवन नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंग में जिसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, उसे गुरु मिले बिना नहीं रहते। जिसे अन्तरंग से जिज्ञासा हो वह बराबर सुनता है। जिसके पात्रता होती है, उसे गुरु मिलते ही हैं। जिसे ज्ञान में शुद्ध मुक्त-स्वभाव का आदर होता है, उसे जिज्ञासा होती है, उसके व्यवहार में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण हो जाता है। पहले तो साधरणतया आर्य जीव के अनीति तथा क्रूरता का त्याग होता ही है, साधारण आर्यत्व, लौकिक सरलता, परस्त्री त्याग, अन्तरंग में ब्रह्मचर्य का रंग, आजीविका के लिये छल-कपट तथा ठगाई का त्याग, नीति और सत्य वचन इत्यादि जीवन में बुने हुए या एकमेक होना ही चाहिए। देहादिक पर विषयों में तीव्र आसक्ति का त्याग इत्यादि तो साधारण नीति में होता ही है, उसके बाद लोकोत्तर धर्म में प्रवेश हो सकता है।

दूसरी गाथा प्रारम्भ करते हुये कहा है कि जो पुण्य-पाप रहित आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण में स्थिर हुआ वह स्वसमय है, और पर मेरे हैं, पुण्य-पाप आदि विकार मैं हूँ, इस प्रकार स्थिर होना सो परसमय है। इस प्रकार कहते हुये गुरुदेव ने जाना है कि जिज्ञासु जीव के बाह्य साधारण नीति का जीवन, मन के द्वारा बुना हुआ होना ही चाहिए। उसके सत्य को समझने की सच्ची आकांक्षा है, इसलिए उसे सत्य ही समझ में आता है। जब कि क्रूरता, अनीति, असत्य आदि इष्ट नहीं है, तब जो सत्य है वही उसे इष्ट है। 'छोड़ना है' यह कहने से यह सिद्ध हुआ कि वह संयोग सम्बन्ध है और उससे अपना पृथक्त्व भी है। एक वस्तु बन्धन में हो तो वह दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से है, इसलिए परवस्तु भी है, यह सिद्ध हुआ। जिस प्रकार अपना पारमार्थिकस्वभाव है, उसी प्रकार यदि अपने जानने में न आये तो स्वयं कहीं अपना अस्तित्व मानकर टिकेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं रागी-द्वेषी आदि हूँ, यह मानकर पर में अस्तित्व मानता हुआ जीव रुका हुआ है और इसीलिए अनेक गतियों में भवभ्रमण हो रहा है। यह सब दु:ख ही है। समस्त प्रकार के दु:खों से मुझे छूटना है तो दु:खरहित क्या है ? वही मुझे चाहिए है। ऐसा सामान्य भूमिका का ज्ञान प्राथमिक शिष्य को होना ही चाहिए। पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण के लिये पूछने पर कहा जाता है।

जिसे सत्य को समझने का मूल्य है, उसे तत्त्व का माहात्म्य सुनाते हैं। जिसे कुछ कमाने की चाह है, उसकी शक्ति को देखकर यदि कोई कमाने की बात कहे तो उसे कमाने या धनवान होने की बात सुनकर कितना आनन्द होता है। जब उससे यह कहा जाये कि तुझे पाँच हजार रुपया प्रतिमास मिलेंगे तो वह दोनों कान खोलकर आश्चर्यपूर्वक सुनाता है; क्योंकि उसके मन में वैभव की महिमा है और उसके प्रति प्रीति भरी हुई है। इसी प्रकार अनन्त जन्म-मरण के अनन्त दु:खों के नाश का उपाय शुद्धात्मा को पहिचानकर और उसमें स्थिर होने से होता है, उससे अल्प काल में अनन्त सुख प्रगट होता है। इस प्रकार श्रीगुरु सुनाते हैं और पात्र शिष्य बड़ी ही उमंग से सुनता है। स्वरूप से तू सिद्धभगवान के समान ही है अर्थात् आत्मा पर से निराला अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, पुण्य-पाप उपाधिरूप नहीं है। विपरीतदशा से, कल्पना से पर में आनन्द मानकर सुखगुण को आकुलतारूप किया था, उससे मुक्त होकर अनन्त सुखरूप दशा प्रगट करने के लिये श्रीगुरु करुणा करके शुद्धात्मा की बात सुनाते हैं। सुननेवाले और सुनानेवाले दोनों योग्य होना चाहिए।

अब 'समय' शब्द का अर्थ कहते हैं :—'सम्' उपसर्ग है। समय = सम् + अय। सम्=एक साथ, एक काल में 'अय गतौ' धातु है, उसका अर्थ गमन होता है, और ज्ञान भी होता है। गमन अर्थात् गमन करना या गमन होना। इसलिए सम्+अय का अर्थ -यह हुआ कि एक साथ एकरूप रहकर जाने। एक अवस्था से एक समय में दूसरी अवस्थारूप होना सो समय है। किसी आत्मा में वर्तमान अवस्थारूप में बदलने का स्वभाव न हो तो कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह कहना वृथा सिद्ध होगा कि दोष को दूर करके गुण को प्रगट कर। तीव्र राग में से मन्दराग होता है तथा विकारी भाव का परिवर्तन अर्थात् बदलना होता है, उस विकार को निकाल दें तो ज्ञानगुण इत्यादि का निर्मलतया बदलना होता है। दूसरे पदार्थों से आत्मा का लक्षण भिन्न है। इसलिए यह बताया है कि जो जीव के स्वरूप को एक समय में जाने और परिणमे वह जीव चेतनारूप है।

जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—यह पाँचों पदार्थ अजीव-अचेतन पदार्थ हैं। उनकी भी अपने-अपने कारण से समय-समय पर अवस्था बदलती रहती है, किन्तु उनमें ज्ञातृत्व नहीं है और जीव में ज्ञातृत्व है, इसलिए यह जीव नामक पदार्थ एक ही समय जानता है और प्रतिक्षण नयी-नयी अवस्था के रूप में अपनेपन से बदलता है, इसलिए वह समय है।

अब वह आत्मा कैसा है सो बताते हैं। उसकी दो दिशायें बतानी हैं। वह जिसे हितरूप और आदरणीय मानता है उसी ओर तो वह झुकेगा? जीव में दो प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं—(१) अनादि कालीन अशुद्ध अवस्था, जो पर की ओर झुकी होती है, (२) राग-द्वेष-अज्ञान रहित स्वाभाविक शुद्ध अवस्था, जो स्व-स्वभावरूप है। ऐसी दो अवस्थाएँ बतायी हैं; क्योंकि आत्मा त्रिकाल है, उसकी संसार और मोक्ष यह दो दशायें हैं। संसाररूप भी सारा आत्मा नहीं है और मोक्षरूप भी सारा आत्मा नहीं है; दोनों अवस्थाएँ मिलकर त्रैकालिक आत्मा है। जो आत्मा वर्तमान में है, वह त्रिकाल है। उसकी दो अवस्थाएँ हैं। उनमें से अनादि कालीन अपनी कल्पनारूप, राग-द्वेषरूप जो अशुद्धदशा है, वह संसारदशा है। पर से भिन्न अपना अशुद्ध स्वरूप है उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिरता के द्वारा एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करना सो शुद्धतारूप मोक्षअवस्था है। दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं। यदि यह बात बहुत सूक्ष्म मालूम हो तो परिचय करना चाहिए; किन्तु पहले यह कहकर रुक नहीं जाना चाहिए कि मेरी समझ में ही नहीं आता। जिज्ञासु जीव को आत्मा समझ में न आये, यह नहीं हो सकता। जो काम अनन्त आत्माओं ने किया है, वही यहाँ कहा जा रहा है। जो नहीं किया जा सकता, वह नहीं कहा जा रहा है। कम कर सकता है और कम जानता है, इसका कारण अपनी वर्तमान अशक्ति है, किन्तु यदि वह पराश्रित रहनेवाली क्षणिक अवस्था स्वभाव की प्रतीति से दूर कर दी जाये तो जो परमानन्द शुद्ध स्वभाव है, वह पूर्ण निर्मलता से प्रगट हो जाता है। अर्थात् आत्मा जैसा स्वभाव से स्वतन्त्र है, उसकी समझ और शुद्ध दशा प्रगट करने के लिये ही कहा जाता है।

पहले तो वह निश्चय होना चाहिए कि आत्मा है, वह अनादि-अनन्त वस्तु है। जो है सो सत् है। जो है, वह जा नहीं सकता, और जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् वस्तु नित्य है, उसकी अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है, किन्तु वस्तु का मूल वस्तुत्व नहीं बदलता, वह पराश्रित नहीं है, किन्तु अनादि काल से पर की ओर रुचि और पर की ओर झुकाव होने से अज्ञान के कारण आत्मा में राग-द्वेषरूप मलिनभाव भासता है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है। जो जड़-देहादिक संयोग हैं, उसमें संसार नहीं है। जैसे पानी में तरंगें होती हैं, उनमें से कुछ तरंगें मैली-सी होती हैं और कुछ तरंगें निर्मल होती हैं किन्तु वे सब तरंगें मिलकर पानी हैं। इसी प्रकार जब तक आत्मा अज्ञान पूर्वक

प्रवर्तमान अवस्था द्वारा कर्मों के अधीन होते हैं, तब तक वह मैली है, और राग-द्वेष विकारी अवस्था का नाश करने से सादि अनन्त, प्रगट, निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट होती हैं, इन सभी अवस्थाओं के रूप में आत्मा है; किन्तु यदि नित्य स्वभाव को देखा जाये तो वह सभी अवस्थाओं के समय शुद्ध ही है। इसलिए यह नहीं मानना चाहिए कि आत्मा समझ में नहीं आ सकता। इस बात को समझने की योग्यता सभी जीवों में है, सभी केवलज्ञान के पात्र हैं।

अब, यह जीव पदार्थ कैसा है, यह सात प्रकार से कहेंगे। वस्तु का अस्तित्व सिद्ध हुए बिना उसमें बन्धदशा और मोक्षदशा कैसे बतायी जा सकती है ? इसलिए आत्मा का स्वतन्त्र वास्तविक स्वरूप कैसा है, यह पहले निश्चय कराते हैं।

जीव को पदार्थ कहा है, क्योंकि 'जीव' पद से अर्थ को जाना जा सकता है ('पद' के साथ पदार्थ का व्यवहार से वाच्य-वाचक सम्बन्ध है) जीव पदार्थ सदा परिणमन स्वभावयुक्त है। विकार का नाश करके पूर्ण, अनन्त, अक्षय, आनन्दस्वरूप को प्रगट करने से त्रिकाल के सुख का अनुभव एक ही समय में नहीं हो जाता। यदि एक समय में सारा आनन्द भोग लिया जाये तो दूसरे समय में भोगने को शेष क्या रहेगा ? किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक समय परिणमन होता है, इसलिए अनन्त काल तक अनन्त सुख का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप है।

प्रत्येक बात समझने योग्य है, अन्तरंग में खूब घोलने योग्य है। यदि अन्तरंग के तत्त्व को सभी पहलुओं से यथार्थरूप से समझकर उसमें स्थिर हो तो स्वाधीन शुद्ध दशा प्रगट हो जाये। जिसे जिस विषय सम्बन्धी (जिस साध्य में) रुचि है, उस ओर राग के द्वारा माना गया प्रयोजन सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता है। इसी प्रकार लोग धर्म के नाम पर माने हुए प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये बहुत कुछ करते हैं, किन्तु वास्तविक पहचान के बिना सच्चा उपाय हाथ नहीं आता। जैसे यदि राजा को उसकी समृद्धि और बड़प्पन के अनुसार मानपूर्वक बुलाये तभी वह उत्तर देता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा को जिस प्रकार जानना चाहिए उसी प्रकार मेल करके एकाग्रता का सम्बन्ध करे तो उत्तर मिले, अर्थात् वह जाना जाये। आत्मा सदा परिणमन स्वभावी है; इसलिए जो आत्मा को अवस्था के द्वारा परिणमनवाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। 'परिणमनस्वभावी है'

यह कहने पर तू जिस भाव में उपस्थित है, उस भाव को बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अनुभूति जिसका लक्षण है, वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है, और सत्ता का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। क्षण के असंख्यतावें भाग में प्रति समय अवस्था बदलती है। जैसे लोहे को घिसने पर उसकी जंग का व्यय हो जाता है, उज्जवलता अथवा प्रकाश का उत्पाद हो जाता है, और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक समय में अपनी पूर्णदशा का व्यय होता है, नयी अवस्था उत्पन्न होती है, और वस्तु वस्तुरूप में स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाएँ एक ही समय में होती हैं। उत्पन्न होना, व्यय होना तथा स्थिर रहना, इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूप में स्थिर रहकर बदलता रहता है; इस प्रकार पर से सर्वथा भिन्नत्व को जो न समझे और विरोध करे तो वह किसका विरोध करता है; यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालक ने किसी कारण से रोना प्रारम्भ किया, फिर उसे चाहे जो वस्तु दो, तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तु के लिये वह रो रहा था वह वस्तु के देने पर भी वह रोता ही रहता है; क्योंकि वह उस कारण को ही भूल जाता है, जिस कारण से उसने रोना प्रारम्भ किया था। इसलिए उसका समाधान कैसे हो सकता है। पहले उसकी इच्छा चूसनी की थी, जिसे वह चूस रहा था, वह कोई ले गया है,—यह बात उसके जम नहीं पायी बस, वहीं से रोना शुरु हो गया। उसके बाद वह उस बात को भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसी प्रकार ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तूने अनादि काल से अज्ञानभाव से (बालभाव से) रोना शुरु किया है, इसलिए तुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तु को बताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नहीं करता अपने अज्ञान के कारण रोता रहता है। जब तक सच्ची जिज्ञासा से समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नहीं लायेगा; तब तक कोई उपाय नहीं है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी भावना की उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत् की रुचि कर तो अनादि कालीन पर की ओर झुकी हुई पुरानी अवस्था का व्यय और स्वोन्मुखरूप नयी अवस्था की उत्पत्ति तथा स्वभावरूप में स्थिर रहनेवाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझ में आ जायेगा। तेरी अवस्था का बदलना और उत्पन्न होना तेरे ही कारण से है। पराश्रय के बिना स्थिर रहनेवाला भी तू है; इसलिए मेरे

ही कारण से मेरी भूल थी, उसे ज्ञानस्वभाव के द्वारा दूर करनेवाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्य का त्याग, सच्ची समझ का सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकार का निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्था का नाश होकर नयी अवस्था (अँगूठी आदि) बनती है, उसमें सोना प्रत्येक दशा में ध्रुव रहता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त, स्वतन्त्र है, उसमें तीनों प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समय में विद्यमान है। यह बात पहले कभी नहीं सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'है' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमें यह तीनों प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप में नित्य है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादि काल से नहीं जाना। जैसे कडुवे स्वाद से मीठे स्वाद की ओर लक्ष्य जाने पर कडुवे स्वाद के लक्ष्य का व्यय और मिठास के लक्ष्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु स्वयं ज्ञान में स्वाद और रस को जाननेवाला अपने ध्रुवरूप में स्थिर रहता है; इसी प्रकार प्रति समय निज ज्ञान की अर्थक्रिया करने का स्वाधीन लक्षण आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं होता और स्वयं सारा का सारा नहीं बदलता, किन्तु आत्मा में प्रत्येक क्षण की अवस्था बदलती है और नयी उत्पन्न होती है। अपनी और पर की होनेवाली प्रत्येक अवस्था बदलती है, किन्तु उस सबको जाननेवाला स्वयं एकरूप स्थिर रहता है। इस प्रकार अपने नित्य ज्ञानस्वरूप को जानने पर, पर से भिन्नत्व का निर्णय किया। उसमें सम्यग्दर्शन का उत्पाद, पूर्व की अज्ञान अवस्था का व्यय और स्थिर रहनेवाला जीव ध्रुव है। इस प्रकार आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता से युक्त है। इस विशेषण से जीव की सत्ता को नहीं माननेवाले नास्तिकवाद का खण्डन हो गया और परिणमन स्वभाव कहने से आत्मा को अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादी के मत का निषेध हो गया। सत्ता एकान्त नित्य ही है, अथवा एकान्त वस्तुमात्र अनित्य ही है; इस प्रकार माननेवाले एकान्तवादियों का भी निषेध हो गया। आत्मा है, यह कहने से उससे विरुद्ध आत्मा नहीं है, अथवा स्वतन्त्र नहीं है, ऐसा कहनेवाले परमत (अज्ञान) का खण्डन हो गया।

कोई कहता है कि आत्मा है ही नहीं, किन्तु वह यह तो बताये कि आत्मा नहीं है यह किसने निश्चय किया है ? पहले जिसने यही निश्चय नहीं किया कि आत्मा है, वह

यह विचार ही कैसे कर सकता है कि आत्मा कैसा है ? जो यह मानते हैं कि जो वर्तमान में दृष्टिगोचर है, उतना ही है, वे दृश्य को अदृश्य और अतीन्द्रिय आत्मा को अदृश्य कैसे कह सकते हैं ? सबको देखनेवाला स्वयं है, जानने-देखने का कार्य, स्व-पर का निर्णय, देखनेवाला तत्त्व अपनी सत्ता में होता है। देह और इन्द्रिय पर को तथा अपने को नहीं जानते, किन्तु जाननेवाला जानता ही रहता है।

पुद्गल नामक वस्तु नित्य है उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि स्वतन्त्र गुण हैं। वह वस्तु की शक्ति है। इसी प्रकार आत्मा सर्व परवस्तु से भिन्न है, उसमें ज्ञानादि शक्तिरूप अनन्त गुण हैं, इसलिए आत्मा का लक्षण चैतन्य अर्थात् जागृतिस्वभाव है।

हे प्रभु! तू चैतन्य जागृतिस्वरूप है। तेरे गुण की उत्पत्ति मन, वाणी, देहादि से नहीं है, उसमें अन्धेरा नहीं है, अजागृति और अजानपन नहीं है। अन्धेरा है, यह किसने निश्चय किया ? आषाढ़ी अमावस्या की मेघगर्जित घोर अन्धकारमय रात्रि हो, और रजाई से सारा शरीर ढ़क रखा हो तथा आँखें बिल्कुल बन्द हों तथापि अन्धकार का कौन निश्चय करता है ? अन्धेरे का जाननेवाला तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उस अन्धकार को जाननेवाला आत्मा उस अन्धकार से भिन्न है।

आत्मा निर्मल, स्पष्ट, दर्शन-ज्ञानज्योतिस्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाशस्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने से जानता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मैं ही जानने-देखनेवाला हूँ। मेरी सत्ता (भूमिका) में ही जानने-देखने के भाव हुआ करते हैं, पर में घुसकर नहीं जानता, किन्तु अपनी सत्ता में रहकर स्व-पर को जानता हूँ।

दर्शन=किसी भी पदार्थ को जानने से पूर्व सामान्य झुकता हुआ जो निर्विकल्प अन्तर व्यापार है, सो दर्शन है, और उसके बाद विशेष जानने का जो कार्य है सो ज्ञान व्यापार है। जैसे संसार की बातें सरल हो गयी हैं वैसे ही जीव इसका परिचय करे तो यह भी सरल हो जाये। जड़ देह, इन्द्रियों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श जड़ स्वभाव हैं। वे कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं।

ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिए स्व-पर को जानता ही रहता है। कोई कहता है कि मोक्ष हो जाने पर स्व-पर का जानना मिट जाता है। जैसे दीपक के बुझने पर प्रकाश क्रिया बन्द हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण होने पर जानने की क्रिया बन्द हो जाती है।

किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। क्योंकि जानना तो गुण है और गुण का कभी नाश नहीं हो सकता। जानना दु:खदायी नहीं है, किन्तु जानने में भूलना, झूठी कल्पना करना दु:ख है। कोई कहता है कि अधिक जानना दु:ख है किन्तु क्या गुण कभी दोष अर्थात् दु:ख का कारण हो सकते हैं ? कदापि नहीं। किसी बालक ने लाठी मार दी, किन्तु बालक का स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेलकूद ही का था, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यथार्थ ज्ञान का कार्य समाधान है। आत्मा का स्वभाव जानना है, उसे रोका नहीं जा सकता। ज्ञानगुण का कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करने का कार्य तो विपरीत पुरुषार्थरूप विपरीतता का है, इसलिए पुण्य-पाप के भेद से रहित स्व-पर का ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है, और उसमें स्थिर होना स्वसमय है।

''जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिठ'' इस पद में प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है, उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्ष की निर्मल अवस्था— इन दोनों को एकत्रित करके अखण्ड पूर्णरूप आत्मा का निर्णय करना होगा। आत्मा मन -वाणी और देह से भिन्न, अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओं से त्रिकाल भिन्न, अनादि-अनन्त पदार्थ है। अपनी विपरीत मान्यता से राग-द्वेष, पुण्य, पाप, देह इन्द्रिय इत्यादि परवस्तु को जीव ने अपना मान रखा है, और यही संसार है। परवस्तु में संसार नहीं है, संसार तो जीव का अवगुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा राग-द्वेष रहित स्वतन्त्र तत्त्व क्या है ? जैसे मनुष्य की बाल, युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार आत्मा की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं। अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है, साधकभावरूप निर्मल, दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवावस्था है, और अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में द्वेष होता है, उसका नाश करने के लिये मैं शुद्ध हूँ, पर से मुझे लाभ-हानि नहीं है, मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक अलग ही हूँ, इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनन्त आनन्द अवस्था प्रगट होती है, वह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानानन्दघन है। उसमें प्रति समय पूर्व पर्याय को बदलकर, नयी अवस्था को उत्पन्न करके, ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओं को लेकर सत्ता होती है। अस्तिरूप में जो वस्तु है, उसमें ज्ञाता-दृष्टापना है। पर को जानना उपाधि नहीं है, किन्तु जानना-देखना आत्मा

का त्रिकाल स्वभाव है। स्व-पर को जानना ज्ञानगुण का कार्य है, और राग-द्वेष करना दोष का कार्य है।

अनन्त धर्मों में रहनेवाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्य वस्तुत्व है। आत्मा का स्वतन्त्र स्वरूप पर के आधार से रहित और पुण्य-पापरहित है, इसलिए उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य-पापरहित है। ऐसी बात को जीव ने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्र को भी ऐसे आत्मधर्म का आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नहीं होता। जिसे सत् को सुनते हुए अपूर्व आत्म माहात्म्य ज्ञात होता है, उसके उस ओर अपने वीर्य का रुख बदले बिना नहीं रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुए बिना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यकता मालूम होती है, वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नहीं रहता। जिसका मूल्य आंका गया या जिसकी आवश्यकता प्रतीत हुई उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है, उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिए जिसमें जिसने माना, उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है, उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिए जिसमें जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्य की गति हुए बिना नहीं रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहने के बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकार की अवस्थाएँ कैसी हैं ? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है' इस प्रकार वस्तुत्व का निश्चय करने के बाद वह वर्तमान में किस अवस्था में है यह बताया जा सकता है। 'वस्तु है' वह अनादि-अनन्त है, पर से भिन्न है, इसलिए किसी के आधार से किसी का बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर, वस्तु में अनन्त धर्म भी हैं। उनमें द्रव्यत्व, प्रभुत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि वस्तु के गुण उस वस्तु के गुण उस वस्तु के आश्रित हैं परवस्तु के आश्रित नहीं हैं। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है, वह अपने अनन्त गुणों को धारण करता है। उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन

इत्यादि शक्ति है, जिसे गुण कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्त वस्तुओं के साथ रहने पर भी अनन्त वस्तुओं से भिन्न है। अनन्त परपदार्थ होने से अनन्त अनोखापन नाम अनन्त गुण आत्मा में है।

'आत्मा क्या है ?' यह जाने बिना आत्मा का धर्म कहाँ से हो सकता है ? जो सत्ता जिस क्षेत्र में अवगुण कहलाती है, वहीं वह गुण भी है। गुड़ की मिठास गुड़ में होती है या उसके बर्तन में ? इसी प्रकार देहरूपी बर्तन में देहरहित-अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है, तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोग में ? परसंयोगी वस्तु का वियोग होने पर आत्मा मन, वाणी, देह, इन्द्रिय इत्यादि में दिखायी नहीं देता। इसलिए आत्मा पर से भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादि काल से शरीर तथा परवस्तु से भिन्न है। आत्मा ऐसे अनन्त शरीर के रजकणों से तथा परवस्तु से भिन्न रहता है। इसलिए अनन्त पररूप से नहीं होता, उसमें अनन्त नास्तित्व तथा अनन्त अन्यत्व नामक अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्त काल से अनन्त पुद्गलों, अनन्त शरीरों के साथ एकत्रित रहा, फिर भी वह उनके किसी भी गुण-पर्याय के रूप में परिणत नहीं हुआ। किसी के साथ मिला-जुला नहीं है। इस प्रकार अनन्त के साथ एक नहीं हुआ, इसलिए अनन्त पर से भिन्न रहा। रजकण में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की अवस्था बदलती है, किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते, और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मों में रहनेवाला जो एक धर्मीपन है, उसके कारण जीव के द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणों का एकत्व अनादि काल से एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्म से रहित माननेवाले अभिप्राय का निषेध हुआ। जो यह नहीं मानते कि गुण आत्मा से प्रगट होते हैं, उनका भी निषेध हुआ। वास्तव में बाहर से गुण नहीं आते, जो भीतर हैं, वे ही प्रगट होते हैं, क्योंकि यदि अनन्त गुण नहीं थे तो वे सिद्धों में कहाँ से आ गये ? जो नहीं होता वह कहीं से आ नहीं सकता, इसलिए प्रत्येक आत्मा में स्वतन्त्रतया अनन्त गुण स्वभावरूप में विद्यमान हैं। आत्मा धर्म के नाम पर अनन्त बार दूसरा बहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्मा को अनन्त धर्मस्वरूप स्वतन्त्र यथार्थरूप में जैसा है वैसा कभी नहीं जाना। यह भी है कि — 'जब तक आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना तब

तक सारी साधना वृथा है'। एक 'स्व' को जहाँ तक नहीं जाना है, वहाँ तक कुछ नहीं जानना। एक के जानने से सब जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभी को जाननेवाला स्वयं ही है। इस प्रकार जाने बिना किसको पहचानकर-मानकर उसमें स्थिर होगा? इसलिए पहले आत्मा का यथार्थ स्वरूप में निश्चय करना चाहिए। वस्तु का विचार किये बिना किसमें अस्तित्व मानकर टिकेगा? जैसा देहानुसार देह से भिन्न असंयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है, मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप-अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है, इसलिए जिसने गुण-पर्यायों को धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्था को बदलता है। जैसे पानी में एक के बाद दूसरी लहर उठती है, उसी प्रकार जीव में प्रतिक्षण नयी अवस्थाएँ क्रमशः होती हैं। उसमें जब राग होता है, तब गुण की निर्मल दशा नहीं होती, और जहाँ वीतरागता होती है, वहाँ राग दशा नहीं होती। राग-विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जहाँ अरागी तत्त्व का लक्ष्य किया वहाँ राग मन्द हुआ अर्थात् तीव्र राग की अवस्था बदली। इस प्रकार क्रम-क्रम से अवस्था बदलती है। जैसे सोने में रहनेवाले गुण एक ही साथ होते हैं, इसलिए वे अक्रमरूप कहलाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द इत्यादि गुण एक साथ होते हैं, इसलिए उन्हें अक्रम अथवा सहभावी गुण कहा जाता है। सभी गुण त्रिकाल एकरूप आत्मा में साथ रहते हैं, इसलिए वे सहभावी हैं। अवस्था एक के बाद एक बदलती है, इसलिए वह क्रमभावी है। जब तक विकार में युक्त होता है, तब तक वह माने रहता है कि 'मैं विकारी हूँ' जब अविकारी ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से 'मैं विकारी नहीं हूँ' यह मानता है तब 'मैं अविकारी हूँ' जैसा परमात्मा का स्वभाव पूर्ण है वैसा ही 'मैं हूँ' ऐसी श्रद्धा के बल से अभ्यास बढ़ने पर अवस्था क्रमशः निर्मल होती जाती है। पहले अपने को रागी-द्वेषी मानता था, पीछे यह माना कि मैं राग आदि रूप नहीं हूँ। यहाँ पर प्रथम श्रद्धा-गुण की अवस्था बदलती है।

'यह सूक्ष्म कथन है, मेरी समझ में नहीं आता' इस प्रकार कहकर इन्कार मत करो।

ज्ञानस्वरूप आत्मा कौन है, इसका ज्ञान तो करना नहीं है और धर्म करना है, भला यह कैसे हो सकता है।

अनादि काल से बाह्यदृष्टि रहकर बाहर से दूसरा माना सो यह सब अज्ञान है, असत्य है। जीव अनादि-अनन्त वस्तु है। 'है' इसलिए आत्मा में अवस्था बदलती है। जैसे मनुष्य के शरीर में अवस्था बदलती है, उसी प्रकार रागदशा बदलकर निर्मल वीतरागदशा होती है और गुण सदा आत्मा के साथ टिके रहते हैं। जैसे सुवर्ण और उसके गुण सदा बने रहते हैं और अवस्था बदलती रहती है, उसी प्रकार आत्मरूपी सुवर्ण में ज्ञान, दर्शन, सुख इत्यादि गुण बने रहते हैं, उसमें अपनापन भूलकर, पर में अपनापन मानकर जो विपरीत रुचि की सो गुण की विपरीत अवस्था है। वह बदलकर सीधी दशा हो सकती है, और गुण तो सदा साथ में ही स्थिर रहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाएँ एक साथ नहीं होतीं। जब राग-द्वेष-अज्ञानदशा होती है तब शुद्ध दशा नहीं होती, और जब शुद्ध वीतरागदशा होती है, तब अशुद्ध दशा नहीं होती। यहाँ पर यह बात बहुत ही सरल ढंग से और सादी भाषा में कही जा रही है; फिर भी उसे समझना तो स्वयं ही होगा। वस्तु की महिमा होनी चाहिए। संसार की रुचि के लिये चार आने की दर से पाँच लाख रुपये का चक्रवृद्धि ब्याज लगाना हो तो बराबर ध्यान रखकर प्रतिदिन का ब्याज बढ़ाते हुए नया लगाता जाता है, जो कि संसार में परिभ्रमण करने की प्रीति की विपरीत बात है। यदि आठ आने की भूल हो गयी तो चार आने का तेल जलाकर भी उसकी पूरी जाँच करता है, किन्तु यहाँ पर धर्म की कोई चिन्ता या कीमत नहीं है। लोग यह कहते हैं कि मुफ्त में ही धर्म मिलता हो तो ले लिया जाये, किन्तु यह कैसे हो सकता है ? विशेष निवृत्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिए।

आत्मा एक नित्य वस्तु है, पर से भिन्न और अनन्त गुणों से अभिन्न है। उसमें से जिसमें सभी गुण एकसाथ रहते हैं, वह अक्रम कहलाता है, और जहाँ गुण की अवस्था क्रम-क्रम से बदला करती है उसे क्रमवर्ती कहते हैं। इस विशेषण से आत्मा को निर्गुण माननेवाले सांख्यमत का निषेध हो गया। निर्गुण किस प्रकार कहलाता ? सो कहते हैं कि —रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण प्रकृति के हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। जो विकार है, सो रागभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसका अभाव हो सकता है। किन्तु अपने में

ज्ञान, दर्शन, सुख, शान्ति, वीर्य इत्यादि स्वाभाविक गुण हैं, उनका अभाव नहीं होता। आत्मा वस्तु है, इसलिए उसमें अनन्त शक्तिरूप ज्ञान-आनन्द इत्यादि अनन्त गुण हैं। उन्हें पहचानकर उनमें एकाग्र होने पर वे प्रगट होते हैं। आम पड़ा पड़ा खट्टे से मीठा हो जाता है, वहाँ आम में रसगुण ज्यों का त्यों है, मात्र उसकी अवस्था बदल जाती है। आम खट्टे से मीठा हो जाता है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती अथवा उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार आत्मा अपने ही कारण से पर में ममता करता है और ममता रहित होता है, इसमें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। विपरीत रुचि को मिथ्यारुचि कहते हैं, और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शनगुण आत्मा के साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीति से कहा जा रहा है, लेकिन लोगों ने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझ में नहीं आता, मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपने को गाली देना है। आत्मा को अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनन्त सिद्ध परमात्मा कर चुके हैं, वही कहा जा रहा है और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा निज में अनन्त कार्य कर सकता है, पर में कुछ भी नहीं कर सकता। हाँ, यह मानता अवश्य है कि मैं पर में भी कुछ कर सकता हूँ। स्वतन्त्रता जैसी है वैसी ही बतायी जा रही है, तू इन्कार मत कर, तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालक को सुलाने के लिये माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को जागृत करने के लिये कहा जाता है कि तू परमात्मा के समान है, सदा चैतन्यज्योति है। बालक को सुलाने के लिये पालने में लिटाया जाता है और बालक लोरी गीत सुनकर सो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्बोधित करते हैं कि—चौरासी के झूले को अपना मानकर अज्ञानरूप में सो रहा है, तुझे जागृत करने के लिये गीत गाये जा रहे हैं, तुझे जागना होगा। माता के गीत तो सुलाने के लिये होते हैं, किन्तु ये गीत तुझे जगाने के लिये हैं। संसार और मोक्ष की रीति में इतना ही उल्टा-सीधा अन्तर है। बालक की प्रशंसा करने पर वह सो जाता है, क्योंकि उसकी गहराई में बड़प्पन की मिठास भरी हुई है, वह उसमें से बड़प्पन का आदर पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धि के झूले में अनादि काल से सो रहा है। अब तुझे मेरी प्रभुता की महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है, यदि तू इन्कार करे तो यह नहीं चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान ने जिस पद को

पाया है, उसी पद का अधिकारी तू भी है, इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते हैं। जाग रे जाग! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे हैं। तू अपने को न पहचाने, यह कैसे हो सकता है ?

जो स्वाधीन ज्ञानानन्दस्वरूप को अपना मानकर-जानकर उसमें स्थिर होता है, वह स्वसमय आत्मा है, और पर को जो अपना मानता है—जानता है और राग-द्वेष में परवस्तु की ओर के झुकाव के बल से स्थिर होता है, वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एक की अवस्था का झुकाव स्व की ओर है और दूसरे का पर की ओर। अवस्था में उल्टा फिरने से संसारमार्ग और सीधा फिरने से मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से जिसने एक साथ विश्व के समस्त रूप का ज्ञान प्रगट किया है ऐसा भगवान आत्मा है। सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप ज्ञान हो ऐसा गुणवाला होने से उसने लोकालोक को झलकानेवाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पण में लाखों वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, किन्तु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओं के रूप में नहीं हो जाता। दर्पण में कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं है, किन्तु उसकी स्वच्छता से ही ऐसा दिखायी देता है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमें जाननेयोग्य अनन्त परवस्तुएँ ज्ञात होती हैं। जाननेवाला अपनी शक्ति को जानता है और वह दूसरे को जानता हुआ पररूप नहीं हो जाता, किन्तु अज्ञानी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होने के बाद आत्मा स्व को ही जानता है, पर को नहीं जानता। ऐसे एकाकार को माननेवालों का यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निज को नहीं जानता, पर को ही जानता है, तो इस प्रकार अनेक आकार माननेवालों का भी निषेध किया गया है। जीव का स्वरूप जैसा है वैसा विरोधरहित न जाने तो जीव जागृत नहीं होगा।

और फिर आत्मा कैसा है, सो बताते हैं। अन्य द्रव्यों के जो मुख्य गुण हैं उनसे विलक्षण, असाधारण गुणवाला चैतन्यस्वरूप है। आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनके विशेष गुण कहे जाते हैं। जैसे एक आकाश नामक पदार्थ है, उसका विशेष गुण अवगाहना है, इसी प्रकार गति सहायक, स्थिति सहायक और वर्तना सहायक इत्यादि लक्षणों को धारण करनेवाले धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य हैं। यह पदार्थ आत्मा से

भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है, परापेक्षा से त्रिकाल नहीं है। छहों द्रव्य जगत में विद्यमान हैं, उन्हें युक्ति, आगम और अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। रूपित्व पुद्गल-परमाणु का गुण है। पाँचों पदार्थों के गुणों का आत्मा में अभाव है, किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विपरीत मान्यता ने घर बना रखा है। एक बार पात्र होकर अपने अनन्त केवलज्ञान स्वरूप को सुने और जाने तो उसकी महिमा आये बिना न रहे। अब यहाँ अस्ति-नास्ति को बतलाते हैं कि परवस्तु के गुण तुझमें नहीं हैं और तेरे गुण पर में नहीं हैं। तू ज्ञायक है, इसलिए तेरा मुख्य लक्षण जानना है। तुझसे ही तेरा धर्म प्रगट होता है, पर से गुण प्रगट नहीं होता। आत्मा का कोई गुण यदि पर से आये तो आत्मा निर्माल्य सिद्ध होगा। किन्तु तू अनन्त गुण-स्वभाव से परिपूर्ण तत्त्व है। यदि उसे भूलकर पर का आश्रय ले तो क्या तू निर्माल्य वस्तु नहीं कहालायेगा? आत्मा स्वयं ही सम्पूर्ण सुख से परिपूर्ण है।

असाधारण चैतन्यरूपता, चैतन्यस्वरूपत्व, अरूपित्व तथा ज्ञानघनता इत्यादि स्वभाव का अस्तित्व होने से आत्मा अन्य द्रव्यों से भिन्न है। उन विशेषणों से एक ब्रह्म वस्तु को ही माननेवालों का निषेध हो गया। जगत् में अनन्त परवस्तुएँ हैं। जगत्, जगत् में है, आत्मा में नहीं। आत्मा पर से भिन्न है, परवस्तु आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इस प्रकार जहाँ तक निर्णयपूर्वक न जाने वहाँ तक जीव पृथक्त्व का भेद-ज्ञानज्योति का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा।

व्यवहार से आत्मा अन्य अनन्त द्रव्यों के साथ एकक्षेत्रावगाह में व्याप्त होकर विद्यमान है; निश्चय से प्रत्येक आत्मा परक्षेत्र से नास्तिरूप है। द्रव्य अर्थात् अनन्त गुण-पर्यायरूप वस्तु। क्षेत्र अर्थात् आत्मा की असंख्यप्रदेशरूप चौड़ाई। काल अर्थात् वर्तमान में प्रवर्तमान अवस्था। भाव अर्थात् त्रिकालरूप में द्रव्य की शक्ति अथवा गुण।

इस प्रकार आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप से अपनेपन से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से त्रिकाल में भी नहीं है। जैसे पानी के साथ बहुत समय से कंकड़-पत्थर भी एकत्रित चले आ रहे हैं तथापि पानी और कंकड़-पत्थर भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार एक स्थान में प्रत्येक वस्तु के एकत्रित रहने पर भी कोई अपने स्वभाव से अलग नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्य एक स्वभावरूप है। इस विशेषण से वस्तु स्वभाव का नियम बताया है। ऐसा जीव

नाम का पदार्थ समय है। समय अर्थात् [सम + अय] एक साथ जाने और बदलने की क्रिया करे सो समय आत्मा अथवा जीव है।

अब मोक्षमार्ग बतलाते हैं—जीव का झुकाव किधर है यह बताते हैं। जब जीव का सीधी ओर झुकाव हो तब भेदविज्ञान ज्योति प्रगट होती है, तथा जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है तब वह प्रगट होती है। यहाँ साधक भाव का वर्णन किया है। जब इस आत्मा में सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में, जानने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होता है, तब वह सर्व परभावों से अपने को भिन्न जानने लगता है। मैं पर से निराला हूँ, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापरूप नहीं हूँ; चैतन्यज्ञानज्योति -स्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ अर्थात् पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार की भेदज्ञानज्योति के द्वारा पुण्य-पाप उपाधिरहित पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव के लक्ष्य से, पर से भिन्न रागरहित क्रिया साधक जीव करता है।

जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक गुण हैं; उसी प्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं। जैसे अग्नि पाचक गुण के द्वारा अनाज पकाती है, उसी प्रकार आत्मा अपने दर्शन-गुण से अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव को पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुण के द्वारा स्व-पर को प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञानगुण के द्वारा स्व-पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक गुण द्वारा दाह्य को जलाती है, उसी प्रकार आत्मा का चारित्र-गुण विकारी भाव को सर्वथा जला देता है। अंधेरे में जाकर देखो तो सभी वस्तुएँ एकसी मालूम होंगी, उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता, किन्तु दीपक के प्रकाश में देखने पर वे जैसी भिन्न-भिन्न होती हैं वैसी ही दिखायी देती हैं। इसी प्रकार आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये पहले सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश चाहिए। यह सबसे पहली आत्मधर्म की इकाई है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अन्तःचारित्र की एकता से ही धर्म होता है और वही यहाँ कहा जा रहा है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से कहा गया है।

विपरीत दृष्टि से संसार और सीधी दृष्टि से मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि धर्म क्योंकर होता है, इसलिए ध्यान रखकर सुनो! यह अन्तरंग की अति सूक्ष्म बात

है। भेदज्ञानज्योति को प्रगट करने से ही सर्व पदार्थों को जाननेवाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान का अर्थ है पूर्ण निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करने में जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्ष का सर्व प्रथम उपाय आत्मा में भेदज्ञानज्योति को प्रगट करना है, उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अन्धकार के कारण सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् मालूम नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार में मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप इत्यादि जो कि आत्मा से भिन्न हैं, भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञान से पृथक्त्व के बोध का उदय होता है, तब जीव सर्व परद्रव्यों से छूटकर निरालम्बी होकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति करता है। जब इस प्रकार की श्रद्धा होती है कि मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप, राग, इत्यादि मैं नहीं हूँ तब श्रद्धा में पर से छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसी प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहचान करने की बात है, वह प्रगट तो बाद में होती है। जैसे सूर्योदय से अन्धकार का नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग-अलग मालूम होता है, उसी प्रकार अन्तरंग ज्ञानस्वरूप की ज्ञानज्योति से पहचान होने पर प्रत्येक स्व-पर वस्तु पृथक्-पृथक् मालूम होती है। जैसे अग्नि का प्रकाश होता है, वैसे ही यहाँ ज्ञान का प्रकाश है। परमाणु, देहादि और राग का अंश मेरा नहीं है। मन के सम्बन्ध से राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उस सम्बन्ध से रहित अविकारी आत्मधर्म है। इस प्रकार की प्रतीति के अनुसार पुण्य-पाप रहित और दर्शनज्ञानस्वरूप-स्थिरतारूप आत्मतत्त्व में एकाग्र होकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है और क्रमशः वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है, उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिए। बन्धनभावरूप अशुद्धदशा से मुक्त होता है या स्वभाव से मुक्त होता है? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी पर को मानता है, इसलिए कभी बन्धभाव से नहीं छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादि से पृथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है? उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि—मैं परमार्थतः मुक्त हूँ, पर से बद्ध नहीं हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धा में से सर्व परद्रव्यों का सम्बन्ध छोड़ने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तु के साथ तीन काल और तीन लोक में भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मेरा हित मुझमें मेरे ही द्वारा होता है। इस प्रकार अन्तरंग में दृढ़ता हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार खूब श्रवण करना चाहिए और सुने हुए भाव का मनन करना

चाहिए, क्योंकि स्वयं कौन है, इसका अनादि काल से विस्मरण हो रहा है। और पर मेरे हैं, मैं पर का काम कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकते हैं, इस प्रकार की विपरीत दृष्टि के कारण अनादि काल से पर का स्मरण बना हुआ है। जगत में ऐसी बातों का परिचय भी बहुत है, इसलिए पहले सत्य को सुनकर सत्य-असत्य की तुलना करना आना चाहिए, तथा खूब श्रवण करके आदरपूर्वक अन्तरंग से हाँ कहना सीखना चाहिए। सत्समागम से सुनकर 'मैं सिद्ध परमात्मा ही हूँ', यह समझकर हाँ कहते-कहते उसका अभ्यास हो जायेगा और उससे आत्मस्वभाव की स्थिति प्रगट हो जायेगी।

आत्मस्वभाव पर से भिन्न है, यह बात सुनते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है, किन्तु पर से भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं, इसकी यथार्थ पहचान की बात होने पर जो-जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है, उसे सुनकर मोक्षस्वभाव का प्रेम बढ़ना चाहिए। जिसे जिसका प्रेम है, उसकी बात श्रवण करते हुए वह उकता नहीं सकता, इसी प्रकार आत्मा की सत्य बात का प्रेम होने पर आत्मा पर का कर्ता नहीं है, पर से निराला है, ऐसी बात सुनते हुए उकताना नहीं चाहिए, किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिए। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्त्व पर से निराला है, तूने उसका यथार्थस्वरूप पहले कभी नहीं सुना था, इसलिए उसे सुनने के लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होता है कि अरे! यह बात तो अनन्त काल में कभी नहीं सुनी थी—ऐसी अपूर्व है। समझपूर्वक उसके प्रति आदर होता है, उससे विरुद्ध बात का आदर नहीं होता। अनन्त काल में धर्म के नाम पर जो कुछ किया है, वह कुछ अपूर्व नहीं किया है, उसकी सत्य बात पहले ही अन्तरंग में रुचिगत होनी चाहिए।

असंयोगी ज्ञानघन तत्त्व उस राग और परमाणु से भी भिन्न, पराश्रय रहित, पूर्ण ज्ञानानन्दरूप है। आत्मा स्वाधीनतया सदा जाननेवाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है, जो क्षणिक मलिनता दिखायी देती है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले ज्ञान में स्वीकृति हो और राग को टालने के लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें, मेरे द्वारा हो सकती है, ऐसी श्रद्धा होने के बाद सर्व परद्रव्यों से, परावलम्बन से मुक्त होकर स्व में एकाग्रता-लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स्थूल मिथ्यात्वरूप मान्यता से, अनादि काल से यह मानता चला आ रहा है कि मैं पर की प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्य से भला होता है, उससे धीरे-धीरे धर्म प्रगट होता है; और ऐसी कल्पना

किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इस प्रकार माननेवाले के धर्म कहाँ से हो सकता है ? आत्मा बदलकर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ आत्मा के नहीं हो सकते। परद्रव्य को छोड़ने की बात व्यवहार से है। वास्तव में तो आत्मा को किसी पर ने ग्रहण किया ही नहीं है। केवल मान्यता में ही पर की पकड़ थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड़ पदार्थ मेरे हैं, और इस प्रकार जड़ की अवस्था का स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यता से छूटना समस्त परद्रव्यों से छूटना है। आत्मा के भीतर कोई घुस नहीं गया। भ्रम से पर में कर्तृत्व मान रखा है कि जड़-देहादि की क्रिया मेरे द्वारा होती है और पर से मुझे हानि-लाभ होता है, इस प्रकार जो पर को और अपने को एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यता का स्वभाव की प्रतीति से प्रथम त्याग करना चाहिए। उसके बाद ही वर्तमान में दूसरे की ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्था को स्वरूपस्थिरता से छोड़ा जा सकता है।

मैं परमात्मा के समान अनन्त आनन्द और अपार ज्ञानस्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थत: मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति होने से सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रैकालिक अविकारी स्वभाव का लक्ष्य होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो अल्प राग का भाव रहता है, उसे नहीं गिनता। ज्ञान की तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्नि के द्वारा सर्व राग का नाश करने की श्रद्धा विद्यमान है, इसलिए उसके बल से राग हटता हुआ दिखायी देता है। जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं। उसी प्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, उसकी अनन्त चैतन्यशक्ति भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्था में कर्म का निमित्त है, उसे लक्ष्य में न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप में देखा जाये तो वह शुद्ध ही है। आत्मा से जो अशुद्ध अवस्था होती है, उसकी स्थिति एक समयमात्र की है। विकारीभाव दूसरे समय में करता है, सो वह भी मात्र उस समय के लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य हूँ। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्याय में होती है, द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य में वह भेद नहीं है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसकी एक समय की वर्तमान अवस्था प्रगट होती है और दूसरी त्रिकाली अवस्था प्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूप से होती है। संसारी आत्मा में भी अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूप से हैं।

आत्मा में समय-समय पर होनेवाली विकारी अवस्था प्रवाह से अनादि की है, वह अवस्था क्षणिक होने से दूर की जा सकती है। आत्मा का स्वभाव राग-द्वेष का नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्य का स्वभाव अवगुण को जाननेवाला है, अवगुणरूप होकर जाननेवाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करने से मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ, वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि पर से भिन्न अकेला रहना निज का स्वभाव है और मैं पर में एकत्वबुद्धि को दूर कर स्व से रहना चाहता हूँ। पूर्ण होने से पहले पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना पूर्ण की ओर का पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ। एक समयमात्र की स्थिति का जो विकार है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दु:ख का ज्ञाता दोष अथवा दु:खरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणों को दूर करना चाहता हूँ तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करने की शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहाँ से हो सकते हैं ? सम्यग्दर्शन से पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते और सम्यग्दर्शन के बिना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषाय की मन्दता हो तो पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है। स्वतन्त्र, निरावलम्बी तत्त्व को समझे बिना धर्म नहीं होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियम में अपवाद नहीं हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातों में और उसके झगड़े में जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अन्तरंग अनुभव में है। अनादि से विपरीतता के कारण जीव ने जो कुछ मान रखा है, वह यथार्थ नहीं है।

सुख अथवा दु:ख जड़ में नहीं है, किन्तु परवस्तु की ओर झुकने का जो भाव है, वही दु:खरूप है। तीव्र कषाय अधिक दु:ख है और मन्द कषाय थोड़ा दु:ख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किन्तु वे दोनों आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्नि का स्वभाव नहीं है, किन्तु गीली लकड़ी के निमित्त से वर्तमान अवस्था में जो धुआँ दिखायी देता है, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है; क्योंकि अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसी प्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेष के धुएँ से रहित है। वर्तमान अवस्था में पुरुषार्थ के दोष से शुभ या अशुभवृत्ति का मैल उठता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। अल्प मैल का फल

अल्प दु:ख है, जिसे पुण्य कहा जाता है। अधिक मैल का फल अधिक दु:ख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में जीव के एकाग्र होने पर और ध्यानरूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव विकार हैं, दोनों को कर्म के निमत्ति से उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है, वह दूर करनेवाला मैं निर्मल हूँ, जिसकी ऐसी दृष्टि होती है, वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभाव के लक्ष्य से वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिए पहले ही पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने का कथन किया है। सम्पूर्ण दशा प्रगट होने से पहले आत्मा अपार आनन्दरूप, निर्मल पवित्र है, ऐसी जो सम्यक्प्रतीति करता है, वह सम्पूर्ण दशा को प्राप्त करता ही है। यहाँ कोई कहता है कि प्रगट होने के बाद मानूँगा, उसके लिए कहते हैं कि परमात्मदशा प्रगट होने के बाद मानने को क्या रहेगा ?

मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ, पुण्य-पाप के बन्धनवाला नहीं हूँ, ऐसी सम्यक्-श्रद्धा में पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है और उसके बल से वह पूर्णता को प्रगट करता है, इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय कोई बताये तो वह सत्य नहीं है।

जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह कैसी है, कैसे मिले और कहाँ से मिले ? इत्यादि बातों का जीव पहले से ही निश्चय करता है। जैसे किसी को हलुवा बनाना है वह उसके बनाने से पहले अमुक वस्तुओं से वह बनेगा ऐसी प्रतीति करता है, और फिर आटा, घी, शक्कर लेकर बनाने का परिश्रम करता है, उसी प्रकार आत्मा चिदानन्द भगवान, निर्मल, वीतराग है, पर से त्रिकाल भिन्न है; उसको यथार्थरूप से पहचानने का अभ्यास करे उसके लिए निवृत्ति लेकर सत् समागम, श्रवण-मनन करे तो अपूर्व सत्य समझ में आता ही है; किन्तु जिसे इस बात की रुचि नहीं है, वह इस बात के कान में पड़ते ही कहता है कि यह बात हम नहीं मान सकते, क्योंकि जो देखने में नहीं आता, वह कैसे माना जा सकता है ? किन्तु यदि स्वभाव का विश्वास करके देखे तो सभी समय पूर्ण परमात्मस्वभाव है। आत्मा मनुष्य भी नहीं है, ऐसा जानकर और वर्तमान विकारी अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, अखण्ड ज्ञायकरूप को ही मानकर यदि उसमें स्थिर हो तो संयोग और विकार दूर हो जाता है।

'मैं पूर्ण परमात्मा हूँ, राग और पुद्गल-परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं, मुझे पर का आश्रय नहीं है,' ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा ऐसे दर्शन-ज्ञान से जाने हुए स्वरूप में स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है।

जैसे वकील अपने ही पक्ष का समर्थन करता है, उसके विरोधी का चाहे जो हो उसे वह नहीं देखता; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान का न्याय आत्मा के ही पक्ष में होता है। लौकिक न्याय (नियम) में तो देश, काल के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु आत्मधर्म में वैसा नहीं होता। कहा है कि:—'एक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ'

जब यह जीव भेदज्ञानज्योति प्रगट करके परभाव से छूटकर स्वरूप में स्थिर होता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र में अन्तरंग से एकरूप में लीन होकर रमणता करता है, तब केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है।

प्रश्न:—क्या वास्तव में जड़ मन सहायक है ?

उत्तर:—नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्व-अपेक्षा से है, और पर-अपेक्षा से नहीं है। आत्मा स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। आत्मा में परवस्तु असत् है। जो उसमें नहीं है, वह उसका क्या कर सकता है ? जो पृथक् वस्तु है, उसे परवस्तु तीन काल और तीन लोक में सहायक हो ही नहीं सकती, अर्थात् वह मन जो कि आत्मा से भिन्न है, आत्मा का सहायक हो ही नहीं सकता।

जीव नाम का पदार्थ 'समय' है। जब जीव समस्त पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, समस्त परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञान-स्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकतारूप से एक ही समय जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' है; ऐसी श्रद्धा का होना मोक्षमार्ग कहा है।

अब अनादि का बन्धमार्ग कैसा है सो कहते हैं:—पहले अनुकूलता के गीत गाये, अब प्रतिकूलता की बात कही जाती है। अनादि अविद्यारूपी केलस्तम्भ की तरह पुष्ट हुआ मोह है, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन-ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में

एकत्वरूप से लीन होकर जीव जब प्रवृत्ति करता है, तब पुद्गलकर्म के कार्मणस्कन्धरूप प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने (आत्मा के) साथ एकरूप से एक काल में जानता हुआ और रागादिरूप परिणमन करता हुआ 'परसमय' है। इस प्रकार प्रतीति की जाती है।

मोह के उदय में जुड़ने से परवस्तु को अपनी माननेरूप जो पराश्रितभाव होता है, वह आत्मा में सदा नहीं रह सकता। अज्ञान भी नित्य नहीं रहता, तथापि जीव में वह अनादि से है; इसलिए यह निश्चय हुआ कि जीव पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ हो ऐसी बात नहीं है।

प्रश्नः—जबकि अज्ञान-अनादि से है, तब उसका नाश कैसे होगा?

उत्तरः—जैसे चने से पौधा होता है, और पौधे से चने होते हैं; किन्तु यदि चना भून लिया जाये तो वह फिर नहीं उगता, इसी प्रकार राग-द्वेष-अज्ञानरूप अवस्था है, उसका एक बार नाश होने पर वह फिर उत्पन्न नहीं होती।

जिसकी देहादि के ऊपर दृष्टि है उससे कहते हैं कि 'वह तेरे नहीं हैं, तू पुण्य-पाप-देहादि के संयोग से भिन्न है,' सो तो उसे रुचता नहीं है, तथापि ज्ञानी कहता है कि हम स्वयं अनुभव करने के बाद कह रहे हैं कि तू अपार सामर्थ्यवान अनन्त गुणरूप है, उसकी ओर दृष्टि कर। पर के आश्रय से होनेवाला विकार क्षणिक है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मुक्त सिद्ध के समान है।

ऐसी सच्ची बात कभी नहीं सुनी, इसलिए 'हाँ' कहने में कठिनाई मालूम होती है। यदि बाह्य की बात की जाये तो तत्काल ही हकार करता है।

यहाँ अनादि अविद्या (पर को अपना मानना और स्वयं को भूल जाना) को केल की उपमा क्यों दी गयी है? सो कहते हैं—जैसे केल की गाँठ में से केल के अनेक पुर्त फूटते जाते हैं, उसी प्रकार अज्ञानरूपी केल में से राग-द्वेष-तृष्णारूपी अनेक प्रकार के पुर्त फूटते रहते हैं, और उनका फल चौरासी लाख का अवतार ग्रहण होता है।

यदि अपनी मानी हुई कोई बात आती है तो तुरन्त ही 'हाँ' कहता है, और यदि अपनी मान्यता से भिन्न बात कही जाये तो डंके की चोट नकार देता है।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी। उसके द्वारा अनादि से परवस्तु मेरी है, पुण्य-पाप मेरे हैं, इस प्रकार जीव मानता है। ऐसी पराधीन दृष्टि होने से उसको स्वतन्त्र होने की बात अच्छी नहीं लगती। तू प्रभु है, पूर्ण है, निर्विकारी है; उसकी श्रद्धा कर। स्वभाव की 'हाँ' भरने से अन्तरंग से अनन्त बल आयेगा।

शुभभाव भी आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है। ऐसी समझ के बिना मात्र पुण्य की क्रिया की, और इसीलिए जो यह जीव अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक गया उसकी श्रद्धा व्यवहार से तो बहुत स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहारशुद्धि के बिना नववें ग्रैवेयक तक जा नहीं सकता, किन्तु अन्तरंग में परमार्थ श्रद्धान नहीं हुआ, इसलिए इसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जैसे किसी ने पहला घड़ा उल्टा रखा हो तो उसके ऊपर रखे गये सभी घड़े उल्टे ही रहते हैं, इसी प्रकार जिसकी श्रद्धा विपरीत है, उसका ज्ञान-चारित्र भी विपरीत होता है। इसलिए पहले से ही सच्चा स्वरूप समझने की आवश्यकता है। सत्य के समझने में देर लगती है, इसलिए कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि जल्दी करके विपरीत मान ले तो हानि अवश्य होगी।

बाह्य मान्यता ने घर कर लिया है, इसलिए जीव को लौकिक प्रवृत्ति में मिठास मालूम होती है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मधर्म की मिठास मालूम नहीं होती; प्रत्युत वैसी बात सुनकर बाह्यदृष्टिवाले जीव निन्दा और द्वेष करते हैं।

यह जीव जितना समय पर के लिये लगाता है उतना समय यदि अपने लिये लगाये तो कल्याण हुए बिना न रहे। हे भाई! अनन्त काल में यह महा दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, इसमें यदि कल्याण नहीं किया तो फिर कब करेगा?

यद्यपि पुण्य को धर्म मानने का निषेध किया गया है, किन्तु पाप से बचने के लिए पुण्य करने का निषेध नहीं है। हाँ, पुण्य से धीरे-धीरे आत्मगुण प्रगट होगा, ऐसी अनादि -कालीन विपरीत मान्यता का निषेध मोक्षमार्ग में है। अज्ञानी जीवों ने राग की प्रवृत्ति को कर्तव्य मान रखा है। पुण्य-पाप का भाव मुझे सहायक होगा शरीर, मन, वाणी मेरे सहायक होंगे, पर का मैं कुछ कर सकता हूँ, पर मेरा कुछ कर सकता है, इस प्रकार पर में एकत्व की मान्यता से पुष्ट हुई मोहरूप भ्रान्ति चली आ रही है। इसलिए अनुकूलता में राग और

प्रतिकूलता में द्वेष करके विकारभाव में एकत्वभाव से लीन होकर जो जीव प्रवृत्ति करता है, पर में कर्तृत्वरूप पराधीनता के द्वारा निर्मल दर्शन-ज्ञानस्वभाव से छूटकर परवस्तु को निजरूप मानता हुआ राग-द्वेष-मोह में एकस्वरूप से लीन होकर परिणमन करता है, वह परसमय है, वह जीव अधर्मी है, अनात्मा है और हिंसा करनेवाला है।

समय का अर्थ है आत्मा; उसका जो पूर्ण-पवित्र स्वरूप है, सो समयसार है। आत्मा के अनन्त-आनन्दमय शुद्ध पवित्र स्वरूप का निर्णय करना सो सम्यग्दर्शन है। यहाँ अन्धश्रद्धा से मान लेने की बात नहीं है, किन्तु भेदविज्ञान द्वारा भलीभाँति परीक्षा करके निःसन्देहरूप से स्वरूप को मानना सो सम्यक्श्रद्धा है।

आत्मा में मन के अवलम्बन से जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। मन जड़ है, वह आठ पंखुड़ी के कमल के आकारवाला है, उसका स्थान हृदय में है, जैसे स्पर्श इत्यादि को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, उसी प्रकार विचार करने में मन निमित्त होता है। वह बाह्य-स्थूल इन्द्रियों जैसा दिखायी नहीं देता।

प्रश्नः—तब फिर मन है, यह कैसा माना जायेगा ?

उत्तरः—यदि ज्ञान अकेला स्वतन्त्र कार्य करता हो तो परावलम्बन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचार में क्रम पड़ता है, तब मन का निमित्त होता है। पाँच इन्द्रियों के द्वारा जो विषयों का ज्ञान होता है, उन इन्द्रियों के सम्बन्ध का ज्ञानोपयोग बन्धकर अन्तरंग में विचार करने पर एक के बाद दूसरा क्रमपूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियों में प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि विचार में क्रम पड़ता है। वह परावलम्बन को सिद्ध करता है। वह परावलम्बन द्रव्यमन है। वह विचार में सहायता नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। ज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा ही जानता है। परवस्तु आत्मा की सहायता कर ही नहीं सकती।

लोगों में आजकल सच्चे तत्त्व की बात नहीं चलती। धर्म के नाम पर बहुत-सा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्मा को देह और वाणी से पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मन से भी भिन्न हैं; संकल्प-विकल्परूप पुण्य-पाप की वृत्ति से भी भिन्न है। वह पर के आश्रय के बिना स्व में रहनेवाला है, और स्वतन्त्रतया सबको जाननेवाला है, ऐसा नहीं मानते; इसलिए उनको धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। धर्म बाह्य में नहीं किन्तु अपने में ही है। जिसे यह ज्ञात नहीं है कि देह, वाणी और मन से रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वयं ही है, जो पर के

ऊपर लक्ष्य रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, पर के अवलम्बन से लाभ होता है, वह झूठा है। निमित्त पर है, और पर की स्व में नास्ति है; इसलिए निमित्त पर का कुछ नहीं करता, किन्तु स्वयं परावलम्बन में (रागादि में) रुककर लीन हो जाता है। जब वह विकार करता है, तब जिस वस्तु की उपस्थिति होती है, उसको निमित्त कहा जाता है। निमित्त किसी को बिगाड़ता अथवा सुधारता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपने को भूलकर पर के ऊपर आरोप करता है। इन्द्रिय-विषयों में या स्त्री, मकान, आभूषणादि में सुख नहीं है, किन्तु स्वयं अज्ञान से कल्पना करता है कि पर में सुख है, संयोग में सुख-दु:ख है। स्त्री, पुत्रादि इस प्रकार चलें तथा इस प्रकार बोलें तो ठीक और इस प्रकार चलें तथा इस प्रकार बोलें तो ठीक नहीं, इस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार अच्छे-बुरे की कल्पना करता है। कहीं सुख-दु:ख दृष्टि से नहीं देखा मात्र कल्पना से मान लिया है। सुख का निर्णय मैंने कहाँ किया है, वह भी किसी दिन विचार नहीं किया, तथापि वहाँ शंका नहीं करता। विषयों में सुख की कल्पना करना अरूपी भाव है, वह दिखायी नहीं देता, फिर भी बिना विचार किये उसको मान लेता है। वह यह तर्क नहीं करता कि आँखों से देखूँगा तभी मानूँगा। पर में सुख है, यह जिस प्रकार विपरीत ज्ञान से निश्चय किया है, उसी प्रकार मन, इन्द्रिय, देहादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सभी को जाननेवाला हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप सदा पर से भिन्न हूँ, मैं क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ, मैं पूर्ण स्वतन्त्र सुखरूप हूँ, ऐसा विचारपूर्वक यथार्थ निर्णय स्वत: ही कर सकता है। यथार्थ निर्णय करके उसमें एकाग्र होने से सच्चा सुख प्रगट होता है।

यदि वर्तमान में ही पूर्ण स्वतन्त्रदशा प्रगट हो तो अविकारी दशा प्रगट हो, और अविकारी दशा हो तो अनन्त-आनन्द दशा प्रगट हो। किन्तु वर्तमान में विकार है, इसलिए भेदज्ञानज्योति के द्वारा राग-द्वेष-मोह से आत्मा को पृथक् करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

एक बार सत्य श्रद्धा करने से भेदज्ञानज्योति के द्वारा समस्त परद्रव्य और परभाव से मुक्ति होती है। यदि एक बार स्वतन्त्र, स्व-समय को मान ले तो संसार न रहे। सम्यग्ज्ञान क्या है ? यह अनन्त काल में कभी नहीं जाना और अज्ञान भाव से धर्म के नाम पर पाप को कम करके पुण्यबन्ध किया, किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ और इसलिए भव-भ्रमण नहीं रुका।

मोह अनादि, अज्ञानरूपी केलस्तम्भ के समान है। मोह का अर्थ है—स्वरूप में

भ्रान्ति अर्थात् निज को भूल जाना और पर को अपना मानना, यही अनन्त संसार का कारण है। सम्यग्दर्शन के द्वारा उसका नाश होता है।

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे। गृहस्थदशा में यथार्थ स्वरूप की प्रतीति हो सकती है। श्रेणिक राजा अभी पहले नरक में हैं, वहाँ से निकलकर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और आनेवाली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर होंगे। चारित्र न होने पर भी उन्होंने एकावतारित्व प्राप्त किया। पहले अज्ञान अवस्था में नरकायु का बन्ध हो गया था, उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। किन्तु तब साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा महावीरस्वामी के निकट आत्मप्रतीति होने के बाद शुभराग उत्पन्न हुआ और उसमें तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हुआ। ऐसा उच्च पुण्य सम्यग्दृष्टि के ही बँधता है।

मैं पुण्य-पाप के विकार से भिन्न हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है। शुभराग आत्मधर्म में सहायक नहीं है, क्योंकि वह विकार है जो कि अविकारी स्वरूप धर्म में सहायक नहीं होता; ऐसी समझ जिसको होती है, उसको तीर्थंकर नामकर्म सहज ही बँध जाता है। श्रेणिक राजा के कोई व्रत अथवा चारित्र नहीं था तथापि मैं पर का कर्त्ता नहीं हूँ, मात्र ज्ञाता ही हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से वे एकावतारी हो गये, वे भविष्य में तीर्थंकर होंगे। उनके अन्तरंग में निश्चयस्वरूप का यथार्थ भाव था, पर का स्वामित्व नहीं था, और इसलिए एकावतारित्व हुआ। यह मात्र सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। उसके बिना अनन्त बार धर्म के नाम पर व्रतादि क्रियाएँ की, शरीर में काँटे लगाकर उसे जला दिया जाये तो भी क्रोध नहीं करे, ऐसी क्षमा रखने पर भी धर्म नहीं हुआ, मात्र शुभभाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा, मन, वाणी, देह से पर है, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है; ऐसी श्रद्धा नहीं जमी।

अनादि से पर में कर्ता-कर्मरूप प्रवृत्ति से पराधीन हो गया, स्वाधीन नहीं रहा। अपने स्वाभाविक दर्शन, ज्ञान, चारित्रभाव की एकता से छूटकर परद्रव्य के आश्रित होनेवाला जो विकार, पुण्य-पाप-मोह भाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार उसमें एकत्वबुद्धि करके प्रवृत्ति करता है, पर के स्वामित्व से परद्रव्य की प्रवृत्ति में लीन होकर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार कर्म के फल में अटक रहा है। पर को अपने साथ एकरूप माननेवाला जाननेवाला और रागादिरूप से परिणमन करनेवाला 'परसमय' है, अशुद्ध अवस्थावाला है। आत्मा अकेला हो तो अशुद्धता नहीं आ सकती, किन्तु पुद्गलकर्म का निमित्त है,

इसलिए उसके आरोप से अशुद्ध अवस्था कहलाती है। मूल द्रव्य में अशुद्धता घुस नहीं गयी है। स्वभाव से देखें तो वर्तमान क्षणिक अशुद्धता के समय भी आत्मा शुद्ध ही है। सोना सौटंची ही होता है। परधातु के संयोग के समय भी वह सौटंची शुद्ध था, इसलिए वह शुद्ध हो सकता है। जब सोने में तांबा मिला हुआ था, तब भी तांबा सोने का नहीं था, इसलिए वह उससे अलग किया जा सकता है। उसी प्रकार पर के निमित्त से रहित स्वाभाविक वस्तु के ऊपर लक्ष्य करने पर जीव क्षणिक विकार दूर कर सकता है। अखण्ड गुण की प्रतीति के बिना विकार का नाशक हूँ, ऐसी श्रद्धा के अभाव से मैं पुण्यवाला हूँ, विकारी हूँ, न्यून हूँ ऐसा मानकर पुण्यादि पर का आश्रय ढूँढ़ता है। यदि इस विपरीत दृष्टि को बदलकर पूर्ण पवित्र स्वभाव का लक्ष करे तो परमात्मदशा प्रगट होती है।

'पुद्गल कर्म प्रदेश स्थित है' इसका अर्थ है, कर्म विपाक में युक्त होना। जैसे चावल पकते हैं, वृक्ष में फल लगते हैं, उसी प्रकार कर्म परमाणु में विपाकरूपी फल देने की शक्ति प्रगट होती है, तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेषभाव से युक्त होता है, उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति-स्थिरता होती है। इसलिए यह 'परसमय' अधर्मी है, ऐसा जानना चाहिए। सम्भव है यह वचन कठोर मालूम हों, किन्तु वे सच्ची वस्तुस्थिति को दिखाते हैं, इसलिए सत्य हैं। जिसने निज को स्वतन्त्र, निर्मल ठीक नहीं माना उसने पर को ठीक माना है और इसलिए निज को भूलकर वह पर के राग में अटक रहा है।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिए, आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। एक 'स्व की समझ' के बिना अन्य सब अनन्त बार किया है। आत्मा की परम सत्य बात किसी ही विरले स्थान पर सुनने को मिलती है, यदि कोई धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानियाँ सुनाई जाती हैं, बाह्य की प्रवृत्ति बतायी जाती है, बाह्य क्रिया से सन्तोष मनवाकर धर्म के स्वरूप को शाक-भाजी की भाँति सस्ता बना दिया गया है। जो बात अनन्त काल में नहीं समझी गयी उसे समझने के लिये तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए। लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिल्कुल भिन्न होती है। यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है, वह ऐसा कठिन नहीं हो सकता कि समझ में ही न आये, मात्र सत् समझने का प्रेम चाहिए। आचार्यदेव ने कहा है कि मैं अपनी और तुम्हारी आत्मा में सिद्धत्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूँ।

अनजान व्यक्ति को ऐसा लगता है कि प्रतिदिन एक ही बात क्यों की जाती है। किन्तु अरे भाई! आत्मा तो सभी को जाननेवाला है, पर का कर्ता नहीं है। अजीव के ऊपर किसी आत्मा की सत्ता नहीं चलती। भगवान आत्मा तो पर से भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है, देहादि, जड़-रूपी हैं, उनका कार्य अरूपी जीव कभी नहीं कर सकता। ऐसी 'दो और दो चार' जैसी स्पष्ट बात बुद्धिवालों को कठिन कैसे लगती है? रूपी का कार्य अरूपी के नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं। एक जीव दूसरे जीव का किसी समय कुछ नहीं कर सकता।

लोग कहते हैं कि जैसी इच्छा की जाये उसी प्रकार जड़ की क्रिया होती है, वह स्पष्ट दिखायी देती है। किन्तु यही विपरीत दृष्टि का भ्रम है। 'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ,' यही मान्यता अज्ञान है। जैसे गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीव को देह से पृथक्त्व का साक्षीपने का भान नहीं है, इसलिए पर का कर्ता होकर ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ।' शरीर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है। उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर, मन, वाणी से आत्मा पृथक् है, ऐसा न मानकर पर में एकत्वबुद्धि करके, विकार को अपना मानकर जीव रागरूप से परिणमन करता है, उसको 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थ:—जीव नाम की वस्तु को पदार्थ कहा है। 'जीव' शब्द जो अक्षरों का समूह है, सो पद है, और उस पद से जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है, सो पदार्थ है।

आत्मा पर-अपेक्षा से नहीं है और स्व-अपेक्षा से है, यह अनेकान्त है। प्रत्येक पदार्थ स्व-अपेक्षा से है सो 'अस्ति' और पर-अपेक्षा से नहीं है सो 'नास्ति' है प्रत्येक वस्तु में ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व-अपेक्षा से है, वह यदि पर-अपेक्षा से हो जाये तो स्वयं पृथक् न रहे। और जो पर-अपेक्षा से नहीं है, उसी प्रकार स्व-अपेक्षा से भी नहीं है, ऐसा माना जाये तो स्व का अभाव हो जाये। लकड़ी लकड़ी की ही अपेक्षा से है, और दूसरी अपेक्षा से 'नहीं' है। इस प्रकार लकड़ी को देखकर निश्चय होता है। इसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों एक पदार्थ के स्वतन्त्र धर्म हैं।

गुड़ शब्द से गुड़ पदार्थ का निश्चय होता है। शब्द में पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार

जीव शब्द में जीव वस्तु नहीं है, और जीव पदार्थ में शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है, उसके द्वारा जीव पदार्थ का द्रव्य-पर्यायस्वरूप से निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलों में कहा है :—

(१) प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र द्रव्य-पर्यायरूप से अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षण में एक के बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है।

(४) द्रव्य अनन्त गुणमयी, अनन्त धर्मस्वरूप होने से गुण-पर्यायवाला है।

(५) स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव से अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेक को जानकर अनेकरूप नहीं हो जाता।

(६) और वह आकाशादि से भिन्न, असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् पर से भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारण गुण का सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुण के अतिरिक्त अनन्त गुण जो आत्मा में हैं, वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-पर को नहीं जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्व को और स्व से भिन्न समस्त अपने गुण-पर्यायों को जानता है, इसलिए असाधारण है।)

(७) अन्य द्रव्य के साथ एकक्षेत्र में रहने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभाव में स्थिर रहता है अर्थात् स्व में एकत्वस्वरूप से परिणमन करता है, तब तो 'स्वसमय' है और जब पर में एकत्वपने से लीन होकर राग-द्वेषरूप से परिणमन करता है, तब 'परसमय' है।

इस प्रकार जीव के द्विविधत्व होता है। अब समय के द्विविधत्व में आचार्य बाधा बतलाते हैं। मैं पुण्य-पाप रहित निर्मल हूँ, ऐसा मानकर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्षभाव है और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पुण्य-पाप के विकारी भाव का कर्त्ता होकर उसमें परिणमित होता है—स्थिर होता है, सो वह परसमयरूप बन्धभाव है।

जीव में जब मोक्षभाव होता है, तब बन्धभाव नहीं होता। जीव स्वभाव से एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार बतलाना सो दोष है।

ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप एक ही प्रकार से रहना ठीक है। इसलिए अपना जैसा स्वरूप है वैसा एकत्व समझकर प्राप्त कर लेना ही सुन्दर है और उससे विपरीतता शोभारूप नहीं है। इस अर्थ की गाथा निम्न प्रकार है:—

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।३।।

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बन्धकथैकत्वे तेन विसम्वादिनी भवति।।३।।

अर्थ:—एकत्व-निश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है, इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है।

इस गाथा में बहुत बड़ी गहरी बात है, अपार रहस्य भरा है। प्रत्येक गाथा में मोक्ष का अमोघ मन्त्र भरा है, किन्तु वाणी में सब नहीं आ सकता। जिसके ४-५ गाड़ी अनाज पैदा होता है, उसके काम करनेवाले थोड़ा अनाज ले जाते हैं, किन्तु जहाँ हजारों मन अनाज पैदा होता है, उसके काम करनेवाले अधिक ले जाते हैं। इस प्रकार जिसके मति-श्रुतज्ञान सम्यक् होता है, उसके अमुक निर्मलता के पाक में से थोड़ा-सा कथन प्राप्त होता है, किन्तु जिनको साक्षात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उन सर्वज्ञ भगवान की धाराप्रवाही वाणी साक्षात् श्रवण करनेवाले गणधर देवों को अधिकाधिक मिलती है। यह समयसार शास्त्र साक्षात् भगवान की वाणी से आया है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजते हैं, उनके मुखकमल से वाणी का प्रवाह छूटता है। सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को एक समय में वे जान रहे हैं। चार कर्मों को नाशकर तेरहवीं भूमिका में (गुणस्थान में) सर्वज्ञ वीतरागदशा में परमात्मपद पर विराज रहे हैं। धर्मसभा में उनकी दिव्यध्वनि सहज छूटती है। हजारों धर्मात्मा सन्त-मुनि उसका लाभ ले रहे हैं। पहले भरतक्षेत्र में भी ऐसा था।

विक्रम संवत ४९ के लगभग श्री भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव भरतक्षेत्र से महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहकर श्रवण-मनन करके भरतक्षेत्र में वापिस आये और 'समयसार', 'प्रवचनसार' इत्यादि शास्त्रों की रचना की। भगवान के पास श्री कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, वह बात सत्य है। साक्षात् तीर्थंकर

भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ 'समयसार' का भाव उनने ४१५ गाथाओं में सूत्ररूप से गूँथा है। वर्तमान काल के जीव उनका कहा हुआ समस्त शास्त्रज्ञान सम्पूर्ण भाव से समझ नहीं सकते। जितने में अपना पेट पूरा भरे उतना ग्रहण कर सकते हैं; सम्यक्श्रद्धा तो पूर्णतया कर सकते हैं। उनके जैसा चारित्र नहीं पाल सकते, किन्तु एकावतारी हो सकने के लिए वैसी सामर्थ्य वर्तमान में भी है। अपनी तैयारी के बिना कौन मानेगा और उसे स्वयं जाने बिना क्या खबर पड़ सकती है ? घी की प्रशंसा सुननेवाला घी का स्वाद नहीं जानता, और खानेवाले को देखने से भी घी का स्वाद नहीं आता, किन्तु स्वयं घी का लौंदा मुँह में डालकर एकाग्र हो तो उसके स्वाद का अनुभव कर सकता है। उसी प्रकार अतीन्द्रिय -आनन्दरूप आत्मा की प्रशंसा सुने अथवा उसकी कथा सुने तो उतने मात्र से उसका आनन्द नहीं आता, और उस वस्तु के जानकार जीव को देखे तो भी खबर नहीं पड़ती, किन्तु उसे जानकर स्वरूपलीनता के द्वारा स्वयं अनुभव करे तब उसके आनन्द का अनुभव कर सकता है।

आत्मा का सत्स्वरूप भलीभाँति श्रवण करना चाहिए, श्रवण करने के बाद उसका गूढ़ भाव अन्तरंग में प्राप्त करके वस्तु का स्वयं निर्णय करके अनुभव करना चाहिए। उसके लिए विशेष निवृत्ति लेना चाहिए, बारम्बार स्वाध्याय और चर्चा करनी चाहिए। इससे उकताना नहीं चाहिये। बारहवें स्वर्ग के देव भी बड़े पुण्य की समृद्धि को छोड़कर यहाँ मनुष्य-लोक में धर्मश्रवण करने को आते हैं। स्वयं ज्ञानी होने पर भी तत्त्व की रुचि में विशेष निर्णय करने और तीर्थंकर भगवान की वाणी सुनने के लिये वे धर्मसभा में आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है, सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रय में बंधन होने से वह असुन्दर है। लोक में कहा जाता है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' स्वाधीनता में दूसरे का मुख नहीं ताकना पड़ता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है। कर्म सम्बन्ध के विकार का कथन विसंवाद करनेवाला है। एकमात्र चिदानन्द की बात सुन्दर है, और पर के साथ बन्धनभाव की कथा असुन्दर है। एक में बन्ध नहीं होता। परवस्तु के संयोग से, पराश्रय से बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा को हीन या पर की उपाधिवाला कहना पड़े यह बात शोभा नहीं देती, किन्तु क्या किया जाये। अपनी भूल से बन्धनभाव है, इसलिए ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को शक्ति की अपेक्षा से सबका ज्ञाता होने से 'महान्' कहा है। इसलिए 'पर मुझे हैरान करता है' ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरे अपार सामर्थ्य की महिमा गायी जा रही है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि :—

'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहिं पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥'

(अपूर्व अवसर, गाथा-२०)

आत्मा का अरूपी निर्मल ज्ञानानन्द स्वरूप साक्षात् केवलज्ञान में भगवान ने जाना है, वह स्वरूप लक्ष्य में पूर्ण होने पर भी वाणी से पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इन्द्रियों के अवलम्बन के बिना केवल अन्तरंग के अनुभव से ही जाना जा सकता है।

लोक में कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नहीं है, किन्तु ऐसा क्यों नहीं कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है ? कोई किसी का बुरा नहीं कर सकता। स्वयं अपने में बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि स्वतन्त्र चैतन्यस्वरूप निज में एकरूप है, उसमें बन्धपने की बुरी बात करना लज्जाजनक है। संसार में पर को बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तब आचार्यदेव को आत्मा को विकार और बन्धनवाला कहने में लज्जा मालूम होती है। संसार में परिभ्रमण करनेवाला बुराई में -विकार में पूरा होना चाहे तो भी उसमें पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, एक तत्त्व में बन्ध कहने पर स्वतन्त्रता के ऊपर प्रहार होता है। भाई, दृष्टि को बदल स्वतन्त्रता की ओर देख तो बन्धन नहीं रहेगा। एकत्व-निश्चय को प्राप्त स्वतन्त्र सिद्धदशा में स्थित रहता है, सो तो सुन्दर है, किन्तु पर में एकत्वरूप दृष्टि को प्राप्त संसारदशा में-बन्धदशा में है, जो कि असुन्दर है।

लोगों में ऐसा कहा जाता है कि ससुराल के नाम से जमाई की पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वयं जिसकी संतान है, उस पिता के नाम से पहचाना जाये तो ठीक है; उसी प्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय सन्तान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है,

उसके सम्बन्ध से पहचाना जाये तो यथार्थ है, किन्तु कर्म के निमित्त से विकारी पर्याय के द्वारा पहचाना जाये तो यह बहुत बुरी बात है। बंधभाव के द्वारा पहचाने जाने में तेरी शोभा नहीं है। अन्तरंग से निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रवाह बहता है, उससे आत्मा की पहचान होना सुन्दर है, किन्तु पराधीनता-कलंक के द्वारा पहचान होना सुन्दर नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि इस जगत में यह वस्तुएँ अनादि-अनन्त और भिन्न-भिन्न रूप से विद्यमान हैं—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल—इन छह द्रव्यों में से एक आत्मा के ही संसाररूप बन्धन है। विभावरूप परसमयत्व विरोधरूप है। शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना सो स्वसमय है, और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पर में स्थिर होना सो परसमय है। आत्मा वस्तु एक है और उसमें अवस्थायें दो हैं—निर्मल और मलिन। ऐसे पर के सम्बन्ध की विकारी दशायुक्त आत्मा को समझना वह झंझट में डालनेवाली बात है।

एकत्व-निश्चय को प्राप्त जगत के सम्पूर्ण पदार्थ शोभा को प्राप्त होते हैं। आत्मपदार्थ अनादि-अनन्त-स्वतन्त्र है, उसे पर के सम्बन्ध से बन्धनवाला कहना, कर्म के आधीन कहना सो पराधीनता है, स्वतन्त्रता को लूटने का भाव है। जैसे गाय के दोनों पैरों के बीच में डेंगुर (लकड़ी) डाला जाता है, तब ऐसा समझा जाता है कि यह गाय सीधी नहीं है, इसी प्रकार भगवान चैतन्यतत्त्व स्वतन्त्र है, वह कर्म के डेंगुर से बंधनभाव में रहता है। उसे ज्ञानी कभी भी ठीक नहीं मानता। पुण्य अच्छे हैं, शरीर आदि की अनुकूलता अच्छी है, यह कहना चैतन्य के लिये शोभा की बात नहीं है। पराधीनता को लाभरूप मानना शोभनीक नहीं है। बन्धकथा स्वयं विरोधवाली नहीं है, किन्तु आत्मा बंधनवाला है, इस प्रकार की मिथ्या मान्यता विरोधवाली है, क्योंकि संयोगी पदार्थ तो क्षणिक हैं। आत्मा सर्व संयोग से पृथक् ही है तथापि भिन्नता और स्वतन्त्र तत्त्व को भूलकर पर का आश्रय मानना ठीक नहीं है।

साधारण-लौकिक नीति में माननेवाले को भी किसी अनीति का आदर नहीं होता। लौकिक नीति में पूर्ण-अच्छे कुल का कोई पुत्र यदि नीच के घर जावे तो पिता उससे कहता है कि 'भाई! अपना कुल जैसा है उसे यह कुशील का साथ शोभा नहीं देता, यह बात अपने कुल और जाति के लिए कलंकरूप है;' उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ पिता संसार

में अटके हुए आत्मा से कहते हैं कि 'तेरी सिद्ध की जाति है; जड़-देहादि, पुण्य-पाप विकार में रहना तुझे शोभा नहीं देता।'

जो लोग अनीति करते हैं, उन्हें भी नीति के नाम की ओट लेनी पड़ती है, और वे कहते हैं कि क्या हम झूठ बोलते हैं ? इस प्रकार नीति की ओट के बिना जगत का काम नहीं चलता। जिसके साधारण नीति और सज्जनता है, उसे कुशील शोभा नहीं देता। किसी भी प्रकार अनीति कलंकरूप है। और जबकि लौकिक नीति में भी ऐसा है तब आत्मा के लिए उत्कृष्ट लोकोत्तर नीति तो आवश्यक है ही। उसे भूलकर बन्धन के प्रति उत्साहित होकर कहे कि मैंने पुण्य किया, पुण्य के फल से बड़ा राजा होऊँगा, देव होऊँगा, संसार में ऐसी व्यवस्था करूँगा, वैसा करूँगा इत्यादि; सो सब कलंकरूप है।

अब 'समय' शब्द से, सामान्यरूप से (भेद किये बिना) सर्व पदार्थ कहा जाता है, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो 'समय' है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और अवस्था को प्राप्त होकर नित्य-ध्रुव रहता है, सो समय है।

जगत् में इन्द्रियग्राही पदार्थ पुद्गल-अचेतन हैं। जो दिखायी देता है, वह जड़ की स्थूल अवस्था है, क्योंकि मूल परमाणु इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। परमाणु में भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। रोटी, दाल, भात इत्यादि में रजकणता स्थायी रहती है, और अवस्था (पर्याय) बदलती रहती है। रजकण स्वतन्त्ररूप से रहकर अपनी अवस्था को बदलते हैं; उनके जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श गुण हैं, वे स्थायी बने रहते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनन्त गुणों से युक्त, स्थिर रहकर अपनी अवस्था को बदलता रहता है।

लोक में छह पदार्थ हैं; वे यहाँ कहे जाते हैं :—

१- **धर्मास्तिकाय**—यह अनादि अनन्त पदार्थ है, अरूपी है, लोकाकाश प्रमाण है, एक अखण्ड द्रव्य है। यह द्रव्य स्वयं गमन नहीं करता, किन्तु जीव-पुद्गल को गमन करने में निमित्त है। जैसे-मछली को गमन करने में जल-निमित्त है, उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य है।

२- **अधर्मास्तिकाय**—यह द्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, और जीव-पुद्गल को गति में से स्थितिरूप होने में निमत्ति है। जैसे-पथिक को वृक्ष की छाया ठहराने में निमित्त है।

३- **आकाशास्तिकाय—** यह अनन्त क्षेत्ररूपी अरूपी पदार्थ अनादि-अनन्त है, जो कि सर्व व्यापक है, अचेतन है। इसके दो भेद हैं — (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, कालाणु और जीव। जीव जितने क्षेत्र में रहते हैं, उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहते हैं।

(ब) लोकाकाश के अतिरिक्त अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

लोग जिसे आकाश कहते हैं, वह वास्तविक आकाश नहीं है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है, और जो यह दिखायी देता है, वह आकाश में केवल रंग दिखायी देता है, जोकि परमाणु की अवस्था है। आकाश के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते।

४- **काल**—यह एक अरूपी पदार्थ है। चौदहराजु लोक में असंख्यात कालाणु हैं।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अरूपी द्रव्य हैं, जो कि युक्ति और न्याय से जाने जा सकते हैं।

५- **पुद्गल**—पुद्=पूरण, एक दूसरे में मिलना और गल=जुदा होना। अथवा पुद्+गल=जैसे अजगर अपने पेट में मनुष्य को गल (लील) जाता है, उसी प्रकार अरूपी -चैतन्यपिण्ड आत्मा ने शरीर की ममता की, इसलिए शरीर के रजकण के दल में, सारे शरीर में ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीर ने आत्मा को निगल लिया हो, और वह ऐसा ही दिखायी देता है। अज्ञानी की दृष्टि मात्र देहादि के ऊपर होती है, जब ज्ञानी की दृष्टि देहादि से भिन्न अरूपी-चैतन्य के ऊपर होती है। प्रत्येक रजकण में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की अवस्था बदला करती है-घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़-देहादि पुद्गल की अवस्था की व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओं का समूह बदलता दिखायी देता है, उसमें प्रत्येक मूल परमाणु भी अपनी अवस्था में बदलता है। यदि सूक्ष्म परमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता? इसलिए अनादि-अनन्त रहते हुए अवस्था को बदलने का स्वभाव पुद्गल का भी है।

६- **जीवद्रव्य**—यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक सम्पूर्ण द्रव्य है, इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है; जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगत् में जो-जो पदार्थ हैं, उन सबको जानने की ज्ञान की सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप-चैतन्य पर पदार्थ के लक्षण से भिन्न है, वह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घर में क्या-क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घर में भी क्या-क्या वस्तुएँ हैं यह भी जानना चाहिए। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे हैं यह जानने की आवश्यकता है। यथार्थ लक्षण से निज को भिन्न नहीं जाना, इसलिए दूसरे के साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जाति को भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोड़कर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिए।

'लोक्यंते जीवादयो यस्मिन् स लोकः।' अर्थात्—जिस स्थान में छह पदार्थ जाने जाते हैं, वह लोक है। और जहाँ जड़-चैतन्य इत्यादि पाँच द्रव्य नहीं हैं, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहों द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चय से एकत्व-निश्चय को प्राप्त हैं। उनमें जीव को ही बंधभाव से द्वित्य आता है, वह विसंवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, इसलिए वह अपने में स्वतन्त्र, पृथक् स्व-एकत्वरूप से प्राप्त है। वे सुन्दर हैं, क्योंकि अन्य से उसमें संकर, व्यतिकर इत्यादि दोष आ जाते हैं।

चौदह राजु के लोकरूपी थैले में प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल भिन्न-भिन्न विद्यमान हैं; यदि उनकी खिचड़ी (एकमेक) हो जाया तो संकरदोष आ जाता है।

'सर्वेषां युगपत् प्राप्तिस्संकरः' अर्थात् एक काल में ही एक वस्तु में सभी धर्मों की प्राप्ति होना सो संकरदोष है।

'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' अर्थात् परस्पर विषय-गमन को व्यतिकर दोष कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जाये तो वस्तु का ही अभाव हो जाये। प्रत्येक पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा कहने से आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भी समझना चाहिए; उसे पृथक्, स्वतन्त्र, शुद्धरूप में समझना ही ठीक है। कर्म के निमित्त का आश्रयवाला तथा विकारीरूप में समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं; तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है? इसमें शुद्ध कारण-पर्याय की ध्वनि है। तेरा तत्त्व पर से भिन्न है, तथापि तुझमें यह

उपाधि क्यों है ? यदि तू अपने को पर से भिन्नरूप में देखे तो तुझे यह दिखायी देगा कि तुझमें तेरे अनन्त गुण विद्यमान हैं, उनकी निर्मल पर्याय से तीनों काल में तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मों में अन्तर्मग्न है। परमाणु उनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में लीन-एकरूप रहते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्त गुण लीनपने से रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणों को स्पर्श करता है, उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकण को स्पर्श नहीं करता और रजकण आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा में हैं, जड़ के जड़ में हैं। लोग पुद्गल-जड़ को अशक्त मानते हैं, और यह मानते हैं कि उसमें कोई शक्ति नहीं है, किन्तु यह भूल है, क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। उन जड़ रजकणों की अवस्था प्रत्येक क्षण अपने आप बदलती रहती है। उस अवस्था की व्यवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है। इसी प्रकार जगत् में प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे पर से नास्तिरूप गुणवाले 'अन्यत्व' आदि नाम के अनन्त गुण प्रत्येक पदार्थ में हैं। वैसे अनन्त गुण अपने स्वभाव को स्पर्श कर रहे हैं, अपने स्वभावरूप में परिणमन करते हैं, पररूप में परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से हैं, पर की अपेक्षा से नहीं है। इस प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों स्वतन्त्र स्वभाव कहे गये हैं। किसी द्रव्य की कोई भी अवस्था किसी पर के आधीन नहीं है। ऐसी मर्यादा है।

यहाँ हितरूप धर्म कहा जाता है। वह इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिए पर से अपना धर्म नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, इसलिए यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरे की कुछ भी सहायता करती है।

असत्य के फलस्वरूप सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक् है। दूसरे आत्मा को कोई आत्मा सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि कोई आत्मा पररूप से नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी है।

प्रश्न:—जड़ में कौन से भाव हैं ?

उत्तर:—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पुद्गल-जड़ के भाव हैं। प्रत्येक परमाणु में अनन्त गुण हैं।

चेतन के ज्ञान-दर्शन आदि भाव हैं। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त निकट एक ही क्षेत्र में व्यापक होने पर भी भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि सभी एक क्षेत्र में हैं तो भी वे सदा स्वस्वरूप से रहते हैं, परवस्तुत्व में कभी कोई नहीं होता।

एक थैले में सुपारी, मिश्री इत्यादि इकट्ठ भरे हों, इसलिए वे उस भाव से एकरूप नहीं हो जाते, इसी प्रकार प्रथम भाव से समस्त वस्तुओं का पृथक्त्व कहा है।

अब सभी का क्षेत्र से पृथक्त्व बताते हैं—दूध और पानी आकाश के एक क्षेत्र में एकत्रित कहलाते हैं, तथापि स्व-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए पानी जल जाता है और दूध मावारूप से परिणत हो जाता है। जो स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् थे, वे पृथक् ही रहे, जो अलग हो जाते हैं, वे एकमेक नहीं होते। अग्नि की उष्णता अग्नि में एकमेक है, इसलिए कभी पृथक् नहीं होती। गन्ने में रस और मिठास एकरूप है, इसलिए वह कभी पृथक् नहीं होते। धान्य से छिलका अलग है, इसलिए वह मशीन में डालने से अलग हो जाता है, इसी प्रकार देहादि से चेतन स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्न है, इसलिए वह पृथक् रहता है। अज्ञानी को पर से पृथक्त्व का ज्ञान नहीं है, इसलिए पृथक्त्व या स्वतन्त्रता को नहीं मानता। दूध को उबालने से पानी जल जाता है और मावा सफेद पिण्डरूप रह जाता है, इसी प्रकार जीव में वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो अशुद्धता है, वह शुद्धस्वभाव की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्मा के कैसे हो सकते हैं?

अन्तरंग में अपनी स्वाधीनता की जिसे कुछ चिन्ता नहीं है उसकी समझ में यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती, इसलिए स्वतन्त्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होने के कारण है। अपनी अनन्त शक्ति नाश को प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वत् स्वरूप से, स्पष्ट, प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षा से स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीव का धर्म प्रगट है, पर से पृथक्त्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु पर से-असत्रूप से है, और अविरुद्ध-कार्य, अर्थात् वस्तु स्वत्व से-सत्रूप से है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य, और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभाव के कारण सदा विश्व में रह रहे हैं। स्व से स्वयं है, और पर से स्वयं नहीं है, ऐसी प्रत्येक वस्तु पर से नास्ति और स्व से अस्ति होने से विश्व को सदा स्थिर रखती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु

में अस्ति-नास्ति धर्म हैं, और वे प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता को बतलाते हैं।

इस प्रकार सर्व पदार्थों का पृथक्त्व और स्व में एकत्व निश्चित होने से इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बन्ध की कथा विरोधरूप आती है, वह ठीक नहीं है।

आत्मा से भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतन्त्र हैं, निरपेक्ष, एकत्व को प्राप्त हैं, इसलिए शोभा पाते हैं। तब तुझे बन्धन (पर की उपाधि) युक्त कैसे कहा जाये? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक्-पृथक् रजकण हैं उनके तो पर का सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्मा के बन्धनभाव हैं, यह कहना घोर विसंवाद की बात है। मैं पर से बँधा हुआ हूँ यही विचार अपनी स्वतन्त्रता की हत्या करता है। पर के लक्ष्य से राग-द्वेषरूप विकार करना कहीं शोभारूप नहीं है, किन्तु आपत्तिजनक है। पृथक्-स्वतन्त्र आत्मा को पर का बन्धनवाला कहना परमार्थ नहीं है।

प्रश्नः—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखायी देता है?

उत्तरः—वर्तमान क्षणिक संयोगाधीनदृष्टि को छोड़कर अपने त्रैकालिक असंयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभाव को देखे तो आत्मा बन्धरहित, स्वतन्त्र ही दिखायी देगा। देह और पर को देखने की जो दृष्टि है, सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्मा की निर्मलता को रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतन्त्र स्वभाव को भूलकर पर के कार्य मैंने किये, मैं देहादि का काम कर सकता हूँ, मैंने समाज में सुधार किये, मैं था तो चन्दा लिखा गया, बड़ी रकम भरी गयी, मैं था तो वह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यता के अभिमान से स्वयं अपनी हत्या कर रहा है। इसलिए हे भाई! तू पर के अभिमान को छोड़ दे, पर कार्य के अभिमान से चैतन्य की सम्पत्ति लुट रही है; वह पराधीनता है तथापि उसे उत्साह सहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पाप का बन्धभाव मुझे लाभ करता है, पुण्य से गुण का विकास होता है, इस प्रकार पर से लाभ माननेवाला बन्ध को प्राप्त होता है। यह विसंवाद क्योंकर उपस्थित होता है, सो आगे कहा जायेगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूप से है। उससे भिन्न जो पुद्गल है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श हैं। ये गुण अरूपी द्रव्यों में नहीं हैं। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे चार पदार्थ अरूपी हैं, उनमें चेतनागुण तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु उनकी अनन्त शक्ति उनमें उनके आधार से है। प्रत्येक वस्तु की पृथक् सत्ता है। आत्मा

का धर्म शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की एकता है। आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है; पुण्य-पापरूप नहीं है। इसलिए पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता। पुण्यादि परवस्तु हैं। देह, मन, वाणी, पैसा इत्यादि परवस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता। दान-भक्ति द्वारा तृष्णा को घटाये तो वह पुण्यरूपी शुभभाव हुआ। वह भाव अरूपी आत्मा के होता है। धर्मभाव तो रागरहित है। परवस्तु से, रुपये-पैसे आदि से, दान देने की जड़क्रिया से पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता। पर के प्रति जो तीव्र राग है, वह अशुभ-पापभाव है। यदि तीव्र राग को कम करके शुभभाव करे तो वह पुण्य कहलाता है। धर्म उससे भिन्न वस्तु है, राग-द्वेष भी चैतन्यस्वभाव में नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं; उनमें से कोई धर्म कम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का पर की अपेक्षा से नास्तित्व और अपनी अपेक्षा से अस्तित्व हैं, इसलिए वह पर-अपेक्षा से नहीं है और स्व-अपेक्षा से है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु पर की सहायता के बिना स्वतन्त्ररूप से सदा स्थिर रहती है। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व निश्चित हुआ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ पृथक् हैं, तथापि पृथक्त्व को भूलकर जो यह मानता है कि मैं पर का कार्य कर सकता हूँ, मैं सयाना हूँ, मैंने इतने काम किये, यह सब व्यवस्था मेरे हाथ में हैं, इत्यादि। वह समस्त पर को अपना माननेवाला है। किसी भी परवस्तु की प्रवृत्ति मेरे द्वारा होती है, मेरे आधार से होती है, इस प्रकार जो मानता है, उसने पर को अपना माना है। कई लोग मुँह से तो यह कहा करते हैं कि हम पर को अपना नहीं मानते, तथापि वे ऐसा तो मान ही रहे हैं कि हमने घर में सभी को सुधार दिया, हमने इतनों को सहायता दी है इत्यादि। जो पर की अवस्था स्वतन्त्रतया हुई है, उसे मैंने किया है, इस प्रकार उसने मान ही रखा है, और यही अनादि का अहंकार है। संसार के सयाने को मान छोड़ना कठिन होता है।

मैंने ऐसी चतुराई से काम किया है कि वह आदमी चक्कर में आ गया, इस प्रकार कई लोग मानते हैं; किन्तु वास्तव में तो वे स्वयं ही चक्कर में हैं। उस मनुष्य को उसका पुण्य हीन होने के कारण तेरे जैसा निमित्त मिला, किन्तु तूने पर का कुछ किया नहीं है, मात्र अपने में राग-द्वेष-अज्ञान किया है।

आत्मा को राग-द्वेषरहित, ज्ञाता-साक्षीरूप मानना सो भेदज्ञान है, और भेदज्ञान होने

पर उसके अभिप्राय में जगत् के लोगों के अभिप्राय से अन्तर पड़ जाता है।

जीव नाम पदार्थ जो कि चिदानन्द-रसरूप से स्वतन्त्र है, उसे पर के सम्बन्धवाला मानना, तथा उस पर के सम्बन्ध से पुण्य-पाप विकार होता है, ऐसा सम्पूर्ण आत्मा को मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। पराश्रय से जो क्षणिक बन्ध अवस्था होती है, उसे आत्मा के त्रैकालिक निर्मल स्वभाव में खतया लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। थोड़े समय के लिये किसी के पास से जो वस्तु उधार लायी गयी हो उसे घर की सम्पत्ति में जमा नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल शुद्ध-आनन्दघन है, उसमें पर जो मन, वाणी अथवा पुण्य-पाप के संयोग हैं, उन्हें अपने हिसाब में नहीं गिना जा सकता। आत्मा सदा अरूपी-ज्ञाता है, वह ज्ञान और शान्ति अथवा अज्ञान और राग-द्वेष के भाव के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। आत्मा के हाथ, पैर, नाक, कान नहीं होते तथापि वह उनका स्वामी बनता है। यह अनादि की मिथ्या-शल्य है।

संसार के प्रेम के कारण झूठी बातों को जहाँ-तहाँ सुनने जाता है, अखबारों में लड़ाई की बातें पढ़ता है, उत्साह से उसकी चर्चा करता है, किन्तु यह सब संसार में परिभ्रमण करने के कारण हैं।

हे भाई! तू प्रभु है, तूने अपने मुक्तस्वभाव की बात कभी नहीं सुनी, धर्म के नाम पर भी काम-भोग-बन्ध की कथा ही सुनी है। जिसने पाँच लाख रुपये कमाये हों उससे धर्मगुरु कहते हैं कि दान करो और वह मानता है कि पाँच-दस हजार का दान देने से मुझे धर्म होगा और उससे सुखी हो जाऊँगा। इसी प्रकार यदि यह कहा जाये कि देहादि की क्रिया से धर्म होता है, तो उसे वह भी रुचता है। इस प्रकार सस्ते में जीव ने धर्म मान लिया है। किन्तु देह की क्रिया से धर्म नहीं होता, क्योंकि देह आत्मा से भिन्न है।

जो ज्ञानी है वह दान देते समय ऐसा मानता है कि मैंने तो धन से तृष्णा घटायी है, लेने-देने की क्रिया का मैं कर्ता नहीं, स्वामी नहीं, मैं तो तृष्णारहित ज्ञानस्वभावी हूँ। और अज्ञानी जड़ का स्वामी होकर पाँच हजार का दान देगा तो जगत् में घोषित करेगा कि मैंने दान दिया, मैंने रुपये दिये; और कैसी प्रशंसा होती है उसे सुनने के लिये तत्पर रहेगा। देखो तो यह रंकभाव! स्वयं अपनी महिमा दिखायी नहीं देती, इसलिए दूसरे के पास से महिमा की इच्छा करता है।

गृहस्थदशा में रहनेवाला ज्ञानी दान देता है, किन्तु किंचित्-मात्र अभिमान नहीं करता। यदि कोई प्रशंसा करता है कि तुमने अच्छा दान दिया है, तो वह मानता है कि यह मुझे पर का कर्ता कह रहा है, जो कि कलंक है। लोग कहते हैं कि 'तुमने अपनी वस्तु दान में दे दी है; किन्तु ऐसा कहकर तो वे मुझे जड़ का स्वामी बनाते हैं। पर का स्वामित्व चोरी का कलंक है।'

जड़ मेरी वस्तु नहीं है, इसलिए मैंने नहीं दी है। जड़ पदार्थ का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना उस-उस पदार्थ के आधीन है। तृष्णा घटाने का भाव मेरे आधीन है। किसी रजकण का अथवा मन का अवलम्बन रहे तो वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानने से पर से पृथक्त्व का पुरुषार्थ प्रगट होता है। यदि पर का स्वामित्व रखता है, पुण्य के बन्धनभाव को ठीक मानता है, तो उसके विपरीत पुरुषार्थ है। मैं पुण्य-पाप से रहित पर से भिन्न हूँ, पूर्ण पवित्र ज्ञायकमात्र हूँ, किसी के अवलम्बन के बिना स्थिर रहनेवाला हूँ, जो ऐसा मानता है, उसके अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है। पहले श्रद्धा में यह निर्णय करना सो अनन्त सीधा पुरुषार्थ है। जो पर का कर्ता होकर जड़ का स्वामी होता है, वह पर की क्रिया से लाभ माने बिना कैसे रहेगा ?

जो अनन्त काल की अज्ञात वस्तुस्थिति है उसका अधिकार प्राप्त होने पर उसके स्वरूप को ज्यों का त्यों स्पष्ट करना, सो व्याख्यान है।

ज्ञानी दान देगा तब अपूर्व तृष्णा घटेगी और अज्ञानी अल्प-पुण्य के होने पर अभिमान करेगा। जो तृष्णा को कम नहीं करता उसे समझाने के लिये श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कौवे का दृष्टान्त दिया है—खराब और बचीखुची वस्तु घूरे पर डाल दी जाती है तो कौवा वहाँ खाने के लिए आता है और काँव काँव करके दूसरों को इकट्ठा करके खाता है, स्वयं अकेला नहीं खाता; इसी प्रकार पहले जीव के गुणों को जलाकर, शुभभाव करके जिसने पुण्य बाँधा है वह बचीखुची और जली हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को जो मनुष्य अकेला खाता है अर्थात् दूसरे को दान नहीं देता, दूसरे को दान ले जाने के लिये नहीं बुलाता, वह कौवे से भी गया बीता है। गुण के जलने से पुण्य बँधता है, आत्मभाव से पुण्य-पाप नहीं बँधते। आत्मा के गुण से बन्ध नहीं होता। जली-भुनी वस्तु को भी कौवा अकेला नहीं खाता; किन्तु तेरे गुण जलकर जो पुण्य-बन्ध हुआ है, उसके उदय से तुझे जो कुछ मिला है उसमें

से किसी को कुछ नहीं दे तो तू कौवे से भी हल्का है। ज्ञानी लट्ठ नहीं मारते, किन्तु तृष्णा के कुएँ में डूबे हुए को उसमें से बाहर निकालने के लिये करुणा से उपदेश देते हैं। प्रत्येक बात न्याय से कही जाती है। जिसे जो अनुकूल मालूम हो उसे वह ग्रहण कर ले।

जिसे सच्ची श्रद्धा है, उसे परवस्तु का स्वामित्व नहीं है, इसलिए दानादि देते हुए भी उसे उसका अभिमान नहीं होता। दान, भक्ति इत्यादि प्रत्येक संयोग में राग कम होकर उसके स्वभाव में निराकुलता तथा स्थिरता बढ़ती जाती है।

आत्मा अकेला स्व में लीन हो तो राग-द्वेष विकार नहीं होता, किन्तु पर के आधीन हुआ इसलिए विसंवादरूप, उपाधिभाववाला कहलाता है। विकारीभाव को अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्म के प्रदेश में रत होना है। जब अज्ञान से परवस्तु में युक्त होने का स्वयं भाव करता है, तब जीव के राग-द्वेष का कर्तृत्व आता है। पर को माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादि को मेरा-मेरा कर रहा, किन्तु वे तेरे नहीं है।

एक तत्त्व को-एक आत्मा को अपनेरूप और कर्म के सम्बन्धरूप—दो रूप कहना सो बन्ध की विकारी दृष्टि है। विकारी दृष्टिवाला बन्धन की बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र कहकर बैठे रहने का समय नहीं, किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत् को बता देना चाहिए, ऐसा कहनेवाले का अभिप्राय मिथ्या है; क्योंकि पर का स्वयं कर सकता है—ऐसा वह मानता है। शरीर, मन, वाणी का कण कण भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है—ऐसा मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतन्त्र चैतन्य आत्मा की हत्या करने की मान्यता है। आत्मा स्वतन्त्र, भिन्न है। उसको पृथक् न मानकर पर का कर्ता हूँ, ऐसा माननेवाले सभी लोगों का अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्य का आदर करनेवाले हैं। एक बार यथार्थ रीति से समझे कि जीव-अजीवादि सर्व पदार्थ तीनों काल में पृथक् हैं, तो फिर किसी पर का कुछ कर सकता है या नहीं, ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसी की सहायता से नहीं हो सकता।

एक परिणाम के कर्ता दो तत्त्व नहीं होते; क्योंकि जड़-चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते वे जीव अपने चैतन्य की स्वतन्त्रता की हत्या करते हैं।

आत्मा को पराश्रयता शोभारूप नहीं है। जिस भाव में तीर्थंकरत्व बँधता है वह

भी रागभाव है, ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलम्बी आत्मा का एकत्व है, वही शोभारूप है।

मैं सदा स्वालम्बी-मुक्त हूँ, ऐसा जाने बिना जो कुछ जाने, माने और कहे सो सब व्यर्थ है। मैंने पर का ऐसा किया, सेवा मण्डल की स्थापना की, हम थे तो ऐसा हुआ, इत्यादि कर्तृत्व की बात सुनना, उसका परिचय करना, उसका अनुभव करना, इस जीव को अनादि से सुलभ हो रहा है। इसलिए आचार्यदेव एकत्व की असुलभता बताते हैं :—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य।।४।।

अर्थः—समस्त लोक को काम-भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा सुनने में आ गयी है, परिचय में आ गयी है, और अनुभव में भी आ गयी है, इसलिए सुलभ है; किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, और न वह अनुभव में ही आया है; इसलिए वह सुलभ नहीं है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ,' ऐसी मान्यता 'काम' और संसारी पदार्थ भोगने का भाव 'भोग' है। पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसा अनादि काल से जीव ने माना है; किन्तु कर कुछ नहीं सकता। मैंने पुण्य किया है, इसलिए भोगना चाहिए, पुण्य का फल मीठा लगता है, ऐसा जो मानते हैं, वह इस विशाल गृहरूपी भोंयरे में ऐसे पड़े रहते हैं जैसे विशाल पर्वतों की गुफाओं में जीव-जन्तु पड़े रहते हैं। आत्मा की प्रतीति के बिना दोनों समान हैं।

पुण्य-पाप दोनों आस्रव तत्त्व ही हैं, 'बन्ध के कारण जो आस्रव' कहा है। समयसार गाथा ७२ में उसे 'अशुचि', गाथा ७४ में 'दुःखरूप' कहा है; कलश नं. १०२ में पुण्य-पाप दोनों को बन्ध का ही कारण कहा है। ज्ञानी को भी निचली दशा में शुभराग हेयबुद्धि से आता है किन्तु उसका स्वामित्व नहीं है, अतः ऐसी श्रद्धा ज्ञानी को जरा भी नहीं है कि 'पुण्य करने योग्य है'; अज्ञानी शुभभाव को परमार्थधर्म मानता है, वह उसकी भूल है। जो संसार में प्रवेश कराते हैं उनको भला कैसे माना जाये? बन्धभाव है उसे भला नहीं मानना चाहिए।

ज्ञानीजनों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से मोक्ष प्राप्त किया है।

लोग मानते हैं कि श्रीपाल ने व्रत धारण किया था इसलिए उनका रोग मिट गया था; किन्तु शरीर का रोग दूर करने का कार्य धर्म का नहीं है। पूर्व का पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से रोग दूर होता है, ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है, और धर्म आत्मा का शुद्ध-स्वभाव प्रगट करने से होता है, इसकी उसे खबर नहीं है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ग्रहण की, उसके बाद उन महान् धर्मात्मा-मुनि को बहुत साल तक तीव्र रोग रहा तथापि शरीर के ऊपर धर्म का कोई प्रभाव नहीं हुआ। यह बात नहीं कि धर्म से शरीर निरोगी रहता है, किन्तु धर्म के फल से पुण्य और शरीर इत्यादि का बन्ध ही नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है, तब आजकल लोग धर्म के नाम से अपनी मनमानी हांकते रहते हैं और कहते हैं कि पुण्य करो, उससे मनुष्य या देव का शरीर मिलेगा और फिर परम्परा से मोक्ष प्राप्त होगा।

जीव राग-द्वेष का कर्ता है, उसके फल का भोक्ता है, इत्यादि काम-भोग-बन्ध की कथा जीव ने अनन्त बार सुनी है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि जड़ के संयोग की रुचि छोड़ो; पुण्य से धर्म नहीं होता।

शंका:—आपने तो पुण्य को जुलाब ही दे डाला है ?

समाधान:—जमालगोटा का जुलाब दिये बिना विकार (विपरीत-मान्यता) दूर नहीं हो सकता। पुण्य मेरा है, शुभभाव करते-करते धीरे-धीरे धर्म होगा; ऐसी विषैली मान्यता का अर्थात् राग-द्वेष-अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। किसी भी बन्ध-भाव का आदर नहीं होना चाहिए।

यदि कोई आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्ध भाव को धर्म कहे तो वह विकथा है। अज्ञानी को सत्य बात कठिन मालूम होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नहीं है, इसलिए कदाग्रही को वह विरोधरूप लगती हैं, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठते हैं और कहते हैं कि अहो! ऐसी बात हमने कभी भी नहीं सुनी थी।

'हमने तुम्हारे लिए इतना किया है,' ऐसा कहनेवाला असत्य कहता है, क्योंकि

तीन काल और तीन लोक में कोई पर का कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर ही नहीं सकता। अनादिकालीन विपरीत दृष्टि के खण्ड को बदलकर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरने के लिये नया खण्ड बनाना चाहिए।

वर्तमान में धर्म के नाम पर बहुत-सी गड़बड़ी दिखायी देती है, पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है; किन्तु अनादि से जीव जो मानता आया है, उससे यह बात भिन्न है। सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पड़ती है और उसे माने बिना छुटकारा नहीं है। सत्य को हल्का-सस्ता बनाकर छोड़ा नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटि की बात है, सो ऐसा नहीं है; क्योंकि यह धर्म की प्रारम्भिक बात है।

आत्मा को पुण्यादि पर-आश्रय की आवश्यकता प्रारम्भ में भी नहीं है। सच्ची समझ के बिना व्रत-तप इत्यादि से पुण्य बाँधकर जीव नववें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतन्त्र आत्मस्वभाव को नहीं जाना, और इसलिए भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जीव ने ऐसा परम सत्य इससे पूर्व कभी नहीं सुना कि अनन्त-गुणों का पिण्ड, चैतन्य आत्मा पर से पृथक् है, एक रजकण भी मेरा नहीं है, रजकण की अवस्था देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति मेरी नहीं है; मैं तो ज्ञाता ही हूँ इत्यादि। इसलिए कहता है कि प्रारम्भ में कोई आधार तो बताओ, कोई आश्रय लेने की तो बात करो; देव, गुरु, शास्त्र कुछ सहायता करते हैं, ऐसा तो कहो। किन्तु भाई! तू पृथक् है और देव, गुरु, शास्त्र पृथक् हैं; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव, गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। उपादान की तैयारी न हो तो देव, गुरु, शास्त्र क्या करेंगे? जैसे पिंजरापोल के जिस पशु के पैर में शक्ति न हो उसे यदि लकड़ी के सहारे जबरन खड़ा करे तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरने से जो धक्का लगता है, उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसी प्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ, उसे देव, गुरु, शास्त्र के सहारे खड़ा किया जाये तो भी वह नीचे गिर पड़ता है, और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव, गुरु, धर्म वीतरागी स्वतन्त्र तत्त्व हैं; उसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र अनन्त शक्तिवाला हूँ। पर के आश्रय के बिना मैं अपने अनन्त गुणों को प्रगट कर सकता हूँ, ऐसी यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देंगे, वे मानों यह नहीं मानते कि वीतरागदेव के द्वारा कही गयी यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतन्त्ररूप से अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि हम स्वतन्त्र और भिन्न हैं, तू भी पूर्ण स्वतन्त्र और भिन्न हैं। किसी की सहायता की तुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा निष्पृही वचन वीतराग के बिना दूसरा कौन कहेगा ?

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम जगत् के लिये मरे फिरते हैं, हम अपनी हानि करके भी जगत् का सुधार करते हैं, किन्तु लोगों को यह खबर नहीं है कि ऐसा कहनेवाले ने दूसरों को पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसी का उपकार नहीं करता, मात्र वैसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्य को समझे, और फिर सत्य को घोषित करे; वहाँ जो भी योग्य जीव हो वह सत्य को समझ लेता है, ऐसी स्थिति में व्यवहार से कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकरदेव पृथक् हैं, और तू पृथक् है; उनकी वाणी अलग है, इसलिए वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतन्त्र तत्त्व समझ में नहीं आयेगा।

प्रश्नः—ऐसा मानने के बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे ?

उत्तरः—कोई किसी पर का कुछ कर नहीं सकता, किन्तु पर का जो होता है, और जो होना है, वह तो हुआ ही करेगा; तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उनका स्वामित्व नहीं होता।

अनादि की विपरीत मान्यता को लेकर पर में एकत्व सुलभ हो गया है और पर से पृथक्त्व का श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकाल के विपरीत अभ्यास की अपेक्षा से यह बात महँगी बतायी है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनता की बात है इसलिए सस्ती है।

टीकाः—इस समस्त जीवलोक को काम-भोग सम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवादी है अर्थात् आत्मा का अत्यन्त बुरा करनेवाली है; तथापि पहले यही अनन्त बार सुनने में आयी है, परिचय में आयी है और अनुभव में भी आ चुकी है।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर दे, ऐसी इच्छा का जीव ने अनादि से सेवन किया है, किन्तु मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित हूँ, इसलिए स्व में ठहरूँ, आत्मा की अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करूँ, यही ठीक है। ऐसी बात पहले अनन्त काल में जीव ने यथार्थरूप से नहीं सुनी।

स्पर्शन और रसना—दो इन्द्रियों को काम की तथा घ्राण, चक्षु और कर्ण को भोग की मुख्यता है।

आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर पर पदार्थ की ओर का जो लक्ष्य है, वह विषय है। जीव जितनी शुभाशुभवृत्ति करता है, वह परलक्ष्य से होती है, इसलिए चाहे जिस पदार्थ की ओर वृत्ति करके उसमें अच्छा-बुरा भाव करना, सो विषय है। परवस्तु के प्रति राग-द्वेष-मोहवाला जो भाव है, सो विषय है।

परवस्तु विषय नहीं है, वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श में विषय नहीं, किन्तु उसकी ओर का जो रागभाव है, सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है, ऐसा मानकर वहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रूप-सम्बन्धी राग करता है, सो रूप-सम्बन्धी विषय है। उसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्श के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकार का निमित्त होने से, उपचार से परद्रव्य को विषय कहा जाता है। ज्ञानभाव से परद्रव्य को जाने, उससे राग-द्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थ का लक्ष्य करना सो स्व-विषय है। यदि स्व का लक्ष्य करे तो जीव को राग-द्वेष न हो।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी राग का व्यापाररूप परविषय है। शास्त्र में कहा है कि आत्मा पर के आश्रय से रहित है, पुण्य-पाप से भिन्न है, मन और इन्द्रियों से भिन्न है, किसी भी पर के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है, शुभविकल्प भी आत्मा को सहायक नहीं है। निमित्ताधीन होने से शुभाशुभभाव का होना भी ज्ञानी आत्मा का कार्य नहीं है। किन्तु ऐसा जिसने नहीं माना उसने राग द्वारा ही शास्त्रों को सुना है, और इसलिए उसने शास्त्रों को भी इन्द्रिय का विषय बनाया है। शास्त्र के शब्दों के द्वारा धर्म प्रगट होता है, ऐसा जिसने माना उसने शास्त्र के शब्द को शुभराग का विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति-ज्ञाता ही है, शब्दादि पाँचों विषयों से भिन्न है—ऐसा शास्त्र के कहने का आशय है। उसे भूलकर ऐसा माने कि देव, शास्त्र, गुरु के संयोग द्वारा धर्म आता है, वह जीव वहाँ भी राग के विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवान को भी आँखों से अनन्त बार देखा, वहाँ भगवान को भी शुभराग का विषय बनाकर पुण्यबन्ध किया; निमित्त अथवा राग के बिना स्वावलम्बी दृष्टि से

भगवान को कभी देखा नहीं; इसलिए वह भी परविषय हो गया।

अशुभ से बचने के लिये देव, गुरु, शास्त्र की विनय-भक्तिरूप शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है; धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्ष के बिना सब परलक्ष है। अनादि से पर के ऊपर दृष्टि है, दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने अपने को निर्माल्य माना है। 'हे भगवान्! कृपा करो, अब तो तारो'—इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बन्धन में रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोष भी तुम्हारा है। आत्मा में अन्तर-शक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्य-पाप की वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीव ने पूर्व में कभी नहीं सुनी थी, उसका परिचय-अनुभव नहीं किया था, मात्र पर के कर्ता-भोक्ता की ही बात सुनी थी।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते हैं, ऐसा 'कर्तृत्व-भाव' और हर्ष-शोक-सुख-दुख का अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बन्ध कथा है, और इसलिए वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित स्व-कथा सुलभ नहीं है, पुण्य-पापादि करने योग्य हैं, यह विकारभाव की कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की विरोधी है। अनन्त गुण के रसकन्द आत्मा को मन के अवलम्बन की भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जीव बाह्य में वृत्ति दौड़ाता है इसलिए राग होता है, पुण्य का जो विकल्प है, वह भी गुण की विपरीतता से होता है। गुण की विपरीतता से आत्मा में अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना-मनवाना सो विकथा है। बाह्य के किसी अवलम्बन से अथवा पर के कारण से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बन्ध-कथा जीव ने अनन्त बार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मकथा सुनना बड़ा दुर्लभ है।

जिस भाव से बन्धन हो उस भाव से मोक्ष नहीं होता, और मोक्षमार्ग भी नहीं होता। धर्म के नाम से बन्ध-कथा अनेक बार सुनी, इसलिए जीव बन्ध में अभ्यस्त हो गया है। अनभ्यस्त बैल, गाड़ी के जुए को जल्दी धारण नहीं करता, किन्तु अभ्यस्त बैल, जुए के उठाते ही तत्काल अपनी गर्दन आगे लाकर जुत जाता है। जब बालक से सर्व प्रथम दुकान पर बैठने को कहा जाता है, तब उसे वह नहीं रुचता, किन्तु थोड़ा परिचय होने पर, कुछ कमाई दिखायी देने पर जब लोभ लग जाता है, तब वह व्यापार में से क्षणभर का भी समय नहीं निकाल पाता। उसे फिर निवृत्ति अच्छी नहीं लगती। यह बंधन में अभ्यस्त हो जाने के उदाहरण हैं।

आत्मा पुण्य-पाप से रहित, अतीन्द्रिय-आनन्दघनस्वरूप है, ऐसी बात जीव ने कभी नहीं सुनी। पुण्य-पाप के बंधन से जीव अभ्यस्त हो गया है। 'साधु' नामधारी कितने ही जीवों को यह खबर नहीं होती कि आत्मतत्त्व पर से सर्वथा भिन्न हैं; इसलिए वे लोगों को बाहर की बातें सुनाते हैं। किसी राजा-रानी की कथा सुनाकर अन्त में कह देते हैं कि उसने दीक्षा ले ली। संसार में ऐसी बातें तो प्रत्येक जीव ने अनन्त बार सुनी हैं, इसलिए वे सुलभ हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी, अविनाशी, प्रभु है, उसका मुक्त-स्वभाव कैसे प्रगट हो? उसका अन्तरंग वैभव क्या है? यह न जानने के कारण जीव को पराधीनता की कथा-पुण्यपाप बन्ध की कथा रुचिकर लगती है, क्योंकि वह उससे अभ्यस्त हो गया है।

अनन्त बार मनुष्य हुआ, वहाँ भी धर्म के नाम से विकथा ही सुनी। कभी सत्य सुनने को भी मिला, किन्तु आन्तरिक श्रद्धा नहीं हुई, शुभराग में अटका रहा इसलिए उसके लिये तो वह बन्ध-कथा ही हुई।

एक गुना दान करने से हजार गुना पुण्य होता है, ऐसा सुनकर दान के चिट्ठे में अपना नाम लिखाता है। वास्तव में तो तृष्णा कम करने को दान कहा गया है, किन्तु इसमें तो तृष्णा बढ़ाने की बात है। जहाँ लेने की भावना है, वहाँ त्यागभावना कैसे हो सकती है? स्मरण रहे कि संसार के पापों में लगे रहने से पुण्यभाव अच्छे हैं। पूजा, भक्ति और दानादि के द्वारा तृष्णा कम करने का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वह शुभभाव है, आत्मस्वभाव नहीं; इसलिए वह धर्म नहीं है—ऐसा समझाया है। आजकल बहुत से लोग पुण्य में धर्म बताते हैं, 'पुण्य करो' ऐसी बातें संसार में जहाँ-तहाँ सुनने को मिलती हैं और जीव के अनुभव में भी वे आ गयी हैं। जैसे सट्टा करनेवाले को सट्टे की बात का ऐसा तीव्र वेदन (अनुभव) होता रहता है कि उसे दूसरी बात सुनने का अवकाश ही नहीं होता, इसी प्रकार देव, नरक, मनुष्य और तिर्यंच के भव की बात अनन्त बार सुनी है, इसलिए उसे आत्मा की बात नहीं रुचती।

जीव लोक संसारचक्र के मध्य में स्थित है। अज्ञानी जीव क्षण भर पाप में तो क्षणभर पुण्य में, फिरा ही करता है, किन्तु पुण्य-पाप से भिन्न आत्मतत्त्वरूप निर्णय नहीं करता, इसलिए उसका भवभ्रमण नहीं रुकता।

अनादि से देहदृष्टि है, स्त्री-पुत्रादि को देह के आकार मानता है, कर्मफलरूप देह को समझता है, किन्तु अबन्ध आत्मा को नहीं समझता, इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के पंच परावर्तनरूप संसारचक्र में भ्रमण किया करता है।

पंच परावर्तन का स्वरूप

(१) **द्रव्यपरावर्तन**—प्रत्येक आत्मा को प्राय: प्रत्येक परमाणु देहरूप से—संयोगरूप से आये और गये; वाणी, मन, कर्मवर्गणारूप से समस्त परमाणुओं का अनन्त बार संयोग किया, पुण्य-पाप के संयोग से अनन्त प्रकार के आकारवाला शरीर जीव ने अनन्त बार धारण किया, किन्तु असंयोगी आत्मतत्त्व की बात नहीं सुनी।

(२) **क्षेत्रपरावर्तन**—लोकाकाश का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ जीव अनन्त बार जन्मा और मरा न हो। पुण्य-पाप के विकारीभाव किये और उसके भोग्यस्थानरूप असंख्यात क्षेत्र में अनन्त जन्म-मरण किये; किन्तु आत्मा पर से भिन्न, अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति है, उसे नहीं जाना।

(३) **कालपरावर्तन**—बीस कोड़ाकोड़ी सागर के जितने समय होते हैं, उन एक-एक समय में परिभ्रमण करके जीव अनन्त बार जन्मा और मरा।

(४) **भवपरावर्तन**—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव के भव अनन्त बार धारण किये। कभी सड़ा कुत्ता हुआ तो कभी बहुत बड़ा राजा हुआ और ऐसी राज्य-सम्पदा प्राप्त की जहाँ क्षण भर में करोड़ों रुपये आते; वहाँ से मरकर नरक में भी गया और वहाँ से निकलकर सिंह, सूकर इत्यादि हुआ, इस प्रकार संसारचक्र चलता रहता है, किन्तु निर्विकारी-अनन्त सुखमूर्ति आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी अपूर्व बात जीव ने कभी नहीं सुनी।

(५) **भावपरावर्तन**—जीव ने अनन्त प्रकार के शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव किये, प्रत्येक क्षण में अरबों रुपयों के दान देने का शुभभाव किया, तो कभी तीव्र मूर्च्छा से महापाप बाँधकर नरक में जाने का भाव किया। शुभाशुभभाव के द्वारा निरन्तर परिभ्रमण किया। ऐसा परिभ्रमण अनादि से चल रहा है; किन्तु सम्यग्ज्ञान के द्वारा कभी भी दोनों के बीच भेद नहीं कर सका। 'मैं ज्ञानज्योति, चिदानन्द, पर से भिन्न हूँ' ऐसा भेदज्ञान हो जाये तो फिर मोक्षदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहे। जीव ने यथार्थ आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरे सब कार्य अनन्त बार किये हैं। शरीर पर कांटे रखकर उसे जला डाला तो भी क्रोध नहीं किया,

छह महीने के उपवास किये, और पारणा में मात्र एक चावल खाकर फिर छह महिनों के उपवास किये, अज्ञान से उत्कृष्ट पुण्यभाव करके नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु पुण्य-पापरहित आत्मस्वभाव को नहीं जाना, इसलिए एक भी भव कम नहीं हुआ।

शुभ-अशुभभाव के असंख्य प्रकार हैं, उनमें मिथ्यादृष्टि के द्वारा होनेवाला ऊँचे से ऊँचा पुण्य और घोर से घोर पाप प्रत्येक जीव ने अनन्त बार किया है।

नववें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के व्यवहार से श्रद्धा-ज्ञान और शुभ-प्रवृत्ति होती है। बाह्य से नग्न-दिगम्बर मुनित्व होता है, पंच महाव्रत का पालन सावधानीपूर्वक होता है, किन्तु अन्तरंग में 'मैं पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ, किसी का मुझे आश्रय नहीं है।' ऐसी स्वावलम्बी तत्त्वश्रद्धा नहीं हुई, इसलिए भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भावरूप अनन्त परावर्तनों के कारण निरन्तर भ्रमण करके जीव ने परमार्थ से पर से पृथक्त्व की और स्व में एकत्व की बात कभी नहीं सुनी। पुण्य-पाप के बन्धन में रहने की टेव पड़ गयी है, इसलिए पर से पृथक्त्व की बात नहीं रुचती। मोहरूपी महाभूत ने सबको वश कर रखा है और वह लोगों से बैल की तरह भारवहन कराता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व गुणस्थान है। हम पर का कुछ कर सकते हैं, ऐसी मान्यता से कोई अज्ञानी इन्कार नहीं कर सकता। पुण्य से धर्म होता है अर्थात् विकार से आत्मगुण प्रगट होता है—ऐसी विपरीत मान्यता ने अज्ञानी जीवों को वश में कर रखा है।

जिसे सच्ची समझ होती है, वह तृष्णा को कम किये बिना नहीं रहता। अशुभभाव कम करने के लिये गृहस्थ के शुभभाव की वृत्ति होती है, किन्तु पुण्य-पापादि से आत्मा को भिन्न माने बिना जो अल्प पुण्य बँधता है, उसका स्वामित्व मानकर कभी तो देवभव पाता है और फिर पशु तथा एकेन्द्रिय में जाता है।

पर मेरे आधीन हैं, पर मेरे हैं, मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर दे, मैं संसार में अपनी प्रतिष्ठा से बड़ा होऊँ, पुण्य में बढ़ूँ; ऐसी भावना अज्ञानी जीव करता है। कोई नामधारी साधु होकर लोक में बड़प्पन लेना चाहता है, किन्तु वह देहादि से भिन्न निर्विकल्प, ज्ञानमूर्ति आत्मा को नहीं जानता। वह धर्म के नाम पर विकथा कहनेवाला, अनन्त ज्ञानी-वीतरागी भगवान का द्रोही है।

अज्ञानी जीव मोह के वशीभूत होकर पुण्य-पापरूपी भारी बोझ उठाकर अनन्त भव में भ्रमण करता रहता है, अनन्त काल तक भ्रमण करके किसी समय मनुष्य हुआ तो भी सत्य के लिये प्रयत्न नहीं करता। सांसारिक कार्यों को तो समय-विभाग बनाता है, सोने का, खाने-पीने का और बातें करने का समय निकालता है, जगत की मान-मर्यादा के लिये सब कुछ करता है, किन्तु ऐसा विचार तक नहीं करता कि अनन्त जन्म-मरण को दूर करने का सुयोग फिर नहीं मिलेगा, इसलिए शीघ्र ही आत्मकल्याण कर लूँ। मिथ्यात्व के अहंकारभाव को वहन करनेवाले को बैल के समान कहा है। क्योंकि वह स्वयं वर्तमान में बैल के समान भावों का सेवन कर रहा है।

संसार का सयान परिभ्रमण करने के लिये है। अधिक कपट-चालाकी से संसार भले ही चला ले, किन्तु मरण के समय उसका लेखा-जोखा मालूम होगा। जैसे कोई बढ़ई चोरों के साथ चोरी करने गया, उसने सोचा कि चोरी तो करनी ही है, किन्तु साथ ही अपनी कारीगरी भी बताता जाऊँ, यह सोचकर उसने दरवाजे को कलापूर्वक काटा, उसमें कंगूरे बना दिये और फिर घुसने के लिये भीतर पैर रखा कि भीतर से मकान मालिक ने और बाहर से चोरों ने उसे खींचना शुरू किया। इस प्रकार अपने द्वारा की गयी कारीगरी उसे स्वयं दुखदाई हो गयी; और उसका सारा शरीर छिल गया। इसी प्रकार संसार के सयान की कपट की कारीगरी अपने को ही हानि पहुँचाती है।

निज को भूलकर परवस्तु का मोह किया, उसमें से तृष्णारूपी रोग निकल पड़ा, अब वह बाहर परेशान होता है और सुख को ढूँढ़ता है। परपदार्थ अनन्त हैं, अनन्त परपदार्थों के साथ राग करने पर कहीं समाधान नहीं मिलता, इसलिए आकुलता होती है। स्वयं सुखस्वरूप है, उसमें अन्तर्लीन हो जाने का विचार नहीं करता, इसलिए संसार में अनादि से परिभ्रमण कर रहा है।

पुण्य-पाप कैसे होता है, यह बात जीव ने अनन्त बार सुनी है, किन्तु मैं देहादि से पुण्य-पाप से भिन्न परावलम्बन रहित हूँ, ऐसे भिन्न आत्मा के शुद्ध स्वरूप की बात पहले से श्रवण नहीं की। अज्ञानरूपी भूल जीव को अनादि से लगी होने से बैल की भाँति भार ढोता है। स्वयं ही मोह के द्वारा तृष्णारूपी आकुलता का भार ढोता है और तीव्र राग-द्वेष से पीड़ित होता है। पर में ममत्व छोड़ने के बाद जो अल्प राग रहता है वह मुख्य बन्धन

नहीं है। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, उसको भूलकर स्वयं मोह में लग जाता है। जड़कर्म आत्मा को भूल नहीं कराते।

पुण्य करो! पुण्य करो! पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा! यह बात त्रिकाल में मिथ्या है। पुण्य विकार है, इसलिए बन्धन है, उससे धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पापरहित आत्मा से है। उसकी पहले श्रद्धा करने के लिये भी पुण्य सहायक नहीं होता। जो पुण्य-पापरहित स्वभाव है, सो धर्म है। यह सुनकर कितने ही लोगों को ऐसा लगता है कि अरे! यह तो पुण्य का भी निषेध करते हैं। किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि पुण्य के बिना आत्मा से ही धर्म होता है; उन्होंने ऐसी बात न तो कभी सुनी है और न उन्हें रुचती है। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है, ऐसा माननेवाला ज्ञानी जितनी तृष्णा दूर करेगा उतनी अज्ञानी दूर नहीं कर सकता। कायक्लेश से आत्मधर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा का सहज स्वरूप है, उसमें जो स्थिरता है, सो क्रिया है। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता ही ज्ञान की आन्तरिक क्रिया है।

लोगों ने बाह्य में धर्म माना है; उपदेशक भी वैसे ही मिल जाते हैं। पुण्य बाँधकर देवलोक में जाऊँगा, वहाँ सुख भोगूँगा और भगवान के पास जाकर धर्म सुनूँगा, इत्यादि विकल्प करता है, किन्तु वह स्वयं भगवान है, पर से भिन्न है, निरावलम्बी है, ऐसे अपने स्वतन्त्र स्वभाव को नहीं मानता, तब फिर वह भगवान के पास क्यों जायेगा? और कदाचित् गया भी तो वहाँ क्या सुनेगा?

निरपेक्ष आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना जीव मोह में लगे हुए हैं और संसार का भार ढोते हैं। भले ही त्यागी नामधारी हो, साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किन्तु जिसकी दृष्टि शरीर पर है, वह देहक्रिया अपनी मानकर पुण्य-पाप का भार ढोकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। कोई माने या न माने, किन्तु सत्य तो कहना ही पड़ता है, सत्य को छिपाया नहीं जा सकता।

आत्मा पूर्ण-निर्मल है, उसमें रमण करूँ, ऐसा न मानकर बाह्य में कुछ करूँ तो ठीक, ऐसे पर के कर्ता-भोक्तापने का भाव करता है, इसका मूल कारण मोह है। मोह अर्थात् स्वरूप में असावधानी और पर में सावधानी। मेरा स्वरूप राग-द्वेष की क्रिया से रहित है, ऐसी प्रतीति न होना सो मोह है। इसी कारण से पर में रमणता करता है। पर की जो कर्तृत्वबुद्धि है, सो पर में सावधानी है।

जीव को मोह से उत्पन्न तृष्णारूपी रोग हुआ है, उसकी दाह से व्याकुल होकर विषयों की ओर ऐसे दौड़ता है जैसे मृग, मृगजल की ओर दौड़ता है। भगवान आत्मा शान्तरसवाला है; उसे भूलकर बाह्य प्रवृत्ति के द्वारा सुख माननेवाले को आकुलता के कारण आन्तरिक आत्मतत्त्व को देखने का धैर्य नहीं है। असन्तोषरूपी अग्नि अन्तरंग में सुलग रही है। मैंने इसका काम किया, इतनों को सहायता दी, मुझे इसकी सहायता मिले तो ठीक हो, यदि ऐसे साधन मिलें तो बहुतों का भला कर दूँ, इस प्रकार आकुलता किया ही करता है। कोई जीव किसी दूसरे का कुछ भी करने के लिये तीन काल में समर्थ नहीं है। भाग्यानुसार बाह्य के कार्य हुआ करते हैं, यह बात नहीं विचारता। किसी की ओर से सहायता मिलने का किसी के पुण्योदय हो और उसका सहायता देने का शुभभाव हो, ऐसा मेल कभी-कभी दिखायी देता है; किन्तु इसलिए मैंने पर का उपचार या कार्य किया ऐसा मानना सो अभिमान है। यदि कोई कहे कि मैंने इतनों को समझा दिया, तोा क्या वह सच है ? समझने की अवस्था स्व से होती है या पर से ? तब फिर यदि कोई माने कि मैंने पर की ऐसी निन्दा की सो उसका अहित हुआ, प्रशंसा की सो भला हुआ, मुझसे पूछो, मुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करो, मेरा आशीर्वाद माँगो, हम व्यवहारकुशल हैं, मैं ऐसा समाधान करा दूँ और उसका विरोध करा दूँ; बहुतों की सेवा करने से उनका आशीर्वाद मिलता है, इसलिए लाभ होता है, इत्यादि मान्यता त्रिकाल मिथ्या है। किसी के आशीर्वाद से किसी का भला नहीं होता, और किसी के श्राप से किसी का बुरा भी नहीं होता। इस प्रकार लौकिक की बात में पद-पद पर अन्तर है। इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग पाप के बिना नहीं होता, और इष्ट-संयोग पुण्य के बिना नहीं होता। अपने किये गये राग-द्वेष-अज्ञान से बन्ध होता है, और राग-द्वेष-अज्ञानरहित भाव से मुक्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक जीव स्वतन्त्ररूप से अपने भाव से बन्ध और अपने भाव से मोक्षदशा को प्राप्त करता है।

पर से सुख की इच्छा करनेवाला सदा पराधीन बना रहता है। उसके अन्तरंग में तृष्णा के दाहरूपी रोग की पीड़ा रहती है। बाहर से कदाचित् करोड़ों रुपयों का संयोग दिखायी दे, तो भी वह अंतरंग से दु:खी है। अज्ञानी भले ही बाहर से त्यागी, साधु जैसा दिखायी दे तथापि वह अंतरंग में मोह से आकुलित होता है। कौन प्रशंसा करता है, कौन निन्दा करता है, ऐसी दृष्टि होने से वह अपने शान्तसुख को भूलकर आकुलता का भोग किया करता है।

पर के प्रति लक्ष्य करके उसमें इष्ट-अनिष्ट भाव करना सो विषय है। अज्ञानी ऐसे परवृत्तिरूप विषयों में लगकर सदा व्याकुल रहता है। दूसरे के ऊपर दबाब न रखें, फटाटोप न करें, तो सभी छोटे-बड़े सिर पर चढ़ आयें; दो दिन कठोर रहकर तीक्ष्ण वचन कहे तो सब सीधे रास्ते पर आ गये; स्त्री-पुत्रादि ठीक हो गये; इत्यादि मिथ्या-मान्यता का सेवन करता है। पुण्य के कारण कदाचित् इच्छानुसार होता हुआ दिखायी दे तो सत्ताप्रियता को पुष्ट करता है। नौकरों के प्रति ऐसा किया जाये और वैसा किया जाये तो बराबर चलें, ऐसा मानता है। किन्तु हे भाई! पर का काम तेरे आधीन नहीं है, और तेरे काम पर के आधीन नहीं हैं।

मुझसे लाखों जीवों ने धर्मलाभ प्राप्त किया है, ऐसा माननेवाला तृष्णा में जल रहा है। दूसरा समझे या न समझे, उसका लाभ-अलाभ किसी दूसरे को नहीं होता, अपना लाभ-अलाभ अपने से ही होता है। ऐसी स्वतन्त्रता की जिसे खबर नहीं है वह पर से सन्तोष लेना चाहता है। पर जीव समझे तो ही मेरा उद्धार हो, ऐसा नियम हो तो समझ सके, ऐसा दूसरे जीवों को ढूँढ़ने के लिये रुकना पड़े। मुझसे कोई नहीं समझा अथवा बहुत से लोग समझ गये, ऐसी मान्यता मोह-रूपी भूल है। श्रोता समझे या न समझे अथवा विपरीत समझे तो उसका फल वक्ता को नहीं है। पर से किसी को लाभ-हानि नहीं होती। यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है कि यदि बहुतों की सेवा करूँगा तो तरे जाऊँगा। 'जनसेवा ही प्रभु सेवा है' यह मान्यता भी मिथ्या है। हजारों दीपकों का प्रकाश एक घर में इकट्ठा हुआ हो तो किसी एक दीप का प्रकाश किसी दूसरे में मिल नहीं जाता, इसी प्रकार किसी जीव के भाव में दूसरे का भाव मिल नहीं जाता।

यदि कोई माने कि मुझसे बहुत से लोग समझें तो मुझे पाथेय प्राप्त हो जाये; किन्तु यह मान्यता भ्रम मात्र है। यदि कोई न समझे तो अपने को रुकना नहीं पड़ता।

अज्ञानी जीव का अनादि से पर के ऊपर लक्ष्य है, इसलिए यह मानकर या मनवाकर कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पराधीनता को अंगीकार करता और करवाता है। साधु नाम धारण करके दूसरों को बन्धन की प्रवृत्ति बताता है। 'करूँगा तो पाऊँगा' जवानी में कमा लें, फिर वृद्धावस्था में शान्ति से धर्म करेंगे, इस प्रकार बहुत से लोग मानते और मनवाते हैं। बाहर का मिलना न मिलना तो पूर्व प्रारब्ध के आधीन है। 'अधिक पुण्य

करने से बड़े होते हैं' ऐसा तृष्णा-मोह बढ़ाने का उपदेश बहुत जगह सुनने को मिलता है। पर के द्वारा अरूपी आत्मा की महत्ता का गुण गानेवाले सर्वत्र पाये जाते हैं। 'यदि पर का कुछ नहीं करें, और जहाँ-तहाँ आत्मा ही आत्मा करते फिरें तो बड़े स्वार्थी कहलायेंगे,' ऐसा माननेवाले लोग जगत् के प्रत्येक द्रव्य के स्वतन्त्र स्वभाव को भूल जाते हैं। कोई किसी का कुछ कर नहीं सकता। बाहर का जो होना होता है वैसा ही उस उस वस्तु के कारण से होता है। यह बात सुनने को नहीं मिलती, इसलिए समझने में मेल नहीं बैठता। दूसरे को लाभ कर दें, ऐसी अभिमान भरी बातें होती रहती हैं, किन्तु आन्तरिक तत्त्व पृथक् है, उसे कौन याद करे ? जिस बात का परिचय होता है, उसके प्रति प्रेम बताता है, इसलिए काम-भोग की कथा जहाँ-तहाँ सुलभ हो गयी है; किन्तु आत्मा की स्पष्ट भिन्नता और स्वतन्त्र एकत्व की बात दुर्लभ हो गयी है। मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित, पर के आश्रय रहित, पुण्य-पाप से रहित, विकल्प वृत्ति से निराला, सदा प्रगटरूप से अन्तरंग में प्रकाशमान, ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा भेदज्ञानज्योति से निर्णय करना चाहिए।

अपने अखण्ड चिदानन्द ध्रुवस्वभाव का जो आश्रय है सो कारण है, और आत्मा स्पष्ट निराला अनुभव में आता है, सो उसका फल है। इस प्रकार साधन-साध्यता आत्मा में ही है।

अनन्त गुणों का पिण्ड, सदा चैतन्यज्योति आत्मा प्रगट है, प्रकाशमान है। पाप -पुण्य रागादि से आत्मा भिन्न है, तथापि कषाय के साथ एकमेक सा मानता है; (कषाय -क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप। जो क्रोध-मान है सो द्वेषभाव है और माया-लोभ रागभाव है। राग में पुण्य-पाप दोनों हैं।) बन्ध-मोक्ष ये दो अवस्थाएँ कर्म के निमित्त की अपेक्षा से हैं। शक्ति-व्यक्ति के भेद को गौण करके देखने पर सदा एकरूप, निर्मल, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा है, किन्तु पराधीनदृष्टि से वह स्वरूप ढक जाता है। पर के साथ मेरा सम्बन्ध है, उस (कर्तृत्व) को पूरा करना चाहिए, ऐसा कहकर चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण किया। स्वभाव से निर्मल, त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्मा को नहीं जाना, इसलिए सर्वज्ञ-तीर्थंकर भगवान के पास अनन्त बार जाने पर भी पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं पर का आश्रयवाला हूँ, ऐसे पराधीन भाव की पकड़ होने से केवलज्ञानी भगवान के पास से भी कोरा का कोरा यों ही लौट आया। विष्टा में रहनेवाले भौंरे को देखकर गुलाब के फूलों

में रहनेवाले भौंरे ने उससे कहा कि 'तू तो मेरी जाति का है, गुलाब की सुगन्ध लेने के लिए मेरे पास आ!' विष्टा का वह भौंरा विष्टा की दो गोलियाँ अपनी नामक में लेकर गुलाब के फूल पर जा बैठा। गुलाब के भौंरे ने पूछा कि 'कैसी सुगन्ध आती है?' उसने उत्तर दिया, 'जैसी वहाँ आती थी वैसी ही यहाँ आती है।' गुलाब के भौंरे ने विचार किया कि ऐसा क्यों होता होगा? और फिर उसने उसकी नाक में देखा तो उसमें विष्टा की दो गोलियाँ मिलीं, उसने वे निकलवा दीं; तब उसी समय उस विष्टा के भौंरे ने कहा कि 'अहो! ऐसी सुगन्ध तो मुझे कभी नहीं मिली थी!' इसी प्रकार संसार में अनादि से परिभ्रमण करता हुआ जीव पुण्य-पाप की पकड़रूप दो गोलियाँ लेकर कभी ज्ञानी के पास तीर्थंकर भगवान के पास धर्म सुनने के लिये जाता है, तो भी पूर्व की मिथ्या वासना से जो माना हुआ है वैसा ही देखता है, किन्तु यदि एक बार बाह्यदृष्टि का आग्रह छोड़ सरलता रखकर ज्ञानी का उपदेश सुने तो शुद्ध-निर्मलदशा को प्राप्त हो जाये।

पारसमणि अरु संत में, बड़ो आँतरौ जान।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान॥

यदि एक बार सच्चे भाव से धर्मात्मा का साथ करे तो अपनी पूर्ण शक्ति को मानकर उसमें स्थिर होकर वैसा ही स्वयं हुए बिना न रहे। जीव को केवल अन्तरंग मोक्षमार्ग में रहनेवाले ज्ञानी-धर्मात्मा मिले तब भी उनकी संगति सेवा नहीं की। स्वतन्त्र-निर्दोष तत्त्व के सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं, ऐसा भाव अन्तरंग में समझकर उस भाव को स्वीकार करना सो सत् की सेवा है, किन्तु अपनी पूर्वगृहीत मान्यता को पकड़े रखकर सुने तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का स्वाद अनुभव में नहीं आता। कोई कहता है कि 'सारे दिन आत्मा की ही बात करते हो यहाँ दूसरी तो कोई बात ही नहीं है, जानने के बाद कुछ करना भी तो होगा?' उससे ज्ञानी कहते हैं कि कि 'भाई! पहले निश्चय तो कर कि तू क्या कर सकता है? यह समझने के बाद प्रश्न ही नहीं होता।'

क्या कभी असत् की मान्यता से सत् का फल मिलता है? ज्ञानी-धर्मात्मा की संगति भी नहीं की, ऐसा कहकर सत्समागम पर भार दिया है। निर्दोष सत्रूप स्वयं होकर यदि सत् की समझे तो ज्ञानी पुरुष को निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसने ज्ञानी की वाणी और देह को ही सत्समागम समझा है, उसने अचेतन का साथ किया है। उसने आत्मज्ञान

को प्राप्त लोगों की संगति भी नहीं की, अर्थात् उनके कहे हुए भाव को नहीं समझा है। जैसे पिता को उसके नाम से माने, उसके नाम की माला फेरे, किन्तु पिता की आज्ञा न माने, पिता के विरोधी का आदर करे तो वह सुपुत्र नहीं कहलाता। इसी प्रकार सर्वज्ञ वीतराग को नाम से माने, उनके नाम की माला फेरे, किन्तु उनकी आज्ञा क्या है, वे परमार्थत: क्या कहते हैं, इसे न समझे और वीतरागता के विरोधी पुण्य-पाप का आदर करे, तो वह वीतरागता का अनुभवी नहीं कहलाता। आत्मा का यथार्थ निश्चय करके सत्य को नहीं समझा, इसलिए अनन्त भव धारण किये, वे सब व्यर्थ गये। आत्मभाव से जीव ने एक भी भव नहीं बिताया। अनन्त काल से अज्ञान होने के कारण परम महिमावान् अपना स्वरूप क्या है, यह कभी नहीं सुना, इसलिए स्वयं अज्ञानी बना रहा।

'आत्मा पर से भिन्न है' ऐसा बहुत से लोग कहते हैं, किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप नहीं समझते, समझने के लिये विशेष परिचय और धीरज चाहिए। एक बार सुनकर उसमें से कोई शब्द धारण करके मानता है कि मैंने आत्मा को जान लिया है, किन्तु इस प्रकार यों ही आत्मा नहीं जाना जाता। कोई कहता है कि 'मैंने पन्द्रह दिन में समयसार पढ़ लिया है,' किन्तु इस प्रकार पृष्ठ या अक्षर पढ़ लेने से वह समझ में नहीं आ जाता। क्या यह कोई उपन्यास है ? यदि उपन्यास या कहानी हो तो उसे भी बहुत दिन तक पढ़ता है।

आत्मा का भिन्न अनुभव जीव ने नहीं किया, इसलिए उसका एकत्व सुलभ नहीं है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति हुई कि उसी समय सब छोड़ देता है। ऐसा सबके लिये नहीं बनता, किन्तु शक्ति के अनुसार क्रमश: राग घटाता है। गृहस्थदशा में होने पर भी अनन्त ज्ञानी-एकावतारी हो जाता है। जो सत्य को ही नहीं समझा वह किसे स्वीकार करेगा, किसे छोड़ेगा, और किसमें स्थिर होगा ?

भावार्थ:—इस संसार में परिभ्रमण करनेवाला जीव पंच परावर्तनरूप चक्र में पड़कर, मोह से पागल होकर 'पुण्य-पाप मेरे हैं' ऐसी विपरीत मान्यतारूपी जुए में जुत जाता है, इसलिए वह उन *विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होता है, और काम-भोगरूपी विषयों की ओर दौड़ता है; तथा जो-जो उपाय करता है, उन सभी उपायों से आकुलता ही भोगता है; प्रवृत्ति से दोष दूर करने की इच्छा करता है। पर के ऊपर लक्ष्य

* आत्मा का लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करना और उसमें इष्ट-अनिष्टरूप वृत्ति करना सो विषय है।

करना सो विषय है। स्व-स्वामित्व का उपदेश विरले जीव ही करते हैं। आत्मा निराकुल आनन्दमूर्ति है, उसमें स्व-लक्ष्य से स्थिर होना ही आकुलता को दूर करने का सच्चा उपाय है। परावलम्बनरहित शुद्ध दर्शन, ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप आत्मभाव स्व-विषय है, पुण्य-पाप की प्रवृत्ति का भाव पर-विषय है। आत्मा की बात यथार्थरूप से आज तक कभी नहीं सुनी और जिन्हें आत्मज्ञान है ऐसे धर्मात्मा की सेवा भी नहीं की।

किसी ने ऐसा सुना कि जवाहरात का व्यापार करने से अधिक लाभ होता है, किन्तु क्या ऐसा सुनने या कहनेमात्र से लाभ हो सकता है? जैसे परीक्षकबुद्धि के बिना वह व्यवसाय नहीं आता, उसी प्रकार आत्मा से विरुद्ध क्या है और अविरुद्ध क्या है, ऐसा भेदज्ञान न हो तो क्या लाभ है?

इस काल में सच्ची बात का सुनना भी दुर्लभ है। आत्मस्वभाव मन, वाणी और शरीर से परे है। मैं पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, आत्मा जानने के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं कर सकता। आत्मा या तो अज्ञानसहित राग-द्वेष करता है अथवा सम्यग्ज्ञानसहित स्वरूप में एकाग्र रहकर राग-द्वेष दूर करता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कार्य ही नहीं कर सकता।

तू अज्ञानता से पर में अच्छा-बुरा भाव कर रहा है। 'ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर नहीं सकते,' शास्त्रों में जो यह कहा है, उसके भाव को तू नहीं समझता, इसलिए तू देव, शास्त्र, गुरु का विरोध करता है, और उसमें धर्मभाव मानता है। सत्य के समझने में यदि समय भी लगे तो उसमें कोई हानि नहीं, किन्तु समझने में देर लगेगी, इसलिए अयथार्थ को मान लेने से काम नहीं चलेगा। जैसे दरजी को कपड़े का थान देकर जो कपड़ा बनवाना होता है, उसके बारे में उसे समझाया जाता है। किन्तु यदि दरजी कहे कि 'मुझे समझना नहीं है, लाओ जल्दी कतर डालूँ' और ऐसा कहकर बिना समझे ही कपड़े-को कतर डाले तो हानि हो जाये; किन्तु यदि धीरज रखकर सुने तो उसमें जितना समय जाता है, वह भी जिस प्रकार का कपड़ा बनाना है, उस कार्य के प्रारम्भ में जाता है। कैसा कपड़ा है, कैसा नाप लेना है, और क्या बनवाना है, यदि इसका सभी ब्योरा समझने का धैर्य रखे तो ही वह सफल होता है। इसी प्रकार पर से भिन्न स्वाधीनस्वरूप कैसा है, पुण्य-पाप का बन्ध किस प्रकार होता है, इत्यादि सुनने-समझने का धीरज हो तो यह प्रारम्भ का कार्य कर चुकने से यथार्थ के समझने में सफल होगा और क्रमशः वीतराग हो जायेगा।

जैसे कोई कहे कि उल्टा ही कतर-व्योंत क्यों नहीं कर डालते, ग्राहक की बात को सुनने-समझने की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार बहुत से लोग कहा करते हैं कि 'समझने-समझाने का क्या काम है ? प्रारम्भ कर दो ! क्रिया करेंगे तो सफल होंगे, समझने के लिये कब तक लगे रहें' ! ऐसा मानकर क्रियाकाण्ड में लगा रहा तो ज्ञानी का अन्तरंग आशय क्या है वह नहीं समझा जा सकता, और बिना समझे भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। इस प्रकार समझ को प्राप्त करने की दुर्लभता बतायी गयी है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अब मैं अपने आन्तरिक वैभव से आत्मा का एकत्व दर्शाता हूँ, इसलिए उस अपूर्व समझ से निश्चय करने के लिये उसे अनेक पहलुओं से समझना होगा, वह ऊपरी बातों से नहीं समझा जा सकता। कोई कहता है कि हमें तो सभी समान लगते हैं। किन्तु जैसे तालाब के समतल को देखने से ऐसा लगता है कि किनारे का और मध्य का पानी एक सा है, किन्तु पानी की गहराई नापने के लिये बाँस को लेकर अन्दर उतरे तो कहाँ कितना गहरा है यह मालूम हो जाता है; इसी प्रकार आत्मा की कई बातें मात्र शब्द से सुनने पर उनका अपनी मान्यता के साथ कुछ सादृश्य सा लगता है और कहता है कि मैंने आत्मा को जान लिया। किन्तु मन और इन्द्रियों से परे अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण आत्मा का सामान्य-विशेष स्वभाव क्या है, इत्यादि का विचार करके ज्ञान के प्रमाण से माप करे तो उसकी गहराई और उसका भेद ज्ञात हो जाता है।

आचार्यदेव प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि समयसार समस्त पदार्थों को यथार्थरूप में बतलाता है; जो इसे समझता है, उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। आत्मा पर से सर्वथा भिन्न, पूर्ण-स्वतन्त्र और कृर्तत्व-भोक्तृत्व से रहित है। इस प्रकार अनेक तरह से गहराई की महिमा और उसका अभ्यास करने के बाद जो उस प्रकार की तैयारी करता है, उसे यथार्थ बात अवश्य समझ में आ जाती है। समयसार की ४१५ गाथाओं को भलीभाँति समझ ले तो आत्मा का स्वभाव जिस प्रकार से समझाया गया है, वह ध्यान में आ जाये। पर से भिन्नत्व और निज से एकत्व कैसे है, इसका भेद करके वस्तुस्थिति कही गयी है, जो कि स्पष्ट समझी जा सकती है। अंटसंट लिखकर चाहे जिस उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति का अंगूठा लगवा लेने की बात यहाँ नहीं है, किन्तु साक्षात् सर्वज्ञ के कहे हुए आगम के प्रमाण से गुरुपरम्परा के उपदेश से, अबाधित न्याय की युक्ति से तथा अपने स्वानुभव के बल से जैसा का तैसा कहा गया है। इस प्रकार आचार्यदेव इस बात को प्रमाणित करते हैं।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।५।।

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम्।।५।।

अर्थः—उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं उसे दिखाऊँ तो प्रमाण करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

यह महामन्त्र है। जैसे कोई सर्प किसी को काटकर बिल में चला गया हो तो मन्त्र का ज्ञाता मन्त्र पढ़-पढ़कर उसके पास बिल में भेजता है, और इस प्रकार वह सर्प को बाहर निकालता है। यदि उसका (जिसे सर्प ने काटा) पुण्य हो तो सर्प आकर विष चूस लेता है; इसी प्रकार भगवान तीर्थंकर की दिव्यवाणी खिरी, उसमें से श्रीकुन्दकुन्दाचार्य समयसार की रचना करके अज्ञानान्धकार में सोये हुए जीव को-जिन्हें पर में कर्तृत्वरूप ममता के मोहरूपी सर्प का विष चढ़ा हुआ है, उन्हें अमृतसंजीवनीरूप न्याय-वचनों से मन्त्रित गाथाएँ सुनाकर संसार की गुफा में बाहर से निकालकर उनका विष उतारकर दूर कर देते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।' यहाँ पर 'दाएहं' अर्थात् दिखाता हूँ, ऐसी ध्वनि है कि मैंने उसे दिखाने का निर्णय किया है, एकत्व -विभक्त आत्मा के स्वरूप को दर्शाने का (बतलाने का) संकल्प किया है।

'दाएहं' यह प्रथम शब्द आचार्यदेव के उपादान के बल को बतलाता है।

और फिर 'जदि दाएज्ज' अर्थात् 'यदि दिखाऊँ तो,' इसमें आचार्यदेव अपनी आत्मा की अवस्था को और जिसके द्वारा दिखाते हैं उस वाणी की अवस्था को-दोनों को स्वतन्त्र रखते हैं - भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। इसी प्रकार 'जदि दाएज्ज' (यदि दिखाऊँ तो) इस शब्द में निमित्त की अपेक्षा है। स्वरूप को कहने का जो उत्साह है सो उपादान है, और वाणी का जो योग है, सो निमित्त है। इस प्रकार दोनों के मेल से युक्त शास्त्र अखण्डरूप में अद्भुत रीति से पूर्ण हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना स्वीकार करना। मैं जो

कहूँगा वह अपने आत्मा के निज-वैभव से कहूँगा, स्वात्मानुभव से कहूँगा; एकत्व-विभक्त आत्मा को स्वानुभव से दिखाऊँगा, इसलिए हे श्रोताओ! उसे तुम भी स्वानुभव से प्रमाण ही करना।

आचार्यदेव आदेश करते हैं कि 'तुम उसे प्रमाण ही करना, ऐसा कहने में कारण यह है कि मैं जिस भाव से चल रहा हूँ उस भाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ, उसमें मुझे बीच में कोई विघ्न नहीं दिखायी देता, मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूँ, एक-दो भव में पूर्ण हो जानेवाला हूँ, ऐसा अप्रतिहतभाव है। इसी प्रकार यदि तुम भी प्रमाण करोगे तो मेरे जैसे ही हो जाओगे। निमित्त और उपादान एक जाति के हो जायेंगे-उनमें भेद नहीं रहेगा।

आचार्यदेव के अन्तरंग में अप्रतिहतभाव प्रगट हुआ है, और वाणी के द्वारा भी जो कहना चाहा था वह अप्रतिहतरूप से पूर्ण हुआ है। उपादान-निमित्त का एक-सा अपूर्व मेल हो गया है, ऐसे किसी महान योग से शास्त्र रचा गया है।

अपने वैभव की निर्भयता से और नि:शंकता से आत्मा के एकत्व-विभक्तपन को बतलाते हैं। एकत्व शब्द स्व से अस्तित्व और विभक्त शब्द पर से नास्तित्व को सूचित करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि —

मैं स्वयं उत्तरदायित्व के साथ कहूँगा, स्वयं देखभाल कर अपूर्व आत्मा की बात निज-वैभव से कहूँगा, इस प्रकार निज अनुभव से वे कहते हैं, फिर विनय से कहेंगे कि तीर्थंकर भगवान ने ऐसा कहा है। किन्तु यहाँ तो सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखकर प्रसिद्ध करते हैं, इसलिए जो कहेंगे वह कहीं इधर-उधर से ले लिया है ऐसा नहीं है, किन्तु वे निज-वैभव से, स्वानुभव से आत्मा का अपूर्व धर्म कहते हैं।

अन्तरंग में अखण्ड ज्ञान-शान्तिस्वरूप पूर्ण आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और आन्तरिक रमणता का जो आनन्द है सो निज-वैभव है; उसके द्वारा दिखता हूँ। वाणी में आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने का भाव है, साथ ही उपादान का बल है। जो विकल्प उठा, उसके अनुसार उसका शास्त्र में वाणी से पूर्ण होने का योग महाभाग्य से मिलता है।

जो भाव सर्वज्ञ का है, उस भाव को लक्ष्य में लेकर पीछे न हटें, ऐसे भाव को लेकर यहाँ अप्रतिहतभाव बताया है। यदि कहीं शब्द-रचना में भूल हो तो दोष ग्रहण नहीं करना। शब्द में कोई व्याकरण आदि की भूल कदाचित् हो, किन्तु आत्मा के प्रमाण की बात तो

यथार्थ ही कही जायेगी। शास्त्र-रचना में अक्षर, मात्रा, व्याकरण, अलंकार आदि आते हैं, उन पर भार नहीं है, किन्तु जो परमार्थस्वरूप एकत्व का कथन करना है, उसमें कहीं भूल नहीं है, इसलिए शब्द की भूल मत ढूँढ़ना। गाय के जहाँ मांस निकला हो वहीं कौवा बैठता है; उसी प्रकार दुर्जन की भाँति दोष देखने की दृष्टि ग्रहण नहीं करना। सज्जन पुरुषों को दोष ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु मैं जो शुद्ध आत्मा का अनुभव कहना चाहता हूँ, उसे अन्तरंग में मिला लेना। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं केवली नहीं, छद्मस्थ हूँ; हाँ केवलज्ञान प्राप्त करने का मेरा आन्तरिक अनुभव प्रगट हुआ है, इसलिए अबाधितरूप से कहने को उद्यत हुआ हूँ।

टीका:—जो कुछ मेरे आत्मा का निज-वैभव है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अन्तरंग में रमणतारूप चारित्रदशा है। उस प्रगट समृद्धि के समस्त सामर्थ्य से मैं इस स्व से एकत्वभूत और पर से पृथक् आत्मा को दिखाऊँगा। जैसे किसी के यहाँ विवाह हो तब वह घर की सारी सम्पत्ति बाहर निकालता है, उसी प्रकार यहाँ पंचम काल है, हम छद्मस्थ हैं, फिर भी हमने आत्मऋद्धि प्राप्त की है, और पूर्ण ज्ञानी जो कह गये वही जगत के सामने स्वानुभव के द्वारा कहते हैं। जितना हमें अन्तरज्ञान वैभव प्रगट हुआ है उस सबसे, आत्मानुभवरूप श्रद्धा के पूर्ण बल से इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा।

वाणी तो पर है, वाणी, वाणी में परिणमन करती है, वाणी का परिणमन होना या न होना उसकी योग्यता पर अवलम्बित है, फिर भी यहाँ तो आत्मा के स्वरूप को कहने की जो उमंग है सो उपादान, और वाणी का योग निमित्त है; इस प्रकार उपादान-निमित्त दोनों का मेल बैठने पर यह ग्रन्थ अलौकिक रीति से पूर्ण हुआ है। जैसा निर्णय है, वैसा ही उद्यम है।

अब आचार्य अपनी पहिचान कराते हैं:—मेरे आत्मा का 'निज-वैभव' अर्थात् अन्तरंग लक्ष्मीरूप—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप वैभव कैसा है ? इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं के बतानेवाले परमागम-शास्त्र शब्दब्रह्म की उपासना से उसका जन्म है। यहाँ मेरे अन्तरंग का वैभव प्रगट करते समय निर्दोष कारणरूप से बाह्य संयोग कैसा था कि जिसके द्वारा निज-वैभव का जन्म हुआ है ? सो कहते हैं। जो ऐसा निज-वैभव आत्मा में प्रगट करता है, उसके भी ऐसे ही संयोग होते हैं; ऐसा भाव भी इसमें से निकलता है। इस लोक

में समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म है अर्थात् जिससे समस्त वस्तुसम्बन्धी ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा उस सर्वज्ञ की वाणी में सामर्थ्य है। ऐसे परम आगम के सेवन से निज-वैभव का जन्म होता है; उसकी सामर्थ्य से कहेंगे।

''जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां।
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो॥''
जो पद श्री सर्वज्ञ ने, देखा अपने ज्ञान में।
कह न सके वे भी उसे यद्यपि भगवान थे॥ (अपूर्व अवसर)

ऐसा भी कहीं कथन है, वहाँ अचिन्त्य स्वरूप की महिमा के लिये, परमार्थ कथन का गम्भीर आशय समझकर उसे अनुभव में उतारने के लिये वैसा कहा है।

यहाँ तो शब्दब्रह्म समस्त वस्तु को प्रगट करनेवाला है और मैं भी भगवान की वाणी में से आत्मस्वरूप को समझा हूँ, इसलिए क्रम से वाणी द्वारा स्व से अभिन्न और पर से भिन्न ऐसे स्वतन्त्र आत्मस्वरूप का वर्णन करूँगा, वैसा निर्णय प्रसिद्ध करते हैं। यह कितना साहस है, कितनी दृढ़ता! घी के स्वाद का ज्ञान तो होता है, किन्तु वह वाणी द्वारा भलीभाँति नहीं कहा जा सकता; तब यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के न्याय को अन्तरंग में घोलकर पी गया हूँ, इसलिए वाणी के द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहा जायेगा। आत्मा का जो स्वरूप मैं समझा हूँ उसे कहने की सामर्थ्य मुझमें आ गयी है। अब ऐसी बात नहीं है कि वह स्वरूप कहा नहीं जा सकता।

कोई चतुर मनुष्य, सामनेवाले के अभिप्राय में जितनी बात है उसका सारा भाव थोड़े शब्दों में समझ लेता है और दृढ़ता से कहता है कि—'तुम्हारा जो कहना है, वह मैं बराबर समझ गया हूँ' इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में आये हुए भावों को मैं यथार्थरूप से समझा हूँ, इसलिए अपने निज-वैभव से यथार्थ आत्मस्वरूप का वर्णन किया जायेगा। यह तो निमित्त का कथन है। इसमें वास्तव में तो आचार्य अपनी महिमा गाते हैं, क्योंकि परमार्थ से कोई किसी को नहीं समझाता। स्वभाव की दृढ़ता से उपादान में ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योग से वाणी में भी उस स्वरूप को यथार्थ कहने की योग्यता आ गयी है। वाणी के परिणमन में जीव का योग और इच्छा निमित्त है। व्यवहार

से कहा जाता है कि 'जहाँ बलवान उपादान जागा वहाँ ऐसी वाणी आये बिना नहीं रहती।' वास्तव में वाणी का परिणमन स्वतन्त्र है। सर्वज्ञ वीतराग का पुण्ययोग भी उत्कृष्ट होता है, इसलिए उनकी वाणी भी परिपूर्ण होती है, उस वाणी को 'शब्दब्रह्म' कहा है, और उसमें 'स्यात्' पद की मुद्रावाला सिक्का है।

स्यात् = कथंचित् प्रकार से और वाद = कथन कहना अर्थात् द्रव्य के एक धर्म को मुख्य और दूसरे धर्म को गौण करके कहना सो 'स्याद्वाद' है। जैसे कि 'वस्तु नित्य है' ऐसा कहने पर वस्तुस्वभाव से नित्य (अविनाशी) है ऐसा समझना चाहिए। 'वस्तु अनित्य है' ऐसा कहने पर क्षण-क्षण में बदलती हुई अवस्था की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसा समझना चाहिए। वस्तु का एक धर्म मुख्यरूप से कहने पर उसमें दूसरे अनन्त धर्म हैं, यह बात ध्यान से बाहर नहीं होती। जिस अपेक्षा से कहने में आये वह न समझे किन्तु वस्तु में एक ही धर्म है, ऐसा मान लें; वह एकान्तपक्षवाला मिथ्यादृष्टि है। जिस अपेक्षा से नित्यत्व है, उसी अपेक्षा से अनित्यत्व नहीं कहा जाता। त्रैकालिक, स्वतन्त्र द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से आत्मा अविकारी शुद्ध है, तब वर्तमान परिनिमित्ताधीन दृष्टि से अशुद्ध है, ऐसा दोनों अपेक्षावाला कथन जिस प्रकार है, उसी प्रकार यथार्थता से समझना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार से जो-जो कथन जिनेश्वरदेव ने कहा है वह वस्तु के अनेक स्वभाव अनुसार कहा है। उसमें कही गयी अपेक्षा को न समझे और 'आत्मा पूर्ण शुद्ध ही है' ऐसा मान ले तो वर्तमान संसारदशा की अशुद्धता दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और वर्तमान प्रत्येक समयवर्ती पर्यायों की अपेक्षा से अशुद्ध है, इस प्रकार दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ समझ ले तो पूर्ण शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करेगा। सर्वथा निर्दोष कथन सर्वज्ञ वीतराग कथित आगम का ही है।

अरहन्त का परमागम सब वस्तुओं के सामान्य (वचनगोचर) धर्मों का कथन करता है और वचन से अगोचर जो विशेष धर्म हैं, उनका अनुमान कराता है, इस प्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है इसलिए सर्व व्यापी कहलाता है।

सभी मानवों और देवेन्द्रों के द्वारा पूज्य अथवा जिन्हें पवित्र आत्मधर्म प्रगट करना है, उनसे पूज्य वे अरहन्त हैं। वे सदा पूज्य हैं, इसलिए उनकी वाणी का बहुमान होता है। अरहन्त सर्वज्ञ के मुख से निकले हुए परमागम में कथित भाव की उपासना से निज-वैभव

का जन्म हुआ है। वाणी तो जड़ है किन्तु यहाँ पर सर्वज्ञ का गंभीर आशय क्या है, उसके समझने की परमार्थ से उपासना की गयी है, फिर भी जिनवाणी में उपचार करके कहते हैं कि उससे निज-वैभव का जन्म है। आत्मा अपनी अनन्त शक्ति से त्रिकाल स्वतन्त्र है। आत्मा के जो अनन्त गुण हैं वहीं अनन्त-शक्तिरूप निज-वैभव है। वह अप्रगट था किन्तु वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा वीतराग की वाणी के अनुसरण करने से उसका जन्म हुआ है।

सर्वज्ञ ने जैसा स्वरूप कहा है, वैसा बराबर समझकर उस ज्ञान की निर्मलता का जो अभ्यास-परिचय है, सो स्व-सेवा है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार किसी भी काल में आत्मा को गुण नहीं होता। इस प्रकार गुण की निर्मलता की विधि कहने पर उससे जो विरुद्ध है सो असत् है ऐसा निषेधपक्ष समझ लेना चाहिए।

सर्वज्ञ वीतराग ने जो कहा है उसका आश्रय समझने से आत्मानुभव प्रगट होता है। सर्वज्ञ की वाणी को शब्दब्रह्म कहने का यह अर्थ है कि वह समस्त पदार्थ को बतानेवाली है।

नित्यत्व, अनियत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, अस्तित्व, नास्तित्व जिसे धर्म संज्ञा है ऐसे अनेक प्रकार के कथन से सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ होने से सर्वज्ञ की वाणी 'शब्दब्रह्म' कहलाती है। उससे रचे गये अरहन्त के परमागमों में सामान्य धर्मों का कथन है, तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि और जीवत्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र जिसे विशेष गुण कहा जाता है, और उसी के द्वारा वचन अगोचर विशेष धर्मों का अनुमान कराया जाता है, उससे कुछ शेष नहीं रहता। इस प्रकार परमागम सर्व वस्तु का प्रकाशक होने से सर्व व्यापक कहलाता है और इसलिए वह शब्दब्रह्म है।

आत्मा के अतिरिक्त भी प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण हैं, अनन्त परद्रव्य हैं, उस अनन्त से पृथक्रूप में अनन्त अन्यत्व नामक गुण है, इसीलिए अनन्त रजकण अथवा अनन्त देह संयोग में आये तो भी आत्मा कभी उन रूप नहीं हुआ, और कोई परमाणु बदलकर आत्मारूप नहीं होता; इस प्रकार अनन्त से अन्यत्व की शक्तिरूप अनन्त धर्म प्रत्येक वस्तु में हैं। उन सबको सर्वज्ञ का आगम बतलाता है। उस गम्भीर आशय को जाननेवाला धर्मात्मा कहता है कि सर्वज्ञ की शब्दब्रह्मरूप वाणी में जगत का कोई भी भाव अज्ञात नहीं है।

जैसे किसी का पिता बही में लिख गया हो कि 'वैशाख सुदी २ को दिन के १० बजे मन्दिर में शिखर के नीचे लाखों स्वर्णमुद्रायें गाड़ी गयी हैं, उन्हें निकाल लेना।'

इसका आशय लड़का न समझे और शिखर को तोड़ना प्रारम्भ कर दे तो वे स्वर्णमुद्रायें नहीं मिलेंगी। पिता ने तो इस आशय से लिखा था कि वैशाख सुदी २ को दिन के दस बजे उस मन्दिर के शिखर की छाया घर के आँगन में जिस स्थान पर पड़े वहाँ स्वर्णमुद्रायें गड़ी हैं, इस गम्भीर आशय को लड़का नहीं समझे, तो धन नहीं मिल सकता। इसी प्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों में लिखे गये शब्दों का सीधा अर्थ करने जाये और उसके गाम्भीर्य तथा भाव को न समझे तो आत्मधन की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए उसका गम्भीर आशयरूप अर्थ अन्तरंग में से निकालना चाहिए। 'सब आगम भेद सो उर बसे' इस प्रकार लोकोत्तर भण्डार की महिमा होनी चाहिए। यदि महिमा योग्य दुनिया में कुछ है तो वह सर्वज्ञप्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा कदाचित् वर्तमान में निर्धन स्थिति में हो, किन्तु अल्प काल में ही वह जगत्वंद्य त्रिलोकीनाथ होनेवाला है। संसार में जिनका पुण्य बड़ा है, वे बड़े कहे जाते हैं, किन्तु धर्म में यह देखा जाता है कि स्वतन्त्र आत्मगुण की समृद्धि कितनी है।

आचार्य कहते हैं कि परमागम की उपासना से मुझे अनुभव प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार जो कोई सर्वज्ञ भगवान को अनेकान्त वाणी-सत्शास्त्रों को पढ़ता है और न्यायपुरस्सर भलीभाँति श्रवण-मनन करता है, उसे आत्मज्ञान हुए बिना नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने साक्षात् तीर्थंकर के पास से सुना है; और इस ॐकारमय वाणी को सूत्र में इस प्रकार गुम्फित किया है कि जिससे स्व-पर का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है, और उपादान की सामर्थ्य इतनी है कि निमित्तरूप वाणी में यथातथ्य कहा जायेगा उसे तुम प्रमाण करना।

यहाँ तक स्वपक्ष की बात कही। अब अपने स्वभाव का मण्डन और विभावरूप मिथ्यात्व का खण्डन कैसे किया है सो कहते हैं:—

समस्त विपरीत पक्षवादियों—सर्वथा एकान्त पक्षवादियों के विरोधी भाव का निराकरण (खण्डनपूर्वक समाधान) करने में समर्थ जो अबाधित युक्त है, उसके अवलम्बन से 'जिन-वैभव' प्रगट किया है, अन्धश्रद्धा से नहीं। जगत् में धर्म के नाम से बहुत से अभिप्राय चल रहे हैं। कोई आत्मा को कूटस्थ-नित्य कहता है कोई अनित्य ही कहता है अथवा कोई सर्वथा शुद्ध ही कहता है, अर्थात् संसार, बन्धन तथा मोक्ष अवस्था भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न प्रकार की है। अत: एकान्त धर्म को

माननेवाले मिथ्यावादी हैं। आत्मा को नित्य माननेवाले के क्षण-क्षण में बदलनेवाली अवस्था ध्यान में होनी चाहिए। यदि वर्तमान अवस्था से बदलना न माने तो राग-द्वेष, बन्धन-भाव दूर कर वीतराग होना न बने। और फिर कोई आत्मा को एकान्त-आनन्दस्वरूप ही माने, वर्तमान अवस्था को न माने तो उसकी भूल है, वर्तमान संसारदशा में शुभ-अशुभभाव के द्वारा प्रत्यक्ष दु:ख भोगता है। पुण्य-पाप के विकारीभाव आत्मा में होते हैं, उनका कर्ता अज्ञानी जीव है; दया, दान सेवा, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह की ममता आदि पापभाव हैं, वह अपने आप नहीं होते, आत्मा अज्ञानभाव से उन्हें अपना मानकर करता है, किन्तु वह आत्मस्वभाव नहीं है। आत्मस्वभाव तो स्वयं ही पुण्य-पाप का नाशक है; ज्ञानभाव से शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप चारित्र का कर्ता होने पर शुभाशुभभाव का नाश होता है। प्रथम श्रद्धा में से पुण्य-पाप का कर्तृत्व और पर का स्वामित्व दूर होना चाहिए, अज्ञानभाव से पर में सुख-बुद्धि और पुण्य-पाप का कर्तृत्व है तथापि यदि उसे न माने तो यह बहुत बड़ी भूल होगी, तथा परमार्थ से - निश्चय से पुण्य-पाप का कर्तृत्व माने तो भी वह भूल है। आत्मा का एकान्त स्वरूप नहीं है। ऐसे जो भी मिथ्यात्व हैं, उनका निराकरण करने में समर्थ जो अतिनिस्तुष अबाधित युक्ति है, उससे निज-वैभव प्रगट किया है। अबाधित न्याय के बल से मिथ्यामतियों के कुतर्क का खण्डन करके सत्य का स्थापन करके निर्मल स्वभाव प्रगट किया है।

विकार का कार्य करनेयोग्य है, ऐसा माननेवाले विकार का नाश नहीं कर सकते। यदि कोई आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने और आत्मा अज्ञानभाव से विकार करता है, तथापि वैसा न माने तो वह विकार का नाश नहीं कर सकता। पुण्य बन्धन है, इसलिए मोक्षमार्ग में उसका निषेध है, व्यवहार में भी उसका निषेध कर पाप-मार्ग में यदि प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष है, मात्र पाप से नरक निगोद में जायेगा। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमान में शुद्ध में न रह सके तो शुभ में प्रवृत्ति करे। किन्तु अशुभ में तो प्रवृत्ति करनी ही न चाहिए। पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करना किसी भी तरह ठीक नहीं है और फिर यदि कोई पुण्यभाव को ही धर्म मान ले तो भी उसके धर्म नहीं होता। कोई कहता है कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा कहता है कि यदि किसी का पुण्य होगा तो मेरी तृष्णा घटेगी, ऐसे व्यर्थ के बहाने बनाता है, किन्तु जब निर्विकल्प

शुद्धभाव को तो प्राप्त नहीं किया और पुण्यभाव करना नहीं चाहता, तब क्या पाप में ही जाना है ? तृष्णा को कम करना तेरे परिणाम के आधीन है, किसी के पुण्य के आधीन नहीं है, इसलिए वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा सारा विवेक सर्व प्रथम समझना चाहिए। और फिर यदि कोई शुभभाव में ही सन्तोष मानकर रह जाये और इस प्रकार पुण्य को धर्म का साधन माने या उससे धीरे-धीरे धर्म होना माने, तो उसका भी भवभ्रमण दूर नहीं होगा। धर्म का प्रारम्भ करने के इच्छुक को तीव्र आसक्ति तो कम करनी ही चाहिए। किन्तु उससे यदि ऐसा माने कि हित हो जावेगा तो यह भ्रम है। इसलिए पुण्य-पाप तो आस्रव हैं बन्ध के कारण हैं और इन दोनों से रहित धर्म है; उनका प्रत्येक का स्वरूप जैसा है वैसा समझना चाहिए।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समझवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन अेह॥

(आत्मसिद्धि गाथा-8)

मैं अक्रिय ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप हूँ, सो निश्चय है, और उसमें आंशिक स्थिरता बढ़ाकर राग को दूर करना, सो व्यवहार है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव में लगना सो भी विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, तथा परिणाम सुधारने का यत्न करना आत्मार्थी का कर्तव्य है। पुण्य-पापरूप विकार से पीछे हटकर अन्तरंग में अरूपी ज्ञान-शान्ति में स्थिर होना ही कर्तव्य है। जो उसे माने, आचरण करे और उसे ही मानने तथा आचरण करने की अन्तरंग से भावना रखे सो भी आत्मार्थी है। आचार्य कहते हैं कि 'सत्य में असत्य का निषेध है, सत्य के स्थापन से मेरा वैभव प्रगट हुआ है', यथार्थ को समझने पर अयथार्थ छूट ही जायेगा। जिसे सत्य समझ में आ जाये उसे असत्य क्या है यह समझ में आये बिन नहीं रहता। सत्य में असत्य की नास्ति है।

कोई कहता है कि हमें सच्चे और झूठे धर्म की परीक्षा नहीं करना है और न यह जानना है कि भूल किसे कहते हैं ? जहाँ से जैसा मिले वहाँ से वैसा ले लेना चाहिए; यों कहनेवाले कोरे लालबुझक्कड़ जैसे हैं, ध्वजपुच्छ के समान हैं। वे जहाँ जाते हैं वहाँ हाँ जी हाँ करते हैं, सत्य-असत्य को न्याय से-प्रमाण से नहीं समझते। एक को सच्चा मानूँगा तो दूसरे के ऊपर द्वेष होगा, इसलिए सभी को समान मानना चाहिए; यह तो अविवेक और मूढ़ता है। मानों वे यह कहते हैं कि गुड़ और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन

सब समान हैं। किन्तु घर में रोटी या दाल में थोड़ा-सा फर्क पढ़ जाता है तो झगड़ा कर बैठते हैं; संसार में-घर में अच्छे-बुरे भाव का विवेक करता है और परमार्थ में विवेक नहीं करता तथा असत्य की सत्य में और सत्य की असत्य में खतौनी करता है, यही बहुत बड़ी मूढ़ता है, समभाव नहीं है। सभी भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूप से हैं, क्योंकि वर्तमान अवस्था में अन्तर है। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री दोनों समान हैं—ऐसा मानने में विवेक कहाँ रहा? पुत्री, स्त्री और माता स्त्रीत्व की अपेक्षा से समान हैं, किन्तु वर्तमान लोक-व्यवहार में समान नहीं हैं। जो यह नहीं समझता वह लौकिक व्यवहार में भी मूर्ख कहा जाता है। इसी प्रकार लोकोत्तर आत्मधर्म में भी विवेक न रखे तो वह भी मूर्ख कहलाता है। इसलिए सत्य-असत्य को समझकर सत्य को ही स्वीकार करना चाहिए। जिससे धर्म समझना है वह स्वयं धर्म को प्राप्त है या नहीं, उसमें कौन से अलौकिक गुण हैं, इत्यादि पहले ही जानना चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि 'त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ के मुख से निकली हुई वाणी में गूढ़ अर्थ क्या है इसे समझकर हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अन्तररमणतारूप सम्यक्चारित्र प्राप्त किया है तथा उससे विरोधी मान्यता का अबाधितयुक्ति से खण्डन किया है। उसमें यथार्थ सत् की घोषणा है, सत् की घोषणा में वीतराग की घोषणा है। निस्तुष निर्बाध युक्ति के बल से किसी की व्यर्थ युक्ति न टिकने दूँगा। जो कुछ कहा जायेगा, उस सबमें अन्ध श्रद्धा के साथ स्वीकार करने का निषेध किया है।'

'सर्वज्ञ के वचनों के आशय का सेवन करके'—इस प्रकार पहले अस्ति पक्ष से कथन है, और पर में कर्तृत्व, पर से लाभ-हानि माननेवाले मिथ्यात्ववालों के तथा एकान्तवादियों के कुतर्क का खण्डन निर्बाध युक्ति से किया है, इस प्रकार नास्ति से कथन हैं। ऐसे ज्ञान के द्वारा जो निज-वैभव का जन्म है, उस सबसे आत्मा का वर्णन करेंगे; इस प्रकार अपनी निर्मलता में आगे बढ़ने के लिये निश्चय किया है और यह कहा है कि निमित्त में जैसा कथन है, वैसा ही होगा। दूसरे को पूरा न समझा सके ऐसा योग भी कदाचित् किसी के हो, किन्तु यहाँ तो जगत् के महान् पुण्य को लेकर और किसी शुभयोग के द्वारा आचार्य ने अन्तरभाव के अनुसार वाणी में यथार्थ कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने अपना भाव अखण्डरूप से स्थिर कर रखा है। न्याय

के बल से और अनुभव से मैंने जाना है, इसलिए कहीं भी स्खलन नहीं होगा।

यदि कोई कुतर्क से पुण्य के द्वारा धर्म को मनवाना चाहे तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते और कहते हैं कि विष खाने से अमृत की डकार कभी नहीं आती; उसी प्रकार जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से कभी मोक्ष तो क्या किन्तु मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

किसी ने बहुत समय तक बाह्यधर्म किया हो और वह ऐसा कहे कि धर्म चाहे जितना किया हो, किन्तु मृत्यु के समय किसी तीव्र असाता का उदय आये तो आत्मा का अहित भी हो जाता है। धर्म के फल में ऐसा होता है, यह जो मानता है उसे आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। जिसे स्वतन्त्र आत्मा की पूर्णरूप से श्रद्धा है, उसका किसी काल में और किसी संयोग में भी अहित नहीं हो सकता; नित्य-अविनाशी आत्मा में जो जागृत है, उसे तीन काल और तीन लोक में भी विघ्न नहीं होता। स्वयं पर से भिन्न है, फिर भी यदि पर से विघ्न माने तो समझना चाहिए कि उसे पृथक् स्वतन्त्र स्वभाव की श्रद्धा ही नहीं है। जगत् की मूर्खता का क्या कहें! अनेक प्रकार से कल्पना करके पर से लाभ-हानि माननेवाला सदा आकुलित ही रहता है।

निज-वैभव के जन्म के बंधनभाव का व्यय करके स्वाधीन मोक्ष-भाव की उत्पत्ति की है। यदि कोई कहता है कि आत्मा को तो जाना, ज्ञान किया, किन्तु यह खबर नहीं है कि बन्धभाव दूर हुआ या नहीं, और मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं, तो समझना चाहिए कि उसने आत्मा को जाना ही नहीं है। यहाँ तो गुण की प्रगट दशा के द्वारा, सर्वज्ञ के कहे हुए भाव का अनुसरण करके, कुतर्क का खण्डन करके, मिथ्यात्वभाव का नाश करके, स्वभाव का महा ध्रौव्यत्व स्थापित किया है, इसमें बहुत से न्यायों का समावेश हुआ है।

समयसार ग्रन्थाधिराज है, इसके मन्त्र अतिगूढ़ हैं, अन्तरंग-वैभव की महिमा अपार है, जिसका वर्णन करते हुए गणधरदेव भी पार नहीं पाते। यदि कोई कहे कि—मैं सुन चुका हूँ कि आत्मा पृथक् है, मैंने पुस्तक पढ़ ली, इसलिए मुझे उसका ज्ञान हो चुका है; किन्तु ऐसा नहीं है। निवृत्तिपूर्वक खूब श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिए, तभी यह बात समझ में आ सकती है।

निज-वैभव प्रगट होने में दूसरे कौन से कारण निमित्तरूप हैं यह अब कहा जाएगा।

समयसार शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग भगवान का पेट है। आचार्यदेव ने निज-वैभव से उसमें आत्मस्वभाव का वर्णन किया है। आचार्यदेव कहते हैं कि तुम अपने अन्तरंग अनुभव से प्रमाण करना, क्योंकि आत्मा के अखण्ड स्वभाव की जो बात कहूँगा उसमें कोई भूल नहीं होगी। यह निज-वैभव कैसा है ? निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा उसमें अन्तर्मग्न परमगुरु-सर्वज्ञदेव और अपर गुरु-गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनसे प्रसादरूप से प्रदत्त जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश है तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे उसका जन्म हुआ है।

पूर्णस्वरूप में स्थिर, अनन्त स्वभाव में निमग्न (सम्पूर्णरूप से लीन) ऐसे परमगुरु अर्थात् सर्वज्ञदेव और अपरगुरु अर्थात् गणधरदेव से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त; और यदि प्रकारान्तर से कहें तो त्रिकाली ध्रुव अपना आत्मस्वभाव ही परमगुरु है।

यह वाणी का प्रवाह कहाँ से आया है ? सर्वोष्कृष्ट गुण के स्वामी तीर्थंकर, उनके निकटवासी अपरगुरु गणधरदेव जिन्होंने साक्षात् वाणी सुनी है, झेली है, उनकी परम्परा से पूर्वाचार्यों से हमारे गुरुपर्यन्त सर्वज्ञ की वाणी का प्रवाह आया है। उसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने, अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रसादरूप में अंगीकार किया है।

पिता की सम्पत्ति को पुत्र जबरन छुड़ा ले और पिता प्रसन्न होकर पुत्र को सम्पत्ति दे, इन दोनों में अन्तर है पिता, पुत्र की योग्यता देखकर सम्पत्ति देता है। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि महान् पवित्र सन्त, जिनका राग-द्वेष बहुत कम हो गया था और जो बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ मुनि थे वे मेरे गुरु हैं; उनकी कृपा से, प्रसन्नता से मुझे सदुपदेश प्राप्त हुआ है, जिससे मेरे वैभव प्रगट हुआ है। इस प्रकार गुरु की महिमा गायी है। जैसे पुत्र-पिता के माहात्म्य के लिये कहता है कि उनके प्रताप से सुखी हूँ। अन्तरंग में तो जैसा है वैसा जानता ही है, किन्तु विनय से पिता की ही महिमा गाता है। उसी प्रकार यहाँ श्रीगुरु के प्रसाद से स्वानुभव हुआ है, इस प्रकार विनय से कहा है। उनके आश्रय से अन्तरंग से प्राप्त हुआ कहूँगा, कल्पना से गढ़कर नहीं।

वीतराग जैसे निर्ग्रन्थ मुनि जिस शिष्य पर कृपा करके उत्तम बोध दें, उस शिष्य की योग्यता कितनी होगी ? परन्तु—'हीरा मुख से ना कहें, लाख हमारा मोल।' आचार्यदेव लोकोत्तर विनय से कहते हैं कि जो सर्वथा नग्न, आत्मध्यान में मग्न, अप्रमत्त गुणस्थान की

वीतराग दशा में लीन थे, तथापि 'अन्य जीव धर्म प्राप्त करें तो अच्छा हो' ऐसी शुभवृत्ति उठने पर उपदेश देते थे और फिर उस वृत्ति से छूटकर आत्मरमणता में स्थिर हो जाते थे। ऐसे गुरु के पास से हमें उपदेश मिला है। ऐसा कहने से उपदेश लेनेवाले में भी कैसी योग्यता थी, यह ज्ञात हो जाता है।

आत्मा अनन्त काल में जिस अपूर्व वस्तु को नहीं समझा उसे समझने के लिए विशेष पात्रता चाहिए। संसार-व्यवहार में अनीति का त्याग, इन्द्रियविषयों की अल्प आसक्ति, आत्मतत्त्व की जिज्ञासा, निरभिमानता, सज्जनता, सत् को समझने का प्रेम इत्यादि सर्व प्रथम चाहिए। चौरासी के बंधन का दुःख, संसार की अशरणता, पराश्रयता का दुःख इत्यादि का विचार करके परम सत्य की अन्तरंग में तीव्र जिज्ञासा हो उसके पात्रता प्रगट होती है।

यद्यपि अपने में पूर्ण पात्रता थी, किन्तु उसे न दिखाते हुए आचार्य कहते हैं कि हमारे गुरु ने शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश दिया था, वही मैं कहता हूँ। इस प्रकार वे अपने गुरु का बहुमान करते हैं और कहते हैं कि 'हमारी तरह जो कोई योग्य जीव समझकर उनका बहुमान करेगा वह मुझ जैसा अवश्य हो जायेगा। अब मेरे चौरासी का अवतार नहीं रहा और भव का भाव भी नहीं रहा। इसी प्रकार सत्य को समझनेवाले का भवभ्रमण दूर हो जायेगा।'

जो भव से थक गया हो और जिसे यह समझने की जिज्ञासा जागृत हुई हो कि आत्मा कैसा है उसे सच्चे गुरु अवश्य मिल जाते हैं।

यहाँ गुरु ने यथार्थ योग्यता देखकर शुद्ध आत्मतत्त्व का उपदेश दिया है कि आत्मा परमानन्दस्वरूप, निर्मल ज्ञाता-दृष्टा है, पुण्य-पाप की वृत्ति से रहित है, पर से भिन्न है, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। किसी दूसरी बात को न कहकर 'आत्मा पूर्ण है, शुद्ध नायक है,' ऐसे स्वभाव का उपदेश दिया है।

ऊपर तीन बातें कही हैं—(१) कृपा, (२) शुद्ध आत्मतत्त्व और (३) उसका अनुग्रह पूर्वक उपदेश। अनुग्रह—हमारी योग्यता के अनुसार जहाँ जैसा चाहिए वहाँ वैसा समझकर उसे पुष्ट किया है। अमुक न्याय इसको कैसे पकड़ में आये, अपूर्व तत्त्वस्वभाव की प्राप्ति कैसे हो, उसकी अस्ति-नास्ति के द्वारा स्पष्टता करके आत्मनिरोगता का सीधा

उपाय बताया है, ऐसी समझपूर्वक श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गुरु का उपकार गाया है, यह उनकी कितनी विनय है। स्वयं समझते हुए भी श्री गुरु की कृपा की महिमा को गाते हैं। वास्तव में तो कोई किसी पर कृपा नहीं कर सकता, क्योंकि किसी का भाव दूसरे को लाभरूप नहीं है, फिर भी यह कथन व्यवहार से किया है। बाहर से गुरु की महिमा गायी है, और अन्तरंग से अपने को रुचिकर गुण की महिमा गायी है। यह अपनी श्रद्धा की दृढ़ता के लिये है।

यहाँ आचार्यदेव ने अन्तरंगभाव को स्पष्ट व्यक्त किया है, जिससे आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में वह सीधा उतर जाये अर्थात् गहराई से अनुभव में आ जाये।

जिससे किसी पात्र जीव को साक्षात् सम्यग्दर्शन हो जाये—इस प्रकार का सीधा उपदेश गुरु दे रहे हों, वहाँ कोई बीच में ही थोड़ा बहुत असंबद्धरूप में सुन ले;—इस प्रकार यों ही अथवा अविनय से यह उपदेश ग्रहण नहीं किया है अर्थात् किसी के कानोंकान सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु यह तो सीधा उपदेश ग्रहण किया है।

जिस जमीन में क्षार हो उसमें अनाज बोया जाये तो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसके लिये उत्तम भूमि चाहिए, उसी प्रकार निर्मल तत्त्व का स्पष्ट उपदेश ग्रहण करने के लिये उत्तम पात्रता चाहिए। ऐसी पात्रता देखकर मेरे गुरु ने मुझे उपदेश दिया, उनके कहे हुए यथार्थ भाव को श्रवण-मनन द्वारा धारण करने से, उनकी आज्ञा का पूर्ण विनय के द्वारा सेवन करने से, मुझमें शुद्ध, पवित्र आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्रगट हुआ है।

कैसा है वह निज वैभव ? जो निरन्तर झरनेवाला आस्वाद में आनेवाला, सुन्दर आनन्द—मन के संकल्प-विकल्प से परे, अतीन्द्रिय आनन्द—उसके प्रभाव से युक्त जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म हुआ है। इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी वर्तमान स्थिति की बात कहते हैं। जैसे पर्वत में से झरना झरता रहता है, उसी प्रकार अन्तरंग में तीन कषाय नष्ट कर आत्मा की शान्ति और समृद्धि की जमावट हुई है, उसमें से निरन्तर स्वरूपलीनता का आनन्द झरता है। संसार में सुख मानकर जीव आकुलता का अनुभव करता है, उस ओर से लक्ष्य बदलकर स्वभाव की प्रतीति के द्वारा अन्तरंग में स्थिर होकर आनन्द की विपरीतदशा को निकाल देने से तो अकेला ज्ञानानन्द रस रह जाता है। धारावाही शान्ति का-अनाकुल आनन्द का स्वयं स्वाद लिया है और फिर उपदेश की वृत्ति आयी है, तब यह शास्त्र रचा गया है।

जगत के जीव विकार में ही सन्तोष मानकर आकुलता का स्वाद लेते हैं, किन्तु जड़ का अर्थात् पर का स्वाद नहीं लिया जा सकता। संसार के कल्पित आनन्द से सर्वथा भिन्न जाति का आनन्द, आत्मा का अतीन्द्रिय-निराकुल आनन्द निरन्तर स्वाद में आये यही आत्मानन्द के अनुभव की छाप है, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। अपनी मानी हुई श्रद्धा से और गुरुज्ञान के आश्रय के बिना कोई ऐसा मान बैठे कि मुझे आत्मा का आनन्द प्रगट हुआ है तो यह बात मिथ्या है। सर्वज्ञदेव से चली आयी हुई परम्परा को रखकर अपने अनुभव-आनन्द की छाप यहाँ प्रगट की है। आत्मा के अनुभव के बिना मात्र-शुभभाव पैदा हो उसे आत्मा का आनन्द नहीं कहा जा सकता। यह तो निर्ग्रन्थ मुनि हैं इसलिए विशेष स्थिरता में आकर कहते हैं कि हमें प्रचुर संवेदन प्रगट होता है। चौथी भूमिका में गृहस्थदशा में सम्यग्दृष्टि को आत्मा का आनन्द होता है। किन्तु विशेष नहीं होता। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि को भी केवलज्ञानी के समान पूर्ण आनन्द नहीं होता, पूर्ण आनन्द तो केवलज्ञानी को ही होता है। मुनि के मध्यम दशा का उत्तम आनन्द रहता है, किन्तु वह चौथी पाँचवीं भूमिका की अपेक्षा बहुत अधिक है, उसका वे अनुभव स्वरूप उपयोग करते रहते हैं।

कोई बड़ा अपमान हुआ हो, सम्पत्ति के नष्ट होने का दुःख हो, पुत्र-पुत्री अनुकूल न हों, घर में स्त्री के साथ विरोध हो, तो प्रचुर आकुलता का अनुभव होता है। यदि देखा जाये तो जड़ के संयोग-वियोग से आकुलता नहीं होती, किन्तु अपने अज्ञान से होती है। उसका अनुभव आत्मा के अनाकुल सुख का विकार है। उससे विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अन्तर्लीनता से आत्मा में प्रचुर आनन्द साक्षात् अनुभव में आता है।

शास्त्र में कथन आता है कि जिनका यथाजात् द्विजन्मा-अनगार-स्वरूप में जन्म हुआ है, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने पंचम काल में अमृतवर्षा करके सनातन जैन शासन को जीवित रखा है।

किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो तो जगत कहता है कि इसको इतनी सारी लक्ष्मी की प्राप्ति कहाँ से हुई ? तो कहा जाता है कि घर की नींव खोदते समय पाँच करोड़ रुपये निकले थे, पाँच करोड़ व्यापार धन्धे में से, और पाँच करोड़ उसके काका के उत्तराधिकार से प्राप्त हुए हैं, और कुछ अपनी पूँजी थी। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी

आत्मरिद्धि प्रगट होने में चार कारण हैं —

(१) शब्दब्रह्मरूप परमागम की सेवा।

(२) कुतर्क और कुमत की खण्डन करनेवाली निर्बाध-अखण्ड युक्ति।

(३) सर्वज्ञ भगवान से समागत परम्परा से गुरु का उपदेश।

(४) स्वानुभव।

उपरोक्त चार कारणों के द्वारा निज-वैभव प्रगट हुआ है। उन सबसे मैंने आत्मा को वर्णन करने का प्रयत्न किया है।

मैं दर्शाता हूँ तथा मैं दर्शाऊँ और तुम उसे प्रमाण मानना, यों कहकर कहनेवाले और सुननेवाले के भाव का एकत्व बताया है। मैं अविरुद्ध निर्णय से कहूँगा, तुम यदि वैसा ही समझोगे तो भूल नहीं होगी। अन्यथा कुतर्क और वाद-विवाद से अन्त नहीं आ सकता। तुम स्वयं प्रत्यक्ष स्वानुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना (निर्णय करना) अन्तरंगतत्त्व में बाहर की परीक्षा कार्यकारी नहीं होती। स्वयं तो शुद्ध तत्त्व को अनुभव करके कहा है, किन्तु सुननेवाले के ऊपर इतना उत्तरदायित्व रख दिया है कि तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा, मन और इन्द्रियों से अगोचर है इसलिए अपने अन्तरंग ज्ञानस्वभाव से जो उसे जानने का प्रयत्न करेगा उसे वह मेरी तरह प्रत्यक्ष अवश्य होगा।

जिसका अहो भाग्य हो उसे यह तत्त्व सुनने को प्राप्त होता है और अपूर्व पात्रता से आत्मपुरुषार्थ करे तो परमार्थ की प्राप्ति होती है। निज को समझे बिना अनन्त बार साक्षात् तीर्थंकर के पास हो आया, वहाँ तीर्थंकर के शरीर को देखा, किन्तु अपना लक्ष्य नहीं किया। तीर्थंकरदेव जैसा उत्कृष्ट निमित्त जगत में दूसरा कोई नहीं है। वहाँ भी स्वभाव को अस्वीकार करनेवाले और विपरीतता का सेवन करनेवाले थे तथा अनन्त काल तक वैसे लोग रहेंगे। विपरीतता में भी सब स्वतन्त्र हैं, इसलिए कौन किसे तार सकता है।

दुनिया तो जैसी है वैसी रहेगी। निज को समझने के बाद दुनिया की झंझट क्यों रखनी चाहिए? लोग क्या मानते हैं और क्या कहते हैं, इस पर दृष्टि नहीं रखना चाहिए, किन्तु सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं, इसकी आन्तरिक परीक्षा करना चाहिए। यदि परमार्थ को न समझे और मात्र बाह्यप्रवृत्ति में रुका रहे तो उससे जन्म-मरण कभी भी दूर नहीं

होगा। कदाचित् मन्दकषाय करे तो पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाये, परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा के बिना मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ नहीं होता। जीव ने पापभाव की अपेक्षा पुण्यभाव तो अनन्त बार किये हैं, किन्तु यहाँ तो धर्म की बात है। पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा, पर के अवलम्बन से आत्मगुण प्रगट होगा, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताऐं अनादि से चली आ रही हैं। निमित्ताधीन दृष्टि से संसार में भव-भ्रमण हो रहा है, पुण्य, पाप और राग का अंश मात्र मेरे स्वरूप में नहीं है, मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा समझे बिना चौरासी के अवतार का एक भव भी कम नहीं होगा। यदि भव कम न हो तो मनुष्यभव प्राप्त करने का फल क्या है ?

जो लौकिक नीति का पालन करता है उसका निषेध नहीं किया जाता, किन्तु ऐसी व्यवहार पात्रता बाह्य आचरण में गिनी जाती है। अब अन्तर्मुख दृष्टि करके सत्समागम से आत्मा का अनुभव करने की आवश्यकता है, उसके बिना जीव ने अनन्त काल में अन्य सब कुछ किया है, किन्तु वे सब साधन बन्धरूप ही हुए।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो॥
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सु तार भयो।
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे,
उरसेंहि उदासि लही सबपै॥
सब शास्त्रन के नय धार हिये,
मतमंडन खंडन भेद लिये।
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ अभी न पर्‌यो॥

(श्रीमद् राजचंद्र)

पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किया और आहारदि के समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये। जैसे-मोती नाम की बाई हो, मोतीवाली छाप की साड़ी पहिने

हो, और वह आहार को प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करूँ—ऐसा कठिन अभिग्रह (वृत्तिपरिसंख्यान तप) भी अनन्त बार किया, संयम पालन किया, इन्द्रिय-दमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्मा की प्रतीति नहीं हुई। आत्मा को भूलकर मौन रहा और छह मास तक के उपवास भी किये, ऐसे साधन अनन्त बार करने पर भी आत्मस्वभाव प्रगट नहीं हुआ।

''अब क्यों न विचारत है मन सें,
कछु और रहा उन साधन सें?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे,
मुख आगे है कह बात कहें?''

तीन काल के ज्ञानियों का यही कहना है कि तुम त्रिकाल ज्ञायक स्वतन्त्र हो, परमात्मा के सदृश हो और वैसे ही बनो। अनन्त काल में निज को नहीं पहचान सका, इसीलिए जगत में परिभ्रमण करना पड़ा है। नहीं समझनेवाले, ज्ञानी के सामने विरोध की पुकार किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी तो जगत के सामने सत्य की घोषणा करके मात्र आत्महित करके चले गये, ज्ञानी का विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करेगा? अज्ञानी कहता है कि हमारी मानी हुई सभी बातों का खण्डन करते हो तो क्या यह द्वेष नहीं है? ज्ञानी कहता है कि सत्य की स्थापना करने में असत्य का निषेध सहज ही ज्ञात हो जाता है, उसमें द्वेष नहीं किन्तु सच्ची दया है। तुम न समझो तो भी प्रभु हो, सत्य का विरोध करनेवाले भी सब प्रभु हैं। यह बात समझ लेगा तब ज्ञात हो जायेगा कि सारी विपरीतता क्षणभर में दूर करने में समर्थ है। ज्ञानी किसी व्यक्ति का निषेध नहीं करते, किन्तु विपरीत मान्यता का निषेध करते हैं। उनके मन में जगत के समस्त प्राणियों पर करुणा है। वे जानते हैं कि जिसकी दृष्टि मिथ्याग्रह पर है, यदि वह स्वयं समझे तो ही सुधरेगा, इसलिए वे कहते हैं कि 'तेरी शुद्धता तो बड़ी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी बड़ी है' साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी तुझे न समझा सके। तेरी पात्रता के बिना तुझे कोई सुधार नहीं सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तो पूर्ण गुण को लक्ष्य में रखकर जो अल्प प्रशस्त रागादिरूप दोष है, उसे जानते हैं, इसलिए उस दोष को दूर कर सकेंगे, किन्तु तुम पर का दोष देखने के लिये मत रुकना, मात्र गुण पर ही दृष्टि रखना, फिर ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।

ज्ञानी जानता है कि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से थोड़ी अस्थिरता हो जाती है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए अल्प काल में पुरुषार्थ की प्रबलता करके समस्त दोष को दूर कर देगा।

जिसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं है उसकी मुक्ति नहीं है। प्राय: ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन हो किन्तु चारित्र न हो। श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी और भरत चक्रवर्ती जैसे उसी भव से मोक्ष जानेवाले गृहस्थदशा में अनन्त जीव हो गये हैं। सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

भरत चक्रवर्ती के ९६००० स्त्रियाँ थीं, किन्तु उन्हें आत्मप्रतीति थी इसलिए उनने पर में कहीं स्वामित्व नहीं होने दिया। उस श्रद्धा के बल से उनने उसी भव में अन्तर्मूहूर्त में चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रेणिक राजा के एक भी व्रत नहीं था, फिर भी सतत् आत्म-प्रतीति में रहे थे, तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था। वे ८४००० वर्ष की आयु बाँधकर प्रथम नरक में गये हैं। वहाँ काल पूरा करके इस भरतक्षेत्र में जन्म लेकर प्रथम तीर्थंकर होंगे जगत् का उद्धार और त्रिजगत से वंद्य-पूज्य होंगे। इन्द्र उनके चरणों की सेवा करेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ऐसा पुण्य नहीं बँधता।

सत्य का उपदेश सुनते ही जहाँ समझपूर्वक अन्तरंग में पूर्ण सत्य का स्वीकार हुआ वहाँ फिर अल्प काल में पूर्ण चारित्र प्रगट हुए बिना नहीं रहता। पूर्ण होने से पहले, पूर्ण की समझ के द्वारा पूर्ण को ही देखता है, इसलिए अनन्त राग दूर हो गया, फिर जो अल्प राग रहा उसका नाश अवश्य होगा।

इस काल में सम्यक् समझ बहुत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझ का अमूल्य समय मिला है, इसमें यदि चूक गया तो फिर अनन्त काल में मनुष्यभव और ऐसा योग मिलना कठिन है। अनन्त बार धर्म के नाम पर कदाग्रह में, बाह्य साधनों में अटका रहा, अब परम-सत्य क्या है इसकी चिन्ता नहीं की तो फिर अनन्त काल में भी ठिकाने नहीं लगेगा, इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि सत्य क्या है यह स्वयं अन्तरंग अनुभव से निश्चय कर। अनुभव की मुख्यता से शुद्ध स्वरूप का निर्णय कर; बाहर के तर्क-वितर्क का काम नहीं है। इसके लिये दृष्टान्त देते हैं।

एक आदमी बाजार से कपड़े का एक थान लाया। उसके ९ वर्षीय पुत्र ने उससे

पूछा कि यह थान कितने हाथ का है ? पिता ने जबाव दिया कि यह पचास हाथ का है। लड़के ने अपनी हाथ से नापकर कहा कि यह थान तो ७५ हाथ का है, इसलिए आपकी बात असत्य है। तब पिता ने कहा कि हमारे लेन-देन में तेरे हाथ का माप नहीं चलता। तब लड़का कहता है कि क्यों मैं मनुष्य नहीं हूँ ? मेरा हाथ क्यों नहीं चलता जैसे व्यवहार के माप में बालक का हाथ नहीं चलता, उसी प्रकार बाह्यदृष्टिवाले बाल-अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न कुयुक्ति अतीन्द्रिय आत्मभाव को नापने में काम नहीं आती। धर्मात्मा का हृदय अज्ञानी से नहीं मापा जा सकता, इसलिए ज्ञानी को पहचानने के लिये पहले उस मार्ग का परिचय करो, रुचि बढ़ओ, विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्राप्त करो। सन्त की परीक्षा होने से सत् का आदर होता है और तब ही धर्मात्मा का उपकार समझा जा सकता है, अपने गुण का बहुमान होता है और वर्तमान में ही अपूर्व शान्ति प्रगट होती है।

अब जिसे समझने की उमंग जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिए ? अनन्तानन्त काल से आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात को न तो सुना है, न रुचि की है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। इसलिए शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव कैसा है ?

पाँच गाथा पर्यन्त एकत्व-विभक्त आत्मा की महिमा सुनकर स्वयं ही तैयार हुआ शिष्य जिज्ञासा से पूछता है, कहीं बलात् रुचि उत्पन्न नहीं हुई है। जैसे किसी को प्यास लगी है, पानी पीने की इच्छा हुई है और पास में कहीं पानी दिखायी नहीं देता; किन्तु जब पानी का चिह्न मालूम हो जाता है तब उसकी कैसी आतुरता बढ़ जाती है, फिर पानी पीकर कितना तृप्त होता है ? उसी प्रकार जिसे आत्मा को जानने की उत्कण्ठा हुई है, वह आत्मा की बात सुनकर कितना आनन्दित होता है और बाद में सम्यक् पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप प्राप्त करके कितना तृप्त होता है ! जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा हुई है, उसी को सुनाया जाता है।

जिसकी आवश्यकता मालूम होती है, उसकी तरफ आत्मा का वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। अनादि से शरीर और इन्द्रियों पर दृष्टि है और उनके प्रति प्रेम है तथा ऐसा विपरीत विश्वास रखता है कि अमुक आहार मिलेगा तो शरीर टिक सकेगा, इसीलिए अनादि काल से देह को ममता से पोषता रहता है।

जो बड़ा हीरा शरण पर चढ़ता है वह तो बहुमूल्य है ही किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसके भी सैकड़ों रुपये पैदा होते हैं, इसी प्रकार वस्तु का सत्य स्वरूप सुनने से जो वस्तुस्वरूप को ग्रहण कर लेता है, उसका तो कहना ही क्या है ? वह तो अमूल्य हीरे को प्राप्त कर लेता है, किन्तु सत्यस्वरूप सुनने से जो शुभभाव होता है, उस कारण से भी उच्च-पुण्य बँधता है।

यदि सहजात्मस्वरूप आत्मा को जाने तो परमानन्दस्वरूप मुक्तदशा अवश्य प्रगट हो जाती है। जिसे तत्त्व की रुचि हुई है, उसे गुरु उत्तर दें और वह न समझे यह नहीं हो सकता। इस छठवीं गाथा में तो छट्ठी का लेख है, वह कभी बदल नहीं सकता। जैसे 'छट्ठी का लिखा लेख नहीं टलता' उसी प्रकार इस अध्यात्म छट्ठी के अन्तरंग लेख का भाव जो समझता है उसका मोक्षभाव अन्यथा नहीं होता, उसको मुक्ति हुए बिना नहीं रहती।

अब शिष्य के प्रश्न के उत्तररूप से गाथासूत्र कहते हैं —

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।६।।

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणन्ति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव।।६।।

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है, इस प्रकार इसे शुद्ध कहा है, और फिर जो ज्ञायकरूप से बताया है, सो तो वह वही है, दूसरा कोई नहीं है।

इस गाथा से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। पाँचवीं गाथा में कहा है कि निज-वैभव से कहेंगे, इसलिए छठवीं गाथा में अपनी भूमिका को दर्शाकर कहा है कि जो सातवीं-छठवीं भूमिका में रहता है, वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार मुनि अपनी बात कर रहे हैं कि मैं तो एक हूँ तब फिर अवस्था में अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेद क्यों ? वह दो प्रकार मैं नहीं हूँ। अपनी बात करके जगत को कहता है कि जो ज्ञायकभाव है सो न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है। आचार्य की दृष्टि मात्र ज्ञायक द्रव्य पर है। मैं अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध हूँ, अवस्था के भेद से रहित सामान्य एकरूप ऐसा जो ज्ञायकरूप में ज्ञात हुआ हूँ, वही हूँ, दूसरा नहीं। उसमें फिर यह अप्रमत्त-प्रमत्त का भेद कैसा ? आचार्यदेव अपनी वर्तमान अवस्था का

निषेध करते हैं और कहते हैं कि यह जो अप्रमत्त-प्रमत्त का भेद है, वह मैं नहीं हूँ, मैं तो अखण्ड एक ज्ञायकभाव हूँ।

आचार्यदेव ने सकषायी-अकषायी, सयोगी-अयोगी इत्यादि भेद गाथा में नहीं कहे, इसलिए ऐसा मालूम होता है कि वे प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में झूल रहे हैं और उसका निषेध करते हैं। अप्रमत्त या प्रमत्त मैं नहीं हूँ, ऐसी भाषा उनको वर्तमान मुनिदशा में से आयी है। उनके दो पर्यायें ही रही हैं, उन दो पर्यायों में अखण्ड ज्ञायक का बल उनके वर्त रहा है इसलिए अपने आत्मा के अन्तर अनुभव में से अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं ऐसी भाषा आयी है। आचार्य का ऊँची-ऊँची पर्याय पर लक्ष्य है इसलिए भाषा में पहले 'प्रमत्त' न आकर 'अप्रमत्त' आया है।

आत्मा के गुण की चौदह भूमिकाएँ हैं अर्थात् चौदह गुणस्थान हैं; उनमें से चौथे गुणस्थान में अपूर्व आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प अनुभव होता है। वहाँ यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। बाद में आंशिक स्थिरता बढ़े तो पांचवाँ गुणस्थान होता है। अन्तरंग ज्ञान में विशेष स्थिर होकर कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव निर्विकल्प ध्यानदशा प्रगट होती है, उसे अप्रमत्त नामक सातवाँ गुणस्थान कहा है; बाद में सविकल्पदशा आती है, उसे छठवाँ प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। मुनि इन दो दशाओं के बीच में बारंबार झूला करते हैं।

निर्विकल्पदशा में यदि विशेष समय रहे तो मुनि अन्तर्मूहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हजारों बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बदलता रहता है। तीनों काल में मुनिदशा ऐसी ही होती है। वह मुनिदशा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित होती है, आत्मज्ञान सहित नग्न-दिगम्बरत्व होता है, सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं और आत्मस्वरूप की स्थिरता में बिल्कुल निर्विकल्प आनन्द में लीन हो जाता है, वहाँ पल-पल में साक्षात् सिद्ध परमात्मा जैसा आनन्द अंशरूप से अनुभव में आता है। मैं आत्मा हूँ, शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं होता; मात्र स्वसंवेदन (स्व का अनुभव) होता है, ऐसी स्थिति-साधकदशा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के थी। वे क्षण में प्रमत्त और क्षण में अप्रमत्तदशा में झूलते रहते थे।

आचार्य के केवलज्ञान प्रगट होने में संज्वलनकषाय का अंश जीतने को शेष रहा है। क्षण में छठवीं भूमिका में आने पर आत्मस्वभाव की बात करते हैं और क्षण में उस शुभ

विकल्प को तोड़कर सातवें गुणस्थान में मात्र अतीन्द्रिय आत्मानन्द में स्थिर हो जाते हैं। ऐसी वह उत्कृष्ट साधक दशा है। उस निज-वैभव से वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप जगत को बतलाते हैं कि वह ज्ञायक नित्य एकरूप चैतन्यज्योति है, वह वर्तमान क्षणिक अवस्था के किसी भेदरूप नहीं है, किन्तु केवल ज्ञायकरूप से शुद्ध है, अखण्ड एकाकार ज्ञायकस्वभाव में अप्रमत्त-प्रमत्त का भेद परमार्थ से नहीं है।

आत्मा और जड़ दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं। दोनों में प्रत्येक क्षण में अपनी-अपनी अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है। आत्मा जड़ से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जाने बिना स्वरूप की रुचि नहीं होती, रुचि के बिना श्रद्धा, श्रद्धा के बिना स्थिरता और स्थिरता के बिना मुक्ति नहीं होती, आत्मा में एक समय की होनेवाली कर्मबन्धरूपी विकारी-क्षणिक अवस्था को ध्यान में न लेकर अकेले ज्ञायक-ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें स्थिर हुआ सो तो ज्ञाता ही है। स्वभाव से आत्मा निर्विकारी, आनन्दघन, सच्चिदानन्द-स्वरूप, ज्ञाता-दृष्टा, स्वावलम्बी और स्वतन्त्र है। ऐसी आत्मा की ओर की जो दृष्टि है सो सम्यग्दर्शन है और उस भाव में स्थिरता का होना सो सम्यक्चारित्र है।

जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से श्वेत, स्वच्छ और निर्मल है, किन्तु काले, लाल, पीले पात्र के संयोग से वर्तमान अवस्था में काले, लाल, पीले रंग की झांई उसमें दिखायी देती है, वह वैसा हो नहीं जाता। स्फटिकमणि का सम्पूर्ण स्वभाव तो सफेद ही है। इसी प्रकार आत्मा अरूपी, ज्ञानानन्दघन ही है। आत्मा में क्षणवर्ती-विकारीभाव दिखायी देते हैं, उस ओर यदि दृष्टि न की जाये तो आत्मा अबन्ध, निर्विकारी, निर्मल, आनन्दरूप, चैतन्यज्योति है। वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के क्षणिक विकार और मति-श्रुतज्ञान की अवस्था रहती है, जो उसके भेद से रहित, विकल्परहित, एकाकार, अकेला, ज्ञायक, सामान्य ध्रुवरूप से आत्मा को जानना सो ही सम्यग्दृष्टि या परमार्थदृष्टि है। यही मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है।

जो अनादि-अनन्त त्रिकाल स्थिर रहे सो वस्तु है। भूत, भविष्य की अवस्थारूप होने की जो शक्ति है, सो गुण है। और वर्तमान प्रगट अवस्था पर्याय है।

वर्तमान में रहनेवाले द्रव्य में ही त्रिकाल स्थिर होने की सामर्थ्य है। वर्तमान एक समय में त्रिकाल रहनेरूप जो एकरूप सामर्थ्य है सो द्रव्य है। अखण्ड-ज्ञायक कहने से त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बताया है। समय-समय रहकर त्रिकाल होता है, इस प्रकार

त्रिकाल से ज्ञायक को लक्ष्य में लेना हो सो बात नहीं है, किन्तु यह समझना चाहिए कि वर्तमान में ही चैतन्य अनन्त शक्ति की सामर्थ्य से पूर्ण है। अर्थात् जो वर्तमान में है, वही त्रिकाल है। वर्तमान में मैं अखण्ड-पूर्ण हूँ ऐसी जो दृष्टि है सो द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूप से वर्त रही है - रह रही है। उस प्रवर्तमान द्रव्य में वर्तमान में जो प्रगट अवस्था है, सो पर्याय है और शेष अवस्थाएँ जो होनी हैं और जो हो गयी हैं, उसकी वर्तमान शक्ति, समस्त गुण ध्रुव नित्य है। वर्तमान प्रगट अवस्था के अतिरिक्त जो सामर्थ्य शक्ति है, सो ध्रुव है। व्यय अभावरूप पर्याय है और उत्पाद सद्भावरूप पर्याय है। उस व्यय और उत्पाद के भंग से रहित वर्तमान में समस्त सामर्थ्यशक्ति गुण और द्रव्य है। अवस्था के अतिरिक्त जो त्रिकाल रहनेरूप सामान्यभाव है, उसे यहाँ द्रव्य कहा है। वर्तमान विकारी अवस्था को गौणकर जिस त्रिकाल सामान्य स्वभावरूप मैं हूँ सो ज्ञायकभाव है।

वर्तमान में ही द्रव्यवस्वभाव ध्रुवरूप से अखण्ड-पूर्ण है, उसमें भूत और भविष्य पर्याय की शक्ति विद्यमान है। वर्तमान में जो प्रगट अवस्था है, वह भंग और भेदरूप है, उस भंगरूप अवस्था के अतिरिक्त जो हर समय में वर्तनेवाली सामर्थ्य है, वह गुणरूप है अथवा द्रव्यरूप है। अवस्था को लक्ष में न लेकर मैं आत्मा पूर्ण, निर्मल, पवित्र वर्तमान में ही हूँ। इस दृष्टि के होने पर पर्याय भी निर्मल हो जाती है। इस दृष्टि के प्रगट होने में अनन्त पुरुषार्थ है और उसके होने पर दर्शन-मोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद भी आगे की पर्याय इस द्रव्यदृष्टि के बल से ही प्रगट होती है। पूर्ण ज्ञायक, निरपेक्ष, स्वतन्त्ररूप से जो सदा एकरूप है, उसे श्रद्धा में लेना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की अवस्था, इसी प्रकार संयमी-असंयमी, सवेदी-अवेदी, सकषायी-अकषायी, संयोगी-अयोगी ऐसे दो-दो भेद हो जाते हैं, जो कि पर-निमित्त की अपेक्षा से होते हैं। वे आत्मा के अखण्ड स्वभाव में नहीं हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अखण्ड स्वभाव को दृष्टि में लेकर भेदों का भी अस्वीकार करता है।

ध्यान रहे कि यह अलौकिक वस्तु है। अनन्त काल से स्वभाव की बात समझ में नहीं आयी, इसलिए वस्तु की परम गम्भीर महिमा को लाकर उसे लक्ष्य में रखकर

समझना चाहिए। वस्तु की श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान और चारित्र नहीं हो सकता। 'यह बात कठिन है इसलिए समझ में नहीं आती' ऐसा नहीं मानना चाहिए। अनादि का अनभ्यास है इसलिए समझना कठिन मालूम होता है किन्तु वह स्व-विषय है इसलिए समझ में आ ही जाता है।

कंकण की अवस्था में सोना कंकण के आकार में स्थूलदृष्टि से दिखायी देता है, किन्तु उसमें रहनेवाले अनन्त परमाणु प्रति समय अपनी अवस्था बदलते हैं और सोना सामान्य-एकरूप ध्रुव बना रहता है, इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से दिखायी देता है। उसी प्रकार आत्मद्रव्य एकरूप ज्ञायकपने से वर्तमान में पूर्ण है, उस ध्रुवस्वभाव की जो दृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

आत्मा को अभेद गुणदृष्टि के द्वारा जानने पर वर्तमान पर्याय गौण हो जाती है, भेदरूप लक्ष्य भूल जाता है। वहाँ वर्तमान पर्याय नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिए, किन्तु वह है और उसे गौण करके सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव को लक्ष्य में लेना सो सम्यग्दृष्टि है।

किसी मनुष्य ने बालक को छोटी अवस्था में देखा हो, फिर बारह वर्ष की आयु में उसे देखे तो कहता है कि यह तो एकदम बड़ा हो गया है, किन्तु वह एकदम बड़ा नहीं हुआ है, लेकिन जन्म से प्रतिक्षण बढ़ता-बढ़ता बड़ा हुआ है। प्रत्येक समय में बदलती हुई अवस्था में रहनेवाला वही पुरुष है। वर्तमान, भूत, भविष्य की अवस्था के भेद से न जानकर उस पुरुष को वर्तमान में ही अखण्डरूप से जानना सो वास्तविक स्वरूप को जानना कहलाता है।

प्रश्न:—ऐसी अखण्ड वस्तु ध्यान में न आये तो क्या होता है ?

उत्तर:—जैसे एक मनुष्य सौ वर्ष का है, उसे ५० वर्ष का कहें अथवा बीच के एक क्षण को निकाल दें तो अखण्ड के दो टुकड़े हो जायेंगे और इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। यदि उस मनुष्य का सारा स्वरूप जानना हो तो सौ वर्ष लक्ष्य में लेना चाहिए, बीच में कोई समयभेद नहीं लेना चाहिए।

जैसे एक पुरुष एक वर्ष धनिक अवस्था में था, फिर दो वर्ष निर्धन अवस्था में हो और फिर पीछे सधनदशा को प्राप्त होता है। इन सब अवस्थाओं में रहनेवाले पुरुष को अखण्डरूप से नहीं मानकर वर्तमान निर्धन दशा जितना ही माने तो कहना होगा कि उस

पुरुष की सच्ची पहचान नहीं की। उसी प्रकार आत्मा त्रिकाली सर्व अवस्था का पूर्ण पिण्ड होने से वर्तमान अवस्था में भी त्रिकाली जितना ही पूर्ण है। 'है' इतना ही न मानकर वर्तमान अवस्था जितना ही माने तो कहना होगा कि उसने उसका सच्चा स्वरूप ही नहीं जाना।

जो अनादि-अनन्त आत्मा को एकरूप, अखण्ड, अभेद, ज्ञायकरूप में जानता है, वही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। आत्मा का अखण्ड स्वरूप जिसके ध्यान में नहीं है, उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनादि-अनन्त कहने से काल पर लक्ष्य न देकर अनन्त गुण का अखण्ड पिण्डस्वरूप से त्रिकाल रहनेवाला वर्तमान में पूर्ण शक्तिरूप ध्रुव है, तीनों काल की अनन्त शक्ति वर्तमान में अभेदरूप में भरी हुई है ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

एक समय में एक वस्तु की दो अवस्थाएँ नहीं होती। सोना जिस समय कुण्डल अवस्था में होता है, उस समय दूसरी अवस्था नहीं होती और जब कड़े की अवस्था होती है, तब कुण्डल की नहीं होती; इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानगुण में एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है। उदाहरणरूप में जब मति या श्रुतज्ञान होता है, तब केवलज्ञान नहीं होता, और जब केवलज्ञान होता है तब मति या श्रुत नहीं होता, किन्तु ज्ञानगुण सदा विद्यमान रहता है। वर्तमान में त्रिकाल रहनेवाले समस्त गुण एकरूप-सामान्य शक्तिरूप में विद्यमान हैं। आत्मा में वर्तमान एक अवस्था प्रगट होती है और दूसरी सभी त्रिकाल शक्तिरूप से होती हैं। यहाँ सामान्य-अखण्ड द्रव्यस्वरूप का कथन करना है, इसलिए वर्तमान पर्याय के भेद गौण करके पर-निमित्त की अपेक्षा न लेकर वर्तमान एक समय में त्रिकाल रहनेवाला एकरूप पूर्ण ज्ञायकतत्त्व लिया है, वही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार त्रिकाली आत्मा को ही लक्ष्य में लेना चाहिए। अखण्ड-सामान्य वस्तु को लक्ष्य में लेना द्रव्यदृष्टि है।

वर्तमान संयोग की अपेक्षा और अवस्था के भेदों को गौण करके वर्तमान अवस्था के पीछे जो सामान्य त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और आनन्दरूप अनन्त गुण भरपूर अखण्ड स्वरूप है, उसका लक्ष्य करके जो अखण्ड ज्ञायकरूप में ज्ञात होता है, वही परमार्थस्वरूप आत्मा है। जो ज्ञायकरूप से मालूम हुआ है वही मैं हूँ, इस प्रकार अन्तरंग से मानना सो सम्यग्दर्शन है। मैं अखण्ड ज्ञायक ज्योति एकरूप हूँ, ऐसा प्रगट शुद्ध ज्ञायकभाव लक्ष्य में लेकर, मैं अनन्त काल रहनेवाला वर्तमान में परिपूर्ण हूँ, ऐसा अन्तरंग में अनुभव से जानना

सो सम्यग्दर्शन है। इसमें जो भी गूढ़ रहस्य था वह बहुत स्पष्ट करके कहा है, किन्तु वह हाथ में लेकर तो बताया नहीं जा सकता। स्वयं तैयार होकर ग्रहण करके और धीरे-धीरे जुगाली करके उसे पचाये तो अवश्य लाभ हो।

इस वस्तु को समझना ही वास्तव में महत्त्व की बात है निरपेक्ष अभेद पूर्ण स्वभाव वर्तमान साक्षात् शुद्ध स्वरूप से जिस प्रकार है। उसी प्रकार अनादि से लक्ष्य में नहीं किया, पर से भिन्न एकत्व की बात कभी नहीं सुनी, ''इसलिए वह कठिन मालूम पड़ती है। किन्तु समझ के बाद सब सरल है।'' सम्यग्दर्शन होने से पहले प्रारम्भ में ही समझने की यह बात है। वर्तमान में प्रति समय में आत्मा पूर्ण स्वरूप है, इसलिए उसे ही विषय (लक्ष्य-ध्येय) बनाकर शुद्ध अखण्डरूप से लक्ष्य में लेना चाहिए। वह शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्याय के क्षणिक भेद को गौण करके एक समय की वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त वर्तमान में विद्यमान प्रत्येक अवस्था के साथ ही प्रति समय में अनन्त चैतन्यशक्तिरूप से जो समस्त सामान्य-ध्रुवस्वभाव है। उसे लक्ष्य में लेना द्रव्यदृष्टि का विषय है।

ज्ञान का उपयोग प्रत्येक समय में होता है, उसमें वर्तमान भव का ध्यान होता है। गत अनन्त भावों में भी उस समय के वर्तमान रहनेवाले भाव से विचार करता था। इस प्रकार अनन्त भाव में स्वयं वस्तु, उसका क्षेत्र, उसका काल और उसके भाव को ज्ञानसामर्थ्य से ज्ञायकरूप से जानता था। अब इसके बाद जितने भव करेगा उनमें भी वर्तमान में रहनेवाला ज्ञान करेगा। ऐसी भारी शक्ति पहले प्रत्येक समय में थी। जब-जब जिस-जिस भव में रहा तब तक ज्ञान में उसको उस-उस भाव से जानता था तो भी उस भाव के लिये—उस अवस्था के लिये ही सामर्थ्य न था, किन्तु दूसरे अनन्त काल का ज्ञान करने का अनन्त सामर्थ्य था। यह तो एक ज्ञानगुण की बात कही। ऐसे ही एक साथ वस्तुरूप में त्रिकाल रहनेवाले अनन्त गुण पूर्ण-अभेदरूप में समझना चाहिए। वर्तमान पर्याय के भेद को न देखकर त्रैकालिक अखण्ड स्वरूप को देखें तो आत्मा द्रव्य से, गुण से और पर्याय से शुद्ध ही है, उसमें पुण्य-पापरूप उपाधि का भेद नहीं है, मन के सम्बन्ध का विकल्प भी नहीं है। मैं तीनों काल एकरूप रहनेवाला, ज्ञायक-पूर्ण स्वभाव की शक्ति का पिण्ड हूँ, मात्र एक समय की अवस्था के लिये नहीं, किन्तु नित्य, निरालम्बी, निरपेक्ष,

अनन्त गुणरूप से रहनेवाला पूर्ण हूँ, ऐसा निर्मलस्वभाव जब तक लक्ष्य में नहीं आता तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता था अंतरंग में ज्ञान की स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। यहाँ निश्चय से सम्यग्दर्शन नहीं होता वहाँ ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते, इसलिए सबसे पहले इसे समझना चाहिए। अभी तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। आत्मा की पहिचान कैसे करना चाहिए उसका यहाँ से प्रारम्भ होता है।

जो बात होती है सो वह भाषा से होती है। भाषा स्वभाव से भिन्न है। जड़रूप वाणी के द्वारा चेतनरूप आत्मा, पूर्णरूप से भलीभाँति कैसे कहा जा सकता है? वाणी तो जड़रूपी है और आत्मा चेतन, अरूपी है। वाणीरूपी शत्रु के द्वारा सज्जन की प्रशंसा कितनी करायी जा सकती है?

कोई कहता है कि यदि तुम हमें समझा सको तो सच्चे हो। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। सत्य ऐसा नहीं कि जब कोई सत्य को माने तभी उसका मूल्य होता है। तुम पृथक् स्वतन्त्र हो, तुम्हारी तैयारी के बिना कोई निमित्त हो नहीं सकता, यदि कोई समझे तो समझने में निमित्त कहलाता है और न समझे तो निमित्त भी नहीं कहलाता। जगत समझे या न समझे, किन्तु जो सत्य है, वह बदल नहीं सकता।

लोगों को अन्तरंग का सूक्ष्म तत्त्व कठिन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बात कभी नहीं सुनी, इसलिए वे बाहर की बातों की धूमधाम करते हैं। कितने ही बुलक्कड़ ऐसी बकवाद किया करते हैं कि जिसका कहीं मेल ही नहीं बैठता।

अनन्त काल में तुझे सम्यक् वस्तुस्थिति की खबर नहीं पड़ी और न कभी सत् को सुना है। पहले अनन्त काल में कभी नहीं प्राप्त हुई यह अपूर्व वस्तु है। उस शुद्धात्मा की बात छठवीं गाथा में करते हैं और कहते हैं कि यह छट्ठी का लिखा देख टाले नहीं टलता।

भगवान आत्मा मन, वाणी, देह और इन्द्रियों से भिन्न है, पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित है; वर्तमान मन के अवलम्बन से ज्ञात हो उतना ही यह नहीं है; किन्तु प्रत्येक समय में अनन्त गुण का पिण्ड-ध्रुवस्वभावी है। उसमें वर्तमान पर्याय पृथक् नहीं है, फिर भी वर्तमान पर्याय-भेद का लक्ष्य छोड़कर सामान्य रहनेवाला ध्रुवशक्तिरूप सम्पूर्ण तत्त्व है, वही आत्मा का पूर्ण स्वरूप है। ऐसा पूर्ण द्रव्यस्वभाव ज्ञायकरूप में मालूम हुआ सो तो वही है।

प्रश्नः—आत्मा को ज्ञायक कहने से पर की उपाधि की अपेक्षा होती है।

उत्तरः—नहीं पर को जानने के लिये उसके पास जाना नहीं पड़ता, किन्तु स्व को जानने पर वह सहज ही ज्ञात हो जाता है, अर्थात् पर को जानने की उपाधि नहीं है। पर्याय को न देखकर निरपेक्ष-अखण्ड ध्रुवस्वभाव को देखना सम्यग्दर्शन है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता, और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता। हाँ, ध्रुवस्वभावरूप रहकर रूपान्तर होता है। जो पदार्थ है उसका नाश नहीं होता, फिर भी यदि उसमें कोई अवस्थांतर न होता हो तो कभी भी विकार दूर होकर अविकारीपन नहीं होगा। जैसे दूध की अवस्था बदलकर दहीरूप न होती हो तो कोई कार्य विशेष न हो सकेगा। और यदि पदार्थ केवल नित्य ही हो, कूटस्थरूप, त्रिकाली, एकरूप ही रहे तो अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं हो सकेगी।

आत्मा नित्य है और उसका ज्ञायकत्व स्थिर रहता है। उस ओर की दृष्टि करने पर आत्मा अकेला ज्ञायक, निर्मल, नित्य, अखण्ड पिण्ड है, वह ज्ञात होता है। आत्मा में अनन्त गुणरूप शक्ति त्रिकाल भरी हुई है। शक्तिरूप से तो गुण शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान एक अवस्था में अशुद्ध है। अवस्था में विकार होता है किन्तु पूर्ण गुण विकारी नहीं होता। यदि निर्विकारी-त्रिकाल पूर्ण को लक्ष्य में न ले तो अध्रुव, क्षणिक विकारभाव को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होता। विकार को नाश करने का सामर्थ्य त्रिकाल आत्मा में विद्यमान है।

मुझे अवगुण नहीं चाहिए, ऐसा कहनेवाला अव्यक्तरूप से यह स्वीकार कर रहा है कि मैं अवगुण को रखनेवाला-करनेवाला नहीं, किन्तु उसका नाशक हूँ। पूर्ण गुण मुझमें हैं, इसका भान कहनेवाले को भले न हो, किन्तु उसके ही बल से वह यह कहता है कि मुझे अवगुण नहीं चाहिए।

जब तक विकार के ऊपर दृष्टि रखे, किन्तु अखण्ड, पूर्ण, शुद्धद्रव्य में लक्ष्य में न ले तब तक निरपेक्ष, पूर्ण तत्त्वस्वभाव जैसा है वैसा पहचानने में नहीं आता। जहाँ मुक्तस्वरूप, एकरूप स्वाधीन तत्त्व नहीं जाना वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है। अविकारी पूर्ण स्वरूप लक्ष्य में आये बिना पुण्य-पाप, विकार का अल्प भी नाश नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप पर की उपाधि से रहित, पर में कर्ता-भोक्तापन से रहित, ज्ञानानन्दरूप

से पूर्ण पवित्र है; उसको लक्ष्य में लेकर उस एकत्व में एकाग्र होना चारित्र है। सम्यग्दृष्टि के बिना जो कुछ भाव जीव करता है वे सब इकाई-रहित शून्य के समान हैं।

धर्म तो अरूपी आत्मा में ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप है, उसे भूलकर लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति में आत्मा का धर्म मानते हैं; यही अज्ञान है।

मैं रागी हूँ, राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है, यह बन्धनभाव की दृष्टि है। रागादि सर्व विकार का नाशक मेरा स्वभाव है, ऐसी दृष्टि अनन्त पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट होती है, अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध, एकरूप स्वभाव के लक्ष्य से स्वभाव की समझ और स्वाभाविक शुद्धता प्रगट होती है।

आचार्य महाराज अपनी अन्तर स्थिरता में छठवें-सातवें गुणस्थान में प्रवर्तमान हैं। मैं अखण्ड एकरूप ज्ञायक हूँ, उसमें यह अप्रमत्त-प्रमत्त-भाव के दो भेद क्यों? इस प्रकार भेद का नकार करके, भेदरूप पर्याय को गौण करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को ही लक्ष्य में लेते हैं।

टीका:—आत्मा स्वयं-स्वत:सिद्ध है; उसका कोई कर्ता नहीं है, वह संयोगी वस्तु नहीं है। तथा वह भूतकाल में नहीं था, सो बात नहीं है। वह अनादि-अनन्त सत्स्वरूप है-अस्तिरूप है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए उसे किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है, तथा उसकी कोई सहायता करनेवाला नहीं है, और वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिए क्षणिक नहीं है, किन्तु ध्रुव है; वस्तुरूप में रहकर पर्यायों को बदलनेवाला है। अपनी वर्तमान अवस्था का स्वयं कर्ता होने से त्रैकालिक समस्त अवस्थाओं का स्वयं ही कर्ता है, दूसरा कोई नहीं। अपना कर्तृत्व स्वतन्त्र होने से उसके धर्म के लिये किसी पुण्य-पाप-विकार आदि की आवश्यकता नहीं है।

वह कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है। 'अनन्त' अर्थात् क्षेत्र से अनन्त नहीं किन्तु स्वयं पूर्ण शक्ति से अनन्त है और अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अखण्ड है।

वह नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है, किन्तु प्रत्येक क्षण में चैतन्यमूर्ति, स्पष्ट प्रकाशमान ज्ञानज्योति है। ऐसा अखण्ड निर्मलस्वरूप समझे बिना जन्म-मरण दूर करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो नित्य अविकारी, ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में न ले उस जीव

के धर्म नहीं होता, भव नहीं घटता; वह जीव मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति में अथवा पुण्य में धर्म मानकर अटक जाता है; जिसका फल बन्धनरूप संसार है। इस बात का जिसे ध्यान नहीं है, उसने बाह्य प्रवृत्ति में ही कृत-कृत्यता मान रखी है; इसलिए जब वह अपनी मान्यता से विरुद्ध बात सुनता है तब वह सत्य तत्त्व का विरोध करता है। बालक को पेड़ा देने के लिये जब उसकी लकड़ी की चूसनी छीनी जाती है, तब वह रोने-चिल्लाने लगता है, इसी प्रकार मुक्तिरूपी पेड़े का स्वाद चखाने के लिये बाल-अज्ञानी जीवों के पास से उनकी विपरीत मान्यतारूपी पकड़ (चूसनी) छुड़ाई जाती है, तब वे चिल्लाने लगते हैं।

अहो! परम सत्य की बात कान में पड़ना भी बड़ी दुर्लभ है। अनन्त काल में यह अमूल्य अवसर मिला है तब भी अपूर्व सत्य नहीं समझे, स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव के सामर्थ्य को न समझे तो चौरासी का परिभ्रमण नहीं मिट सकेगा।

मैं पर से भिन्न, साक्षत् चैतन्यज्योति, अनन्त आनन्द की मूर्ति हूँ; यह समझे बिना जितने शुभभाव करता है वे मुक्ति के लिये व्यर्थ हैं। यह सुनकर कोई विरोध करता है कि अरे रे! मेरा तो सर्वस्व ही उड़ जाता है। किन्तु प्रभु! तेरी प्रभुता तुझे समझायी जा रही है, तेरा अनन्त महिमामय स्वभाव तुझे समझा रहे हैं, तब तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे तो यह कैसे चल सकता है?

जैसे किसी कुलीन परिवार का पुत्र नीच की संगति करता हो तो उसे उसका पिता ताना मारता है कि अरे भाई! उच्चकुलवाले को ऐसा नहीं करना चाहिए। इससे अपने कुल को लज्जित होना पड़ता है? इसी प्रकार जो आत्मविरोधी पुण्य-पाप की प्रवृत्तिरूप कुसंगति में पड़ता है, उससे तीर्थंकरदेव कहते हैं कि यह कुसंगति तुझे शोभा नहीं देती, इससे तेरी प्रभुता लज्जित होती है, तेरी जाति सिद्ध परमात्मा के समान है।—ऐसा कहकर पुण्य-पापादि से रहित उसका ज्ञानस्वभाव बताते हैं।

जो पुण्य-पाप और पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं और जो यह मानते हैं कि पुण्य (विकार) करते-करते धीरे-धीरे आत्मशुद्धि हो जायेगी, उनसे कहते हैं कि इस विपरीत मान्यतारूप लकड़ी की चूसनी से स्वाद नहीं आयेगा, इसलिए इसे छोड़ और एक बार अपने स्वाधीन स्वभाव को अन्तरंग से स्वीकार कर।

स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिरूप जो ज्ञायक 'एक' भाव है, उसमें पर की अपेक्षा नहीं

होती। आत्मा ज्ञायक स्वरूप से निरपेक्ष, त्रिकाली, पूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव संसार अवस्था में कषाय-चक्र में पड़कर पुण्य-पाप के अनेक भावों को अपना मानकर उनका कर्ता होता है। मन, वाणी, देह में संसार नहीं है, जड़ में संसार नहीं है, किन्तु देहादि तथा राग-द्वेष मेरे हैं ऐसी विपरीत मान्यतारूप अज्ञानभाव ही संसार है।

यद्यपि स्वभावरूप ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि-अनन्त-अरूपी शुद्ध स्वभाव में स्थित है तथापि वर्तमान प्रत्येक अवस्थारूप से अशुद्धता करके अनादि से बन्ध पर्यायरूप से विकारी होता है। विकार में दूसरा निमित्त होता है। यदि पर के अवलम्बन के बिना विकार सम्भव हो तो विकार स्वभाव हो जाये और जो स्वभाव होता है वह दूर नहीं हो सकता। किन्तु विकार दूर हो सकता है, इसलिए प्रत्येक आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल शुद्ध ही है।

यदि कोई यह माने कि आत्मा जड़-पुद्गल कर्मों के साथ एकमेक है, सो यह वास्तव में ठीक नहीं है। यदि द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो वर्तमान अशुद्ध अवस्था के समय भी वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है। जैसे सोने में तांबा मिला हुआ हो तो भी सोना अनेकरूप में शुद्ध ही है। इसी प्रकार चैतन्यधातु, ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल शक्तिरूप से पर से भिन्न शुद्ध ही है। संसार-अवस्था वह कर्म के निमित्त की ओर लगा हुआ दिखायी देता है, फिर भी उसका पृथक्त्व मिट नहीं जाता। आत्मप्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता बढ़ने से स्वभाव पर्याय दृढ़ होती जाती है और क्रमशः मोक्ष पर्याय प्रगट होती है तथा कर्म संयोग दूर हो जाता है। अनादि काल से स्वभाव की अपेक्षा से पर से पृथक् था, इसलिए पृथक् हो जाता है, तथा आत्मा का पृथक्त्व कदापि नहीं मिटता।

दूध का स्वभाव सफेद और मीठा है, पानी का स्वभाव पतला है और भाप बनकर उड़ जानेवाला है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञानानन्दमय, नित्य एकरूप, स्थिररूप है और जड़कर्म के संयोग का स्वभाव क्षणिक है, स्वयं उसके निमित्ताधीन होने पर जो विकारी भाव होता है, वह भी क्षणिक है।

संसारी अवस्था में अनादि बन्ध पर्याय की अपेक्षा से दूध और पानी की भाँति कर्म पुद्गलों के साथ आत्मा एकरूप होने पर भी यदि द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाये तो जिसका दूर होना कठिन है ऐसे कषायचक्र के उदय की विचित्रता से प्रवर्तमान जो

पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभ-अशुभभाव हैं, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता। अर्थात् वह ज्ञायकस्वभाव को छोड़कर जड़रूप नहीं होता, क्योंकि पुण्य-पापादि परवस्तु ज्ञेय हैं और आत्मा उसको जाननेवाला भिन्न है।

विष्टा और मिष्ठान्न दोनों परमाणुओं की क्षणिक अवस्था हैं। यद्यपि ज्ञान की दृष्टि से उनमें कोई अच्छा या बुरा नहीं है, तथाप ज्ञात परवस्तु में अच्छा या बुरा मानना सो विपरीतता है और वह भाव बन्धभाव है। मैं ज्ञाता हूँ और प्रस्तुत पदार्थ ज्ञेय है, मैं एकरूप-ज्ञातारूप हूँ, उसमें अच्छे-बुरे का द्वित्व नहीं आता।

प्रश्न:—शुभाशुभभाव कैसे हैं ?

उत्तर:—पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, वे आत्मा की शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। शुभभाव पुण्यबन्ध के भाव हैं, और अशुभभाव पापबन्ध के भाव हैं, दोनों विकार हैं, इसलिए वे आत्मा के गुण में सहायक नहीं हैं।

कषाय=(कष=संसार+आय=लाभ) का अर्थ है जो संसार का लाभ दे और आत्मा के गुण की हानि करे। आत्मा प्रति समय नये विकार करता आ रहा है। इस प्रकार प्रवाहरूप से कषायभाव में युक्त होते-होते अनन्त काल बीत गया, फिर भी आत्मा कषायरूप नहीं हुआ, किन्तु अखण्ड-चैतन्यज्योतिरूप ही बना हुआ है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की मूर्च्छा, इत्यादि अशुभभाव हैं; उनसे पापबन्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सेवा, पूजा, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव हैं; उनसे पुण्यबन्ध होता है। अविकारी आत्मधर्म उन दोनों से पृथक् है। आत्मा में पर को ग्रहण करने या छोड़ने का कोई स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार शुभाशुभवृत्ति भी परमार्थ से उसका स्वरूप नहीं है, प्रमत्त और अप्रमत्त का भेद भी उसमें नहीं है। वही समस्त अन्य द्रव्यों के भाव से भिन्नरूप में उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

एक चील मांस का टुकड़ा लेकर जा रही हो, यदि उस समय दूसरी चील आकर उसे छीन ले तो वह दूसरे टुकड़े को ढूँढ़ने के लिये जाती है किन्तु यदि उसे मिष्ठान्न का थाल मिल जाये तो वह सड़े हुये माँस को ढूँढ़ने के लिये न जाये, लेकिन उसे मिष्ठान्न का महत्त्व मालूम न हो तो वह सड़े हुए माँस को ही ग्रहण करेगी। इसी प्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है, वही विकारी पुण्य-पापरूप भाव को अपना

मानकर ग्रहण करता है। आत्मा में परम सुख भरा है, यदि उसकी महिमा ज्ञात हो जाये तो फिर विकारी भाव को छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है, अर्थात् उसके अभिप्राय में राग-द्वेष करने का भाव विद्यमान रहता है, और ज्ञानी के जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तब तक पुरुषार्थ की निर्बलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य-पाप हो जाता है, किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता, कर्ता नहीं होता; उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है, उसके पास से यदि कोई कुटुम्बीजन कोई वस्तु ले तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसी प्रकार से भी एकत्रित किया जाये; उसी प्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्ध स्वभाव का ही प्रेम है, उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसी पर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतन्त्रस्वभाव; वह धर्म आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है, तथा पुण्य-पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्य क्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन, वाणी, देह, पुण्य-पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है, जब तक जीव यह नहीं जानता तब तक स्वाधीन, सुखरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिए प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है, उसे वैसा जानना-मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखे तो वह उष्ण दिखायी देता है, फिर भी इस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है, यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि देखे तो वह विकारी दिखायी देता है, किन्तु उसके स्वभाव में विकार नहीं है। क्षणिक विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व में स्थिर होता है, उसे सहजानन्द की प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न-भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिए उससे

उकताना नहीं चाहिए, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिए। जैसे शरीर पर राग है इसलिए अनादि काल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नहीं है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है; इसी प्रकार आत्मा को समझना चाहिए और उसी की महिमा में एकाग्र होना चाहिए। यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिए बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिए और यह विश्वास करना चाहिए कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ में आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है, उसमें कुछ न जाने ऐसा नहीं होता, क्रम-क्रम से जानना नहीं होता। उसमें एक साथ सबको (स्व-पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय में ही होता है। केवलज्ञान में तीन काल और तीन लोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायों सहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रति समय में शक्तिरूप से है। केवलज्ञान में भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भाँति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमें वर्तमान पर्याय जिस प्रकार वर्तमान में रहती है उसी प्रकार जानता है, और भूत-भविष्य की पर्याय जिस प्रकार हो गयी और होगी उसरूप से जानता है; किन्तु उन्हें वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनों लोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्तमान द्रव्य में विद्यमान है, उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया है। केवलज्ञान में भूत-भविष्य की अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष जानी जाती हैं, तब सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान में वह भूत-भविष्य की पर्यायें परोक्षरूप से जानी जाती हैं, किन्तु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है, मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व-पर की पर्याय को प्रत्यक्ष जानता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान में भी स्व-पर की पर्याय परोक्षरूप से जानी जाती है।

ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्व को जानता है और जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, उसे भी जानता है। इस प्रकार स्व को और पर को जानने का ज्ञान दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व-पर को जाननेवाला है, किसी में अच्छा-बुरा मानकर अटकनेवाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूँ, मैं देहादि पर का काम करनेवाला हूँ, पर मुझे सहायता पहुँचाता है, उसने अपने को पर के साथ एकमेक माना है, अर्थात् वह यह नहीं

मानता कि उसमें पर से भिन्न धर्म की शक्ति है। जो पर से पृथक्त्व है सो स्व में एकत्व है। पर से पृथक्त्व की श्रद्धा में पर से पृथक् करने की पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनन्त काल से नहीं समझा, इसलिए भवभ्रमण कर रहा है। वस्तु की महार्घ्यता बतलाकर स्वभाव की महिमा दर्शायी है। आत्मा का पर से भिन्न स्वतन्त्ररूप जैसा है, वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्म के प्रारम्भ की सबसे पहली बात है, ऊँचे तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं है। जिसने शुद्ध ज्ञायकभाव को लक्ष्य में लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा जो नहीं समझता उसका भवभ्रमण दूर नहीं होता, इसलिए प्रथम सत्समागम से यथार्थ समझकर एकबार सत्य को स्वीकार करे कि मैं विकाररहित, निर्मल हूँ तो उसे तो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव की निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यन्त तीव्र और सत्पुरुषार्थ चाहिए।

यदि निश्चयरूप से स्व को लक्ष्य में ले तो शान्ति अवश्य प्राप्त हो। यदि परवस्तु में राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे तो अशान्ति हो। जो यह मानता है कि पर में सुख है वह पर को और स्व को एक मानता है। जो ज्ञायकमात्र, निर्मलस्वभावी अपने स्वरूप को भिन्न नहीं मानता वह पर में अच्छा या बुरा मानकर अटक जाता है। विषय—शब्द, रूप, रसादि तथा विकार को अपना माननेवाला भिन्न ज्ञायकमात्र आत्मा को नहीं मानता। उस मिथ्यादृष्टि का विषय 'पर' है और सम्यग्दृष्टि का विषय (लक्ष्य) 'स्व' है। वर्तमान क्षणिक विकार मात्र के लिये मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक, अखण्डानन्द, चैतन्यमात्र, निर्विकारी हूँ—ऐसा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को अपना मानना सो सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी को यह खबर नहीं है।

भव से छूटना हो, पुण्य-पाप की पराधीनता से मुक्त होना हो, पूर्ण, स्वतन्त्र, सहजात्मस्वभाव, अखण्डानन्द आत्मभाव प्रगट करना हो तो इसे समझे बिना नहीं चल सकता, खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिए।

पर से मुझे लाभ है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरे आधीन है; ऐसी बुद्धि जब तक रहती है तब तक पर में इष्ट-अनिष्ट का भाव दूर नहीं होता। इस प्रकार की मान्यता की लीक को छोड़कर निरालम्बी स्वाधीन आत्मस्वभाव को मानना ही होगा। मन के अवलम्बन से धर्म नहीं है, जो शुभ विकल्प उठता है वह भी आत्मगुणरोधक है। पुण्य-

पापरूप विकार से आत्मगुण को सहाय होती है, ऐसा माननेवाला गुण और विकार को एक मानता है; उससे विपरीत स्वतन्त्र-निर्विकारी आत्मस्वभाव को जिसने जाना है, उसने मुक्त होने का उपाय, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता इत्यादि सब जान लिया है।

शुभाशुभभाव से पुण्य-पाप की उत्पत्ति होती है, फिर भी सारा आत्मा उस क्षणिक विकार में ऐकमेक नहीं होता, इसलिए पर से भिन्न, स्वभावतः नित्य, शुद्ध आत्मा की निरन्तर उपासना करना चाहिए, यही सम्यग्दर्शन है, स्व-पर की पृथक्ता का जो विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मशुद्धि में स्थिरता है सो सम्यक्चारित्र है। इसका बारंबार मनन-मन्थन करना चाहिए और स्वभाव में स्थिर रहना चाहिए।

लोगों को स्वरूप की रुचि नहीं, किन्तु पुण्य-पाप विकार, बन्ध-पर की रुचि है। धर्म के नाम जैसा अनन्त बार माना है यहाँ उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादि से पार है; मन, वाणी, देहादि परवस्तु की क्रिया वह नहीं कर सकता। विकार को अपना मानता है किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता। पर से लाभ-हानि होती है—ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है, उसे सम्यक्-मान्यता के द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्मा के एकत्वस्वभाव का वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्व-परप्रकाशक है, फिर भी उसका ज्ञान पर के अवलम्बन से रहित है। आत्मा के सहज स्वभाव को समझे बिना जीव नववें ग्रैवेयक में अनन्त बार हो आया, शुभभाव के द्वारा जो व्रतादि पुण्य क्रिया हुई, उसमें अटक गया, मात्र बाह्य क्रिया के ऊपर लक्ष्य रखा, बहुत ऊँचा पुण्य बाँधकर अनन्त बार देव हुआ, किन्तु मैं निरालम्बी, ज्ञायकमात्र हूँ, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं, अखण्ड स्वतन्त्र ध्रुवस्वभावी हूँ, इस प्रकार नहीं माना। वर्तमान में भी शक्तिरूप से पूर्ण हूँ, निरपेक्ष हूँ, कृतकृत्य हूँ, ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभ प्रवृत्ति के ऊपर लक्ष्य रहा, परलक्ष्य से कषाय मन्द की, पुण्य बाँधकर देवलोक में गया, किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी-अवस्थामात्र नहीं हूँ, मैं तो अनन्त ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ, ऐसा विश्वास नहीं हुआ, स्वलक्ष्य को भूलकर मात्र शुभभाव किया, उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगों की प्राप्ति हुई, वह अल्प काल में छूट जाती है। पर से भिन्न आत्मस्वभाव को अन्तरंग से न तो विचारा है और न गुरुज्ञान से समझा है। पर का थोड़ा-सा आश्रय चाहिए, जिसने ऐसा माना उसने आत्मा में स्वतन्त्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किन्तु यदि आत्मा में गुण न हो तो आयेगा कहाँ से ?

प्रत्येक जीव में ज्ञान-आनन्द स्वभाव से विद्यमान है, उस पर लोग लक्ष्य नहीं देते, मात्र शुभाशुभ प्रवृत्ति को ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है, पर में सर्वथा अक्रिय है, उसकी महिमा को नहीं जानते। जीव खूँटे से बँधी हुई भैंस को जो खूँटे के इधर-उधर घूमा करती है, उसकी क्रिया की शक्ति को देखते हैं, किन्तु दृढ़तापूर्वक जो खूँटा गड़ा है, वह अक्रिय दिखायी देता है, फिर भी उसमें जो शक्ति विद्यमान है, उसे नहीं देखता। इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल शक्ति से परिपूर्ण है, उस पर लोगों की दृष्टि नहीं है, मात्र क्षणिक अवस्था में होनेवाले विकार पर ही दृष्टि है; नित्य, ध्रुव, अखण्डानन्द, चिन्मूर्ति, शाश्वत, सुदृढ़ खूँटा (आत्मा) निश्चलरूप में विद्यमान है, सो लोग उसे नहीं देखते। जो यह मानता है कि मैं मन-वाणी और देह की प्रवृत्ति करता हूँ तो होती है, पर से लाभ-हानि होती है, निमित्त से मेरा काम होता है; मानों वह यह मानता है कि मैं निर्माल्य हूँ।

यदि उपादान तैयार हो, श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप अन्तरंग का प्रयत्न हो तो उसके अनुकूल ऐसे निमित्त उपस्थित होते ही हैं। निमित्त से स्वकार्य की सिद्धि नहीं होती। यदि निमित्त सहायक हो तो निमित्त का और अपना एकत्व हो जाये। अपने स्वभाव में कोई भी शक्ति नहीं है ऐसा माननेवाला यह मानता है कि यदि अन्य का अवलम्बन मिले तो मेरा गुण प्रगट हो जाये; इसका यह अर्थ हुआ कि उसे निरावलम्बी, निरपेक्ष आत्मतत्त्व पर विश्वास नहीं है। जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई और पुरुषार्थ की कमी से निज में अखण्डरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब तक धर्मात्मा को अशुभभाव से बचने के लिये सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावना व्रतादि के शुभभाव होते हैं, किन्तु वह उस शुभभाव को कभी सच्चा धर्म नहीं मानता, वह अरागी स्वभाव को सन्मुख रखकर जब शुद्ध में नहीं रह सकता तब शुभ में रहता है, किन्तु व्रतादि का शुभभाव भी राग है, उससे बन्धन है, अविकारी आत्मस्वभाव को उससे कुछ लाभ नहीं है, इस प्रकार उसके सम्यक्-प्रतीति है। शुभभाव से पुण्यबन्ध होता है, उस पर ज्ञानी का आश्रय नहीं है; मात्र निर्मल, अबन्ध स्वभाव पर ही आश्रय है-लक्ष्य है। जब जीव निरालम्बी अरागी स्वभाव की श्रद्धा करता है, तब तत्क्षण ही समस्त राग दूर नहीं हो जाता। दृष्टि अविकारी-ध्रुवस्वभाव पर पड़ी है, उसके बल से अवशिष्ट अल्प राग को तोड़कर अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसी प्रतीति धर्मात्मा के पहले से ही होती है। गुण आत्मा में हैं, ऐसा न मानकर पर की सहायता के द्वारा गुण प्रगट होते हैं, ऐसा जो मानता है वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला है और

वही अनादि की स्व-हिंसा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसा है? क्या उसे जानना ही चाहिए? क्या उसे जाने बिना मुक्ति नहीं होती?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई! सुनो, तुम प्रभु हो, सिद्ध परमात्मा के समान हो, शक्ति से मुझमें और तुममें सिद्धत्व स्थापित करता हूँ। किन्तु जिसके अभिप्राय में यह बात है कि मैं रंक हूँ, कोई मेरी सहायता करे तो उसके अन्तरंग में यह महिमा कहाँ से आ सकती है कि परमात्मत्व मुझमें विद्यमान है? तू वर्तमान में भी परिपूर्ण है, विकार का नाशक है, ऐसी प्रतीति तो कर। उसके बाद यदि पर के ऊपर लक्ष्य जाने से अल्प राग हो जाये और यदि उस समय देव, शास्त्र, गुरु की उपस्थिति हो तो उस पर शुभभाव का निमित्तारोपण किया जाता है। अपने भाव के अनुसार संयोग में निमित्त का आरोप होता है। स्वयं पापभाव करे स्त्री, धन, देहादि पर राग रखे तब उन वस्तुओं को अशुभभाव का निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्त पर का कुछ करता-कराता नहीं है। धर्मात्मा की दृष्टि शुभभाव पर नहीं है, फिर वह शुभभाव चाहे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का हो या व्रतादि का हो, किन्तु वह उसे परमार्थ से तो हेय ही मानता है। शुभभाव का निमित्त आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है, अपना निर्मल स्वभाव ही सहायक है, इस प्रकार की मान्यता का बल मोक्ष का मूल है। निर्मल स्वभाव की प्रथम अन्तरंग समझ से हाँ कह; फिर विशेष दृढ़ता के लिये बारम्बार उसका ही श्रवण-मनन और सत्समागम से उसी की रटन होनी चाहिए।

संसार में भी जब पहले बालक स्कूल में पढ़ने के लिये बैठता है तब अध्यापक पर ही विश्वास किया जाता है। एक के अंक को अनेक बार लिखने पर बहुत परिश्रम के बाद उसी की ठीक बनावट आ पाती है किन्तु हाथ जम जाने के बाद फिर दूसरे अंकों के सीखने में बहुत देर नहीं लगती। ऐसा त्रैराशिक हिसाब नहीं लगाया जाता कि एक का अंक सीखने में इतना समय लगा है तो मैट्रिक, बी.ए. या एम.ए. होने में कितना समय लगेगा? इसी प्रकार आत्मा का अनादि से पर के ऊपर रुचि का-अज्ञानभाव का लक्ष्य है, उस संसार की ओर के लक्ष्य को हटाकर आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने के लिये पहले सद्गुरु पर विश्वास करना चाहिए, उनका उपदेश बारम्बार अन्तरंग में पचाना चाहिए। प्रारम्भ में यह कठिन मालूम होता है, किन्तु वास्तव में उसे कठिन नहीं मानना चाहिए।

यथार्थ समझपूर्वक आत्मा के अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को एक बार स्वीकार कर ले और फिर उसी का अभ्यास हो जाये तो उसरूप अवस्था हो जाती है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था हो जाती है। जो सत्यस्वरूप है, वह त्रिकाल परनिमित्त के आश्रय से रहित है, पूर्ण परमात्मस्वरूप है। आत्मा पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है, सदा ज्ञातास्वरूप ही है। इसे स्वीकार करने पर अन्तरंग से अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है।

अनादि से जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है, उसे त्रैकालिक सत्यस्वरूप को समझने के लिये यह समयसार शास्त्र है। तू शुद्ध परमात्मा है यह बात सर्व प्रथम ही सुनायी जाती है। तू विकाररूप नहीं है, मन, वाणी, देहादिरूप नहीं है, निमित्ताधीन होनेवाला वर्तमान क्षणिक विकार तेरा स्वरूप नहीं है, परनिमित्त तुझे सहायता नहीं करते, क्योंकि तू निमित्तरूप नहीं है और निमित्त तुझमें नहीं हैं। परवस्तु स्वभाव में नहीं है, इसलिए वह लाभ या हानि नहीं कर सकती। तू स्वतन्त्र है, निर्मल आनन्दघन है, ऐसा यथार्थ स्वरूप समझे बिना चारित्र भी यथार्थ नहीं होता।

यथार्थस्वरूप को समझने के बाद तुरन्त ही राग-द्वेष सर्वथा दूर नहीं हो जाते। ज्ञानी के अल्प राग रहता है, किन्तु उसका स्वामित्व नहीं होता। दृष्टि में से राग-द्वेष का नाश करने पर सम्पूर्ण संसारपक्ष का माहात्म्य छूट जाता है।

जैसे बैठक में काँच का बड़ा सुन्दर झूमर लटक रहा हो और सेठजी (उसके मालिक) उसकी शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे हों, इतने में अचानक झूमर टूटकर नीचे गिर पड़े और उसके टुकड़े हो जायें तथा उस समय घर में कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो, तब सेठजी विचार करते हैं कि इन टुकड़ों को जल्दी बाहर फेंक देना चाहिए, नहीं तो बच्चों को लग जायेंगे। ऐसा विचार कर स्वयं काँच के टुकड़े हाथ में लेते हैं और उन्हें बाहर फेंकने जाते हैं, किन्तु सेठजी का मकान बहुत बड़ा है, इसलिए बाहर तक पहुँचने में काफी समय लग जाता है; उतने समय के लिये वह उन काँच के टुकड़ों को अपने हाथ में लिये रहते हैं, फिर भी उन्हें अपने पास रखने का भाव नहीं है, अर्थात् उन्हें पकड़े रखने में उत्साह या चाह नहीं है; जिस झूमर की शोभा को देखकर वह स्वयं प्रसन्न होते थे, उसके प्रत्येक टुकड़े को अब बाहर फेंक देना चाहते हैं। यह तो मात्र दृष्टान्त है; इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि अज्ञानदशा में जीव विकार को-पुण्य के संयोग को अपना मानकर उसमें

फूलाफूला फिरता था-आनन्द मानता था, किन्तु जब उसे भान हुआ कि 'विकार मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य के संयोग में मेरी आत्मशोभा नहीं है, मैं तो अनन्त आनन्द का रसकन्द हूँ' तब उसे शुभभाव का-पुण्य का भाव नहीं होता। पुरुषार्थ की हीनता से राग-द्वेष; पुण्य-पाप के निकालने में समय लगता है, तथापि वह अल्प रागादि में लगा हुआ दिखायी देने पर भी उनमें उसका स्वामित्व नहीं होता। उसकी तुच्छता उसे मालूम होती है, इसलिए वह उसे रखने की इच्छा नहीं करता। तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानने का मेरा स्वभाव है; इस प्रकार स्वभाव की महत्ता प्रतीत होने पर पर का कर्तृत्व और स्वामित्व दूर हो जाता है। स्वभाव का बल आने के बाद राग का भाव अल्प काल रहता है, किन्तु वह रखने के लिये नहीं, निकालने-दूर करने के लिये ही है। यद्यपि राग दूर करने में विलम्ब होता है, फिर भी एक-दो भव में तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करके पूर्ण मोक्षदशा प्रगट कर ही लेगा। वस्तु का निर्मलस्वभाव जाना कि तत्काल ही त्यागी हो जाये, ऐसा सभी के नहीं बनता; किन्तु दृष्टि अखण्ड शुद्ध स्वभाव पर गयी है, उस दृष्टि के बल से तीव्र स्थिरता करके, अल्प काल में समस्त विकार दूर करके पूर्ण शुद्ध हो जायेगा।

अज्ञानी बाह्य संयोग से, पुण्यादि से अपनी शोभा मानता है और विकार को अपना करना चाहता है, किन्तु विकार के रो से कुछ मोटा दिखायी देता हो तो वह वास्तव में निरोगता से पुष्ट हुआ नहीं माना जाता, इसी प्रकार पुण्यबन्ध और विकार के रोग से आत्मपुष्टि नहीं होती, पुण्यबंध और विकार के राग से रहित आत्मा की निरोगता ही सच्ची निरोगता है।

इस गाथा में आत्मा को शुद्ध, ज्ञायक कहकर मोक्ष का माणिकस्तम्भ स्थापित किया है। जैसे विवाह से पूर्व माणिकस्तम्भ रोपा जाता है, उसी प्रकार जिसे मोक्ष की लगन लगी है उसे इस गाथा में आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप बताया है वैसा ही प्रारम्भ में जानना चाहिए।

समयसार में कहा है कि आत्मा की महत्ता ज्ञात होने से पर की महत्ता चली जाती है।

आत्मा की जो स्वतन्त्र, शुद्ध, पूर्ण दशा प्रगट होती है, वही मोक्ष है। वह मोक्ष बाहर से नहीं आता, किन्तु स्वभाव में ही वह पूर्ण, निर्मलदशा शक्तिरूप से विद्यमान है। उसका

मूल एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। उसके बिना जीव धर्म के नाम पर व्रत, क्रिया, तपश्चर्या इत्यादि सभी कुछ अनन्त बार कर चुका है। बाह्य प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा में गुण प्रगट होगा, शुभ विकल्प की सहायता से गुण होगा, ऐसा मानकर इस जीव ने अनन्त काल में जितना जो कुछ किया है, उसका फल संसार भ्रमण ही हुआ है।

कोई अज्ञानी प्रश्न करता है कि—'क्या हमारे व्रत-तपादिक का कुछ भी फल नहीं है ?' उसका उत्तर यह है कि—व्रत-तपादि में यदि कषाय मन्द हो, दया, दान, भक्ति में राग-तृष्णा घटाये तो पुण्य बँधता है, किन्तु वह विकार है, इसलिए अविकारी आत्मा का धर्म नहीं है, और इसीलिए उससे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

प्रश्न:—प्रभो! उस शुद्धात्मा का स्वरूप समझाइये कि जिसकी रुचि होने से पुण्य-पाप बन्ध की सहजरूप तुच्छता ज्ञाता हो ?

उत्तर:—खीर का स्वाद चखने के बाद बासी खिचड़ी का स्वाद लेने की वृत्ति छूट जाती है; उसकी तुच्छता मालूम होने पर उसमें रस नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव होने पर आत्मिकसुख का संवेदन होकर सांसारिक विषय-सुखों की तथा पुण्य-पाप की तुच्छता प्रतिभासित होने लगती है, इसलिए उसमें रस नहीं पड़ता।

अशुभ को छोड़कर शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु उस शुभभाव को भी अभिप्राय में आदरणीय न माने तो वह सहज ही तुच्छ भासित हो, और उसकी महिमा अन्तरंग से छूट जाये। वह हठ से नहीं छूटती।

प्रश्न:—आत्मा को ज्ञायक कहने में जैसे ज्ञातृत्व आता है, उसमें परवस्तु के जानने का स्वभाव है, तब क्या पर के अवलम्बन से उसका ज्ञान होता है ?

उत्तर:—जैसे दाह्य जो सोना है, तदाकार होने से अग्नि को दाहक कहा जाता है, किन्तु अग्नि सोने के रूप में (सोने के आकार में) परिणत नहीं हो जाती—सोना अलग पड़ा रहता है और अग्नि निकल जाती है, इसी प्रकार ज्ञायक आत्मा में परवस्तु का आकार ज्ञात होता है, सो वह तो अपनी ज्ञान की ही निर्मलता दिखायी देती है। जैसे दर्पण की स्वच्छता में परवस्तु की उपस्थिति जैसी है वैसी स्वच्छ झलकती तो है किन्तु उसमें परवस्तु का आश्रय नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान में शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श इत्यादि मालूम होते हैं, उन्हें जानते समय भी ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है पर को नहीं जानता; क्योंकि ज्ञान

ज्ञेयों में नहीं जाता, किन्तु वह सतत ज्ञायकरूप में रहता है। पर (ज्ञेय) सहज जाना जाता है, ज्ञान का ऐसा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। ज्ञान, ज्ञान में रहकर अनेक ज्ञेयों का ज्ञान करता है। यह ज्ञान की स्वच्छता का वैभव है।

ऊपर के दृष्टान्त में अग्नि के साथ लकड़ी को न लेकर सोना लेने का कारण यह है कि सोना अग्नि से नाश को प्राप्त नहीं होता लकड़ी नाश को प्राप्त हो जाती है। ज्ञान में ज्ञात होने से ज्ञेय पदार्थ कहीं नाश को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इसी प्रकार सोना भी ज्यों का त्यों बना रहता है, इसलिए उसे दृष्टान्त में लिया है।

जैसे सोने की अशुद्धता अग्नि में नहीं आती, उसी प्रकार परज्ञेयों को जानने से वे परज्ञेय स्वभाव में नहीं आते। जैसा निमित्त उपस्थित होता है वैसा ही ज्ञान होता है, इसलिए पर के अवलम्बन से ज्ञान हुआ मालूम होता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञान से ही हुआ है। निमित्त से ज्ञान होता हो तो सबको एक सा ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए ज्ञान परावलम्बी नहीं है। ज्ञान में जब ज्ञेय जाना जाता है तब ज्ञान अखण्ड-भिन्न ही रहता है और प्रस्तुत ज्ञेय-पदार्थ भी उसके अपने भिन्न स्वरूप से अखण्ड रहता है। यथा—

(१) ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, किन्तु इससे ज्ञान खट्टा नहीं हो जाता।

(२) पच्चीस हाथ का वृक्ष ज्ञान में आने से ज्ञान उतना लम्बा नहीं हो जाता।

(३) ज्ञान पुण्य-पाप और राग को जानता तो है, किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता।

ऊपर मात्र थोड़े दृष्टान्त दिये हैं, इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ कहलाता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। ज्ञान ज्ञेय के आकाररूप होता है—ऐसा अर्थ ज्ञेयाकार का नहीं है; किन्तु जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है, इसलिए उसे ज्ञेयाकार कहा है। ज्ञान सदा ज्ञानगुण से ही होता है और वह ज्ञातास्वरूप से ही प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानी की मान्यता पर के ऊपर है, इसलिए वह मानता है कि मुझे पर के अवलम्बन से ज्ञान होता है। इस प्रकार वह अपनी स्वाधीनसत्ता का नाश करता है, और

यही अनादि संसार का मूल है। वह मानता है कि अक्षर, पृष्ठ और उपदेश के शब्दों से मेरा ज्ञान होता है, यह उसकी अनादि की विपरीत मान्यता है। शब्द के अक्षर तो एक के बाद दूसरे क्रमशः उत्पन्न होते हैं, उसके संयोग में भी क्रम है किन्तु ज्ञान सबका अखण्ड होता है, इसलिए शब्दादि से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान शब्द में से नहीं आता, किन्तु शब्दादि जैसे निमित्त हों, वैसा ज्ञान जान लेता है; ऐसा उसका सहजस्वभाव है। जानने की शक्ति आत्मा की है। पुस्तक, पृष्ठ, शब्द आत्मा के सहायक नहीं हैं। पुस्तकों के बहुत से पृष्ठ पढ़ डालूँ तो ज्ञान अधिक बढ़े, पौष्टिक भोजन करूँ तो मस्तिष्क तर रहे और फिर ज्ञान भलीभाँति विकसित हो, बहुत से ज्ञेयों को जान लूँ तो मेरे ज्ञान का विकास हो, खूब देशाटन करूँ, दर्शनीय स्थानों को देखूँ तो ज्ञान का विकास हो, अनेकों के समागम में आऊँ-भाषाएँ जानूँ, कोई उपन्यास पढ़ूँ तो बुद्धि खूब विकसित हो, इस प्रकार परनिमित्त के कारण से ज्ञान का विकास माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें अपने आत्मा के सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है, पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं है। निमित्त से मुझे गुण होगा ऐसा माननेवाला यह मानता है कि अनन्त पर पदार्थ राग करनेयोग्य हैं, उसे रागरहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा नहीं है। जैसे मिठास गुड़ का स्वभाव है, गुड़ और मिठास अभिन्न हैं, गुड़ में मिठास बाहर से नहीं आती; इसी प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वरूप है अर्थात् ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं, इसलिए ज्ञान परपदार्थ से नहीं होता अथवा परपदार्थ में नहीं जाता। गुण-गुणी से कभी भी भिन्न नहीं होता, ऐसा कहकर प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता घोषित की जाती है। 'तू सदा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप, पूर्ण प्रभु है,' यों कहकर सर्वज्ञदेव तेरी स्वतन्त्रता घोषित करते हैं। जो ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्तव्य अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जानना गुण है, जानने में राग-द्वेष नहीं है। शुभाशुभ राग भी ज्ञान का ज्ञेय है, इसलिए वह ज्ञान से भिन्न है। जिसने पर से भिन्न अखण्ड ज्ञायकस्वभाव निज में एकरूप से जाना उसे कदाचित् अल्प राग-द्वेष हो तो वह भी वास्तव में उस ज्ञानमूर्ति का ज्ञेय है।

शब्द के द्वारा ज्ञान होता है, पर को जानते-जानते ज्ञान प्रगट होता है, यह बात तीन काल और तीन लोक में मिथ्या है। आत्मा में जाननेरूप क्रिया के अतिरिक्त जो भी कुछ विरोधभाव मालूम होता है वह सब पर है। यदि ऐसा माना जाये कि ज्ञान पर को जानता है, इसलिए परावलम्बी है, तो केवलज्ञान सबको जानता है, इसलिए उसे भी पराधीन मानना

पड़ेगा। ज्ञान पराधीन नहीं है, ज्ञान स्वयं ही ज्ञेय को जानने पर ज्ञायकरूप में मालूम होता है। जब शब्द मालूम होते हैं तब भी स्वयं ज्ञायकरूप मालूम होता है। ज्ञान तो प्रगट ज्ञानरूप में ही रहता है।

प्रश्नः—क्या आत्मा के आकार है ?

उत्तरः—हाँ, प्रत्येक वस्तु के अपना-अपना आकार होता है, और आत्मा भी एक वस्तु है, इसलिए उसके भी आकार है ही। प्रत्येक वस्तु अपने आकाररूप है, पर के आकाररूप नहीं है। आत्मा के चैतन्यस्वरूप अरूपी आकार है। जहाँ आत्मा को निराकार कहा गया है, वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्शयुक्त जड़वस्तु की तरह रूपी आकार नहीं है, अर्थात् रूपी पुद्गल की अपेक्षा से निराकार है। वस्तु अरूपी है, इसलिए उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी अरूपी हैं, तथापि वह वस्तु अपने आकारवाली है। आत्मा चैतन्य-आनन्द की मूर्ति है। वह अभी वर्तमान शरीराकार से शरीर के बराबर क्षेत्र में विद्यमान है, फिर भी शरीर से भिन्न अपने गुण के आकार है।

कस्तूरीवाला मृग जैसे कस्तूरी की सुगन्धि को बाहर ढूँढ़ता फिरता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि मैं तुच्छ डरपोक प्राणी हूँ, मुझमें ऐसी सुगन्ध कैसे हो सकती है ? इस प्रकार अपनी महत्ता को भूलने से बाह्य में भटकता है। उसी प्रकार आत्मा में पूर्ण ज्ञानगुण भरे पड़े हैं, उन्हें बाहर ढूँढ़नेवाला यह मानता है कि मुझमें कुछ शक्ति नहीं है। यदि मैं पर के ऊपर लक्ष्य होने से कुछ करूँ तो गुण प्रगट हो; वह ऐसा मानता है इसलिए ऐसी महत्ता उसे प्रगट नहीं होती कि 'मैं पूर्ण प्रभु हूँ,' और ऐसा नहीं मानने से पर में महत्ता मानकर उसमें ही भटकता रहता है। मैं शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, अकेला हूँ—ऐसी श्रद्धा स्वतन्त्रता का उपाय है।

यह वस्तु अचिंत्य है। तीर्थंकर भगवान ने जगत के समक्ष अपूर्व वस्तु स्पष्टरूप में रखी है, उसे कुन्दकुन्दाचार्य ने अमृत के पात्र में भरकर समयसार में प्रवाहित किया है। यदि वस्तुतत्त्व जल्दी समझ में न आये तो उसका पुनः पुनः परिचय करना चाहिए। समझनेवाला अपने को बराबर समझ सकता है। मन-इन्द्रियों से परे अरूपी ज्ञाता होने से आत्मा सूक्ष्म है, वह वाणी से नहीं पकड़ा जाता-अरूपी ज्ञान के द्वारा ही पकड़ा जाता है। जिसका स्वभाव अरूपी है, जिसके गुण-पर्याय अरूपी हैं, जिसका सर्वस्व अरूपी है,

उसे रूपी के द्वारा जानना चाहे तो सत्य स्वरूप नहीं जाना जा सकता। मन, वाणी, देहादिकरूपी की प्रवृत्ति में अरूपी ज्ञानमय आत्मा नहीं जाना जा सकता।

रागादि पर विकार को जानने से आत्मा रागरूप, पररूप, पर के गुणरूप, पर की किसी अवस्थारूप नहीं हो जाता। परवस्तु की उपस्थिति ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुई कि अज्ञानी यह मानता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं देह-इन्द्रिय-जड़ की क्रिया करनेवाला हूँ, पर मेरे आधार से है, मैं पर के आधार से हूँ, किन्तु परमार्थ से उसरूप कभी भी नहीं होता। जैसे दीपक घट-पट इत्यादि पर को प्रकाशित करते समय भी प्रकाश से अभिन्न और घट-पटादि से भिन्न, दीपक ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा पर को जानते समय भी ज्ञान से अभिन्न और पर से भिन्न ज्ञायक ही रहता है दीपक को ज्ञान नहीं है, जब कि आत्मा को ज्ञान है। अज्ञानी आत्मा अपने को भूलकर यह मानता है कि अपना ज्ञान पर से आता है, किन्तु दीपक की तरह ज्ञायक का कर्ता-कर्म ज्ञायक से अभिन्न होने से और परभावों से भिन्न होने के कारण शरीर, मन, वाणी तथा राग-द्वेष की जितनी अवस्था होती है उसके ज्ञायकरूप में आत्मा सदा उससे भिन्न ही रहता है।

जो स्वतंत्ररूप से रहकर करे सो कर्ता है। ज्ञायकस्वभाव से शरीरादिक भिन्न हैं, जहाँ ऐसा जाना कि जाननेवाला स्वयं कर्ता है और ज्ञायकरूप में अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है तथा कर्ता को ज्ञायकभाव की परिणति ज्ञाता की क्रिया है। वे तीनों (कर्ता-कर्म-क्रिया) ज्ञायकरूप से अभिन्न हैं।

सम्यग्दृष्टि जानने की क्रिया निज में करता है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर से जानता हूँ, किन्तु मात्र ज्ञान में ही कर्ता का कार्य है, पर में नहीं, तथा पर के आधार से भी नहीं है। परवस्तु के कार्य आत्मा के आधीन नहीं हैं। पर का बहुत ध्यान रखूँ तो ऐसा हो, इस प्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि पुण्य के संयोग से कभी अपना इच्छित होता हुआ देखता है तो उसका वह अभिमान करने लगता है।

आत्मा का कर्ता-कर्मपना दीपक के प्रकाश की भाँति अनन्य है। जैसे दीपक घट-पट आदि परवस्तु को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, और अपने को-अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, उसी प्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

ये तो सूत्र हैं, इनमें गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। जैसे खुले हुए पत्र में दो पंक्तियों में लिखा हो कि वैशाख सुदी द्वितीया के वायदे की ४५०) से ४७५) तक में एक लाख गाँठ रुई की लेनी है। यद्यपि यह बहुत संक्षेप में लिखा है तथापि उसमें खरीद देनेवाला और उसकी प्रतीति रखनेवाले आड़तिया की हिम्मत, विश्वास, रकम और प्रतिष्ठा कैसी और कितनी है यह सब उसका जाननेवाला समझ लेता है। शब्दों में यह सब नहीं लिखा है, किन्तु जाननेवाला दोनों व्यापारी का भाव, वैभव और उनकी प्रतिष्ठा इत्यादि को जान लेता है, इसी प्रकार आत्मा के पूर्ण केवलज्ञान स्वभाव से कहे गए शास्त्रों का गूढ़ रहस्य डेढ़ पंक्ति में सूत्र में लिखा हो तथापि उसे जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी उतने में से सब भाव समझ लेता है। इस प्रकार छठवीं गाथा में अर्थ की बहुत गम्भीरता भरी हुई है।

परनिमित्त से रहित ज्ञान की अवस्था से होनेवाला जो है सो कर्ता, और ज्ञायकरूप में जो अवस्था निज में हुई सो कर्म है। इसी प्रकार स्व से एकत्व और पर से भिन्न ध्रुवस्वभावी हूँ, ऐसा अन्तरंग में निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निज को निज में ही देखना सो धर्म का अंश है।

भावार्थ:—जैसे अकेले स्वर्ण में अशुद्धता नहीं कही जा सकती, किन्तु किसी दूसरी धातु का संयोग हो तो उसके आरोप से अशुद्धता कही जाती है, उसी प्रकार जीव में जो अशुद्धता अर्थात् विकार होता हे, वह परद्रव्य के संयोग से होता है। जैसे ताँबे के संयोग में रहने पर भी सोना सोनेरूप से बदलकर ताँबे के रूप में नहीं हो जाता, उसी प्रकार वर्तमान अवस्था में पर के संयोग से विकारी होने पर भी आत्मा सम्पूर्ण विकाररूप नहीं हो जाता। मूल ज्ञायकस्वभाव से निरपेक्ष, अविकारी, शुद्ध ही रहता है।

जैसे यदि सुवर्ण को पर के संयोग के समय सर्वथा अशुद्ध ही माने तो वह शुद्ध नहीं हो सकेगा। वर्तमान में भी मूल स्वरूप को सौटंची शुद्ध ही है, ऐसे लक्ष्य से सोना शुद्ध हो सकता है; इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा में वर्तमान में कर्माधीनता से होनेवाली मलिनता दिखायी देती है तथापि वर्तमान अवस्था में भी मूलस्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूप से शुद्ध ही है। इस प्रकार वर्तमान में पूर्ण वस्तुस्वभावरूप से देखने से और उसमें एकाग्रता करने से चैतन्यभगवान आत्मा की पूर्ण निर्मलता प्रगट होती है।

प्रश्न:—भगवान आत्मा का लक्ष्य करने के लिए किससे कहा जाता है ?

उत्तर:—जो भगवान हो गये हैं, उन्हें तो कुछ करना शेष है नहीं, इसलिए उनके लिए यह कथन नहीं है; किन्तु जो भगवान होना चाहते हैं, वैसे साधकों के लिए यह कथन है। पूर्ण दशा होने से पूर्व पूर्ण शुद्ध की पहचान करना आवश्यक है। जिसे स्वाधीन होना है उसे पूर्ण स्वाधीनता के उपाय की शुद्धदृष्टि बतायी जाती है, और यही सर्व प्रथम धर्म का उपाय है।

जैसे सफेद वस्त्र मलिन अवस्थावाला दिखायी देता है, उस समय बालक भी जानता है कि जो मैल का भाग है, सो वह वस्त्र का नहीं है, किन्तु पर का संयोग है। वस्त्र का मूल स्वरूप वर्तमान में भी सफेद है, ऐसी दृष्टि पहले से रखकर मैल दूर करने का उपाय करता है, इसी प्रकार आत्मा में वर्तमान में जो मलिनता मालूम होती है, वह क्षणिक और निमित्ताधीन है, स्वभाव से तो वह निर्मल ही है। इस प्रकार नित्य-अविकारी के लक्ष्य से क्षणिक विकार दूर किया जा सकता है, इसलिए भेदज्ञानवाली शुद्ध ज्ञानदृष्टि सर्व प्रथम प्रगट करना चाहिए।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आत्मा, धोवे निजगुण चीर॥

(बनारसीदास कृत समयसार नाटक)

मैं राग अथवा विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी निर्मलता की दृष्टि के द्वारा ध्रुवस्वभाव के ऊपर अभेद लक्ष्य करने पर स्थिरता प्रगट होती है। भगवान आत्मा ऐसा निर्मल-आनन्दघन है।

आत्मा में होनेवाली वर्तमान क्षणिक अवस्था को गौण करके आत्मा का जैसा शुद्धस्वभाव है, वैसा अखण्डरूप से लक्ष्य में लेना सो सम्यग्दर्शन है।

जो निर्मल, एकरूप-ज्ञायकरूप में रहे वही मेरा स्वभाव है, क्षणिक मलिनता मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार मानना ही प्रारम्भिक धर्म है।

पुण्य-पाप विकार से भिन्न, अनन्त ज्ञानानन्दमूर्ति प्रत्येक क्षण में पवित्र है, ऐसे भगवान आत्मा को सत्समागम के द्वारा अन्तरंग में समझे बिना धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता और आत्मा की शुद्ध प्रतीति के बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति और बन्ध का नाश नहीं होता।

आत्मा के शुद्धस्वरूप को समझने की तैयारी करने के लिये पात्रता की बात कई

बार हो चुकी है। मुमुक्षु को तृष्णा की कमी, दान, करुणा, सत्य, ब्रह्मचर्य का रंग, धर्म का प्रेम, प्रभावना, भक्ति, तीव्र आसक्ति का ह्रास और मानादि के मन्द पड़ जाने की अभ्यासरूप लौकिक व्यवहारनीति तो होनी ही चाहिए, किन्तु वह अपूर्व नहीं है। यहाँ प्रारम्भ तो आत्मा में लोकोत्तर नीति से ही होता है। अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, फिर भी जैसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं वैसे स्वतन्त्र आत्मतत्त्व को तूने नहीं जाना तो फिर तेरा मनुष्यत्व किस काम का? तेरी अपनी महिमा जाने बिना तृष्णा-ममता वास्तव में मन्द नहीं पड़ती, इसलिए कहा है कि समझने से पूर्व यदि आसक्ति कम हो तो थोड़ी घटती है, किन्तु यदि समझ गया तो सहज ही अनन्ती ममता और तृष्णा दूर हो जाती है। मूल समझ के ऊपर ही भार दिया है। निरपेक्षस्वरूप को समझे बिना मात्र व्यवहार में शुभभाव करके अनन्त बार नववें ग्रैवेयकपर्यन्त के देवभव में हो आया, किन्तु भव कम नहीं हुए; इसीलिए वीतरागदेव कहते हैं कि पहले अविकारी आत्मा को पहिचान। वर्तमान में साक्षात् श्री सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हैं, वे भी इसी प्रकार से स्पष्ट मार्ग बतलाते हैं।

संसार की रुचि छोड़कर मोक्ष की सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) पर आकर देखें तो आत्मा का समस्त वैभव जैसा है, वैसा दिखायी दे। जैसे-ऊपर के कमरे में वैभव भरा है, उसे देखने के लिये सीढ़ी पर चढ़ना चाहिए तब ही ऊपर क्या है सो दिखायी देता है, किन्तु नीचे के कमरे में खड़ा रहकर वैभव के अस्तित्व से इन्कार करे तो उसे वह कैसे दिखायी दे सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान साक्षात् ज्ञान से आत्मा की पूर्ण समृद्धि के सम्बन्ध में क्या कहना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति कैसे हो और उस प्राप्ति का उपाय क्या है, यह जानना हो तो मोक्ष की सीढ़ी पर (चौथे गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि होकर) चढ़ना चाहिए।

मंजिल पर जानेवाला पूर्ण सामग्री का साक्षात् अनुभव करे और मंजिल पर चढ़ते हुए ऊपर को गर्दन उठाकर देखे तो यह सब ज्ञात हो जाये कि ऊपर मंजिल में क्या है। इसी प्रकार पूर्ण साध्य के लक्ष्य से-राग से भिन्न होकर, भीतर गुण में जो अखण्ड ज्ञायक है वही मैं हूँ, इस प्रकार अनुभव करे तो पूर्ण साक्षात् ज्ञानी की भाँति अंशत: देखकर पूर्ण त्रैकालिक स्वभाव को जैसा का तैसा पहिचान लेता है। परमात्मा कैसा होता है, उसका साधन कैसा होता है, बीच में विकार (बाधक भाव) कितना होता है, वह सब स्वयं ज्ञायक होने से स्व-पर का विवेक करने से जान लेता है। जिस प्रकार मंजिल पर जाने के लिये जीने पर चढ़ते

हुए सब सीधा दिखायी देता है, उसी प्रकार मोक्ष की सीढ़ी पर चढ़ने के प्रारम्भ में ही स्वभाव क्या है, पुण्य-पाप-विकार क्या है, नित्यता-अनित्यता, संयोगी-असंयोगी तत्त्व कौन हैं, इत्यादि सब जान जाता है। अविरोधी न्याय के द्वारा एक आत्मा के जानने से सब जाना जाता है, किन्तु उसे जाने बिना बहुत शास्त्र पढ़े, बहुत पुण्य की क्रिया की, अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव-भ्रमण नहीं मिटा। जो नवमें ग्रैवेयक के देव का उच्च पुण्य बाँधता है, उसका बाह्य-व्यवहार बहुत ऊँचा होता है। जैसे कि नग्न दिगम्बर मुनि हो, पाँच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि भलीभाँति पालन करता हो और यदि कोई शरीर पर काँटे रखकर आग लगा दे तो भी क्रोध न करे। ऐसा अनन्त बार किया, किन्तु निरपेक्ष, निरालम्बी ज्ञायक आत्मा को पृथक् नहीं जाना, इसलिए भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जो जीव मनुष्यत्व प्राप्त करने पर भी स्वतन्त्र आत्मतत्त्व को परमार्थ से श्रवण नहीं करता, समझने की चिन्ता नहीं करता उसके त्रस की स्थिति का काल पूर्ण होने आया है। सत्स्वरूप को सुनने का अमूल्य अवसर छोड़कर वह अनन्तानन्त काल तक एकेन्द्रिय, निगोद में जाने की तैयारी कर रहा है। फिर अनन्त काल में भी वह मनुष्य तो क्या लट (दो इन्द्रिय जीव) इत्यादि त्रस पर्याय को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमात्र है, और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्याय की दृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखायी देता है और यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकतत्त्व ही है, वह कहीं जड़रूप नहीं हो गया है। यहाँ द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है। त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव आत्मा पर से भिन्न ही है, ऐसी निर्मल गुणदृष्टि में वर्तमान क्षणिक अवस्था मुख्य नहीं गिनी गयी है, इसलिए जो प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद है, वह तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्यायरूप से है। वह क्षणिक अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है।

एक वस्तु में दो प्रकार होते हैं, एक क्षणिक निमित्ताधीन भाव और दूसरा ध्रुव सामान्य स्वभाव है। उस सामान्य स्वभाव को देखें तो जो त्रिकाल ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है, पररूप में तथा क्षणिक विकाररूप में वह नहीं होता, इसलिए शुद्ध है।

किसी बड़ी लकड़ी के थोड़े से भाग में अच्छी कारीगरी की गयी हो और उसका शेष सम्पूर्ण भाग सादा हो तो सादा भाग को देखते समय कारीगरी का थोड़ा सा भाग मुख्य

नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा में वर्तमान अवस्था प्रत्येक समय की स्थितिरूप से, पर-निमित्ताधीन अनादि से विद्यमान है, वह पुण्य-पाप का क्षणिक विकार वर्तमान मात्र का है। उसे गौण करके पर-निमित्त से रहित एकरूप सामान्य त्रिकाल निर्मल दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा पहले शुद्ध ज्ञायकरूप था, वर्तमान में और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा।

जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय ऊपर का ध्यान मुख्य होता है और तलहटी का ध्यान गौण होता है, उसी प्रकार साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसे मुख्य ज्ञायकस्वभावरूप से लक्ष्य में लेने से, ऊर्ध्व ज्ञानानन्दस्वभाव को देखने से वर्तमान मलिनता गौण हो जाती है।

आत्मा का स्वभाव जड़ से, विकार से, रजकण के स्वभाव से तथा अन्य सबसे पृथक् ही है। विकार क्षणिक अवस्थामात्र को ही होता है। विकार के दो क्षण कभी इकट्ठे नहीं हुए। प्रथम समय में विकार किया, उसे दूसरे समय में नवीन विपरीत पुरुषार्थ से ग्रहण करके दूसरे समय में दूसरा नया विकार करता है। इसी प्रकार जीव परम्परा से प्रत्येक समय का भिन्न-भिन्न विकार करता-करता चला आ रहा है, उसे नित्य-अविकारी स्वभाव के लक्ष्य से तोड़ा जा सकता है।

लोगों ने यह बात नहीं सुनी। मुझमें क्या हो रहा है, स्वभाव क्या है, विभाव क्या है, इसकी कुछ खबर नहीं है। जिससे हित होता है उसकी खबर न रखे और जिससे अपना कुछ भी हित नहीं होता ऐसे पर पदार्थों की (जैसे कि घर में कितना पैसा है, घर की खिड़की में कितनी छड़ें हैं, फर्नीचर कितना है, इत्यादि पर की) खबर रखता है।

स्फटिकमणि पर के संयोग से रंगीन दिखायी देता है, किन्तु उसे वर्तमान में स्वभाव से स्वच्छ देखा जा सकता है। सफेद वस्त्र भी पर निमित्त से मैला दिखायी देता है, किन्तु उसे वर्तमान में स्वच्छ देख सकते हैं। यह तो दृष्टान्त है। उसमें देखनेवाला दूसरा है, वह यों कहता है; किन्तु आत्मा में जो वर्तमान मलिन अवस्था है, वह मूल स्वभाव नहीं है, इसलिए वर्तमान में मलिन अवस्थावाला जीव भी उसका निर्मल स्वभाव देख सकता है।

प्रश्न:—अशुद्ध अवस्था में स्थित जीव को शुद्ध अवस्था में स्थित जीव मूल शुद्ध स्वरूप से देख सकता है यह तो सम्भव है, किन्तु निचली (अशुद्ध) अवस्था में स्थित जीव को शुद्ध स्वभाव कैसे ज्ञात हो सकता है?

उत्तर:—आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण हैं। उसमें चारित्र और श्रद्धागुण मलिन परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल ज्ञानगुण से रहता है, रागरूप से नहीं। इसलिए ज्ञान ज्ञायक-स्वभाव से स्व-पर को जानता है। इससे अशुद्ध अवस्था के समय भी पूर्ण शुद्धस्वभाव कैसा है, उसे आत्मा जान लेता है। अज्ञानी के भी ज्ञान अस्तिरूप से है। राग को निजरूप मानने से उसका ज्ञान नास्तिरूप हुआ दिखायी देता है। दृष्टाशक्ति, ज्ञानगुण और वीर्यगुण में विपरीतता नहीं है, किन्तु कमी हो जाती है। अज्ञानदशा में भी ज्ञानगुण की प्रगटता तो होती ही है, उस प्रगटता को स्वाभिमुख करे तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो सकता है और जीव उसके द्वारा त्रैकालिक निश्चयस्वभाव को जान लेता है।

श्रद्धा और चारित्र गुण के कार्य की अपेक्षा ज्ञानगुण का कार्य भिन्न है क्योंकि वह ज्ञानगुण है, अर्थात् वह जानने का कार्य करता है। ज्ञानगुण निर्मलता को प्रथम बतलाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ और उसमें जो ज्ञायकरूप से प्रथम ज्ञात हुआ, सो वह पहले ज्ञायक ही था, वर्तमान में ज्ञायक है और भविष्य में ज्ञायकरूप ही रहेगा। सदा ज्ञायकरूप होने से चारित्रगुण में जो कुछ अशुद्ध अवस्था रह जाती है, उसे ज्ञान जान लेता है। वह अशुद्धता यहाँ गौण है। इस प्रकार साधकभाव में गुण के कार्य का भेद होता है।

प्रश्न:—अशुद्ध अवस्था गौण कैसे है ?

उत्तर:—श्रद्धा और ज्ञानगुण का लक्ष्य अखण्ड-ज्ञायक तत्त्व पर है। उस श्रद्धा के बल से निर्मलता बढ़ती है और इसलिए वर्तमान क्षणिक मलिनता गौण हो जाती है। आत्मा में अशुद्ध अवस्था क्षणिक वर्तमान एक समयमात्र की नयी होती है, उसके नाश की प्रतीति का यहाँ बल है। अखण्ड ध्रुव की दृष्टि के लक्ष्य में शुद्ध द्रव्यस्वभाव की मुख्यता रहती है; वह द्रव्यदृष्टि है और उस द्रव्यदृष्टि से देखनेवाला क्षणिक विकार को लक्ष्य में नहीं लेता।

जैसे शरीर के किसी एक अंग पर फोड़ा हुआ हो, तो कुछ ही उपचार के बाद उसे ऊपर से ठीक होता देखकर और यह जानकर कि भीतर से सड़ा नहीं है, सम्पूर्ण निरोग शरीर के लक्ष्य से वर्तमान में भी डाक्टर कह देता है कि थोड़ी कसर रह गयी है, किन्तु रोग मिट गया है, चार-छह दिन में पूर्ण निरोग हो जाओगे; इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप से सम्पूर्ण निरोगी है। वर्तमान में होनेवाले क्षणिक पुण्य-पापादि विकार जितना ही मैं हूँ, इस प्रकार जो जीव अपने को विकार-रोगरूप मानता है, उसका

विकार-रोग नहीं मिटता, किन्तु वर्तमान क्षणिक अवस्था मलिन है तो भी भीतर से अर्थात् शक्तिरूप से वर्तमान में त्रिकाल पूर्ण निर्मल हूँ, ऐसे पूर्ण निरोगस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, उसके क्षणिक रागरूपी रोग का नाश हो जाता है।

जैसा ऊपर कहा है वैसे तत्त्व की प्रतीति के बिना जिसका जीवन यों ही पूरा हो गया उसका जीवन कीड़ी-मकोड़े के समान है। जिसने अपूर्व तत्त्व को जान लिया उसका जीवन मोक्ष-निवास के योग्य हो गया है।

मैं पर से सर्वथा भिन्न, पूर्ण स्वतन्त्र हूँ, मैं ऐसा पराधीन नहीं हूँ कि जिसे अन्य की सहायता की आवश्यकता हो। ऐसी प्रतीति के बिना कोई भले ही सम्पत्तिशाली हो तो भी वह गरीब और पराधीन है। जो अधिक माँगता है वह बड़ा मँगता (भिखारी) है और जो थोड़ा माँगता है, वह छोटा मँगता (भिखारी) है।

आत्मा की समृद्धि की प्रतीति के बिना सभी रंक-भिखारी हैं। वर्तमान मलिनता का लक्ष्य गौण करके, निरोग निर्मल ज्ञायकस्वरूप को देखने की श्रद्धा ही पूर्ण निरोग-मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। अन्तरंग में यथार्थ समझ हुई कि तत्क्षण ही समस्त राग या अस्थिरतारूप अशक्ति दूर नहीं हो जाती, किन्तु जिस प्रकार रोग उपशान्त हो रहा हो और यह मालूम हो जाये कि रोग अब दो-चार दिन में बिल्कुल मिट जायेगा अथवा रोग के दूर हो जाने के बाद मनुष्य के थोड़ी सी कमजोरी रह जाती है, वह भी अब निरोगता को ध्यान में रखते हुए खुराक लेने से थोड़े ही समय में दूर हो जायेगी और शरीर पुष्ट हो जायेगा। (यदि रोग के रहते हुए पुष्टिकारक खुराक ले तो रोग बढ़ता है) इसी प्रकार अन्तरंग में प्रतीति होने पर पूर्ण निरोग होने की आन्तरिक स्थिरतारूप आनन्द की खुराक लेकर पूर्ण पुष्ट (सर्वज्ञत्व) अल्प काल में हो जायेगा, किन्तु अविकारी, निरोग तत्त्व की समझ के बिना राग बढ़ जायेगा। मैं वर्तमान मलिन अवस्था मात्र ही नहीं हूँ किन्तु वर्तमान में पूर्ण ध्रुवस्वभाव निर्मल हूँ, ऐसे बल से आंशिक निर्मलता-निरोगता तो प्रगट हुई और उसी स्वभाव के बल से अल्पकाल से साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होती है; इस प्रकार वर्तमान निर्मल अंश में सम्पूर्ण निर्मल मोक्ष को जानता है। किन्तु जिसके आत्मा में भव की भ्रान्तिरूप, पर में स्वामित्व, कर्तृत्व मानने का रोग दूर नहीं हुआ, उसे पुण्य के शोथ से निरोगीपन प्राप्त नहीं होता।

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान॥ (आत्मसिद्धि)

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी सबसे पहले भावनिद्रा और भावरोग को दूर करने का उपाय करने को कहा है। अपने को ज्ञाता-साक्षीरूप से भूलकर, पर को अपना माननेरूप आत्मभ्रान्ति के समान जगत में कोई रोग नहीं है। पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं पर का काम कर सकता हूँ, पर मुझे सहायता करता है, देहादि की क्रिया मेरे आधीन है, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यतारूप रोग अनादि का है, उसे दूर करने के लिये 'सद्गुरु चतुरवैद्य हैं' अर्थात् सुज्ञानी गुरु होना चाहिये; और 'गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।' औषधि में पथ्य की विशेषता है, सर्वज्ञ के कहे हुए आशय के अनुसार अपना हित-अहित क्या है इसका विवेक अन्तरंग में लाना चाहिए, यही सच्चा पथ्य है, उस पथ्य सहित औषधिरूपी सुविचार को लेकर ध्यान करते-करते स्वरूप की महिमा में स्थिर होना सो चारित्र है। सम्यक्चारित्र के होने पर पूर्ण वीतरागता होकर निर्मल मोक्षदशा अवश्य प्राप्त होगी।

ज्ञान और ज्ञान की क्रिया, निश्चय-व्यवहार निज में होता है। अशुद्धि द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार (पराश्रितभाव) है, अभूतार्थ (जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणिकभाव) है, असत्यार्थ (त्रिकाल रहनेवाले स्वरूप से विपरीत) है, उपचार (जो पर-निमित्त से होता है) है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये समस्त गुण निज में एक साथ अभेद) है, निश्चय (परनिमित्त की अपेक्षा से रहित, स्वाश्रित) है, भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाला) है, सत्यार्थ (निर्मल स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्वभाव) है, परमार्थ है; इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है।

उसे 'ज्ञायक' नाम ज्ञेय को जानने से दिया गया है। सामने जैसा पदार्थ होता है, वैसा ही ज्ञान ज्ञान में होता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं है।

ज्ञान के द्वारा श्रद्धा का लक्ष्य होता है, श्रद्धा स्वभाव के ऊपर लक्ष्य करने से प्रगट होती है और श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व को लेकर ज्ञान में भी सम्यक्पना आता है।

शुद्धनय (सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश) के द्वारा आत्मा को पर से निराला, अखण्ड ज्ञायकरूप से लक्ष्य में लेना और ऐसा मानना कि इसी स्वरूप में त्रिकाल रहता है, सो सम्यक्श्रद्धा है।

जो त्रिकाल एकरूप निर्मल रहे उसे सामान्य द्रव्यस्वभाव कहा जाता है। जो आत्मा का स्वभाव हो वह दूर नहीं हो सकता और जो दूर हो जाता है, वह (पुण्य-पाप-विकार) उसका स्वरूप नहीं है।

शरीर, मन, वाणी को हटाना नहीं पड़ता क्योंकि वे अलग ही हैं; वे अपने कारण से अपने में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते। वर्तमान अवस्था में कर्म के निमित्त से शुभ-अशुभ विकारी भाव होता है, सो वह भगवान आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो भाव नाश होता है, उसे अपना मानना सो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप का आदर अविकारी का अनादर है। पूर्ण कृतकृत्य आनन्दस्वरूप में त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकरूप में रहना ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। यह शुद्धनय के आश्रय का फल है।

जैसे पानी के प्रवाह में परवस्तु (पुल, नाला) के निमित्त से खण्ड (भेद) होता है, किन्तु वह पानी के सीधे प्रवाह का स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार परसंयोग से उत्पन्न शुभाशुभभाव के द्वारा आत्मा में जो भेद हो जाता है, वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप नहीं है, वे सब भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

आत्मा में क्या हो रहा है, वह क्या मान रहा है, और उपादेय क्या है? वह यहाँ कहा जाता है। जगत जैसा मान रहा है, वैसा ही कर रहा है किन्तु वह सब वृथा है। तत्त्व के समझे बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। अनादि काल से जिस भाव से जीव भ्रमण कर रहा है, उस बन्धनभाव का यदि आत्मप्रतीति के द्वारा नाश न करे तो मिथ्याश्रद्धा में अनन्त भव कराने की शक्ति है।

यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बातें हमारी समझ में नहीं आती, तो उसके उत्तर में यों कहना चाहिए कि इसके समझे बिना नहीं चल सकता। सच्चा सुख चाहिए हो तो पर से भिन्नरूप में धर्म को समझना चाहिए। आत्मा अरूपी है, उसका भाव अरूपी है, इसलिए समझ में नहीं आता ऐसा नहीं मानना चाहिए। आत्मा को यथार्थ जानकर पुण्य-पाप की प्रवृत्ति से छूटकर, निज में स्थिर होकर अनन्त जीव मोक्ष गये हैं। जितना प्रत्येक आत्मा में सामर्थ्य है, उतना ही कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा की जाति एक ही है, इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वरूप कहा है, वैसा जो प्रगट करना चाहे वह उसे समझकर प्रगट कर सकता है। कोई एक ही आत्मा ऐसी प्रतीति कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता, ऐसी बात नहीं है।

आत्मस्वभाव तो सदा शुद्ध ही है, उसमें से विकार या अशुद्धता नहीं आती। आत्मा पर के निमित्त से रहित अनन्त गुणों की खान है। परसंयोग के लक्ष्य से, पर में अच्छा-बुरा मानने से वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप होता है।

लोग कहते हैं कि हमें आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। आचार्य उससे पूछते हैं कि जगत के जड़ पदार्थों में सुख है यह आँखों से प्रत्यक्ष देखकर किसने निश्चय किया है ? सुख पर में है ऐसी कल्पना किसने की और कहाँ की है ? इसकी कोई खबर नहीं है। इसका कारण ज्ञान की मूढ़ता है। चैतन्य भगवान पर से भिन्न, पर के आश्रय से रहित है। उसकी प्रतीति के बिना जीव भले ही बहुत सम्पत्तिशाली हो, विशाल भवन में रहता हो, फिर भी वह वैसा ही है जैसे पर्वतों की गुफाओं में अजगर आदि पड़े रहते हैं; क्योंकि जिसे हित-अहित का परमार्थत: भान नहीं है, वह मूढ़ ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में कहा है कि जिन्हें आत्मा की खबर नहीं है, वे मानों चलते-फिरते मुर्दे हैं।

जो जड़ आदि जाना जाता है, वह जड़ में नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञान से ज्ञान में जाना जाता है, ज्ञान, ज्ञान की अवस्था में रहकर जानता है। ज्ञान में अपनी ज्ञानरूप अवस्था दिखायी देती है।

अज्ञानी जड़ में—देह, इन्द्रिय, स्त्री, धन आदि में सुख मानता है, किन्तु यह कल्पना मात्र है। यदि जड़ के टुकड़े करके उसमें देखें तो सुख कहीं भी दिखायी नहीं देगा, फिर भी अज्ञानी मूढ़ता के कारण पर में सुख मानता है। वर्ण, गन्ध, रस अथवा स्पर्श में किंचित्मात्र सुख नहीं है। अज्ञानी ने बिना देखे ऊपर से कल्पना करके उनमें सुख मान रखा है। मैंने किस स्थान से सुख का निश्चय किया है, इसकी भी उसे खबर नहीं है, फिर भी अज्ञानी उस कल्पना में ऐसा नि:शंक लीन हो गया है कि वह उससे भिन्न कुछ भी निश्चित करने के लिये तैयार नहीं होता। शरीर, इन्द्रिय, धन, मकान आदि जड़ को यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं। खबर करनेवाला तो स्वयं है, फिर भी कीमत दूसरे की आंकता है। सम्यग्दर्शनगुण की विपरीत अवस्था के द्वारा पर का कर्ता-भोक्ता है, पर में सुख-दु:ख है, ऐसा मानकर पर में नि:सन्देह प्रवृत्ति कर रहा है, जहाँ भूल होती है, वहाँ यदि सुधार करने के लिये सुलट जाये तो यह स्पष्ट दिखायी देने लगे कि निराकुल, अतीन्द्रिय सुखस्वभाव अपने में ही है, उसमें कल्पना नहीं करनी पड़ती। अज्ञान अर्थात्

अपने निर्मलस्वभाव की असमझ में उस अज्ञान के द्वारा पर में सुख की कल्पना कर रखी है। जिसमें सुख नहीं है, उसमें सुख की कल्पना करके अज्ञानी जीव मन्द आकुलता को सुख मान लेता है।

आत्मा में शुभ-अशुभ विकल्प क्षणिक भेदरूप ज्ञात होता है, वह उपचार है, अर्थात् परमार्थ से वह मिथ्या है। शरीर, मन, वाणी के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा तो ज्ञान, शान्ति, निर्मलस्वभाव एकरूप है। उसमें पर के लक्ष्य से जो पुण्य-पापभाव का भेद होता है, वह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

सच्चे आत्मतत्त्व की दृष्टि में विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिए वह पर्यायार्थिक है, वह पराश्रित है, इसलिए व्यवहार है, जो व्यवहार है, वह संयोगाधीन भाव है, वह छोड़नेयोग्य है; जो यह नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है।

आत्मा ने अनन्त काल में यह बात कभी नहीं सुनी, तब फिर वह सच्चा मनन कहाँ से करेगा? व्रत, तप, दया आदि के शुभभाव हों, अथवा चोरी, हिंसा आदि के अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार हैं, बन्धन हैं, (मात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभभाव ठीक है, किन्तु उससे धर्म नहीं होता) इस प्रकार जब तक नहीं समझता तब तक जीव पर के कर्तव्य का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है।

जो अविकारी मुक्तस्वभाव को अपना समझता है, उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुये बिना नहीं रहती। अज्ञानी जितना कर सकता है, उससे अनन्त गुना शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है। जब तक ज्ञानी के पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो तब तक निम्न भूमिक में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है, किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता।

रजकण, देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य-पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है; ऐसी प्रथम श्रद्धा होने पर ही ज्ञानी के पर में अनन्ती आसक्ति का प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभराग घटाने के लिये दानादि के द्वारा वह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता। अज्ञानी के द्वारा स्वामी बनकर किये गये पुण्य की अपेक्षा ज्ञानी के पुण्य का प्रकार पृथक् होता है। देह की अमुक क्रिया हुई इसलिए पुण्य नहीं होता, किन्तु उस समय अपने परिणाम शुभ करे तो पुण्य होता है। अज्ञानी स्वामीपने से पुण्य का शुभभाव करता है, तो उसके फल से

कभी देव या मनुष्य हो जाता है, किन्तु फिर मरकर तिर्यंच, नारकी, निगोद आदि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है।

जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से धर्म नहीं होता। मैं भिन्न निर्विकारी हूँ, कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार से भिन्न हूँ, ऐसी समझ जिसके नहीं है, वह धर्म के नाम से जहाँ-तहाँ कर्तृत्व का अभिमान करेगा। वह शुभभाव करता है उसका अल्प पुण्य बँधेगा, किन्तु साथ ही मिथ्यादृष्टि का महान पाप भी बँधेगा। यहाँ यह कहने का मतलब नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप करे, किन्तु तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के विकारी भाव का कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी लाखों का दान करता है फिर भी किसी शुभभाव में उसके स्वामित्व नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है, देहादि की तथा दानादि की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ किन्तु मैं मात्र ज्ञानस्वभाव का ही स्वामी हूँ, ऐसी दृष्टि अन्तरंग में हुए बिना किसी को आत्मधर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता।

यहाँ यह बताना है कि जिनमत का कथन स्याद्वाद है। इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिए; अशुद्ध अवस्था नहीं है यह नहीं मानना चाहिए। अशुद्धता अज्ञानभाव से है, द्रव्यस्वभाव से नहीं, यह जानना चाहिए।

आत्मा स्वभाव से निर्मल है; किन्तु वर्तमान अवस्था में साक्षात् निर्मल नहीं है। यदि अवस्था से निर्मल हो तो पुरुषार्थ करके राग दूर करने की आवश्यकता न रहे। यदि निर्मल अवस्था प्रगट हो तो प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त हो; किन्तु प्रत्यक्ष आनन्द नहीं है, इसलिए अवस्था में अशुद्धता है। उसे दूर करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिए।

नित्यस्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, इस प्रकार निर्मलस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये और निर्मलस्वभाव को उपादेय मानने के लिये कहा जाता है। पुण्य-पाप का विकारी भाव जीव की अवस्था में होता है किन्तु जड़-देह में शुभ-अशुभ विकल्प नहीं होता। अशुद्धता परद्रव्य के आश्रय से आत्मा में होती है, पर में नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि शरीर का धर्म शरीर में होता है; रोगादि की अवस्था होती है यह सच है, किन्तु आत्मा जो रोग देखकर द्वेष और निरोगता देखकर राग करता है, वह आत्मा में होता है, संयोग से राग-द्वेष, सुख-दु:ख नहीं होता। फिर भी संयोग में ठीक-अठीक मानकर मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इस प्रकार जीव विकार करता है और इसी से पर

में सुख-दु:ख की कल्पना करता है। उस अशुद्ध अवस्था को अपनी मानने के रूप में जो अशुद्धनय का पक्ष है, वह त्याज्य कहा गया है, क्योंकि आत्मा में पर के आश्रय से जो पुण्य-पाप विकार होता है वह मेरा है, ऐसी अशुद्धदृष्टिरूप व्यवहार का फल चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना है।

कोई कहता है कि अभी पाप को छोड़कर पुण्य करते हैं, फिर बाद में धर्म करने लगेंगे। उससे कहते हैं कि अभी ही धर्म समझना चाहिए, वर्तमान में ही सच्ची समझ नहीं करके वह यदि स्वर्ग में जायेगा तो भी आकुलता का अनुभव करेगा, अज्ञानी वहाँ भी इन्द्रियों के विषय की आकुलता से अन्तर में जल रहे हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा के लक्ष्य को चूककर जो पुण्य-पाप के क्षणिक विकार को अपना मानता है, उसे जन्म-मरण के दु:ख फलते रहते हैं। जितना परलक्ष्य से, पर में कल्पना से सुख माना वह सुख नहीं है। ज्ञानी के सुख के सामने इन्द्र का पद भी सड़े हुए तिनके के समान है। ज्ञानी के पुण्य की महिमा नहीं है, आदर नहीं है, वह तो गुण के जलने का फल है। पर को, विकार को अपना माननेरूप व्यवहार का फल संसार है। जो विकार है वही मेरा कर्तवय है, ऐसा माननेवाला आत्मा संसार में दु:ख भोगता है।

भगवान आत्मा निर्विकार, पवित्र, आनन्दघन है, उसे श्रद्धा में नहीं लिया और पुण्य-पाप के गीत गाता रहा, तथा विकार और बन्धका आदर किया, उसे जन्म, जरा, मरण से रहित की श्रद्धा की खबर नहीं है; इसलिए वह पराश्रय से अच्छा-बुरा माननेरूप अज्ञान का फल-दु:ख भोगता है।

पुण्य-पाप-विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पूर्ण शुद्धस्वरूपी हूँ, इस प्रकार माने तो दु:ख दूर होता है। इस दु:ख को दूर करने के लिये शुद्धनय का उपदेश मुख्य है। जब शुद्धनय के द्वारा शुद्धस्वरूप जानकर निर्विकार दशा प्रगट करता है, तब जीव सुखी होता है, इसलिए शुद्धनय का उपदेश प्रथम से ही उपयोगी है। शुद्धस्वभाव को बतानेवाला उपदेश खूब सुनना चाहिए।

आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल निर्मल है, किन्तु वर्तमान अवस्था में भी पुण्य-पाप का विकार उसे नहीं होता, इस प्रकार सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है, इसलिए

सम्यक् अपेक्षा के भाव को बराबर समझकर जो क्षणिक विकार है, उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, मैं अविकारी अनन्त ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ, इस प्रकार अपने पूर्ण ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेनेवाली शुद्धदृष्टि का अवलम्बन लेना चाहिए। पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद अर्थात् पूर्ण वीतराग होने के बाद शुद्धनय का भी अवलम्बन नहीं रहता।

जैसे कोई राजपुत्र राजा होने योग्य हो, किन्तु जब तक वह वर्तमान में सम्पूर्ण राज्य का स्वामी नहीं हुआ तब तक उसके विकल्प रहता है; किन्तु जब वह साक्षात् राजा होकर गद्दी पर बैठ जाता है और अपनी आज्ञा चलने लगती है, तब फिर यह विकल्प नहीं रहता कि मैं राजा हूँ, और उसकी भावना भी नहीं रहती। इसी प्रकार प्रारम्भ में जो इतनी अवस्था मलिन है, वह मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं तो पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, इस प्रकार निर्मल पक्ष की ओर जाने के लिये झुकता है-उसकी भावना करता है, किन्तु जब वह वस्तु की प्रतीति करके निःशंक हो जाता है, तब फिर स्वरूप का निर्णय करने का विकल्प नहीं रहता। निर्णय होने पर सम्यक्-श्रद्धा सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता।

प्रमाण का फल वीतरागता है। मैं द्रव्यस्वभाव से पवित्र हूँ, अवस्था से थोड़ी मलिनता है, स्वरूप में स्थिर होने पर वह मलिनता दूर होकर निर्विकल्पता आती है और उसका फल वीतरागता है, इस प्रकार निश्चय करना योग्य है। गुणस्थान की परिपाटी में छठवें गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहा जाता है, परन्तु इन सर्व गुणस्थानों में कर्म के निमित्त की अपेक्षा होती है, यह कथन अशुद्धनय की अपेक्षा से हैं; शुद्धनय से आत्मा निरपेक्ष ज्ञायक ही है।

प्रश्नः—आत्मा अनन्त ज्ञानमूर्ति, अपने अनन्त गुण से अभिन्न, निर्मल, पूर्ण और पर से भिन्न बताया गया है, उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। उस पूर्ण स्वभाव को पुण्य-पापादि पर से पृथक् जाननेवाला ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप चारित्र, इन तीनों को आत्मा का धर्म कहा गया है। यह तो तीन भेद हुए; इन भेदरूप भावों से आत्मा के अशुद्धत्व आता है या नहीं ?

उत्तरः—वस्तु अभेद है, उसमें भेदरूप लक्ष्य करने पर राग (विकल्प) होता है और विकल्प में पर की अपेक्षा से जितनी-जितनी अवस्था के प्रकार होते हैं, उतनी अशुद्धता होती है। एक में अपेक्षा-भेद नहीं होता। जब दूसरी वस्तु, पास में रखी जाती है

तब इसकी अपेक्षा से छोटा और इसकी अपेक्षा से बड़ा—ऐसा कहा जाता है और तब दूसरे की दृष्टि से देखने पर, पर की अपेक्षा होती है। इस प्रकार चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प है, उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप-विकार, प्रमत्त-अप्रमत्त, बंध-मोक्ष इत्यादि भेद परसंयोग की अपेक्षा से होते हैं। यदि आत्मा को अकेला सामान्यरूप से लक्ष्य में लें तो वह ज्ञायक, चिदानन्द, त्रिकाल निर्मल है, और ऐसे उसका एक ही प्रकार होता है।

यहाँ पर एक ही निरपेक्षस्वभावरूप से आत्मा कैसा है, उसकी पहिचान करने की बात चल रही है। जो यह मानता है कि यह कठिन मालूम पड़ रहा है, हमारी समझ में नहीं आ सकता, वह उसका पात्र होने पर भी अपात्रता की बातें करता है। आत्मा का स्वरूप समझना सहज है, क्योंकि उसमें कष्ट नहीं है। जबकि दो घड़ी में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, तब उसे कठिन कैसे कहा जाये? पाँच लाख का बँगला दो घड़ी में नहीं बँध सकता, क्योंकि वह परवस्तु है और परवस्तु आत्मा के आधीन नहीं है, किन्तु आत्मा चिदानन्दमूर्ति है, ऐसी प्रतीति करके जो स्वभाव में स्थिर होता है, उसे अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण निर्मल केवलज्ञानदशा प्राप्त हो जाती है, इसलिए जो आत्मा की सत्ता की बात है, वह सरल है।

प्रश्न:—यदि आत्मा का ज्ञान सरल है तो जीव उसे समझकर शीघ्र स्थिर क्यों नहीं हो जाता?

उत्तर:—यहाँ प्रथम अपनी स्वाधीनता की निर्मल श्रद्धा करने की बात है। सच्ची आन्तरिक पहिचान होने के बाद उस निर्मल श्रद्धा के बल से जीव स्थिर हो जायेगा और आत्मा के सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा होने से वह अल्प काल में मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसलिए प्रथम सत्य का आदर करके उसकी रुचि बढ़ाना चाहिए।

जो यह कहता है कि 'अभी नहीं,' वह मूर्ख है। जहाँ बारह महिनों में पाँच लाख रुपये मिलते हों वहाँ यदि एक महीने में उतने मिल जायें तो उससे कौन इन्कार करेगा? रुचिकर वस्तु अल्प काल में मिल जाये तो लोग उसमें आनन्द मानते हैं। एक घण्टे में पाँच लाख रुपये कमा लिये यह सुनते ही हृदय-उमंग से भर जाता है। जिसे जिसकी रुचि होती है, उसे उसकी प्राप्ति हुई जानकर हर्ष का पार नहीं रहता, उसे उसके प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। किन्तु यह तो मात्र संसार के अनुकूल संयोग की बात हुई, जिसका फल

शून्य है। क्योंकि उससे आत्मलाभ कुछ नहीं होता। आत्मा की अपूर्व बात अल्प काल में मोक्ष प्राप्त कर लेने का सुयोग और उसकी महिमा को सुनकर जो हर्ष से उछल पड़े और कहे कि मैं भी दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण शक्तिवाला हूँ, वही सच्चा जिज्ञासु है। किन्तु यदि कोई यह मान ले कि हम भी हाँ कह दें, आचार्यदेव ने भी कहा है कि दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त हो जायेगा किन्तु समझ का कोई मेल नहीं बैठता तथा यह न समझना चाहता हो कि चैतन्य की निर्मलता क्या है और मलिनता क्या है, फिर भी केवलज्ञान चाहिए हो तो यह कैसे हो सकता है।

जैसे किसी को सिपाही होना है किन्तु उसने बन्दूक पकड़ने की कला प्राप्त नहीं की तो अभ्यास के बिना शत्रु को कैसे मार सकेगा? इसी प्रकार स्वभाव, परभाव हित-अहित क्या है, यह जाने बिना तथा उसकी श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान के विवेक की कला को प्राप्त किये बिना राग-द्वेष को कैसे दूर कर सकेगा? शास्त्रों में कहा है कि ४८ मिनिट में आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा की अनन्त शक्ति की महिमा के लिये कहा है। अनन्त आत्मायें पूर्ण पुरुषार्थ करके ४८ मिनिट में केवलज्ञान को प्राप्त हो चुकी हैं, मैं भी वैसा ही हूँ, ऐसा निर्णय करके वैसी भावना करना चाहिए।

आत्मा के परवस्तु का स्वामित्व त्रिकाल में भी नहीं है, इसलिए परवस्तु में यथेच्छ नहीं कर सकता। कदाचित् पूर्व पुण्य के निमित्त से उसे अपनी इच्छानुसार संयोग मिलता है, किन्तु उसमें वर्तमान में पुरुषार्थ किंचित्मात्र भी कार्यकारी नहीं है, तब आत्मा में तो पुरुषार्थ ही कार्यकारी है। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिये अनन्त पुरुषार्थ करना चाहिए।

जैसे सोना एक है, उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन ऐसे तीन भेदों को लक्ष्य में लेने से एकरूप सोना लक्ष्य में नहीं आता, किन्तु भेद को गौण करके एकाकार सामान्य सुवर्ण को देखने से उसमें पीलापन, चिकनापन इत्यादि का भेद दिखायी नहीं देता; उसी प्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन गुणों से देखने पर एकत्व आत्मस्वरूप लक्ष्य में नहीं आता किन्तु विकल्प होकर भेद लक्ष्य में आता है। उसे वर्तमान पर्याय का भेदरूप लक्ष्य गौण कैसे है? श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मा में एक साथ हैं, ऐसे अभेद की श्रद्धा कैसे होगी? इस प्रकार शिष्य प्रश्न करता है।

समाधान:—आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, इस प्रकार तीनों का विचार करने पर

राग की रेखा आ जाती है इसलिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र को पृथक्-पृथक् भेदरूप लक्ष्य में नहीं लेना चाहिए, किन्तु अविकारी, निरपेक्ष, पूर्ण, अपूर्ण भेदरूप को लक्ष्य में लेना चाहिए, यह सातवीं गाथा में कहेंगे।

अनादि के अज्ञानी को समझाने के लिये यह 'समयसार' शास्त्र है इसलिए सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है। यदि कोई ऊपर ही ऊपर से प्राप्त कर लेना चाहे तो नहीं मिलेगा। यदि दु:ख को जाने तो उसे दूर करने का उपाय भी समझ में आ सकता है।

इस सातवीं गाथा को समझते समय बहुतों के विपरीत तर्क उठते हैं। कितने ही लोग कहते हैं कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आत्मा के नहीं हैं,' ऐसा कहा है। किन्तु क्यों नहीं हैं ? यह वे नहीं समझते। वासतव में तो यहाँ यह कहा है कि इन तीनों का विकल्प (भेद) आत्मा में नहीं है। इसलिए आचार्यदेव का जो कथन है, वह बराबर समझना चाहिए। 'यथार्थ ज्ञान हुए बिना आगम अनर्थकारक हो जाता है।'

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः।।७।।

अर्थ:—ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान—यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

मैं पर से भिन्न तथा स्व से एक अभेदस्वरूप, निरपेक्ष, निरावलम्बी हूँ, यह न समझना मिथ्यात्व है और अनन्त संसार का मूल है।

धर्मी जीव को निम्नदशा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह तीन भेद व्यवहार से-परनिमित्त की अपेक्षा से कहे जाते हैं; एक ही वस्तु में यह तीन गुण हैं, भिन्न-भिन्न विभक्त नहीं हैं। जैसे कि स्वर्ण में पीलापन, चिकनापन और भारीपन है परन्तु उसको 'जो पीला है सो सोना है, उसमें चिकनापन है, भारीपन है' इस प्रकार एक साथ रहे हुओं को भिन्न-भिन्न कहना, भेद बतलाकर समझना सो व्यवहार है। इसी प्रकार आत्मा में सत्=त्रिकाल

होना, चिद्=ज्ञान, आनन्द=स्वरूप-रमणता-स्थिरता, इन एक साथ रहनेवाले गुणों को भिन्न-भिन्न भेद करके कहना सो व्यवहार है।

तीनों भागों में तीन गुणों के भिन्न-भिन्न तीन भाग नहीं हैं। जैसे एक खाने में धनियाँ, दूसरे में जीरा और तीसरे में हल्दी अलग-अलग है, उसी प्रकार आत्मा में तीन गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं; तथापि भेद करके कहना सो व्यवहार है; तीनों का जो एकरूप है सो आत्मा का स्वरूप है; यही निश्चय है।

यदि कोई कहे कि 'आपने आत्मा में से दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो बाहर निकाल दिये और मात्र बातें करने का धर्म रखा है' तो उसे कहा जायेगा कि तुमने अपेक्षा को नहीं समझा। यह तो मोक्ष पाने की समझ है। जो यथार्थरूप से समझ जाये यह अल्प काल में ही मोक्षदशा को प्रगट कर सकता है। जो अपूर्वभाव से सुने और समझे उसको अनन्त भव की भूख भाग जाये ऐसी यह अद्भुत बात है। भगवान आत्मा की महिमा को बतानेवाले इस समयसार की अलौकिक रचना हुई है। इनमें तीनों काल और तीनों लोक के सब समाधान हैं। जिसके भाग्य हों उसे यह सुनने को मिलता है। और जिसे सत् का प्रेम हो और पुरुषार्थ हो उसके अन्तरंग में यह बात अवश्य बैठ जाती है।

पहले ही पूर्ण ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्परूप है, उसकी वास्तविक श्रद्धा करके गुण के भेद करने का यहाँ निषेध किया गया है। विकल्प (राग का अंश) मेरा नहीं है। शुभ, अशुभ राग के भेद हैं, उससे भिन्न का विवेक करके अखण्ड ज्ञायक का एकरूप निश्चय करे तो वहाँ भेदरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, परन्तु अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा है। इस प्रकार अभेद निश्चयरूप से आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए, ऐसी श्रद्धा में और निर्विकल्प स्थिरता में भेद का निषेध हो जाता है; परन्तु गुण का निषेध नहीं होता।

चन्दन की लकड़ी में कोमलता, सुगन्धि और भारीपन तीन प्रकार हैं, उसकी अन्य पदार्थों से भिन्न पहचान करने के लिये गुणों का भेद किया है। चन्दन की लकड़ी में अपनेपन से जो होना है सो 'अस्ति' धर्म है, पर की अपेक्षा से न होना सो 'नास्ति' धर्म है। इस प्रकार उसमें अनेक गुण हैं। इन समस्त गुणों के एकत्रित होते हुए भी 'चन्दन सुगन्धित है' इस प्रकार एक गुण को भिन्न करके पहचान कराना सो व्यवहार है।

जिन्हें निश्चय-व्यवहार का ज्ञान नहीं है, वे इस सातवीं गाथा का अर्थ अन्यथा

करते हैं, उनकी इस भूल को दूर करने के लिये इस गाथा का यहाँ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। चन्दन की लकड़ी को अन्य से भिन्न दिखाने के लिये उसके गुणों को भिन्न करके दिखाते हैं, तो भी उसमें भेद नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा को पर से भिन्न पूर्ण स्वरूप से पहचान कराने के लिये उसके अनन्त धर्मों में से कुछ धर्मों के द्वारा समझाया जाता है। जैसे-श्रद्धा करे सो आत्मा, स्व-पर को जाने सो आत्मा, जो अन्तरंग स्थिरतारूप चारित्रगुण है, सो आत्मा है। यह तीनों गुण प्रतिसमय आत्मा में एक साथ-अभिन्न रहते हैं। परन्तु जो अज्ञानी समझता नहीं है, उसे एक-एक गुण पृथक् करके समझाना सो व्यवहार है। उसे समझाते हैं कि जैसे पर का विश्वास करता है, उसी प्रकार पुण्य-पाप विकार रहित अपना विश्वास करे—ऐसा गुण आत्मा का है। अपना ज्ञान स्व-पर का जाननेवाला है। पुण्य-पाप तथा पर के आश्रय से रहित आत्मा में एकाग्रता का होना सो चारित्र है। परन्तु इस प्रकार तीनों गुण पृथक् नहीं हो जाते। निश्चय से समस्त गुणों का एकत्रित पिण्ड जो ज्ञायक है, उसे अभेदरूप से देखें तो 'दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं' अर्थात् ये गुण पृथक्-पृथक् रूप से विद्यमान नहीं हैं, परन्तु अनन्त गुण अभिन्न हैं। भेदरूप से लक्ष्य करने पर मन के सम्बन्ध से विकाररूप भेद पड़ जाते हैं। उस विकल्प के लक्ष्य द्वारा अन्तरंग में स्थिरता नहीं हो पाती और अभेद स्थिरस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जो एक साथ सर्व गुणों के अभेद पिण्ड को अखण्ड निर्मलदृष्टि से देखा जाये तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेदरूप विकल्प नहीं उठते। एक समय में ध्रुवस्वभावी अनन्त गुणस्वरूप अखण्ड पिण्ड आत्मा है, ऐसा निश्चयस्वरूप यहाँ बतलाते हैं। आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है, इसलिए उसमें गुण के भेद का निषेध इस सातवीं गाथा में किया है।

एक गुण को पृथक् करने की ओर लक्ष्य करे तो मन के सम्बन्ध से विकल्प होने पर आत्मा में निर्विकल्परूप अभेद नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न गुणों का विकल्प छोड़कर निर्मल सम्पूर्ण तत्त्व पर लक्ष्य करे तो 'मैं दर्शन हूँ, ज्ञान हूँ, चारित्र हूँ,' ऐसा एक-एक गुण भेदरूप लक्ष्य में नहीं आता अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का विकल्परूप राग उत्पन्न नहीं होता। 'मैं स्थिर होना चाहता हूँ,' ऐसी वृत्ति शुभराग है। 'मैं एकाकी-भेदरहित अखण्ड वस्तु हूँ,' इस प्रकार एकत्व का अनुभव करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करनेवाला विकल्प विद्यमान नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद है। और वहाँ निर्विकल्प दशा है।

यह जौहरी बनने के लिये प्रथम उम्मीदवारी के समान है। आत्मा की परीक्षा करने के लिये और पराधीनता को दूर करने के लिये पर से शुभ-अशुभरूप विकल्प से किस प्रकार भिन्न है, इस बात को सावधानीपूर्वक सुनने में और समझने में तत्पर रहना सो यह जौहरी की दुकान पर पानी भरते-भरते (पानी भरने की नौकरी करते-करते) जवाहरात का व्यापार सीख जाने के समान है।

जो अभेदस्वरूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद करके विकल्प करने में व्यस्त हो गया उसे अभेद अनन्त गुणों के पिण्ड निर्विकल्प आत्मा का लक्ष्य नहीं होता, और ऐसा लक्ष्य हुए बिना निर्मल श्रद्धा नहीं हो सकती। यहाँ चौथा गुणस्थान प्राप्त करने की बात कह रहे हैं। जिसे निर्विकल्प अभेद की श्रद्धा नहीं है, उसी के लिये यह बात कही जा रही है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद किये जाते हैं, यह व्यवहार शुभविकल्प है। उस भेद का निषेध करनेवाले ज्ञानी को तो निश्चय से एकत्व है।

ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव तो एक ज्ञायक है। अर्थात् तीन गुणों का भेद किये बिना, अखण्ड ज्ञायक की ओर लक्ष्य रखता है। किसी को अच्छी कारीगरी (नक्काशी) किया हुआ सोने का मुकुट मिल जाये, और वह सुनार के यहाँ बेचने जावे, और तब सुनार उससे कहे कि 'इसमें चाहे जितनी बारीक नक्काशी (कारीगरी) हो, हम उसका मूल्य नहीं देंगे, किन्तु मात्र सोने की ही कीमत देंगे, क्योंकि हमारे लिये कारीगरी की कोई कीमत नहीं है,' इसी प्रकार आत्मा पर से निराला राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मन, शरीर, वाणी से भिन्न है, उसमें मैं ज्ञान-दर्शनवाला हूँ, इस प्रकार मन के द्वारा भेदरूप कारीगरी अन्तरंग में निर्णय के लिये प्रथम आवश्यक थी, परन्तु अभेद लक्ष्य के समय भेद (कारीगरी) का मूल्य नहीं है। प्रथम मन के द्वारा भेद करके सम्पूर्ण स्वरूप को पहचानने के बाद गुण के विकल्परूप भेद को दूर करने के लिए अभेद के लक्ष्य द्वारा भेद का निषेध किया गया है।

माल लेते समय विकल्प करता है, उसका मूल्य तय कर लेने पर तौलते समय तक विचार (विकल्प) आते हैं, परन्तु खाते समय उस सबका विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार प्रथम आत्मा को समझने के लिये 'ज्ञान है, श्रद्धा है, सामान्य-विशेषरूप से आत्मा ऐसा है,' ऐसा ज्ञान द्वारा विचार करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकल्प होते हैं, परन्तु ज्ञान द्वारा तौल (निश्चय-माप) करने के बाद, अभेद निर्मल आत्मा की श्रद्धा करते समय

और उसमें स्थिर होते समय उसके विकल्प नहीं होते। जैसे कि माल तोलते समय तराजू और बाँट की जरूरत होती है, परन्तु खाते समय तराजू आदि एक तरफ पड़ी रहती है, इसी प्रकार आत्मा का निश्चय करने के बाद एकाग्र अनुभव के समय चारित्र आदि के विकल्प करने की आवश्यकता नहीं होती। 'मैं ज्ञान हूँ, उसमें स्थिर होऊँ,' ऐसे शुभभाव के विकल्प में अटक जाये तो निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि विकल्प के द्वारा ही आत्मा ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र माने तो ऐसे मन के शुभभाव तो आत्मा अनन्त बार कर चुका है। 'मैं निर्विकल्प शुद्ध हूँ, अनन्त गुणों से अभेद हूँ,' ऐसी श्रद्धा का अभेदरूप से आत्मा में अनुभव होने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के भिन्न-भिन्न भेद ज्ञानी के नहीं रहते। प्रथम आत्मा की श्रद्धा के समय एकाग्रता होने पर निर्विकल्प आत्मा का अनुभव होता है और आगे बढ़ने पर विशेष चारित्र में इस प्रकार निर्विकल्पता का ही अनुभव होता है। भेद हो तो विकल्प होते हैं। ऐसा समझे बिना कोई एकान्त में एक जगह बैठ जाये तो मात्र इतने से ही आत्मानुभव नहीं हो जाता। प्रथम सत्य-असत्य का निर्णय होने के बाद अनुभव होता है।

व्यवहार अर्थात् बाँट-तराजू के समान शुभभाव आत्मा ने अनन्त बार किये हैं, किन्तु पर से भिन्न अविकारी चिदानन्द भगवान आत्मा को सम्यग्ज्ञान के माप में लेकर निश्चय नहीं कर सका।

एक आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद करने से क्रम की अपेक्षा होती है, क्रम में मन की अपेक्षा होती है, इस प्रकार भेद द्वारा एकाकार गुणदृष्टि का अनुभव प्रगट नहीं होता और अन्तरंग में अभेद-एकाग्रता नहीं होती।

टीका:—यह ज्ञायक आत्मा की बन्ध पर्याय (कर्म के सम्बन्ध की अवस्था) के निमित्त से क्षणिक अशुद्धता होती है, वह तो दूर ही रही, उसे जो अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, परन्तु 'दया पालूँ, व्रत आदरूँ' आदि जो शुभविकल्प हैं, वह अशुद्धभाव (विकार) है, उसे भी जो अपना मानता है अर्थात् हितकर मानता है सो मिथ्यादृष्टि है। वह अशुद्धता तो दूर रही परन्तु ज्ञायक आत्मा के एकत्व में दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं है, अर्थात् एक वस्तु में भेद नहीं होते। जो ऐसा नहीं समझते, उन्हें सन्देह उत्पन्न होता है। यदि अपनी कल्पना से पढ़े तो आगम भी अनर्थकारक हो जाता है। समयसार परम आगम

है, इसमें सर्व समाधान हैं। अलौकिक बातें कही हैं, परन्तु गुरुगम के बिना समझ में नहीं आ सकती। समस्त गुणों का पूर्ण पिण्ड आत्मा है, इसीलिए अभेद जानने के लिये कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न-भिन्न विद्यमान नहीं हैं, परन्तु ऐसा किसने कहा है कि वे गुण ही नहीं हैं।

घी, गुड़ और आटे को मिलाकर लड्डू बनाया हो और फिर उसमें से घी, गुड़, आटे को अलग कर डालो तो लड्डू रूप वस्तु ही न रहेगी, इसी प्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता है। उसके भिन्न-भिन्न भेद करके विचार के द्वारा टुकड़े करना ठीक नहीं है।

गुण का भेद करके विचार करे तो विकल्प उत्पन्न होता है, अभेद का अनुभव नहीं होता। जिसे आत्मानुभवरूपी मोदक खाना हो उसे तीन गुणों का भेद करके शुभ विकल्प करने में अटकना नहीं भायेगा। बाह्य स्थूल आलम्बन की तो बात ही क्या, परन्तु सूक्ष्म विकल्पों का भी यहाँ निषेध है। लोगों को ऐसा उपदेश सुनने को नहीं मिलता और अन्तस्तत्व की विचारणा बहुत कम होती है। जिससे आत्मा का गुण प्रगट हो ऐसा श्रवण-मनन प्राप्त नहीं होता, परन्तु जिस भाव से अनन्त भव बढ़े ऐसी उल्टी मान्यता और पर में कर्ता-भोक्ता की बातें माननेवाले और मनानेवाले बहुत मिलते हैं।

आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं अर्थात् जहाँ अखण्ड निर्विकल्परूप लक्ष्य करना है, वहाँ भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत नहीं होते, अपितु अनन्त गुणों का पिण्ड निर्मल ज्ञायक एकस्वरूप प्रतीत होता है। परमार्थ से एकत्वस्वरूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, भेदरूप नहीं हैं।

अनन्त धर्मों वाले एक धर्मी की पहिचान करने में जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य के लिये अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा की पहिचान करानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेशकर्ता-आचार्यगुण अभेद के लक्ष्य से-नाम से भेद कर देते हैं कि सत्-चित्-आनन्द (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) का धारण करनेवाला आत्मा है, परन्तु परमार्थ से आत्मा में तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न भाग नहीं हैं। अत: भेद विद्यमान नहीं हैं।

प्रश्न:—आत्मा कैसा है ?

उत्तर:—आत्मा अनन्त धर्म अर्थात् अनन्त गुणस्वरूप है। जानना, श्रद्धा करना,

वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण आत्मा में एक साथ विद्यमान हैं। एक वस्तु अनन्त गुणों का पिण्ड है। ऐसे आत्मा को जानने में जो शिष्य प्रवीण नहीं है उसे कितने ही गुणों द्वारा नाम से भेद करके व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश देते हैं कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य को अर्थात् जो अज्ञानी समझना चाहता है, उसे कहा जाता है; जो ज्ञानी है, उसे तो खबर है ही।

कोई कहता है कि तेरहवें या सातवें गुणस्थान और उससे ऊपर की यह बात है। किन्तु ऐसा नहीं है। लोगों को सत्य बात मुश्किल से सुनने को मिलती है, वहाँ तत्त्व के विरोधी ऐसा असत्य कहकर भड़का देते हैं। आचार्य तो कहते हैं कि जो शिष्य 'अनन्त धर्मवाला आत्मा कैसा है' इस बात को नहीं समझा, परन्तु निकटवर्ती है अर्थात् पात्र है (समझने के लिये निकट आया हुआ है) उसी से यह बात कहते हैं। अनन्त काल से जिस स्वरूप को नहीं समझा कि वह कैसा है, किन्तु समझने की उत्सुकतावाला है, वह निकटवर्ती है; उसे यह बात समझायी जाती है। जो नहीं समझता वह पूछता है; उसे 'तू एकरूप अभेद आत्मा है' ऐसा कह दे तो वह अनन्त धर्मरूप वस्तु को कभी समझेगा ही नहीं।

परमार्थ से आत्मा निर्विकल्प, निरावलम्बी है, अनन्त गुण का पिण्ड है। उसकी श्रद्धा में भेद करनेरूप विकल्प का भी अवकाश नहीं है, तो भी जो समझना चाहता है, उसे भेद करके एक-एक गुण द्वारा अभेद आत्मा का लक्ष्य करने के लिये व्यवहारमात्र से भेद करना पड़ता है।

श्रीगुरु कहते हैं कि—अभेदस्वरूप को जीव लक्ष्य में ले सके इसलिए भेद का कथन करना पड़ता है, जैसा हम समझते हैं वैसा निकटवर्ती (सत्य समझने का अभिलाषी) शिष्य पूर्णतया समझ लेगा। इस कथन का यह आशय है कि अध्यात्मशास्त्र का भाव चाहे जिससे सुने अथवा स्वयं ही पढ़े तो स्वच्छन्दरूप से यह अपूर्व आत्मबोध प्रगट नहीं होता। एक बार साक्षात् ज्ञानी के पास से गुरुगमरूप सत्समागम से साक्षात् सुनना चाहिए। 'दीपक से दीपक जलता है' इस सिद्धान्त के अनुसार उपादान सत् को ग्रहण करने को तैयार हो तो वहाँ ज्ञानी की उपस्थिति होती ही है।

'बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत;
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित।' *(श्रीमद् राजचन्द्र)*

जिस मनुष्य को अधिक प्यास लगी हो और वह जल पीने जावे तो जल प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कैसा कहा है, उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है, इसकी जिसे प्रबल जिज्ञासा है, वह सत्समागम प्राप्त कर लेता है, परन्तु स्वयं अकेला ही शास्त्र पढ़े तो उससे वह समझ नहीं सकता। ये तो सूत्र हैं।

जैसे अभ्रक के पटल में से परत में से परत निकलते चले जाते हैं वैसे ही एक शब्द में से कई-कई अर्थ निकलते जाते हैं।

निकटवर्ती का अर्थ 'ज्ञानी के पास आकर उपस्थित' होता है। निकट दो प्रकार से होता है—(१) क्षेत्र से निकट, (२) भाव से निकट। बाह्य में जो साक्षात् ज्ञानी के पास आया है, वह क्षेत्र के निकट है और अन्तरंग में समझने की जिसकी तैयारी है, वह भाव से निकट है। एक बार ज्ञानी के समीप पहुँचना चाहिए। इस कथन में दूसरों से भिन्न ज्ञानी की पहिचान करानेवाला अपना विवेक है। ज्ञानी की प्राप्ति होनी चाहिए यह कहने में पराधीनता नहीं है। जो स्वयं पात्र बन गया है, उसे ज्ञानी का योग न मिले ऐसा कभी नहीं होता। इसीलिए श्रीमद् राजचन्द्र ने सत्समागम पर बारम्बार भार दिया है।

'मैं स्वयं ही तत्त्व समझ लूँगा,' ऐसा नहीं मानना चाहिए, तथा तेरी शक्ति के बिना, किसी निमित्त से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। यदि तू समझे तो निमित्त में आरोप हो, और तेरी पात्रता हो तो मुझे समझाने में सद्गुरु निमित्त हुए—ऐसा व्यवहार से कहा जायेगा।

बहुत से जीवों को सत् के समझने की प्रबल आकांक्षा अन्तरंग से पैदा होती है, तब वे संसार में से उन्नतिक्रम से आगे बढ़े हुए ज्ञानी तीर्थंकररूप से जन्म लेते हैं। उनके निमित्त से जो योग्य जीव होते हैं, वे सत्य को समझ लें ऐसा मेल हो ही जाता है। तीर्थंकर किसी के लिए अवतार नहीं लेते तथा कोई ईश्वर अवतार नहीं लेता।

कितने ही कहते हैं कि समयसार में बहुत सूक्ष्म अधिकार हैं, परन्तु अनन्त काल बीतने पर भी जिसकी प्रतीति के बिना जीव जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है, उन दुःखों के दूर करने के लिये ही यह वस्तु कही जाती है। दुनियादारी के लिए चौबीसों घण्टे मजदूरी करता है, जिसके फल में सुख नहीं है। अनन्त जन्म-मरण किये उसमें एक क्षण भी आत्मा का भान नहीं किया। यदि कोई व्यावहारिक संसार की कला आ जाये तो वह

पूर्वजन्म के पुण्य का फल समझना चाहिए, वर्तमान पुरुषार्थ का नहीं। पूर्वजन्म में सत्य, दान, ज्ञान के कुछ शुभभाव किये थे, उससे ज्ञान सम्बन्धी आवरण कम हो गया और पुण्यबन्ध हुआ था, उसी के फलरूप वर्तमान में बुद्धि और पुण्य के संयोग मिले हैं, इसलिए यदि कोई कहे कि हमने सांसारिक चतुराई बहुत की, इससे पैसा, बुद्धि आदि की प्राप्ति हुई है तो वह बात मिथ्या है।

संयोग मिलने से कोई सुख-सुविधा नहीं होती। परवस्तु आत्मवस्तु को किंचित्मात्र लाभकारक या हानिकारक नहीं है। 'मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसा हुआ' यह मान्यता मिथ्या है। संयोग से जो वर्तमान जानकारी हुई है व अनित्य बोध है, वह ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के क्षणिक संयोग के आधीन होने से इन्द्रिय आदि संयोग का नाश होने पर, नाश हो जाता है।

प्रश्नः—यदि पढ़ने न जाये तो ज्ञान कैसे प्रगट हो?

उत्तरः—जो पूर्व की प्रगटता लेकर आया है, उसे पढ़ने की इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी।

पैसा कमाने की इच्छा या सांसारिक पढ़ाई (कुशलता) प्राप्त करने की इच्छा नए अशुभभाव हैं। पैसे की प्राप्ति और लौकिक ज्ञान की प्राप्ति वर्तमान के पुरुषार्थ का फल नहीं है, परन्तु पूर्व का फल है। वर्तमान में स्व की ओर रुचि करके प्रतीति करे यह वर्तमान नये पुरुषार्थ से ही हो सकता है। बाह्य संयोगों की प्राप्ति होना पूर्व पुण्य के आधीन है, परन्तु अन्तरंग में सच्ची समझ की रुचि का पुरुषार्थ करना पूर्व कर्म के आधीन नहीं है। संसार के लिये जितना राग करता है, वह विपरीत पुरुषार्थ है, उसका फल नया बंध है। यदि बाह्य सामग्री प्राप्त करने के लिये राग, द्वेष, मोह करे तो उस वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ का फल नया बंध होता है। राग-द्वेष स्वयमेव नहीं हो जाते या कोई बलात् नहीं कराता, परन्तु स्वयं बुद्धिपूर्वक उसे करता है, इसलिए जो वर्तमान राग-द्वेष होते हैं, वे विपरीत पुरुषार्थ से होते हैं।

इस प्रकार दो बातें हुईं:—(१) पूर्व कर्म के फलरूप बाह्य संयोग की प्राप्ति और (२) उसके प्रति नई खटपट अर्थात् राग-द्वेष की प्रवृत्ति करनी (जो कि नवीन बन्ध है)।

अब तीसरी बात यह है कि वर्तमान में लौकिक ज्ञान का प्रागट्य अधिक दिखायी

देता है, वह पहले शुभभावों से जो आवरण कम किये थे उसका फल है। वह पूर्व की प्राप्तिरूप में भीतर विद्यमान था जो कि अमुक काल में बाहर दिखायी देता है, वह वर्तमान बुद्धि का फल नहीं है। डाक्टर बनने की कला सीखने के लिये बन्दर के शरीर के अवयवों को काटता है, मेंढ़कों को चीरता है, तथापि उसके फलस्वरूप कला प्रगट होती है और पैसा भी मिलता है, यह कैसे हो सकता है ?

कसाई हजारों गायों को काटकर पैसा कमाता है और आनन्द करता हुआ दिखायी देता है, वकील झूठ बोलकर हजारों की आमदनी करते हैं; व्यापारी धोखा करके कमाई करते हैं; तो विचार करो कि वर्तमान में जो यह सब पाप करते हैं, तो क्या पाप के फल से सुविद्या, बुद्धि या पैसा मिल सकता है ? कदापि नहीं। फिर भी मनुष्य 'वर्तमान पुरुषार्थ से हमने यह प्राप्त कर लिया या बुद्धिमान बन गये' ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। जिसके कारण में पाप है, उसका फल तो पापबन्ध ही होता है। वर्तमान में तो पूर्व के संग्रह किये हुए पुण्य का फल भोगता है।

अनन्त काल में आत्मा कौन और कैसा है, यह नहीं समझा है, इसलिए उसका समझना अपूर्व है। उसमें वर्तमान नया पुरुषार्थ काम करता है। उसे समझे बिना अनन्त बार पुण्य-पाप करके उसके फलरूप अनन्त भव किये; अनन्त बार धर्म के नाम से पुण्य किया; उसके फल से उच्चे देव और राजा हुआ; महान बुद्धिशाली मन्त्री हुआ; परन्तु अपूर्व तत्त्व को नहीं समझा। यथार्थ समझ के लिए एक बार ज्ञानी से सत् का उपदेश सुनना चाहिए।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेदभव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन होता है। प्रसन्नचित्त से अर्थात् अन्तरंग के उत्साह से कि 'अहो! सत्समागम द्वारा पहले ऐसा कभी नहीं सुना।' अपने आप पढ़कर समझ ले सो बात नहीं है परन्तु जो साक्षात् ज्ञानी से शुद्ध आत्मा की बात सुनकर अन्तरंग में निर्णय करता है, वह भावी मुक्ति का भाजन होता है। चारों गति में फिरते हुए सबसे कम मनुष्यभव किये, (कोई जीव शुभभावों को टिका रखे तो लगातार अधिक से

अधिक मनुष्य के आठ भव होते हैं) तो भी जीव अनन्त बार मनुष्य हुआ। मनुष्यभव से असंख्यगुने नरक के भव धारण किये। (पंचेन्द्रिय का वध, शिकार, गर्भपात आदि तीव्र पापों का फल नरक गति है। यह बात बहुत बार कही जाती है। मनुष्यों को दुःख का भय दिखाने के लिए यह कल्पना नहीं की है), इन नरक के भवों से भी असंख्यगुने स्वर्ग के भव धारण किये और वे भी अनन्त बार किये। इन स्वर्ग के भवों से भी पशु, तिर्यंचों में एकेन्द्रिय (वनस्पति इत्यादि) में अनन्तानन्त भव धारण किये हैं; ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। पूर्व में तीव्र कपट, वक्रता इत्यादि की, उसके फलस्वरूप तिर्यंचों के टेढ़-मेढ़े शरीर मिले हैं।

प्रश्नः—पूर्वभव कैसे माना जाये ?

उत्तरः—आत्मा वर्तमान में है और जबकि है तो उसका आदि नहीं है तथा अन्त भी नहीं है। जबकि यह भव है तो पूर्वभव भी था ही। जैसे घी का फिर मक्खन नहीं बन सकता उसी प्रकार यदि मोक्षदशा प्रगट कर ली हो तो फिर अवतार नहीं हो सकता। आत्मा अनादि से संसारदशा में अशुद्ध है। शुभ-अशुभरूप अशुद्धभाव का फल चार गति का भ्रमण है। अनन्त काल से अपने को नहीं समझा इसलिए आत्मा संसार में भ्रमण करता है।

जैसे डिबिया में रखा हुआ हीरा डिबिया से अलग है। उसी प्रकार मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप-विकार आदि से भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, वह देहरूपी डिबिया से अलग है।

यह सातवीं गाथा जिसे बराबर समझ में नहीं आती वह विरोध में कहता है कि इस गाथा में तो कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के नहीं हैं, तो क्या आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रहित अर्थात् जड़ है ? विकल्प और गुण के भेद उस अभेद आत्मा का स्वरूप नहीं हैं, यह कहा है, ऐसा लक्ष्य में न लेकर वे ऐसा कुतर्क करते हैं कि गुणों को तो उड़ा ही दिया है; पहला घड़ा उल्टा रखा जावे तो उसके ऊपर जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब उल्टे ही रखे जावेंगे। इसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा पर से भिन्न और अपने अनन्त गुणों से अभिन्न है। इस बात को जो वास्तविकरूप से नहीं समझे तो उसके जितने भी तर्क होंगे वे सब विपरीत ही होंगे।

बाह्य से धर्म होता है ऐसा लोगों ने अनादि से मान रखा है, उससे यह जुदी बात है।

कोई आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञानी पुण्य-पाप-विकार का स्वामी नहीं है, इसलिए वह उसका कर्ता नहीं होता किन्तु वह अपने अविकारी स्वभाव का कर्ता होता है। अविकारी की श्रद्धा द्वारा विकार का निषेध होने पर भी पुरुषार्थ की मन्दता है इसलिए पुण्य-पाप का भव होता है, परन्तु उसका स्वामी या कर्ता ज्ञानी नहीं होता। जो अपने को विकारों का और शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता मानता है, उसे अविकारी ज्ञायकस्वरूप का भान नहीं है।

यह सच्ची श्रद्धा का विषय है। मुनित्व, श्रावकत्व और चारित्र की योग्यता तो सच्ची श्रद्धा के बाद ही आ सकती है। आचार्य कहते हैं कि जिसे सच्ची श्रद्धा नहीं है, उसे सच्चा मुनित्व, श्रावकत्व या चारित्र नहीं हो सकता।

अविकारी निरालम्बी वीतरागस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा और अंशरूप स्थिरता होने पर भी निम्नदशा में पुण्य-पाप का विकार होता है, तो परन्तु उसे अखण्ड प्रतीति है मेरा ज्ञायकस्वभाव पुण्य-पाप का नाशक है, रक्षक नहीं। जब तक पहले ऐसी श्रद्धा न करे तब तक आत्मस्वभाव समझने की और उसे प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं आती।

यहाँ कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्मा को क्षणिक-विकार कहने की बात तो दूर रही, परन्तु गुण-गुणी के भेद का लक्ष भी छोड़ो। आत्मा स्वरूप से अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, उसमें अभेद लक्ष्य न करे और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विकल्पों के द्वारा तीन भागों पर दृष्टि रखे तो उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती। जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल है, वैसा उसका भाग न करे और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में समय बिता दे तो उस जीवन का क्या मूल्य है ? मात्र लोगों में दिखावट 'हास्य और स्पर्धा' करके धर्म मानता है, कोई बाह्य लौकिक नीति द्वारा ही सब कुछ मान लेता है, परन्तु यह कोई अपूर्व बात नहीं है।

किसी बड़े बूढ़े के मरने पर लोग कहते हैं कि बेचारा बूढ़ा हरी-भरी वाटिका (घर-परिवार) छोड़कर चला गया है, परन्तु ममता को लेकर और पूर्व-पुण्य को जलाकर आत्मा दुर्गति में गया है, यह कोई नहीं विचारता। अहो ! जो ऐसे परम सत्य की महिमा एक बार सुने, अन्तरंग से प्रतीति करे, उसके लिये मोक्ष की फसल पक सकती है। अपूर्व श्रद्धा द्वारा जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसे बहुमूल्य मनुष्यभव मिला, परन्तु वह व्यर्थ ही गया।

लोग कुनैन पीने से पूर्व ही यह विश्वास कर लेते हैं कि कुनैन पीने से बुखार उतर जाता है, इसी प्रकार पहले से ही यह विश्वास करना चाहिए कि मैं राग-द्वेष-अज्ञान से रहित ज्ञायक हूँ।

कोई कहे कि कुनैन से बुखार उतरता है, तब परमाणुओं में होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तन को हम नहीं देख सकते, परन्तु उससे बहुतों का बुखार उतरा है, इसलिए ऐसा मान लेते हैं। उसी प्रकार विकार का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्विकारी शुद्ध स्वरूप अनन्त आत्माओं ने प्रगट किया है, इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष, अज्ञानरहित मात्र ज्ञायक है—ऐसा मानना चाहिए।

व्यवहार से कहा जाता है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, परन्तु परमार्थ से देखा जाये तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य अपने में समा गया है, इसलिए पररूप किंचित् एकमेक मिला हुआ आस्वादरूप अभेद ज्ञायकत्व ही है। आत्मा में से गुण नया प्रगट नहीं होता, परन्तु पर्याय प्रगट होती है, ज्ञानी का अखण्ड द्रव्य पर लक्ष्य है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा की पर्याय है, व्यवहार है, उस भेद को गौण करके आत्मा अखण्डानन्द, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अभिन्न है, उसे श्रद्धा में (लक्ष्य में) लेना ही धर्म का मूल है। गुण के भेदरूप विकल्प का राग तोड़कर अन्तरंग में एकाग्रता से स्व को लक्ष्य में ले तो बुद्धिपूर्वक विकल्प टूटकर परमार्थस्वरूप निर्विकल्प अभेद स्वादरूप मालूम होता है। ऐसी बात कभी सुनी भी नहीं है, इसलिए मनुष्य को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन बहुत महँगा कर दिया है। लोगों ने अपनी कल्पना में बाह्य से समकित मान रखा है।

लोग परस्पर एक-दूसरे को अभिप्राय देते हैं कि तुम सम्यग्दृष्टि हो; परन्तु सर्वज्ञदेव ने कहा है कि वैसा यथार्थस्वरूप जाने बिना वह श्रद्धा ऐसी है जैसे खरगोश के सींग!

यह तो 'बीज' रूप बात कही जा रही है, उसका 'पोषण' करने के लिये बहुत बार सुने और समझ में उसका मेल बैठाये तभी 'फल' मिलता है।

यहाँ निर्विकल्प श्रद्धा करने का अभेद विषय क्या है, यह बताया है। उसे समझने पर ही छुटकारा मिल सकता है। अद्‌भुत महिमा को बतानेवाला यह समयसार अमृत का कुण्ड है, मधुर समुद्र है; यदि उसे स्वयं न जाने तो क्या लाभ? श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अचिन्त्य महिमा स्पष्ट करके बतलाया है।

जिसे सुनते ही सहज चैतन्य-रत्नाकर भगवान की महिमा उल्लसित होती है। जो अन्तरंग से समझता है उसे अतीन्द्रिय स्वाद आये बिना नहीं रहता। अपनी कल्पना से शास्त्ररूपी समुद्र का विडोलन करके भीतर से मिथ्या तर्क उठावे तो 'पाप की मुट्ठी में तो बस केवल शंख समायें!' एकमात्र समयसार शास्त्र की पात्रता धारण करके सत्समागम से सुने और परमार्थ को समझे तो अनन्त भवों की तृष्णा की भूख भाग जाये।

जिसकी महिमा तीनों काल में अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओं ने गायी है, उसकी बात साक्षात् सुनने को मिलने पर भी अविकारी ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा न करे, यह कैसे हो सकता है ?

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है, यह जानकर चने को भून डाले तो फिर वह बोने पर नहीं उगता किन्तु स्वाद देता है, वैसे आत्मा में अखण्ड आनन्द भरा है, वर्तमान अवस्था में से भूलरूप कचास और अशुद्धता निकाल दे तो उसका स्वाद प्रगट आवे; इसलिए पहले मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, अविकारी हूँ, इस बात की अन्तरंग में श्रद्धा करनी चाहिए। पूर्ण निर्मल स्वभाव की श्रद्धा होते ही राग-द्वेष सब टल नहीं जाते, परन्तु अखण्ड गुण की प्रतीति के बल से क्रमशः स्थिरता होने पर विकार का नाश होता है।

जैसे चने में स्वाद की उत्पत्ति, कचास का व्यय और उसके मूल स्वरूप की स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मा में मैं राग-द्वेषरहित निर्मल स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा के अपूर्व स्वाद का उत्पाद, अज्ञान का व्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है ऐसी श्रद्धा की महिमा सुने और माने तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाये।

ज्ञानमूर्ति आत्मा में भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं, परंतु उनका भिन्न-भिन्न विचार करने से एक अखण्ड वस्तु नहीं जानी जा सकती। गुण-गुणी के भेद करने में लगे रहना राग का विषय है, इसलिए उसके द्वारा निर्विकल्प अनुभव नहीं हो सकता। अखण्ड स्वरूप के लक्ष्य के बिना निर्मल, निरपेक्ष वस्तु ध्यान में नहीं आती और यथार्थ प्रतीति के बिना आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जाता।

जैसे राजा को उसके योग्य अधिकार और मान से न बुलायें तो वह उत्तर नहीं देता; वैसे ही भगवान आत्मा को सर्वज्ञ के न्याय के अनुसार जानकर, अनन्त गुणों से एकत्व

पहिचानकर उसका अभेदरूप लक्ष्य न किया जाये तो वह भी उत्तर नहीं देता अर्थात् साक्षात् निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

'मैं विकार हूँ' ऐसा माने अथवा गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य करे तो राग का विषय रहता है।

प्रश्नः—जब कि निम्न दशा में राग रहता है तब फिर रागरहित दया की पहिचान कैसे हो?

उत्तरः—वह सम्यग्दर्शन होने पर मालूम होती है। जब तक मन के सम्बन्ध में युक्त था तब तक बुद्धिपूर्वक राग रहता था। उसका लक्ष्य छोड़कर स्व में अभेद लक्ष्य होने पर बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है, और निर्विकल्पता आ जाती है यही सम्यग्दर्शन है। आत्मसाक्षात्कार सर्व प्रथम चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को होता है। गृहस्थदशा में राग होते हुए भी आत्मा में आनन्द का स्वाद आता है। प्रथम अल्पज्ञ दशा में ज्ञान का जो स्थूल व्यापार है, उस अपने ज्ञान को सूक्ष्म करके, ज्ञान के व्यापार को अन्तरंग में अपनी ओर लगाकर निर्मल, अभेद स्वरूप का लक्ष्य करे तो वह बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं। ऐसी कोई अचिन्त्य महिमा गृहस्थदशा में हो सकती है और वह जन्म-मरण टालने का उपाय है।

यदि कोई कहे कि 'बहुत सूक्ष्म तत्त्व समझकर क्या करना है? अन्त में तो ध्यान ही करना है न? इसलिए हम पहले से ही ध्यान में लगें तो?' परन्तु समझे बिना ध्यान किसका करोगे?

बहुत से लोग कहते हैं कि 'चित्तवृत्ति का निरोध करो,' परन्तु उनकी बात दोष पूर्ण है, क्योंकि वह बात नास्ति से है। अपनी 'अस्ति' क्या है, इसे प्रथम जाने बिना चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता। पहचान होने के बाद एकाग्रतारूप अन्तरंग व्यापार में लगना, सो स्व में स्थिरतारूप ध्यान है। उसमें चित्तवृत्ति सहज ही रुक जाती है, उसका निरोध नहीं करना पड़ता। हमें तो मन को बाहर जाते हुए रोकना है। इस प्रकार पर से मन को दूर हटाने की बात कितने ही लोग करते हैं, परन्तु स्वयं अस्ति क्या है? ज्ञायकस्वरूप में स्थिर होना क्या है? इसकी जिन्हें खबर नहीं है, उनका मन बाह्य की ओर जायेगा ही। पर का अभाव विचारे, परन्तु स्व का सद्भाव कैसा है क्या है? इसके विचार के बिना वह अनित्य जागृति

है। वह राग-द्वेष को निकालना चाहता है, परन्तु किसको रखना है, और वह कैसा है, कैसा नहीं, वह क्या कर सकता है और क्या नहीं, इसकी खबर के बिना वह जो कुछ मानता है, जो कुछ जानता है, जो कुछ आचरण करता है वह सब मिथ्या है। यथार्थ स्वरूप को जाने बिना अनन्त बार जैन साधु हुआ परन्तु फिर भी संसार में ही रुलता रहा।

आत्मा को समझे बिना राग-द्वेष को नहीं टाला जा सकेगा। यदि वस्तु को यथार्थ समझ ले तो राग-द्वेष सहज ही टलने लगेंगे। प्रथम श्रद्धा में निर्विकारी अखण्ड की उपस्थिति हो जाने पर सर्व बातों को यथार्थरूप से जान लेता है। न समझते हुए भी यदि कोई यह कहे कि हम तो 'चित्तवृत्तिनिरोधरूप ध्यान करते हैं' तो उसका ध्यान नीम के वृक्ष के मूढ़ता पूर्ण ध्यान के समान है। 'चित्तवृत्तिनिरोधो ध्यानम्' यह तो नास्ति से बात हुई। सर्वज्ञ का कथन तो यह है कि 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९, सूत्र २७) इनमें अस्ति से बात कही है। एक में चित्त को एकाग्र करना, सो ध्यान है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द स्वरूपी है। उसके लक्ष्य में स्थित होने पर राग दूर होकर अन्तर स्थिरता हो जाती है और राग का नाश सहज में ही हो जाता है। इस प्रकार 'अस्ति' और 'नास्ति' दो होकर अखण्ड स्वरूप है।

अनन्त काल तक यह बात सुनने को मिलनी कठिन है, जो इस समयसार में स्पष्टरूप से कही गयी है। साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखकमल से निकली हुई वाणी सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने चारित्र सहित अन्तरंगदृष्टि से अनुभव की हुई बात जगत के सामने रखकर साक्षात् सर्वज्ञ के न्याय का अमृत बहाकर धर्म के झरने प्रवाहित किये हैं। अनन्त काल की भूख जिसे नाश करनी हो उसे सत्समागम से सुनकर अविकारी आत्मा को अखण्डरूप से लक्ष्य में लेना चाहिए।

मन के सम्बन्ध से किंचित् पृथक् होकर गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेदरूप से आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

प्रश्न:— यदि आँख, कान बन्द कर लें तो क्या विकल्प रुक सकते हैं?

उत्तर:— 'भीतर कौन है' इस बात को समझे और उसमें स्थिर रहे तो नाक-कान के कार्य की ओर लक्ष्य न जाये, और तब वे बन्द हुए ही हैं, बन्द नहीं करने पड़ते। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को भी तो इन इन्द्रियों के चिह्न नहीं हैं, तो क्या इसमें उन्हें

राग-द्वेष नहीं है ? उन जीवों के तो अनन्त मूढ़ता की विकलता विद्यमान है।

आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड है। पहले उसे यथार्थ जाने और जानने के बाद राग से दूर रहकर स्वभाव में एकाग्र हो जाये तो संकल्प-विकल्प की आकुलता सहज ही टल जाती है। सत् के लक्ष्य से असत् (राग-द्वेषादि) टलता है। आत्मा पर से भिन्न है, यह जाने बिना परमार्थत: राग दूर नहीं होता। एकान्त में जाकर अपनी कल्पना से माने कि मुझे संसार का राग नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु परमार्थ से आन्तरिक अभिप्राय में राग-द्वेष घटा नहीं है, तो इसके परिणामस्वरूप वह जीव मूढ़ हो जायेगा।

आत्मा का निर्विकल्प, निरावलम्बी, सहजस्वरूप समझे बिना जैन साधु होकर कषाय की इतनी मन्दता की है कि अगर कोई जला भी दे तो उस पर क्रोध न करे, फिर भी भव कम नहीं हुए, धर्म नहीं हुआ क्यों कि 'मैं सहन करता हूँ' ऐसा जो विकल्प है, सो राग है, धर्म नहीं। पहले राग-द्वेष पर लक्ष्य न करते हुए 'स्वाभाविक अस्ति' वस्तु त्रिकाल में क्या है यह जानना चाहिए। उसे जाने बिना ही रागादि का अभाव चाहता है, इसलिए नास्ति पक्ष (रागादि का नाश) नहीं हो सकता।

'यह तो बहुत सूक्ष्म है' समझ में नहीं आ सकता। ऐसा मत मानो। यह बात सत्य है, त्रिकाल में सत्य है, अनन्त काल में कभी नहीं सुनी थी ऐसी यह बात है। तेरी महिमा बताकर तेरी लोरियाँ गायी जा रही हैं। 'मेरा पुत्र बड़ा सयाना है, चौकी पर बैठकर नहा रहा है, मामा के घर जायेगा, खाजा, जलेबी खायेगा' ऐसी गीत बालक को सुलाने के लिये माता प्रशंसा करती हुई गाती है; किन्तु तुझे अनादि की नींद में से जागृत करने के लिये सर्वज्ञ भगवान गीत गाते हैं कि 'तू आत्मा चिदानन्द प्रभु है, पर के आधीन नहीं है। तुम तीनों काल में स्वाधीन है'। यह तेरे स्वभावरूप धर्म की जागृति के गीत हैं। अनन्त काल से तू अपने को नहीं पहचान रहा है। गुणी-गुणी के भेद के विकल्प में या शुभराग में अटका हुआ है, तब धर्म कहाँ से हो सकता है।

इस सातवीं गाथा में यह बताया है कि परमार्थस्वरूप का आत्मा में अभेद अनुभव कैसा है। उसे नहीं समझनेवाले अनेक कुतर्कों से शंका उठाते हैं। जिसे खोटी प्राप्ति हुई है वह उसको (खोटेपन को ही) प्रगट करता है। यहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान के पास से जो सनातन सत्य प्राप्त किया है, उसे जगत के समक्ष प्रगट

किया है कि प्रत्येक वस्तु पर से भिन्न और स्व से एकरूप है। आत्मा के कोई गुण भिन्न नहीं हैं, तीनों काल की पर्यायों को अभेद करके अन्तरंग के अनुभव द्वारा कहते हैं कि ज्ञानी को दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्यस्वरूप में समा जाते हैं।

दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि समस्त गुण वस्तुस्वरूप से एक हैं तथापि कार्यरूप से कथंचित् भिन्न हैं। जैसे कि श्रद्धा का कार्य प्रतीति करना है, ज्ञान का कार्य जानना है, आनन्द का कार्य आह्लाद अनुभव करना है, दर्शन का कार्य सामान्य प्रतिभास है, अस्तित्व का कार्य होने रूप है। ज्ञान द्वारा समस्त गुण भिन्न-भिन्न और किंचित् एकरूप हैं, ऐसा ज्ञात होता है। समस्त गुणों का आनंद भिन्न-भिन्न है, तथापि ज्ञान सब गुणों का एकरूप कैसे है, यह समझकर एकत्व को लक्ष्य में लेने की यह बात है। इस समझने की विधि के अतिरिक्त तीन काल और तीन लोक में और कोई उपाय नहीं है।

एक होय त्रण काल में, परमारथ को पंथ।
प्रेरे वह परमार्थ को, सो व्यवहार समंत॥

(आत्मसिद्धि, गाथा-२६)

तत्त्व में अविरोधरूप समझपूर्वक जो निर्मल ज्ञान है, वही पुण्य-पापरहित अविकारी स्वरूप में स्थिर रहने को प्रेरित करता है। वह ज्ञान का स्थिरतारूप व्यवहार ज्ञानी को स्वीकार है। इस प्रकार स्वरूप को समझकर एक बार तो अन्तरंग में लक्ष्य कर ले! उसमें विकार तो क्या परन्तु गुण-गुणी की भिन्नता भी नहीं है। वर्तमान में ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव का अनुभव करते हुए वस्तु में जो अनन्त गुण हैं, वे किंचित् अभिन्न और गुणों के स्वादभेद से भिन्न हैं। एक स्वभावरूप से अनुभव में आने पर दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भिन्न-भिन्न प्रकार अनुभव में नहीं आवेंगे।

सुख तो आत्मा में ही है। उसकी जगह लोग बाह्य पदार्थों से सुख मानते हैं, किन्तु वह कल्पना मात्र है। यह मकान ठीक है, लड़के-बच्चे अच्छे हैं, स्त्री अच्छी है, प्रतिष्ठा भी अच्छी है, इत्यादि कल्पना करके सुख मान रखा है। यद्यपि सुख अन्तरंग में है, किन्तु उससे विपरीत पर-निमित्त में सुख मान रखा है। अज्ञानी ने भ्रम के वशीभूत होकर सुख की कल्पना कर ली है। लोग जैसा कहते हैं, वैसा वह मान लेता है, बाह्य अनुकूलता में

सुख-सुविधा समझकर अज्ञानी सुख मान लेता है। उस विकार के लक्ष्य को और उसके स्वामित्व को छोड़कर मेरा अनन्त सुख मुझमें है, और वह मुझसे ही है, मुझमें अनन्त गुणों का अनन्त सुख है, इस प्रकार ज्ञानी अपने गुण को अखण्ड द्रव्य में समाविष्ट करके अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं। यद्यपि निम्नदशा में प्रगट आनन्द अल्प है, किन्तु वह लक्ष्य में पूर्ण है।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, प्रकाशत्व, अगुरुलघुत्व, प्रभुत्व, जीवत्व, चेतनत्व इत्यादि समस्त गुणों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, तथापि वस्तु एकरूप है।

मन के शुभभाव से कुछ छूटकर स्वभाव का लक्ष्य करने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं रहते, उस दशा को अनुभव कहा जाता है। ऐसे एकरूप अनुभव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय है। उस पर्याय के भेद पर लक्ष्य जाना सो व्यवहार है। उस (भेद) के लक्ष्य से निर्मलता नहीं होती।

समयसार की एक-एक गाथा अपूर्व है। अनन्त काल में आत्मा इस वस्तुस्वभाव को नहीं समझ सका, किन्तु उसे समझने के लिये अनन्त काल की आवश्यकता नहीं होती। अज्ञान में परिभ्रमण करते हुए अनन्त काल व्यतीत कर दिया, किन्तु स्वाधीन आत्मप्रतीति करके मुक्त होने में अधिक काल की आवश्यकता नहीं होती। अनन्त भव का अन्त करनेवाली बात को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत के समक्ष स्पष्ट करते हैं कि विकार और गुण के प्रकार के भेद से रहित मात्र ज्ञायक हूँ; ऐसी दृष्टि के द्वारा अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा करना ही मोक्ष का मूल है। व्यवहार को समझाने के लिये, अन्य पदार्थों से आत्मा को पृथक् दिखाने के लिये कथन की अपेक्षा से गुण-गुणी का भेद करता है, किन्तु वस्तु को अखण्ड ज्ञायकरूप में देखने पर उसके अनन्त गुण एकरूप अनुभव में आते हैं। उसमें विकल्प नहीं है, बुद्धिपूर्वक विकल्प का ध्यान भी नहीं है। ऐसी श्रद्धा का बल प्रथम ही धर्म का उपाय है, और वही मुक्ति का कारण है।

भावार्थ : शुद्ध आत्मा को कर्मबन्ध के निमित्त से अशुद्धता आती है। यह बात तो दूर ही रहे, निमित्तरूप से कर्मबन्ध का संयोग-सम्बन्ध है, उसमें युक्त होने से वर्तमान में विकार-पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी दूर रहे, उनका सम्यग्दर्शन में विचार नहीं करना

है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मरूप एक धर्मी है।

आत्मा अनन्त धर्मरूप होने पर भी वस्तुरूप में एक ही है, परन्तु अज्ञानी उसे भेदरूप धर्मों से समझ सकें इसलिए, आत्मा का प्रगट लक्षण जाना जा सके ऐसे असाधारण गुण को, दूसरे से लक्षणभेदरूप में बताने के लिये इस प्रकार व्यवहार से भेद करके कहा जाता है कि 'जो जाननेवाला है, सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है, सो आत्मा है।'

अषाढ़ की अमावस्या की घनघोर रात्रि हो और उस समय अन्धकार से परिपूर्ण कमरे में कोई सो रहा हो, और ऊपर से तीन-चार रजाईयाँ ओढ़ रखी हों तथा आँखें बन्द हों; फिर भी वह सोता हुआ कहता है कि घोर अन्धकार है। यहाँ पर विचार करना चाहिए कि यह किसने जाना? जिसने जाना है वह स्वयं जाननेवाला ज्ञातास्वरूप है, इसलिये उसने उसी से जाना है, क्योंकि अन्धकार से अन्धकार दिखायी नहीं देता। देह, इन्द्रिय और मन जड़ हैं, उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, तथा उनके द्वारा आत्मा जानता भी नहीं है। शरीर जड़ है, उससे आत्मा भिन्न है। यदि उसे विशिष्ट ज्ञानगुण के द्वारा पहचाने तो जल्दी पहचाना जाता है। आत्मा एकमात्र ज्ञानगुणरूप नहीं है, किन्तु आत्मा में ऐसे अनन्त गुण हैं, उन सबको अज्ञानी नहीं जानता। इसलिए जो अन्य द्रव्य में न हों ऐसे असाधारण गुणों के द्वारा आत्मा की भेद-कथन से पहिचान करानी पड़ती है।

ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। इस प्रकार परमार्थ को बताने के लिये कथन के द्वारा भेद करना सो व्यवहार है। गुण-गुणी का भेद करके जो समझाने की रीति है, सो व्यवहार है। परमार्थ से अर्थात् वास्तव में देखा जाये तो आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्डरूप है। इसलिए समस्त पर्यायों को पी गया है, अर्थात् द्रव्य में त्रिकाल अनन्त पर्यायें और अनन्त गुण परस्पर समाविष्ट हैं, इसलिए लक्षण और कार्य भेदरूप में भिन्न होने पर भी वस्तुरूप में कोई गुण भिन्न नहीं है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है। जो जानने की क्रिया करता है सो ज्ञान है, जो प्रतीति करना सो श्रद्धा है, और उसमें स्थिर होना सो चारित्र है। यह सब आत्मा के ही गुण हैं, अवस्तु नहीं हैं, तब फिर उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? अपनी वस्तु के रूप में अपने गुण अपने आश्रित हैं, उसे निश्चय कहना चाहिए। उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? शरीर, मन, वाणी तथा राग-द्वेष को जीव के व्यवहार

से कहो तो ठीक है, क्योंकि जो परभाव के आश्रित है, उसे व्यवहार कहा जाता है, किन्तु ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र जो कि निजवस्तु के आश्रित हैं, उसे व्यवहार कैसे कहते हैं ?

समाधान : यह सच है कि यह गुण आत्मा के हैं, किन्तु यहाँ आत्मा को इस प्रकार बताना है कि द्रव्यदृष्टि से अभेद निर्मल एकरूप स्वभाव सामान्य लक्ष्य में आता है। अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही अभेद वस्तुस्वरूप भलीभाँति मालूम हो सकता है। अनन्त गुण से अभेद आत्मा को एकरूप समझाते समय भेद कथन गौण हो जाता है। इसलिए यहाँ पर गुण-गुणी के भेद को गौण करके उस भेद को व्यवहार कहा है। यहाँ पर यह अभिप्राय है कि भेद करनेवाले के लक्ष्य में निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागी के विकल्प बना रहता है। गुण के विकल्प करते रहने से पुण्य होता है, निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। छद्मस्थ के राग रहता है इसलिए भेद पर लक्ष्य करने से राग में रुक जाता है, इसलिए जब तक रागादिक न मिट जायें तब तक वर्तमान अवस्था के विकार और उनके भेद को गौण करके अभेदस्वरूप निर्विकल्प अनुभव करने का उपदेश दिया गया है। वीतराग होने के बाद भेदा-भेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। यदि पराश्रय के विकल्प किया करे तो मन के सम्बन्ध का राग उठता है, यदि उसे हठ से छोड़ना चाहे तो नहीं छूटता। यदि समझे बिना एकाग्र होना चाहे तो मूढ़ता बढ़ जाती है।

अखण्ड निर्मल के लक्ष्य से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है और फिर निर्मल चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। अनन्त धर्मस्वरूप अखण्ड वस्तु, उसके गुण तथा अनन्त पर्यायों का ज्ञान एकसाथ वीतराग के होता है, उनके ज्ञान में क्रम नहीं होता, किन्तु सरागी जीव भेद पर लक्ष्य करता है तब वहाँ एक पक्ष का राग रहता है। पहले श्रद्धा में निर्विकल्प होने के बाद जब चारित्र में विशेष स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभ से बचने के लिये शुभ में लगता है, किन्तु दृष्टि तो अखण्डस्वभाव पर ही रखता है, और उस अभेददृष्टि के बल से चारित्र को पूर्ण कर लेता है।

छठवीं गाथा में क्षणिक वर्तमान अवस्था में विकार का लक्ष्य छोड़कर अभेद स्वरूप का लक्ष्य करने को कहा है और इस सातवीं गाथा में गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद अखण्ड ज्ञायकस्वरूप का लक्ष्य करने को कहा है। इस अभेददृष्टि के बल से क्रमशः राग का नाश और निर्मलता की वृद्धि होकर केवलज्ञान की पूर्णता प्रगट होती है।

प्रश्न:—ज्ञानी के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्यों नहीं हैं ?

उत्तर:—श्रद्धा का विषय त्रिकाल निरपेक्ष द्रव्य है और सामान्य ध्रुवस्वभाव अभेदरूप में निर्मलरूप में लेना है; तथा निश्चय का विषय भी अभेद निर्मल है, किन्तु निश्चय का विषय श्रद्धा-सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्याय है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र भी पर्याय हैं। एवं पर्याय के जो भेद हैं, वह व्यवहार का विषय है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि वह पर्याय है, खण्ड है, व्यवहारनय का विषय है और अभेददृष्टि में निश्चय में बन्ध-मोक्ष, साध्य-साधक इत्यादि सब पर्यायें गौण हो जाती हैं। सामान्य-विशेष एक ही समय में होते हैं, उनमें से निश्चय के विषय पर दृष्टि करनेवाला सम्यग्दृष्टि है, एक समय में एक पर्याय प्रगट होती है, पर्याय का भेद व्यवहार का विषय होने से अभूतार्थ है अर्थात् त्रिकाल विद्यमान नहीं है, अत: शुद्धनय के द्वारा भेद को गौण किया जाता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय के ऊपर का जो लक्ष्य है, वह निर्मलता का कारण नहीं है, उसमें शुभराग होता है; किन्तु राग का अभाव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य-सामान्य के ऊपर की जो दृष्टि है, वह सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञान का कारण है। सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड निर्मल सामान्य एकरूप है, इसलिए निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्य में मिल जाती है। सामान्य निर्मल के लक्ष्य से निर्मलता प्रगट होती है और भेद के लक्ष्य से राग रहता है। अखण्ड के बल से चारित्र प्रगट होता है, वह व्यवहार है, गौण है। व्यवहारमात्र ज्ञान करने के लिये और उपदेश में समझाने के लिये है। 'पूर्ण निर्मल है' ऐसी अखण्ड की दृष्टि ही मोक्ष देनेवाली है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय अखण्ड के बल से प्रगट होती है, वह पर्याय सद्भूतव्यवहार है और वह भी दृष्टि में गौण है। दृष्टि में साध्य-साधक का भेद नहीं है। संसार और मोक्ष पर्यायें हैं, वे भी अभूतार्थ के विषय हैं, इसलिए गौण हैं।

सम्यग्दर्शन और शुद्ध आत्मा एक नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड है और सम्यग्दर्शन श्रद्धा-गुण की पर्याय है, वह निश्चयदृष्टि में गौण है। ज्ञानी अभूतार्थ को अर्थात् जो त्रिकाल विद्यमान नहीं रहता उस भेद को मुख्यता से लक्ष्य में नहीं लेते।

अखण्ड द्रव्यदृष्टि के बल से—निज के अस्तित्व के बल से—निर्मल पर्याय अवश्य होती है, ऐसी श्रद्धा का होना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसी श्रद्धा भेद के लक्ष्य से अथवा विकल्प से नहीं होती।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए, उपदेश में व्यवहार का आश्रय क्यों लिया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर आठवीं गाथा में बड़े ही अद्भुत ढंग से दिया गया है।

आठवीं गाथा की भूमिका

छठवीं गाथा में विकार से भिन्न अभेद ज्ञायक आत्मा का वर्णन किया गया है। उसमें यह लक्ष्य में लेने को कहा गया है, कि आत्मा ज्ञानादि गुणों का अखण्ड पिण्ड है, आत्मा क्षणिक एक अवस्थामात्र के लिए नहीं है, इसलिए उस भेद को गौण करके एक आत्मा को निर्मल असंयोगी, अविकारी के रूप में लक्ष्य में लेना चाहिए, यही श्रद्धा का विषय है। शरीर आदि का संयोग आत्मा से बहुत दूर है। उस ओर की आसक्ति को पहले से ही कम करना चाहिए। मैं किसी देहादि के संयोगरूप नहीं हूँ, उसके कोई कार्य मेरे आधीन नहीं हैं। आचार्यदेव ने यह मान लिया है कि यह सब सुननेवाले के इतनी समझ तो होती ही है।

आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परवस्तु अपने से (आत्मा से) त्रिकाल नास्तिरूप है। वर्तमान विकारी अवस्था भी आत्मा में नहीं है। देह में आत्मा नहीं है, किन्तु निमित्त से कहा जाये तो एक आकाशक्षेत्र में आत्मा और देहादिक जड़ पदार्थ संयोगरूप में विद्यमान हैं। तथापि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा वस्तु की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् हैं। जो आत्मा से पृथक् है वह आत्मा का नहीं हो सकता। ऐसे स्थूल व्यवहारिक मिथ्यात्व का त्याग तो समयसार के जिज्ञासु के होता ही है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र मेरे लिये किसी प्रकार से हितकर नहीं हैं, देहादिक मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर व्यवहारिक भूल को छोड़कर ही इस परमार्थस्वरूप को समझने के लिये जिज्ञासु आया है।

आचार्य महाराज ने ऐसी बात कही है कि जिससे भवभ्रमण दूर हो सकता है, और इसीलिए उनने अनादिकालीन विपरीत मान्यता पर प्रहार किया है।

आत्मा का परवस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पराश्रित भाव को लेकर जो विकार होता है, वह वर्तमान अवस्था में आत्मा में होता है, तथापि जो अपने को उतना ही माने, शुभ-अशुभभावों को अपना स्वरूप माने उसके शुद्ध आत्मा की श्रद्धा नहीं है। आत्मा तो अविकारी, पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित, चिदानन्द, निर्विकल्प ज्ञायक है।

परवस्तु मेरी नहीं है, ऐसा समझाने के बाद छठवीं गाथा में यह समझाया है कि शुभ-अशुभ विकार भी मेरे नहीं हैं। मैं निर्मल हूँ, पर से भिन्न हूँ, एकरूप ज्ञानानन्द हूँ, इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, इस प्रकार यदि जीव गुण-गुणी के भेद के विचार में लग जाए तो उसे अपना सम्पूर्ण तत्त्व एक ही साथ लक्ष्य में नहीं आ सकता, यह बात सातवीं गाथा में बतायी है।

यहाँ पर भेददृष्टि के विकार और प्रकार की ओर से लक्ष्य को बदलकर, गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य गौण करके, राग से कुछ अलग होकर, निर्मल अभेद स्वरूप की निर्विकल्प श्रद्धा कराते हैं, संयोगरहित, असंयोगी का लक्ष्य कराते हैं, विकाररहित, अविकारी स्वरूप को बताते हैं, भेददृष्टिरहित, अखण्ड निर्मल वस्तु को बताते हैं। यदि रागी जीव गुण-गुणी के भेद के विचार में अटक जाये, तो उसके लक्ष्य में यह नहीं आ सकता कि रागरहित, भेदरहित, वीतराग अभेदस्वरूप क्या है।

प्रश्न:—तब क्या हमें घर छोड़कर निकल भागना चाहिए?

उत्तर:—जिस अज्ञान से छूटना है, उसका तो भान नहीं और घर से छूटने की बातें करता है, यह विपरीतदृष्टि है, महामिथ्यात्व है। जिसकी बुद्धि में यह बात है कि मैं संयोगी पदार्थ को छोड़ दूँ या अमुक वस्तु का त्याग कर दूँ, तो अन्तरंग में निवृत्ति आ जायेगी यह निमित्ताधीनदृष्टि मिथ्यात्व-शल्य है। पर के लक्ष्य से यदि कदाचित् कषाय मन्द हो जाये तो पुण्य हो सकता है, किन्तु अनादिकालीन भूल दूर नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि यदि संयोग से दूर हो जाऊँ तो गुण उत्पन्न हो जायेंगे, उसे अपने में जो अनन्त गुण भरे हुए हैं उनकी श्रद्धा नहीं है। यह मान्यता मिथ्या है कि संयोगों के दूर होने पर गुण होते हैं। जो जीव परलक्ष्य से, पर की अपेक्षा से कुछ करना चाहता है, उसे निरावलम्बी, निरपेक्ष तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। पहले अपनी ओर दृष्टि करनी होगी कि मुझमें 'अनन्त गुण भरे हुए हैं, मैं अखण्ड, निरपेक्ष, निर्मल हूँ।' ऐसे ज्ञायक के लक्ष्य से पराश्रय की दृष्टि बदल

जाती है। संयोग ने मेरे गुण को रोक रखा है, इसलिए संयोग को छोड़ दूँ तो मेरा गुण प्रगट हो जायेगा, इस प्रकार मानना सो तीव्र मिथ्यात्व है। शुभ-अशुभभाव जो कि विकार है वह मुझे गुण करता है, इस प्रकार वह विकार और गुण को एक मानता है। तू निर्विकार है, तूने अपने परम माहात्म्य की बात को कभी नहीं सुना, अन्तरंग में तुझे महिमा का कभी उद्‌भव नहीं हुआ। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने तेरी अनन्त महिमा गायी है, परन्तु तूने उसे अन्तरंग से परमार्थतः कभी नहीं सुना।

समयसार की छठवीं-सातवीं और आठवीं गाथायें आत्मधर्मरूपी वृक्ष की जड़ें हैं। जिसने यह माना है कि आत्मा परवस्तु को ग्रहण कर सकता है अथवा छोड़ सकता है, उसने पर को और अपने को एक माना है। परवस्तु मेरे आधीन नहीं है, उसका स्वामित्व मेरे नहीं है, विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार एक के बाद दूसरे गुण के भेद का विचार करे तो भी अभेद की श्रद्धा प्रगट नहीं हो सकती। इसलिए अभेद-निर्मल की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं है वहाँ व्रतरूपी वृक्ष कहाँ से उग सकता है ? समझे बिना व्रत और तप बालव्रत और बालतप हैं। देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभ या हानिकारक नहीं है। राग की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभकारक नहीं परन्तु हानिकारक है। आत्मा जब अन्तरंगदृष्टि की प्रतीति को प्राप्त होता है तब 'मैं राग का नाशक हूँ' इस प्रकार की प्रतीति के बल से परवस्तु का राग छूट जाता है। राग के छूट जाने पर परवस्तु अपने निज के कारण छूट जाती है। मैं परवस्तु का त्याग कर सकता हूँ इस प्रकार पर के स्वामित्व की मान्यता अनन्त संसार का मूल है। त्याग सहज है, स्वभाव में हठाग्रह नहीं होता, लोग तत्त्व को नहीं समझे इसलिए तत्त्व दूसरा नहीं हो सकता, वह जैसा का तैसा बना रहता है।

वस्तु के सहज स्वभाव की पहचान से निज में स्थिरता बढ़ती है और राग का अभाव होता है। अभेददृष्टि से, अखण्ड स्वभाव को लक्ष्य में न लें किन्तु गुण-गुणी भेद को लक्ष्य में लें तो दृष्टि में राग रहता है और इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मैं पर से भिन्न हूँ, ऐसा विचार करे अथवा 'मैं राग को दूर करूँ-मैं राग को दूर करूँ' इस प्रकार कहा करे तो वह भी राग है। जहाँ राग की ओर झुकाव होता है वहाँ वीतरागस्वभाव का निर्विकल्प लक्ष्य नहीं होता। किन्तु राग से पृथक् होकर 'मैं निर्मल हूँ' इस प्रकार की दृष्टि

के बल से यदि आगे बढ़ता जाये तो पूर्ण निर्मल हो जाता है। अविरोधरूप से तत्त्व को जान लेने के बाद 'मैं अखण्ड पूर्ण निर्मल हूँ' ऐसे स्वलक्ष्य के बल से निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता (चारित्र की निर्मलता) सहज प्रगट हो जाती है। अखण्डदृष्टि का बल अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त करा देता है। राग को दूर करने का विचार नास्तिपक्ष की ओर झुकाव है। यदि शुद्धदृष्टि सहित राग को दूर करने का विचार हो तो भेददृष्टि होने से शुभभाव होता है, किन्तु राग का अभाव नहीं होता।

यहाँ तो पहले ही शुद्ध अखण्ड की दृष्टि करने को कहा है, उसमें शुभ करने की तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्र को भी गौण कर दिया है। दृष्टि में निरालम्बी अभेदभाव को लक्ष्य में लेने के बाद उसी के बल से निरालम्बी निर्मल चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्नः—क्या यह ठीक है कि पहले सरागचारित्र और उसके बाद उससे वीतरागचारित्र होता है?

उत्तरः—नहीं, राग तो विकार है, उससे चारित्र को कोई सहायता नहीं मिलती। चारित्र तो अकषायस्वरूप है, अकषायदृष्टि के खुलने पर जो व्रत आदि का शुभराग रहता है, उसे उपचार से व्यवहारचारित्र कहा जाता है, तथापि जो यह मानता है कि शुभभाव करनेवाला मैं हूँ और वह मेरा कार्य है, वह धर्म को अविकारी वीतरागरूप नहीं मानता, और अपने को अविकारी नहीं मानता इसलिए वह दृष्टि मिथ्या है। चारित्र आत्मा का वीतरागभाव है, और व्रतादि का शुभराग विकारी बन्धनभाव है, चारित्र नहीं है।

आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है, ज्ञातास्वरूप है, उसमें पर का लेना-देना कुछ नहीं है। मैं इसे दूर कर दूँ, इसे छोड़ दूँ, इसे रख छोड़ूँ—इत्यादि शुभाशुभभाव कषाय हैं, इसलिए वे आत्मगुणरोधक हैं। चारित्र तो अकषायदृष्टि के बल से प्रगट होता है। 'मैं अखण्ड हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विकल्प, दृष्टि के विषय में लगने के लिये और पूर्ण स्थिर होने से पूर्व आते तो हैं किन्तु वे स्थिरता में सहायक नहीं होते। निर्मल अभेददृष्टि के बल से वीतरागता होती है, किन्तु 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसे विकल्प से चारित्र प्रगट नहीं होता और शुद्ध दृष्टि भी नहीं खुलती। अभेद निर्मल के आश्रय से वर्तमान पर्याय निर्मल होकर सामान्य में मिल जाती है, इसलिए भेददृष्टि को गौण करने को कहा है।

प्रश्नः—हे प्रभु! जब आपने भेदरूप व्यवहार को बिल्कुल गौण कर दिया तो फिर एकमात्र परमार्थ का ही उपदेश देना था, व्यवहार के उपदेश की क्या आवश्यकता थी?

इसका उत्तर आठवीं गाथा में देते हुए कहा है कि:—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसण-मसक्कं।।८।।

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम्।।८।।

अर्थः—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने को कोई समर्थ नहीं है।

यहाँ शिष्य ने (परमार्थ से ही लाभ होता है, इतना समझकर) प्रश्न किया है, जिसका उत्तर यह है—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप समझाना शक्य नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना (समझाने के लिए भेद-कथनरूप उपदेश के बिना) परमार्थ को कोई समझ नहीं सकता। जैसे कोई अंग्रेजी भाषा ही समझता हो तो यदि उसे उसकी भाषा में कहो तभी वह समझता है, इसी प्रकार अनार्य को अर्थात् परमार्थ से अनभिज्ञ व्यवहारी पुरुष को व्यवहार से गुण-गुणी का भेद बतलाकर समझाया जाता है।

जैसे किसी म्लेच्छ से कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' शब्द कहे तो वह म्लेच्छ शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी न समझकर ब्राह्मण के सामने मेढ़े की भाँति आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है (मेढ़े की भाँति का अर्थ अनुसरण करने की सरलता है। इतना ही लेना चाहिए) 'स्वस्ति' क्या कहता है यह समझने का आदर है, जिज्ञासा है, आलस्य नहीं है; आँखें बन्द करके नहीं सुनता, किन्तु समझने की पूर्ण तैयारी-पात्रता है। अन्ध श्रद्धावाले और सत्य समझने की अपेक्षा से रहित श्रोता नहीं हो सकता, यह ऊपर के कथन से समझना चाहिए।

वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' का अर्थ समझने के लिये ब्राह्मण के सामने टकटकी लगाकर

देखता रहता है, बाह्य में मन की दूसरी ओर नहीं दौड़ता। किन्तु मन को स्थिर रखकर भीतर में 'स्वस्ति' को समझने की जिज्ञासा है, लापरवाह नहीं है, निरुत्साह नहीं है। जैसे मेढ़े को अनुसरण करने की आदत होती है, उसी प्रकार ब्राह्मण क्या कहता है यह समझने का म्लेच्छ का भला भाव है, इसलिए आँखें फाड़कर (प्रेम से आँखें खुली रखकर) ब्राह्मण के सामने वह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। उसके अन्तरंग में एक ही आकांक्षा है कि ब्राह्मण जो कहता है, उसका अर्थ धीरज से समझ लूँ; लौकिक में भी इतनी विनय है।

जैसे प्रधानमन्त्री, राजा और प्रजा के बीच में मेल करानेवाला है, उसी प्रकार गणधरदेव, तीर्थंकर भगवान और श्रोताओं के बीच सन्धि करानेवाले धर्ममन्त्री हैं। वे तो सबको हित ही सुनाते हैं (किसी को तीर्थंकर भगवान का सीधा वचन भी सुनने को मिलता है।) इसी प्रकार दोनों की (ब्राह्मण और म्लेच्छ की) भाषा का जाननेवाला अन्य कोई तीसरा पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छ को 'स्वस्ति' का अर्थ उसकी म्लेच्छ भाषा में समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो।'

व्यवहार के उपदेश में भी 'सु+अस्ति' का लक्ष्य करनेवाले का अविनाशी कल्याण हो ऐसा आशीर्वाद है। 'तेरी पवित्रस्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो' ऐसा उस आशीर्वाद का भावार्थ है।

'स्वस्ति' शब्द का ऐसा अपूर्व अर्थ सुनते ही (वह पात्र था इसलिए) अत्यन्त आनन्दमय आँसुओं से उसके नेत्र भर आते हैं। यदि हम हर्ष प्रगट न करें तो उसे समझाने की उमंग न हो, ऐसी उसमें कृत्रिमता नहीं है। किन्तु यहाँ म्लेच्छ के तो 'अहो! तुम्हारा ऐसा कहना है' ऐसे अपूर्व आदर के साथ हर्षाश्रुओं से नेत्र भर जाते हैं। ऐसा यह म्लेच्छ स्वस्ति का अर्थ समझ जाता है। इसी प्रकार व्यवहारी मनुष्य भी वाणी के व्यवहार से परमार्थ को कैसे समझ लेते हैं, यह आगे कहेंगे।

जब कोई मनुष्य म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा अर्थ सुनाये तब म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ जैसा कहा वैसा समझ जाता है। अब उस पर से यह सिद्धान्त घटित होता है कि:—

जिस जीव ने, सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा है उसी प्रकार आत्मा को कभी नहीं जाना, ऐसे व्यवहारी पुरुष को 'आत्मा' शब्द कहने पर जैसा 'आत्मा' शब्द का अर्थ

है, उस अर्थ के ज्ञान से रहित होने से, कुछ भी न समझकर मेंढ़े की भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है।

धर्म के नाम पर पुण्य में राजी हुआ, पैसा इत्यादि बाह्य अनुकूलता में लोलुपी बना, जाप जपने की कहें तो वैसा करता है। ('णमो अरिहंताणं' का जाप जपने से पैसा नहीं मिल जाता, किन्तु धन की तृष्णा हुई सो पाप है) लोग धर्म के फल में संयोग चाहते हैं, उनके पुण्यबन्ध की मिठास है। जो पर से सुख चाहता है वह अपने को नि:सत्व मानता है, इसलिए पराधीनता का आदर करता है। हम तो क्रिया करते हैं, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करते हैं, देह की कुछ क्रिया करें, चलें, बोलें उसे ही वे आत्मा मानते हैं किन्तु देहादि हलन-चलन करता है, स्थिर रहता है, बोलता है, या खाता है, यह समस्त क्रिया जड़ करता है। भीतर पुण्य-पाप का संवेदन होता है, उस क्षणिक विकाररूप भी आत्मा नहीं है। वीतराग ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा लोग नहीं समझे। आत्मा के धर्म में उपाधि का नाश है, आत्मा भान होने पर, जीव वर्तमान में पूर्ण शान्ति और भविष्य में भी निराकुल पूर्ण शान्ति प्राप्त करता है। आत्मा अखण्ड, ज्ञायक है, पूर्ण आनन्दघन है, पर से भिन्न है—ऐसी जिसे खबर नहीं है, वह व्यवहारी पुरुष है; उसे 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर उसके अर्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ होने से वह मेंढ़े की तरह आँखें फाड़कर 'आत्मा' शब्द कहनेवाले ज्ञानी के सामने टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है। ज्ञानी क्या करते हैं, वही उसे समझना है, अभी कुछ भी अर्थ समझना नहीं है, इसलिए समझने के लिये ज्ञानी के सामने आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, समझने की तैयारी है, न समझने का आलस्य नहीं है। इसमें प्रारम्भ में तत्त्व सुननेवाला जिज्ञासु कैसा होना चाहिए यह भी आ गया। तत्त्वश्रवण में जागृति और समझने की उमंग तथा पात्रता चाहिए।

''आत्मा अभेद है, सिद्ध भगवान की तरह पूर्ण है, उसमें पुण्य-पाप का विकार नहीं है, वह पर का कर्ता नहीं है,'' इस प्रकार जब ज्ञानी कहता है तब व्यवहारी पुरुष उसका मतलब समझ लेना चाहता है। किन्तु 'यह बकबाद कर रहा है, हम समझ सकें इस तरह कहता नहीं इस प्रकार जो वक्ता का दोष निकाला करे वह पात्र नहीं है, सत्य समझने के योग्य नहीं है। यहाँ टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, उसमें आलस्य नहीं है, किन्तु क्या कहता है यह समझने का आदर है। मुझे 'आत्मा' कहने में उसकी भूल है,

यह न मानकर मुझे समझ में नहीं आता, यह मेरा दोष है, ऐसा मानना चाहिए। जिसे निज को समझने की रुचि नहीं है, वह 'इसे समझाना नहीं आता' इस प्रकार दूसरे का दोष निकालता है, उसे समझने का अवकाश नहीं है।

मुझमें समझने की धीरज एवं विनय होना चाहिए, मैं समझ नहीं सकता यह मेरी ही त्रुटि है, मैं समझने की तैयारी करूँ तो अवश्य समझ सकता हूँ, इस प्रकार पूर्ण को समझने की पूर्ण शक्ति रखकर तैयार हो, ऐसा योग्य सुननेवाला होना चाहिए।

अपने आप कोई शास्त्र पढ़कर चाहे जहाँ से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु साक्षात् ज्ञानी की वाणी से 'आत्मा' का अर्थ समझना चाहिए। कान से शब्द तो सुना किन्तु समझा नहीं; स्वयं ज्ञान की प्रकाशता है, उसमें पात्रता चाहिए। पहले 'सत् क्या है', यह समझने की जिज्ञासा होनी चाहिए। जिसकी कषाय मन्द हुई है, वह दूसरे को दोष देने के लिये नहीं रुकता किन्तु म्लेच्छ की तरह (म्लेच्छ के पात्रता थी) अपने में दोष है, ऐसा मानकर समझने के लिये सरल हुआ है। परमार्थतत्त्व क्या है यह सुनने का बहुत प्रेम है, 'यह क्या कहना चाहते हैं' यह समझने के लिये जो आँखें फाड़कर धैर्य से देखने के लिये खड़ा रहता है, वह जीव योग्य है, ऐसा जानना चाहिए।

'टकटकी लगाकर देखता ही रहता है' इसमें एक ही भाव रखता है, देह की अनुकूलता के संसार की ओर के भाव इत्यादि दूसरे विचारों को नहीं आने देता। स्वयं कुछ अपनी ओर झुकाव करने के लिये कषाय मन्द करता है, दूसरे को दोष नहीं देना चाहता।

स्वयं समझने का इच्छुक होकर एकटक देखता ही रहता है। इसमें प्रथम देशनालब्धि होने पर पाँचों लब्धियों का मेल बताते हैं:—

१- क्षयोपशमलब्धि:—आँखें फाड़कर देखता ही रहता है, यह ज्ञान का विकासरूप क्षयोपशमलब्धि है; इसमें हित स्वरूप क्या है, यह समझने की शक्ति बतायी है।

२- विशुद्धिलब्धि:—कषाय मन्द करने के बाद तत्त्व का विचार करने की पात्रता आती है।

३- देशनालब्धि:—सम्पूर्ण आत्मा कैसा है, यह सुना सो देशनालब्धि है।

४- प्रायोग्यलब्धि:—एकटक देखता ही रहता है, इसमें तत्त्व सुनने में एकाग्र होने पर कर्म की स्थिति और रस कम करता है।

५- करणलब्धि:—इस अन्तरपरिणाम की शुद्धता से स्व की ओर ढलता हुआ भाव है। यह लब्धि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व में होती है।

जो जिज्ञासु है वह आँखें फाड़कर एकटक देखता ही रहता है उसमें सिर्फ उसके ऐसे भाव नहीं होते कि वह मात्र आत्मा की ही बात करता है। उससे नीचे की बात क्यों नहीं करता।

किसी को ऐसा लगता है कि यह तो आत्मा की ही धुन लगायी है, समाज का कुछ करना चाहिए, किसी को सहायता पहुँचाना चाहिए, दूसरा कुछ करना चाहिए, ऐसा कुछ कहते ही नहीं हैं; किन्तु ऐसा तो अनादि काल से सुनकर पर में कर्तृत्व मानकर जीव परिभ्रमण करता है। आत्मा को भूलकर दूसरा सब अनन्त बार कर चुका, फिर भी अभी भव से विश्राम नहीं, इसलिए उसे तत्त्व की बात का आलस्य आता है। पात्र जीव तो एक आत्मा को समझने के लिये एकटक देखता ही रहता है, दूसरा भाव नहीं आने देता।

जो व्यवहारी पुरुष शास्त्रीय भाषा-आध्यात्मिक परिभाषा नहीं समझता उसे भेद करके समझाते हैं। जिस अनार्य को आर्यभाषा में समझ में नहीं आता उसे अनार्य की भाषा में कहना पड़ता है। 'आत्मा अखण्ड निर्मल है' यह आर्य भाषा है, इसमें कुछ नहीं समझता वह आँखें फाड़कर एकटक देखता है, इससे यह सूचित होता है कि उसे समझने का उमंग है। जब तक आत्मा को न समझ लूँ, तब तक दूसरा कुछ न आने दूँगा, इस प्रकार समझने के विचार में क्रोधादि-कषाय मन्द की है और अशुभ को आने नहीं देता।

श्रोता स्वयं ऐसी आज्ञा नहीं करता कि इस प्रकार कहो कि जो हमें जल्दी समझ में आ जाये और हृदय में जम जाये; किन्तु विनय से धैर्यपूर्वक समझने की जिज्ञासा प्रगट करता है और जीव ऐसा होता है, तब उपदेशक भी विचार करता है कि यह इतनी विनय के साथ कह रहा है, इसलिए इसके सच्ची जिज्ञासा है, 'यह इस भाव से नहीं समझता तो दूसरे भाव से समझेगा' इस प्रकार दूसरे भाव के द्वारा समझने की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। उन दोनों के बीच ऐसा मेल बैठ जाता है। किन्तु यदि सुननेवाला कहे कि हम समझ सकें ऐसा कहो तो समझना कि वह योग्य नहीं है।

जो आत्मा को नहीं जानता ऐसे मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये समयसार का उपदेश है। अनादि काल की भूख मिटानी हो तो यही समझने योग्य है। श्री

कुन्दकुन्दाचार्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के मुखकमल से निकला हुआ और उनके द्वारा गृहीत तत्त्व कहते हैं।

'मुझे समझना है' ऐसा कहनेवाले जीव में सरलता, विनय और समझने की आकांक्षा है, ऐसे जीव को जब आत्मा का स्वरूप समझना है तब व्यवहार-परमार्थमार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले सारथी की तरह कोई आचार्य अथवा उपदेशक स्वयं ही व्यवहारमार्ग में विकल्प सहित छठवें गुणस्थान में रहकर परमार्थ का लक्ष्य कराने के लिये व्यवहार से कहते हैं कि पुण्य-पाप रहित निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र को नित्य प्राप्त हो वह 'आत्मा' है। ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ आचार्य समझाते हैं, तब लक्षण ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्द से जिसके हृदय में सुन्दर बोधरूपी तरंग (ज्ञानतरंग) उछलती हैं, ऐसा वह व्यवहारी पुरुष, आत्मा शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है।

आचार्य सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले महासारथी के सदृश हैं, ऐसे सारथी के रथ में जो बैठता है, उसे सारथी ले जाता है। जो ज्ञानी के पास सत् को समझने के लिये बैठा है, मानों वह ज्ञानी के साथ ज्ञायकस्वरूप के रथ में बैठा है वास्तव में छठवें-सातवें गुणस्थान में अथवा व्यवहार-परमार्थरूपी मार्ग में प्रवर्तमान जो मुनि हैं, वे जो कहना चाहते हैं, उस भाव को समझने के लिये जो बैठा है, मानों वह उनके साथ ही बैठा है।

ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड पर है, वे व्यवहार से भेद करके समझाते हैं। समझनेवाला स्वयं ज्ञानी का कहा हुआ वह समझना चाहता है, अपनी कल्पना बीच में नहीं लाता, वह पात्र जीव 'आत्मा को भगवान ने ऐसा कहा है' इस प्रकार भेद करके कथन करने पर शीघ्र ही परमार्थ अभेदस्वरूप को समझ लेता है।

साक्षात् सर्वज्ञ भगवान से सुनकर गणधरदेव जगत को सुनाते हैं। कोई जीव तीर्थंकर भगवान से सीधा सुनता है। यहाँ उपदेश देनेवाला स्वयं व्यवहारमार्ग में रहकर अर्थात् व्यवहार में आकर समझाने के लिये विकल्प द्वारा भेद करके कहता है, क्योंकि वह स्वयं केवली नहीं है, किन्तु छद्मस्थ है; फिर भी वह मात्र व्यवहार में ही रत नहीं है, किन्तु परमार्थ के अभेद अनुभववाला है। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता के छूटने पर उसे जरा विकल्प में आना पड़ता है। वे कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को नित्य प्राप्त है, वह आत्मा है।

पुत्र का, स्त्री का विश्वास जम गया है, इसलिए अज्ञानी यह कल्पना किया करता है कि उनसे यह होगा और वह होगा, किन्तु अनुकूल होना तो पुण्याधीन है, यदि अपना पुण्य खत्म हो जाये तो कोई अनुकूलता नहीं दे सकता। अपनी मान्यता के अनुसार कुछ नहीं होता फिर भी पर में विश्वास करता है। ज्ञानी कहते हैं कि पर में विश्वास करता है उसके बदले तेरे में-निज में विश्वास कर। मैं विकारी नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ, देह-मन-वाणी की प्रवृत्ति के आधीन नहीं हूँ, ऐसा अखण्डानन्द आत्मा नित्य अपनी श्रद्धा को प्राप्त है, क्षणिक परसंयोग में जो विश्वास है उसे तू सदैव प्राप्त नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है, असंयोगी है और संयोग क्षणिक है, असंयोगी को कोई परवस्तु शरणभूत नहीं होती।

पर में अनादि से विश्वास किया है। अब पर से भिन्न अविकारी पूर्ण की श्रद्धा कर, पर से पृथक्त्व का ज्ञान कर तथा पर के आश्रय से रहित-रागरहित स्व में स्थिरता कर। स्वाश्रित दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो सदा पाया हुआ है, वह आत्मा है, ऐसा मात्र उपदेश करने के लिये गुण-गुणी का भेद डाला सो व्यवहार है। इस प्रकार जैसा आत्मा शब्द का अर्थ है वैसा समझाते हैं। उसे समझकर ही पात्र जीव के अन्तरंग से बहुमान आता है। कथन में भेद होता है किन्तु जब वह अभेद को पकड़ लेता है, तब गुरु-शिष्य दोनों का अभिप्राय एक सा हो जाता है।

'आत्मा पुण्य-पाप, राग-द्वेष को प्राप्त है, परमाणु, देह इत्यादि की क्रिया को प्राप्त है, शरीर, कुटुम्ब, समाज इत्यादि के कर्तव्य को प्राप्त है' ऐसा आत्मा को नहीं कहा, किन्तु आत्मा तो पर से पृथक् स्व में एकरूप ज्ञायक ही कहा गया है। उसका लक्ष्य करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र अखण्ड ज्ञायक के लक्ष्य से प्राप्त होता है।

यदि बात जल्दी समझ में न आये तो उसका आलस्य नहीं आना चाहिए। नाटक देखने का प्रेम हो तो उसे बारबार देखता है, नाच, मुजरा से प्रेम हो तो उसे बारबार देखने-सुनने के लिये 'वंशमोर' करता है। जिसकी जिसे प्रीति है उसे वह किसी भी मूल्य पर बारबार देखना चाहता है। वहाँ एक की एक बात बारबार परिचय में लेने पर आलस्य नहीं आता, किन्तु उसकी चाह करता है। परन्तु जो पात्र जीव होता है, वह उससे पलटकर-सीधा होकर भगवान आत्मा की प्रत्येक बात अनेक तरह से सुनता है, बारबार सुनता हे और बराबर समझने का प्रयत्न करता है। अनन्त जन्म-मरण के चक्कर को दूर करने के

लिये सच्ची समझ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे समझने का आलस्य नहीं होता किन्तु खूब आनन्द होता है। नये-नये न्याय सुनकर विशेष दृढ़ता करके अन्तर में उछल-उछलकर उसका ही माहात्म्य गाया करता है।

जैसे माता-पिता किसी बात में हर्ष करते हों तो पास में बैठा हुआ छोटा बालक भी उसकी बात को बिना समझे ही हँसता है, उसी प्रकार आत्मा की बात सुनकर उनके आशय को समझे बिना जो देखादेखी से हर्ष करता है, वह भी बालक के जैसा ही है। तत्त्वज्ञान का विरोध करनेवाला उसके अपने भाव का ही विरोध करता है।

यहाँ तो ऐसे योग्य जीव लिये हैं कि जो आत्मा की बात अपूर्व उमंग से सुनें और समझकर तुरन्त ही आनन्द प्राप्त करें, जो विलम्ब करते हैं, उन्हें यहाँ नहीं लिया है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि सुननेवाले को उसी समय स्वतन्त्र सुख का भान हो। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो नित्य प्राप्त है, ऐसे आत्मा को उसमें प्राप्त की प्राप्ति है, बाहर से कुछ प्राप्त नहीं करना है।

सांसारिक बातों में कैसा खुश होता है! जब पाँच लाख की लॉटरी लग जाती है, तब वह ऐसी सुहाती है कि उसी की महिमा गाया करता है और कहता है कि आज मिष्टान्न उड़ने दो। इस प्रकार बाह्य में अपने हर्ष को व्यक्त किया करता है। लड़का मेट्रिक की परीक्षा में पास हो जाये तो उसमें हर्ष करता है, किन्तु यह तो दुनिया में परिभ्रमण करने की बात का हर्ष है जो कि नाशवान-क्षणिक है।

आत्मा की अचिन्त्य महिमा सुनकर उसके बहुमान से उछल पड़े और कहे कि अहो! अनन्त ज्ञानानन्दरूपी रिद्धि मेरे पास ही है, उसमें किसी संयोग, किसी क्षेत्र, किसी काल अथवा विकार की कोई उपाधि नहीं है। 'मैं पूर्ण अखण्ड अविनाशी हूँ', ऐसा सुना और उसका ज्ञान किया कि तुरन्त ही अत्यन्त आनन्द से उसका हृदयकमल खिल जाता है। आचार्य महाराज तत्काल मोक्ष हो ऐसी अनोखी बात कहते हैं कि जिसे सुनते ही पात्र जीव के तुरन्त ही सम्यग्दर्शन हो जाता है, अपूर्व देशनालब्धि को प्राप्त करने के बाद बीच में कोई अन्तर नहीं रह जाता, समझने के लिये तैयार होकर आया और समझाने पर न समझे ऐसी बात यहाँ नहीं है।

जैसे शुभ्र मधुर समुद्र की तरंगें उछलती हैं और ज्वार-भाटा आ जाता है, इसी

प्रकार पहले कुछ नहीं समझता था और उसे समझा कि तत्क्षण ही निर्मल सम्यग्ज्ञानज्योति का आनन्द प्रगट होकर वृद्धि प्राप्त करके अल्प काल में ही केवलज्ञान का ज्वार-भाटा आयेगा। इस प्रकार पूर्ण होने से पहले पूर्ण की उमंग होती है।

सच्चा तत्त्व समझनेवाला सुनते ही तुरन्त समझ जाता है और उसके साथ ही सम्यग्दर्शन और आनन्द प्राप्त करता है। नेत्र खोलकर देखता ही रहता है अर्थात् उसे पुण्य-पाप का अथवा बड़प्पन की कोई पदवी इत्यादि अन्य कुछ नहीं चाहिए।

'काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग'

आत्मा का निर्मल पूर्ण स्वरूप जैसा ज्ञानी ने कहा वैसा ही पात्र जीव ने समझा, उसमें समझने की पात्रता अपनी ही थी। समझते ही हृदय में सुन्दर बोधरूपी तरंगें तत्काल उछलने लगती हैं। उसमें ऐसा अर्थ निहित है कि केवलज्ञान प्राप्त करने में देर न लगे ऐसी पूर्ण शक्ति की महिमा लक्ष्य में लेकर निर्मलता की वृद्धि प्राप्त करता है। उसे यह पूछने की जरूरत नहीं रहती कि हमारी समझने में कैसे आयेगा।

जैसे अनार्य की भाषा में अनार्य को समझाया जाता है, उसी प्रकार व्यवहार से भेद करके व्यवहारीजन को उसकी भाषा में लक्ष्य कराया जाता है। पहले जो कुछ भी समझता था उसे समझने का यह उपदेश है। यदि कोई कहे कि समयसार में तो सातवें गुणस्थान वालों के लिये अथवा केवलियों के लिये कथन है, तो वह असत् सिद्ध होता है। इस प्रकार जगत म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से और गुण के भेद करके अखण्ड निर्मल आत्मा की पहिचान करानी है इसलिए वह व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान में होने के कारण परमार्थ का कथन करनेवाला होने से व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है; इसी प्रकार ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिए, इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है। देह की क्रिया से, पुण्य से अथवा विकार से आत्मा को पहिचानना सो तो व्यवहार भी नहीं है। आत्मा अनन्त गुण का अखण्ड पिण्ड है, उसमें गुण के भेद का थोड़ा सा विकल्प करने पर व्यवहार होता है, इस कथन से जो पूर्ण को समझा उसे वह व्यवहार, परमार्थ के कहने में निमित्त हुआ है।

जो भाव ज्ञानी को कहना है वही भाव समझने पर जोर दिया है। बाह्यक्रिया, पुण्य तथा शुभविकल्प को अवकाश नहीं है। समझ में न आये इसलिए उकताना नहीं चाहिए,

इसे समझे बिना किसी का गुजारा नहीं है।

मैं इसका भला-बुरा कर दूँ, पर का ऐसा न होने दूँ—ऐसा मानना सो अनन्त स्व-हिंसा का भाव है। मान्यता में अन्तर पड़ता है किन्तु वस्तु में कुछ फर्क नहीं पड़ता। अनादि की विपरीत मान्यता को सुलटी मान्यता के द्वारा बदलना पड़ता है।

श्रद्धा का विषय सम्पूर्ण ज्ञायक आत्मा है; इस प्रकार पूर्ण आत्मा को लक्ष्य में लेना सो परमार्थ है और उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके लक्ष्य में लेना सो व्यवहार है। सम्यग्दर्शन निश्चयनय का विषय नहीं है, जो निर्मल, अखण्ड, परमार्थ आत्मा है, वह निश्चयनय का विषय है। अत: जो सम्यग्दर्शन का विषय है, वह निश्चयनय का विषय है।

गुण-गुणी के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद स्वरूप को ध्यान में लेना ही परमार्थ है, उसमें अभेद की जो श्रद्धा है, वह भी परमार्थ नहीं है। क्योंकि वह भी गुण की एक अवस्था है, इसलिए व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि भी परमार्थ के विषय नहीं हैं।

देखो भाई! यह विषय अनादिकाल से जीवों ने न तो सुना है और न समझा है; यदि समझ लें तो दशा बदल जाये। शरीर मेरा है, उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ, इत्यादि प्रकार की जो मान्यता है वह तो व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र अज्ञान ही है। देव, गुरु, शास्त्र का विचार और नव तत्त्व के भेद से युक्त श्रद्धा करना सो भी शुभभाव है, उसका परमार्थ में प्रवेश नहीं है, क्योंकि वह असद्भूतव्यवहार है। सम्यग्दर्शन ने अखण्ड ज्ञायक पूर्ण आत्मा लक्ष्य में लिया सो परमार्थ है, किन्तु लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन परमार्थ नहीं है, किन्तु व्यवहार है-पर्याय है, वह निश्चय से अभूतार्थ है क्योंकि वह त्रिकाली नहीं है। त्रिकाल रहनेवाला अखण्ड ध्रुव जो सामान्यस्वभाव है, सो परमार्थ है। भेददृष्टि गौण करने पर भी अभेद समझाने पर बीच में यह व्यवहार आता ही है, क्योंकि इस भेद के द्वारा समझे बिना अभेद समझ में नहीं आता।

भेद के लक्ष्य से निर्मलता अथवा सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेद के लक्ष्य से (मोक्षमार्ग की पर्याय के लक्ष्य से) मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और मोक्षमार्ग के लक्ष्य से मोक्ष प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह हीन अवस्था है और हीन अवस्था के द्वारा पूर्ण अवस्था-(मोक्ष) प्रगट नहीं होती।

अवस्था क्षणिक होती है, एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है; जब हीनता

होती है, तब पूर्ण अवस्था नहीं होती। अधूरी पर्याय कारण और पूर्ण पर्याय कार्य यह परमार्थ से नहीं होता। आत्मा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण है, उस पूर्णता के बल से पूर्ण मोक्षदशा प्रगट होती है। वर्तमान में भी प्रत्येक समय द्रव्य में अनन्त अपार सामर्थ्य विद्यमान है, त्रिकाली अखण्ड आत्मा अनन्त गुण प्राप्त है ही। उसमें 'प्राप्त करूँ' यह भेद नहीं है, और श्रद्धा के विषय में भेद नहीं है।

इस जीव ने अनादि से भेद के ऊपर लक्ष्य किया है, भेददृष्टि का अर्थ है व्यवहार का अवलम्बन। उससे शुभ विकल्प होता है, किन्तु अभेद निर्मल का लक्ष्य नहीं होता। परमार्थ स्वरूप को जानकर भेद को गौण करके अखण्ड वस्तु की महिमा करने से, अखण्ड निर्मल के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

'जो पीला है, वह सोना है' यह कहा जाता है, किन्तु मात्र पीला ही सोना नहीं है, लेकिन पीले गुण का भेद करके उस पीलाश के द्वारा बताया हुआ जो पूर्ण सोना है, वही सोना है, ऐसा ख्याल में आता है। इसी प्रकार अखण्ड परमार्थ स्वरूप आत्मा को पहचानने के लिये भेद करके कहना पड़ता है। उस भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद निर्मल पर जो जीव लक्ष्य करता है, उसे व्यवहार निमित्तरूप से कहा जाता है। निश्चय से मोक्षमार्ग से मोक्ष नहीं होता, अखण्ड के आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्ष होता है, यह मोक्षमार्ग और मोक्ष भी व्यवहार है। मोक्ष का अर्थ है पूर्ण अवस्था, उसका कारण मोक्षमार्ग की हीन अवस्था नहीं है किन्तु उस पूर्ण पर्याय को प्रगट करने का कारण अखण्ड द्रव्य ही है।

भेद का आश्रय तो अज्ञानी के अनादि से था और वह भेद को ही जानता था, उसे इस प्रकार भेद के द्वारा अभेदत्व समझाया; इतना व्यवहार बीच में आता है, किन्तु 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिए' अर्थात् व्यवहार से समझने के लिये भेद किया है, किन्तु भेद ही वस्तु है, ऐसा नहीं समझना चाहिए और समझानेवाले को भी विकल्प के भेद में नहीं पड़ा रहना चाहिए।

पूर्ण त्रिकाली स्वभाव में कुछ अन्तर नहीं पड़ा, किन्तु अपनी मानी हुई विपरीतदृष्टि से अन्तर दिखायी देता है, यदि सत् समागम के द्वारा विपरीत दृष्टि को बदल डाले तो स्वयं त्रिकाल सर्वज्ञस्वरूप है। उसकी निर्मल अवस्था को प्रगट करने का मार्ग अपूर्व है, यदि उसे समझना चाहे तो मुश्किल नहीं है। जिसे अपना हित करने की इच्छा है, वह कठिन-

कठिन नहीं पुकारता, जिसे समझने की रुचि है, उसे सत्य समझानेवाले मिटेले बिना नहीं रहते, जो अपने में तैयारी और सामर्थ्य को नहीं देखता वह निमित्त को याद करता है, वास्तव में तो निमित्त उपस्थित होता ही है। निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़े ऐसी कुछ परतन्त्रता नहीं है। जो अंकुर बीज में से बढ़ने के लिये प्रस्फुटित हुए हैं तो वहाँ वर्षा हुए बिना नहीं रह सकती, उगने की शक्ति उसमें थी वही प्रगट हुई है, वह पानी से नहीं आयी। यदि पानी के द्वारा उगने की शक्ति आती हो तो अकेला पत्थर भी उसके ऊपर पानी पड़ने से उगना चाहिए किन्तु वैसा नहीं होता। इस प्रकार सच्ची जिज्ञासा के अंकुर फूटें (पात्रता हो) और पूर्ण सत्य की दृष्टि से समझने की तैयारी हो तो उसे समझानेवाला मिले बिना नहीं रहता। बाह्य संयोग पुण्य के आधीन हैं। पुरुषार्थ करने में पर की प्रतीक्षा नहीं की जाती, पर की अपेक्षा से रहित अपनी सामर्थ्य की तैयारी देखी जाती है।

अखण्ड निर्मल दृष्टि होने के पहले, विकल्प का व्यवहार नहीं छूटता। अभेददृष्टि होते व्यवहार छूट जाता है। पहले पर से पृथक् आत्मा को जानना चाहिए, फिर क्षणिक विकार की ओर नहीं देखना चाहिए, निर्मल पर्याय के विचार में नहीं रुकना चाहिए, अभेददृष्टि के लिये भी गुण के भेद पर लक्ष्य नहीं करना चाहिए, भेद को गौण करके अखण्ड पर दृष्टि करनी चाहिए यह सब पहले समझना होगा।

भावार्थ:—लोग शुद्धनय को नहीं जानते क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद-एकरूप वस्तु है। एकरूप निर्मल पूर्ण स्वभाव को देखने पर वर्तमान अवस्था का विकार गौण हो जाता है। संयोग, विकार और गुण के भेद के लक्ष्य को गौण करके अखण्ड पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लेने की शुद्ध दृष्टि को अज्ञानीजन नहीं जानते, वे तो भेद के द्वारा भेद-विकार को ही जानते हैं। वे मानते हैं कि जो बोलता है, चलता है सो आत्मा है, जो राग करता है, सो आत्मा है, इसके अतिरिक्त अन्य अरूपी आत्मा कैसा होगा यह वह नहीं जानते।

देहादि पर की क्रिया कोई आत्मा कर नहीं सकता, किन्तु अज्ञानभाव से जीव राग-द्वेष का कर्ता होता है, फिर भी राग-द्वेष नित्य स्वभावरूप नहीं है। अज्ञान और राग-द्वेष क्षणिक अवस्थामात्र के लिये होने से अविनाशी आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य से दूर होने योग्य हैं।

लोग अशुद्धनय को ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है,

इसलिए वे व्यवहार द्वारा ही परमार्थ को समझ सकते हैं, इसलिए व्यवहार को परमार्थ का कथन करनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार का अवलम्बन कराते हैं। लोग यह मानते हैं कि यदि व्यवहार की प्रवृत्ति अर्थात् बाह्य में कुछ क्रिया करें तो धर्म हो किन्तु यह बात गलत है। जब समझनेवाला स्व का अभेद लक्ष्य करके समझे तब भेदरूप व्यवहार को परमार्थ के समझने में निमित्त कहा जाता है।

समझाने के लिये जो भेद किया सो व्यवहार है, वह कहीं परमार्थ का सच्चा कारण नहीं है, क्योंकि भेद-अभेद का कारण नहीं होता, खण्डदृष्टि अखण्ड का कारण नहीं होता, भेददृष्टि का विषय राग है और राग विकार है, तथा विकार के द्वारा अविकारी नहीं हुआ जा सकता।

जहाँ परमार्थ के समझने की तैयारी होती है, वहाँ व्यवहार होता है अर्थात् अखण्ड निर्मल परमार्थ को समझाने में वह बीच में आता है, इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार आदरणीय है। यहाँ तो यह समझना चाहिए कि व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाना है।

छठवीं गाथा में कहा है कि सिर्फ अकेला ज्ञायक आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन, विरत-अविरत, प्रमत्त-अप्रमत्त, सकषाय-अकषाय, बन्ध-मोक्ष ऐसे पर्याय के भेद नहीं हैं। छद्मस्थ के निर्मल पर्याय पर दृष्टि जाने पर अशुद्धता (विकल्प) आती है। पर्याय के (भेद के) लक्ष्य से अशुद्धता दूर नहीं होती।

पर्याय के भेद पर लक्ष्य करना सो अभूतार्थ है, उसके लक्ष्य से विकल्प उत्पन्न होता है। और स्वभाव एकरूप, अखण्ड, निर्मल, ध्रुव है। उसके (स्वभाव के) लक्ष्य से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर लक्ष्य करने से अशुद्धता-राग होता है, इसलिए निर्मल अवस्था पर भी अशुद्धता का आरोप कर दिया है।

सातवीं गाथा में अखण्डस्वभाव की दृष्टि का एकरूप विषय अखण्ड ज्ञायक पूर्णरूप आत्मा बताया है, उसमें गुण भेद को व्यवहार-अभूतार्थ कहा है। वस्तुस्वरूप तो अनन्त गुणमय अखण्ड है, पृथक् तीन गुणरूप नहीं है। आत्मा एक गुण जितना नहीं है, विकार के भेद से रहित एकरूप विषय करना सो ज्ञायक ही है।

भाई! यह ऐसी अपूर्व बातें हैं कि जिनसे अनन्त काल की भाव-दरिद्रता दूर हो सकती है। बाह्य संयोग-वियोग तो पूर्व कर्म के आधीन हैं; ऐसे संयोग-वियोग तो अनेक तरह के हुआ करते हैं। संयोग तो ऐसे भी होते हैं कि—मुनि को सिंह फाड़कर खा जाता है, इससे आत्मा को क्या? आत्मा तो सदा ज्ञायकरूप है, उसे संयोग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का जैसा परिपूर्ण निर्मल स्वभाव कहा है, वैसा इस जीव ने न तो कभी सुना है न समझा है और न उसे जाननेवाले अनुभवी ज्ञानियों का परिचय भी किया है। यह मनुष्यजन्म और आत्मा की सत्य बात सुनने का अवसर बारम्बार नहीं मिलता। यदि जन्म-मरण की भूख मिटाना हो तो अखण्ड ज्ञायक आत्मा की बात रुचिपूर्वक समझनी चाहिए।

जिसमें सर्व समाधानस्वरूप अनन्त सुख है, ऐसे अमृत का कुण्ड भगवान आत्मा अज्ञानरूपी आवरण से आवृत्त होकर देह की ओट में छिपा हुआ है। उसकी स्वाधीनता की महिमा सुनकर समझने की तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए, अनन्त उत्साह जागृत होना चाहिए।

चैतन्य के अपूर्व स्वभाव को सुनने में, समझने में कठिनाई मानकर उकता मत जाना। सर्वज्ञ के न्याय से अनेक पहलुओं से, जैसा है वैसा, जो विधि है उस विधि से और जितना है उतना बराबर लक्ष्य में ले तो कृतकृत्य हो जाये अर्थात् उसे अनन्त सुख मिले। जो विपरीत मानता है, वह उपाय भी विपरीत ही करता है, और उसका फल भी विपरीत ही होता है, इसलिए सत्य को जिज्ञासा से समझ लेना चाहिए।

परमार्थस्वरूप आत्मा को गुण के द्वारा भेद करके पहचानने के लिये व्यवहार कहा है किन्तु उस भेद में (भेद का लक्ष्य करने पर जो शुभराग आता है, उसमें) अटक जाने के लिये व्यवहार नहीं कहा है, किन्तु भेद का लक्ष्य छोड़कर अखण्ड ज्ञायक में एकाग्र लक्ष्य करके उसके भीतर स्थिर होने का उपाय बताने के लिये कहा है।

वस्तु में परमार्थ से किसी गुण के भेद नहीं हैं, विकल्प नहीं हैं, फिर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण के भेद करके पूर्ण आत्मा को बताया जाता है इतना व्यवहार बीच में आता है, वह भी आदरणीय नहीं है, किन्तु अभेद में एकाग्र होकर छोड़ने के लिये है। अभेद की श्रद्धा में व्यवहार को प्रथम छोड़ने योग्य मानने के बाद गुण के द्वारा गुणी का लक्ष्य करने के विचाररूप जो व्यवहार जाता है, ज्ञानी उसका ज्ञान करता है।

आत्मा तो अखण्ड, अनन्त गुण का पिण्ड है, वही परमार्थ है। उसे अनादिकाल से जिसने नहीं समझा उसे 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो नित्य प्राप्त हो सो आत्मा है' इस प्रकार व्यवहारमात्र से भेद करके समझाते हैं। समझानेवाला यदि अभेदरूप परमार्थ को समझ ले तो परमार्थ आश्रित व्यवहार हुआ कहा जाता है।

ऐसी बात सुनना दुर्लभ है। उसे समझने का जिसे प्रेम नहीं है, वह जगत के घूरे को बिखेरने में उत्साह से लगा रहता है। जैसे सांड विष्टामय घूरे में मस्तक मारकर उसे छिन्न-भिन्न करता रहता है, उसी प्रकार संसार में ममता से ओहो हो! हम तो बहुत बड़े हो गये हैं; इस प्रकार पुण्य प्रतिष्ठा आदि से बड़प्पन मानता है, उसमें अपना सयान बताता है, किन्तु अभेद गुणी का लक्ष्य कैसे हो यह नहीं समझना चाहता।

शिष्य प्रश्न करता है कि गुण के भेद को बतानेवाला व्यवहार परमार्थ स्वरूप से अखण्ड वस्तु को कहनेवाला कैसे है? उसका उत्तर ९वीं और १०वीं गाथा में इस प्रकार दिया है:—

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।९।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।।१०।।जुम्मं।।

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः।।९।।

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात्।।१०।।युग्मम्।।

अर्थः—जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभवगोचर मात्र एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं। जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं, उन्हें जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है, इसलिए (वह जीव) श्रुतकेवली है।

आत्मा में गुण भरे हुए हैं, उसकी प्रतीति न होने से लोग मानते हैं कि बाह्य में कोई

प्रवृत्ति करे अथवा बहुत से शुभभाव करें तो गुण होते हैं। भगवान की पूजा करूँ, स्तुति करूँ, जाप जपूँ, किसी की सेवा करूँ तो गुण प्रगट हो, ऐसा जो मानते हैं उनका अक्रिय अखण्ड अविकारी आत्मा पर लक्ष्य नहीं है, भीतर गुण पड़े हैं, उसका विश्वास नहीं है, इसलिए यह मानता है कि परलक्ष्य की प्रवृत्ति से गुण होते हैं। हीरे को डिब्बी में रखें तो भी वह हीरा ही है और उसे खुला रखें तो भी हीरा ही है, इसी प्रकार भगवान आत्मा स्वभाव से ही पर से भिन्न है, रजकण, देह-मन-वाणी के सम्बन्ध से रहित और अखण्ड ज्ञायकरूप में विराजमान है, वह विषय ऐसा है कि यदि ध्यान रखा जाये तो समझ में आ सकता है। यह कोई राजा-रानी की बात नहीं है, कई लोग तत्त्व की बात सुनते हैं किन्तु बराबर मनन नहीं करते इसलिए बाहर जाकर भूल जाते हैं। यदि कोई पूछे कि क्या सुना! तो कहते हैं कि बहुत अच्छी बातें थीं, आत्मध्यान की बातें थीं, किन्तु वे कुछ याद नहीं हैं। यदि कोई कथा कहानी या दृष्टान्त हो तो उसे जल्दी याद रखता है। जैसे—एक राजा था, उसकी रानी बहुत सुन्दर थी, दोनों ने उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली फिर उनने ग्रीष्म ऋतु के घोर ताप में बालू में बैठकर तप किया, उन्हें खूब पसीना आया, छह मास तक आहार नहीं लिया बाद में राजा को केवलज्ञान हो गया। ऐसी बाह्य बातों पर ध्यान रखता है, किन्तु क्या इससे केवलज्ञान हो सकता है ?

अन्तरंग को समझता नहीं है, निर्मल केवलज्ञान तो भीतर ही विद्यमान है, अखण्ड पर दृष्टि थी, उसी के बल से केवलज्ञान प्रगट हुआ है। बाह्य संयोगों पर मुनि की दृष्टि नहीं है। बाह्य में कितने परीषह आते हैं, यह जानने—देखने की मुनि को आवश्यकता नहीं होती अर्थात् देह पर लक्ष्य नहीं होता। अखण्ड आनन्द में स्थिर होने से वीतरागदशा प्रगट हुई है, किन्तु जो यह मानते हैं कि परीषह सहन किये इसलिए ज्ञान हुआ अथवा शरीर पर खूब गर्मी पड़ी, शरीर सूख गया, छह मास तक रोटी नहीं खाई इसलिए केवलज्ञान हुआ यह बात गलत है। मुनि के अन्तरंग में अखण्ड के ऊपर दृष्टि गयी है और 'मैं अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ' शुभ विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पर के अवलम्बन से रहित निर्मल हूँ, इस प्रकार माना-जाना और उसमें स्थिर हुआ इसलिए अभेद के लक्ष्य से-अभेद के बल से केवलज्ञान हुआ है। बाह्य की किसी भी क्रिया से अथवा पुण्यादिक की सहायता से मोक्ष नहीं होता। ऐसा सत्य जगत के सामने प्रगट किया है, परमार्थ की बात यहाँ अनेक तरह से कही जाती है।

नववीं तथा दसवीं गाथा का शब्दार्थ:—जो जीव निश्चय से (वास्तव में) श्रुतज्ञान के द्वारा (विकल्प नहीं शब्द नहीं किन्तु भाव श्रुतज्ञान का आन्तरिक उपयोग अर्थात् ज्ञान का निर्मल अन्तर का जो व्यापार है, उसके द्वारा) इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को अन्तरंग में युक्त होकर अखण्डस्वरूप में जानता है, वह निश्चय से श्रुतकेवली है, इस प्रकार श्री सर्वज्ञभगवान कहते हैं।

जिसने निश्चय से श्रुतज्ञान (भावज्ञान) के द्वारा इस प्रकार जान लिया कि अन्तर एकाग्रता से आत्मा अखण्ड एकरूप ज्ञायक ध्रुव है, वह परमार्थ से (निश्चय से) श्रुतकेवली है।

'यह बहुत सूक्ष्म तत्त्व है इसलिए समझ में नहीं आता'—ऐसी धारणा को हटा देना। समझना अपनी सत्ता की बात है। यह बात ऐसी है कि आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है। किन्तु जो पहले से ही इस प्रकार निषेध कर बैठे कि मेरी समझ में नहीं आ सकता, उसके लिये क्या किया जाये? यहाँ 'समझ में नहीं आ सकता' इस अयोग्यता को दूर कर दिया है। और पहली गाथा में ही यह स्थापित किया है कि तू पूर्ण शक्तिमान सिद्ध भगवान के समान ही है। अनन्त जीव आत्मा को समझकर सिद्ध हुये हैं, इसलिए यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक आत्मा को समझ में आ सकता है। समझ में न आये ऐसा कुछ नहीं है। सदा जानने का जिसका स्वभाव है, वह किसे नहीं जान सकता।

दसवीं गाथा

व्यवहार श्रुतकेवली=जो गुण-गुणी के भेद से परमार्थ में जानने का विचार करते हैं, अपने आत्मा के ज्ञान के द्वारा अखण्ड को लक्ष्य में लेकर पूर्ण को प्राप्त करने का विकल्प सम्यग्ज्ञानी के उठता है और जो निश्चय में स्थिर होने के लिये स्वरूप के सन्मुख होने के विचार के प्रवाहवाले हैं, उनको जिनदेव व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चयभाव श्रुतरूप होकर स्थिर नहीं हुआ है, किन्तु स्थिर होने के लिये मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, निर्मल हूँ—ऐसा विकल्प पूर्ण आत्मा की ओर करता है, वह अल्प श्रुतज्ञान का विकल्पवाला सर्व श्रुतज्ञानरूप अखण्ड आत्मवस्तु को ध्यान में लेकर उसी में स्थिर होना चाहता है, इसलिए वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

अखण्ड के लक्ष्य से भेद के विचार में रहना सो व्यवहार है। पर की भक्ति और पर

के अवलम्बन का जो विचार है, उसे यहाँ व्यवहार नहीं कहा है।

आत्मा अखण्ड निर्मल है, ऐसे पूर्ण आत्मा को लक्ष्य में लेने का जिस ज्ञानी के विचार है, वह भी व्यवहार श्रुतज्ञानी है। आचार्य कहते हैं कि जो अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को सर्वज्ञ के न्याय से बराबर जानकर श्रुतज्ञान को अखण्ड में मिलाकर पूर्ण आत्मा को पकड़ना चाहता है (प्राप्त होना चाहता है), उसमें स्थिर होना चाहता है, उसे चाहे द्रव्यश्रुत का अल्प भाग हो तथापि वह पूर्ण स्व-विषय को ग्रहण कर उसमें ही स्थिर होना चाहता है। इसलिए 'व्यवहार श्रुतकेवली' है और जो परमार्थ को जानकर अखण्ड के लक्ष्य से स्थिर हुआ वह 'परमार्थ श्रुतकेवली' है।

जिसके ज्ञान में आत्मा को जानने का रागमिश्रित विचार रहता है, इसके अतिरिक्त जिसे दूसरा कुछ नहीं चाहिए वह अपने स्वरूप में निर्विकल्पता के सन्मुख होने के कारण वर्तमान में द्रव्यनिक्षेप से (व्यवहार से) श्रुतकेवली है। जिसने परमार्थ का आश्रय किया उसे परमार्थ प्रगट होता है।

'मैं अखण्ड ज्ञायक निर्विकल्प हूँ, निर्मल हूँ,' ऐसा जो विचार है सो मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान है, तथापि ज्ञान अपना ही है, राग का नहीं है। पर की ओर का रागरूप ज्ञान नहीं है, किन्तु सिर्फ आत्मा की ओर वह ज्ञान प्रवर्तता है, इसलिए वह परमार्थ को बतलानेवाला है। पूर्ण श्रुतकेवली को भी आत्मा को ही पकड़कर स्थिर होना है।

इसी प्रकार अपूर्ण श्रुतज्ञान में अखण्ड आत्मा को ज्ञान में समाविष्ट करने का विचार जिसके विद्यमान है, उस अल्पज्ञ के सर्व श्रुतज्ञान है क्योंकि वह अल्प होने पर भी सम्पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा का विचार करते हों कि भेद से हटकर अन्तरंग में अनुभव की ओर झुकते हैं, उन सबको अल्प भावश्रुतज्ञान की प्रगटता में भी श्रुतकेवली कहा जाता है, क्योंकि जो स्वरूप के सन्मुख हुआ उसका समस्त ज्ञान आत्मा ही है। जो ज्ञायकस्वभाव को ही लक्ष्य में लेना चाहता है, उसने निश्चय से चाहे आत्मा को नहीं प्राप्त किया, स्थिर नहीं हुआ तथापि भविष्य में श्रुतकेवली होगा इसलिए उसको वर्तमान में भी व्यवहार से श्रुतकेवली कहा है।

ज्ञान अखण्ड आत्मा की ओर ढलता है, इसलिए विचाररूप सर्व-श्रुतज्ञान-सम्पूर्ण ज्ञान आत्मा का ही है। अतएव ऐसा कह दिया है कि वह श्रुत में परिपूर्ण है। अभेदरूप में

स्थिर न होने के कारण व्यवहार कहा है। नववीं गाथा में निश्चय परमार्थ से कहा और दसवीं गाथा में व्यवहार से कहा है, दोनों की सन्धि करके आचार्यदेव ने मानों अमृत को प्रवाहित किया है।

टीका : पहले 'जो निर्मल ज्ञानरूप भावश्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह परमार्थ से श्रुतकेवली है।' पहले स्थिर होने के लिये भीतर स्व की ओर झुकने का विकल्प तो आता ही है फिर जब अभेद को स्व-विषय करके (अन्तरंग) स्थिर होता है, तब उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं, यही परमार्थ है।

जो 'आत्मा को' पूर्ण निश्चय से जानने के प्रयत्न में रहता है, उसके अखण्ड के प्रति झुकनेवाला-पूर्णभाव है अर्थात् जिसे आत्मा को प्राप्त करने के लिये विचार होता है, वह भी आत्मसन्मुख होन से व्यवहार श्रुतकेवली है। क्योंकि उसका प्रयोजन मात्र परमार्थ में पहुँचने के लिये ही होता है। स्वोन्मुख एवं परमार्थ ग्रहण करने का भाव अपूर्ण होने पर भी पूर्ण को पकड़ने (प्राप्त करने) वाला होने से श्रुत में पूर्ण है अर्थात् व्यवहारनय से श्रुतकेवली है।

यहाँ ऊपर कहा गया सर्व ज्ञान आत्मा है या अनात्मा? इस प्रकार दो पक्ष उठाकर परीक्षा करते हैं।

सच्ची समझ करके यथार्थ अनुभव करने के लिये विकल्प से छूटकर भीतर स्थिर होने की जो विचार-धारा चलती है, वह आत्मा है, क्योंकि वह ज्ञान राग का नहीं है, जड़-इन्द्रियों का नहीं है, पर का नहीं है, पर की ओर झुकनेवाला नहीं है। किन्तु आत्मा की ओर झुका है, आत्मा को ही जानता है, इसलिए वह ज्ञान आत्मा का ही है।

अब यह बताते हैं कि श्रुतज्ञान यदि अनात्मा की ओर झुकनेवाला हो तो यह यथार्थ नहीं है।

यदि ज्ञान अनात्मा की ओर झुकाववाला हो तो वह व्यवहार नहीं है। पहले आत्मा की ओर का ज्ञान क्या है, इसे समझे बिना अनात्मा का ज्ञान क्या है, यह समझ में नहीं आ सकता।

यहाँ पर जो आत्मा को ग्रहण करने की अमुक तैयारीवाला है, वह सत्समागम के

द्वारा सर्वज्ञ के न्यायानुसार ठीक समझने के बाद अन्तरंग में अनुभवयुक्त निज की ओर स्थिर होने के लिये जो स्वोन्मुख ज्ञान है, वह समस्त ज्ञान आत्मा का है।

यदि उपरोक्त सर्व ज्ञान को अनात्मारूप जड़ के पक्ष में लिया जाये तो वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि अचेतन-जड़ आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य ही नहीं बनता। (क्योंकि उन पाँच अचेतन द्रव्यों में ज्ञानलक्षण निश्चित नहीं हो सकता) यह सर्व ज्ञान तो आत्मा के साथ तादात्म्य करने के लिये है, स्व को जानने के विचार में प्रवर्तनेवाला ज्ञान है, किन्तु परविषय तथा रागादि आत्मा की ओर का लक्ष्य करने के लिये नहीं है।

मैं पुण्य-पाप-विकार का कर्ता हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, ऐसा जो विचार है और पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर ढलना सो अज्ञान है। जड़-अनात्मा में ज्ञान सिद्ध ही नहीं होता किन्तु अकेले ज्ञायक स्वभाव की ओर का विचार करता है, उसके द्वारा आत्मा को जानता है, इसी से ज्ञान आत्मा ही है, यह पक्ष सिद्ध होता है। परमार्थ को जानने के विचाररूप होनेवाला सर्व ज्ञान, उसके तादात्म्यपना स्वरूप को जाननेरूप ज्ञायक आत्मा के साथ सिद्ध होता है, इसलिए सर्व श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है, ऐसा निश्चय होने से जो आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होने का तत्परतारूप ज्ञान करता है, वह पुण्य-पाप के पक्ष को उपस्थित नहीं करता किन्तु संयोग को तोड़कर असंयोगी निर्मल आत्मा का पक्ष नित्य उपस्थित करता है।

अखण्ड तत्त्वस्वरूप में स्थिर होने के लिये जो विचार होता है, वह आत्मा की ओर ढलनेवाला सर्व ज्ञान का पक्ष है। स्वरूप सन्मुख के श्रुतज्ञान के जो विचार हैं, वह भी आत्मा ही है। ऐसा होने से जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है और वह परमार्थ है।

अब यहाँ व्यवहार श्रुतकेवली के दो प्रकार कहे जाते हैं:—

(१) जिसने सर्वज्ञ के न्यायानुसार आत्मा को जाना और उसमें अखण्ड के लक्ष्य से होने के लिये बिल्कुल सन्मुख हुआ है किन्तु यथार्थ अनुभव से निर्विकल्प होकर निश्चय श्रद्धा के द्वारा अभेद परमार्थ का विषय नहीं किया तथापि जिसके पूर्ण को पहुँच जाने का विचार रहता है, उस अपूर्ण भाव को पूर्ण के लक्ष्य से पूर्ण का कारण मानकर व्यवहार से उसे श्रुतकेवली कहा है।

(२) जिसने यथार्थरूप से अन्तर में अखण्ड का लक्ष्य करके अनुभव तो किया है, और फिर भाव श्रुतज्ञान के अन्तर उपयोग में आने के लिये, अखण्ड स्वभाव की दृष्टि के बल से भीतर में (अन्तरंग में) एकाग्र होकर स्थिर होने के विचार में रहता है, साथ ही जिसके मन के सम्बन्ध का अल्पराग रहता है, किन्तु उस ओर झुककर अन्तर में स्थिर होने के लिये जो अखण्ड का विचार करता है, वह भी व्यवहार श्रुतकेवली है।

परमार्थ श्रुत अखण्ड आत्मा है। उसमें स्थिर होने के लिये, पूर्ण निर्मलभाव प्रगट करने के लिये विचार में भेद होता है किन्तु लक्ष्य तो अभेद परमार्थ की ओर ढलने का ही है। गुण-गुणी का भेद डालकर अखण्ड ज्ञायक की ओर झुकनेवाला, अखण्ड ज्ञायक को कहनेवाला जो व्यवहार अन्तरंग में स्थिर होने से पहले मध्य में आता है, वह सर्व श्रुतज्ञान का अपूर्ण भाव व्यवहार में पूर्ण श्रुतकेवली है।

जिसे अनुभव के द्वारा आत्मा में स्थिर होना है और पूर्ण परमार्थ को पहुँचना है, उसे गुण-गुणी के भेद के द्वारा अभेद में जाने के लिये यह व्यवहार कहा है, किन्तु वह व्यवहार दूसरा कुछ कहता या करता नहीं है।

अभेद के लक्ष्य से परमार्थ प्रगट होता है, किन्तु परमार्थ में जाने पर उसका विचार करने में निमित्तरूप से ज्ञान का विचार आये बिना नहीं रहता, इस अपेक्षा से 'जो सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है,' ऐसा जो व्यवहार है, वह परमार्थ में स्थिर होने से बीच में अपने को दृढ़रूप से स्थापित करता है। परमार्थ का प्रतिपादन सविकल्प से होता है इसलिए दृढ़रूप से व्यवहार आये बिना नहीं रहता। सर्वज्ञ के न्याय के अनुसार नय-प्रमाण और निक्षेप के द्वारा नव तत्त्व तथा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर, परमार्थरूप अखण्ड को ध्यान में लेकर उसकी ओर एकाग्र पकड़ होनी चाहिए; जैसा है वैसा जाने बिना पूर्ण आत्मा लक्ष्य में नहीं आता, इसलिए आत्मा को परमार्थ स्वरूप से जैसा है, वैसा कहनेवाला सर्व श्रुतरूप व्यवहार दृढ़तारूप में आता है।

श्रुतरूप चौदहपूर्व का ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करने के लिये है। जिस कार्य के लिये श्रुतकेवली का ज्ञान काम करता है। वही कार्य अपूर्ण श्रुतज्ञान करता है, इसलिए वह सर्वश्रुत है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये नव तत्त्व का यथार्थ स्वरूप थोड़ा या बहुत चाहे तो विचार हो तो भी उसे व्यवहार से सर्व श्रुत कहा जाता है।

अहो! श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस समयसार शास्त्र की अद्‌भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाया है। अद्‌भुत अमृत प्रवाहित किया है और इस समयसारजी में महामोक्ष को अवतरित कर दिया है।

यह ऐसा अपूर्व विषय है जिसे अनन्त काल से नहीं सुना है। जैसे किसी के इकलौते पुत्र का विवाह हो रहा हो तब उसमें यदि पच्चीस हजार रुपये खर्च करना हो तो वह कितना हर्ष करता है, उस हर्ष में विभोर हो जाता है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा पर से भिन्न, निर्मल, त्रिकाली, अखण्ड, ज्ञायकस्वरूप है, उसे सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा है वैसा यदि सुनने को मिले तो योग्य जीव के हर्ष का पार नहीं रहता, समझने में विरोध नहीं आता; किन्तु जिसे अनादि से अन्यथा मान रखा है, और उसका दृढ़ आग्रह होता है, वह सत्य को नहीं सुनना चाहता। तत्त्वज्ञान का विरोध करनेवाला जीव अनन्त काल से लट, जोंक भी न हो ऐसे निगोद में (अनन्त जन्म-मरण के स्थान में) जाता है।

प्रश्नः—यह कैसी सूक्ष्म बातें किया करते हो?

उत्तरः—यह सूक्ष्म बात तो है किन्तु हितकारी है और वह तेरी ही है और इसलिए तुझे वह समझ में न आये ऐसा नहीं हो सकता। समस्त आत्मा सिद्ध भगवान के समान ही हैं। तुम भी वैसे ही स्वतन्त्र और पूर्ण हो, इस प्रकार प्रत्येक आत्मा में सिद्ध परमात्मत्व स्थापित करके समयसार का प्रारम्भ किया है और छठवीं-सातवीं गाथा में तो अद्‌भुत बात कही है।

अरे भाई! संसार के कार्य में तुझे हर्ष होता है, और इस अमूल्य सत्य को समझने का सुअवसर मिला, तथा अनन्त जन्म-मरण को दूर करके अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करनेवाली ऐसी अपूर्व बात सुनकर अन्तर से हर्ष नहीं आये तो इस जीवन की सफलता क्या है? यों तो जगत में कीड़े-मकोड़े की तरह बहुत से जीव जन्मते और मरते हैं। सत्य को समझे बिना जिसका समय व्यतीत होता है, उसका जीवन कीड़े-मकोड़े के जीवन की तरह समझना चाहिए।

यदि कोई एक बार सत्य को सुनकर और उसे अन्तरंग से समझकर हाँ कहे तो उसके अनन्त परिभ्रमण का अन्त हो जाता है। यह कथन ऊँची भूमिकावालों के लिये नहीं है, तथा केवलीज्ञानी के लिये भी नहीं है, अभी चारित्र का विषय दूर है, यह तो पहले

सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात चल रही है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा तत्त्व कहा है, यदि वैसा ही जाने तो कोई भ्रम न रहे। समस्त पहलुओं से विरोध को दूर करके सत्य को समझे तो अन्तरंग से ध्वनित हो उठे कि 'बस! अब भव नहीं रहा।' ऐसी प्रतीति होने के लिये ही आचार्य कहते हैं कि व्यवहार से भी कोई आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। जो कर्तृत्व का भाव करता है वह भी अभूतार्थ है। आत्मा तो पर से त्रिकाल भिन्न, अखण्ड ज्ञायकरूप है; शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति तथा कर्मरूप नहीं है। राग-द्वेष का जो विकारी भाव है, वह त्रिकाली ज्ञायक आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह पर है और इसीलिए वह दूर किया जा सकता है।

जैसे चन्दन की लकड़ी की पहिचान कराने के लिये उसके एक गुण को कहकर उसे भिन्न करके कहा जाता है कि जो सुगन्धमय है, वह लकड़ी चन्दन है। यहाँ पर चन्दन और सुगन्धि में जो भेद किया गया वह व्यवहार है। अखण्ड चन्दन को समझना सो परमार्थ है। इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, उसे 'जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो स्थिरता करता है सो आत्मा है' इस प्रकार व्यवहार से भेद करके अखण्ड आत्मा को समझाते हैं। गुणभेद का कथन व्यवहार है, उस पर से अभेद आत्मा को समझ ले तो उसमें जो व्यवहार हुआ सो वह निमित्तरूप ठहरता है, ऐसा व्यवहार परमार्थ में कैसे आता है? उसका उत्तर देते हैं:—

यदि पहले भावश्रुतज्ञान के द्वारा देखें तो आत्मा ज्ञानमूर्ति, अखण्ड आनन्दकन्द है। अशरीरी सिद्ध भगवान के समान ही प्रत्येक आत्मा है। किसी आत्मा में परमार्थ से अन्तर (छोटा-बड़ापन) नहीं है। किन्तु पर में विश्वास करके अपनी विपरीत मान्यता से अन्तर माना है। पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, पुण्य-पाप-विकार का कर्ता हूँ, इस प्रकार पर को अपना मानकर, अपने एकरूप ज्ञायकस्वभाव को भूला है। अत: मैं पर का कर्ता नहीं किन्तु ज्ञायक ही हूँ, और पर के अवलम्बन से गुण नहीं होता यह बात अन्तरंग में बैठनी कठिन मालूम होती है।

लोगों ने बाह्य से गुण माना है, इसलिए भीतर गुण हैं, इस बात का विश्वास नहीं होता। वे कहते हैं कि यदि भीतर गुण भरे ही हों तो फिर हमसे गुण प्रगट करने के लिये क्यों कहते हो? हमें तो यह समझ में आता है कि गुण के लिये बाह्यप्रवृत्ति करनी चाहिए।

क्या किया जाये ? अनादि से बाह्य पर दृष्टि पड़ी है, इसलिए सब बाह्य से ही देखकर निश्चय करता है, वास्तव में तो निश्चय करनेवाला भीतर से निश्चय करके पर में कल्पना करता है। ऊपर की दृष्टि से मानता है कि मैंने इतने जीव की दया पाली, यह पढ़ा, पूजन की, दान किया, उठ-बैठ करके वन्दना की, ऐसी ही अनेक बाह्यक्रिया से गुण हुआ मानता है; किन्तु भीतर आत्मा अक्रिय, अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख अभेददृष्टि करके अनादि से कभी भी नहीं देखा।

प्रश्न:—क्या बातें करने से धर्म होता है ? क्रिया तो होनी ही चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान में पवित्र हो तो फिर हमें किसलिए समझाते हो ?

उत्तर:—लोग क्रिया-क्रिया चिल्लाते हैं किन्तु कौन सी क्रिया वास्तविक है, यह नहीं समझते। गुण प्रगट करने के लिये बाह्य क्रिया चाहिए, ऐसी बात नहीं है। देहाश्रित प्रवृत्तिमात्र आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह आत्मा के आधीन नहीं है। जो यह मानता है कि देह की क्रिया से धीरे-धीरे आत्मगुण प्रगट होगा उसे अन्दर के (अन्तरंग के) अनन्त अविकारी गुण की श्रद्धा नहीं है। यहाँ यह बतलाते हैं कि आत्मा की क्रिया आत्मा में होती है। जो अन्तरंग परमार्थ को नहीं समझता उसे अन्तरंग का लक्ष्य कराते हैं 'जो यह विश्वास करता है सो आत्मा है। पर से लाभ-हानि मानकर जो पर में विश्वास करता है, उसे स्वोन्मुख कर तुझमें परवस्तु की नास्ति है, तू सदा श्रद्धा-ज्ञान चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड है' इस प्रकार भेद से अभेद का लक्ष्य करके गुण-गुणी की एकता करता है, यह आत्मा की अरूपी क्रिया है। वहाँ अखण्ड आत्मा का पहले श्रद्धान होता है और राग से कुछ भिन्न होकर निर्विकल्प आनन्द आता है, यह आत्मा की क्रिया है। यह मात्र बातें नहीं हैं यह तो यथार्थ अन्तर की क्रिया है। जिसके ऐसी महिमा होती है, वह कहता है कि अहो! ऐसा अखण्ड स्वभाव भीतर ही है, मैं उसे बाहर ढूँढ़ता था। ऐसे वस्तुस्वभाव को प्राप्त करने के लिये बाहर के किसी साधन की तथा शुभविकल्प की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे निर्मल भाव-श्रुतज्ञान से वह सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होने से पहले आत्मा के स्वभावभाव का ज्ञाता होने से श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूप के लक्ष्य से गुण के द्वारा गुणी को जानकर उसमें एकाग्र हुआ है, इसलिए यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्री' शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्री पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है। इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द का जो ज्ञान है, सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप, ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ध्यान किया सो श्रुतज्ञान है, उसमें बाहर का कोई साधन नहीं है, अकेले ज्ञान ने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्री का स्वाद लेते समय दूसरे के स्वाद का लक्ष्य नहीं है, उसी प्रकार मन के संयोग के बुद्धिपूर्वक के विकल्प से जरा छूटकर एकरूप आत्मा को जब अन्तर लक्ष्य में लिया और स्थिर हुआ तब अन्तरंग में निराकुल शान्ति होती है, यह उस समय की 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुत से मिश्री पदार्थ को जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है), उसी प्रकार स्वोन्मुखता के द्वारा भावश्रुत में अखण्ड वस्तु को ख्याल में लेने पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेद के लक्ष्य से जब स्थिर होता है, तब अखण्ड आनन्द आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थान में भी होती है।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञान की-तेरहवें गुणस्थान की है तो उसका कहना ठीक नहीं है। समयसार में यह समयग्दर्शन की ही बात कही है; इसमें परमार्थ से जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्था में है, तथापि पूर्ण के कारणरूप है, इसलिए परमार्थ से श्रुतकेवली है।

अरे भाई! अनन्त काल की महामूल्य जो यह बात कही जा रही है, उसे समझने का उत्साह होना चाहिए। जैसे उन्मत्त सांड घूरे को बखेरकर उसकी धूल, राख, विष्टा आदि कूड़ा अपने ही मस्तक पर डाले; राख, कूड़ा-कचरा आदि के बड़े घूरे में मस्तक मारकर डकारे और यह माने कि मैंने कैसा बल लगाया, कितना सारा तोड़ा-फोड़ा और बखेरा किन्तु सांड का व्यर्थ का तूफान है। उसी प्रकार हम संसार के कुछ काम कर डालें ऐसे अभिमान लेकर व्यर्थ के कार्य करके उसमें हर्ष मानते हैं। अज्ञानभाव में संसार के घूरे को उछालने का बल करके जगत व्यर्थ ही कूदा करता है किन्तु उसमें कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जहाँ माल भरा हुआ है, वहाँ जीव ढूँककर भी नहीं देखता।

आत्मा एकरूप ज्ञायक, ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है, उसे विवेक का मस्तक मारकर जागृत करना है। अनादि काल से अज्ञान में कूद-फाँद की है। अब पर की ममता में ही सोते रहने से काम नहीं चलेगा?

पहले सर्वज्ञ के न्याय से विरोधरहित सच्चा ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान के द्वारा आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करता है, वह ज्ञान ही सर्वश्रुत है, क्योंकि सर्व आगम शास्त्रों का रहस्य पूर्ण आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होना है, इसलिए अपूर्ण दशा में पूर्ण को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है, अत: उसे सर्वश्रुत जो द्वादशांग है, उसका रहस्य प्राप्त हो गया है। स्थिर होने के विचार के समय राग का अंश है, किन्तु स्थिर होने के बिल्कुल सन्मुख हुआ जो ज्ञान है वही स्थिर होने का कारण है, इसलिए उसे सर्वश्रुत कह दिया है।

जो कार्य उत्कृष्ट श्रुतकेवली करता है, वही कार्य अल्प श्रुतज्ञानी भी करता है, उसने बारह अंग का रहस्य जाना है, इस आशय से सर्व श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ही जानने के लिये भेद करके विचार करे किन्तु जो उसमें स्थिर नहीं हुआ वह व्यवहार श्रुतकेवली है और जब स्थिर हो गया तब परमार्थ श्रुतकेवली कहा जाता है।

यह वस्तु सूक्ष्म है, गुरुगम से समझने योग्य है। यह तो सर्व प्रथम नींव की बात है। आचार्य ने भलीभाँति उकेल-खोलकर तत्त्व समझाया है। यदि इसे समझे तो अन्तरंग में आत्मदेव की अपूर्व ध्वनि सुनाई दे, और इसे समझे बिना अन्य समस्त कार्य व्यर्थ हैं। सांसारिक व्यवहार में दया, सेवा, पुण्य की बात अंतर मार्ग से दूर ही है किंतु धर्म के नाम से जितने कर्तव्य, पुण्य, दया, दान, पूजा, प्रभावना, महाव्रत इत्यादि किये वे भी सब परमार्थ के बिना अकेले व्यर्थ ही हैं, ऐसा जो परम सत्य है, वही तीनों काल के सर्वज्ञों ने कहा है। उसे जो ठीक समझता है उसे अन्तरंग तत्त्व की महिमा अवश्य होती है।

'सर्वश्रुत' में अद्‌भुत गम्भीर अर्थ निहित है। पंचेन्द्रिय पशु में भी अल्पज्ञ के श्रुतकेवलीपन है; उसके भी परमार्थ भावश्रुत-आत्मा का अभेद उपयोग होता है। भले ही उसे नव तत्त्वों के नाम भी न आते हों तथापि भाव में-आशय में उसे सर्वश्रुत होता है। पशु में भी ज्ञानीपन होता है। जो पूर्ण में स्थिर होने के विचार में रत हैं, वे चाहे तिर्यंच हों या मनुष्य, सभी श्रुतज्ञानी व्यवहार से 'सर्वश्रुत' कहलाते हें।

ज्ञानगुण को प्रधान करके आत्मा को 'ज्ञायक' कहा जाता है। ज्ञानगुण स्वयं सविकल्प है, अर्थात् निज को और पर को जाननेवाला है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है, इसलिए ज्ञान के अतिरिक्त सभी गुण निर्विकल्प हैं।

यहाँ तो अन्तरंग परिणाम की धारा को देखने की सूक्ष्म बात है, शुभभाव पर तनिक भी जोर नहीं है। कोई यहाँ कहता है कि हमारे शुभभाव को ही उड़ा देना चाहते हो, किन्तु भाई! यहाँ तत्त्व के समझने में, उसके विचार में जो शुभभाव सहज ही आते हैं, वैसे उच्च शुभभाव क्रियाकाण्ड में नहीं हैं। यदि एक घण्टे भी ध्यान लगाकर तत्त्व को सुने तो भी शुभभाव का सामायिक हो जाय! तब फिर यदि चैतन्य को जागृत करके निर्णय करे तो उसका कहना ही क्या है?

तत्त्वज्ञान का विरोध न करे, और मात्र यह सुने कि ज्ञानी क्या कहता है, तो उसमें शुभराग का जो पुण्यबंध होता है, उससे परमार्थ के लक्ष्य से युक्त सुननेवाले के उत्कृष्ट पुण्य के शुभभाव हो जाते हैं। तत्त्व के सुनने में शुभभाव रखे तो ऐसा शुभ सुनने का योग पुनः मिल जाता है, किन्तु उस पुण्य का क्या मूल्य है? पुण्य से मात्र सुनने का योग मिले, किन्तु यदि उसमें अपने को एकमेक करके सत्य का निर्णय न करे तो व्यर्थ है।

पुण्य से धर्म होता है, अथवा अन्तरंग गुण में वह सहायक होता है, इस मान्यता का निषेध अवश्य होता ही है! पुण्यबन्ध विकार है, उसे धर्म मानने का निषेध त्रिकाल के ज्ञानियों ने किया है। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं हो सकता, इसलिए पुण्य का निषेध किया गया है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाये। अज्ञानी के भी अशुभ से बचने के लिये शुभभाव होता है, किन्तु यदि कोई यह माने कि उससे धर्म होगा और इसलिए शुभभाव करे तो उससे अविकारी आत्मा को कदापि लाभ नहीं हो सकता।

ऐसा उपदेश सुनने की कभी भी आन्तरिक इच्छा नहीं हुई, और दुनिया में पुण्य-पाप करने की बातें सुनता रहा, ऐसी स्थिति में ज्यों-ज्यों कर यहाँ धर्म श्रवण करने आया तब उसे यहाँ की बातें अतिसूक्ष्म लगती हैं, इसलिए पहले से ही ऐसी धारणा बाँध लेता है कि यह तत्त्वचर्चा अपनी समझ में नहीं आ सकती। तथापि वह लौकिक कला में तो किंचित् मात्र भी अजान नहीं रहता।

लोक व्यवहार में भले ही देशकालानुसार कायदे-कानून बदल जाते हैं, किन्तु यह तो परमार्थ की बात है, साक्षात् सर्वज्ञ से समागत बात है, उसके कायदे-कानून तीन लोक और तीन काल में नहीं फिर सकते।

अमूल्य तत्त्व बतलाकर, अनन्त काल में दुर्लभ वस्तु को कहकर और आत्मा की महिमा बतलाकर अभ्यास करने को कहा है। उसकी पहिचान की महिमा का वर्णन करके उसमें स्थिर होने की बात कही जा रही है। यदि सच पूछा जाये तो स्वभाव में यह महँगा नहीं है।

जैसे स्वप्न के समय यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वप्न है; और जब कहा जाता है तब स्वप्न नहीं होता, इस प्रकार अभेद के अनुभव के समय विकल्प से नहीं कहा जा सकता, और जब विकल्प होता है, तब केवल परमार्थ का अनुभव नहीं होता। परमार्थ का लक्ष्य तो अखण्ड के लक्ष्य से ही होता है। यद्यपि बीच में भेद-विचार होता है किन्तु उस भेद से अभेद का लक्ष्य नहीं होता। अभेद के लक्ष्य से भेद का अभाव करने पर अभेद परमार्थ हस्तगत होता है। भेद से अभेद पकड़ा जा सकता है, यह तो मात्र उपचार से कहा है।

गुण की निर्मल अवस्था के भेद मात्र व्यवहारनय का विषय होने से अभूतार्थ हैं। भेदरूप व्यवहार परमार्थ में सहायक नहीं होता। परमार्थ का लक्ष्य करके जब उसमें स्थिर होता है, तब व्यवहार छूटता है। पश्चात् अन्तरंग में जितना स्थिरता का झुकाव रहता है, उतना भेद क्रमशः दूर होता जाता है।

भावार्थः—जो विकल्प को मिटाकर भावश्रुतज्ञान के द्वारा अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय) कथन है। जो सर्व श्रुतरूप ज्ञान को जानता है, अभेद आत्मा को जानने के विचार में प्रवर्तमान रहता है, वह सब ज्ञान भी आत्मोन्मुख होने से आत्मा को ही जानता है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहनेवाला जो व्यवहार है, उसे भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा।

परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है। परमार्थ के कहने में व्यवहार निमित्त होता है, इसलिए अभेद का लक्ष्य करनेवाले के वयवहारनय ही प्रगटरूप से आत्मा को समझने के लिये निमित्त है।

ग्यारहवीं गाथा की भूमिका

यह ग्यारहवीं गाथा अद्‌भुत है। अनन्त काल से परिभ्रमण करते हुए जीव ने आत्मा

के यथार्थ स्वभाव को नहीं पाया। बाह्य पदार्थ के निमित्त से रहित जो निरुपाधिक गुण है सो स्वभाव है। उसे यथार्थतया जाने बिना व्रत या चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। यहाँ पर गुण का अर्थ रजोगुण, तमोगुण अथवा सत्वगुण नहीं है, किन्तु जो आत्मस्वभाव है, वह गुण है। आत्मा अनादिकाल से परमानन्द, निर्विकल्प, वीतराग विज्ञान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिये पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव होता है, वह कर्म के निमित्ताधीन होनेवाला विकारी भाव है, स्वभावभाव नहीं है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानंद की मूर्ति है, वह जैसा स्वाधीन और पूर्ण है यदि वैसा यथार्थ लक्ष्य में ग्रहण करे तो सहज आनंद आये बिना न रहे।

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है और वर्तमान कचाई के कारण ही वह बोने से उगता है। कच्चा होने से उसका स्वाद मालूम नहीं होता तथापि उसमें मिठास तो विद्यमान है ही, उसे भूनने से मिठास प्रगट हो जाती है। वास्तव में चने का उगने का स्वभाव नहीं है, यदि उसका उगने का नित्यस्वभाव हो तो भूनने के बाद भी वह उगना चाहिए। और फिर चने में अपना स्वाद भरा हुआ ही है, वह चने में से ही प्रगट हुआ है, रेत, अग्नि और भाड़ आदि बाह्य साधनों से स्वाद आता हो तो कंकड़ों को भूनने से उनमें भी स्वाद आना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अन्तरंग स्वभाव में होने पर ही गुण प्रगट होता है।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी और इन्द्रिय इत्यादि जड़ वस्तुओं से भिन्न है, तथा भीतर जो तैजस और कार्माण रजकणों से निर्मित दो शरीर हैं, उनसे भी भिन्न है। वह नित्य ज्ञान-आनन्द की मूर्ति है, उसे जाने बिना अनादि के अज्ञानी को उस आनन्द का स्वाद नहीं आता, उसे तो पुण्य-पाप को अपना समझने का जो विकार है, उसकी कचाई के कारण संसार का दुःखरूपी कषायला (कषाय, आकुलता) स्वाद आता है। विकार मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अविकारी हूँ, इस प्रकार अविकारी स्वभाव को न देखकर जो अज्ञानी राग-द्वेष, पुण्य-पाप की क्रिया से आत्मस्वभाव को प्रगट करना चाहता है, जो पुण्य-पापरूपी विकार की सहायता से गुण मानता है, उसे आत्मा का निर्मल मार्ग ख्याल में नहीं आता। देह की प्रवृत्ति अथवा किसी बाह्य साधन से धर्म नहीं होता, धर्म तो धर्मी में विद्यमान है। उसे प्रगट करने का उपाय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, उससे अज्ञान का नाश होता है। जैसे चने को भूनने के बाद फिर वह नहीं उगता, क्योंकि उगने का उसका स्वभाव नहीं

है उसी प्रकार अज्ञान का एक बार नाश करने पर आत्मा का जन्म-मरण स्वभाव न होने से वह भव-भ्रमण में नहीं जाता। (यदि अल्प भव हो तो वह परमार्थ दृष्टि में नहीं गिना जाता)। भव-भ्रमण का कारण पुण्य-पाप को अपना मानना और पर में ममता करना है। वह आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है। पुण्य-पाप तो पर के लक्ष्य से, कर्म के निमित्ताधीन होने से होता है। अज्ञानी अज्ञान से पर को बन्ध का निमित्त बनाता है। उस अज्ञान का नाश नित्य अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति से होता है, अज्ञान का नाश होता है इसलिए आत्मा का नाश नहीं हो जाता, आत्मा तो त्रिकाल स्थायी अखण्डित द्रव्य है। इसलिए आचार्यदेव प्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये आत्मा का अखण्ड स्वभाव बताते हैं, उसे पर से तथा विकार से भिन्न जानकर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता कराने के लिये अलौकिक रीति से समयसार की रचना की है।

ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, वीर्य (आत्मबल), अस्तित्व (त्रिकाल में होना), वस्तुत्व (प्रयोजनभूत स्वाधीन स्वभाव, कार्य करने में अपनी समर्थता) प्रदेशत्व (अपना स्वतंत्र आकार, विस्तार) इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्डरूप आत्मा है। गुण के भेद किये बिना अखण्ड तत्त्व नहीं समझाया जा सकता, इसलिए व्यवहार में भेद करके कहते हैं कि 'जो विश्वास करता है, वह भगवान आत्मा है।' पर में विश्वास करता है कि यदि कल पाप का उदय आ गया तो क्या होगा ? इसलिए रुपया-पैसा संग्रह करके रखना चाहिए। इस प्रकार पर का विश्वास करनेवाला भले ही आत्मा का विश्वास न करे किन्तु वह अप्रगटरूप पूर्व कर्म का अस्तित्व स्वीकार करता है और इस प्रकार उसमें अप्रगटरूप से यह भी स्वीकार हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व भी पहले था।

पहले कोई पाप के भाव किये हों तो प्रतिकूलता होती है, यद्यपि अभी कोई प्रतिकूलता न तो देखी है और न आयी है तथापि उसका विश्वास करता है। जड़कर्मों को कुछ खबर नहीं है कि हम कौन हैं और हमारा कैसा फल आयेगा, किन्तु अज्ञानी जीव अपने को भूलकर पर में अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता मान बैठा है। आत्मा ध्रुव है, स्वतन्त्र तत्त्व है, पर-संयोगाधीन नहीं है, उसे किसी संयोग की आवश्यकता नहीं होती, चाहे जब स्वभाव का विश्वास करना हो तो कर सकता है, उसे कोई कर्म बाधक नहीं होते। जो पर का विश्वास करता था, वह अपने गुण को समझने के बाद अपने नित्य स्वभाव का विश्वास करता है।

ज्ञानगुण आत्मा का स्वाधीन गुण है। मकान बनवाने से पूर्व उसका प्लान (नक्शा) बनवाकर मकान का ज्ञान कर लिया जाता है, वह ज्ञान अपने में किया जाता है, तो ज्ञान स्वाधीन हुआ या पराधीन ? तेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, तू नित्य ज्ञाता स्वरूप है, तेरा ज्ञान तुझमें ही नित्य प्राप्त है।

चारित्र आत्मा का त्रैकालिक गुण है। पर में अच्छे-बुरे की कल्पना करके पुण्य-पापरूप विकारी भावनाओं की जो प्रवृत्ति होती है वह चारित्रगुण की विपरीत अवस्था है। जो निर्विकारीरूप में स्थिर रहती है, वह शुद्ध प्रवृत्ति चारित्रगुण की निर्मल अवस्था है। आत्मा चारित्रगुण स्वभाव के रूप में त्रिकाल रहता है। इस प्रकार आत्मा में तीन गुण के भेद करके उन्हें पृथक् बताया है, किन्तु वस्तु में वे तीनों गुण पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वे एक ही साथ आत्मा में विद्यमान हैं तथापि भेद किये बिना यदि मात्र आत्मा को कहा जाये तो अज्ञानी उसे समझ नहीं सकता, इसलिए व्यवहार से भेद करके यों कहा जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को नित्य-प्राप्त है, वह आत्मा है। यद्यपि इस प्रकार मुख्य तीन गुणों से भेद करके समझाया जाता है, किन्तु परमार्थतः वस्तु में भेद नहीं है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति करता है, सो तो व्यवहार भी नहीं है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, उसे गुण के नामों से भेद करके समझना सो व्यवहार है।

'मैं ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचार में मन के सम्बन्ध का शुभराग हो आता है, वह शुभराग आदरणीय नहीं है किन्तु अखण्ड वीतरागी एकरूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु आदरणीय है। उस परमार्थरूप अभेद स्वरूप का अनुभव करते समय व्यवहार के विकल्प छूट जाते हैं।

चाहे जैसे उग्र-पुरुषार्थ के साथ अभेद आत्मा में स्थिर होने जाये तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये बीच में छद्मस्थ के व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

शरीर के द्वारा लेना-देना और खाना-पीना इत्यादि शरीर की सभी प्रवृत्तियाँ शरीर के ही परमाणु करते हैं। जड़ की शक्ति जड़ से प्रवृत्त होती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करा दूँ' वह मिथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि संसार की जड़ है। जीव

व्यवहार से भी किसी परवस्तु के किसी कार्य का कर्ता नहीं है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व मानता है। जड़-देहादि किसी भी वस्तु में आत्मा का व्यवहार नहीं हो सकता।

प्रश्न:—तब फिर भगवान के द्वारा कहा गया व्यवहार कौन सा है ?

उत्तर:—आत्मा अनन्त गुण का अखण्ड पिण्ड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुवस्वरूप है, उसे सत्समागम के द्वारा ठीक जानने के बाद अभेद दृष्टि करके उसमें स्थिर होते समय बीच में जो विकल्पसहित ज्ञान का विचार आता है, सो व्यवहार है। अभेद में स्थित होते समय वह भेदरूप व्यवहार बीच में आता तो है; किन्तु वह भेद, अभेद का कारण नहीं है। अभेद का लक्ष्य ही अभेद स्थिरता को लाता है, तब उस व्यवहार को निमित्त कहा आता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिए किन्तु यदि वह परमार्थ के समझाने में तथा स्थिर करने में निमित्त सिद्ध होता है, तो ऐसे व्यवहार को क्यों न अंगीकार किया जाये ? पर से भिन्नरूप एक अखण्ड वस्तु में लक्ष्य करना और मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, ऐसे भेद करना सो व्यवहार है। ऐसा भेदरूप व्यवहार उस अभेदरूप परमार्थ में निमित्त कैसे होता है ?

उत्तर:—पहले से ही भेद को हेय जानकर अखण्ड तत्त्व को दृष्टि में लिया जाये तो बीच में समागत व्यवहार निमित्त होता है। शुभ विचार निमित्तरूप में पहले उपस्थित होता है किन्तु उसके अवलम्बन से कार्य नहीं होता। अवलम्बन से दूर हटता है, (व्यवहार का अवलम्बन छोड़ता है) तब अभेद के लक्ष्य से परमार्थ को प्राप्त होता है। जैसे कोई वृक्ष की ऊँची डाली को पकड़ना चाहता हो, तो वह डाली नीचे के आधार को छोड़कर कूदने पर ही पकड़ी जा सकती है, वहाँ पर आधार की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। किन्तु यदि आधार पर ही चिपका रहे और कूदे नहीं तो डाली नहीं पकड़ी जा सकती और उस आधार को निमित्त भी नहीं कहा जाता। इस प्रकार आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, वह भेद किये बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिए सर्व प्रथम यदि अखण्ड वस्तु को समझना चाहे तो प्रत्येक गुण का विचार आता है, सो व्यवहार है।

लोग कहते हैं कि 'समयसार में व्यवहार को उड़ा दिया है' किन्तु वह किस अपेक्षा से ? व्यवहार असत्यार्थ है, उसे भूतार्थ को जाननेवाले ही समझ सकते हैं, यही बात यहाँ

कही जा रही है यह बात ऐसी अपूर्व है कि जीव अनन्त काल में भी नहीं समझ पाया यदि आन्तरिक तैयारी के साथ एक बार समझ ले तो मोक्ष हुए बिना न रहे, परमार्थ को जानते हुए बीच में जो ज्ञानादि के भेद होते हैं सो व्यवहार है। लोगों ने बाह्यक्रिया में व्यवहार मान रखा है किन्तु वह सब धर्म से भिन्न है। यदि अन्तरंग के अपूर्व धर्म को धीरज धरके समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वर्तमान में तो सर्वज्ञ भगवान का आशय लगभग भुला ही दिया गया है, पक्षापक्षी के कारण जिनशासन छिन्न-भिन्न हो रहा है, परम सत्य क्या है, वह सुनना दुर्लभ हो गया है, इस सबका कारण अपनी पात्रता की कमी है और इसलिए लोग परमार्थ में बीच में आनेवाले व्यवहार को नहीं समझते और विरोध करते हैं। गुण में विचार के द्वारा भेद करके अखण्ड को समझना सो व्यवहार है, दूसरा कोई व्यवहार नहीं है, यही बात आचार्यदेव यहाँ पर कहते हैं। वह व्यवहार भी अभूतार्थ है, यह बात ग्यारहवीं गाथा में कहेंगे।

संसार में जो बात अपने को अनुकूल पड़ जाती है, उसकी महिमा सब गाते हैं। पिताजी सब हरा-भरा छोड़कर गये हैं, हमें सब चिन्ताओं से मुक्त करके गये हैं; यों मानकर दुनिया अपनी अनुकूलता की प्रशंसा करती है, किन्तु उसमें आत्मा का किंचित्मात्र भी हित नहीं है। मरनेवाला तो अपनी ममता को साथ लेकर गया है। संसार में जिस वस्तु के प्रति प्रीति होती है, उसमें बुराई दिखायी नहीं देती। जिसमें प्रीति होती है, उसका विश्वास करता है। छोटा बच्चा अच्छा दिखायी देता है तो प्रशंसा की जाती है कि लड़का बहुत होशियार है, यह कुटुम्ब का दारिद्र्य दूर कर देगा। यह सब प्रीति के वश कहा जाता है, किन्तु राग के वशीभूत होकर यह कभी नहीं सोचता कि यह भविष्य में यदि हमारी सेवा नहीं करेगा और लकड़ी लेकर मारने दौड़ेगा तो क्या होगा? संसार की जो संयोगी (अनित्य) वस्तु है उसका विश्वास करता है, उसे पलटकर अन्तरंग में एक बार श्रद्धा कर कि तुझमें सभी गुण पूर्ण शक्ति के साथ भरे हुए हें। मैं तो ज्ञाता-साक्षी ही हूँ। राग-द्वेष, ममता के रूप में नहीं हूँ, ऐसी अन्तरंग में श्रद्धा करके वास्तविक पूर्ण तत्त्व को यथार्थ जाने तो वर्तमान में ही निश्चय हो जाता है कि अब संसार में परिभ्रमण नहीं करना होगा, एक-दो भव में ही मोक्ष प्राप्त कर लूँगा।

ज्ञान अपना स्वभाव है। यदि पचास-सठ वर्ष पहले की बात याद करना हो तो उसे

स्मरण करने के लिये क्रम नहीं बनाना पड़ता। जैसे कपड़े के सौ-पचास थान एक के ऊपर एक रखे हों और उनमें से नीचे का थान निकालना हो तो ऊपर के थान क्रमशः उठाने पर ही नीचे का थान निकलता है, इसी प्रकार का क्रम ज्ञान में नहीं होता। पचास वर्ष पहले की बात याद करने के लिये बीच के उनचास वर्षों की बात याद नहीं करनी पड़ती, क्योंकि ज्ञान सदा जागृत ही रहता है। जिस प्रकार कल की बात याद आती है, उसी प्रकार ज्ञान में पचास वर्ष पूर्व की बात भी याद आ सकती है। ज्ञान में काल-भेद नहीं होता। काल से परे अरूपी, ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञान में अनंत शक्ति है, इसलिए पचास वर्ष पहले की बात भी फौरन याद आ सकती है, उसमें न तो क्रम होता है और न बाह्यावलम्बन की आवश्यकता होती है, अनन्त काल से स्वयं ज्ञानस्वरूप ही रहा है, ज्ञान ताजा का ताजा बना रहता है, ज्ञान के लिये किसी भी समय परसंयोग, परक्षेत्र अथवा परकाल का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

ज्ञान अरूपी है इसलिए वह चाहे जितना बढ़ जाये तो भी उसका वजन मालूम नहीं होता, पचास वर्ष में बहुत पुस्तकें पढ़ डाली इसलिए ज्ञान में भार नहीं बढ़ जाता। इस प्रकार ज्ञान का वजन नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है, ज्ञान में विकार नहीं है। युवावस्था में क्रोध, मान, माया, लोभ का खूब सेवन किया हो, विकारी भावों से परिपूर्ण काले कोयले के समान जिन्दगी व्यतीत की हो, किन्तु बाद में जब वह अपने ज्ञान में याद करता है, तब ज्ञान के साथ वह विकार नहीं आता; इससे सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि वह विकारी हो तो पूर्व विकार का ज्ञान करते समय वह विकार भी साथ में आना चाहिए अर्थात् ज्ञान के करते समय आत्मा विकारी हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध अवस्था में रहकर विकार का ज्ञान कर सकता है। अवस्था में पर के अवलम्बन से क्षणिक विकार होता है, उसे अविकारी स्वभाव के ज्ञान से सर्वथा तोड़ा जा सकता है। जिसका नाश हो जाये वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार ज्ञान में तीन शक्तियाँ कही गयी हैं। (१) ज्ञान में काल-भेद नहीं है, (२) ज्ञान का वजन नहीं होता, (३) ज्ञान शुद्ध अविकारी है। ज्ञान का यह स्वरूप समझने योग्य है।

शिष्य का पहले का प्रश्न है कि—ज्ञान में भेदरूप व्यवहार आत्मा को अखण्डरूप में समझने के लिये निमित्त होता है; तब फिर उसे क्यों न अंगीकार करना चाहिए ? उसका उत्तर ग्यारहवीं गाथा में कहा है:—

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः।।११।।

अर्थः—व्यवहारनय अभूतार्थ है, और शुद्धनय भूतार्थ है, यह ऋषीश्वरों ने बतलाया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा के कथनानुसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत पर अपार करुणा करके जगत का महान दारिद्र (अज्ञान) दूर करने के लिये सच्ची श्रद्धा और उसका सर्व प्रथम उपाय बतलाते हैं।

कोई कहता है कि समयसार में तो सातवें गुणस्थान और उससे ऊपर की भूमिकावाले के लिये बात कही गयी है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसका स्पष्टीकरण ग्यारहवीं गाथा में किया गया है।

मोक्षमार्ग में सर्व प्रथम क्या आवश्यक है ? इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ के न्यायानुसार शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है—जिसके बिना सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र कदापि नहीं हो सकता। इसलिए धर्म का प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है और वही इस ग्यारहवीं गाथा में कहा गया है।

शुद्धनय का विषय त्रिकाल एकरूप परमार्थ है, इसलिए भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। आत्मा अरूपी, ज्ञायकस्वभावी ध्रुव है। मन, वाणी, देह तथा इन्द्रियों से सदा भिन्न है। आत्मा देह की किसी प्रवृत्ति का कर्ता नहीं है, देह तो संयोगी वस्तु परमाणुओं का बना हुआ नाशवान पिण्ड है। जैसे पानी और कंकड़ एक जगह पर रहने से एकरूप नहीं हो जाते, उसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा क्षेत्र में क्षणिक संयोगी होकर रहा तथापि वह देह से भिन्न ही है।

अखण्ड ज्ञायक वस्तु त्रिकाल एकरूप जो आत्मा है वही भूतार्थ है। राग की मलिन अवस्था गुण-गुणी का भेद करनेवाली ज्ञान की अवस्था भी ध्रुव नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है। राग अभूतार्थ अर्थात् क्षणिक है, त्रिकाल स्थिर रहनेवाला नहीं है। यदि स्वरूप में स्थिर हो तो राग का नाश हो जाता है, किन्तु ज्ञानगुण का कदापि नाश नहीं होता इसलिए राग अभूतार्थ है।

भंगरूप व्यवहार आत्मा के साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है। और त्रिकाल स्थिर रहनेवाला ज्ञायक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है, उसे श्रद्धा से लक्ष्य में लेना चाहिए। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

टीका:—भूतार्थ दृष्टिवाला जीव ज्ञानी है। भूतार्थ अखण्ड स्वभाव ध्रुव है, वही आदरणीय है और व्यवहार तो वर्तमान भेदरूप-विकाररूप है, क्षणिक है, इसलिए आदरणीय नहीं है।

अखण्ड पदार्थ का लक्ष्य करते हुए बीच में भेद-विचार में शुभ विकल्प हो जाता है, वह पुण्यभाव है, बन्धभाव है, अस्थायी है इसलिए अभूतार्थ है, अर्थात् आदरणीय नहीं है। निश्चय आत्मा में और व्यवहार जड़ में ऐसा नहीं होता। परवस्तु के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर की कोई प्रकृति तथा कोई बाह्यक्रिया आत्मा के आधीन नहीं है क्योंकि परवस्तु स्वतन्त्र है वह किसी के आधीन नहीं है।

यहाँ सब न्याय पूर्वक कहा गया है। कोई यह नहीं कहता कि बिना समझे ही मान लो, यदि विचार करें तो दो तत्त्व एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

आत्मा में एक-एक समय की वर्तमान अवस्थामात्र का जो परसंयोगाधीन विकार है, वह भी पर है, क्योंकि जब तक आत्मा रहता है, तब तक वह नहीं रहता है। इसलिए पुण्य-पाप-विकार होने के कारण अभूतार्थ हैं। इसी प्रकार आत्मा का विचार करते हुए गुण-गुणी के भेदरूप विचार विकल्प और अधूरी अवस्था के जो भेद हैं, वे भी व्यवहारनय का अस्थायी विषय होने से अभूतार्थ हैं, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहनेवाली वस्तु जो शुद्ध ज्ञायक आत्मा है वह भूतार्थ है। उसी को ग्रहण करके उसी की श्रद्धा करना, सो सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष की सर्व प्रथम सीढ़ी है, आत्मा के मोक्ष की नींव की ईंट है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

जैसे मंजिल पर चढ़ते समय बीच में जो जीने की सीढ़ियाँ आती हैं, वे छोड़ने के लिये हैं, पैर रखे रहने के लिये नहीं हैं। यह पहले से ही ध्यान में रहता है कि जो मैं पैर रख रहा हूँ, वह उठाने के लिये है, इसी प्रकार जो अनादि से अज्ञानी है, उसे पर से भिन्न अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्मा का स्वरूप समझाते हुए बीच में जो भेद आता है, वह छोड़ देने के लिये है रखने के लिये नहीं है। समझनेवाले को अभेद परमार्थ की ओर पहले से ही यह लक्ष्य रखना चाहिए कि अपने को भी जितने विकल्प हैं, उनका आदर नहीं है। जिसकी परमार्थ पर दृष्टि नहीं है, वह पुण्य में अथवा भेद में ही रुक जाता है। वह त्रिकाल नहीं है, अभूतार्थ है। अभूतार्थ भूतार्थ का काम नहीं करता, शुद्धनय का विषय भूतार्थ है, इसलिए अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक निर्मल स्वभाव को प्रथम ज्ञान में ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब अरूपी आत्मा आँखों से दिखायी नहीं देता तब उसे कैसे माना जाये ? समाधान:—स्त्री, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा इत्यादि में जो सुख माना जाता है, वह किसमें देखकर माना जाता है ? वह पर में देखकर निश्चय नहीं किया गया है, सुख आँखों से दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानते हैं। 'इनमें सुख है, ऐसी कल्पना किसने की ? जिसने निश्चय किया वह निश्चय करनेवाला ही आत्मा है। मुझे अपनी खबर नहीं है, यह किसने जाना। यह जाननेवाला सदा ज्ञातास्वरूप है, अरूपी साक्षी के रूप में है, किन्तु स्वयं अपनी परवाह नहीं की इसलिए जानता नहीं है। यदि समझने की तत्परता हो तो अपना सत्व स्वयं ही है, वह अवश्य समझ में आ सकता है।

ज्ञानी कहते हैं कि कल लड़का बड़ा हो जायेगा फिर यह बहुत बड़ा वेतन लायेगा, इस प्रकार पर के क्षणिक संयोग का आश्रय करता है, उसे छोड़कर भीतर जो पूर्ण सुखस्वभाव है, उसमें लक्ष्य करके सिथर हो जा, तो सिद्ध परमात्मा के गुणों का अंश प्रगट होकर पूर्ण के लक्ष्य से तू भी परमात्मा बन जायेगा।

पर को मानने में विकार से पराधीनता आती है। निज को मानने में विकार की पराधीनता नहीं है। विकारहीन दृष्टि का विषय त्रिकाल ज्ञायक अखण्ड आत्मा है, वह निर्मल एकरूप ध्रुवस्वभाव ही आदरणीय है, जिसे ऐसी श्रद्धा है, वह धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि है।

आज (अषाढ़ वदी एकम) भगवान महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि का प्रथम दिन है। उन्हें वैशाख शुक्ला दसवीं को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, उस समय इन्द्रों ने समवसरण

की अद्‌भुत रचना की थी, उसे धर्मसभा कहते हैं। वहाँ (समवसरण में) एक ही साथ अनेक देव-देवियाँ, मनुष्य, तिर्यंच धर्म सुनने को आते हैं—ऐसी धर्मसभा की रचना तो हो गयी, किन्तु (केवलज्ञान होने के बाद) छयासठ दिन तक भगवान के मुख से वाणी नहीं खिरी। भगवान की दिव्यध्वनि बिना इच्छा खिरती है; होठ बन्द रहते हैं, सर्वांग से ओंकारस्वरूप एकाक्षरी वाणी निकलती है, उसे सुननेवाले अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझ लेते हैं। तीर्थंकर भगवान के तेरहवें गुणस्थान में दिव्यध्वनि का सहज योग होता है। उन्हें ऐसा अखण्ड ज्ञान होता है कि वे तीन काल और तीन लोक के सर्व पदार्थों को एक ही साथ एक ही समय में जानते रहते हैं।

'मैं पूर्ण होऊँ और दूसरे धर्म को प्राप्त करें' ऐसे अखण्ड गुण के बहुमान की भूमिका में (शुभराग में) तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। तीर्थंकर होने के पूर्व तीसरे भव में उस कर्म का बन्ध होता है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट हो गया था, फिर भी छयासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी; इसका कारण यह था कि उस समय सभा में भगवान की वाणी को झेल सकनेवाला कोई महान पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभा में उपस्थित इन्द्र ने विचार किया तो मालूम हुआ कि भगवान की वाणी को झेलने के लिए समर्थ सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभा में उपस्थित नहीं है, और उनने अपने अवधिज्ञान से निश्चय किया कि ऐसा पात्र जीव इन्द्रभूति है, इसलिए वे ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गये। उनमें (गौतम में) तीर्थंकर भगवान के मन्त्री अर्थात् गणधर होने की योग्यता थी, किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ प्रतीति नहीं थी। वे हजारों शिष्यों के बीच यज्ञ करते थे, वहाँ पर इन्द्र ने ब्राह्मण वेश में जाकर कहा कि पंचास्तिकाय क्या है? आदि प्रश्न पूछे, उनका उत्तर वे नहीं दे सके तब इन्द्र ने कहा कि भगवान महावीर के पास चलो, गौतम ने इसे स्वीकार कर लिया, और वे भगवान महावीर के पास जाने के लिये निकल पड़े मानस्तम्भ के पास पहुँचते ही उनका मान गलित हो गया, मानस्तम्भ को पार करके गौतम जहाँ धर्मसभा में प्रविष्ट हुए कि तत्काल ही भगवान की वाणी खिरने लगी। गौतम को आत्मभान हुआ, निर्ग्रन्थ मुनिपद प्रगट हुआ, और साथ ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया और गणधर पदवी प्राप्त हो गई। गणधरपद प्राप्त होने के बाद उन्होंने आज के ही दिन एक

ही मुहूर्त में क्रम से बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना की थी, उस सत्श्रुत की रचना का दिन और सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि सर्व प्रथम छूटने का दिन आज है। उत्कृष्ट धर्म को समझने के लिये जब पात्र जीव होता है, तब उसके निमित्तरूप वाणी मिले बिना नहीं रहती। जब वृक्ष उगना होता है, तब यह नहीं होता है कि पानी न बरसे।

उपरोक्त बात किसी को न जमे अथवा कोई इसे न माने इसलिए वह असत् नहीं हो जाती, यह बात ऐसी ही है, यह न्याय से, युक्ति से और आगम से तथा समस्त प्रमाण से निश्चित किया जा सकता है।

आत्मा के अखण्ड स्वभाव को लक्ष्य में लेना ही प्रथम धर्म है। उसके बिना जीव अन्य सब कुछ अनन्त बार कर चुका है, यह ऐसा राजा पहले अनन्त बार हो चुका है जो एक-एक क्षण में करोड़ों रुपया पैदा करता है। यह कोई अपूर्व बात नहीं है, किन्तु चिदानंद आत्मा की यथार्थ पहचान करना ही अपूर्व बात है।

व्यवहारनय को अभूतार्थ और परमार्थ को भूतार्थ कहकर समस्त भेदरूप पर्याय का निषेध किया है। बन्ध और मोक्षपर्याय ऐसे भेद और दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है जो कि क्षणिक है, वह अखण्ड एकरूप त्रिकाल ध्रुवरूप में स्थिर रहनेवाली नहीं है। अखण्ड ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि से देखने पर निर्मल पर्याय अभेद स्वभाव में समाविष्ट हो जाती है, परमार्थ में पृथक् भेद नहीं रहते और क्षणिक राग का भाव भी दूर हो जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है किन्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा जो विचार का भेद पड़ता है, वह राग का भाव है, वर्तमान अवस्था मात्र के लिये क्षणिक है, भेददृष्टि का क्षणिक विषय अर्थात् व्यवहार त्रिकाल विद्यमान नहीं है।

शब्द, रूप, गन्ध, निन्दा, प्रशंसा इत्यादि किसी भी पर-पदार्थ की ओर लक्ष्य करके उसमें अच्छे-बुरे की वृत्ति करना सो पर-विषय है, और आत्मा के स्वभाव की ओर लक्ष्य करके विकल्प-भेदरहित त्रिकाल अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को मानकर उसी में स्थिर होना सो स्व-विषय है, वह स्व-विषय करनेवाली दृष्टि भूतार्थदृष्टि अर्थात् सच्ची दृष्टि है। अज्ञानभाव और पुण्य-पाप भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह जानकर श्रद्धा में से सर्व प्रथम वे भाव छोड़नेयोग्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु अन्तरंग में स्थिर होने के लिये जो शुभ-विकल्प होते हैं, वे भी छोड़नेयोग्य हैं। आत्मा के अखण्ड-स्वभाव में जो भेद हो जाता है

वह भी अभूतार्थ है, मलिनभाव है इसलिए वह आदरणीय नहीं है। आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकस्वभाव है, वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और इसीलिए वह ग्रहण करनेयोग्य है।

बन्ध और मोक्ष तो अवस्था-दृष्टि से हैं, उसमें पर-निमित्त के संयोग के होने न होने की अपेक्षा रहती है। उसकी ओर लक्ष्य करने पर राग हो जाता है। मैं उस विकाररूप नहीं हूँ, किन्तु अनादि, अनंत, ध्रुव, अखण्ड, निर्मल स्वभावरूप हूँ, इस प्रकार की दृष्टि का होना सो शुद्धनय है, और उसके द्वारा पूर्ण अभेद आत्मा की श्रद्धा होती है। ऐसी दृष्टि गृहस्थदशा में प्रगट की जा सकती है।

पहले व्यवहार की क्रिया होनी चाहिए, इस प्रकार लोग भेद के चक्कर में धर्म मानकर अटक जाते हैं, इसीलिए अन्तरंग का परमार्थ दूर रह जाता है। आत्मा तो पर के कर्तृत्व, भोक्तृत्व से रहित अरूपी आनन्दघन भगवान है, सदा ज्ञातास्वरूप है, पर में अच्छा-बुरा करनेवाला नहीं है। आत्मा में कौन सा भाव प्रवर्तमान है, यह जानने-देखने की खबर नहीं है, इसीलिए बाहर से निश्चय करता है। मैं धर्म करता हूँ, इस प्रकार धर्म के बहाने अनादि काल से अभिमान कर रखा है। किन्तु धर्म का अर्थ तो पर-निमित्त रहित आत्मा का पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, इस प्रकार का ज्ञान आत्मा ने अनन्त काल में कभी नहीं किया। यदि किया होता तो पूर्ण पवित्र स्वभाव की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अखण्ड पूर्ण स्वभाव का यथार्थ लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

जैसे दूज समस्त चन्द्र का अंश है, वह तीन प्रकार बतलाता है:—

(१) दूज समस्त चन्द्रमा को बतलाती है, (२) दूज, दूज को बतलाती है अर्थात् यह बताती है कि कितनी निर्मलता है, (३) यह भी बतलाती है कि कितना आवरण शेष है; इसी प्रकार आत्मप्रतीति होने पर सम्यग्ज्ञान की कलारूपी दूज (१) समस्त ध्रुवस्वभाव को इस प्रकार बतलाती है कि मैं पूर्ण निर्मल परमात्मा के बराबर (२) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, श्रद्धा की शक्ति और स्व-पर की भिन्नता को बतलाती है और (३) यह भी बतलाती है कि आवरण तथा विकारभाव कितना है।

व्यवहार में भेददृष्टि का आश्रय होने से राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप संसार में जन्म-मरण होता है; अखण्ड ज्ञानानन्द की पूर्ण पवित्र दशास्वरूप मोक्ष उस भेद के अवलम्बन से प्रगट नहीं होता। व्यवहार के सभी भेद अभूतार्थ हैं, राग तो असद्भूत

व्यवहार का विषय है। वर्तमान दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अपूर्ण पर्याय सद्भूतव्यवहार है। बन्ध-मोक्ष भी पर्याय है, उसका लक्ष्य करने से पुण्य-पाप के भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अखण्ड को जानने पर बीच में शुभ विकल्परूप व्यवहार आए बिना नहीं रहता, किन्तु वह शुभराग विकार है। उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, इसलिए यह ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। गुण-गुणी के भेद प्रारम्भ में समझने के लिये आते तो हैं, किन्तु अभेद की दृष्टि में वे गौण हो जाते हैं। भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद का लक्ष्य न करे और मात्र व्यवहार में ही रुका रहे तो अखण्ड चिदानन्द के लक्ष्य को लेकर ज्ञान स्थिर नहीं होता।

अनादि काल से आत्मा को नहीं जाना। वहाँ पहले पात्रता के लिये तत्त्व का विचार करने के योग्य चित्तशुद्धि तो होनी ही चाहिए। आत्मा ने वैसे शुभभाव तो अनन्त बार किये हैं, किन्तु वे सब पुण्यभाव हैं, आत्मधर्म के भाव नहीं हैं, इसलिए वह त्याज्य हैं। इस प्रकार पहले से ही जानना चाहिए।

प्रारम्भ में शुभभाव होते हैं, और ज्ञान होने के बाद भी निम्नदशा में शुभभाव रहते हैं, किन्तु वे परसंयोगाधीन क्षणिक भाव हैं, अभूतार्थ हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप रहनेवाला ध्रुव है और वही आदरणीय है।

जैसे अधिक कीचड़ के मिलने से पानी का एकरूप सहज निर्मल स्वभाव ढँक जाता है, किन्तु नाश नहीं हो जाता। पानी स्वभाव से तो नित्य हलका पथ्य और स्वच्छ ही है, किन्तु कीचड़ के संयोग से वर्तमान अवस्था में मैला दिखायी देता है। जिसे पानी के निर्मल स्वभाव की खबर नहीं है और जिसे यह श्रद्धा नहीं है कि मैल के संयोग के समय भी पानी में पूर्ण स्वच्छ स्वभाव विद्यमान है, ऐसे बहुत से जीव हैं जो पानी और कीचड़ की भिन्नता का विश्लेषण नहीं कर सकते और वे मलिन जल का ही अनुभव करते हैं। इसी प्रकार प्रबल कर्म के मिलने से आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव ढँक गया है, नाश नहीं हो गया। आत्मा स्वभाव से तो पर से भिन्न, ज्ञायक, स्वतन्त्र, निर्मल ही है किन्तु कर्म के संयोग से वह वर्तमान अवस्था में मलिन प्रतीत होता है। जिन्हें आत्मा के सहज निर्मल एवं ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है और जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है कि क्षणिक विकारी अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्ण निर्विकारी स्वभाव विद्यमान रहता है, ऐसे बहुत से अज्ञानी जीव हैं, जो पुण्य-पाप, राग-द्वेष देहादि को अपना स्वरूप मानते हैं। उन्हें पर से भिन्न आत्मा का विवेक नहीं होता इसलिए वे पर को आत्मस्वरूप मानते हैं।

जैसे एक आदमी बहुत से आदमियों के बीच में खड़ा रहकर भी ऐसी शंका नहीं करता कि यदि मैं सर्व रूप हो गया तो क्या होगा ? इसी प्रकार परमाणु अन्ध-अचेतन हैं, तू उनके साथ एकरूप नहीं हो गया। जब तू अपने को भूलकर अज्ञान से राग में लीन हो जाता है, तब तुझे जड़ के संयोग से बन्ध का आरोप आता है, किन्तु तू उस विकार का नाशक है। जैसे अग्नि सबको जला देती है, उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा सर्व विकार का नाश कर देता है।

कोई कहता है कि 'सौ-सौ चूहों को मारकर बिल्ली तप को बैठी'—यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है या नहीं ? समाधान:—कल का पापी आज धर्मात्मा हो सकता है। भूतकाल में चाहे जितने पाप किये हों तथापि जो समझने के लिये तैयार हुआ है, वह अपूर्व प्रतीति करके ज्ञानी हो सकता है। भूतकाल में जिसने घोर अधर्म किया हो उसे वर्तमान में धर्म नहीं हो सकता यह बात नहीं है। जिस भाव से बन्ध किया था, उससे विपरीत उत्कृष्ट भाव का करनेवाला भी स्वयं ही था। यदि वह पलट जाये तो उत्कृष्ट निर्विकार स्वतन्त्र स्वभाव की दृष्टि करके समस्त अशुद्धता का नाश करने की अपार शक्ति को प्रगट कर सकता है। जो आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में अपने वीर्य को लगाता है उसका आत्मबल हीन हो जाता है। किन्तु यदि परिवर्तन कर दे तो बन्ध के विकारी भावों के बल की अपेक्षा अविकारी स्वभाव का बल अनन्त गुना है, वह प्रगट होता है। उस बल की जागृति से घसियारा भी दो घड़ी में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। अग्नि की एक चिंगारी में करोड़ों मन घास को जला देने की शक्ति होती है। यहाँ पर कोई कुतर्क बुद्धिवाला व्यक्ति यह कहे कि तब तो हम अभी खूब पाप कर लें और फिर बाद में उन्हें क्षणभर में नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे, ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

जिसे बन्दूक चलाने का अभ्यास न हो और जो बन्दूक को पकड़ना भी न जानता हो वह समय आने पर शत्रु के सामने क्या करेगा ? इसी प्रकार जिसे वर्तमान में सत् की रुचि नहीं है तथा विवेक और सत् शास्त्र का अभ्यास नहीं है, वह मरण के समय समभाव कैसे रखेगा ?

जिसे सर्व प्रथम अनीति का त्याग नहीं है और लौकिक सज्जनता नहीं है, उसके लिये धर्म है ही नहीं।

कोई कहता है कि—'हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, पूर्व के अनेक कर्म विद्यमान हैं, वे हमें धर्म नहीं करने देते' किन्तु कर्म तो परवस्तु है, वह तेरे स्वभाव में है ही नहीं। जो तुझमें नहीं है वह तेरी क्या हानि कर सकता है ? यदि पानी लाखों वर्ष तक अग्नि पर गर्म होता रहे तो भी उसमें अग्नि को बुझाने की शक्ति प्रतिसमय विद्यमान रहती है। यदि बर्तन से उछल पड़े तो वही पानी उस अग्नि को बुझा देता है, जिससे वह गर्म हुआ था। इसी प्रकार आत्मा प्रबल कर्म के संयोग के साथ विपरीत मान्यता से राग-द्वेष के वेग में आया हो तो भी सत् समागम के द्वारा आत्मा की महिमा को जानकर क्षणभर में राग-द्वेष, अज्ञान का नाश कर सकता है। जिसने अनादि काल से धर्म को नहीं समझा उसे भी धर्म के समझने में अधिक काल की आवश्यकता नहीं होती, वह क्षणभर में सत्य पुरुषार्थ के द्वारा धर्म को समझ सकता है।

व्यवहार में जो विमोहित चित्तवाले पाप के विकार को अपना कर्तव्य मानते हैं, पुण्य से धीरे-धीरे धर्म का होना मानते हैं, तथा जो यह मानते हैं कि अकेले आत्मा से धर्म नहीं हो सकता, उसके लिये परावलम्बन आवश्यक है, मानों वे यह मानते हैं कि उनमें निज की कोई शक्ति नहीं है। जो अपने में धर्म की 'नास्ति' मानते हैं, वे बाहर से धर्म की 'अस्ति' कहाँ से लायेंगे ? यह धर्म की प्राथमिक बात है। यहाँ शुभ को छोड़कर पाप में प्रवृत्ति करने को नहीं कहते; क्योंकि लौकिक सज्जनता, नीति इत्यादि की पात्रता तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे अविकारी स्वभाव को कोई लाभ नहीं मिलता। उत्कृष्ट पुण्य करके उसके फलस्वरूप अनन्तबार नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु उसका निषेध करके जो विकार रहित पूर्ण स्वभाव की, आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, सत्य का निर्णय नहीं करता, वह परमार्थतः मूढ़ जीव है।

अनादि काल से बाह्य प्रवृत्ति पर दृष्टि है, इसलिए जहाँ अनादि काल से माने हुए को देखता है, वहाँ सन्तोष हो जाता है। और मानता है कि 'मैंने इसका त्याग किया यह ग्रहण किया इसलिए मुझे कुछ लाभ अवश्य होगा' किन्तु यह विचार नहीं करता कि मैं भीतर अपार-शक्ति से अखण्ड परिपूर्ण हूँ। पहले श्रद्धा में निरालम्बी वीतराग ज्ञायकस्वभाव को पूर्णतया मानने के बाद सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्र की अस्थिरता जितना मोह शेष रह जाता है, किन्तु परमार्थदृष्टि में वह नहीं है, क्योंकि उसको दूर करनेवाला निर्मल दृष्टि का विवेक सदा जागृत रहता है, इसलिए वह अल्प काल में शेष राग का भी नाश कर डालेगा।

कीचड़ से लथपथ होते हुए भी जो पहले से स्वच्छ जल का विश्वास करता है, उसकी जल की सभी प्रकार की मलिनता को दूर करने की दृष्टि पहले से ही खुली होती है, भले ही उसे मलिनता दूर करते हुए कदाचित् कुछ विलम्ब लग जाये। एकरूप निर्मलता को प्राप्त करने की रुचि मलिनता को नहीं रहने देगी। जब तक मात्र पुण्य-पाप के विचार को ही आत्मा का स्वभाव मानता है और शुभभाव से गुण का होना मानता है, तब तक निर्मल स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और वास्तविक रूप में अशुद्धता को दूर करने का मार्ग नहीं सूझता। जो अज्ञानी लोग बन्धमार्ग को मोक्षमार्ग मानकर व्यवहार-व्यवहार चिल्लाते हैं और जो यह कहकर कि 'हमारा व्यवहार ग्रहण करने योग्य है' व्यवहार को ही पकड़े बैठे हैं, उन्हें आचार्यदेव ने व्यवहारमूढ़ कहा है।

हे भाई! तू वीतरागी प्रभु भूतार्थ है, पराश्रय से होनेवाले क्षणिक विकारी भाव को अपना मानकर उसे जो उपादेय मानता है और उससे गुण मानता है, वह अविकारी आत्मस्वभाव का घात करता है।

अविकारी द्रव्यस्वभाव को देखनेवाली दृष्टि शुद्ध दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि है और जो विकार को अपना स्वरूप मानता है, परवस्तु से शुभ विकार से धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। देह इत्यादि परमाणु की धूल अचेतन संयोगी वस्तु है, वह संयोगी वस्तु ज्ञायकस्वरूप नहीं है और आत्मा जड़रूप नहीं है, इसलिए आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर की कोई भी क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

सच्चे तप की परिभाषा 'इच्छानिरोधस्तपः' है; इच्छा का त्याग अर्थात् इच्छा की नास्ति का मतलब है विकार का नाश और यही तप है, यही इसका अर्थ है। जब जीव अविकारी, नित्य अस्तिरूप ज्ञायकतत्त्व की प्रतीति करता है, तब वह विकार का नाश कर सकता है।

यह महामन्त्र है, किसी को साँप ने काटा हो और फिर वह बिल में चला गया हो तो वह गारुड़ी (सपेरा) ऐसे मन्त्र पढ़-पढ़कर भेजता है कि यदि उस आदमी का भाग्य हो तो साँप बिल में से बाहर आ जाता है और विष को चूसकर वापिस चला जाता है। (यहाँ पर मन्त्र की महत्ता नहीं देखनी है किन्तु सिद्धान्त को समझने के लिये दृष्टान्त का अंश ही लेना है) उस मन्त्र से यदि आयु शेष हो तभी विष उतरता है किन्तु त्रिलोकीनाथ परमात्मा

ने सम्यग्दर्शनरूपी ऐसा महामन्त्र दिया है कि जो अनादि काल से अज्ञानरूपी सर्प के द्वारा चढ़े हुए चैतन्यभगवान आत्मा के विष (परभाव में ममत्वरूप जहर) को उतार देता है।

सम्यग्दर्शन किसी के कहने से अथवा देने से नहीं मिलता। स्वयं अनन्त गुण के पिण्ड सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा है, वैसा है। उसे सर्वज्ञ के न्यायानुसार सत्समागम के द्वारा ठीक पहचाने और भीतर अखण्ड ध्रुव स्वभाव का अभेद निश्चय करे तो सम्यग्दर्शन-आत्म-साक्षात्कार होता है, उसमें किसी परवस्तु की आवश्यकता नहीं होती। यह बात गलत है कि यदि मैं इतना पुण्य करूँ, इतना शुभराग करूँ तो उससे धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन हो जायेगा। कोई बाह्य क्रिया करे, जप करे, हठयोग करे तो उससे कदापि सहज चैतन्य आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता, धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा का सहज सुखदायक स्वभाव है।

प्रश्न:—जब कि आप बाह्यक्रिया करने की कुछ कहते ही नहीं हैं, तब धर्म तो बिल्कुल सरल हो गया?

उत्तर:—धर्म का अर्थ है अनन्त सुखस्वरूप आत्मा का नित्य स्वभाव, उस अनन्त सुखस्वरूप के प्रगट होने के कारणों में कष्ट है,—ऐसा जो मानता है वह सच्चे धर्म को ही नहीं समझा। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वह कष्टप्रद नहीं है। लोग बाहर से माप निकालते हैं कि छह मास तक आहार का त्याग किया है, धर्म में घोर परीषह सहन करने पड़ते हैं। इस प्रकार जो धर्म में दु:ख मानते हैं, वे धर्म को क्लेशरूप मानते हैं, किन्तु धर्म क्लेशरूप नहीं है। आत्मा के अनाहारी ज्ञानस्वभाव के आनन्द में लीन होने पर ज्ञानी के छह मास तक आहार सहज ही छूट जाता है और जो शरीर सूख जाता है, उस पर दृष्टि ही नहीं जाती। अखण्ड स्वरूप की शान्ति में सहज ही इच्छा रुक जाती है, इसका नाम है तप; उसमें कष्ट नहीं किन्तु अविकारी आनंद है।

बाह्य तप, परीषह इत्यादि क्रियाओं से मानता है कि मैंने सहन किया है, इसलिए मेरे धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि बाह्य में है, इसलिए धर्म नहीं हो सकता। जिसे शरीर पर प्रेम है, उसे शारीरिक प्रतिकूलता होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानी को शरीर के प्रति राग नहीं होता, उन्हें तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग ज्ञेयमात्र होते हैं। अधिक कष्ट सहने से अधिक धर्म होने की बात तीन लोक और तीन काल में नहीं हो सकती।

यहाँ पर सहजस्वभावी आत्मा का धर्म न्यायपुरस्सर कहा जाता है। जैसे-निर्मल जलस्वभाव से अज्ञात अज्ञानी जीव कादव-मिश्रित जल को मैला मानता है वह मलिन जल को ही पीता है, किन्तु निर्मल-जलस्वभाव का ज्ञाता अपने हाथ से निर्मली औषधि (फिटकरी) डालकर अपने पुरुषार्थ से निर्मल जल को प्राप्त करता है, और उसी का अनुभव करता है। इस प्रकार ज्ञानानन्द आत्मा सहज ज्ञायकस्वरूप चैतन्यज्योति है, वह स्वयं कर्म के संयोग से ढँका रहता है इसलिए मलिन प्रतिभासित होता है। आत्मा को कर्म ने मैला नहीं किया किन्तु स्वयं विपरीत दृष्टि से अशुद्धरूप में अपने को राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता मानता है, और अपने को रागी-द्वेषी मानकर उस विकारीभाव को अपना मानता है। इस प्रकार माननेवाला व्यवहार मूढ़ है क्योंकि उसे स्वभाव की खबर नहीं है।

अरे! यह देव-दुर्लभ मानव शरीर मिला है, इसमें अनन्त भव का अन्त हो सकता है ऐसी अपूर्व श्रद्धा के द्वारा एक-दो भव में ही अखण्डानन्द पूर्ण मोक्षस्वभाव की प्रगट प्राप्ति होनेवाली है, इस प्रकार यह निःसन्देहरूप से अन्तरंग में दृढ़ निश्चय न करे तो जैसे कुत्ते, बिल्ली, कीड़े-मकोड़े आत्मभान के बिना मर जाते हैं, उसी प्रकार आत्मप्रतीति किये बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है।

आत्मा की अपूर्व प्रतीति करना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक कर्तव्य है। जिसे सच्ची श्रद्धा होती है, उसे भव-विनाश में शंका ही नहीं रहती।

जहाँ शंका वहाँ गिन सन्ताप,
ज्ञान वहाँ शंका नहिं स्थाप।
प्रभु भक्ति वहाँ उत्तम ज्ञान,
प्रभु प्राप्ति में गुरु भगवान। (श्रीमद् राजचन्द्र)

जहाँ शंका है वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ शंका नहीं रहती। पुरुषार्थ के द्वारा जहाँ स्वभाव में सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वहाँ गुरु निमित्तरूप होते हैं। स्वाधीन मोक्षस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने पर बन्धन की मान्यता छूटकर अन्तरंग से यह निःसन्देह विश्वास हो जाता है कि मैं विकाररहित, भवरहित, अबन्ध ध्रुव स्वभावी हूँ और ऐसी निःसन्देह श्रद्धा आत्मा में हो सकती है कि बहुत से कर्मों के आवरण टूट गये, कुछ ढीले हो गये और शेष अल्प काल में ही दूर करके पूर्ण परमात्मदशा को प्रगट कर लूँगा।

आत्मा में अनन्त स्वाधीन गुण भरे हुए हैं, उन्हें न देखकर बाह्य कर्मों के निमित्त में मुक्त होने से पर के ऊपर दृष्टि होने से-अभेद में जो भेद पड़ता है, पुण्य-पापभाव होता है, उसी को आत्मा का स्वरूप मानता है, पुण्य से ठीक हुआ मानता है, उस जीव को विकारी भाव के प्रति आदर होता है, इसलिए उसे अविकारी आत्मा के प्रति आदर नहीं होता। पुण्य तो शुभराग है, उसका आदर करना सो महामूढ़ता है। उन क्षणिक भावों का आश्रय करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

स्वतन्त्रता के द्वार को खोलनेवाला और परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़नेवाला मेरा परमार्थभाव है, वही मेरा स्वभाव पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध है। उस ध्रुवस्वभाव को ही भूतार्थदर्शीजन शुद्धनय के द्वारा अपना स्वरूप मानते हैं। शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से पर से भिन्न एकमात्र ज्ञायकरूप में अपने को ही अनुभव करते हैं। भगवान आत्मा सदा अक्रम, अरूपी, अविकारी, निर्मल, ज्ञानमूर्ति है, उसे परमार्थ ध्रुवरूप में देखनेवाले ज्ञानीजन भेदरूप क्षणिक विकाररूप नहीं देखते।

इसे समझने में यदि विलम्ब लगे तो अकुलाना नहीं चाहिए, किन्तु धीरज धरकर समझने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि पहले से ही यह मान ले कि समझ में नहीं आयेगा, समझने का पुरुषार्थ न करे तो फिर अनन्त काल तक यथार्थ समझ का द्वार बन्द कर देता है। भूल तो वर्तमान एक समयमात्र के लिये होती है, त्रिकाल स्वभाव भूलरूप नहीं हो जाता, इसलिए समझकर भूल को दूर करना चाहिए।

भूतार्थदर्शी (शुद्धदृष्टि से देखनेवाले) के ऐसा विवेक होता है कि 'मैं अकेला निर्मल हूँ, ध्रुव हूँ,' इसलिए अपने पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञानज्योति से शुद्धनयानुसार बोध होता है। उस बोधमात्र से निर्मल ध्रुव स्वभाव की प्रतीति तथा आत्मा और कर्म की भिन्नता का विवेक उत्पन्न करता है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभाव को ही सम्यग्दृष्टि शुद्धनय के द्वारा अनुभव करता है, यह सम्यग्दर्शन है।

यदि कोई कहे कि समयसार में बी.ए. और एल.एल.बी. जैसी उच्च भूमिका की बातें हैं तो यह ठीक नहीं है। जो यथार्थ आत्महित करना चाहे उसके लिये प्रथम उपाय की बात है। सभी जीव सिद्ध परमात्मा के समान हैं, तू भी सिद्ध समान है। फिर यदि तू नहीं समझे तो क्या जड़ पदार्थ समझेगा।

कोई कर्म के नाम को रोता है कि मुझे कर्म ने मार डाला! यदि कर्म मार्ग साफ कर दें तो धर्म सूझे। किन्तु भाई! कर्म तो जड़, अन्ध और भानरहित हैं, उन्हें यह खबर ही नहीं कि हम कौन हैं और कहाँ हैं। परमार्थ से तुझे उनका कोई बन्धन नहीं है किन्तु तेरी विपरीत मान्यता का ही बन्धन है। भूलरहित त्रिकाल निर्मल पूर्णस्वभाव को देखकर सीधी मान्यता करे तो तुझे अशुद्धता नष्ट हो सकती है, वह अभूतार्थ है अर्थात् नित्यस्थायी स्वभाव में नहीं है।

मैं अखण्ड चैतन्यज्योति त्रिकाल निर्मल एकरूप आनन्दमूर्ति हूँ। इस प्रकार जो शुद्ध परमार्थदृष्टि से अपने को अखण्ड ज्ञायक वीतराग सिद्ध परमात्मा के समान अनुभव करता है, वही अपने ध्रुवस्वरूप को मानता है और इसलिए पर का-विकार का स्वामित्व नहीं करता।

दृष्टि को निर्मल करने के बाद शुभभाव होता तो अवश्य है किन्तु उसका आदर नहीं होता। उसे यह भान है कि—अपनी वर्तमान निर्बलता के कारण शुभभाव होता है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है; मेरा स्वभाव तो शुद्ध वीतराग है, और उस स्वभाव की दृष्टि के बल से उसके स्वभाव में विकार का अभाव विद्यमान होता है।

जैसे काछी-कोली के गन्दे लड़के किसी के घर के आँगन में खेलने के लिये पहुँच जायें तो उन्हें देखकर आत्मीयता की ऐसी भावना नहीं होती कि वह हमारे वंश के रक्षक हैं, प्रत्युत यह जानकर कि यह मेरे घर के नहीं हैं, उन्हें घर से बाहर निकाल देते हैं। इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में राग-द्वेष की संकल्प-विकल्पवाली वृत्ति अपनी अशक्ति के कारण दिखायी देती है, उसका स्वभाव की पूर्णता की दृष्टि के बल से निषेध करते हैं।

अन्तरंग में शुभ-अशुभ भावों में हेयबुद्धि होने से और स्वभाव का आदर होने से कि मैं वर्तमान में त्रिकाल, अखण्ड, निर्मल पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ शुद्धनय के द्वारा अपने में पूर्ण अखण्ड दृष्टि की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है, यही पूर्ण मुक्ति-मन्दिर में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है।

यहाँ पर शुद्धनय निर्मली औषधि (फिटकरी) के स्थान पर है। जो अन्तरंग निर्मलदृष्टि (शुद्धनय) का आश्रय लेते हैं, वे सम्यक्-अवलोकन करनेवाले हैं इसलिए

सम्यग्दृष्टि हैं। उसके अतिरिक्त शुभाशुभभाव का आश्रय करनेवाले भेदरूप व्यवहार के पक्षपाती—व्यवहारमूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

पुण्य से धर्म होगा, पुण्य तो धर्म का प्रारम्भ है, पुण्य लगेठा है, धर्म का साधन है, गुण के लिये बाह्यक्रिया आवश्यक है, इस प्रकार विकार से-बन्धनभाव से अविकारी अबन्ध स्वभाव प्रगट होगा, यों माननेवाले तथा देह की क्रिया, पुण्य-पाप की क्रिया का मैं कर्ता हूँ, पर से मुझे लाभ-हानि होती है, पर के अवलम्बन से गुण होता है, ऐसे अज्ञानरूप अभिप्राय को माननेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

यह सब समझने की अपेक्षा जिसे जगत ठीक मानता है वैसा ही करना लोगों को भी ठीक लगता है। कोई कहता है कि पाँच हजार रुपया खर्च करो तो कल्याण हो जायेगा, किन्तु ऐसा कल्याण तो जीव ने अनन्त बार किया है, लेकिन उससे धर्म नहीं हुआ। जीव ऐसे सूक्ष्म अन्तरंग स्वभाव को नहीं समझ सका, और बाहर से जो अच्छा दिखायी देता है, उसमें धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाता है। प्रशंसा करनेवाले भी बहुत से लोग मिल जाते हैं—जो कहा करते हैं कि 'आपने बहुत बड़ा परमार्थ का काम किया है, अब आपका कल्याण अवश्य हो जायेगा।' यदि पैसे से धर्म होता हो तो निर्धन के धर्म नहीं होगा। सच तो यह है कि रुपया-पैसा देना पुण्य का कारण नहीं है, किन्तु अन्तरंग में रुपये-पैसे के प्रति होनेवाले राग को कम करे तो पुण्य होता है। लोगों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये रुपया-पैसा दे, और यह माने कि मैं दान करता हूँ तो वहाँ रुपया-पैसा देने पर भी पर के अभिमान के कारण पाप होता है। पैसा देने से ही पुण्य होता है, यह बात नहीं है। रुपया-पैसा तो पर-जड़ वस्तु है। शरीरादि की प्रवृत्ति हुई इसलिए अथवा रुपया-पैसा देने से पुण्य होता है, यह मानना गलत है। रुपया-पैसा तो उसके (सामनेवाले के) पुण्य के कारण और जड़ की अवस्था के कारण उस समय उसके पास आनेवाला ही था। दूसरे के कारण से पुण्य नहीं होता किन्तु कषायों के मन्द करने से पुण्य होता है। अन्तरंग तत्त्व की पहिचान करना और तृष्णा-रागरहित अविकारी 'मैं कौन हूँ' इसकी यथार्थ प्रतीति करना सो धर्म है। स्वभाव को जाने बिना शुभभाव को दान देकर तृष्णा कम की जा सकती है किन्तु वहाँ वास्तव में तृष्णा कम नहीं हो जाती। वर्तमान तृष्णा घटी हुई दिखायी देती है, किन्तु दृष्टि तो पर के ऊपर होती है, इसलिए वह भविष्य में पुण्य के फल में मूढ़ हो जायेगा।

जिसे पराश्रित व्यवहार में उपादेयबुद्धि है, जो विकार के कर्तव्य को ठीक मानता है, उसका किसी भी प्रकार हित नहीं होता। इसलिए निरावलम्बी निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण करने से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय से निरालम्बी पूर्ण निर्मल स्वभाव को माननेवालों को व्यवहारनय का अनुसार करना योग्य नहीं है।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप अत्यन्त सरल भाषा में, अलौकिक रीति से, स्वच्छ पानी और कीचड़ का दृष्टान्त देखकर इस प्रकार समझाया है कि छोटा बालक भी समझ सकता है। यदि बारम्बार सुनकर मनन करे तो चाहे जो व्यक्ति भगवान आत्मा के निर्मल ज्ञायकस्वभाव का स्वयं अनुभव कर सकता है।

प्रश्न:—पुण्य-पाप की वृत्ति को अभूतार्थ-अस्थायी क्यों कहते हो ?

उत्तर :—पुण्य-पाप के भाव क्षणिक संयोगाधीन किये हुए होने से बदले जाते हैं, इसलिए अभूतार्थ-अस्थायी हैं, जैसे बहुत से आदमियों के बीच चन्दा लिखाया जा रहा हो तो उसे देखकर किसी के पाँच हजार रुपया देने के शुभभाव हो जाते हैं, और वह पाँच हजार रुपये लिखा देता है, किन्तु घर जाकर उसका विचार बदल जाता है। जब कोई उसके पास रुपया माँगने जाता है, तब उसको रुपया देने की दानत नहीं होती, इसलिए वह उसका दोष निकालता है और कहता है कि तुम्हारी संस्था ठीक नहीं चलती, इसलिए अभी कुछ देने का विचार नहीं है। इस प्रकार तृष्णा को रखकर व्यर्थ यश लूटता है किन्तु तृष्णा कम नहीं करता। किसी की संस्था अच्छी चले या न चले उससे तेरी तृष्णा में कोई अन्तर नहीं होना है, किन्तु तू जब अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तब उसे कम कर सकता है।

इसमें सिद्धान्त इतना ही है कि पुण्य-पाप के भाव क्षणिक हैं; वे संयोगाधीन किये जाते हैं इसलिए बदल जाते हैं, अत: अस्थायी-अभूतार्थ हैं, और पुण्य-पापरहित जो अखण्ड निर्मल स्वभाव है, वह त्रैकालिक है, इसलिए भूतार्थ है, यदि उसे परमार्थदृष्टि से लक्ष्य में लिया जाये तो नित्यस्वभाव का निश्चय नहीं बदल सकता।

शुद्धनयानुसार बोध होने पर स्व-पर की भिन्नता का विवेक और शुद्धात्मा का अनुभव होने लगता है। इसमें साधन तो शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से कहा है, अन्य कोई पर का अवलम्बन, क्रिया अथवा शुभ विकल्प इत्यादि नहीं कहा।

भावार्थ : यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। पूर्ण

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही अखण्ड वस्तु है, उसके लक्ष्य से हटकर, परसंयोग के लक्ष्य से पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, तब साधकभाव की धारा में खण्ड-भंग पड़ जाता है। जैसे नदी का प्रवाह अखण्ड है, किन्तु बीच में नाला आने पर उसके प्रवाह में खण्ड पड़ जाता है, उसी प्रकार त्रैकालिक ज्ञायक चैतन्यस्वभाव एकरूप ही है, उसमें वर्तमान क्षणिक अवस्थामात्र के लिये कर्म के निमित्ताधीन शुभाशुभभाव होते हैं, वह व्यवहार है, उस व्यवहार का विषयभेद अनेकाकार है। उसका आश्रय करनेवाला शुभाशुभ विकार को दृष्टि का विषय बनानेवाला मिथ्यादृष्टि है।

शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखायी नहीं देता। निर्मल अखण्ड स्वभाव की दृष्टि करने के बाद भी चारित्र में कमी होने के कारण शुभवृत्ति होती है, वह व्यवहार का विषय है। व्यवहार का भेद समयमात्र के लिये है, इसलिए भूतार्थदृष्टि में भेदरूप व्यवहार असत्यार्थ-अविद्यमान है।

'भेदरूप व्यवहार अविद्यमान है'—ऐसा कहने पर यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि कोई वस्तु सर्वथा भेदरूप है ही नहीं। अविद्यमान है, अर्थात् स्वभाव में नहीं है। ऊपर असत्यार्थ कहा है वह वस्तुरूप में है अवश्य, किन्तु नित्य स्वभाव में नहीं है। पर के अवलम्बनरूप शुभ विकार यदि वर्तमान अवस्था में न हो तो पुरुषार्थ करके विकार को दूर करके अविकारी निर्मल हो जाऊँ ऐसा अवकाश ही न रहे। वर्तमान अवस्था में विकार है, किन्तु ज्ञानी उस वर्तमान भेददृष्टि को द्रव्यस्वभावरूप नहीं देखता।

जिसे अपना हित करना है, उसे सत्समागम द्वारा यथार्थ वस्तु को जानकर, भेद को गौण करके, एकरूप ध्रुवस्वभाव भूतार्थ का लक्ष्य करना चाहिए, जिसे अनन्तभव का दुःख दूर करना हो और सच्चिदानंदमय पूर्ण सुखरूप स्वाधीन तत्त्व प्राप्त करना हो उसी के लिये यह बात कही जा रही है।

सुख स्वभाव में ही है। जीव अपने स्वभाव को जाने बिना अनन्त बार पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि का भव धारण किया करता है। यदि किसी आदमी से कह दिया जाए कि 'तू तो गधे जैसा है' तो वह झगड़ा करने को तैयार हो जायेगा; किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं है कि अन्तरंग में जिन विकारी भावों का सेवन कर रहा है, उनका सम्यग्ज्ञान के द्वारा जब तक नाश नहीं कर दिया जाता तब तक उसके अज्ञानभाव में गधे के अनन्त भाव धारण करने की शक्ति विद्यमान है।

यदि अपने में भूलरूप विपरीत मान्यता न हो तो उस भूल के फलस्वरूप यह अवतार (जन्म-मरण) ही क्यों हो? और यदि वह भूल सामान्य हो तो उतने भव न हों, किन्तु वह भूल असामान्य-असाधारण है। निज को निज की ही भ्रान्ति है। आत्मस्वभाव की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकार करके जब तक वह भूल दूर नहीं कर दी जाती तब तक उस भूलरूप विपरीतभाव में अनन्त भाव तैयार ही समझना चाहिए।

जैसे जल को मलिनरूप ही माननेवाले को स्वच्छ-मीठे जल का अनुभव नहीं हो पाता और वह मैला जल ही पीता है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति पर से भिन्न है, किन्तु वह अपनी स्वाधीनता को भूलकर पुण्य-पाप-विकार को अपनेरूप या हितकर करनेयोग्य मानता है, और उस मलिनभाव तथा उसके फलस्वरूप भव-भ्रमण की आकुलता का ही अनुभव करता है।

अकेली वस्तु में स्वभाव से विकार नहीं होता, किन्तु उसमें यदि निमित्तरूप दूसरी वस्तु हो तो उस निमित्त की ओर झुकाव करने से विकार होता है। आत्मा के विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु जड़कर्म हैं। उन जड़कर्मों के सम्बन्ध का अपने में आरोप करके जीव राग-द्वेष करता है।

जड़कर्म और बाह्य-संयोगी वस्तु के अनेक प्रकार हैं। उस बाह्य-वस्तु के आश्रय से पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दान इत्यादि अनेक प्रकार के शुभभाव तथा हिंसा, चोरी, असत्य इत्यादि अनेक प्रकार के अशुभभाव होते हैं। यह शुभ और अशुभ दोनों बंधनभाव हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाये। यहाँ तो यह बात न्याय-पुरस्सर जानने के लिए कही गयी है कि पुण्य-पाप की मर्यादा कितनी है। क्योंकि ऐसा मानने और मनवानेवाले बहुत से लोग हैं कि पुण्य से धर्म होता है अर्थात् विकार से-बन्धनभाव से आत्मा का अविकारी धर्म होता है। यहाँ तो अविरोधरूप में यह कहता जा रहा है कि जन्म-मरण कैसे दूर हो और वर्तमान में आत्मसाक्षात्कार कैसे हो।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के पास से जो सनातन सत्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य लाये थे उसकी अद्भुत रचना समयसार शास्त्र के रूप में हुई है, उसी अविरोधी तत्त्व को यहाँ कहा जाता है।

अल्प आयुष्मान हे भाई! जब अपूर्व समझ का सुयोग मिला तब यदि नहीं समझेगा

तो फिर अनन्त काल में भी ऐसा उत्तम सुयोग मिलना दुर्लभ है। जैसे पिता पुत्र को कहता है कि भाई, यह दो महीने सच्चे मौसम के हैं; इसलिए कमाने के बारे में सावधानी रख। इसी प्रकार आचार्यदेव संसार पर करुणा करके कहते हैं कि अनन्त भवों का अल्प काल में ही नाश करने का यह अवसर मिला है, इसलिए सावधानीपूर्वक आत्मस्वरूप को यथार्थ पहचान ले। यदि अब चूक गया तो फिर उत्तम अवसर नहीं मिलेगा।

अशुभभाव को दूर करने के लिये शुभभाव के अवलम्बन का निषेध नहीं है किन्तु जीव ने आत्मा का निर्मल चिदानन्द अखण्डानन्द स्वतन्त्रत्व सच्चे गुरुज्ञान से पहले कभी नहीं सुना था और न माना था, न कभी अनुभव किया था इसलिए यहाँ पर उस अपूर्व तत्त्व की बात कही जाती है।

बाह्य सुधार करो, व्यवहार सुधारो—ऐसी लौकिक बातें इस जगत में अनादि काल से कही जा रही हैं, वह अपूर्व नहीं हैं किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो पुण्य-पाप के विकारी भावों को अपना स्वरूप मानता है, उनसे अपना भला मानता है, शुभ में और पुण्य में उत्साह दिखाता है, उसका आदर करता है, उसे अविकारी भगवान आत्मा के प्रति आदर नहीं है, किन्तु अनादर ही है। उसे परमार्थ साक्षीस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है, इसलिए पर का आश्रय लेकर अभूतार्थ व्यवहार को अपना मानता है, तब भूतार्थदृष्टि-सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से स्वभाव का अनुभव करता है। यहाँ पर जिसने स्वयं पुरुषार्थ किया उसी को अन्तरंग साधन कहा है, देव-गुरु-शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग रह जाते हैं। देव-गुरु-शास्त्र भी परवस्तु हैं, उसके आधीन तेरा अन्तरगुण नहीं है।

'हे भगवान! मुझे तार देना' यों कहनेवाले ने अपने में सामर्थ्य नहीं है ऐसा माना अर्थात् अपने को परमुखापेक्षी माना। परमार्थ से मैं नित्य स्वावलम्बी हूँ, इस प्रकार यथार्थ समझने के बाद यदि व्यवहार से भगवान का नाम लेकर कहे कि तू मुझे तार देना तो यह जुदी बात है। किन्तु जो अपने को शक्तिहीन मानकर 'दीन भयो प्रभु पद जपे मुक्ति कहाँ से होय?' मुझमें शक्ति नहीं है तू मुझे तार दे, इस प्रकार बिल्कुल रंक होकर प्रभु-प्रभु! रटा करे तो मुक्ति कहाँ से होगी? भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें किसी के प्रति राग नहीं है तथा कोई किसी को तार नहीं सकता। मैं स्वावलम्बी पूर्ण हूँ ऐसे स्वभाव की प्रतीति से अज्ञान

को दूर करके जिसे स्वयं भगवान होने की श्रद्धा नहीं है वह दीनहीन रंक बनकर दूसरे के पास से मुक्ति की आशा रखता है। वह भगवान से कहता है कि हे भगवान! तू मुझे तार देना, इसका अर्थ यह हुआ कि तू ही मुझे अभी तक चक्कर में डाल रहा है और तूने ही अभी तक मुझे दु:खी किया है। इस प्रकार वह उल्टा भगवान को ही गालियाँ देता है; वह वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं करता किन्तु उसे रागी मानकर उनकी अस्तुति करता है अर्थात् वह राग की ही पूजा और राग की ही भक्ति करता है।

वह कहता है कि 'हे भगवान! तू भूल दूर कर, मुझे तार दे, तू मुझे मुक्ति दे' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने तो भूल की ही नहीं, मुझे राग-द्वेष दूर नहीं करना है; तू मुझे तार दे या तू मुझे मुक्ति दे दे, इस प्रकार के भाव उसमें अप्रगटरूप से आ जाते हैं। भगवान किसी को तार दें अथवा राग-द्वेष का नाश कर दें ऐसा त्रिकाल में कदापि नहीं हो सकता।

लौकिक व्यवहार में विनय की दृष्टि से कहा जाता है कि हम तो बड़े-बूढ़ों के पुण्य से खा रहे हैं, किन्तु कहनेवाला अपने मन में यह भी समझता है कि बड़े-बूढ़ों के पुण्य को स्वयं नहीं भोगता। इसी प्रकार ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग को पहचानकर 'बोहिदयाणं' तरण-तारण हो इस प्रकार विनय से, व्यवहार से, उपचार से कहता है। किन्तु वह समझता है कि मैंने अपनी ही भूल से परिभ्रमण किया है और मैं ही अपनी भूल को दूर करके स्वतन्त्र स्वभाव की प्रतीति से स्थिर होकर वीतराग हो सकता हूँ। यदि देव-गुरु-शास्त्र से तर सकते होते तो उनका योग तो प्रत्येक व्यक्ति को अनन्त बार मिल चुका है तथापि मुक्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त से किसी का कार्य नहीं हो सकता।

हे भाई! यह समझने की बात है, उसे ध्यानपूर्वक समझना। ऐसी बात को सुनने का सुयोग बारम्बार मिलना दुर्लभ है। इसे समझने के लिये अपनी निज की तैयारी होनी चाहिए। जैसे 'मिश्री' शब्द सुनने से अथवा किसी को मिश्री खाते हुए देखने से मीश्री का स्वाद नहीं आ जाता किन्तु स्वयं मिश्री का टुकड़ा लेकर अपने मुँह में डाले और उसके स्वाद का अनुभव करे तो मिश्री का यथार्थ स्वाद ध्यान में आता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीरूप है, उसकी बात सुनने से अथवा उसका अनुभव करनेवाले किसी ज्ञानी को देखने से स्वभाव का निराकुल सहज आनंद नहीं आ सकता; किन्तु सत्समागम से स्वयं जानकर और फिर नित्य असंयोगी पूर्णस्वरूप को ज्ञान में दृढ़ करके

अन्तरंग में स्वाश्रय शुद्धनय से अभेदस्वभाव का अनुभव करे तो विकल्प-भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वरूप के आनन्द के स्वाद का अनुभव होता है।

त्रिकाल के ज्ञानियों ने यही सूक्ष्म तत्त्व कहा है, उसकी प्राप्ति के लिये किसी बाह्य साधन का अवलम्बन है ही नहीं, ऐसा निरपेक्ष तत्त्व वीतराग के मार्ग में है। उसका विरोध करनेवालों को तत्त्व की खबर नहीं है। जो अनन्त शुद्धता से विपरीत हुआ वह अशुद्धता में अनन्त है और जो अनुकूल होता है, वह स्वभाव की शक्ति में अनन्त है। जो विकार में अनन्तगुनी विपरीतता करता है, वह भी स्वतन्त्र है, उसकी पात्रता के बिना अनन्त तीर्थंकरों का साक्षात् उपदेश भी उसके लिये निमित्त नहीं हो सकता। यदि दूसरे के आधार से समझ में आ सकता हो तो स्वतन्त्रता ही न रहेगी। तत्त्व का स्वरूप भले ही ज्ञानी के पास से ही सुनने में आये किन्तु अपनी निज की तैयारी के बिना समझ में नहीं आ सकता।

पर-संयोग के आश्रय से उत्पन्न शुभभाव क्षणभर में बदलकर अशुभभाव होकर नरक-निगोद में खींच ले जायेगा, इसलिए अखण्ड निर्मलस्वभाव का आश्रय कर तो नित्य स्थिर रहेगा, किसी भी समय और किसी भी संयोग में बदलेगा नहीं।

'अपने पुरुषार्थ के द्वारा' कहकर आचार्यदेव ने अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है। कोई कहता है कि—कर्म बाधा देते हैं, जब काल पके तब धर्म हो, कोई साधन मिले तब धर्म करें। ऐसा कहनेवाले सभी लोगों का निषेध करके आचार्यदेव कहते हैं कि मात्र आत्मा से, स्वाश्रय में चाहे जिस क्षेत्र में चाहे जिस काल में धर्म हो सकता है स्वभाव तो जब देखो तब स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानानन्द शान्तिरूप ही है। पर-निमित्त के भेद से रहित निर्विकार वीतराग ज्ञानमूर्ति है।

अहो! इस अपूर्व ग्रन्थ में कैसा तत्त्व भरा हुआ है। प्रत्येक गाथा में अपूर्व अमृत निहित है। ऐसी अपूर्व बात जहाँ-तहाँ सुनने को नहीं मिलती इसलिए किसी को नई लगे और यदि पूर्ण श्रद्धा न जमे तो भी तीन लोक और तीन काल में वह सत्य बात बदल नहीं सकता। यदि समझ में न आये तो परिचय प्राप्त करके अविरोध स्वभाव को समझकर मानना ही चाहिए।

यदि रुपया कमाना हो तो उसमें कोई संयोग अथवा काल की प्रतीक्षा नहीं करता, किन्तु धर्म के लिये बहाने बताये जाते हैं कि ऐसा होना चाहिए और वैसा होना चाहिए।

जिसे आत्मा की रुचि हो गयी है, वह वायदे नहीं किया करता; वह कालदोष अथवा क्षेत्रदोष नहीं बतलाता। अनन्त जन्म-मरणरूप भव के त्रास से मुक्त होने का उपाय सुनने को मिले और तैयारी न हो तो समझना चाहिए कि उसे आत्मा की रुचि नहीं है।

निर्विकार दृष्टि को भूलकर बाह्य प्रवृत्ति को ही धर्म माननेवाले अन्तरंग के सत्यधर्म को न पहचानें तो वस्तु का जो निरावलम्बी स्वाश्रित मार्ग है, वह त्रिकाल में भी नहीं बदल सकता। पुण्य से, शुभ से, देह की क्रिया से अर्थात् पराश्रय से धर्म माननेवालों को सर्वज्ञ भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने डंके की चोट जगत के समक्ष घोषित किया है। सत्य गोप्य नहीं है और वह ऐसा भी नहीं है कि जिसकी बात विशाल सभा में नहीं की जा सकती हो।

जैसे कोई अपने घर पाँच सेर सोना लाये तो उसे देखकर ही स्त्री को सन्तोष हो जाता है कि इसमें से भविष्य में गहने बनेंगे। उन गहनों की सारी अवस्था नक्कासी वर्तमान में सोने में निहित है। सोने में जेवर-गहनेरूप होने की पूरी शक्ति है, ऐसा विश्वास वर्तमान में है, इसी प्रकार चैतन्य आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द की मूर्ति है, उसे त्रिकाल की सम्पूर्ण अवस्था और अनन्त गुण के पिण्डरूप वस्तुरूप में वर्तमान में लक्ष्य करके अभेद ध्रुवरूप देखें तो उसमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इत्यादि समस्त निर्मल अवस्थाएँ वर्तमान में ही शक्तिरूप में प्राप्त हैं। वह क्योंकर प्रगट होंगी इसकी चिन्ता अखण्ड ध्रुवदृष्टि वाले को नहीं होती। अखण्ड परमार्थ की दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय प्रगट होकर एकरूप सामान्य स्वद्रव्य में मिल जाती है। इसलिए त्रिकाल एकरूप ज्ञायक आत्मा को देखनेवाली अखण्ड ध्रुवदृष्टि में किसी अवस्था के भेद अथवा प्रकार का विकल्प नहीं उठता। ऐसा आत्मदर्शनरूप श्रद्धा का जो अभेद विषय है, वह परमार्थ है और वही भूतार्थ-सत्यार्थ कहने योग्य है।

यदि आत्मा एकांत नित्य ही हो और अवस्था से बदलने का उसका स्वभाव ही न हो तो दुःख दूर करने का उपाय करने को और यथार्थ ज्ञान करने को कहना ही वृथा हो जायेगा। किन्तु आत्मा एकान्तरूप से अभेद नहीं है, उसमें पराश्रय से, अज्ञानभाव से वर्तमान में राग-द्वेष होते हैं और अविकारी स्वभाव की प्रतीति के द्वारा भीतर स्थिर होकर राग को दूर करके निर्मल अवस्थारूप भेद भी आत्मा में हैं।

राग-द्वेष-विकार त्रिकाली ज्ञायक शक्तिरूप वस्तु में नहीं है किन्तु वर्तमान अवस्था में है। यदि वर्तमान अवस्था में भी (संसारी जीवों के) विकार न हो तो 'तू समझ; राग को दूर करके पूर्ण निर्मलता प्रगट कर'—इस प्रकार विकार को दूर करने की बात ही क्योंकर कही जा सकेगी?

शुद्ध परमार्थदृष्टि का विषय अभेद है—यह कहने में समस्त द्रव्य को पर से भिन्न और निज से अभिन्न कहने की अपेक्षा है; किन्तु वर्तमान अवस्था में भेदवस्तुत्व तथा विकार में पर-निमित्त की उपस्थिति यदि कोई वस्तु ही न हो तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्व व्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो जायेगा। और ऐसा होने से सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आ जायेगा।

सर्वज्ञ वीतराग ने पूर्वापर विरोध रहित, पर से भिन्न अविकारी स्वरूप भेद-अभेदरूप से कहा है, उसे मध्यस्थ-शान्तदृष्टि करके अविरोधी सत्य को स्वीकार करके उसका न्याय से आदर करके अन्तरंग में पचाना चाहिए।

एक कूटस्थ ब्रह्म को मानने में क्या दोष है सो यहाँ बतलाते हैं:—

(१) यदि वस्तु एक ही हो और दूसरी वस्तु न हो तो समझनेवाला और समझानेवाला इस प्रकार का भेद नहीं रह सकता। भेद तो प्रत्यक्ष है फिर भी भेद को यदि भ्रम माने तो जाननेवाले का ज्ञान मिथ्या है।

(२) क्षेत्र से यदि सब सर्वव्यापक हो तो भी उपरोक्त दोष आता है।

(३) काल से आत्मा नित्य ही हो और वर्तमान अवस्था से बदलना न होता हो अर्थात् यदि एकान्त नित्य ब्रह्म वस्तु हो तो अशुद्धता को दूर करके शुद्धता को प्रगट करना ही नहीं बन सकेगा।

(४) भाव से यदि सभी आत्मा सदा एक शुद्ध ब्रह्मरूप पूर्ण ज्ञानगुण मात्र हो और प्रगट अवस्था में कर्म-शरीरादि का संबंध न हो अर्थात् सर्वथा भेदरहित, कार्य-कारण रहित हो तो इस प्रकार एकान्त मानने से मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का प्रसंग आयेगा।

सर्वज्ञ वीतराग का निर्दोष उपदेश अपेक्षापूर्वक यथार्थ धर्मों को कहनेवाला है।

एक-एक वस्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न है। उसमें नित्य-अनित्य, भेद-अभेद और शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि जो प्रकार हैं उस प्रकार मानना सो अनेकान्त है। एक वस्तु में वस्तुतत्व की निष्पादक (उपजानेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है।

आत्मा को अविकारी कहने पर उसमें विकार की अपेक्षा आ जाती है। विकार और अविकार दोनों एक भाव नहीं हैं किन्तु दो हैं। वास्तविक त्रिकाली स्वभाव में राग-द्वेष विकार नहीं है किन्तु अवस्था में निमित्ताधीन विकार है। यदि अवस्था में भी विकार न हो तो संसार के दु:ख कौन भोगे ? देह-इन्द्रियों को सुख-दु:ख की खबर नहीं होती इसलिए प्रत्येक आत्मा भिन्न है और जड़ परमाणु भिन्न हैं। यदि जीव को विकृत होने में निमित्तरूप से अन्य वस्तु है ऐसा न माने और वस्तुरूप से सबको मिलाकर एक आत्मा माने, क्षेत्र से सर्व व्यापक जड़ में भी माने, काल से एकान्त नित्य कूटस्थ माने, गुण से नित्य ब्रह्मरूप अभेद माने, भाव से बिल्कुल शुद्ध वर्तमान अवस्था में भी विकाररहित माने तो ऐसे एकान्तवादी से पूछना चाहिए कि राग-द्वेष की आकुलता कौन करता है ?

यदि कोई कहे कि 'भाग्य ही सुखी-दु:खी करता है, वही बनाता-बिगाड़ता है तथा इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियाँ ही भोगती हैं; उससे हमें क्या लेना-देना है ?' तो उसे शरीर पर अग्नि का डमा देकर देखना चाहिए कि कैसा समभाव रहता है ? दोष (राग-द्वेष) तो करे स्वयं और उसका आरोप लगाये दूसरे पर ? भाग्य और ईश्वर ही सब कुछ करता है तथा बनाना-बिगाड़ना भी उसी के आधीन है, ऐसा मानना सो मूढ़ता है, अविवेक है।

सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में रागादि विकल्प को अविद्यमान कहने का कारण यह है कि जो विकल्प है सो दूर हो सकता है, क्योंकि वह संयोगाधीन है। वह वर्तमान क्षणिक अवस्था में है। उसके अतिरिक्त अखण्ड त्रिकाली ध्रुवस्वभाव वर्तमान में पर-निमित्त के भेद से रहित पूर्ण निर्मल है, उस परमार्थ के लक्ष्य से विकार दूर हो सकता है इसलिए उसे अभूतार्थ कहा है।

त्रिकाली भूतार्थ ध्रुवस्वभाव को मुख्यतया लक्ष्य में लेकर यदि उसमें अभेद परमार्थदृष्टि का बल न लगावे तो वर्तमान विकारी अवस्था दूर नहीं होगी। इसी प्रकार यदि यह माने कि आत्मा सर्वथा भूल ही नहीं करता तो वह भूल-विकार को दूर करने का उपाय

नहीं करेगा और कभी भी भूल दूर न होगी। विकल्प को नष्ट करने के लिये अभेद का अवलम्बन कहा है। निर्मल, निर्विकल्प, अभेद का विषय करनेवाली श्रद्धा का अखण्ड लक्ष्य करने के लिये तथा अखण्ड गुण में स्थिरता-एकाग्रता करने के लिये अखण्ड गुणरूप वस्तु पर बल करे तो विकल्प छूटकर निर्विकल्प दशा का अनुभव होता है। इसी अपेक्षा से कहा है कि भेद-अभेदरूप से वस्तु को समझकर अखण्ड, निर्मल, ज्ञायक, ध्रुवस्वभाव में अभेद लक्ष्य करे तो विकल्प की पकड़ छूटकर भेद का लक्ष्य गौण होने से राग-द्वेष दूर हो जाता है। वहाँ ऐसे विकल्प नहीं करने पड़ते कि राग-द्वेष को दूर करूँ या पुरुषार्थ करूँ।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है क्योंकि संयोगाधीन शुभाशुभ विकारीभाव क्षणिक अवस्था मात्र के लिये हैं, उसका पक्ष अथवा उसके भेद का लक्ष्य रखने का फल संसार ही है। अभेद स्वभाव के लक्ष्य से विकारीभाव दूर हो सकता है, जो दूर हो सकता है, वह अभूतार्थ है।

कर्म के संयोग के आश्रय से शुभाशुभ विकार होता है, उसे अपना न माने, हितकर न माने इतना ही नहीं किन्तु गुण-गुणी के भेद पर भी लक्ष्य न करे और त्रैकालिक ध्रुव एकरूप निर्मल स्वरूप को अभेदरूप से लक्ष्य में ले सो शुद्धनय है।

जैसे पानी स्वभाव से गर्म नहीं है, वह वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से गर्म है, वह उष्णता पानी का वास्तविक स्वभाव नहीं है, इस प्रकार विश्वास करे तो पानी को शीतल करने का पुरुषार्थ करके ठण्डा पानी प्राप्त किया जा सकता है। अग्नि के निमित्त से पानी गर्म होता है, यह न माने और अग्नि को भी न माने तथा यह भी न माने कि पानी की उष्ण अवस्था पर-संयोग से हुई है जो कि दूर की जा सकती है तो कहना होगा कि उसे पानी के वास्तविक शीतल-स्वभाव की खबर नहीं है। जो पानी को गर्म ही मानता है, वह उसे ठण्डा करने का उपाय नहीं करेगा, किन्तु पानी का शीतलस्वभाव उष्ण अवस्था के समय भी बना रहता है, यह जान ले तो वर्तमान अग्नि के संयोग और उष्ण अवस्था का लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण शीतलस्वभाव पर दृष्टि कर सकता है। उष्ण अवस्था वर्तमान मात्र के लिये है उसका ज्ञान करे और उष्ण अवस्था के समय भी पानी में शीतलता भरी हुई है यों दोनों प्रकार मानकर गर्म पानी के शीतल स्वभाव को जानना सो परमार्थ दृष्टि

है और अग्नि के निमित्त से पानी वर्तमान में उष्ण है, इस प्रकार पर की अपेक्षा से जानना सो व्यवहार है।

भगवान आत्मा वीतराग ज्ञानानन्दघन है, वह स्वयं उसकी वर्तमान अवस्था में कर्म के संयोगाधीन होता है, तब अज्ञानी यह मानता है कि मैं राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है किन्तु जो स्वाश्रयी दृष्टि के द्वारा वर्तमान निमित्ताधीन विकार का लक्ष्य गौण करके त्रैकालिक एकरूप निर्मल ध्रुवस्वभाव को वर्तमान में भी पूर्ण सामर्थ्यरूप से अभेदरूप से जानता है, सो परमार्थदृष्टि है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है, स्वाश्रित स्वभाव से त्रिकाल (वर्तमान में भी) शुद्ध है और पराश्रयरूप व्यवहार में वर्तमान अवस्था में अशुद्ध भी है। इस प्रकार एक वस्तु में दो प्रकार मानना सो स्याद्वाद है। यदि सब एक ही हो-शुद्ध ही हो और वर्तमान अवस्था में (संसारी जीवों की) भूल-अशुद्धता न हो तो ऐसे उपदेश की आवश्यकता ही न रहे कि समझ को प्राप्त कर, भूल को दूर कर अथवा राग को दूर करके निर्मल हो जा।

व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान अवस्था सर्वथा अयथार्थ है। जो वस्तु है, उसका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु मूल वस्तुरूप में स्थिर रहकर प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था को बदला करती है। अवस्था के परिवर्तन को प्रतिक्षण देखकर यदि कोई उसे भ्रम-माया कहे तो वह गलत है। जो यह कहता है कि रस्सी में सर्प की मान्यता कर लेना भ्रान्ति है, उसे यह भी स्वीकार करना ही होगा कि रस्सी अलग है, उसमें सर्प की कल्पना करनेवाला अलग है और सर्प अलग है। इस प्रकार तीन भिन्न वस्तुएँ हैं।

प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न है। राग-द्वेष करने में पराश्रयरूप अन्य वस्तु की उपस्थिति होती है। एक से अधिक वस्तु हो तभी भ्रान्ति होती है और तभी दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है।

जैसे अकेला सोना अपने कारण से अशुद्ध नहीं है किन्तु अन्य धातु के आरोप से वर्तमान अवस्था में वह अशुद्ध कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में अनादि काल से प्रत्येक समय के प्रवाहरूप से वर्तमान में विद्यमान अवस्था में राग-द्वेष अज्ञानरूप भ्रान्ति होने का मूल कारण अपना अज्ञान है और उसके निमित्तरूप कर्म अन्य वस्तु है। इस

प्रकार पराश्रय से होनेवाले विकार को अपना स्वरूप मानना सो अज्ञान है। 'पुण्य-पाप, राग-द्वेष वर्तमान में हैं ही नहीं, इन्द्रियों के विषय को इन्द्रियाँ ही भोगती हैं' इस प्रकार अपने को अखण्ड साक्षी-ब्रह्मरूप ही एकान्तत: माने तो भी वह अज्ञानी-स्वच्छन्दी कहलायेगा। भेदवस्तु ही नहीं तथा मलिनता आत्मा की अवस्था में व्यवहार से भी नहीं है यह कहाँ से निश्चय किया? क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना और राग-द्वेष इत्यादि हैं, इसीलिए तो वर्तमान में दिखायी देते हैं यदि वे सर्वथा न हों, राग-द्वेष आकुलता वर्तमान अवस्था में भी न हो तो अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होना चाहिए किन्तु वर्तमान अवस्था में वैसा नहीं है। स्वभाव में शक्तिरूप से अनन्त आनन्द है किन्तु वर्तमान में वह आनन्द प्रगटरूप में नहीं है। यदि वर्तमान में पूर्ण निर्मल आनन्द प्रगट हो तो कोई पुरुषार्थ करने की, यथार्थ ज्ञान करने की अवस्था राग-द्वेष को दूर करने की आवश्यकता ही न रहे अर्थात् ऐसी किसी भी बात के लिये अवकाश न रहे।

बहुत से जीवों ने अनन्त काल में कभी भी एक क्षणभर के लिये यथार्थ तत्त्व का विचार नहीं किया। जैसे पर्वत पर बिजली गिरने से जो दरार पड़ जाती है वह फिर नहीं जुड़ सकती, इसी प्रकार यदि एक बार अपना अनादिकालीन अज्ञान दूर करके ध्रुववस्तु की प्रतीति करे तो ग्रन्थिभेद हो जाये अर्थात् मिथ्यागाँठ का नाश हो जाये। राग-द्वेषरूप विकार, पर का कर्तव्य और देहादि की क्रिया का स्वामित्व मानना सो मिथ्यात्व है, उसका स्वाश्रय के द्वारा नाश करके त्रैकालिक निर्मल निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करे तो फिर कदापि अज्ञान न हो अर्थात् फिर यह कभी नहीं माना जायेगा कि आत्मा और राग-द्वेष एक हैं।

यदि वस्तुदृष्टि से देखा जाये तो आत्मा ध्रुवरूप से स्थिर रहता है इस अपेक्षा से वह नित्य है। यदि वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो क्रमश: अवस्था को बदलने का स्वभाव है, इस अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार समस्त गुणों को न मानकर एक ही गुण को माने अथवा सभी में एक ब्रह्मरूप वस्तु की सत्ता से अभेदभाव माने तो वह एकान्तिक मिथ्या मान्यता है।

सर्वज्ञ के उपदेश में एकपक्षरूप कथन नहीं है अर्थात् सर्वथा एकान्त शुद्ध, एकान्त अशुद्ध अथवा नित्य या अनित्य इस प्रकार सर्वथा एकान्त न कहकर प्रयोजनवश मुख्य-

गौणदृष्टि करके प्रत्येक स्वभाव को यथार्थ बतलाते हैं। आत्मा त्रैकालिक द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है और वर्तमान अवस्था में परावलम्बनरूप विकार करता है उतना एक-एक समय की अवस्थारूप से अशुद्ध भी है। इस प्रकार जो स्वाश्रित स्वभाव है सो निश्चय है, पराश्रित भेद सो व्यवहार है। यह दोनों प्रकार जान लेना चाहिए।

'मैं रागी-द्वेषी हूँ; पुण्य करने योग्य है, देह की क्रिया करने से गुण होता है'—इस प्रकार अज्ञानरूप व्यवहार का ग्रहण अर्थात् परावलम्बन का मिथ्या आग्रह संसारी जीवों के अनादि काल से चला आ रहा है। निर्विकारी अभेद ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के बाद भी वर्तमान अवस्था में शुभरागरूप भाव दिखायी तो देता है किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि रखनेयोग्य अथवा आदरणीय नहीं मानता। शुभ-अशुभ विकार का स्वामित्व अथवा कर्तृत्व मानना उसे सर्वज्ञदेव ने मिथ्यादर्शन शल्य कहा है।

'स्वतन्त्ररूप से करे सो कर्ता और कर्ता का इष्ट सो कर्म है।' जो आत्मा को देहादि परवस्तु की क्रिया का कर्ता तथा पुण्य-पाप विकार का कर्ता मानता है, उसकी मान्यता विकृत है, उस विकार का वह माननेवाला स्वयं कर्ता है और विकार उस कर्ता का (कर्म) कार्य है। जिसने अविकारी निर्मल स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार नहीं किया वे अनादि काल से विकारी कर्तव्य का उपदेश देनेवाले हैं।

ज्ञानी का इष्टकर्म ज्ञानभाव है, इसलिए आत्मा ज्ञान का ही कर्ता है, वह सदा अपने अरूपी ज्ञानस्वभाव से ज्ञातास्वरूप है, इसलिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता। जिसे ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह अज्ञानभाव से यह मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ, देहादिक क्रिया करता हूँ, पुण्य का सहारा चाहिए, ऐसे अशुद्ध व्यवहार को ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियों का संसारपक्ष अनादि से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चला जायेगा। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उपदेश देनेवाले और सुननेवाले बहुत होते हैं।

बाह्य क्रिया करने की बात लोगों के मन में जल्दी जम जाती है जैसे इतनी शारीरिक क्रिया करो, जप करो, दान करो तो धर्म होगा और फिर यह लिया, वह छोड़ा इत्यादि सब दिखायी देता है यों मानता है क्योंकि अनादि काल से वैसा परिचय है, इसलिये उन बाह्य बातों का मेल अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के पुराने खाने में झट फिट कर देता है। और जब उससे उल्टी बात सुनता है कि पुण्य से, शुभभाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता,

पुण्य विकार है, विकार से अविकारी धर्म कदापि नहीं हो सकता तो वह चिल्ला उठता है कि अरे रे! मेरे व्यवहार पर तो पानी फेर दिया। पैसे वालों को दानादि का अभिमान और देह पर दृष्टि रखनेवालों को उनकी मानी हुई क्रिया का अभिमान है किन्तु जब वे अपनी मान्यता से विपरीत बात सुनते हैं, तब उन्हें बड़े जोर का धक्का लगता है किन्तु फिर भी सत्य को क्यों छुपाया जाये?

जहाँ देखो वहाँ व्यवहार का झगड़ा है और जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है, ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध दिखायी देता है। सब अपने भाव से स्वतन्त्र हैं। व्यवहार का झगड़ा अनादि काल से संसारपक्ष में है और अनन्त काल तक रहेगा।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि—

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंतरे,
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंतरे॥

परमार्थस्वरूप आत्मा को अविरोधरूप में समझनेवाले और उसका उपदेश देनेवाले विरले ही होते हैं। पराश्रयरूप व्यवहार का पक्ष-देह की क्रिया हम करें तो हो, समाज में ऐसा सुधार कर दें, ऐसा न होने दें, अब बातें करने का समय नहीं है, काम किये बिना बैठे रहने से नहीं चलेगा। इस प्रकार माननेवाले और कहनेवाले अनादि काल से बहुत से लोग हैं। मानो परवस्तु अपने ही आधीन है और स्वयं पर के ही आधार अवलम्बित है। जो यह मानता है कि पर मेरा कार्य कर सकता है, वह अपने को अशक्त मानता है; उसे अपनी स्वाधीन अनन्त शक्ति का विश्वास नहीं है, इसलिए वह पराश्रयरूप व्यवहार को चाहता है। व्यवहार करनेयोग्य है, शुभभावरूप विकार किये बिना अविकारी नहीं हुआ जा सकता, ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्या आग्रह को जीव ने अनादि काल से पकड़ रखा है और ऐसे ही उपदेशकों के द्वारा उन बातों की पुष्टि मिला करती है।

'बोये पेड़े बँबूल तो, आम कहाँ से खाय'

सर्वज्ञ भगवान ने भी अशुभ से छूटकर परमार्थ वस्तु को समझने में बीच में आनेवाले शुभ व्यवहार का उपदेश शुद्धनय में निमित्तमात्र जानकर बहुत किया है किन्तु उसका फल संसार ही है। जीव अन्तरंग तत्त्व की सूक्ष्म बात को तो समझता नहीं और जहाँ बाह्य में व्रत, तप आदि शुभभाव की प्रवृत्ति की बात आती है वहाँ यह अत्यन्त प्रसन्न होकर

और उत्साहित होकर कहता है कि वह हमारे व्यवहार की बात आयी। बाह्य प्रवृत्तिहीन की श्रद्धा और स्थिरता क्या है, विकल्प रहित मन के सम्बन्ध से रहित अन्तरंग का धर्म क्या है यह कभी नहीं सुना तो वह समझे कहाँ से ?

भाई ! इस मनुष्यभव में उस ज्ञान प्राप्ति का उत्तम सुयोग मिला है जो अनन्त भव के दु:ख दारिद्र को दूर कर सकता है। बारम्बार ऐसा संयोग नहीं मिला करता। तू प्रभु है, तुझे अपनी दया नहीं आती ! जन्म-मरण की पराधीनता का अपार त्रास है। बहुत हो चुका ! अब क्षणभर के लिये भी संसार नहीं चाहिए। राग-द्वेष अज्ञान रहित जो सत्-स्वरूप है, उसी को समझना है, उसी में स्थिर होना है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिए; ऐसा निर्णय करके पूर्व मान्यता का आग्रह यथार्थ ज्ञान के द्वारा छोड़कर निर्दोष सत्समागम से स्वरूप को समझना चाहिए। अपनी तैयारी के बिना, आन्तरिक उत्साह के बिना क्या हो सकता है ? जिनवाणी में अशुभ से बचने के लिये शुभ का उपदेश दिया गया है किन्तु उस शुभ की मर्यादा पुण्यबन्ध तक ही सीमित है।

व्यवहार भेद करने के लिये नहीं है किन्तु जो परमार्थस्वरूप वीतरागी, निर्विकल्प, ज्ञायकस्वरूप है, उसे पकड़कर उसमें स्थिर होने के लिए है, ऐसा ध्येय प्रथम से ही होना चाहिए। परनिमित्त के भेद से रहित अन्तरंग में वस्तु परिपूर्ण है। यदि यह समझ ले तो यह कहा जा सकता है, कि बीच में आनेवाला व्यवहार (शुभराग) उपचार से निमित्तरूप से उपस्थित था, किन्तु शुभराग तो संसार ही है, शुभ के फल से बड़ा देव हो या राजा हो और अशुभ के फल से भले ही नरक का नारकी हो; वे दोनों संसारपक्ष की अपेक्षा से समान ही हैं, इसलिए शुभभावरूप व्यवहार से भी आत्मा को कोई लाभ नहीं ऐसा जान लेने पर भी व्यवहार आयेगा, किन्तु यदि उसमें धर्म माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है।

प्रथम भूमिका में भी साधारण सज्जन के योग्य अच्छा आचरण तो होता ही है। ब्रह्मचर्य के प्रति प्रीति होती है, अनीति का त्याग होता है, सत्य का आदर होता है, किन्तु यह सब कुछ अपूर्व नहीं है ऐसा तो अनन्त बार चित्तशुद्धि का कार्य करके और उसी में सब कुछ मानकर जीव अटक गया है तथापि उसका (शुभ का) निषेध नहीं है। क्योंकि जो तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ में फँसा हुआ है, उसके अन्तरंग में बिल्कुल अविकारी सच्चिदानन्द भगवान आत्मा की बात कैसे जम सकती है ? इसलिए पहले अविरोधी तत्त्व

को समझने की पात्रता के लिये शुभ व्यवहार के आँगन में आना चाहिए, किन्तु यदि शुभ में ही रत होकर उसकी अपेक्षा से रहित, निर्मल अविकारी स्वभाव की श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धि के उस शुभ व्यवहार का फल संसार ही है। जिसे जीव अनन्त बार कर चुका है।

निरावलम्बी तत्त्व की दृष्टि होने के बाद जब तक वीतरागी नहीं हो जाता तब तक अशुभ से बचने के लिये शुद्धदृष्टि के लक्ष्य से युक्त व्रत, तप, पूजा, भक्ति, प्रभावना इत्यादि शुभभाव सम्बन्धी प्रवृत्ति में ज्ञानी भी लगता है, परन्तु जो उस शुभभाव में ही धर्म मानता है, अथवा यह मानता है कि उसके द्वारा गुण प्रगट होते हैं वह संसार में परिभ्रमण करता है।

जीव को कभी शुद्धनय का पक्ष नहीं हुआ। पर का आश्रय, उपाधि अथवा विकार मुझमें नहीं है, मैं अविनाशी अखण्ड ज्ञाता-दृष्टा हूँ ऐसे शुद्धनय से जीव ने शुद्ध स्वभाव की दृढ़ता कभी अनन्त काल में भी नहीं की। मैं परनिमित्त के सम्बन्ध से रहित अकेला स्वतन्त्रतया पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी श्रद्धा का बल कभी अन्तरंग में उद्‌भूत नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तुझे अपनी ही बात समझ में न आये यह कैसे हो सकता है। कभी अन्तरंग में परमार्थ से हिताहित का निर्णय नहीं किया, उसका उपदेश भी प्राय: नहीं मिलता, क्वचित् कदाचित् परमार्थ का उपदेश होता है किन्तु जगत का बहुभाग बाह्य-प्रवृत्ति में, पुण्य की शुभ क्रिया में ही धर्म मानता है।

इस जगह पर पाँच हजार रुपया खर्च कर दिये जावें तो धर्म-लाभ होगा; यदि रथयात्रा या संघयात्रा निकाली जाये तो महती धर्म प्रभावना हेगी। इस प्रकार बाह्य में रुपये-पैसे से धर्म की मान्यता बना लेते हैं अर्थात् आत्मा को जड़ का कर्ता मान लेते हैं किन्तु सच तो यह है कि बाहर की एक भी क्रिया अथवा संयोग-वियोग आत्मा के आधीन नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। अनन्त पुद्‌गल परमाणु सब स्वतन्त्र हैं और आत्मा भी स्वतन्त्र है एक-दूसरे का कुछ कर नहीं सकता।

उपसंहार

कोई कहता है कि यदि ऐसा माना जायेगा तो दान, सेवा, औषधालय इत्यादि परोपकार के कार्य कोई नहीं करेगा। किन्तु वह यह नहीं जानता कि कोई किसी का कर ही क्या सकता है? जिस समय जो कुछ होना होता है, वह होता ही रहता है उसमें अज्ञानी यह मान लेता है कि मैंने किया। ज्ञानी के तृष्णा को कम करने का जैसा शुभभाव होता है,

वैसा अज्ञानी नहीं कर सकता। बाह्य के संयोगानुसार तृष्णा कम या बढ़ नहीं होती, किन्तु अपने भाव में अपने आपसे ही तृष्णा की घटा-बढ़ी स्वयं होती रहती है।

ऐसी सूक्ष्म बात कोई मनुष्य नहीं समझ पाता इसलिए वह कहता है कि रुपये-पैसे से धर्म होता हो तो बताइये; मैं पच्चीस-पचास हजार रुपया खर्च करने को तैयार हूँ, क्योंकि वह जानता है कि इतना रुपया खर्च कर देने पर भी मेरे पास उससे कहीं अधिक सम्पत्ति शेष रह जायेगी। किन्तु इससे तो वह परवस्तु मेरी है, मैंने दूसरे को वह दी, इस प्रकार पर का स्वामित्व बनाकर कर्ता होता है। जब तक वह पर के कर्तृत्व की मान्यता को नहीं छोड़ेगा तब तक वह अज्ञानभाव-बंधनभाव है। कुछ लोग कहते हैं कि मैं आसक्ति रहित और फल की इच्छा के बिना यह क्रिया करता हूँ, किन्तु उसने जो यह माना है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ यही पर के ऊपर की अनन्त आसक्ति है।

ज्ञानी के शुभराग का भी आदर नहीं होता तथापि उच्च प्रकार का शुभराग होता है। जहाँ ऐसी भावना होती है कि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, वहाँ तीव्र तृष्णा हो ही नहीं सकती। गृहस्थदशा में ज्ञानी होगा तो वह दान, पूजा, प्रभावना इत्यादि में स्वभाव की प्रतीति के साथ तृष्णा को कम करके स्वभाव के प्रति सन्तोष बढ़ायेगा; अज्ञानी ऐसा कदापि नहीं कर सकेगा। अज्ञानी के पर का स्वामित्व है इसलिए वह यदि पाँच हजार रुपये खर्च करेगा तो पर के अभिमान के लेकर वह यही गीत गाया करेगा कि मैंने पाँच हजार रुपया खर्च किये हैं। किन्तु जब ज्ञानी तृष्णा को कम करता है, तब यदि कोई उससे कहे कि 'आपने बहुत बड़ा दान किया' तो वह मानेगा कि मुझे तो इसने जड़ पदार्थ का स्वामी बना दिया, यह तो उसके लिये गाली देने के समान हुआ। ज्ञानी समझता है कि रुपया-पैसा मेरा था ही नहीं; जिसे लोग दान कहते हैं वह (रुपया) तो अपने ही कारण से गया है, वह मात्र जड़ की क्रिया हुई है, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ।

मैं निर्ममत्व, ज्ञाता-दृष्टा के रूप में-ज्ञातास्वरूप हूँ, तृष्णा रहित स्वभाव के लक्ष्य से तृष्णा को कम करके राग हीन करके समता की वह भाव मेरा था। इसी प्रकार ज्ञानी किसी बाह्य प्रवृत्ति में स्वामित्व नहीं मानता, पर की क्रिया को अपना कर्तव्य नहीं मानता। अशुभभाव दूर करने पर जो शुभभाव रहता है, वह भी मेरा भाव नहीं है, इस प्रकार धर्मी को अविकारी धर्म का ही कर्ता रहता है, वह विकार का कर्ता कभी नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि इतनी सूक्ष्म बातें सुन-समझकर हमें इतनी गहराई में उतरने का क्या काम है, राग-द्वेष ही तो दूर करना है न ? तो जिस पर राग होता हो उस वस्तु का त्याग कर दो, इससे राग भी दूर हो जायेगा। किन्तु भाई ! रागरहित निरावलम्बी तत्त्व के अस्तिस्वभाव को यथार्थ जाने बिना 'त्याग करो, राग को दूर करो' ऐसा कहनेवाले नास्ति से (निज लक्ष्य के बिना-पर लक्ष्य से) अनित्य संयोगाधीन दृष्टि करके सन्नद्ध हुये हैं, उनके वास्तव में राग का अभाव नहीं होगा। बहुत होगा तो मन्दकषाय करेंगे, जिससे पुण्यबन्ध होगा। पर लक्ष्य से राग को कम करना चाहता है अर्थात् बाह्यक्रिया से गुण मानता है कि मैंने ऐसा किया, इतना त्याग किया, इतनी प्रवृत्ति की इसलिए इतने गुण प्राप्त किये, किन्तु क्या तुझमें गुण नहीं हैं। भीतर पूर्ण शक्तिरूप अनन्त गुण भरे हुए हैं, उनका विश्वास कर तो उन अखण्ड गुणों के बल से निर्मलता प्रगट होगी।

निरावलम्बी ध्रुव एकरूप परमार्थ ज्ञानस्वरूप की दृढ़तारूप स्वाश्रय का पक्ष जीव ने कभी नहीं किया। लोगों को अन्तरंग सूक्ष्मतत्त्व की रुचि नहीं है इसलिए बाह्यचर्चा को सुनने के लिये बहुत से लोग इकट्ठे हो जाते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान सम्बन्धी बात जल्दी नहीं समझते। शुभ करनी के बिना, पुण्य का आधार लिये बिना धर्म नहीं होता, पुण्य तो आवश्यक है ही। साधन की अनुकूलता के बिना धर्म नहीं होता, ऐसी पराश्रय की बातें घर-घर सुनने को मिलती हैं, किन्तु उस सब लौकिक व्यवहार को छोड़कर गुण-गुणी का विचार करते हुए मन के सम्बन्ध से शुभ विकल्प होता है वह मेरा नहीं है, इस प्रकार व्यवहार को गौण करके मात्र अखण्ड परमार्थ ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेने का उपदेश बहुत विरल है, क्वचित् कदाचित् ही मिलता है, इसलिए उपकारी श्री गुरुदेव ने ऐसे शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश मुख्यता से दिया है।

अशुभभाव से बचने के लिये तो शुभ का अवलम्बन ठीक है, किन्तु उस शुभभाव के द्वारा तीन लोक और तीन काल में भी धर्म नहीं हो सकता। यहाँ तो मान्यता को बदलवाने का उपदेश है। धर्म आत्मा का अविकारी स्वभाव है, उस स्वभाव को गुरु के द्वारा जानकर यथार्थ ज्ञान का अभ्यास करके, विपरीत धारणा का त्याग करके तथा यह मानकर कि मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ, पुण्य के शुभ विकल्प मेरे स्वभाव में नहीं हैं तथा वह मेरा कर्तव्य भी नहीं हूँ; ऐसा मानकर निर्मल पर्याय के भेद का लक्ष्य गौण करके

अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में लेना सो शुद्धनय का विषय है और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनय का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होने से पूर्व की है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ, पर का स्वामी अथवा कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, शुभ या अशुभ विकार मात्र करने योग्य नहीं है, इस प्रकार स्वभाव की अपूर्व प्रतीति गृहस्थ दशा में हो सकती है। चाहे बड़ा राजा हो या साधारण गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्ष का बालक, किन्तु सभी अपने-अपने स्वभाव से स्वतन्त्र पूर्ण प्रभु हैं, इसलिए अन्तरंग में स्वभाव की प्रतीति कर सकते हैं।

जहाँ तक जीव व्यवहार मग्न है और बाह्य साधन से धर्म मानता है, क्रियाकाण्ड की बाह्य प्रवृत्ति से गुण मानता है वहाँ तक पर से भिन्न अविकारी अखण्ड आत्मा निरावलम्बी है ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा के ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

इस विषय का विशेष श्रवण-मनन करना चाहिए और परमार्थ निर्मल वस्तु का निरन्तर बहुमान होना चाहिए। अपनी सावधानी उत्साह और पुरुषार्थ के बिना अपूर्व फल प्राप्त नहीं होता।

बारहवीं गाथा की भूमिका

जो परमार्थ से आदरणीय नहीं है तथापि परमार्थ में जाते हुए बीच में आ जाता है, वह व्यवहारनय किसी-किसी को किसी समय प्रयोजनवान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

पर-निमित्त के भेद से रहित एकरूप अखण्ड वस्तु को लक्ष्य में लेना सो निश्चय (परमार्थ) है और वीतराग, अविकारी पूर्ण शुद्ध दृष्टि के अभेद विषय के बल से राग को दूर करके अंशत: अन्तरंग में स्थिरता-लीनता करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूतव्यवहार है और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है, वह सद्भूतव्यवहार है। निश्चय का विषय एकरूप श्रद्धा करना है, उसमें साधक-साध्य जैसे निर्मल पर्याय के भेद नहीं है।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होने से पूर्व अल्प समय के लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि यह न माने तो उसे साधकभाव की खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीति के साथ ही यदि अंतर्मुहूर्त के लिये ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करे तो उसमें भी बीच में निर्मलता के घोलन-मनन का सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्य का बल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारम्भ का और पूर्णता का कारण है। जिन्हें मोक्ष जाने में विलम्ब होता है, वे अकषायदृष्टि सहित शुभराग में अर्थात् पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि में रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण व्यवहार किसी किसी के किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागता के लिये कारणभूत नहीं होता। 'किसी समय कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मप्रतीति की भूमिका निरन्तर ध्यान में नहीं रह सकता, इसलिए यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता, ध्यान और ध्येय के विकल्प से कुछ छूटकर अन्तरंग में एकाग्र (स्वभाव में लीन) होता है, उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेददृष्टि में स्थिरता के समय भेदरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आन्तरिक स्वरूप में लीनता-स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चयदृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीति के साथ जब आत्मा एकाग्र होता है, तब अभेद आनन्द का अनुभव होता है; उस समय सिद्ध परमात्मा के समान अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पाप के कर्तव्य को अपना नहीं मानता। मैं पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ, जड़ परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मैं पर का स्वामी नहीं हूँ, परमार्थ से मैं पुण्य-पाप रागादि का कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार स्वभाव की अखण्ड प्रतीति अन्तरंग से गृहस्थदशा में भी सम्यग्दृष्टि के होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है, वह आत्मा के लिये लाभकारक नहीं है, सहायक नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन होने से पूर्व और सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र में स्थिर होने से पहले अशुभभावों को दूर करने के लिये शुभभावों का अवलम्बन आता है, उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म की श्रद्धा का त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे गये धर्म का आदर सर्व प्रथम होना चाहिए। जब तक सत्य की ओर की भक्ति जागृत नहीं होती तब तक परमार्थस्वभाव की महिमा नहीं आती। पहले तृष्णा मोह ममता को कम करके राग की दिशा की ओर से करवट बदल लेना चाहिए। तीव्र क्रोधादि कषाय को मन्द करके, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु

की पहिचान करके, उनके प्रति बहुमान करके, रुचिपूर्वक श्रवण-मनन के द्वारा अन्तरंग में स्वाधीन परमार्थ का विचार करना चाहिए। जो पहले शुभभाव नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुभभाव सम्यग्दर्शन का कारण है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और नव तत्त्वों की पहिचान करके तथा उस ओर शुभभाव को लगाकर राग को सूक्ष्म करके अन्तरंग के आँगन में आये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु शुभभाव-चित्तशुद्धि से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धा में उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब शुभ के उपचार से निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वामित्व रखकर पर का कर्ता होता है और ज्ञानी 'मैं पर का कुछ नहीं कर सकता' इस प्रकार साक्षी भाव से मात्र ज्ञाता रहता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद ज्ञानी जब निम्न भूमिका में अधिक काल तक स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तब विकल्पदशा में अशुभ से बचने के लिये तत्त्व के विचार श्रवण-मनन इत्यादि में और संसार के विकल्प में भी कभी युक्त होता है तथापि यह कभी नहीं मानता कि मैं इस शुभाशुभ प्रवृत्ति का कर्ता हूँ, इससे मुझे लाभ होगा।

जिसे अन्तरंग से तत्त्व को समझने के प्रति उत्साह नहीं है, वह अपने को शक्तिहीन मानकर कहा करता है कि 'मैं इस तत्त्व को नहीं समझ सकता' किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने अपने साक्षात् केवलज्ञान में समस्त जीवों को सिद्ध समान देखकर स्पष्ट कहा है कि 'तू भी मेरे ही समान सिद्ध है'; इसलिए इन भावों को हटा दे कि मैं इस तत्त्व को नहीं समझ सकता।

'सर्व जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय'

अनादिकालीन अज्ञान को दूर करके एक समय में सबको जान लेने की शक्ति प्रत्येक जीव में प्रतिसमय विद्यमान है, किन्तु उसे प्रगट करने के लिये पहले का धारण किया हुआ विपरीत आग्रह छोड़ देना चाहिए।

जैसे नारियल (श्रीफल) में जटा होती है, बक्कल होता है और भीतर ऊपर की लाल रंग की पतली छाल होती है किन्तु यह सब उस मीठे सफेद गोले से भिन्न है यथार्थ में तो भीतर का वह सफेद गोला ही खोपरा है, इसी प्रकार स्थूल शरीररूपी जटा,

तैजसरूपी छाल और कर्मरूपी बक्कल आत्मा के नहीं हैं और वर्तमान राग-द्वेषरूपी ललाई भी दूसरे की ओर की है, वह आत्मा की नहीं है; भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द अनन्त गुण का रसकन्द है। त्रैकालिक एकरूप, अखण्ड, ज्ञानशक्ति से पूर्ण है; इस प्रकार की श्रद्धा जब तक न करे तब तक धर्म का अंश भी नहीं होता। जब तक नारियल में गीलापन है, तब तक भीतर का गोला उससे पृथक् नहीं होता और जब तक गोले की ओर की चिकास को गौणरूप से लक्ष्य में रखना पड़ता है। इसी प्रकार शुद्ध द्रव्यदृष्टि में पूर्ण कृतकृत्य परमात्मा हूँ—ऐसा अखण्ड तत्त्व का विषय श्रद्धा में लिया, तथापि उसके साथ ही सम्पूर्णतया राग-द्वेष दूर नहीं होता क्योंकि चारित्र की अपेक्षा से कचास मौजूद है, इसलिए स्थिर नहीं हो सकता। वहाँ शुभभाव का अवलम्बन करना होता है इसलिए उसे असद्भूतव्यवहार कहा जाता है। वह व्यवहार राग है और इसलिए वीतरागता नहीं होती।

सम्यग्ज्ञान होते ही जीव पूर्ण निर्मल नहीं हो जाता; बीच में विकल्प आते हैं इसलिए पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने की भावना करना, स्थिरता की वृद्धि करना, इत्यादि जो व्यवहार-साधकभाव है, वह पूर्ण होने से पहले न रहे ऐसा नहीं होता।

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे।।१२।।

अर्थ :—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें शुद्ध आत्मा का उपदेश देनेवाले शुद्धनय को जानना चाहिए। और जो जीव अपरमभाव से अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पा सके, जो कि साधक अवस्था में ही स्थिर हैं, वे व्यवहार के द्वारा उपदेश करनेयोग्य हैं।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनभूत है क्योंकि उनके पूर्ण होने का विकल्प नहीं रह गया है, किन्तु जिसने पूर्ण निर्मल की श्रद्धा की है और जो साधकदशारूप मध्यमभाव का अनुभव करता है, उसे राग को दूर करके क्रमशः आंशिक स्थिरता को बढ़ाने का व्यवहार प्रयोजनभूत है।

पुण्य शुभभाव है और पाप अशुभभाव है, किन्तु वे दोनों (शुभ-अशुभ) अशुद्धभाव हैं। उनसे रहित निर्मल, शुद्ध, अखण्डानन्द की श्रद्धा करके पूर्ण ध्रुवस्वभाव का विषय (लक्ष्य) जिनने किया है, किन्तु जो पूर्ण चारित्रदशा को प्राप्त नहीं हुए, मध्यमदशा (चौथे से छठवें गुणस्थान तक) में वर्तमान हैं, वे जब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभभावरूप व्यवहार होता है; किन्तु उस शुभभाव के अवलम्बन से गुण प्रस्फुटित नहीं होता। परमार्थ की रुचि से ही आगे बढ़ा जा सकेगा—ऐसी मान्यता से गुण प्रस्फुटित होता है। मन-वाणी-देह तथा पुण्य के शुभभाव की अपेक्षा से रहित सम्यग्दर्शन होने से पूर्व की यह बात है। सम्यग्दर्शन होने से पहले भी ऐसा अभिप्राय होना चाहिए।

तत्त्व की यथार्थ प्रतीति होने पर अन्तरंग में जो आंशिक स्थिरता प्रगट होती है, उसे श्रावक की पाँचवीं भूमिका कहते हैं। शुद्धदृष्टि के बल से तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव करके अन्तरंग में चारित्र की विशेष स्थिरता प्रगट करनेवाली मुनि दशा छठवें गुणस्थान में होती है; और उसमें विशेष स्थिरता, एकाग्रता, निर्विकल्प ध्यानदशा सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान में मुनि के होती है। उस समय बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होता, 'मैं अनुभव करता हूँ, आनन्द लेता हूँ' ऐसा विकल्प नहीं होता; वह तो अन्तरंग में अखण्ड आनन्दस्वरूप का अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशा में होते हैं, तब (छठवें गुणस्थान में) तत्त्व का मनन, शिष्य को उपदेश देना, शास्त्रों की रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि सम्बन्ध विकल्प बीच में आ जाते हैं।

जो पूर्ण वीतरागी हो चुके हैं, उनके व्यवहार नहीं होता, विकल्प नहीं होता, किन्तु छद्मस्थ को पूर्ण निर्मल दशा के लिये ध्यान करते हुए जब वह सीधा एकाग्र नहीं रह सकता तब शुभभावरूप व्यवहार आ जाता है। जैसे किसी मंजिल पर जाने के लिये जब कुछ सीढ़ियाँ चढ़ लेते हैं, तब मंजिल दिखायी देती है और मंजिल में क्या-क्या है वह सब देखने पर उसका यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु मंजिल पर पहुँचे बिना वहाँ की वस्तुओं का साक्षात् पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए मंजिल पर जाते हुए बीच की सीढ़ियों को छोड़ने के लिये ही ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार चौथे गुणस्थान में पहुँचने पर आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख, समृद्धि की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान होता है और पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से आंशिक अनुभव होता है; किन्तु पूर्ण साध्यदशा तक पहुँचने का व्यवहार शेष रह जाता

है। चौथे गुणस्थान में पूर्ण अखण्ड साध्य वस्तु की सीधी और सच्ची दृष्टि तो हो जाती है किन्तु अभी वह प्रगटरूप से पूर्ण-साध्य दशा को नहीं पहुँच सका, इसलिए वहाँ बीच में अस्थिरता के भेदों को उलंघने के लिये शुभ व्यवहार का अवलम्बन आये बिना नहीं रहता। किन्तु वे सब भेद (मलिनता के भाव और निर्मलता के अंश) छोड़ने योग्य हैं। इस प्रकार पहले से ही जान लिया था इसलिए ऐसा होते समय भी यथावत् जानता है। दृष्टि अखण्ड निश्चय पर है, उसमें बीच में साधक भाव के और विकार के जो भेद होते हैं, वह भेदरूप व्यवहार अभेद का कारण नहीं है। स्थिरतारूप चारित्र की निर्मल अभेद दशा उस भेद से (व्यवहार से) प्रगट नहीं होती, किन्तु अखण्ड के बल से निर्मलता बढ़ती है। अनन्त आनन्द का रसपिण्ड भगवान आत्मा है, इसकी यथार्थ श्रद्धा करके, विकल्प से छूटकर जब अन्तरंग में स्थिर होता है, तब पूर्ण का लक्ष्य होते ही पूर्ण की जाति के आंशिक आनन्द का अनुभव होता है।

सिद्ध भगवान को जैसा अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द होता है, उसी प्रकार के आनंद का अंश चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के होते समय ही होता है। उसके बाद भी किसी-किसी समय चौथे-पाँचवें गुणस्थान में अनुभव करते हुए अभेद एकाकार होते हुए वैसा आंशिक आनन्द आता है।

जैसे किसी को उत्तराधिकार में कोई मकान मिला हो और वह उसका मालिक हो गया हो तब उस मकान का स्वयं उपयोग करने के लिये वहाँ का मात्र कूड़ा-कचरा ही साफ कराना शेष रह आता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को पूर्ण अखण्ड-निर्मल केवलज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है, त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड ज्ञान का स्वामी हुआ है अर्थात् उसने श्रद्धा में इसका निश्चय कर लिया है कि मैं निरावलम्बी निर्मल परिपूर्ण हूँ; किन्तु जब तक वह उसके अनुसार स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसे क्रमशः मलिनता (राग-द्वेषरूपी कूड़ा-कचरा) को दूर करने के लिये अखण्डदृष्टि के बल से स्थिरता करनी शेष रह जाती है। उसमें जो निर्मलता के अंश बढ़ते हैं, वे सब तथा जो बीच में शुभभाव आते हैं, वह सब व्यवहार है। और समस्त ध्रुव स्वभाव को अक्रियरूप से पूर्णस्वरूप से लक्ष्य में लेना सो निश्चय है।

टीका :—जो पुरुष अन्तिम ताव से निकले हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के

उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि अनेक तावों की परम्परा में पकाए जानेवाले अशुद्ध स्वर्ण की भाँति अपूर्व साधकभाव की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध स्वर्ण के श्रद्धालु को पहले से ही ध्यान होता है कि सोना ताँबारूप अथवा किसी अन्य परधातुरूप नहीं हुआ, वर्तमान अवस्था में पर-धातु के आरोप से अशुद्धत्व कहलाता है, उस समय भी सौटंची सोने के शुद्ध स्वभाव की उत्कृष्टता पर लक्ष्य रखकर मलिनता को दूर कर देता है। जबकि सोना सम्पूर्ण निर्मल-सौटंची हो जाता है तब फिर उसे भट्ठी के पाकरूप व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने से पूर्व वर्तमान अपूर्ण ध्रुव अवस्था के समय त्रैकालिक पूर्ण ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा करके पूर्ण निर्मलता प्रगट करने के लिये ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अन्तरंग में जो एकाग्र होना पड़ता है, सो व्यवहार है। देह की क्रिया में, पुण्य में, शुद्ध के लक्ष्य से रहित मात्र शुभराग में व्यवहार नहीं है, किन्तु अविकारी अखण्ड की श्रद्धा के बल से विकल्प टूटकर अन्तरंग में शुद्ध स्थिरता के अंश बढ़ते हैं, वह चारित्र सद्भूतव्यवहार है। श्रद्धा के निश्चय अभेद विषय में सम्पूर्ण भेदों का निषेध है।

निश्चय शुद्ध अखण्ड ज्ञायकस्वभाव अविकारी पूर्ण है, उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर होकर जो पूर्ण वीतराग हो गये हैं, वे उत्कृष्ट स्वर्ण के अनुभव की भाँति पूर्ण अभिन्न, रागरहित-वीतराग हैं, किन्तु जिन्हें पूर्ण की श्रद्धा तो है किन्तु चारित्र नहीं है, उन्हें पूर्ण निर्मलदशा (जो अपनी निज वस्तु में ही शक्तिरूप से विद्यमान है) को प्रगट करने के लिये चारित्र की स्थिरता करने का व्यवहार ध्यान-विचार-मननरूप से रहता है।

जैसे शुद्ध स्वर्ण के प्राप्त होने पर सौ टंच से कम के सोने की चाह नहीं रहती, उसी प्रकार जिसे पूर्ण केवलज्ञानदशा प्राप्त हुई है, उसे अपूर्ण निर्मल अंशों के भेद की आवश्यकता नहीं रहती।

पूर्ण अविचल एक स्वभावरूप एकभाव केवलज्ञानी वीतरागी के प्रगट हो चुका है, उनने भी श्रद्धा में पहले ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव को लक्ष्य में लिया था, उनकी मान्यता में पुण्य-पाप के विकार का कर्तृत्व-आश्रियत्व नहीं था, पहले से ही व्यवहार का आदर नहीं था, पश्चात् पूर्णदशा प्राप्त होने पर निमित्तरूप से भी नहीं रहता; तथापि साधकभाव में बीच में व्यवहार का बलपूर्वक अवलम्बन आ जाता है, जो कि आगे कहा जायेगा।

आत्मा निरपेक्ष निर्विकार ध्रुव वस्तु है, उसमें बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाभेद तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणभेदों का ज्ञान करके ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए कि—त्रैकालिक ध्रुव पूर्णस्वरूप वर्तमान में भी अखण्ड है, यह प्रारम्भिक मुख्य धर्म है; पश्चात् पूर्ण स्थिरता करने में जितनी भूमिका की निर्मलता बढ़े उसे उस प्रकार जानना सो व्यवहार है।

जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावों की परम्परा से पकनेवाले अशुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु की अनुत्कृष्ट मध्यम भाग—साधकभाव की स्थिरता का अनुभव करते हैं, उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभाव का अनुभव नहीं होता।

'राग को दूर करके स्थिरता करूँ' इसमें मन का संयोग और पर की अपेक्षा होती है, वह अशुद्ध अवस्था वर्तमान में होती है। राग का अमुक अंश में दूर होना और अमुक अंश में रहना तथा अंशत: स्थिरता की वृद्धि होना सो व्यवहार है। भिन्न-भिन्न भूमिका के अनुसार अनेक प्रकार से और पूर्व अवस्था से भिन्न-भिन्न भावरूप से जिसने भिन्न-भिन्न (उत्पाद-व्ययरूप) एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाए हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आया हुआ उस काल में प्रयोजनवान* है।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को यथावत् जानना प्रयोजनवान है। जैसे चौदहवें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थान में जितने प्रमाण में मलिनता एवं निर्मलता के अंश हैं उन्हें उतने अंश में जानना सो व्यवहार है, और पर-निमित्त के भेद से रहित त्रैकालिक एकरूप अक्रिय आत्मा को पूर्ण सामर्थ्यरूप अखण्ड जानना सो निश्चयनय अथवा परमार्थ है। उसे शुद्धदृष्टि के द्वारा लक्ष्य में लेकर, भेद को गौण करके पूर्णरूप वस्तु को ध्रुवरूप से श्रद्धा का अभेद विषय बनाना सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की अवस्था है इसलिए वह भी व्यवहार है। पुण्य के लक्ष्य से अंशत: स्थिर होने के लिये जो राग दूर करने के विकल्प उठते हैं-भेद होते हैं, वह असद्भूतव्यवहार है। परवस्तु में अथवा देहादि की क्रिया में आत्मा का किंचित्मात्र भी व्यवहार नहीं है। शुभराग को आदरणीय मानना सो अज्ञान है।

---

* प्रयोजन=प्र+योजन। प्र=विशेषरूप से, अवस्थाभेद। योजन=युक्त करना, जुड़ना। अखण्ड वस्तु के आश्रय से जितने अवस्था के भेद हों उनमें ज्ञान को जोड़ना सो प्रयोजन है। त्रैकालिक द्रव्य के साथ वर्तमान अवस्था की सन्धि करना सो प्रयोजन है।

अपूर्व परमार्थ की श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है, तथापि जो समझने के लिये तैयार होता है, उसे सुलभ है। पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित सर्वज्ञ के न्यायानुसार यथार्थ तत्त्व को जानकर जब यथार्थ श्रद्धा करता है, तब उसी समय अन्तरंग में अपूर्व आनन्द आता है। 'मैं आत्मा हूँ, मैं अपूर्व आनन्द का वेत्ता हूँ', ऐसा विकल्प भी जब बुद्धि में से दूर हो जाता है, तब आत्मानुभव सहित निश्चय सम्यग्दर्शन हो जाता है और तब अपूर्व आह्लाद का अनुभव होता है। हे भाई! ऐसा वस्तुस्वभाव अनन्त काल में कभी नहीं जान पाया; जो जितना जाना वह सब पर का ही जाना है। पर से कभी किसी को लाभ-अलाभ नहीं होता। पुण्य, दया, दानादि की जो शुभभावना उत्पन्न होती है, वह भी आत्मा के लिये लाभकारक नहीं है, उस भाव को अपना मानने से संसार में परिभ्रमण करने का लाभ मिला है। इस तत्त्व को एक-दो दिन में नहीं समझा जा सकता। जिसे साम्प्रदायिक पक्षपात अथवा मोह है उसे तो यह बात सुनने में भी कठिन मालूम होती है।

भगवान आत्मा अरूपी सदा ज्ञान-आनन्द का पिण्ड है। उसके गुण भी अरूपी हैं और पर्यायें भी अरूपी हैं। उसमें परवस्तु का ग्रहण या त्याग किसी भी प्रकार से नहीं है। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, पर का कर्ता नहीं है, जिसे यह ज्ञान नहीं है वह यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है' किन्तु ऐसा कभी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से तीन काल और तीन लोक में भिन्न-भिन्न है। भिन्न वस्तु पर का कुछ नहीं कर सकती। प्रत्येक आत्मा अपने भाव में अनुकूल या प्रतिकूल जान या मान सकता है इतना ही कर सकता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

आत्मा ने पर को कुछ पकड़ नहीं रखा है कि जिससे उसे छोड़ना पड़े। मात्र उसने विपरीत मान्यता बना रखी है कि मैं पर-पदार्थ को ग्रहण करता हूँ, छोड़ता हूँ, पर से मुझे लाभ होता है; और इस प्रकार राग-द्वेष का अज्ञानभाव से ग्रहण कर रखा है, इसलिए स्वलक्ष्य करके सम्यग्ज्ञान भाव से उस अज्ञानभाव को छोड़ना ही जीव की क्रिया है। देह की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है, तथापि जो यह मानता है कि मैं देह की क्रिया को कर सकता हूँ, वह देह और आत्मा को एक मानता है।

मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित अखण्ड ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण हूँ, परमाणु

मात्र मेरा नहीं है, मन के सम्बन्ध से किंचित् मुक्त होकर जहाँ अन्तरंग में स्थिर हुआ कि वहाँ मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान का यथार्थ त्याग (व्यय) और निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान का उत्पाद होता है। उस (सम्यग्दर्शन) के बिना व्रत, तप, चारित्र आदि सच्चे नहीं होते। संसार के माने हुए व्रत, तप इत्यादि संसार के खाते में ही जाते हैं। मन, वाणी, देह की क्रिया से पुण्य-पाप अथवा धर्म नहीं होता। यदि स्वयं विवेक पूर्वक तृष्णा और राग को कम करे, कषाय को सूक्ष्म करे तो पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्त होने को कह रहे हैं।

आत्मा अरूपी सूक्ष्म है। उसका सम्पूर्ण विषय अन्तरंग में है। उसको कोई भी कार्य बाह्य प्रवृत्ति के आधीन नहीं है। शुभभाव भी विकार है, उससे अविकारी गुण प्रगट नहीं हो सकता। ऐसा ही स्वरूप त्रिकाल में होने पर भी अज्ञानी उसके द्वारा मानी हुई अनादि -कालीन विपरीत मान्यता के आग्रह को नहीं छोड़ता और स्वभाव की बात को सुनने या उसका विचार करने में उसे भारी घबराहट मालूम होती है। किन्तु जिसे वास्तविक सुख-शान्ति की चाह है, उसे तो अपनी समस्त बाह्य मान्यताओं का त्याग करना ही होगा। ज्ञानी की दृष्टि से देखा जाये तो तीनों काल सम्बन्धी विपरीत मान्यता का सम्यग्दृष्टि में त्याग हो ही जाता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परमार्थ है किन्तु सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा-गुण की निर्मल अवस्था व्यवहार है। पूर्ण अखण्ड को लक्ष्य में लेना सो परमार्थरूप निश्चय है। स्थिरता के जो भेद होते हैं, उन्हें जानना सो व्यवहार है, दूसरा व्यवहार नहीं है। लोग यह मानते हैं कि परवस्तु और शरीर इत्यादि की क्रिया एवं पुण्य इत्यादि व्यवहार है, और उससे निश्चय प्रगट होता है, किन्तु यह सारी मान्यता अज्ञान है। अन्तरंग में जो शुभभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह स्वभाव में सहायक नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु जो निर्मल पर्याय के भेद होते हैं उसकी सहायता से भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। मात्र अखण्ड द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। यह बात जीव ने कभी नहीं सुनी इसलिए उसे यह नयी मालूम होती है और कठिन मालूम होती है। किन्तु परावलम्बन से गुण होता है—लाभ होता है, शुभराग के व्यवहार से निश्चयधर्म होता है, इस प्रकार माननेवाले निज गुण का घात करते हैं। जो यह मानते हैं कि अमुक वस्तु का त्याग करने से निज गुण का प्रकाश होगा उन्हें अपने

आन्तरिक पूर्ण गुण की शक्ति का विश्वास नहीं है। तीन लोक और तीन काल में भी व्यवहार से परमार्थ प्रगट नहीं हो सकता।

परमार्थ-श्रद्धा होने के बाद गुण की निर्मलता की वृद्धि के अनुसार जिस गुणस्थान में जैसी स्थिति होती है, वहाँ वैसा ही व्यवहार आ जाता है। जब तक पूर्ण केवलज्ञान नहीं होता तब तक जो स्थिरता करनी शेष रहती है, वह भी व्यवहार है। अभेद की दृष्टि सहित गुण की निर्मलता के जो भेद होते हैं, वह व्यवहार है। देह की क्रिया में, पुण्य में अथवा बाहर अन्यत्र कहीं व्यवहार नहीं है। बाह्य मान्यता का आग्रह समझकर छोड़े बिना परमार्थरूप अन्तरंग तत्त्व की अपूर्व बात जगत को नहीं रुचती, किन्तु इसे समझे बिना धर्म नहीं होता, वीतराग का धर्म तो यही है। वीतराग अपनी कोई संकुचित हद नहीं बाँधते, वीतराग को किसी का पक्ष नहीं होता। सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि व्यवहारनय पर की अपेक्षा से होनेवाले भेद को ग्रहण करता है, इसलिए उस भेद के द्वारा गुण की निर्मलता नहीं होती। पर-निमित्त के भेद से रहित परिपूर्ण, निर्मल, अखण्ड ध्रुवस्वभाव को जानना सो निश्चय है, और यह समझना कि चौदह गुणस्थान तक के जितने भेद होते हैं, वे परमार्थरूप नहीं हैं, सो व्यवहार है।

व्यवहार का यह अर्थ नहीं है कि 'अमुक प्रवृत्ति करना सो व्यवहार है,' किन्तु 'पर्याय के भेद को यथार्थ जान लेना' सो व्यवहारनय* है। जो निर्मलता बढ़ती है, सो ज्ञान का विषय है। उस खण्ड-खण्डरूप अवस्था के भेद को देखने से छद्मस्थ के विकल्प हुए बिना नहीं रहते। ऐसा व्यवहार छद्मस्थ के बीच में आता तो है किन्तु ज्ञानी उसे आदरणीय नहीं मानते।

शुद्ध पारिणामिक भाव कहो, अखण्ड ज्ञायक वस्तु कहो, अथवा परमार्थ स्वभाव कहो, वह सब एक ही है। उस अखण्ड की निर्मल श्रद्धा और निर्मल दशा अखण्ड परमार्थ के बल से प्रगट होती है। भेद के लक्ष्य से, विकल्प से, शुभभाव से अथवा किसी भी प्रकार के व्यवहार से निश्चयदृष्टि (परमार्थस्वभाव) प्रगट नहीं होती।

यदि कोई कहे कि—प्रथम भूमिका तो तैयार करनी ही चाहिए? किन्तु इस प्रश्न

---

* व्यवहारनय=यथार्थतया जाने हुए पदार्थ में से एक पहलू को मुख्य और दूसरे पहलू को गौण करके जाननेवाला ज्ञान। भेद-पराश्रय, उपचार सो व्यवहार है।

की आवश्यकता ही नहीं है। लोक-व्यवहार में भी भले घर के लोग कहते हैं कि स्वप्न में भी कुशील का सेवन नहीं करना चाहिए; अनीति, असत्य, परस्त्री-गमन, चोरी इत्यादि हमारे कुल में नहीं हो सकते; इस प्रकार जिसके लौकिक सज्जनता की महिमा होती है, उसके भी अमुक तुच्छ वृत्तियों का विकार सहज ही छूट जाता है। धर्मात्मा जीव तो लोकोत्तर उच्च-परिवार का है, लोकोत्तर परमार्थ में सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मा की जाति का ही है। मैं उन्हीं जैसा हूँ ऐसी श्रद्धा में उत्कृष्ट स्वभाव की महिमा होने पर अमुक राग-द्वेष के भाव सहज ही छूट जाते हैं।

मेरा स्वभाव, मेरी आत्मजाति पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव को प्राप्त परमात्मा जैसी है। मैं अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बल इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ। उस शक्ति के बल से भ्रान्ति का नाश और कुछ राग-द्वेष का सहज ही ह्रास हो जाता है।

पर-लक्ष्य से चाहे जितना करे तो उससे राग-द्वेष मन्द हो सकते हैं, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। अनन्त काल व्यतीत हो गया उसमें बहुत कठिन साधन अनन्त बार किये किन्तु परमार्थ को नहीं समझ पाया। अन्धकार को मिटाने के लिये झाड़ू या सूप इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती किन्तु प्रकाश ही आवश्यक होता है। उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सम्यग्ज्ञान का प्रकाश आवश्यक होता है।

शंका:—शुभभाव से आगे क्यों नहीं बढ़ा जा सकता?

समाधान:—अनन्त बार शुभभाव किये तथापि अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। जैसे वृक्ष की जड़ को सुरक्षित रखकर उसके पत्ते तोड़ लिये जायें तो वे अल्प काल में पुन: पीक उठते हैं-उग आते हैं; उसी प्रकार अज्ञानरूपी जड़ को सुरक्षित रखकर यह माने कि मैंने राग-द्वेष को कम कर लिया है तो उससे कोई लाभ नहीं है, परमार्थ से राग-द्वेष कम नहीं हुआ है क्योंकि वह पुन: अंकुरित हो जाता है और बढ़ने लगता है।

अखण्ड दृष्टि की ही सच्ची महिमा है, जहाँ न विकार है और न भेद है। त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड स्वभाव को लक्ष्य में लेने पर मोक्षपर्याय भी उसके अन्तर्गत हो जाती है, इसलिए बन्ध-मोक्ष के भेद भी श्रद्धा के अखण्ड विषय में नहीं हैं, व्यवहार में ही बन्ध-

मोक्ष है। यदि ऐसा न हो तो बन्ध को दूर करके मुक्त होने का उपदेश ही वृथा सिद्ध होगा। दृष्टि के शुद्ध होने पर दृष्टि के अखण्ड लक्ष्य के बल से राग को दूर करके स्थिरता होती ही रहती है।

इस प्रकार तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था है। मोक्ष का उपाय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप अपूर्ण पर्याय) तीर्थ और पूर्ण निर्मल अवस्था की प्राप्ति तीर्थफल है। परमार्थरूप निश्चय वस्तु में मोक्ष का मार्ग और मोक्ष ऐसे जो दो भंग होते हैं, सो व्यवहार है, और अखण्ड वस्तुस्वरूप को लक्ष्य में लेना सो निश्चय है।

सर्वज्ञ भगवान ने एक वस्तु में व्यवहार और निश्चय दोनों कहे हैं। चने को भूनने पर कचास का नाश और स्वाद का उत्पन्न होता है, और दोनों अवस्था में चने का ध्रौव्यत्व बना रहता है, इसी प्रकार आत्मा में भूलरूपी कचास और दु:खरूपी कषायलापन अज्ञानभाव से-अवस्थादृष्टि से होता है। किन्तु जिसे वह भूल और दु:ख मिटाना है, उसे भूल और विकार से रहित आत्मा के ध्रुव स्वभाव की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना चाहिए। इससे अपूर्ण अवस्था का क्रमश: नाश और पूर्ण निर्मल अवस्था की उत्पत्ति[१] होती है, और उन दोनों अवस्थाओं में आत्मा एकरूप-ध्रुवरूप से स्थिर रहता है। अज्ञान[२] और दु:ख[३] की अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभाव भरा हुआ है। उस स्वभाव में अज्ञान और दु:ख को नाश करने की शक्ति प्रतिक्षण विद्यमान है। उस निरपेक्ष अखण्ड निर्मल स्वभाव में अभेददृष्टि का बल होने पर विकारी अवस्था का नाश और अनुपम आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। वर्तमान अवस्था के समय भी त्रैकालिक पूर्ण शक्ति ध्रुवरूप से भरी हुई है। उसमें दु:ख या भूल नहीं है। भूल और विकाररूप अवस्था तो वर्तमान एक-एक समयमात्र की (प्रवाहरूप से-अनादि की) है। नित्य अखण्ड शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से उस भूल और विकार का नाश हो सकता है।

भेद को जाननेवाला व्यवहार है। परमार्थ में वह भेद ग्राह्य नहीं है। व्यवहार से

---

१. मोक्ष=आत्मा की अन्तिम से अन्तिम पूर्ण निर्मल अवस्था अथवा विकार से सर्वथा मुक्त होने पर कर्म-बन्धन से छूट जाना।

२. अज्ञान=अपने वास्तविक स्वभाव को न जाननेवाला मिथ्याज्ञान।

३. दु:ख=अपने सुखगुण की विपरीत अवस्थारूप विकार।

परमार्थ नहीं पकड़ा जाता। एकरूप अभेद परमार्थ का निश्चय करने पर उसके बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वही पुरुषार्थरूप व्यवहार है। बाह्य में कहीं भी व्यवहार नहीं है। जगत को यह रुचे या न रुचे किन्तु तीन लोक और तीन काल में यह बात अपरिवर्तनीय है। अहो! यह अपूर्व बात जिसकी समझ में आ जाती हे उसका तो कहना ही क्या है। किन्तु जिसे यह बात प्रेम से सुनने को मिलती है, उसका भी अहो भाग्य है। जो हीरा सान पर चढ़ता है उसका मूल्य तो अधिक होता है, किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसका भी पर्याप्त मूल्य आता है। वीतराग के मार्ग में मात्र परमतत्त्व के ही गीत गाये हैं। कोई यथार्थ को न समझे किन्तु सुनने में उत्साह रखे तो भी ऐसा उत्तम पुण्यबन्ध हो जाता है कि जिससे भविष्य में ऐसा उत्तम तत्त्व सुनने का योग पुनः प्राप्त होता है। यदि वर्तमान में ही पुण्य का निषेध करके अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप को समझे तो अपूर्व गुण (धर्म) का लाभ होता है। पुण्य का आदर करना अविकारी आत्मा का अनादर करना है। अनन्त गुण का पिण्ड ज्ञानस्वरूप आतमा जब अपने गुण से विपरीत चलता है, तब पुण्यादि होता है। पुण्य तो गुण की जलन है। हे प्रभु! पुण्य-पाप से तेरे गुणों की हत्या होती है।

आत्मा अविकारी अखण्ड है। पुण्य-पाप विकार में युक्त होने से बन्धन होता है, उसे ठीक मानना वह ऐसा है कि जैसे अपने पैर को कटवाकर कोई हर्ष मानता है। आत्मा के गुण जलकर राख हो जाते हैं, तब पुण्य होता है। जो क्षणभर में उड़ जाता है ऐसे पुण्य में क्या मिठास है! तू तो अपने आनन्दरस से परिपूर्ण प्रभु है; तुझे उसकी महिमा की प्रतीति क्यों नहीं होती?

माता, पुत्र को 'सयाना बेटा' कहकर सुलाती है, तब उससे विपरीत रीति से ज्ञानीजन स्वरूप की अचिन्त्य महिमा दिखाकर तुझे अनादिकालीन अज्ञानरूपी नींद में से जगाते हैं। पुण्य-पाप-विकार तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्थामात्र का विकार है, उसका तथा निर्मल अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण करके त्रिकाल एकरूप ज्ञायक को लक्ष्य में ले तो परमार्थ और व्यवहार दोनों का ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है; किन्तु वस्तु को यथार्थतया परिपूर्ण नहीं जानता। यदि यथावत् वर्तमान अवस्था को न जाने तो पुरुषार्थ करके राग-द्वेष का नाश और गुण की निर्मलता का उत्पाद नहीं हो सकता।

जैसे सोने को शुद्ध जानने के बाद ही आँच दी जाती हैं, इसी प्रकार पहले सर्वज्ञ

वीतराग ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही सर्वज्ञ ने न्याय, युक्ति, प्रमाण से और सत्समागम से जाने, पश्चात् त्रैकालिक अभेद एकाकार ज्ञायकरूप से अंगीकार करे; श्रद्धा के अभेद विषय में अनुभव करने के बाद यथार्थ वस्तु में नि:सन्देहता आती है कि मैं त्रिकाल में ऐसा ही हूँ, स्वतन्त्र हूँ, पूर्ण हूँ, उसमें अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। वह यह जानता है कि एकरूप ध्रुव वस्तु के विषय में अनेक भेद आदरणीय नहीं हैं; किसी समय उसे जानना (व्यवहारनय) प्रयोजनवान है तथापि साधक को सम्पूर्ण काल (परमार्थ) से अखण्ड ध्रुवस्वभाव लक्ष्य में लेना ही मुख्य है।

प्रश्न :—आत्मा को जानने के बाद राग-द्वेष कैसे दूर होता है ?

उत्तर :—मैं पूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ—ऐसे पवित्र स्वभाव की प्रतीति के बल से पूर्ण की ओर का झुकाव बढ़ता है, और उससे राग-द्वेष का नाश हुए बिना नहीं रहता। लोग यह मानते हैं कि बाहर की कोई प्रवृत्त करने पर गुण (लाभ) होता है; ऐसा माननेवाले अपने में विद्यमान अनन्त शक्ति से युक्त अनन्त गुणों को नहीं मानते। मैं अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ, पर से तथा विकार से भिन्न हूँ—ऐसी प्रतीति करे और अन्तरंग में यथार्थ निर्णय करे कि मैं अनादि-अनन्त स्वतन्त्र हूँ, ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ, जो क्षणिक विकार दिखायी देता है वह मैं नहीं हूँ, इस प्रकार अखण्ड गुण की दृढ़ श्रद्धा के बल से विकार दूर होता है।

विकार की अवस्था और आंशिक विकार के दूर हो जाने पर जो आंशिक निर्मल अवस्था होती है, वह भी अभेददृष्टि में ग्राह्य नहीं है, मात्र व्यवहार से ज्ञातव्य है। उस पर्याय के भेद पर लक्ष्य करके रुकना नहीं चाहिए। मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, इस प्रकार अभेद श्रद्धा का विषय ही मुख्य है। उसका ज्ञान करके, राग को दूर करके निर्मल गुण में स्थिरता करना सो चारित्र है। यह तीनों निर्मल गुण की अवस्थाएँ हैं। सम्यग्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को भगवान ने व्यवहार कहा है, क्योंकि ज्ञायक वस्तु अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड है। उसमें अशुद्धता का नाश और शुद्धता (शुद्ध अवस्था) का उत्पाद अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन भेद करना सो व्यवहार है। आत्मा का व्यवहार पर में नहीं है।

एकरूप स्वभाव को न मानकर; पुण्य-पाप-विकार मेरा कर्तव्य है, मैं पर का कर्ता

हूँ, पर मुझे हानि-लाभ करता है, इत्यादि मान्यता के साथ राग-द्वेषरूप में अनेक विकारों में परिवर्तन होता है, यही संसार[१] है। स्त्री, धन, पुत्र, शरीर इत्यादि पर में आत्मा का संसार नहीं होता, किन्तु उनमें अपनेपन की जो बुद्धि है सो संसार है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है, और मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मल अवस्था है। जो संसार-मोक्ष आदि तीनों काल की सम्पूर्ण अवस्थाओं का अभेद पिण्ड है, वही अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा है। उसके अभेद लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उस परमार्थ स्वरूप में जो अभेद निश्चयरूप श्रद्धा है, सो व्यवहार है। उस श्रद्धा के द्वारा अभेद स्वरूप की ओर एकाकार दृष्टि का बल लगाने पर स्वसंवेदन बढ़ता है, अर्थात् अन्तरंग अनुभवरूप आनन्द का भोग बढ़ता जाता है।

पुण्य-पापरहित स्वावलम्बी निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अवस्था का प्रगट होना सो व्यवहार है, तीर्थ है और अभेद स्वभाव की दृष्टि के बल से अन्तर गुण की निर्मलता के द्वारा पूर्ण निर्मल केवलज्ञान का प्रगट होना सो तीर्थ का फल है। इस प्रकार पुण्य-पाप के भाव से रहित मोक्ष का मार्ग और मोक्ष दोनों व्यवहार हैं।

सम्यग्दर्शन भी अवस्था है क्योंकि वह श्रद्धा-गुण की पर्याय है, इसलिए वह व्यवहार है। राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प का वेदन करना मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखण्ड ज्ञायकरूप से एकाकार ध्रुव हूँ ऐसी अभेददृष्टि के बल से अभेद सवसंवेदन से जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है, वह व्यवहार है। यह कहना कि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन अवस्थाओं के द्वारा निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट हुई है, सो व्यवहार-कथन है, क्योंकि मोक्षमार्ग अर्थात् अपूर्ण पर्याय से मोक्ष प्रगट नहीं होता किन्तु उसका अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण और मोक्ष उसका कार्य है—यह व्यवहार है। मोक्ष का निश्चय कारण द्रव्य है। पूर्ण अखण्ड द्रव्य के बल से मोक्षदशा प्रगट होती है, वह अखण्ड सामर्थ्यरूप वस्तु की ही महिमा है, उस अखण्ड का लक्ष्य करना सो निश्चय—अभेद दृष्टि है। निश्चय का विषय निरपेक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु है।

---

१. 'संसार=संसरणं इति संसारः' अर्थात् एकरूप न रहकर भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभ्रमण करना अथवा सम्यक्स्वभाव से हट जाना।

ऐसी बात अनादि काल से कहीं कभी सुनी न हो और अनादि काल से जिसे मानता आया है, उससे भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न हों तो उनका मेल कहाँ और कैसे बैठाया जाय! जैसे दुकान में हल्दी आदि विविध मसालों के बहुत से खाने भरे हों और हल्दी की जाति के और मसाले आयें तो उसी खाने में धर देते हैं किन्तु हल्दी से भिन्न जाति का उच्च प्रकार का माल आता है तो उसे रखने के लिये पुराने मसाले के खाने खाली करना पड़ते हैं, और इसके लिये दुकानदार जल्दी निर्णय कर लेता है; उसी प्रकार अपूर्व आत्मधर्म के लिये अनादिकालीन विपरीत मान्यता के खाने खाली करने का पुरुषार्थ आवश्यक होता है। आत्मा अनादि-अनन्त है, न तो उसका प्रारम्भ है न अन्त है और वह त्रिकाल स्वतन्त्ररूप से बना रहेगा। उसे किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में अथवा किसी भाव में, पर-सत्ता के आधीन होना नहीं होता। संयोग को जाननेवाला सदा असंयोगी ज्ञातास्वरूप है। उसे जाने बिना जितना जो कुछ करता है, वह सब वृथा है।

अनादि काल से कभी यथार्थ वस्तु का विचार नहीं किया। 'मैं हूँ' तो मेरे स्वरूप को समझने का, प्राप्त करने का उपाय भी होना ही चाहिए—वह तो है ही। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण स्वरूप को समझने की, सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को ग्रहण करने की और परमात्मदशा—सिद्धदशा प्रगट करने की शक्ति प्रति समय त्रिकाल विद्यमान है, तथापि विपरीत मान्यता की जड़ें बहुत गहरे तक पहुँची हुई हैं इसलिए वह उसे नहीं मानता। अपने स्वरूप को समझना अपने को ही कठिन मालूम हो—ऐसा नहीं हो सकता; किन्तु रुचि नहीं है और अनादि काल से अपने स्वरूप का अनभ्यास बना हुआ है तथा पर के प्रति प्रेम है, इसलिए उसे कठिन मानता है।

जहाँ पूर्ण स्वरूप निश्चय का आश्रय हो वहाँ भेदरूप व्यवहार होता है। किन्तु यह बात तीन काल और तीन लोक में यथार्थ नहीं हो सकती कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो जाता है। निश्चय-परमार्थ की श्रद्धा के पूर्व और श्रद्धा के पश्चात् शुभभावरूप व्यवहार होता तो है, किन्तु उससे निर्मलता प्रगट नहीं होती। मैं अनन्त गुण का पिण्ड हूँ, निर्विकार आनन्दकन्द हूँ, इस प्रकार पूर्ण का लक्ष्य करने पर, निर्मल अखण्ड की महिमा के होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और इस सम्यग्दर्शन के साथ प्रत्येक गुण की आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थदृष्टि का विषय सम्पूर्ण वस्तु है यह ख्याल में आये बिना व्यवहार सच्चा नहीं होता। व्यवहार का विषय अवस्था है, वह सदा स्थिर रहनेवाली नहीं है इसलिए ग्राह्य नहीं है। जहाँ जो जैसा हो वहाँ उसे वैसा जानना मात्र ही व्यवहार का प्रयोजन है। पूर्ण पर भार होने से अपूर्ण निर्मल पर्याय पूर्ण हो जाती है। जैसे सोने की डली में उच्च एवं सूक्ष्म कलामय हो जाने की शक्ति है, यह निश्चय पूर्वक जानने के बाद यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि इसमें यह कला प्रगट होगी या नहीं; इसी प्रकार अखण्ड ध्रुव आत्मा को यथार्थतया यह जान लेने पर कि मैं सर्वज्ञ भगवान के समान ही हूँ और उन जैसी ही सम्पूर्ण शक्ति मुझमें भी है, एवं वह पूर्ण दशा मुझसे ही प्रगट होगी—यह चिन्ता नहीं रहती कि शुद्ध स्वभाव कैसे प्रगट होगा ? मैं त्रैकालिक अनन्त शक्ति का पिण्ड हूँ, उसके बल से निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवस्था प्रगट होती है। उस अवस्था को अखण्ड के आश्रय पूर्वक जानना सो निश्चय-व्यवहार की सन्धि है।

यह सब अन्तरंग के अरूपी धर्म की बात है। इसे वही जानता है जिसने अन्तरंग मार्ग के रहस्य को प्राप्त किया हो अथवा जो उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है; दूसरा कोई नहीं जान सकता।

आत्मा पर-निमित्त के भेद से रहित, अनन्त गुणों का पिण्ड, अनादि-अनन्त, एकरूप है। उसकी संसार-अवस्था (भूल और अशुद्धता) अनादि सान्त है, मोक्ष-अवस्था सादि अनन्त है। इस प्रकार एक अखण्ड तत्त्व में बन्ध-मोक्ष, मलिनता-निर्मलता इत्यादि दो-दो पहलुओं के भेदरूप अवस्था को देखनेवाली दृष्टि को गौण करके, त्रैकालिक ध्रुव एकाकार पूर्ण वस्तु का निर्मल अभेद लक्ष्य करने पर उसके बल से निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है; और उस अखण्ड के बल से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होती है। वह दोनों व्यवहार हैं। मोक्षदशा प्रगट होने से पूर्व शुद्धदृष्टि पूर्वक अशुभ से बचने के लिये शुभ का अवलम्बन होता है, वह असद्भूतव्यवहार है। उन (व्यवहार और निश्चय) दोनों नयों के ज्ञान की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि:—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।"

अर्थ :—भगवान कहते हैं हे भव्य जीवो! यदि तुम जिनमत को प्रवर्तित करना चाहते हो तो अखण्ड परमार्थदृष्टि और तदाश्रित अवस्था में होनेवाले भेद को जाननेवाली व्यवहारदृष्टि (व्यवहार और निश्चय दोनों नयों) की अविरोधी सन्धि को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तीर्थ-व्यवहारमार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

कोई कहता है कि मुझे 'अच्छा' (कल्याण) करना है, तो उसका यह आशय हुआ कि जिसमें बुराई का अंश न आये किन्तु सम्पूर्ण अच्छा रहे, नित्य स्थिर रहे, उसके उपाय में किसी अन्य का आश्रय न लेना पड़े। जो ऐसा होता है, वह यथार्थ हित—'अच्छा' कहलाता है।

जिसे हित करना है, वह अहितरूप वर्तमान अवस्था को बदलना चाहता है और हितयुक्त अवस्था को प्रगट करके उसमें स्थिर होना चाहता है। क्योंकि यदि अपनी अवस्था विकाररूप-अहितयुक्त न हो तो अहितपने से रहित हितयुक्तता होने की अपेक्षा कहाँ से आयेगी ? मैं मात्र हित का इच्छुक हूँ इसलिए जो हित है वह बना रहेगा और उस हित में जो विरोधरूप अहितपन है, उसे अलग कर दूँगा, इस प्रकार नित्य स्थायी और अवस्था को बदलनेवाली दो अपेक्षाएँ (निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की दृष्टि) हो गयी। जिसे आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रगट करना है, उसे यह दो नय (ज्ञान की दो अपेक्षाएँ) जानना चाहिए।

कोई कहता है कि 'मुझे भूल और विकार दूर करना है।' तो दूर हो सकता है, वह अपने स्वभाव में नहीं है और जिसका नाश करना चाहता है, वह रखनेयोग्य त्रैकालिक स्वभाव से विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नित्य एकरूप स्थायी है, वह अच्छा है-ग्राह्य है, और विरोधभाव दूर करने योग्य है। इस प्रकार ध्रुवस्वभाव के आश्रय से अविरोधीभाव उत्पाद और विकारीभाव का व्यय करना सो हित करने का उपाय है।

वस्तु में त्रिकाल सुख है, उसे भूलकर जो विकार के दु:खों का अनुभव कर रहा था, उसकी जगह अविकारी नित्य स्वभाव के लक्ष्य से भूल को दूर करके भूल रहित स्वभाव में स्थिर रहने का अनुभव करने पर प्रतिसमय अशुद्धता का नाश और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। इसलिए यदि वीतराग के मार्ग को प्रवर्तित करना चाहते हो तो निश्चय

और व्यवहार दोनों अपेक्षाओं को लक्ष्य में रखना होगा।

जो उत्पाद-व्यय है, सो व्यवहार है, और जो एकरूप ध्रुव वस्तु है सो निश्चय है- यह दोनों आत्मा में हैं। परद्रव्य में, देह की क्रिया में या पुण्य में व्यवहार और आत्मा में निश्चय, इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं हैं।

अखण्ड ध्रुवस्वभाव के अभेद विषयरूप से यथार्थ श्रद्धा करने पर उसमें खोटी श्रद्धा का नाश, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल स्थिरता की अंशत: उत्पत्ति और अखण्ड वस्तु ध्रुव। यथावत् अखण्ड और अखण्ड को जाननेवाले दो नय वीतराग स्वभाव को प्रगट करने के लिये जानना आवश्यक हैं। नित्य एकरूप वस्तु की प्रतीति और आश्रय के बिना बदलकर कहाँ रहा जायेगा? इसलिए यदि परमार्थरूप ध्रुव निश्चय नहीं जाना जायेगा तो वस्तु का नाश हो जायेगा, और वस्तु का नाश मानने से अवस्था का भी नाश हो जायेगा। और यदि वर्तमान अवस्था को वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारनय का विषय पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग लोप हो जायेगा। क्योंकि अखण्ड वस्तु का लक्ष्य वर्तमान पर्याय के द्वारा होता है और पर्याय का सुधार द्रव्य के लक्ष्य से होता है। पर्याय तो वर्तमान वर्तनरूप अवस्था है, उसे वह जैसी है, वैसा न जाने तो व्यवहारधर्म-मोक्षमार्ग का लोप हो जायेगा।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, पर से भिन्न और अपने अनन्त गुण एवं त्रिकाल की अवस्था से अभिन्न है, जिसमें प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। यदि अवस्था न बदले तो दु:खरूप अवस्था को दूर करके सुख नहीं हो सकता। सभी जीव आनन्द-सुख चाहते हैं, किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि वह कहाँ है और उसे प्राप्त करने का क्या उपाय है। सुख और सुख का उपाय अपने में ही है किन्तु उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है। पर में कल्पना से सुख मान रखा है किन्तु वास्तव में पर के आश्रय से सुख नहीं हो सकता। सबको चिरस्थायी सुख चाहिए है; किसी को दु:ख अथवा अपूर्ण सुख नहीं चाहिए। अनन्त काल से सुख के लिये सभी प्रयत्न करते हैं इसलिए यह स्वत:सिद्ध है कि लोग कहीं सुख के अस्तित्व को स्वीकार तो करते ही हैं, और उसे प्राप्त करने का उपाय भी अपनी कल्पना के अनुसार करते हैं। दूसरे को मारकर, परेशान करके, अपमान के प्रसंग में उसकी हत्या करके भी आई हुई प्रतिकूलता का नाश करना चाहते हैं। अज्ञानी जीव पहले मरण को महात्रासदायक मानता था किन्तु कोई अनादर अथवा बाह्य प्रतिकूलता का प्रसंग आने पर

उससे दूर होने के लिये अब जीने में दु:ख मानकर मरण को सुख का कारण मानता है। इस प्रकार जगत के प्राणी किसी भी प्रकार से सुख को प्राप्त करने के लिये हाथ-पैर खेपते हैं, इसलिए यह सिद्ध है कि वे सुख का और सुख के उपाय का अस्तित्व तो स्वीकार करते ही हैं; उन्हें यह खबर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है, वह कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, इसलिए वे दु:खी ही बने रहते हैं।

अब यहाँ यह कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार किस प्रकार आता है।

लोग धर्म के नाम पर बाह्य प्रवृत्ति में व्यवहार मानते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि पुण्य करेंगे या शुभभाव करेंगे तो लाभ होगा। किन्तु वे उसमें नहीं देखते जो आत्मा ही अनन्त गुण का धाम-पूर्ण सुख का सत्तास्थान है। सुख के लिये मृत्यु का इच्छुक अज्ञानभाव से वर्तमान समस्त संयोगों से छूटना चाहता है, इसलिए परवस्तु के बिना अकेला रहूँ तो सुख होगा ऐसा मानकर एकाकी रहकर सुख लेना चाहता है, इसलिए यह स्वीकार करता है कि—मात्र अपने में ही अपना सुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो पर के आश्रय से रहित सुख रहता है, वही सच्चा सुख है। इससे तीन बातें निश्चित होती हैं—

(१) सुख है (२) सुख का उपाय है (३) पर के आश्रय से रहित स्वयं अकेला पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप स्थिर रहनेवाला है। ऐसा होने पर भी अपने को भूलकर दूसरे से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। सुख की पूर्ण प्रगट दशा मोक्ष है और पूर्ण सुख को प्रगट करने का उपाय मोक्षमार्ग है।

आनन्द आत्मा में है, इसकी खबर न होना सो अज्ञानभाव है। और ज्ञान-आनन्द मुझमें ही है, पर के सम्बन्ध से मेरा ज्ञान-आनन्द नहीं है, ऐसी खबर होना ज्ञानभाव है।

मात्र तत्त्व (अपने शुद्धस्वभाव) में विकार (पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव) नहीं हो सकते; किन्तु आत्मा के साथ कर्म-जड़ रजकण का जो निमित्त है, उसके अवलम्बन से वर्तमान में विकार होता है। अशुभभाव को छोड़कर तृष्णा को कम करने के लिये शुभभाव ठीक हैं, किन्तु उन शुभभावों से अविकारी आत्मा का धर्म नहीं हो सकता। आत्मस्वरूप को यथार्थतया नहीं समझता और आँखें बन्द करके बैठा रहता है, तब अँधेरा ही तो दिखायी देगा और बाहर जड़ की प्रवृत्ति दिखायी देगी। अज्ञानी यह मानता है कि रुपया-पैसा देने से धर्म होता है-परमार्थ होता है किन्तु रुपया-पैसा तो जड़ है, उसके स्वामित्व का भाव

ही विकारी है। जड़ वस्तु जीव के आधीन नहीं है। जो स्वामित्वभाव से राग और पुण्य के काम करता है उसे अरूपी, अतीन्द्रिय, साक्षीस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की प्रतीति नहीं है। पहले से ही किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी दृढ़ श्रद्धा के द्वारा सर्वज्ञ के न्यायानुसार आत्मा में अखण्ड पूर्ण वस्तु का निर्णय करना चाहिए; उसके बिना पर का कर्तृत्व-स्वामित्व माने बिना नहीं रहता।

मोक्षरूपी फल के लिये निश्चयनय और व्यवहारनय—इन दो अपेक्षाओं को जानना चाहिए। दही को बिलोकर मक्खन निकालने के लिये जब मथनी चलायी जाती है तब उसमें रस्सी तो एक होती है किन्तु उसके छोर दो होते हैं; उसमें से जब एक छोर को खींचते हैं तब दूसरे छोर को छोड़ देने से काम नहीं चल सकता, और जब दूसरी ओर के छोर को खींचते हैं, तब पहले छोर को नहीं छोड़ देते। और एक ही साथ दोनों छोरों को खींचने में काम नहीं चलता तथा एक ही साथ दोनों छोरों को छोड़ देने से भी काम नहीं बनता, किन्तु एक को खींचते समय दूसरे को ढीला करने से मथानी चलती है, दही बिलोया जाता है और तब मक्खन निकलता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है, अपनी अनन्त गुणरूपी शक्ति से एकरूप है; उसे अभेद ध्रुवरूप जानना सो निश्चय है। उस निश्चय के द्वारा जब अखण्ड वस्तु पर भार देना होता है, तब विकार और निर्मल अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। अवस्था के बिना द्रव्य का लक्ष्य नहीं होता और वस्तु के लक्ष्य के बिना अवस्था निर्मल नहीं होती। ग्यारहवीं गाथा में त्रैकालिक अखण्ड स्वभाव की मुख्यता होने से और अवस्था के जितने भेद होते हैं, वे सब क्षणिक होने से उन्हें अभूतार्थ कहकर व्यवहारनय को गौण किया था, किन्तु यदि अवस्था का निषेध करे तो विकार का नाश और अविकारी निर्मल अवस्था का प्रगट होना कैसे बन सकता है? मोक्षमार्ग में दो प्रकार जिस-जिस भूमिका में जैसे होते हैं, उन्हें यदि वैसा न जाने तो ज्ञान की भूल हो जाती है और ज्ञान की भूल से व्यवहार तथा परमार्थ दोनों में भूल हो जाती है; इसलिए सच्चा पुरुषार्थ नहीं हो सकता और जिनमार्ग (वीतराग मार्ग) का नाश हो जाता है। इसलिए भगवान ने कहा है कि—यदि निर्मल आनन्द की पूर्ण अवस्था प्रगट करना चाहते हो तो दोनों अपेक्षाओं को लक्ष्य में रखना।

यदि वर्तमान में विकार न हो तो दुःख का वेदन किसे हो? देह को तो कुछ खबर

होती नहीं है और ज्ञाता ने अपनी वर्तमान अवस्था में जो परसम्बन्ध के लक्ष्य से भूल तथा विकार किया है, वह क्षणिक अवस्था मात्र के लिये है। विकार अविकार की विपरीत दशा है। वर्तमान अवस्था में प्रवर्तमान विकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से दूर हो जाता है। विकार का नाश और अविकारी अवस्था का होना तथा उसे जाननेवाली व्यवहारदृष्टि एवं नित्य अखण्ड वस्तु की लक्ष्यभूत निश्चयदृष्टि दोनों प्रयोजनवान हैं। अर्थात् ज्ञान करनेयोग्य है।

निश्चय और व्यवहार दोनों भीतर अरूपी तत्त्व में हैं, उसे जाने बिना निर्मलता का पुरुषार्थ नहीं होता। अखण्ड तत्त्व के आश्रयपूर्वक जानने में हेय-उपादेय का विवेक करनेवाला ज्ञान निर्मल होता है; पूर्ण निर्मल होने पर भेदरहित केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान प्रमाण होता है। जैसे मक्खन के तैयार हो जाने पर मथानी की रस्सी के दोनों छोर को पकड़ने का काम पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण वीतरागतारूप केवलज्ञान के हो जाने पर पूर्ण प्रमाण हो जाता है, और तब वहाँ दो नयों का भेद नहीं रहता, उसमें निश्चय-व्यवहार के दो पहलू गौण-मुख्य नहीं होते।

जहाँ पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती वहाँ बीच में शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता। वह शुभभाव असद्भूतव्यवहार है। वह वस्तु में नहीं होता किन्तु परावलम्बन से नया होता है। अखण्ड निर्मल के लक्ष्य से जितनी स्थिरता होती है, वह सद्भूतव्यवहार है। निश्चयदृष्टि में भंग की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा अखण्ड, ध्रुव, एकाकार, ज्ञायक है, ऐसे अकषायभाव के लक्ष्य से अमुक अंश में निर्मलभाव प्रगट होते हैं, उसके साथ जितना शुभभाव होता है, उसे उपचार से शुद्धि में निमित्त कहना सो असद्भूतव्यवहार कहलाता है। किन्तु जिसकी यथार्थ निरावलम्बी दृष्टि नहीं है, उसका शुभभाव उपचाररूप व्यवहार भी नहीं है।

अशुभ से बचने के लिये शुद्धस्वरूप के सन्मुख रहकर अपनी भूमिका के अनुसार ज्ञानी के शुभभाव होता है किन्तु उससे वह लाभ नहीं मानता। वह यह जानता है कि— जितना राग दूर हुआ उतना भाव निर्मल होता है। वह यह कदापि नहीं मानता कि— शुभभाव में युक्त होना राग को दूर करने का उपाय है; किन्तु वह यह मानता है कि अखण्ड निर्मलस्वभाव पर निर्मलश्रद्धा की शक्ति लगाने से, अभेद में एकाग्र दृष्टि से उन्मुख होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। शुभ की प्रवृत्ति से राग मन्द होता है किन्तु उसका अभाव

नहीं होता। शुभ प्रवृत्ति धर्म का सच्चा उपाय नहीं है किन्तु निवृत्त स्वरूप के अभेद लक्ष्य से स्थिर होना सच्चा उपाय है। अन्तरंग विषय का मेल किसी बाह्य प्रवृत्ति के साथ नहीं होता, गुण-गुणी से प्रगट होता है; इसकी विधि अन्तरंग तत्त्वदृष्टिवाले जानते हैं।

भावार्थ—सौटंची सोना प्रसिद्ध है, यदि सौटंच से किंचित् न्यून हो तो उसमें पर-संयोग की कालिमा रहती है, इसलिए ताँबे के उपचार से सोना अशुद्ध कहलाता है। वही सोना जब ताव देते हुए अन्तिम-ताव से उतरता है, तब सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन लोगों को सौटंची सोने का ज्ञान, श्रद्धान और प्राप्ति हो चुकी है, उन्हें उससे कम के सोने का कोई प्रयोजन नहीं होता; किन्तु जिन्हें सौटंची शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई है, उन्हें सौटंची से कम का सोना भी प्रयोजनवान होता है। इसी प्रकार यह जीव नामक पदार्थ पुद्गल के संयोग से अशुद्ध-अनेकरूप हो रहा है। सर्व परद्रव्यों से भिन्न, एक ज्ञायकतत्त्व मात्र का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति—यह तीनों जिसे हो गये हैं, उसे पुद्गल संयोगजनित अनेकरूपता को कहनेवाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं होता; किन्तु जहाँ तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापद प्रयोजनवान है। जिन जीवों को सौटंची शुद्ध स्वर्ण की भाँति पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो गया है उन्हें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के भेदों को जानना शेष नहीं रहता, उन्हें उनका ज्ञान तो पहले ही हो चुका है। आत्मा में उन्नतिक्रम की चौदह भूमिकाएँ हैं। उनमें धर्म का प्रारम्भ चौथी भूमिका (चतुर्थ गुणस्थान) से निर्विकल्प अनुभव सहित, श्रद्धा के द्वारा पूर्ण स्वरूप आत्मा की प्रतीति होने पर होता है। पश्चात् अखण्ड निर्मल वस्तु के लक्ष्य के बल से क्रमशः निर्मलता बढ़कर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ पूर्णरूप स्व-वस्तु में पूर्ण निर्मल पर्याय की एकता होकर अखण्ड प्रमाण होता है। फिर निश्चय-व्यवहार की गौणता-मुख्यता के भेद नहीं रहते।

यद्यपि गन्ने में रस होता है किन्तु छिलके के संयोग को देखने पर रस अलग नहीं दिखायी देता; तथापि रस और छिलका भिन्न है ऐसे ज्ञान के बल से रस और छिलका अलग किया जाता है। तिल में जो खली होती है, वह तैल का स्वरूप नहीं है, तथापि उसमें वर्तमान में तैल है, यह जानने पर तैल के लक्ष्य से खली को जुदा किया जाता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा को पुद्गल कर्म के संयोग से अवस्था में राग-द्वेष, अज्ञान के

विकारीभाव होते हैं, वे वर्तमान एक-एक समयमात्र के हैं, और अन्तरंग में अखण्ड स्वभाव पूर्ण अविकारी ध्रुव है, यह जान ले तो विकार दूर किया जा सकता है। भेद के लक्ष्य से राग होता है, और अखण्ड ज्ञायक के लक्ष्य से राग दूर होता है।

आचरण का अर्थ इस प्रकार है:—आ=अनादि अनन्त एकाकार ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसकी मर्यादा में चरण=चलना, जमना, स्थिर होना। पुण्य-पाप के भेद से रहित अकषाय भाव की स्थिरता को सर्वज्ञ भगवान ने चारित्र कहा है। ऐसे समझे बिना मात्र बाह्य प्रवृत्ति को चारित्र मान ले और व्यवहार-व्यवहार किया करे किन्तु समझे कुछ भी नहीं तो उसे धर्म कहाँ से होगा।

स्फटिक मणि में जैसे अपनी योग्यता से लाल-काला प्रतिबिम्ब दिखायी देता है तथापि वह उसका मूल स्वभाव[१] नहीं है, इसी प्रकार आत्मा में अज्ञानभाव से पुण्य-पापरूप अवस्था होने की योग्यता है। वह विकारी अवस्था आत्मा में होती है, उसका कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं है; उसमें परवस्तु निमित्त कहलाती है। मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, पर का कर्ता हूँ—ऐसी मान्यता-भूल करने की योग्यता जीव में न हो और परनिमित्त बलात् भूल कराये, ऐसा नहीं हो सकता।

क्षणिक विकार मेरा स्वभाव नहीं है, देहादिक कोई परवस्तु मेरी नहीं है, मैं त्रैकालिक एकरूप ज्ञायक हूँ, विकार का नाशक हूँ—ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।

मुझमें कर्म का आवरण नहीं है, जड़कर्म अपनी जड़ अवस्था रूप में अपने क्षेत्र में रहता है; उसके आश्रय से होनेवाला विकार भी परमार्थ से मेरा नहीं है, मैं अज्ञानभाव से उसका कर्ता बन गया था। ऐसा स्वभाव त्रिकाल अविकारी है, ऐसे स्वभाव की प्रतीति में पर-निमित्त का भेद-विकार दिखायी नहीं देता। आत्मा के साथ एक आकाश क्षेत्र में दूसरी वस्तु है, उसके निमित्त से अपनी योग्यता से भूल के कारण पुण्य-पाप के भाव वर्तमान अवस्थामात्र तक होते हैं, वे मेरे हैं, करनेयोग्य हैं, इस प्रकार जो मानता है, उसे यह श्रद्धा नहीं है कि आत्मा विकार का नाशक और सदा अविकारी स्वभाव है। मेरे स्वभाव में कमी नहीं है, विकार नहीं है, पर का संयोग नहीं है, मेरा स्वभाव किसी के आधीन नहीं है, ऐसी स्वतंत्र ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा होने पर निर्विकल्प अनुभव सहित, अखण्ड ध्रुवदृष्टि में पूर्ण की प्रतीति होती है।

१. स्वभाव=जो पर-निमित्त के आश्रय के बिना एकरूप स्थिर रहे।

इस यथार्थ समझ के बिना, दृष्टि में परिपूर्ण स्वभाव यथार्थतया लक्ष्य में आये बिना निर्मल स्वभाव के लक्ष्य से विकारी अवस्था का नाश, निर्विकारी अवस्था का उत्पाद (व्यवहार) और अविनाशी चैतन्य वस्तु ध्रुव है (निश्चय) ऐसी व्यवहार-निश्चय की अविरोधी सन्धि नहीं हो सकती।

कोई रजकण की क्रिया मेरी नहीं है। अंगुली संचारन भी आत्मा के आधीन नहीं है। परवस्तु का कोई कार्य कोई आत्मा व्यवहार से भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़वस्तु भिन्न-भिन्न है, स्वतन्त्र है। प्रत्येक वस्तु में अवस्था की उत्पत्ति, विनाश और वस्तुत्व के रूप में स्थिर रहना (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) निज से ही होता है। किसी की क्रिया किसी के आधार से नहीं होती। किसी को किसी से हानि-लाभ नहीं हो सकता। पर के अवलम्बन से आत्मा में होनेवाला विकारीभाव क्षणिक अवस्था तक ही है, वह आत्मा का ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं विकार का नाशक और गुण का रक्षक हूँ—ऐसी यथार्थ प्रतीति के बिना पूर्ण स्वरूप की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन की आत्मानुभव सहित प्राप्ति नहीं होती। जो बाह्य प्रवृत्ति से और बाह्य में ही धर्म मान बैठे हैं, वे तत्त्वज्ञान का विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें पर से भिन्न अविकारी परमार्थस्वरूप का अनादिकाल से विस्मरण और पर का स्मरण विद्यमान है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कही गयी वस्तु अनादिकालीन अनभ्यास के कारण समझना दुर्लभ हो गयी है; वैसे वह स्वभावत: सहज है, यदि स्वत: तैयार होकर समझना चाहे तो दुर्लभ नहीं है। पुण्य-पाप की भावना प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह आत्मा का ध्रुवस्भाव नहीं है। ऐसे अविकारी स्वभाव की प्रतीति होने के बाद जब तक वीतराग नहीं हो जाता तब तक ज्ञानी जीव शुभाशुभभाव में युक्त होकर भी अन्तरंग से उसका कर्ता नहीं होता और उस भाव को करनेयोग्य नहीं मानता।

जहाँ तक आत्मा पर से निराला, अखण्ड, ज्ञायक, असंग है; उसकी परमार्थ से यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो वहाँ तक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों का सुनना और धारण करना आवश्यक है। किन्तु जिसे श्रवण ही नहीं करना है अथवा श्रवण करने के बाद जिसे सत्य-असत्य की तुलना नहीं करनी है वह यह क्यों कर निश्चय करेगा कि सच्चा उपदेश कौन सा है। पहले इतनी तैयारी के बिना वह न तो सत्य का जिज्ञासु है और न सत्य का शोधक या इच्छुक ही है।

जगत के समस्त धर्म, सभी देव और सभी गुरु सच्चे हैं, यह मानना सत्य और असत्य को एकसा मानने की मूढ़ता के समान है, अविवेक है। जब बाजार में दो पैसे की हण्डी लेने जाता है, तब उसे खूब ठोक-बजाकर परीक्षा करके लेता है, तथा बाजार की अन्य कोई भी चीज़ जो जैसी दुकानदार देता है, उसे वैसी ही आँख बन्द करके नहीं ले लेता; तब फिर जो परमहितरूप आत्मा है, जिसके यथार्थ स्वरूप को जानने पर अनन्त भव की भूख मिट जाती है, उसमें अजान क्यों रहता है ? अपूर्व वस्तु को समझाने में सच्चा निमित्त कौन हो सकता है इसकी पहले यथार्थ पहिचान करनी चाहिए। जो श्रोता यथार्थ वस्तु को समझने की परवाह नहीं करते और मध्यस्थ रहकर शोधकरूप से सत्य क्या है इसकी तुलना नहीं करते एवं चाहे जैसा उपदेश सुनकर उसमें 'हाँ जी हाँ' किया करते हैं, वे ध्वजपुच्छ के समान हैं।

जैसे वर्षा के दिनों में बालक धूल के घर बनाते हैं किन्तु वे रहने के काम में नहीं आते, उसी प्रकार चैतन्य अविनाशी स्वभाव क्या है ? उसे समझे बिना अपनी विपरीत मान्यता के अनुसार शुभ विकल्प से, बाह्य क्रिया से, पुण्य-पाप में धर्म माने-मनावे, किन्तु उससे अनित्य, अशरण और दु:खरूप संयोग ही मिलता है। वह असंयोगी शाश्वत् शान्ति का लाभ प्राप्त कराने के काम में नहीं आता इसलिए जो सुखस्वरूप आत्मा है, उसकी पहिचान स्वयं अपने आप निश्चित करनी पड़ेगी। अवस्था में भूल करनेवाला मैं हूँ, भूल को-दु:ख को जाननेवाला 'मैं' भूलरूप या दु:खरूप नहीं हूँ; संयोगी अवस्था बदलती है किन्तु मैं बदलकर उसी में मिल नहीं जाता, अथवा नाश को प्राप्त नहीं होता, भूल और विकारी अवस्था का नाश, अभ्रान्त-अविकारी अवस्था की उत्पत्ति, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहनेवाला ध्रुवरूप मैं हूँ। यह उपदेश पूर्वापर विरोधरहित है अथवा नहीं इसका निर्णय जिज्ञासुओं को करना चाहिए।

बहुमत को देखकर खोटे को सच्चा नहीं कहा जा सकता। 'हमारी देवी के बराबर बड़ा और कोई विश्व में नहीं है'—ऐसा तो भील इत्यादि भी कहा करते हैं। भला अपनी मानी हुई वस्तु को कौन हल्का कहेगा ? प्रत्येक दुकानदार अपने माल को ऊँचा कहकर उसकी प्रशंसा करता है किन्तु ग्राहक उसकी परीक्षा किये बिना यों ही नहीं ले लेता, देख-भालकर ही लेता है। इसी प्रकार जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है, ऐसे वीतरागी वचन

कौन से हैं, और उनमें क्या कहा गया है, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। वीतराग के वचन में कहीं से भी कोई विरोध नहीं आ सकता। प्रत्येक तत्त्व भिन्न और स्वतन्त्र है। जीव अनादि काल से समय-समय पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में भूल और विकार करता चला आया है, वह भूल और विकार त्रैकालिक शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से स्वाधीनतया दूर किया जा सकता है। राग-द्वेष की अवस्था को जानकर, राग-द्वेष रहित अविनाशी स्वरूप को जाना और उसकी श्रद्धा के द्वारा राग को दूर करने का उपाय करके वीतरागदशा प्रगट की; इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों की अपेक्षा आ गयी। इस प्रकार एक तत्त्व में दो प्रकार हैं—जिसे यह खबर नहीं है, उसे वीतराग के वचन की यथार्थ पहिचान नहीं है।

पहले यह जानना होगा कि—यथार्थ उपदेश कहाँ से प्राप्त होता है, उसकी परीक्षा करनी पड़ेगी। जहाँ अपने में अपूर्व तत्त्व को समझने की जिज्ञासा होती है, वहाँ सत्य को समझानेवाले मिल ही जाते हैं, समझानेवाले की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यदि कदाचित् ज्ञानी का योग न मिले तो सच्ची आन्तरिक लगनवाले जीव को पूर्वभव के सत् समागम का अभ्यास याद आ जाता है। उपदेश के सुन लेने से तत्त्व को समझ ही लिया जाता हो सो बात नहीं है, किन्तु जब समझने की तैयारी हो तब उपदेश का निमित्त उपस्थित होता है। और जब स्वयं समझता है, तब निमित्त का आरोप करके उसे उपकारी कहा जाता है। यदि मात्र सुनने से ही ज्ञान हो जाता हो तो यह सबको होना चाहिए। घड़े के साथ घी का संयोग होने से वह (घी के आरोप से) व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है और पानी के संयोग से पानी का घड़ा कहलाता है, किन्तु वास्तव में वे घड़े मिट्टी के होते हैं। इसी प्रकार जिसमें सत्य को समझने की शक्ति थी उसने जब सत्य को समझा तब साथ ही संयोग भी विद्यमान था इसलिए विनयभाव से व्यवहार में यह आरोपित करके कहा जाता है कि—उस संयोग से धर्म को प्राप्त किया है। यदि निश्चय से ऐसा मान ले तो कहना होगा कि उसने दो तत्त्वों को भिन्न नहीं माना है। जब जन्म-मरण के दुःख और पराधीनता की वेदना मालूम हो और यह श्रद्धा में आये कि कोई अनित्य संयोग मुझे शरणभूत नहीं है; तब शरणभूत वस्तु क्या है, सत् क्या है यह जानने की अन्तरंग से उत्कृष्ट आकांक्षा उत्पन्न होती है; इस प्रकार अपूर्व सत् क्या है, यह जानने के लिये तैयार हुआ और सत् को जाना तब जिस ज्ञानी का संयोग होता है, तब निमित्त कहलाता है।

प्रश्न:—समझनेवाला बिना ही सुने यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे करेगा ?

उत्तर:—जहाँ आत्मा की पात्रता होती है वहाँ श्रवण करने को मिलता ही है, किन्तु यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय करनेवाला आत्मा स्वयं ही है। एक बार स्वयं जागृत होने पर सन्देह नहीं रहता। जहाँ मुक्त होने की तैयारी हुई, अनन्त काल के जन्म-मरण का नाश और अविकारी मोक्षभाव की उत्पत्ति तथा प्रारम्भ हुआ वहाँ सन्देह रह ही नहीं सकता। मैं नित्य स्व-रूप से हूँ, पर-रूप से नहीं हूँ, तब फिर मुझे परवस्तु लाभ या हानि नहीं कर सकती। जो ऐसा नि:सन्देह विश्वास करता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ, मुझमें पराधीनता नहीं है, उसके भव शेष नहीं रहता। किन्तु जिसके भव का सन्देह दूर नहीं होता उसे नि:सन्देह स्वभाव का सन्तोष और सर्व समाधानरूप शान्ति प्रगट नहीं होती। यथार्थ वस्तु की प्रतीति होने के बाद चारित्र की अल्प अस्थिरता रहती है, किन्तु स्वभाव में और पुरुषार्थ में सन्देह नहीं रहता।

अज्ञात स्थान में अन्धे आदमी को निधड़क पैर उठाकर चलने का साहस नहीं होता; क्योंकि उसे यह शंका बनी रहती है कि यह मार्ग सीधा होगा या कहीं कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होगा ?

प्रश्न:—जब कोई मार्ग बताये तभी तो वह चल सकेगा ?

उत्तर:—दूसरा तो मात्र दिशासूचन ही कर सकता है कि भाई ! सीधे नाक की सीध में चले जाओ। यह सुनकर जब अपने को उसकी सज्जनता का विश्वास होता है, तभी उस दिशा में नि:शंक होकर कदम बढ़ाता है। इसी प्रकार सच्चे उपदेश को सुनकर भी यदि स्वयं नि:सन्देह न हो तो उसका आन्तरिक बल निर्मल स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। वह यह मानता है कि बहुत सूक्ष्म बातों को समझकर और बहुत गहराई में जानकर क्या लाभ है ? अपने से जो कोई करने को कहता है सो किया करो, ऐसा करते-करते कभी न कभी लाभ हो जायेगा। किन्तु जब तक अपने स्वाधीन पूर्णरूप स्वभाव को जानकर उसमें नि:सन्देह दृढ़ता न करे तब तक स्वभाव में स्थिर होने का काल नहीं हो सकता।

प्रश्न:—कोई विश्वास पूर्वक कहे तभी तो माना जायेगा ?

उत्तर:—जब निज को अन्तरंग से विश्वास का सन्तोष होता है और जो अपने को अनुकूल बैठता हे, उसे मानता है, तब निमित्त में आरोपित होकर कहता है कि मैंने इससे

माना है; किन्तु वास्तव में तो माननेवाला उसे ही मानता है जो अपने भाव से अनुकूल बैठता है। जैसे कोई धनवान की प्रशंसा करता है तो वह वास्तव में उस धनिक व्यक्ति की प्रशंसा नहीं करता, किन्तु अपने मन में धन का बड़प्पन जम गया है, इसलिए उस जमावट के गुण गाता है; इसी प्रकार जब अपने अन्तरंग में बात जम जाती है, तब निमित्त में आरोपित करके यह कहा जाता है कि—मैंने यह प्रस्तुत व्यक्ति से समझा है। (जैसे घी का घड़ा कहा जाता है।)

जो अनादिकाल से सत्यस्वरूप को नहीं जानता, उसने सत् को समझने की जिज्ञासापूर्वक तैयारी करके यह कहा कि जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है, उन वीतराग वचनों को सुनना चाहिए और धारण करना चाहिए, उसमें जहाँ सत् उपादान होता है, वहाँ सत् निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा मेल बताया है। असत् उपदेश सत् के समझने में निमित्त नहीं होता। सत्समागम की महिमा बताने के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'दूसरा कुछ मत ढूँढ़; मात्र एक सत् पुरुष को ढूँढ़कर उसके चरणकमल में (आज्ञा* में) सर्वभाव समर्पित करके प्रवृत्ति किये जा; फिर भी यदि मोक्ष न मिले तो मेरे पास से लेना।' त्रिकाल के ज्ञानियों ने जिस प्रकार नि:शंक स्वभाव की प्रतीति की है, करते हैं और करेंगे उसी के अनुसार जो नि:शंक होकर चला जाये वह वापिस हो ही नहीं सकता—मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेगा—ऐसा विश्वास दिलाते हैं।

जिसे सत् की यथार्थ आकांक्षा उत्पन्न हुई है, उसे यथार्थ उपदेश मिले बिना नहीं रहता। जैसे जंगल में जो अंकुर बढ़ने के लिये उगे हैं उन्हें वर्षा का निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इसी प्रकार जिसने अन्तरंग स्वभाव से पूर्ण सत् को प्राप्त करने की तैयारी की है, उसके लिये अनुकूल निमित्त (निमित्त के स्वतन्त्र कारण से) उपस्थित होता ही है। किसी को भी तैयारी होने के बाद निमित्त के लिये रुकना नहीं पड़ता ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसा वस्तुतत्त्व स्वतन्त्र है। निमित्त की संयोगरूप से उपस्थित मात्र है, किन्तु वह उपस्थित वस्तु किंचित् मात्र सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सदा भिन्न-भिन्न है और सम्पूर्ण स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र वस्तु को किसी दूसरी वस्तु की सहायता नहीं होती।

जो ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध करते हैं, वे वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय पर्याय में

* आज्ञा=जैसा स्वतन्त्र स्वभाव है, उसका ज्ञान। आ=मर्यादा, ज्ञा=ज्ञान।

उत्पन्न होकर तुच्छदशा को प्राप्त होते हैं; और उसी में अनन्त काल तक अनन्त जन्म-मरण करते हैं। तब सत् का विरोध करने से चैतन्यशक्ति अत्यन्त हीन होकर ढक जाती है और वह अनन्त काल में दो इन्द्रिय के रूप में भी उत्पन्न नहीं होते।

जिन्हें सत् के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए, मात्र ज्ञानी के द्वारा कही गयी विधि से स्वतन्त्र सत् को ही समझना है और मोक्ष ही प्राप्त करना है, ऐसे यथार्थ जिज्ञासा के अंकुर जिनके अन्तरंग में अंकुरित हुए हैं, उन्हें सदुपदेशक का समागम अवश्यमेव प्राप्त होता है।

अमुक उपदेश में यथार्थता है या नहीं, इसका यथार्थ निर्णय करने में आत्मा स्वयं ही कारण है। वह किसी के आधीन नहीं है—ऐसा अकारण स्वतन्त्र द्रव्य है। क्योंकि वह स्वयं अनादि-अनन्त सत्स्वरूप है। अपनी परवाह करे तो सत् समझ में आये-समझने का उत्साह निज में से ही आता है और उसमें स्वयं ही कारण होता है। जहाँ यथार्थ का निर्णय करने की अपनी तैयारी है वहाँ वैसा ही निमित्त उपस्थित होता है। समझने के बाद उपचार से विनय के लिये कहा जाता है कि:—

क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

(आत्मसिद्धि, पद १२५)

इस प्रकार जिसके गुण का प्रकाश हुआ है, वह सत् की पहिचान होने से बहुमान करके उसकी महिमा को गाता हुआ कहता है कि—हे प्रभु! आपने मुझे निहाल कर दिया, आपने मुझे तार दिया। किन्तु वह अन्तरंग में जानता है कि मैं स्वत: करनेवाला हूँ और तरने का उपाय भी मुझमें ही विद्यमान है, तथापि निमित्त में आरोप करके उसका बहुमान करता है। इसमें अपनी ही स्वतन्त्रता की विज्ञप्ति है।

शास्त्रों में व्यवहार से बहुत कुछ कथन आता है, जो कि घी के घड़े और पानी के घड़े की भाँति व्यवहारिक संक्षिप्त कथन-शैली है; उसका परमार्थ अलग होता है। कोई द्रव्य पर-सत्ता के आधीन नहीं है। जिसने अनादिकाल से सत्स्वरूप को नहीं समझा वह भी जब समझने को तैयार होता है, तब सत् को समझानेवाला निमित्त अवश्य उपस्थित होता है। जब स्वयं भीतर लक्ष्य करके स्वयं-स्वत: समझता है। तब परवस्तु निमित्तमात्र

होती है, तथापि वह उपकारी कहलाती है। समझने के समय निमित्त को और सुनने की ओर के राग को भूलकर, अन्तरंग में स्वलक्ष्य से ही समझा है; इसका कारण स्वयं अनन्त शक्तिरूप स्वतन्त्र द्रव्य है।

इस प्रकार यथार्थ जिनवचन—वीतरागवचन से समझना चाहिए, उसमें समझनेवाले का भाव अपने उपादान का है। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसका निर्णय करता है कि यथार्थ उपदेश का निमित्त कौन है, वह सच्चे पुरुषार्थ से निज की अपूर्व जागृति करता है। यह पहले निश्चय करना चाहिए कि किसका वचन सत्य माना जए। जो कुछ सुनने को मिलता है वह पूर्व-पुण्य का फल है। पुण्य परवस्तु है, वह परवस्तु का संयोग करता है किन्तु उसमें धर्म नहीं होता। वर्तमान में जीव सत्य को सुनने की जिज्ञासा करता है तथा ऐसा भाव करता है कि—संसार सम्बन्धी राग को छोड़कर सत् समागम करूँ, सत्य को सुनने जाऊँ; इस प्रकार की सत् की ओर की रुचि तथा शुभभावों का करना पूर्वकृत पुण्य का फल नहीं, किन्तु वर्तमान का नया पुरुषार्थ है।

वर्तमान के अशुभभाव को बदलकर नवीन प्रयत्न से शुभभाव किया जा सकता है। धर्म को सुनने की ओर की वृत्ति भी शुभभाव है। अशुभभाव को बदलकर नवीन शुभभाव करने से नवीन पुण्यबन्ध होता है तथापि वह कुछ अपूर्व नहीं है, क्योंकि इस जीव ने पुण्य तो अनन्त बार किया है। किन्तु यह उपदेश यथार्थ है या नहीं और उसके कहने का आशय क्या है, इसे ठीक समझकर वस्तु का यथार्थ निर्णय करना सो वर्तमान में किया गया अपूर्व पुरुषार्थ है।

ग्यारहवीं-बारहवीं गाथा की टीका में कुछ अपेक्षाएँ आती हैं, उनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है:—

ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि—सम्यग्दर्शन का लक्ष्य अखण्ड ध्रुव वस्तु पर है। उसके बल से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष की अवस्था होती है। वह अवस्था है-भेद है। जैसे पानी का सहज स्वच्छ स्वभाव ढक गया है, यह कहना व्यवहार-उपचारमात्र है; क्योंकि स्वभाव में अन्तर नहीं पड़ता। अवस्था ढकती है और अवस्था प्रगट होती है; तथापि पर्याय के उपचारमात्र से कह दिया जाता है कि पानी का स्वभाव ढक गया। इसी प्रकार उपचार से कहा जाता है कि—प्रबल कर्म के मिलने से आत्मा का सहज ज्ञायकभाव

ढक गया है, किन्तु सहजभाव नित्य एकरूप स्वभाव है, उसमें ढकने और प्रगट होने की अपेक्षा परमार्थ से नहीं होती; मात्र अवस्था (पर्याय) में मलिनता-निर्मलता का भेद हो जाता है। वर्तमान अवस्था पर-संयोग के आधीन हुई है वैसा ही जो अपने को मान लेता है, उसे यह खबर नहीं होती कि अपना अखण्ड सहज ध्रुव स्वभाव कैसा है। जिसे सहज वस्तुस्वरूप की प्रतीति नहीं होती उसका सम्पूर्ण आत्मा ढक गया है—ऐसा पर्यायदृष्टि से कहा जाता है। जिसे त्रैकालिक वस्तु की प्रतीति हो गयी है, उसकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, और उसका द्रव्य प्रगट हुआ है ऐसा उपचार से कहा जाता है। एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करता है—ऐसा कहा सो त्रैकालिक ज्ञायकभाव का वर्तमान पर्याय में अनुभव हुआ इस अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर कहा गया है। जिसे निर्मल पर्याय का अनुभव नहीं है, उसे अपनी अखण्ड वस्तु का अनुभव नहीं है ऐसा कहा है।

सम्यग्दृष्टि भूतार्थनय के आधीन है; व्यवहारनय अभूतार्थ है, अर्थात् बन्ध-मोक्ष की अवस्था, सम्यक् और मिथ्याज्ञान की अवस्था तथा अशुद्ध और शुद्ध इत्यादि अवस्था के भेद व्यवहारनय का क्षणिक और अनेकरूप विषय है। उस भेद के लक्ष्य से निर्मलता प्रगट नहीं होती। अल्पज्ञ को भेद के ऊपर लक्ष्य जाने पर राग हुए बिना नहीं रहता और अनन्त शक्तिरूप अखण्ड वस्तु ध्रुव है-भूतार्थ है, उसका विषय करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विकल्प दूर हो जाता है। इसलिए विकल्प और भेदरूप क्षणिक भाव को अभूतार्थ कहा है। भूतार्थ और नित्य स्थायी वस्तु का विषय करने पर निर्मल श्रद्धा और निर्मल ज्ञानरूप अवस्था प्रगट हुई इसलिए उपचार से सहज ज्ञायकभाव वस्तु प्रगट हुई—यह कहा है।

किसी तालाब में बहुत मोटी काई जमी हुई थी। कुद समय के बाद काई फट गयी; उसमें से एक कछुए ने जो कि जन्म से ही काई के नीचे पानी में रह रहा था ऊपर आकर आकाश की ओर देखा तो उसे पहली बार ही तारामण्डल और उसके मध्य में चमकता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा दिखायी दिया। इस चमकते हुए दृश्य को देखकर-चन्द्रमा के दर्शन करके कछुए ने सोचा कि—आज यह चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है, ऐसा तो पहले कभी नहीं देखा था। इस प्रकार उस कछुए की दृष्टि से चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है। इसी प्रकार जब यह जाना कि—आत्मा पर से निराला, अविकारी, त्रिकाल पूर्ण है; तब ऐसा परम अद्भुत द्रव्यरूप पहले कभी नहीं जाना था इसलिए यहाँ कहा जाता है कि सम्पूर्ण

आत्मा नया ही जाना है। यहाँ भेदविज्ञान सहित शुद्धनय के द्वारा अखण्ड त्रिकाल पूर्णरूप का लक्ष्य करने पर वर्तमान अवस्था में अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ज्ञात होने पर पर्याय का अनुभव हुआ है, उसे सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभाव ज्ञात हुआ है, इस प्रकार अर्थ का कथन समझना चाहिए।

जैसे कछुए ने कभी चन्द्रमा नहीं देखा था, वह दूसरे कछुओं से कहे कि—मैंने आज सारा चन्द्रमा अपनी आँखों से देखा है। किन्तु जिसने कभी चन्द्रमा की बात भी न सुनी हो और कभी उसके सम्बन्ध में कुछ जाना भी न हो ऐसे उसके कुटुम्बीजन तो यही कहेंगे कि तेरी बात मिथ्या है, तू यह नयी गप्प कहाँ से लाया? सच तो यह है कि चन्द्रमा नया नहीं है किन्तु कछुए की दृष्टि उस पर नहीं थी और अब उसकी दृष्टि चन्द्रमा पर नयी पड़ी है, इसलिए वह कहता है कि—मैंने नया चन्द्रमा देखा है। चन्द्रमा को देखनेवाले कछुए की बात को दूसरे कछुए नहीं मानते। आत्मा स्वभाव से असंग, मुक्त ही है, किन्तु अवस्थादृष्टि से आवृत या अनावृत (पर-निमित्त के भेद की अपेक्षा से) कहा जाता है, सो व्यवहार है। वास्तव में तो अपनी अज्ञान और विकाररूप अवस्था से हीन परिणमन किया था जो कि आवरण है। पर से आवृत हुआ अथवा सम्पूर्ण आत्मा का ढका हुआ है, यह कहना उपचार मात्र है; इसी प्रकार उपचार से कहा जाता है कि:—

क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

हे प्रभु! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा दिया है ऐसा विनय से कहते हैं, किन्तु क्या सचमुच कोई आत्मा दे सकता है अथवा उसकी पर्याय दी जा सकती है। कोई किसी को नहीं दे सकता तथापि यहाँ उपचार से कहते हैं कि—हे प्रभु! आपने मुझे अखण्ड आत्मा प्रदान किया है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था से अखण्ड के लक्ष्य से पर्याय के प्रगट होने पर कहा जाता है कि सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव प्रगट हुआ है। उस प्रतीतिरूप से प्रगट निर्मल अवस्था में उसकी विषयभूत अखण्ड वस्तु का आरोप करके उस अपेक्षा से यह कहा जाता है कि वस्तु नयी ही प्रगट हुई है। जो शुद्धनय तक पहुँचे हैं (यहाँ बारहवीं गाथा में शुद्धनय का विषय केवलज्ञान पर्याय ली है, किन्तु वास्तव में शुद्धनय का विषय अखण्ड-पूर्ण वस्तु है।) जो पुरुष अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का

(केवलज्ञान का) अनुभव करते हैं, (शक्तिरूप से पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव तो था किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड को लक्ष्य में लेकर प्रतीति पूर्वक स्थिर होकर जो अन्तिम अवस्थारूप पूर्ण केवलज्ञान का अनुभव करते हैं) उनके शुद्धनय का विषय अपूर्ण नहीं रहा, किन्तु वे उसके फल वीतरागता का ही अनुभव करते हैं। केवलज्ञान अखण्ड प्रमाणरूप है, उसमें नयभेद नहीं होता इसलिए उसे व्यवहारनय का विषय नहीं माना तथापि केवलज्ञान ज्ञानगुण की अवस्था है, इसलिए व्यवहार है।

सोने का प्रथम-द्वितीय आदि ताव देने पर अथवा शुद्ध होने पर सोना शुद्ध हुआ कहलाता है, उसी प्रकार यहाँ शुद्धनय से अचलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रगट हुआ कहा है। वहाँ वस्तु तो शुद्ध ही थी किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड का लक्ष्य करने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की क्रमशः पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस अपेक्षा से सम्पूर्ण आत्मा प्रगट किया ऐसा शुद्धनय केवलज्ञान समान होने से जाना हुआ प्रयोजनवान है। (यहाँ जो पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसमें सारी वस्तु का आरोप है) शुद्धनय को केवलज्ञान का विषय करनेवाला कहा है और सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका के समान (सौटंची शुद्ध सोने के समान) केवलज्ञान के समान कहा है; इस प्रकार जो केवलज्ञानरूप विषय प्रगट हुआ उसे और विषय करनेवाले—दोनों को समान कहा है। उसमें से केवलज्ञान का लक्ष्य करनेवाले शुद्धनय को कारण मानकर उसका कार्य (शुद्धनय का फल) वीतरागता-केवलज्ञान हुआ, उसका कारण में आरोप करके केवलज्ञान की अखण्ड अवस्था को शुद्धनय कह दिया है। शुद्धनय ज्ञान का अंश है, उसके द्वारा जो अखण्ड केवलज्ञान हुआ है, वह उसका (शुद्धनय का) प्रगट हुआ विषय है, उसका उपचार करके जो विषय प्रगट हुआ उसे शुद्धनय कह दिया है।

(१) द्रव्य प्रगट नहीं होता, किन्तु पर्याय के द्वारा स्वद्रव्य के आलम्बन से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, तथापि स्वाश्रय से जो नवीन अवस्था प्रगट हुई उसे कारण में कार्य का उपचार करके यह कह दिया है कि द्रव्य प्रगट हुआ है। जैसे वस्तु की यथार्थ प्रतीति होने पर यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण वस्तु की प्राप्ति हुई है।

(२) शुद्धनय का विषय अखण्ड द्रव्य होने पर भी केवलज्ञान पर्याय को उपचार से ही शुद्धनय का विषय कहा है। पर्याय के अनुभव को उपचार से द्रव्य का अनुभव कहा है।

(३) शुद्धनय ने जिस केवलज्ञान को अपना विषय बनाया उसे शुद्धनय के फलरूप से (विकल्प रहित प्रगट भाव को) शुद्धनय कह दिया है। केवलज्ञान में विकल्प-भेद नहीं है, इस अपेक्षा से यद्यपि केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय कह दिया है।

(४) केवलज्ञान पर्याय है, व्यवहार का विषय है, तथापि उसे प्रमाण की अपेक्षा से शुद्धनय का विषय कह दिया है।

यद्यपि कथन पद्धति भिन्न है तथापि उसमें अपेक्षा का मेल कैसे है, यह कहते हैं:—यद्यपि यह कहा है कि शुद्धनय को केवलज्ञान में अनुभव करते हैं किन्तु वहाँ अनुभव तो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान का है; उसमें द्रव्य अथवा पर्याय को विषय करनेवाला क्रमरूप ज्ञान नहीं है इसलिए केवलज्ञान में नय नहीं है। नय तो अपूर्ण ज्ञान में होता है, तथापि वहाँ शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है, अर्थात् तत्सम्बन्धी ज्ञान अखण्ड हो गया है, उसमें युक्त होना (जुड़ना) शेष नहीं रह गया है; और यह ज्ञात हो गया है कि—केवलज्ञान सम्पूर्ण स्वरूप क्या है; अब कुछ विशेष जानना शेष नहीं रहा, यही प्रयोजन है। केवलज्ञान प्रमाण प्रगट हुआ है, नय प्रगट नहीं हुआ; किन्तु नय का विषय अखण्ड द्रव्य में अभेदरूप से जुड़ गया है।

केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय का विषय कहा है। जो केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हुई है, वह व्यवहार है, उसे शुद्धनय का विषय प्रगट हुआ कहा है, अर्थात् जो पर्याय प्रगट हुई है, उसे द्रव्य का प्रगट होना कहा है; इस प्रकार जिसे यथार्थ वस्तु की प्रतीति की प्राप्ति हुई उसे वस्तु की-ज्ञायकस्वभाव की प्राप्ति हुई ऐसा कहने में प्रतीतिरूप प्रगट हुई पर्याय में पूर्ण वस्तु का विषय किया गया कहलाता है, क्योंकि—द्रव्य का लक्ष्य करनेवाली पर्याय स्व-द्रव्य के आश्रय से नयी प्रगट हुई है, उसमें द्रव्य प्रगट हुआ है अथवा सहज एक ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है, इस प्रकार कारण में कार्य का उपचार करके कहा जाता है। द्रव्य का अनुभव नहीं हो सकता किन्तु पर्याय का अनुभव होता है, वस्तु वेदी नहीं जाती। यदि अवस्था को अपनी ओर करे तो अच्छे-बुरे की भेदरूप आकुलता का वेदन नहीं होगा; किन्तु परलक्ष्य से अच्छा-बुरा मानकर मैं सुखी हूँ—मैं दु:खी हूँ ऐसी कल्पना करके आकुलता का वेदन करता है। शुभाशुभ पुण्य-पाप की भावना ही आकुलता है।

सर्वज्ञ भगवान का उपदेश तलवार की धार के समान है। उसके द्वारा जो यथार्थ वस्तु को समझ लेता है, वह भव-बन्धन को काट देता है। अनन्त काल से सत्य को नहीं समझा था, उसे जब समझा तब अखण्ड ध्रुव वस्तु के लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रतीति भाव से प्रगट हुई उसका अभेद स्व-विषय अखण्ड आत्मा है इसलिए उसकी प्रतीति की प्राप्ति को स्वरूप की प्राप्ति कहा जाता है, और यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव कर लिया किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव नहीं होता, लेकिन वर्तमान में रहनेवाली अवस्था का अनुभव होता है।

आत्मा में शक्तिरूप से सदा ध्रुवरूप में अनन्त गुण विद्यमान हैं, 'गुण प्रगट हुआ' इस कथन का अर्थ यह है कि—गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई। शास्त्रों में पर्याय का गुण में और गुण का द्रव्य में आरोप करके कथन करने की पद्धति है। यदि अखण्ड वस्तु की पहिचान करानी हो तो प्रस्तुत समझनेवाला आत्मा वर्तमान अवस्था के द्वारा समझता है और वर्तमान प्रगट होनेवाली अवस्था द्रव्य के आश्रय से द्रव्य से सुधरती है।

बारहवीं गाथा में चारित्र का जघन्य भाव पाँचवें गुणस्थान से लिया है। अनुत्कृष्ट का अर्थ मध्यम है। प्रारम्भ का चौथे गुणस्थान का जघन्य अंश यहाँ नहीं लेना है। अंशत: जघन्य भाव स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान में आ जाता है; क्योंकि सामान्य अकेला (विशेष रहित) नहीं होता। प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ आदि पाकों की पम्परा अर्थात् सम्यग्दर्शन के बाद अन्तर स्थिरतारूप एकाग्रता की वृद्धि का प्रारम्भ पाँचवें के बाद छठवें-सातवें गुणस्थान से लेकर जहाँ तक पूर्ण वीतराग न हो वहाँ तक मध्यम भाव की भूमिका है।

जहाँ यथार्थ अनुभव सहित स्वाश्रित अभेद का लक्ष्य किया वहाँ विकल्प का ख्याल नहीं होता। फिर जब विकल्प आता है, तब साधक भाव का व्यवहार अवश्य आता है। अभी चारित्र की अशक्तिरूप वर्तमान अवस्था में कमी है, इसलिए पूर्ण निर्मलदशा तक पहुँचने का व्यवहार (साधक भाव अर्थात् मोक्षमार्ग) है, उसका अनुभव पूर्ण उत्कृष्ट भाव को प्राप्त करने से पूर्व रहता ही है।

जब तक पूर्णरूप शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनों का श्रवण करना

आवश्यक है। यथार्थता का लक्ष्य होने में किसी निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं होती। जब यथार्थ स्वरूप का अंश स्वलक्ष्य से उदित होता है, तब यथार्थ उपदेश अपने भाव से स्वीकृत कहलाता है।

सुनने की ओर का जो शुभराग है, वह भी सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है, उस यथार्थ पर भार है। यथार्थ का कारण स्व-द्रव्य स्वयं ही है। जो उपदेश मिलता है सो तो संयोगी शब्द हैं, और उसमें जो आशयरूप यथार्थ उपदेश है अर्थात् जो अपनी यथार्थता, असंग ज्ञायक अविकारीपन लक्ष्य में आता है, वह स्वाश्रित लक्ष्य निमित्त से नहीं होता; निमित्त और सुनने के राग को भूलकर जहाँ स्वोन्मुख हुआ और यह ज्ञान किया कि यह वस्तु यथार्थ है, वह यथार्थ का छोटे से छोटा अंश है। राग से आंशिक छूटकर जहाँ यथार्थ नि:सन्देहपन की प्रगट रुचि होती है, वहाँ स्व-विषय से सम्यग्दर्शन होता है, उसमें निमित्त कुछ नहीं करता।

धर्म को समझने के लिये पहले जो व्यवहार आता है, वह क्या है, यह यहाँ कहा जाता है। सुनने से पात्रता नहीं आती, क्योंकि-साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के पास जाकर अनन्त बार सुना है तथापि कुछ नहीं समझा। किन्तु जब तत्त्व का जिज्ञासु होकर, जो कहा जाता है उसका यथार्थ भाव अपने यथार्थपन से समझ लिया तब अहो! यह अपूर्व वस्तु है, मैं पूर्ण हूँ, निरालम्बी; अविकारी असंयोगी, ज्ञायक हूँ, विकल्पस्वरूप नहीं हूँ इस प्रकार अन्तरंग में स्व-लक्ष्य से प्रतीति की तब वाणी में जो यथार्थता कहना है, वह स्वत: निश्चित करता है।

सम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं, उनमें से जो यथार्थ उपदेश है सो देशनालब्धि है। इसका नियम यह है कि एक बार पात्र होकर सत्समागम से ज्ञानी के पास से ऐसा शुद्धनय का उपदेश कान में पड़ना चाहिए कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ, असंग हूँ, अविकारी हूँ। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु जहाँ उपादान तैयार होता है, वहाँ सच्चे संयोग अवश्य होता है।

आठवीं गाथा में भी पाँच लब्धियों के रूप में बात की गयी है। 'आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है' इसमें क्षयोपशम, देशना, प्रायोग्य और विशुद्ध यह चार लब्धियाँ हैं और 'अत्यन्त आनन्द से सुन्दर बोध तरंग उछलती है' यह पाँचवीं करणलब्धि

है। यथार्थता क्या है, आशय क्या है इत्यादि विकल्प उपदेश सुनते हुए यथार्थता को समझने से पूर्व उठते हैं जो कि व्यवहाररूप भेद हैं। किन्तु जो वस्तुस्वभाव का यथार्थ लक्ष्य किया सो अकारण है। संयोग की ओर के रुख को भूल गया और स्वाश्रय में निश्चित् करने के लिये कुछ रुक गया सो उसमें अपना ही कारण है।

उपादान में तैयारी का जैसा पुरुषार्थ होता है वैसा ही निमित्त (उसके कारण से) उपस्थित होता ही है। कोई किसी के आधीन नहीं है। उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र हैं। जिसकी सत् को समझने की तैयारी होती है उसके ऐसा पुण्य तो होता ही है कि— यथार्थ विचार करने पर यथार्थ संयोग अवश्य मिलता है।

निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कहने में आता है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता, किन्तु निमित्त से भी नहीं होता। यदि निश्चय से यह माने कि निमित्त से समझा है तो आशय में बड़ा अन्तर होता है; स्वतन्त्र उपादान-निमित्त का ऐसा मेल है। किन्तु उसका अर्थ परमार्थ से जैसा है वैसा ही समझना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि:—

'बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीति,
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थिति।
यही नहीं है कल्पना, ये ही नहीं विभंग,
कयि नर पंचम काल में, देखी वस्तु अभंग।'

साक्षात् ज्ञानी के पास से सुनना ही चाहिए—यह कल्पना नहीं है, किन्तु जिसके उपादान में सत् की तैयारी हो चुकी है, उसे ऐसा साक्षात् निमित्त अवश्य मिलता है। जब तृषातुर को पानी की चाह होती है और उसे पानी की तीव्र आकांक्षा होती है, तब यदि उसका पुण्य हो तो उसे पानी मिले बिना नहीं रहता, इसी प्रकार जहाँ अन्तरंग से परमार्थ तत्त्व को समझने की अपूर्व आकांक्षा होती है, सत् की ही तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् उपदेश का निमित्त उसके स्वतन्त्र कारण से उपस्थित होता है। जो प्रत्यक्ष में सद्गुरु के आशय को समझकर स्व-लक्ष्य करता है, वह यथार्थ तत्त्व के रहस्य को इस काल में भी प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार उपादान और निमित्त का सहज संयोग तो होता ही है ऐसी अनादिकालीन मर्यादा है। अन्तरंग में यथार्थ है इसलिए उसके आदर से जो सत् की बात रुचती है, वह अपने भाव से ही रुचती है, पर से नहीं।

प्रश्नः—इसमें व्यवहार क्या है ?

उत्तरः—जिनसे उपदेश सुना उन पर शुभराग से भक्ति-बहुमान होता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और मिथ्या आचरण का आदर दूर करके राग की दिशा बदली जाती है। संसार के स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, कुटुम्ब, तथा देहादि का राग कम करके; संसारपक्ष के राग से अधिक राग देव, गुरु, शास्त्र और धर्म सम्बन्धी रहता है। जितना अशुभराग कम किया जाता है, उतना शुभराग होता है। वहाँ शुभराग का भी निषेध करके यथार्थ तत्त्व को समझे तो शुभभाव को व्यवहार कहा जाता है किन्तु उस शुभराग की सहायता से यथार्थता नहीं आती। अशुभ से बचने के लिये शुभराग करे किन्तु मात्र राग ही राग रहे और यथार्थ कुछ भी न करे तो राग से बाँधा हुआ पुण्य भी अल्प काल में छूट जाता है।

यदि जिन-वचनों के आशय का विचार करते हुए यथार्थता का अंश प्रगट करे और अपनी ओर अंशतः आये तो उस यथार्थता को निश्चय कहा जा सकता है। उपदेश को सुना तथा सुनने का शुभराग किया उसे व्यवहार (उपचार से निमित्त) कहा जाता है।

इसमें 'यथार्थ' के गूढ़ अर्थ की बात है, वह समझने योग्य है। यद्यपि उपादान से काम हुआ है निमित्त से नहीं हुआ तथापि निमित्त की उपस्थिति थी। मन से आत्मा का खूब विचार करने से यथार्थ प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मन, वाणी, देह शुभराग और उसके अवलम्बन से पृथक् उस पार है। उसको ग्रहण करने का विषय गम्भीर है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ परमार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अज्ञान से पर के साथ सम्बनध मान लिया है। जो स्वतन्त्र सत् स्वभाव को पर से लाभ हुआ मानता है, वह पर को और आत्मा को एक हुआ मानता है, और वह अपने को अशक्त मानता है—अपने में शक्ति नहीं मानता। किन्तु जो 'नहीं' है उसे कहाँ से लायेगा ? यथार्थता का अर्थ पराधीनता नहीं किन्तु पूर्ण स्वाधीनता है। उसमें कभी हीनता या विकारिता नहीं होती।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और उनकी दिव्यध्वनि भी परवस्तु है सुननेवाले और समझनेवाले को उसका निमित्तमात्र संयोग है, तत्सम्बन्धी सुनने का राग पराश्रित विकारभाव है। उससे असंयोगी अविकारी तत्त्व को लाभ कैसे हो सकता है ? यदि निमित्त पर दृष्टि रखे तो निमित्त के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान संयोगाधीन कहलायेगा। और संयोग तथा राग क्षणिक है। क्षणिक संयोग (परवस्तु) के आश्रय से होनेवाला परावलम्बी ज्ञान भी नाशवान है।

लोगों की ऐसी धारणा है कि किसी दूसरे की सहायता से लाभ हो सकता है, कोई मुझे दे दे, किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जाये, इस प्रकार जीव पर से आत्मा का लाभ चाहता है किन्तु यदि अपनी निज की अनन्त शक्ति पर विश्वास न करे तो कोई सत्समागम में रहकर भी क्या कर करेगा ? किसी को दूसरे से तीन लोक और तीन काल में भी कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। यदि अपनी सावधानी से सत् के प्रति आदरभाव लाकर, सत्समागम करे तथा सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का आदर स्थिर रखकर कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र का किंचित्मात्र भी आदर न करे तो उसे सत् के निमित्त की ओर का शुभराग होता है। यथार्थ उपदेश सुनने पर भी जब निज को निजरूप मानता है, अन्तरंग में अनुभव द्वारा यथार्थता ग्रहण की जाती है तब देव, गुरु, शास्त्र का शुभराग तथा उपदेश निमित्त कहलाता है।

जिन-वचन को सुनकर उसके आशय को ग्रहण करने के बाद यथार्थ की धारणा होती है। जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है, ऐसे वीतराग वचनों का श्रवण करना चाहिए; जहाँ ऐसा कहा है वहाँ स्वाधीन वीतरागता पर भार दिया है। किसी का तत्त्व किसी के आधीन होकर प्रगट होता है ऐसा बतानेवाले वीतराग के वचन नहीं हो सकते। इसमें से अनेकानेक सिद्धान्त निकलते हैं। प्रत्येक आत्मा तथा अपने आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक चेतन तथा जड़वस्तु अनादि-अनन्त, स्वतन्त्र वस्तु है। किसी का द्रव्य-गुण-पर्याय किसी अन्य के आधीन नहीं है। कोई किसी के गुण अथवा किसी पर्याय को नहीं बनाता, कोई किसी का कर्ता नहीं है। वस्तु की सम्पूर्ण शक्ति स्वतन्त्रता से सदा परिपूर्ण बनी रहती है, उस शक्ति को प्रगट करने के लिये किसी संयोग, क्षेत्र, काल या आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। गुण के लिये किसी निमित्त की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अपने गुण की दूसरे से आशा रखना अपने को अकिंचित्कर मानना है। वीतराग के निस्पृहता होती है, वे सबको पूर्ण स्वतन्त्र प्रभुरूप घोषित करते हैं।

यदि कोई यह कहे कि—मैं तुमको समझाये देता हूँ तो समझना चाहिए कि—उसने उस व्यक्ति को परतन्त्र माना है और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है। लोगों को परोपकार की बातें करनेवाला बहुत अच्छा मालूम होता है किन्तु वास्तव में तो अपना उपकार या अपकार अपने भावों से अपने में से ही होता है। उसे पर-संयोग से हुआ कहना घी का घड़ा कहने के समान व्यवहारमात्र है; इसलिए वह परमार्थ से बिल्कुल अयथार्थ

है। लोग व्यवहार में घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं, तथापि वे उसके वास्तविक अर्थ को समझते हैं।

इसी प्रकार शास्त्र में कहीं-कहीं निमित्त से कथन होता है किन्तु उसका परमार्थ भिन्न होता है। उस कथन को समझते हुए यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि किसी से किसी का कोई कार्य नहीं होता।

कोई विचार करता है कि—जिसका सत् स्वत: स्वभाव है ऐसी पूर्ण वस्तु को समझनेवालों के अभिप्राय का निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए, जैसा वे समझे हैं वैसा ही हमें भी समझना है; इस प्रकार अपने को ग्रहण करने के आदर-भाव से सत्-समागम करे तो वह सत्समागम व्यवहार से निमित्त कहलाता है।

सत्समागम में स्वतन्त्र सत् की घोषणा होती है कि—अनन्त आत्मा प्रत्येक पर से भिन्न हैं। मैं सदा निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ, तथा परवस्तु मेरेपन से त्रिकाल में भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अपने आधार से स्वतन्त्रतया स्थिर रहकर पर्याय से बदलना होता है। प्रतिसमय वर्तमान पर्याय का व्यय, नई पर्याय की उत्पत्ति और वस्तु का अपनेरूप में त्रिकाल स्थिर रहना; इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, गुण, पर्याय से है और पर की अपेक्षा से नहीं है। सत्समागम और केवली की वाणी भी परवस्तु है, मेरी वस्तु नहीं है; वह अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से असत् है।

देव, गुरु, शास्त्र वीतरागस्वरूप हैं; वे क्या कहते हैं यह सुनकर अपने यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करने में यथार्थ का आंशिक बल परमार्थ की ओर उन्मुख होता है। वहाँ सत् तथा सच्चे निमित्त का बहुमान होने से अशुभराग दूर होकर देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभभाव हुए बिना नहीं रहते।

पण्डित भागचन्द्रजी कृत 'सत्तास्वरूप' में अरहन्त का स्वरूप बताकर गृहीत मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय भलीभाँति समझाया है, परमार्थ तत्त्व के विरोधी कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को ठीक मानना सो गृहीत मिथ्यात्व है। मैं पर का कर्ता हूँ, कर्मों से घिरा हुआ हूँ, पर से भिन्न-स्वतन्त्र नहीं हूँ, शुभराग से मुझे लाभ होता है, इस प्रकार की जो विपरीत मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है, सो गृहीत अथवा निश्चय मिथ्यात्व है।

निश्चय-मिथ्यात्व को उसे दूर करने से पूर्व गृहीत मिथ्यात्व अथवा व्यवहार-मिथ्यात्व को दूर करना चाहिए।

एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय के जीव कुगुरु, कुदेव आदि के कदाग्रह को ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु सैनी पंचेन्द्रिय होकर वीतराग कथित तत्त्वों से विरुद्ध कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र को मानने लगता है। व्यवहार में भी ऐसी विपरीत धारणा बना लेता है कि—अमुक की मानता की जाय तो सन्तान होगी, शीतला की पूजा करने से बालक नहीं मरेगा, अमुक देव हमारी रक्षा कर सकता है इत्यादि। इतना ही नहीं किन्तु जो लोकोत्तर वीतराग धर्म के नाम पर सर्वज्ञ भगवान से विरुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश देते हैं और परिग्रह को भी मुनि मानते हैं, वे सब गृहीत मिथ्यात्व के कीचड़ में फँसे हुए हैं, उनकी विनय का परित्याग करना चाहिए। इसमें द्वेष नहीं किन्तु सत्य का ही समादर है।

जो जीव धर्म के नाम पर उत्कृष्ट पुण्यबन्ध करके अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक गया और नग्न दिगम्बर मुनि होकर निरतिचार महाव्रतों का पालन किया तथा गृहीत मिथ्यात्व का त्याग किया तथापि 'शुभराग से लाभ होता है' ऐसे पराश्रयरूप व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष होने से उसके निश्चय-मिथ्यात्व बना रहा। उसे अन्तरंग से अपने ऐसे स्वतन्त्र स्वभाव की बात नहीं रुचि कि—मैं पर से भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी हूँ; इसलिए उसका भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

मैं जन्म-मरण को दूर करनेवाला अखण्ड गुणस्वरूप हूँ इस प्रकार की रुचि से होनेवाला सत् का आदर यथार्थ है—निश्चय है, और उपदेश व्यवहार है। यथार्थ की देशना को ग्रहण करनेवाला यथार्थ को ग्रहण करता है, तब पहले प्रारम्भिक अंश (यथार्थ का अंश) निरावलम्बीरूप से प्रगट होता है; वह यथार्थ चारित्ररूप निर्मलभाव का कारण है।

जिससे जन्म-मरण और भ्रान्ति का नाश होता है ऐसे यथार्थ जिन-वचनों को सुनना, धारण करना तथा उनके कथन के आशय का निर्णय करके ऐसी दृढ़ता करना चाहिए कि—कोई कुतर्कवादी धर्म के नाम पर अन्यथा कथन करेगा तो उसका तत्काल ही स्पष्ट निषेध कर देंगे। पर से, शुभभाव से, शुभराग की क्रिया से अथवा इसी प्रकार बाह्य से कोई लाभ होना बताये अथवा झूठे तर्क से कोई यह कहे कि शुभ कार्य करते-करते क्रमशः गुण प्रगट होंगे तो उसका भी स्पष्ट निषेध कर देना चाहिए; और नित्य-सत्य वस्तु

के बोध को ऐसी दृढ़ता के साथ धारण कर रखे कि कालान्तर में किसी भी संयोग में स्वयं संशय में न पड़े।

मतिज्ञान के चार भेद हैं:—

(१) अवग्रह—वस्तु के बोध को ग्रहण करना।

(२) ईहा—वस्तु क्या है इसके निश्चय करने का विचार करना।

(३) अवाय—यह वस्तु ऐसी ही है, अन्यथा नहीं है ऐसा निर्णय करना।

(४) धारणा—जिस ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कालान्तर में संशय तथा विस्मरण न हो।

इस प्रकार नित्य स्वभावाश्रित जिस स्वतत्त्व की धारणा से धारण किया उस सत् के निर्णय की अस्ति है, यदि उससे विरोधी असत् बात को सुने तो उसे उसकी नास्ति होती है अर्थात् निषेध होता है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु क्या है इसका बोध मतिज्ञान में धारण कर रखे।

जब तक नि:सन्देह होकर यथार्थ तत्त्व को न जाने तब तक बारम्बार उसी बार को अस्ति-नास्ति पूर्वक सुने और अस्ति की ओर भार देकर लक्ष्य को स्थिर करे तो वहाँ सहज ही शुभराग हो जाता है। लोग कहते हैं कि यदि 'शुभ व्यवहार न किया जाये अथवा शुभराग न करें तो धर्म कैसे किया जायेगा?' किन्तु अस्तिस्वभाव की ओर लक्ष्य और भार दिया कि वहाँ राग की दिशा बदल ही जाती है।

यहाँ जिस वस्तु को सुना है उसे अविरोधी रूप में ऐसा दृढ़ करे कि उसमें कदापि संशयरूप विरोध न आये इस प्रकार भलीभाँति परिचय करके, विरोध को दूर करके अविरोधी तत्त्व को भलीभाँति समझना चाहिए, और परमार्थ तत्त्व क्या है तथा उसे बतानेवाले सच्चे देव,गुरु, शास्त्र एवं नव तत्त्व का यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना चाहिए; क्योंकि यह प्रारम्भ से ही प्रयोजनभूत तत्त्व है।

जैसे दूर देश में माल का लेन-देन करने के लिये आढ़तिया रखा जाता है, उसके साथ थोड़ा सा परिचय होने के बाद यह विश्वास जम जाता है कि वह ईमानदार है—उसने न तो किसी को ठगा है और न हमें ही धोखे में डाल रहा है। इसके बाद बहुत लम्बे समय

तक वह विश्वास बना रहता है और उसके प्रति कोई शंका नहीं होती। इसी प्रकार सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को अविरोधरूप से जानने पर अल्प परिचय से ही यह निश्चय हो जाता है कि उनमें कहीं किसी भी प्रकार से कोई विरोधी तत्त्व नहीं है। इसके बाद कोई मिथ्यात्वत्यागी साधुवेशी अथवा कोई भी चाहे जैसी युक्तिपूर्वक विरोध भाव को लेकर धर्म सम्बन्धी तर्क करे तो भी स्वतत्त्व में और देव, गुरु, शास्त्र में किंचित्मात्र भी शंका नहीं होती, तथा किसी भी प्रकार मन नहीं उलझता। किन्तु जिसे सत्य का मूल्य नहीं है और जिसे सत्य के प्रति सुदृढ़ श्रद्धा नहीं है वह कहता है कि 'हम क्या करें ? हमें तो त्यागी-साधु युक्ति और तर्क द्वारा जो जैसा समझाते हैं अथवा कहते हैं वह हमें स्वीकार करना ही होता है।' किन्तु उन्हें यह खबर नहीं होती कि इससे तो उनका सम्पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व ही लुट जाता है। इसलिए सद्गुरु की ठीक परीक्षा करनी चाहिए। यह कहना घोर अज्ञान है कि हमारी तो कुछ समझ में ही नहीं आता और अज्ञान कोई भला बचाव नहीं है।

सद्गुरु को यथार्थतया पहिचानने के बाद उनके प्रति सच्ची भक्ति होती है। जिनसे यथार्थ वस्तु सुनने को मिली है उनके प्रति भक्ति का शुभराग होता ही है। तत्त्व को यथार्थ समझने के बाद भी उसको विशेष दृढ़ता से रटते हुए उसे बारम्बार रुचिपूर्वक सुने और उस सच्चे निमित्त को उपकारी जानकर उसका बहुमान किया करे। उसमें परमार्थ से अपने गुण का बहुमान है, इतना ही नहीं किन्तु व्यवहार से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थ तत्त्व का कहनेवाला जानकर उनकी ओर भक्ति-विनय-बहुमान होता है, अर्थात् भक्ति का शुभराग हुए बिना नहीं रहता। अविकारी यथार्थ स्वभाव का जो लक्ष्य है और उसका जो रटन है, उसके बल से जितना राग कम होता है, उतना अपने लिये लाभ मानता है, और जो राग-द्वेष है उसे बन्ध का कारण जानकर अन्तरंग से समस्त राग को त्याज्य मानता है। यदि कोई देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभराग को ग्राह्य माने अथवा उस शुभराग को लाभकारक माने या उसे करने योग्य समझे तो वह वीतराग के प्रति का राग नहीं किन्तु राग का राग है। क्योंकि उसे वीतरागता के गुण की प्रतीति नहीं है कि मैं राग का नाशक हूँ।

वीतराग का उपदेश आत्मा को पर-सम्बन्ध से रहित, अविकारी, पूर्ण निर्मल स्वतन्त्र बतानेवाला होता है। आत्मा के साथ जो संयोगी कर्म (एक क्षेत्र में) है उससे आत्मा बद्ध नहीं है, किन्तु परमार्थ से अपनी भूल के बन्धनभाव से बद्ध है। बन्ध और मोक्ष

किसी की पराधीनता से नहीं होते, किन्तु आत्मा के भाव से होते हैं। यहाँ ऐसे यथार्थ वचन हैं या नहीं इस प्रकार श्रवण करनेवाले को अपनी निज की तैयारी और उपदेश की परीक्षा करने का उत्तरदायित्व लेना होगा।

आत्मा का ऐसा पराधीन और शक्तिहीन स्वरूप नहीं है कि किसी पर से लाभ हो अथवा कोई दूसरा समझाये तो तत्त्व प्रगट हो। तत्त्व को श्रवण करने का भाव भी शुभविकल्प या शुभराग है। उस पर-संयोग से और राग से असंयोगी, अविकारी, वीतराग स्वरूप प्रगट नहीं होता। किन्तु स्वतन्त्रता यथार्थता क्या है इसके अंश को जब स्वयं उमंगपूर्वक अनुभवपूर्वक प्रगट करे तब उपदेश और उसे सुनने की ओर के शुभराग पर आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है।

जो वचन आत्मा को पर से बन्धनयुक्त बतलाते हैं, उनका अर्थ यह हुआ कि जब पर-पदार्थ मुक्त करे तब आत्मा मुक्त होगा। और ऐसा होने से आत्मा पराधीन एवं शक्तिहीन कहलायेगा। जो शक्तिहीन होता है या पराधीन होता है, वह स्वतन्त्र पृथक् तत्त्व नहीं कहा जा सकता। कोई यह मानते हैं कि समस्त आत्मा एक परमात्मा के अंश हैं, सब मिलकर एक ब्रह्मरूप वस्तु हैं, किन्तु ऐसा मानने से स्वाधीन सत्ता का अभाव हो जायेगा। वास्तव में तो इस मान्यता में प्रत्यक्ष विरोध आता है, क्योंकि संसार में रहकर भी प्रत्येक आत्मा अलग-अलग अकेला ही दुःख भोगता है।

कोई कहता है कि 'देह से मुक्त होने पर आत्मा पर-परमात्मा की सत्ता में मिल जाता है' किन्तु यदि यह सच हो तो अर्थात् दुःखों के भोगने में अकेला और सुखदशा में किसी की सता में मिल जानेवाला हो तो उसमें स्वतन्त्रता कहाँ रही ? इसलिए उपरोक्त मान्यता मिथ्या है। इस प्रकार यथार्थ स्वतन्त्र स्वरूप में विरोधरूप मान्यताओं को दूर करके यथार्थ परिपूर्ण स्वतन्त्र वस्तु का निर्णय करने के लिये आत्मा में से निश्चय का अंश प्रगट करना होता है। अविकारी निरालम्बी, असंग स्वभाव की श्रद्धा विकार का नाश करनेवाली है; ऐसे यथार्थ तत्त्व को बतानेवाले का निर्णय करनेवाला भी आत्मा ही है।

प्रथम उपदेश सुनने पर परमार्थ की अप्रगट रुचि की है, उस उपदेश में यथार्थता कैसे आशय की है, मैं किस प्रकार असंग, अविकारी, निरावलम्बी हूँ; यह परमार्थ से सुनकर जो निराला स्वतत्त्व की ओर झुकनेवाला निश्चय का अंश है सो परमार्थ से श्रद्धा का कारण है।

मैं पर से बद्ध नहीं हूँ, परवस्तु मेरा हानि-लाभ नहीं कर सकती, मैं रजकण तथा राग से पृथक् हूँ, मात्र अज्ञान से (अपनी भूल से) बँधा हुआ था। विकार क्षणिक है, वह मेरा नित्यस्वभाव नहीं है, मैं नित्य ज्ञायक हूँ, इस प्रकार का अप्रगट आशय जब अन्तरंग में आता है तब भाव-बन्धन को दूर करने का आंशिक उपाय प्रारम्भ होता है। जब अव्यक्त रुचि यथार्थ तत्त्व की ओर प्रारम्भ हुई तब सुनने का अवलम्बन छोड़कर अपनी ओर लक्ष्य किया और सत् को स्वीकार करनेवाले यथार्थ को स्वीकार किया; उतना ही अयथार्थ से भिन्नरूप को समझने का यथार्थ उत्तरदायित्व आ जाता है। इस प्रकार श्रवण होने पर अपने भाव से स्वत: लाभ निकाल लेता है, राग से लाभ नहीं होता। जहाँ परवस्तु पर लक्ष्य होता है, वहाँ राग का विषय होता है, वह राग विकार है। मैं रागरूप नहीं हूँ, ज्ञानरूप हूँ; इस प्रकार अविकारी असंगभाव उपदेश में कहना चाहते हैं, ऐसा अभिप्राय वह अन्तरंग लक्ष्य से निश्चित करता है।

अहो! यह वस्तु ही निराली है, पूर्ण है, अविकारी है, इस प्रकार यथार्थ को जिस भाव से निश्चित करता जाता है वह भाव यथार्थ निश्चय का अंश होने से यथार्थ निर्विकल्प परमार्थ का कारण है। किन्तु राग से, पर से अथवा साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु की वाणी से परमार्थत: अंशमात्र धर्म नहीं होता। किन्तु परावलम्बन से छूटकर अन्तरंग से निर्णय करे कि वे जो कुछ कहते हैं सो ऐसा ही है; और जब यह समझ लेता है तब देव, गुरु के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है, तथा वह उनकी भक्ति करता है। उसको गुण के प्रति भक्ति है अर्थात् यथार्थ स्वतन्त्र तत्त्व की पहिचानयुक्त गुणरूप होने का लक्ष्य है। राग-द्वेष, अज्ञान, पराश्रय से होता है, जो कि क्षणिक है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जो प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है, वह जिन (जीतनेवाला) है। इसमें अनेक अर्थों का समावेश हो जाता है; जैसे - विकार जीतने योग्य है, उसे जीतनेवाला अविकारी है; विकार क्षणिक और एक समय की अवस्थावाला है तथा उसका नाश करनेवाला स्वभाव विकार रहित त्रिकाल-स्थायी है। यद्यपि विकार में अनन्त काल व्यतीत हो गया है तथापि स्वभाव में ऐसी अपारशक्ति है कि वह एक समय में ही उस विकार अवस्था को बदलकर अनन्त अविकारी शुद्ध शक्ति को प्रगट कर सकता है। विकारी अवस्था में पर के आश्रय से अनन्त विकार कर रहा था, उसे दूर करके जब स्वतन्त्र स्वाश्रय के द्वारा ध्रुवस्वभाव की ओर जाता है तब जो अनन्त अविकारी भाव अपने

में पहले से ही विद्यमान था वही भीतर से प्रगट हो जाता है; वह कहीं पर से अथवा बाहर से नहीं आता। विकार के होने में अनेक प्रकार से निमित्त होते हैं, शुभराग भी पर के लक्ष्य से होता है। मुझमें परवस्तु की नास्ति है। पर के द्वारा मुझे त्रिकाल में भी कोई गुण-दोष या हानि-लाभ नहीं हो सकता और मैं भी पर का कुछ नहीं कर सकता। शुभराग भी विकार है, विकार अविकारी गुण के लिये सहायक नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्ण स्वतन्त्रता को बतानेवाला यथार्थ ज्ञानी है। अपने में यथार्थ को स्वीकार करनेवाले, समझानेवाले वीतरागी गुरु को उपकारी निमित्त मानने से शुभरागरूप भक्ति-भाव उछले बिना नहीं रहता। अभी रागदशा विद्यमान है इसलिए उसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की ओर न ले जाकर सच्चे देव, गुरु शास्त्र के प्रति परिचय के बहुमान से शुभ-भक्ति और विनय करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व सच्चे निमित्त की ओर का शुभ-व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु यदि दूसरा समझा दे अथवा दूसरे से समझा हुआ माने तो स्वयं पराधीन सिद्ध होगा, किन्तु त्रिकाल में भी आत्मा पराधीन नहीं है, उसे कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता।

परमार्थ जिनेन्द्र के स्वरूप को बतानेवाला वीतरागी गुरु कौन है, क्या जीतना है, जीतनेवाला कौन है, अवगुण का नाश करके सदा गुणरूप स्थिर रहनेवाले का क्या स्वरूप है, इत्यादि का यथार्थ निर्णय न करे और मात्र सुनता रहे तो कोई बाहर से कुछ नहीं दे देगा। स्वयं जैसा भाव करेगा वैसा फल मिलेगा। मैं निरावलम्बी, अविकारी, स्वतन्त्र, असंग हूँ ऐसी प्रतीति के बिना पुण्य-पाप करके अनन्त बार चौरासी में जन्म-मरण किया। धर्म के नाम पर शुभभाव से अनेक क्रियाएँ करके अनन्त बार देवलोक में गया। पाप करके देवलोक में नहीं जाया जाता किन्तु पुण्य करके ही जा सकते हैं, इसलिए उस पुण्य के शुभभाव नवीन (अपूर्व) नहीं हैं। अपूर्व क्या है यदि ऐसी यथार्थ को समझने की उमंग हो तो यथार्थ सत् को समझानेवाले वीतरागी गुरु को पहिचान ले और उनका आदर करे, किन्तु यदि अपनी शक्ति को स्वीकार करके स्वयं न समझे तो उसे निमित्त नहीं समझा सकता। जो समझता है वह अपने आप समझता है, तब वह अपनी पहिचान का बहुमान करने के लिये गुरु को उपकारी मानकर उनकी विनय करता है। समझने के बाद जब तक राग दूर नहीं हो जाता तब तक सत् के निमित्तों की ओर शुभराग रहता ही है। जिसे अपने स्वरूप को समझने की रुचि होती है, उसे मुमुक्षु रहकर सत्समागम को ढूँढ़ना होता है और सत् की पहिचान होने पर देव, गुरु, शास्त्र के प्रति शुभराग का होना इतना सुनिश्चित होता

है जैसे प्रात: के बाद सन्ध्या का होना। क्योंकि उसमें स्व-क्ष्य से चिदानन्द सूर्य का अखण्ड अनन्त प्रकाश प्रगट होना है।

वीतराग के वचनों को धारण कर रखने का अर्थ है कि—वे जो कुछ कहते हैं, उसे यथार्थ समझना। परवस्तु से, पुण्य-पाप से त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता। अन्य की सहायता से आत्मा के गुण प्रगट नहीं होते। अन्य से कोई लाभ-हानि नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु त्रिकाल भिन्न है। लाभ-अलाभ अपने भाव से होता है। ऐसी प्रतीति गृहस्थ और त्यागी दोनों के लिये है। अन्य पदार्थ से अथवा द्रव्य दान आदि से पुण्य नहीं होता किन्तु यदि तृष्णा कम करे तो अपने भाव से पुण्य होता है। मात्र पर की हिंसा पाप का कारण नहीं है किन्तु अपना हिंसारूप प्रमादभाव ही वास्तव में हिंसा है, वह अपने ही गुण का घात है। इसमें स्वतन्त्र तत्त्व का निर्णय होता है। वीतरागमार्ग में कोई पक्षपात नहीं है, वीतराग सबको वस्तुरूप में स्वतन्त्र घोषित करते है।

किसी की कृपा से स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के गुण प्रगट होते हैं, ऐसे पराधीनता को बतानेवाले वीतराग के वचन नहीं हैं। पुण्य से, शुभराग से अथवा शरीरादि परवस्तु से लाभ होता है, आत्मधर्म होता है, आत्मा के गुण के लिये वैसा व्यवहार करना चाहिए ऐसा कथन करनेवाले वीतराग के वचन नहीं होते। पुण्य-पाप और धर्म अपने भावानुसार ही होता है।

संसार में दूसरे के लिये कोई कुछ नहीं करता। कोई पुरुष अच्छे वस्त्राभूषण अपनी स्त्री के लिये नहीं लाता किन्तु स्त्री के प्रति ममता है, राग है इसलिए उस राग को पुष्ट करने के लिये जिसे लक्ष्य बनाया है, उस स्त्री आदि में (राग के खिलोने में) इच्छित शोभा न होने से वह अपने को अनुकूल नहीं लगती। और जब अपना इच्छित पहनाव-उढ़ाव दिखायी देता है, तब उस पर आँखें जमती हैं; इसलिए वह जो कुछ करता है, अपने राग को पुष्ट करने के लिये करता है। इसीप्रकार लोग अपने पुत्र को पढ़ाते हैं, उसका ब्याह रचाते हैं और उसके नाम पर बैंक में रुपया जमा कराते हैं, यह सब अपने उस लड़के के लिये नहीं किया जाता किन्तु अपने को तत्सम्बन्धी ममता में उसके अतिरिक्त कोई दूसरा समाधान दिखायी नहीं देता इसलिए स्वयं उसके नाम से अपनी मोह-ममता को पुष्ट करने की सम्पूर्ण चेष्टाएँ अपने ही राग को पुष्ट करने के लिये करता है। घर में, समाज में, मान-प्रतिष्ठा और प्रभाव बना रहे इसलिए मैं दूसरों का कुछ काम करूँ और दूसरों के साथ

अनुकूल संबंध बनाये रखूँ, ऐसा भाव करके बड़प्पन के राग को पुष्ट करने के लिये वह सब चेष्टाएँ करता है। कोई पर के प्रति कर्तव्य पालन नहीं करता, किन्तु विपरीत दृष्टि से पर में अपने राग को आरोपित करता है; अर्थात् वह परवस्तु को अपने राग का विषय बनाकर उसकी रुचि के अनुसार सब कुछ अनुकूल करना चाहता है।

जन्म-मरण इत्यादि सब पराधीनता है। आत्मा पर से भिन्न है, वही आदरणीय है, इस प्रकार जिसे परमार्थ में प्रीति होती है, वह यथार्थ की रुचि को पुष्ट करने में निमित्तरूप सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति के बिना नहीं रहता। स्मरण रहे कि—भगवान की भक्ति भगवान को अच्छा लगाने के लिये नहीं होती। सत् की पहिचान के बाद सम्पूर्ण गुण का बहुमान होने से वीतराग की भक्ति उमड़े बिना नहीं रहती।

मैं स्वतन्त्र, अविनाशी, पूर्ण परमात्मा के समान हूँ; विकल्प अथवा परमाणुमात्र मेरे स्वरूप में नहीं हैं; यह बतानेवाले श्री जिनगुरु और प्रगट परमात्मा की प्रतिमा के प्रति अपने गुणों के स्मरण के लिये तथा अशुभभाव से बचने के लिये बहुमान, स्मरण, भक्ति इत्यादि होते हैं। उन देव, गुरु के लिये कोई कुछ नहीं करता, किन्तु विनय से देव की भक्ति आदि कही जाती है। जैसे कोई मनुष्य राजा की प्रशंसा इसलिए करता है कि—उसे निज को वह राजत्व अनुकूल लगता है, इसी प्रकार जन्म-मरण का अन्त कैसे होता है, यह बतानेवाले की पहिचान होने पर उसके बहुमान में भक्ति प्रवाहित हुए बिना नहीं रहती।

जब किसी धनवान के यहाँ इकलौते पुत्र का विवाह होता है तब उसका वैभव और उमंग-तरंग उछले बिना नहीं रहती (इस दृष्टान्त का एक अंश सिद्धान्त में लागू होता है) इसी प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर अप्रगट लक्ष्य हुआ है किन्तु अभी निश्चय अनुभव सहित सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया है, वहाँ भी निर्दोष वीतराग गुरु मेरी स्वतन्त्रता को प्रगट करनेवाले हैं, मुझे मोक्ष देनेवाले हैं, इस प्रकार अत्यन्त विनयपूर्वक बहुमान से भक्ति किये बिना नहीं रहता।

जिसे परमार्थ की रुचि पुष्ट करनी है वह सच्चे देव,गुरु, शास्त्र के प्रति शुभराग करके यह पहले जान लेता है कि—सच्चे गुरु कौन हैं। सच्चे गुरु परमार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं (निश्चय से तो आत्मा ही अपना गुरु है) वे (गुरु) शिष्य को बतलाते हैं कि सिद्ध और अरहन्त केवलज्ञानी परमात्मा कैसे होते हैं, उनका स्वरूप क्या है, जिनसे आत्मा

की प्रतीति होती है। इसलिए प्रत्यक्ष सद्गुरु विशेष उपकारी हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
ऐसा लक्ष हुए बिना, उगे न आत्म-विचार॥'

सद्गुरु के प्रत्यक्ष उपकार का निर्णय किये बिना वास्तव में आत्मा के विचार का उद्भव नहीं होता। यह बतानेवाले प्रत्यक्ष श्री सद्गुरु ही हैं कि—परोक्ष उपकारी श्री जिनदेव कैसे थे और उन्होंने क्या कहा था। यदि सम्पूर्ण स्वभाव को बतानेवाले साक्षात् श्री सद्गुरु को न पहिचाने और उनका बहुमान न करे तो पूर्णानन्द परमात्मा के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता, और उनके यथार्थस्वरूप को समझे बिना परमार्थ स्वरूप नहीं समझा जा सकता, इसलिए साक्षात् ज्ञानी को पहिचानकर उनकी विनय करने को पहले कहा है। यदि साक्षात् उपकारी श्रीगुरु की विनय न करे तो अपने परिणामों का अवलम्बन करना नहीं आ सकता, जो कि विवेक की अपनी बहुत बड़ी भूल है। जो साक्षात् ज्ञानी को नहीं पहिचानता, उनकी विनय नहीं करता, और परोक्ष जिनेन्द्र भगवान के गुणों के नाम पर भक्ति-पूजा में ही लगा रहता है, उसके अपूर्व आत्मविचार का उद्भाव नहीं हो सकता।

साक्षात् गुरु से यथार्थता को समझने और मानने में असत् को न मानने का उत्तरदायित्व और यथार्थ को धारण करने की अपनी तत्परता परिज्ञात हो जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी को परम-उपकारी कहा है। जैसे लोक-व्यवहार में सब कहते हैं कि—हमारी दुकान का माल उत्कृष्ट है, इसी प्रकार यदि कोई अपने माने हुए धर्म को अनेक तर्कों से सच्चा कहे—तो इससे जो जड़ है, वह कहीं सच्चा नहीं हो सकता।

मुझे कोई दूसरा समझा दे, दूसरा तार दे, पुण्यादिक पर की सहायता मिले तो धर्म हो, इस प्रकार पर से धर्म की आशा रखनेवाला सत् का जिज्ञासु नहीं है। किन्तु जिसे स्वत: सुधरना है, पर से कुछ निश्चित नहीं करना है और इस प्रकार जो अपने उत्तरदायित्व से सत् की जिज्ञासा में यथार्थता लाता है, वह सत् का सच्चा शोधक है, वह ज्ञानी को भलीभाँति पहिचान लेता है। इसके पास अविरोधी सत् है, यही यथार्थ ज्ञानी है, ऐसा यथार्थ निर्णय किये बिना यदि भगवान की प्रतिमा के समक्ष भक्ति करे तो समझना चाहिए कि वह मात्र राग की भक्ति करता है। जिसे सच्चे गुरु की और पूर्णानन्द परमात्मा की पहिचान है,

उसे पूर्ण की महिमा परिज्ञात होती है, इसलिए वह निर्विकार शान्त वीतराग मूर्ति को देखकर अपने में पूर्ण की रुचि का स्मरण करके, वीतरागी देव, गुरु के प्रति बहुमान से भक्ति में डूब जाता है। उसमें सत् की रुचि होती है और बाहर सच्चे निमित्त का बहुमान-भक्ति करता है। ऐसा शुभराग एक तो पूर्ण वीतराग के नहीं होता और दूसरे अज्ञानी, अविवेकी के नहीं होता। जहाँ तक अरागी पूर्ण तत्त्व की रुचि है और राग दूर नहीं हुआ वहाँ तक ज्ञानी के अनेक प्रकार का राग बना रहता है, और उससे राग के निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। उसमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति होनेवाली भक्ति का शुभराग मुख्यता से रहता है। जिनप्रतिमा शुभभाव में निमित्त है तथा वीतराग का स्मरण करने में निमित्त है ऐसा जो नहीं मानते उन्हें यह खबर नहीं होती कि पूर्ण साध्य एवं प्रारम्भ और बीच का मोक्ष कैसा होता है तथा वह कैसे प्राप्त किया जाता है।

क्योंकि अभी साधकदशा में राग है, इसलिए वहाँ शुभराग के निमित्त का आदर और बहुमान रहता ही है। जिसे रजकण के भी राग से रहित, विकल्प रहित पूर्ण वीतराग के स्वरूप को पहिचानने की रुचि है, उसे सत् की रुचि का मन्थन करने में वीतरागी जिनप्रतिमा निमित्त होती है, यह जानकर पूर्ण वीतराग की महिमा गाते हैं। पूर्ण वीतराग साक्षात् परमात्मा के विचार में अपनी रुचि है, इसलिए उनके विरह में उनका स्मरण करने में भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा निमित्त होती है। अपने अभिप्राय में परवस्तु लाभ-हानि का कारण नहीं है। अपनी रुचि और तत्परता के अनुसार स्वयं ही अपने आप हिताहितरूप भाव कर सकता है। इस प्रकार जो न समझे और भगवान की मूर्ति के पास ही बैठा रहे, स्वतन्त्र निरालम्बी अकषायदृष्टि से अपने स्वरूप की सँभाल न करे तो भगवान कुछ दे ऐसा आरोप भी नहीं आता।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व भी वीतराग के वचनों का श्रवण, जिनप्रतिमा का दर्शन, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभाव में जीव की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि पाप से बचने के लिये शुभभाव योग्य हैं, और यथार्थ तत्त्वदृष्टि होने के बाद भी जब आत्मा निर्विकल्प स्थिरता में नहीं रह सकता तब सच्चे देव-गुरु की भक्ति और सच्चे उपदेश का श्रवण इत्यादि शुभभाव का अवलम्बन अशुभभाव से बचने के लिये आये बिना नहीं रहता। किन्तु दृष्टि में उस शुभराग का भी आदर नहीं है, मात्र अखण्ड निर्विकारी गुण का ही बहुमान है। वह पूर्ण अविकारी की रुचि आत्मा को आगे बढ़ाती है।

चार ज्ञान के धारी श्री गणधरदेव भी निरन्तर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते इसलिए अशुभ से बचने के लिये विशेष ज्ञान का मनन करने को बारम्बार साक्षात् तीर्थंकर प्रभु का उपदेश सुनते हैं और अपने पद के अनुसार (जबकि—छठवें गुणस्थान में होते हैं, तब) शुभभाव में भी प्रवृत्ति करते हैं। गृहस्थों को अशुभराग के अनेक निमित्त हैं। अत: अशुभराग से बचने के लिये बारम्बार यथार्थ तत्त्व का उपदेश तथा उपरोक्त शुभ व्यवहार आता है किन्तु उस शुभराग की मर्यादा पुण्य-बन्ध जितनी ही है, उससे धर्म नहीं होता। तथापि परमार्थ रुचि में आगे बढ़ने के लिये बारम्बार धर्म का श्रवण एवं मनन करते रहते हैं। जिसे संसार की रुचि है, वह बारम्बार नाटक-सिनेमा देखता है, उपन्यास-कहानियाँ पढ़ता है-सुनता है, नयी बात को जल्दी जान लेता है, इसी प्रकार जिसे धर्म के प्रति रुचि है, वह धर्मात्मा बारम्बार यथार्थ तत्त्व का परिचय करके अशुभ से बचने और स्वरूप की ओर की स्थिरता—रुचि रखने के लिये बारम्बार शास्त्र-स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिनप्रतिमा के दर्शन करता है, पूजा करता है और गुरुभक्ति इत्यादि शुभभाव में युक्त रहता है तथा राग को दूर करने की दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति करता है। विशेष राग को दूर करने के लिये परद्रव्य के अवलम्बन के त्यागरूप अणुव्रत महाव्रतादि का ग्रहण करके समिति-गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंच परमेष्ठी का ध्यान, सत्संग और शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभ से बचने और विशेष राग-रहित भाव की ओर जाने के लिये है।

व्रतादि का शुभभाव आस्रव है, और अविकारी श्रद्धा, ज्ञान तथा निर्विकल्प स्थिरता का भाव बन्ध-रहित निरास्रव है। दृष्टि में पूर्ण वीतराग निरावलम्बिता है। वर्तमान अवस्था में जितना परद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर निरावलम्बी स्वरूप में रागरहित स्थिरता रखे उतना चारित्रभाव है। तत्त्वज्ञान के यथार्थ होने पर भी गृहस्थदशा में स्त्री, कुटुम्ब, धन, देहादि की ओर अशुभभाव होता है। यथार्थ प्रतीति होते ही सबके त्यागीपन नहीं होता, इसलिए अशुभ अवलम्बनरूप पापराग से बचने के लिये और पुण्य-पापरहित अखण्ड स्वभाव की ओर रुचि बढ़ाने के लिये अकषाय निर्मल दृष्टि का प्रबल आन्दोलन करने पर विशेष राग टूटकर जो अणुव्रत-महाव्रत के शुभभाव आते हैं, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग में व्रत कहा है। परवस्तु को छोड़ना या त्यागना व्रत का वास्तविक अर्थ नहीं है। परवस्तु को छोड़ने-त्यागने का व्यवहार आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं होता। किसी भी अपेक्षा से

परवस्तु का लेन-देन आत्मा के आधीन नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा अरूपी है। दृष्टि के बल से जो परवस्तु की ओर का राग छूटता है, वह व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने परवस्तु का त्याग किया है। जहाँ परवस्तु का अवलम्बनरूप राग नहीं रहता वहाँ उसके स्वतन्त्र कारण से परवस्तु का संयोग छूट जाता है। आत्मा के पर का कर्तृत्व या स्वामित्व किसी भी प्रकार से नहीं होता, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं होती वह देहादिक पराश्रित प्रवृत्ति में या राग में लीन होकर रुक जाता है।

जो यह मानता है कि परवस्तु छूट गयी इसलिए राग छूट गया, अथवा देह की या पुण्य की इतनी प्रवृत्ति हुई इसलिए लाभ हो गया, उसे पृथक् आत्मतत्त्व के स्वतन्त्र गुण की प्रतीति नहीं है। तत्त्वदृष्टि सहित राग को दूर करने पर राग की निमित्तभूत परवस्तु अपने ही कारण से छूट जाती है। शुभाशुभ राग का निमित्त प्राप्त करके जड़-रजकण पुण्य-पापरूप से अपने आप अपने ही कारण पुराने कर्मों के साथ बँधते हैं और रागरहित स्वरूप में जितनी स्थिरता की जाती है, उस वीतरागभाव का निमित्त पाकर जड़-रजकण उसके ही कारण छूट जाते हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, किन्तु किसी की अवस्था किसी अन्य के आधीन नहीं होती, इसलिए ज्ञानी देहादि की प्रवृत्ति से अपने परिणाम का माप नहीं निकालते। ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड ज्ञायकस्वरूप पर है, उसके बल से जितना राग दूर होता है उतना लाभ मानता है। राग और परद्रव्य कुछ मेरा नहीं है इस प्रकार पर का कर्तृत्व और स्वामित्व छोड़कर एकरूप अविकारी ज्ञानानन्द स्वभाव का स्वामित्व रखता है। दृष्टि में (श्रद्धा में) पर की ओर के राग की आसक्ति छूटने पर चारित्र की स्थिरता के बल से विशेष राग का त्याग करे तो गृहस्थदशा छूटकर बाह्य में पंच महाव्रतादि शुभ-व्यवहार सहित नग्न-दिगम्बर मुनिपद और अन्तरंग में राग को दूर करके भाव-मुनिपद ग्रहण करता है। किन्तु यथार्थ दृष्टि के होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण जो विशेष राग कम नहीं कर सकता वह गृहस्थदशा में रहकर आंशिक राग कम करके, अकषायदृष्टि सहित अंशत: स्वरूप-स्थिरता को बनाये रखता है। उसके अशुभराग में न जाने के लिये दान, पूजा, भक्ति, प्रभावना, अणुव्रत आदि शुभभाव का व्यवहार हुए बिना नहीं रहता। वास्तव में अकषाय अखण्ड ज्ञायक की दृष्टि के बल से संवर होता है, व्रतादि के शुभभाव संवर नहीं, धर्म नहीं है किन्तु आस्रव है। किन्तु उस शुभभाव का व्यवहार

अशुभभाव को दूर करने में निमित्त होता है, और राग के दूर होने पर जो निर्मलता होती है, उसे शुभराग में आरोपित करके व्रतादि को व्यवहार से (उपचार से) मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु यदि निरावलम्बी अविकारी की प्रतीति न हो तो वह उपचार से भी व्यवहार नहीं कहलाता।

ज्ञानी के निम्नदशा में प्रशस्त राग हुए बिना नहीं रहता, किन्तु दृष्टि में वह शुभराग का भी कर्ता नहीं होता। जो राग के स्वामित्व को मानकर शुभराग को करने योग्य समझता है, उससे लाभ मानता है उसे राग के प्रति आदर है, और निरावलम्बी वीतरागी गुण के प्रति आदर नहीं है।

दृष्टि में शुभ व्यवहार का अभाव करके (स्वामित्व को छोड़कर) शुभराग को भी करने योग्य न मानकर, परमार्थ से अखण्ड ज्ञानस्वभावी हूँ, इस प्रकार स्वभाव पर भार देना परमार्थ-श्रद्धा का कारण है। जो उत्पन्न हुई शुभाशुभवृत्ति का अपने को कर्ता मानता है, वह अज्ञानी है। ज्ञानी रागादि का मात्र ज्ञाता होता है; वह रुचिपूर्वक विकार का कर्ता नहीं किन्तु उसका नाशक होता है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से यद्यपि राग रहता है तथापि वह उसका स्वामी नहीं होता और न उसके प्रति आदर होता है। हाँ, वह बिल्कुल निर्विकल्परूप से स्थिर नहीं रह सकता इसलिए अशुभ में प्रवृत्त न होने के लिय शुभभाव का अवलम्बन होता है।

यदि कोई यह माने कि मैं समझ-बूझकर शुभभाव करता हूँ इसलिए शुभभाव से मुझे सम्यग्दर्शन हो जायेगा—उससे आगे बढ़ सकूँगा तो यह मान्यता बिल्कुल विपरीत है—गुण की हत्या करने के समान है। कोई ज्ञानी शुभभाव को छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहता।

सम्यग्दर्शन होने के बाद भी शुभ व्यवहार होता है, और विषय-कषाय का अशुभराग दूर करके, अकषायदृष्टि के बल से स्वरूपस्थिरता के बढ़ने पर पाँचवें गुणस्थान में बारह व्रत की शुभवृत्ति हुए बिना नहीं रहती; इस प्रकार राग के छेदते-छेदते शुभराग रह जाता है; वहाँ परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ने के लिये सहज ही अणुव्रत-महाव्रत होते हैं, जो किसी की देखादेखी से अथवा आग्रह से व्रत धारण करता है और यह मानता है कि—मैं व्रत कर रहा हूँ, उसे मात्र व्रत का अभिमान ही समझना चाहिए। धीर होकर, मध्यस्थ

होकर यह समझना चाहिए कि सर्वज्ञ वीतराग ने क्या कहा है। संसार तो अनन्त काल तक रहेगा। अपनी चिन्ता करके सत् के प्रति उत्साहित होकर जो यह भाव करता है कि—अब भव नहीं चाहिए, इतना ही क्यों किन्तु कुछ भी नहीं चाहिए, मुझे तो मात्र सत्य को ही समझना है; जिसके ऐसा भाव है वही सत् को समझ सकता है। सत् सत् से प्रगट होता है, किसी क्रियाकाण्ड से अथवा बाह्य प्रवृत्ति से प्रगट नहीं होता। अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश ही आवश्यक होता है, इसी प्रकार अज्ञान को दूर करने के लिये यथार्थ ज्ञान आवश्यक है।

निर्मल दृष्टि के बाद राग को दूर करने पर जो शुभराग रह जाता है सो असद्भूतव्यवहार है, और जितनी निर्मल स्थिरता होती है सो सद्भूतव्यवहार है। असंग, अविकारी, ध्रुव, अखण्ड, ज्ञायकस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा करना सो निश्चय है। श्रद्धा के अखण्ड विषय में निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग और मोक्ष का भी भेद नहीं होता; ऐसी शुद्ध निरावलम्बी दृष्टि के बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह संवर-निर्जरा है। व्रतादि का शुभ-व्यवहार आस्रव है—बन्ध का कारण है, क्योंकि एकरूप ज्ञायकस्वभाव का आश्रय छूटने से राग का उत्थान होता है जो कि स्वाश्रित गुण का अविकारी भाव नहीं है। जहाँ शुद्ध में स्थिर नहीं हुआ जा सकता वहाँ यदि शुभ का अवलम्बन न हो तो अशुभ में प्रवृत्त हो जाता है। जब तक पुण्य-पाप से रहित अविकारी निरावलम्बी स्वभाव की दृढ़ता सहित विकार के नाश की प्रतीतिरूप अखण्ड की श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता, वहाँ तक व्रत-चारित्र सच्चे नहीं होते। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

लिया स्वरूप न वृत्ति का, व्रत का कर अभिमान।
गहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान॥

(आत्मसिद्धि पद २८)

मध्यस्थ होकर सर्वज्ञ वीतराग कथित अविरोधी तत्त्व को न समझे और बाह्य-प्रवृत्ति में धर्म माने एवं शुभ विकार से लाभ माने; किन्तु देह की क्रिया से तो कहीं पुण्य होता नहीं है। यदि शुभभाव हो तो पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है। साथ ही मिथ्यादर्शन-शल्य की पुष्टि करके, तत्त्वज्ञान का विरोध करके, पुण्य की स्थिति पूरी करके अनन्त काल के लिये निगोद में जाता है।

निमित्त की उपस्थिति मात्र होती है, किन्तु वह निमित्त मुझे कहीं सहायक नहीं हो सकता; पुण्य से-शुभ से कोई लाभ नहीं है, ऐसी अविकारी पूर्ण स्वभाव की अविरोधी श्रद्धा जिसे नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, तब फिर वह श्रावक अथवा मुनि तो हो ही कहाँ से सकता है।

यदि अच्छे निमित्त से लाभ होता हो तो ऐसी उत्कृष्ट संगति अनन्त बार प्राप्त हुई है किन्तु किसी को पर के आश्रय से लाभ क्यों नहीं हुआ ? जिसने स्वावलम्बी तत्त्व की दृष्टि प्राप्त की है, निमित्त का और राग का श्रद्धा में अभाव किया है, उसके सम्यक् प्रतीति प्रगट होती है। जिसने यथार्थ को समझा है वह वास्तव में निज से ही समझा है तथापि वह गुरु का बहुमान किये बिना नहीं रहता। वह सत्-समागम को प्राप्त करके भी यह मानता है कि मेरी जितनी अपनी तैयारी होगी उतनी ही शक्ति मुझसे प्रगट होगी। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव निमित्त है; उस शुभराग से मुझे लाभ नहीं है, किन्तु मेरे स्वरूप में जितनी स्थिरता और निराकुलता होगी उतना ही लाभ होगा। ऐसा जानने पर भी जब तक निर्विकल्प स्थिरता न कर सके तब तक शास्त्राभ्यास और विशेष ज्ञान के लिये उपदेश श्रवण करे, इन्द्रिय-संयम में विशेषता करे और ऐसे ही शुभभाव में लगे, तथापि यह न माने कि उससे लाभ होगा। किन्तु अविकारी तत्त्व की रुचि और उसके बल से जो राग दूर होता है तथा स्थिरता बढ़ती है, उससे लाभ माने।

यदि अपनी तैयारी हो तब शास्त्र दिशासूचन करता है। यदि शास्त्रों से अथवा अक्षरों से ज्ञान होता हो तो क्या आत्मा में ज्ञान नहीं था ? आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों की शक्ति का अखण्ड पिण्ड प्रतिसमय परिपूर्ण है; उसकी यथार्थ पहिचान करके, अशुभ से बचने के लिये राग को मन्द करके व्रत, भक्ति आदि शुभ का अवलम्बन लिया जाता है, इतने मात्र के लिये शुभभाव ठीक होता है, किन्तु वह धर्म में सहायक नहीं है।

व्यवहारनय को कथंचित् अभूतार्थ कहा है। कर्म के निमित्त में युक्त होने से जो राग होता है, वह सर्वथा अविद्यमान नहीं है। यदि पर्याय को सर्वथा असत्य माना जाये तो पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही न रहे। अशुभराग को दूर करने के लिये शुभभावरूप व्यवहार पुरुषार्थ से होता है, अपने आप नहीं होता। भूतार्थ-शुद्धदृष्टि की प्रतीति से अखण्ड

की रुचि के बल द्वारा स्थिरता करने पर राग दूर हो जाता है। उस अपेक्षा से राग को अभूतार्थ कहा है। अभूतार्थ का अर्थ आत्मा के स्वभाव में न होना है। यहाँ पर शुभभाव को असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है। आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिए असद्भूत और अवस्था में कर्म के संयोग से होता है सो एक समय की अवस्था मात्र को होता है, नित्यस्थायी नहीं है इसलिए व्यवहार है।

अखण्ड ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य से स्थिरता के अंश बढ़ते हैं, सो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवस्था सद्भूत है अथवा आत्मा में शक्तिरूप से जो अनन्त निर्मल गुण हैं, वे अखण्ड के लक्ष्य से निर्मलता के अंश प्रगट हुए हैं, इसलिए शक्ति में से व्यक्त होनेवाली पर्याय सद्भूत है; और अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से भेद होते हैं, इसलिए वह व्यवहार है।

यदि अकषायदृष्टि न हो और मात्र शुभरागरूप महाव्रतादि हों तो उसे असद्भूत-व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि शुभभाव बन्धन है तथापि अशुभभाव को छोड़ने के लिये शुभभाव ठीक है, यदि ऐसा न माने और शुभभाव को छोड़ दे तो, अभी वीतराग तो हुआ नहीं है, इसलिए पापबन्ध करके नरकादि गतियों में होकर परम्परा से निगोद में जायेगा।

शुभराग करते-करते धीरे-धीरे लाभ होता हो सो भी नहीं है। शुभाशुभ राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं निरावलम्बी ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि करके पहले राग का श्रद्धा में अभाव करे और पूर्ण निर्मल ज्ञायकस्वभाव को ही आदरणीय माने तो अन्तरंग में यथार्थ की ओर की रुचि होने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

छठवें गुणस्थान तक शुभ व्यवहार कैसा होता है यह बात उसकी क्रमिक भूमिका के अनुसार बारहवीं गाथा में कही है। सातवें गुणस्थान में व्रतादि का शुभ-व्यवहार भी नहीं होता; वहाँ तो बुद्धिपूर्वक विकल्प छूटकर अखण्ड रुचि में लीनता-एकाग्रता होती है। छठवें गुणस्थान से कषायत्रय की चौकड़ी का अभाव होता है, इसलिए सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती मुनि के उपदेश ही नहीं हो सकता। आचार्य महाराज कहते हैं कि चौथे-पाँचवें और छठवें गुणस्थान में गुण की रुचि से वीतरागी उपदेश सुनने के सहज शुभभाव होते हैं। जिसे यह खबर नहीं है, वह बाह्य-प्रवृत्ति को शुद्धि का साधन मानकर उसमें लग जाता है। बाह्य-प्रवृत्ति से अन्तरंग परिणाम नहीं सुधरते, क्योंकि किसी की

अवस्था किसी के आधीन नहीं है। गृहस्थदशा में परवस्तु के संयोग अधिक हैं, किन्तु उन संयोगों से भाव नहीं बिगड़ते। किन्तु स्वयं उनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके अशुभभाव कर रहा है; उन्हें बदलकर अपने पुरुषार्थ से शुभभाव होते हैं, वे अपने आप नहीं होते।

जिसे सम्यग्दर्शन की खबर नहीं है और न जो यह जानता है कि सच्चे देव, गुरु, शास्त्र कौन हैं तथा वे जन्म-मरण को दूर करने के उपाय को समझने में किस प्रकार निमित्त होते हैं, और जिसे सत्योन्मुख होकर शुभभाव नहीं करना है, वह अपने परिणाम को भूलता है, वह मात्र पाप करके नरक में और परम्परा से एकेन्द्रिय निगोद में जाता है। जो तत्त्वज्ञान का विरोध करता है, वह निगोद को प्राप्त करके संसार में परिभ्रमण करता है।

आलू आदि कन्दमूल में उत्पन्न होनेवाले एकेन्द्रियधारी जीव निगोदिया हैं। राई के छोटे से टुकड़े के बराबर भाग में असंख्यात शरीर होते हैं और ऐसे एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, जो कि तीव्र मूढ़ता और आकुलतावश एक श्वासोच्छ्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। उन्हें नारकीय जीवों से भी अनन्तगुना अधिक दु:ख होता है। बाह्य-संयोग से दु:ख नहीं है किन्तु अज्ञान और आकुलता दु:ख है। पहले तत्त्वज्ञान का विरोध किया था इसलिए ज्ञान की अनन्त शक्ति कम हो गयी और गुण की अनन्त हीनदशा प्राप्त हुई, उसी में आकुलता का दु:ख है। ज्ञायकस्वरूप में जो सावधानी है, सो सुख है और विकारी भाव में जो सावधानी है, सो दु:ख है।

लोग बाहर के संयोगों को लेकर सुख-दु:ख का नापतौल करते हैं, किन्तु वह झूठा है। किसी के पास लाखों रुपयों का संयोग हो और शरीर निरोगी हो किन्तु भीतर इच्छा के प्रतिकूल होने से कोई खटका लगा हो, अपमान हुआ हो, भाई-भाई के बीच क्लेश हो गया हो, स्त्री कहने में न चलती हो—जिसे कि बाहर नहीं कहा जा सकता, तथा ऐसे ही और अनेक कारण हो सकते हैं, जिनकी परेशानी को लेकर भीतर ही भीतर अनेक कल्पनाएँ करके आकुलित होकर जलता रहता है। बाहर से अनुकूल संयोग दिखायी देते हों तथापि भीतरी मान्यता में आकुलता का दु:ख खटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य-संयोग से सुख-दु:ख नहीं होता। यदि भ्रम को छोड़कर यथार्थ ज्ञान करे तो सुखी हो सकता है। किसी को बाहर से प्रतिकूलता का संयोग हो तथापि मैं पर से भिन्न हूँ, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं पवित्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभ का कारण नहीं है, इस

प्रकार यदि शान्त ज्ञानस्वभाव को देखे तो चाहे जिस देश में अथवा चाहे जिस काल में दु:ख नहीं है। नकर में भी संयोग दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु भ्रम से पर में अच्छा-बुरा मानने की जो बुद्धि है, वही दु:ख है। नरक में भी आत्मप्रतीति करके शान्ति का अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र में अपने अनन्त आनन्द गुण से हीन नहीं है। वह सदा अपने में ही रहता है। आत्मा को परक्षेत्रगत कहना व्यवहारमात्र है।

एकेन्द्रिय दशा को प्राप्त जीवों ने पहले तत्त्वज्ञान का उग्र विरोध किया था इसलिए उनकी अवस्था अनन्तगुनी हीन हो गयी है, वहाँ पर जीव तीव्र कषाय और मोह की तीव्रता में अनन्ती आकुलता का अनुभव करता है। शरीर के प्रति जो मोह है, सो दु:ख है। जो शरीर है, सो मैं नहीं हूँ, इस प्रकार स्वाधीन अविनाशी पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके जितना स्वभावोन्मुख होता है, उतने ही अंश में सुखानुभव होता है-दु:खानुभव नहीं होता।

शुद्धनय का विषय साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसे पहले यथार्थ रीति से जानकर पूर्ण-निर्मल स्वरूप की श्रद्धा करने के बाद जब तक पूर्ण नहीं हो जाता तब तक भूमिका के अनुसार प्रयोजनभूत अवस्था समझनी चाहिए। सराग और वीतराग अवस्था जैसी हो उसे उस प्रकार जानना सो व्यवहार है और पूर्ण अखण्ड स्वरूप को जानना ही निश्चय है; इन दोनों का यथार्थ ज्ञान करनेवाला सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है, किन्तु वह परोक्ष-प्रमाण है। कोई भी राग मेरे लिये सहायक नहीं है, वह त्याज्य है। मेरा अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव सहायक है इस प्रकार प्रथम श्रद्धा में आने के बाद निश्चय और व्यवहार अर्थात् अखण्ड वस्तु और भेदरूप अवस्था—दोनों का ज्ञान करता है। व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं होता किन्तु निश्चय में व्यवहार गौणरूप से आ जाता है; लेकिन वह व्यवहार निश्चय में सहायक नहीं होता।

लोगों को व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिए व्यवहार से धर्म मानते हैं; जो कि मिथ्या है। जहाँ यथार्थ निश्चय वस्तुदृष्टि है, वहाँ निचली दशा में राग के दूर करके पर शुभराग रहता है और निर्मल अवस्था के अंश बढ़ जाते हैं। उसे यथावत् जानना सो व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहार से धीरे-धीरे परमार्थ प्राप्त हो जाता है, ऐसी श्रद्धा त्रिकाल में भी यथार्थ नहीं है।

व्यवहारदृष्टि—निमित्ताधीनदृष्टि—रागदृष्टि का आश्रय करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। निरावलम्बी नित्य स्वभावदृष्टि का अर्थ है भूतार्थदृष्टि या निश्चयदृष्टि, उसके आश्रित सम्यग्दृष्टि है, इस बात को ग्यारहवीं गाथा में कहकर बारहवीं गाथा में व्यवहार का यह ज्ञान करने को कहा है कि निश्चय के यथार्थ आश्रय में कहाँ-कहाँ कैसी अवस्था होती है। यदि अवस्था को भुला दिया तो निर्मलता करने का पुरुषार्थ नहीं होगा; और यदि अवस्था पर-व्यवहार पर ही दृष्टि रखी तो निर्मल अवस्था नहीं होगी। यदि निश्चय का लक्ष्य नहीं रखा तो निरावलम्बी अखण्ड तत्त्व का नाश हो जायेगा।

निरपेक्ष, निर्विकारी ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ न्याय से लक्ष्य में लेने पर उसके बल से विकार का नाश होता है, और विकार के लक्ष्य से अथवा निर्मल अवस्था के लक्ष्य से राग का नाश नहीं होता। जिसे ऐसी श्रद्धामय यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है, उसे वर्तमान अवस्था का यथार्थ विवेक अवश्य होता है, तथापि यहाँ पर व्यवहारनय का विशेष स्पष्टीकरण करने के लिये उपदेश में व्यवहार से कहना पड़ता है कि तू अशुभराग को छोड़ने के लिये शुभभाव का आश्रय ले। और फिर दूसरा आशय यह है कि कोई ग्यारहवीं गाथा का आशय न समझे और यह मानकर कि मात्र अखण्डतत्त्व है, अवस्था नहीं है—व्यवहार का ज्ञान न करे तो पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; इसलिए निश्चय और व्यवहार की अविरोधी सन्धि को लेकर दोनों गाथाओं में मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाया है।

इसे समझे बिना यदि व्यवहार से चिपका रहे तो तत्त्व की श्रद्धा का नाश हो जायेगा, और अवस्था के प्रकार को न जाने तो मोक्षमार्ग का नाश हो जायेगा; अर्थात् जो व्यवहार को न मानता हो उसे स्पष्ट समझाने के लिये यह बारहवीं गाथा है।

पराश्रय से होनेवाला विभावभाव वर्तमान अवस्थामात्र के लिये क्षणिक है, और उसका नाश करनेवाला स्वभावभाव त्रिकाल स्थायी भूतार्थ है। उस निरावलम्बी, असंग, अविकारी ज्ञायकस्वभाव को जीव ने अनादि काल से नहीं जाना इसलिए वह वर्तमान अवस्था में विकार में स्थिर हुआ है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं, उनके साथ आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अविकारी ज्ञायक एकरूप वस्तु है, उसमें पर के सम्बन्धरूप विकल्पवृत्ति होती है, सो विकार है। फिर चाहे वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि का शुभराग हो या हिंसा, चोरी इत्यादि का अशुभभाव हो, किन्तु वे दोनों विकार

हैं। वे क्षणिक अवस्थामात्र तक होने से बदले जा सकते हैं—नष्ट किये जा सकते हैं। दोष का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और उस निर्मल अवस्था को धारण करनेवाला नित्य ध्रुव है। यदि वह नित्य एकरूप स्थिर न रहता हो तो विकार को दूर करूँ और विकार रहित सुखी हो जाऊँ यह कथन ही नहीं हो सकता। स्वतन्त्र अर्थात् विकार रहित, पराश्रय रहित एकरूप निर्मल पूर्ण ज्ञानानन्दभाव से रहना, यही स्वभावभावरूप मोक्ष है। पूर्ण निर्मल पवित्र दशा मोक्ष है और उसकी कारणरूप हीन निर्मलदशा मोक्षमार्ग है।

विकारी अशुद्धभाव जीव की वर्तमान अवस्था में नये होते हैं, किन्तु वह अपना स्वाश्रित ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं अविकारी पूर्ण हूँ, पर के कारण से मेरा बनना-बिगड़ना नहीं होता इसलिए मैं स्वतन्त्र हूँ, इस प्रकार त्रैकालिक पवित्र स्वभाव का निश्चय करके अखण्ड स्वाश्रितदृष्टि के बल से क्षणिक विकार का नाश हो सकता है, और जो निर्मल अवस्था शक्तिरूप से है, वह प्रगट हो सकती है। इसमें दो पक्ष आते हैं—मैं पूर्ण हूँ ऐसा निश्चय और उसकी वर्तमान अवस्था के विकार-अविकाररूप दो भंगों को देखना सो व्यवहार है। उन भेदों पर दृष्टि डालने से विकल्प होता है और नित्यस्थायी, अखण्ड भूतार्थस्वभाव पर लक्ष्य करने से राग का भेद छूट जाता है और अवस्था निर्मल होकर द्रव्य में मिल जाती है।

श्रद्धा के लक्ष्य से पूर्ण दशा प्रगट नहीं होती क्योंकि श्रद्धा तो आत्मा के गुण की पर्याय है। उस अपूर्ण अवस्था के बल से पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट नहीं हो सकती, किन्तु सर्व शक्ति की पूर्ण सामर्थ्यरूप स्ववस्तु की ओर बलवती एकाग्रता करने पर पहले अपूर्ण निर्मल अवस्था और फिर पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होती है।

एकरूप स्वभाव पर यथार्थ निश्चय की दृष्टि का जोर देने पर भ्रम और विकारी अवस्था का नाश, निःशंक सम्यग्दर्शन और आंशिक निर्मलता की उत्पत्ति होती है, तथा वस्तु एकरूप ध्रुव रहती है। वर्तमान में होनेवाली अवस्था को देखनेवाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके निर्मल, निरपेक्ष, निरावलम्बी असंग एकरूप सदृश स्वभाव को अखण्डरूप से लक्ष्य में लेना सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धा का विषय अभेद है; किन्तु जैसी अवस्थाएँ होती है, उन्हें यदि ज्ञान से वैसा न जाने तो ज्ञान में भूल होती है और ज्ञान में भूल होने पर दृष्टि में भूल होती है इसलिए सम्पूर्ण निर्मल, निरपेक्ष स्वभाव को देखना सो निश्चय और

अवस्था को देखना सो व्यवहार है। इस प्रकार दोनों को एक वस्तु में जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। विकार उपादेय नहीं है, ज्ञेयमात्र है।

इस प्रकार ग्यारहवीं और बारहवीं गाथा में निश्चय और व्यवहार की अविरोधी सन्धि किस प्रकार है, सो चतुर्थ कलश में कहते हैं:—

(मालिनी)

उभय-नय-विरोधध्वन्सिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनव-मनय-पक्षाक्षुण्ण-मीक्षन्त एव ।।४।।

अर्थः—निश्चय और व्यवहार—इन दो नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है; इस विरोध का नाश करनेवाले 'स्यात्' पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन में जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति के साथ अभ्यास करते हैं) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारणों की सहायता के बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं। कैसा है वह समयसाररूप आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, पहले कर्म से आच्छादित था जो कि प्रगट व्यक्तिरूप हो गया है और फिर कैसा है? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निरबाध है।

पराश्रितरूप से होनेवाला भाव एक प्रकार का नहीं होता, इसलिए आत्मा में जो भूल होती है, वह भी अनेक प्रकार की होती है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव एक प्रकार का है।

आत्मा व्यवहार से निर्मल अवस्था का कर्ता-भोक्ता है। व्यवहार का विषय भेदरूप होने से निश्चयनय के अभेद विषय से उसका विषय विरोधरूप है तथापि व्यवहार है जिसका निषेध नहीं है, किन्तु उसका लक्ष्य अभेददृष्टि में गौण है।

जो पर-लक्ष्य से शुभाशुभ वृत्ति करता है, अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में राग को लेकर अच्छे-बुरे भाव से लक्ष्य करने पर उसमें जो लीनता होती है, सो विषय है। धर्म के नाम से पर में जो अच्छी वृत्ति होती है, वह भी पर-विषय में-राग में जाती है। मैं पर-संयोग तथा रागादिरूप नहीं हूँ, किन्तु त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूँ, इस प्रकार

स्वलक्ष्य करे तो भूल और मलिन अवस्था का नाश तथा (यथार्थ प्रतीतियुक्त) निर्मल श्रद्धा और अविकारी प्रतीति की प्राप्ति होतीहै। (प्राप्ति होने का अर्थ यह है कि निज में जो शक्ति थी वह स्वभाव के बल से व्यक्त होती है।)

जो अवस्था जैसी है, उसे वैसी ही जानना चाहिए। यदि वस्तु बिल्कुल अखण्ड एकरूप ध्रुव हो और उसमें अवस्था का बदलना न हो—कूटस्थ ही रहे तो विकार का और भ्रान्ति का नाश तथा अविकारी अवस्था का प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा। तथापि जिसे दोनों अपेक्षाओं के प्रकार की खबर नहीं है, उसे एक तत्त्व का ज्ञान करने में खण्ड-अखण्डरूप दो विषयों के भेद से दो अपेक्षा में परस्पर विरोध मालूम होता है, किन्तु उस विरोध का नाश करनेवाली स्यात्पद लक्षणवाली वीतराग की स्याद्वाद वाणी न्याय से स्वतन्त्र वस्तु को अविरोधरूप से निश्चित करती है। जिस अपेक्षा से वस्तु नित्य है, उसी अपेक्षा से अनित्य नहीं है, किन्तु वस्तुदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं विकार का नाशक हूँ, इस प्रकार अविकार के लक्ष्य से भेददृष्टि को (व्यवहार को) गौण करके पूर्ण अखण्ड वस्तु को लक्ष्य में न ले तो त्रिकाल एकरूप स्वभाव का आश्रय नहीं होता। और यदि अवस्था भेद को न माने तो पुरुषार्थ नहीं होगा; क्योंकि वस्तु का लक्ष्य अवस्था के द्वारा होता है और वस्तु के आश्रय से निर्मलता प्रगट होती है।

यदि व्यवहारनय का विषय अवस्था न हो तो यह उपदेश मिथ्या सिद्ध होगा कि तू राग-द्वेष को दूर करके निर्मल हो; भ्रान्ति को छोड़कर अभ्रान्त हो। संसार अवस्था के समय भी आत्मा में त्रिकाल वस्तुस्वभाव की दृष्टि से शुद्धत्व ही है, और पर-सम्बन्ध से वर्तमान अवस्थादृष्टि से अशुद्धत्व है। सर्वज्ञ भगवान ने जिस अपेक्षादृष्टि से जिस प्रकार वस्तु का वर्णन किया है, उसी प्रकार वस्तु को जाने तो मोह का अवश्य नाश होता है। इस बात को समझने के लिये जो प्रेमपूर्वक और ध्यान से सुनेगा वह उच्च पुण्यबन्ध करेगा और जो समझेगा वह कृत-कृत्य हो जायेगा।

आत्मा परमार्थत: पर से और विकार से भिन्न है तथा पूर्ण निरावलम्बी है। उसकी महिमा को सुनकर वस्तु के प्रति बहुमान करे, अन्तरंग से उमंगपूर्वक स्वीकार करे कि अहो! यह बात अपूर्व है। इस प्रकार यथार्थ की ओर जाते हुए सहज स्वीकृति हो तो स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। यदि किसी को यह बात जल्दी समझ में न आये तो

भी उसके प्रति आदरभाव रखकर वह समझने की जिज्ञासा रखे कि यह क्या कहा जा रहा है, तो मन ऐसा एकाग्र हो जाता है कि जिससे महान पुण्यबन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप इसी प्रकार तत्त्व को सुनने का योग पुन: पुन: मिलता है। जो यह जानते हैं कि हमें यथार्थ तत्त्व सुनने को मिला है, वे पुण्यबन्ध के लिये नहीं सुनते। जिस अपेक्षा से अथवा जिस न्याय से वस्तुस्थिति कही जाती है, उसमें यदि शब्द आगे पीछे समझ में आये तो मेल नहीं खाता।

स्यात् पद से चिह्नित जो श्री जिनेन्द्र भगवान के वचन हैं वे अनेक धर्म स्वरूप स्वतन्त्र वस्तु को पर से भिन्न तथा अपने ज्ञानादि अनंत गुण और पर्यायों से अभिन्न बतलाते हैं। जब नित्य अभिन्न वस्तु स्वभाव को मुख्य बताया जाता है, तब वर्तमान अनित्य अवस्था का लक्ष्य गौण समझना चाहिए; इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अविरोधी वस्तु को दो अपेक्षाओं से बतलाती है।

जो वस्तु को एकान्त अखण्ड शुद्धरूप मानकर अवस्था को उड़ा देना चाहते हैं, वे अवस्था को-पर्याय को समझे ही नहीं इसलिए उनका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। अवस्था बदलती है तथापि वह भ्रम है, यह कहनेवाला स्वयं ही भ्रमरूप सिद्ध होता है। अशुद्धता अपने ध्रुवस्वभाव में नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि वर्तमान अपूर्ण अवस्था में विकार नहीं है तो विकार को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं हो सकेगा।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के न्याय से जो निश्चय और व्यवहार—दोनों नयों के द्वारा यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय करके एकरूप स्वाधीन वस्तु को जाने कि मैं निश्चय से त्रिकाल एकरूप निर्मल हूँ, पूर्ण हूँ, और व्यवहारदृष्टि से वर्तमान अवस्था ऐसी है तथा जो पराश्रय से विकारी एवं स्वलक्ष्य से निर्मल पर्याय होती है, वह अवस्था मुझमें होती है—इस प्रकार दोनों नयों को जाने और एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण करके वस्तु को लक्ष्य में ले तो यथार्थता निश्चित होती है।

मिथ्या-व्यवहार के भेद के आग्रह की बात घर-घर सुनायी देती है। मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, शुभविकार से मुझे लाभ होगा, हम देह की क्रिया कर सकते हैं तथा दूसरे को बना या बिगाड़ सकते हैं ऐसा लोक-व्यवहार आत्मा को सिखाना नहीं पड़ता, उसका तो अनादि काल से परिचय चला आ रहा है। किन्तु मैं चिदानन्द निर्विकार ध्रुव हूँ, विकार का

या पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मेरा स्वभाव मलिन अवस्थारूप नहीं है, यह जानकर भेद को गौण करके, यथार्थ शुद्धदृष्टि के विषय का ज्ञान करानेवाले और उसका उपदेश देनेवाले बहुत विरल हैं।

कोई आत्मा को सर्वथा अखण्ड-अविकारी मानकर अवस्था के भेदों को उड़ाना चाहता है अर्थात् जो यह मानता है कि—परावलम्बन से अनित्यतया होनेवाले परिणाम सर्वथा जड़ के ही हैं, इन्द्रियाँ अपने (इन्द्रियों के) विषय को भोगती हैं, मैं नहीं भोगता वह स्वच्छन्दी है, और इसीलिए संसार में परिभ्रमण करता है। जड़-इन्द्रियविषय को आत्मा नहीं भोग सकता तथापि स्वयं अपने को भूलकर पर में सुख की कल्पना करता है, और अच्छा-बुरा मानकर राग में एकाग्र होकर आकुलता का वेदन करता है। जड़ में विकार नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं विकारी भाव से विकारी अवस्था को धारण करता है, उस विकार में परवस्तु निमित्त होती है। राग की वृत्ति पर-लक्ष्य से होती है, जो कि नित्यस्वभाव के लक्ष्य से दूर होती है; इसलिए जो दूर होती है, वह अभूतार्थ है, मेरे ध्रुवस्वभाव में वह नहीं है; यह जानकर अभेद स्वभाव को लक्ष्य में लेना सो सच्ची दृष्टि का विषय है।

जो पुरुष सर्वज्ञ की वाणी के न्यायानुसार यथार्थ तत्त्व का निर्णय करने के लिये निश्चय और व्यवहार के अविरोधी न्याय में रमते रहते हैं, अर्थात् प्रचुर प्रीति सहित-वास्तविक तीव्र रुचि के साथ अभ्यास करते हैं, वे जहाँ-जहाँ जिस-जिस अपेक्षा के भाव का कथन होता है, वहाँ उस प्रकार समझते हैं, और दूसरे भाव की अपेक्षा गौण समझते हैं।

निश्चय से स्वभाव को देखना और व्यवहार से अवस्था को यथावत् जानना चाहिए; इस प्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करने के लिये उसका अभ्यास करना चाहिए। संसार की रुचि के लिये जागरण करता है, उपन्यास पढ़ता है, नाटक देखता है किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के शास्त्र में क्या कथन है और सच्चा हित कैसे हो सकता है उसकी चिन्ता नहीं करता। उसके लिये कोई किसी से न तो कुछ पूछता है और न याद करता है। लोक-व्यवहार में पुत्र अपने पिता से यह नहीं पूछता कि आप मरकर कहाँ जायेंगे ? आपने यथार्थ हित क्या समझा है ? क्योंकि देखनेवाला स्वयं भी बाह्य परिस्थिति में ही विश्वास करता है इसलिए वह न तो यह देखता है और न यह जानता है कि भीतर ज्ञातास्वरूप कौन है। उसे देह पर राग है इसलिए वह अपने बीमार पिता से पूछा करता है कि आपको जो केंसर

रोग हुआ है वह अब कैसा है ? इस प्रकार दूसरे की खबर पूछता है किन्तु अनादि काल से जो अपने को ही अज्ञानरूपी केंसर हुआ है, जन्म-मरण का कारणभूत विपरीत मान्यता का महारोग लगा हुआ है, उसके लिये कोई नहीं पूछता। बाजार में से चार पैसे की वस्तु लेते समय बड़ी सावधानी से देखता है कि—कहीं ठगे तो नहीं जा रहे हैं; क्योंकि घर पर उस सम्बन्ध में पूछनेवाले बैठे हैं। किन्तु अन्तरंग में भूल की चिन्ता कौन करता है ? कौन पूछता है ? न तो पिता को पुत्र की भलाई की खबर है और न पुत्र को पिता के हित का ध्यान है। मरकर पशु-पक्षी अथवा नारकी होंगे इसलिए अपूर्व ज्ञान प्राप्त करने का यह सच्चा अवसर है; यदि इस प्रकार निज की चिन्ता हो तो अपने को जो अनुकूल पड़े उसका दूसरे को भी आमन्त्रण दे, किन्तु वह तो अनादि काल से देहादिक बाह्य-संयोगों को आत्मा मानता आया है और उसे वह अनुकूल पड़ता है इसलिए उसी को बारम्बार याद करता है।

लड़का मर गया है, यह मानकर अज्ञानी जीव रोता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि शरीर के परमाणुओं का अथवा आत्मा का किसी का भी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय बदलती है। क्योंकि संयोग में सुख-दुःख मान रखा है इसलिए असंयोगी भाव नहीं रुचता। देह पर राग है इसलिए देह की सुविधा के लिये जिस संयोग को अनुकूल मानता है, उसका आदर करके राग करता है और जिस संयोग को प्रतिकूल मानता है उसका अनादर करके द्वेष करता है। यह सब अपने भाव में ही करता है, पर में कुछ नहीं कर सकता, तथापि पर का करने की आकुलता होती है, यही दुःख है। संयोग से सुख नहीं होता किन्तु वह अपनी स्वाधीन सत्ता में ही विद्यमान है। आश्चर्य तो यह है कि—कोई आत्मा की नाड़ी देखकर उसका यह निदान नहीं करना चाहता कि उसे सच्चा सुख कैसे प्रगट हो।

यदि निज को सच्चे धर्म की रुचि हो तो उसकी भावना भाये और धर्म के प्रति राग उत्पन्न हो यदि अनन्त भाव-मरणों को दूर करना हो तो इसे समझना ही चाहिए; इसे समझने के लिये तीव्र इच्छा और सम्पूर्ण सावधानी होनी चाहिए। जिसे सत्य को सुनने का प्रेम जागृत हो जाता है, उसे स्वप्न में भी वही मंथन होता रहता है। वह अन्य चिन्ताओं को छोड़कर मात्र एक आत्मा की ही रुचि में रमता रहता है।

जो निश्चय-व्यवहार के अविरोधी पहलुओं का ज्ञान निश्चित करके सर्वज्ञ न्याय -वचन से यथार्थ तत्त्व का बारम्बार अभ्यास करता है, उसका मिथ्यात्व-मोह (पर में

सुख-दुःख की बुद्धि, कर्तृत्वरूप अज्ञान और उसका निमित्त मोहकर्म) स्वयं नष्ट हो जाता है। अपने अखण्ड स्वभाव में वास्तविक रुचि से एकाग्र होने पर अयथार्थ श्रद्धा के निमित्त-कारण दर्शन-मोह का स्वयं वमन (नाश) हो जाता है। जिसका वमन कर दिया उसे कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहता।

दूज के चन्द्रमा के उदित होने पर वह बढ़कर पूर्णिमा का चन्द्र अवश्य होगा, उसी प्रकार यथार्थ पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन का निर्मल अंश प्रगट होने पर वह पूर्ण निर्मल हुए बिना नहीं रहेगा। मैं पूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाववाला हूँ ऐसी रुचि की प्रबलता से जो बारम्बार यथार्थ अभ्यास करता है, वह अस्ति के बल से मिथ्यात्व मोहकर्म और उसमें संयुक्त विपरीत मान्यता का वमन करके अपने ध्रुवस्वभाव की महिमा से पूर्ण अतिशयरूप परमज्योति निर्मल ज्ञायकरूप पूर्ण प्रकाशमान अपने शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखता है।

निश्चय से अर्थात् नित्य स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा अखण्ड शुद्ध है और वर्तमान अवस्था से देखने पर पर-सम्बन्ध से होनेवाला विकार (पुण्य-पाप की वृत्ति) भी है। अज्ञानभाव से आत्मा विकार का राग-द्वेष का कर्ता है, और ज्ञानभाव से अज्ञान तथा विकार का नाशक है। परमार्थ से आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। ऐसा स्वरूप समझे बिना लौकिक समस्त नीति का पालन करे अथवा धर्म के नाम पर पुण्यबन्ध करे किन्तु उससे परमार्थ तत्त्व को कोई लाभ नहीं होता। किसी बाह्य क्रिया से पुण्य नहीं होता किन्तु यदि अंतरंग से शुभभाव रखे, अभिमान न करे और तृष्णा को कम करे तो पुण्यबन्ध होता है किन्तु उससे भव कम नहीं होते। अज्ञानपूर्वक के शुभभाव से पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध करके उसके फल से कभी देव होता है, किन्तु अज्ञान के कारण वहाँ से मरकर पशु और फिर नरकादिक पर्याय में परिभ्रमण करता है। किन्तु यहाँ तो भव न रहने की बात है।

कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, प्राप्त की ही प्राप्ति है, अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से निज वस्तु में से यथार्थ श्रद्धा ज्ञान आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे चने का स्वाद स्वभाव से मीठा है किन्तु वर्तमान अवस्था में कचाई के कारण वह अप्रगट है। कच्चे चने को (पक्व मानकर) खाने से वास्तविक स्वाद नहीं आता, चने की

वर्तमान कच्ची अवस्था प्रगट है और भीतर स्वादयुक्त गुण शक्तिरूप से विद्यमान है, इस प्रकार एक चने में दोनों अवस्थाओं को न जाने तो कोई चने को भूँजकर उसका स्वाद प्रगट करने का प्रयत्न ही न करे; इसी प्रकार भगवान आत्मा चिदानन्द नित्य एकरूप है, उसमें वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कचास है और शक्तिरूप से निराकुल आनन्द का स्वादवाला पूर्ण स्वभाव है, उन दोनों प्रकार को जाने तथा सम्पूर्ण अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के लक्ष्य से भार देने पर जैसा शुद्ध पूर्ण स्वभाव है वैसा ही प्रगट होता है, यथार्थ की प्रतीति होने पर विपरीत मान्यतारूप अवस्था का नाश और सच्ची मान्यता की उत्पत्ति होती है, तथा वस्तु तो ध्रुवरूप से स्थायी है ही।

प्रश्नः—गुण के लिये हमें क्या करना चाहिए?

उत्तरः—तू स्वयं ही गुण को जाननेवाला गुणस्वरूप है, उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। आत्मा के ज्ञान की जानकार और ज्ञान की स्थिरतारूप क्रिया करनी चाहिए। आत्मा देह की क्रिया अथवा पर का कोई कार्य नहीं कर सकता।

मध्यस्थ होकर इस वस्तु को ज्यों की त्यों समझनी चाहिए। पुण्य-पापादि के अंश को मिलाये बिना अविकारी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि शुद्ध करनी चाहिए और व्यवहारनय के विषय को ज्यों का त्यों जानकर, उसे गौण करके, निर्मल अखण्डस्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होना ही प्रारम्भ का-पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने का उपाय है। निज को भूलकर पर को विषय बनाकर जो राग-द्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम किये सो ही अज्ञानभाव का कार्य है विपरीत मान्यता से अपना पर से भिन्नत्व भूल गया है और इसलिए सम्पूर्ण आत्मा अज्ञान से आच्छादित हो गया है। किन्तु मेरे स्वभाव में विकार नहीं है, विकार पर के सम्बन्ध से वर्तमान एक-एक समय की अवस्थामात्र के लिये होता है, उसका स्वभाव के बल से नाश हो सकता है। इस प्रकार नित्यस्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होने पर जिसे आच्छादित माना था, वह प्रगट हो गया अर्थात् उसकी यथार्थ प्रतीति प्रगट हो गयी।

आत्मा का स्वभाव किसी परवस्तु से रुका हुआ अथवा बद्ध नहीं है तथापि जहाँ तक अवस्था में जैसा विकार होताा है वैसा ही जड़कर्म निमित्त होता है और उससे व्यवहारदृष्टि से आत्मा बँधा हुआ कहलाता है, किन्तु जड़वस्तु आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु पर की अपेक्षा से नास्तिस्वरूप है। जो अपने में है ही नहीं वह क्या

हानि कर सकती है। यह दृष्टि विपरीत है कि पर का कर्म का बन्धन दूर हो जाये तो सुखी हो जाऊँ, अथवा मैं इस बन्धन के आने से दु:खी हो रहा हूँ। विकार करने की आत्मा की योग्यता है, उसमें निमित्तरूप से जड़कर्म अपने स्वतन्त्र कारण से उपस्थित होता है। यदि आत्मा अपनी ओर लक्ष्य रखे तो अपने में विकार न हो किन्तु जब स्वयं निज को भूलकर पर की ओर लक्ष्य करता है, तब विकार होता है, उसमें जड़कर्म निमित्त होता है, वह विकार वर्तमान एक अवस्थामात्र के लिये होता है। यदि स्वभाव का लक्ष्य करे तो विकारी अवस्था को बदलकर अविकार अवस्था प्रगट कर सकता है। भीतर स्वभाव में गुण की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके लिये बाह्य में कुछ नहीं करना पड़ता। जैसे लेंडीपीपर में चरपराहट की शक्ति भरी हुई है, जो कि उसके घोंटने से उसी में से प्रगट होती है। वर्तमान में उसकी चरपराहट प्रगट नहीं है तथापि उसकी शक्ति पर विश्वास किया जाता है कि इसमें वर्तमान में चौंसठ पुटवाली चरपराहट शक्तिरूप से विद्यमान है, जो कि सर्दी को दूर कर देगी। इस प्रकार पहले विश्वास किया जाता है पश्चात् उसे घोंटकर उसका गुण प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा में वर्तमान अपूर्ण अवस्था के समय भी अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख इत्यादि अनन्त गुणों की पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी हुई है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। निजस्वभाव का विश्वास नहीं किया अर्थात् जो देह है सो मैं हूँ, राग-द्वेष मेरे काम हैं, इस प्रकार अज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वभाव को ढ़ँक दिया और यह मान लिया कि मैं ऐसा पूर्ण नहीं हूँ, किन्तु यथार्थ स्वभाव के द्वारा जब पूर्ण स्वभाव की प्रतीति की तब कहा जाता है कि शुद्ध आत्मा प्रकाशित हुआ है—प्रगट हुआ है।

कैसा है शुद्ध आत्मा! सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है। यदि सर्वथा एक पक्ष से आत्मा को नित्य कूटस्थ ही माना जाये तो राग-द्वेष की विकारी अवस्था नहीं बदली जा सकती। यदि कोई आत्मा को क्षणिक संयोगमात्र तक ही सीमित माने तो पाप का भय न रहे और नास्तिक स्वच्छन्द हो जायेंगे। किन्तु द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से नित्य शुद्ध, अखण्ड स्वतन्त्र वस्तुरूप से जाने और व्यवहारदृष्टि से भेदरूप अवस्था जाने; इस प्रकार यथार्थता से यदि आत्मा की प्रतीति करे तो एकान्तपक्ष का खण्डन किया जा सकता है।

भावार्थ:—सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अविरोधी स्वरूप को बतलानेवाली

है। वस्तु में दो अपेक्षाओं (निश्चय और व्यवहार) को यथावत् न जाने तो एक वस्तु में भेद और अभेद दोनों मानने में विरोध आयेगा; किन्तु वीतराग की वाणी कथंचित् विवक्षा से वस्तुस्वरूप को कहकर विरोध को मिटा देती है।

सत्=होना; प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है।

असत्=न होना; प्रत्येक आत्मा पर की अपेक्षा से असत् है, अर्थात् पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है-असत् है।

इस प्रकार तत्त्व जैसा है उसे उसी प्रकार अविरोधी दृष्टि से न जाने तो यथार्थ निःसंदेहता की शान्ति नहीं होगी और स्वरूप में स्थिर होने की शक्ति प्रगट नहीं होगी।

प्रश्नः—सत् और असत् दोनों एक ही वस्तु में कैसे हो सकते हैं ?

उत्तरः—एक ही वस्तु में सत् और असत् एक ही साथ रहते हैं। जैसे चाँदी, चाँदी के रूप में है सोने के रूप में नहीं है; इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से सत् और पररूप से (पर की अपेक्षा से) असत् है, वस्तु को स्वतन्त्रतया देखने पर वह वस्तु ही यह बतलाती है कि मैं पररूप से नहीं हूँ।

प्रश्नः—जबकि वस्तु सत् है तब उसमें अस्ति ही मानना चाहिए, उसमें असत् का-नास्ति का क्या काम है ?

उत्तरः—पर से पृथक्त्व-असत्भाव मानने पर ही प्रत्येक वस्तु सत्भाव, नित्यत्व, और असंयोगीपन सिद्ध होता है। अपनेरूप में होना और पररूप में न होना ऐसा सत्-असत्पन का गुण प्रत्येक वस्तु में एकसाथ रहता है। परवस्तु का अपनेरूप से न होना और अपना परवस्तुरूप से न होना सभी वस्तुओं का स्वभाव है।

स्वयं जिसरूप से है, उसरूप से अपने को नहीं समझा, नहीं माना इसलिए पर में निजत्व मानकर देहदृष्टि से यह मान लेता है कि—पुण्य-पाप, राग-द्वेष मेरे हैं और मैं देहादिरूप हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, इत्यादि। बोलता है, चलता है, दिखायी देता है सो यह सब जड़ की क्रिया है; उसकी जगह मैं वही हूँ, इस प्रकार अनादि काल से पर में अपनापन मानता आया है, तथापि आत्मा में न तो विकार घुस गये हैं और न ही कम हो गये हैं; वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में भूल और विकार करता आया है। यदि

स्वाधीन अस्ति-स्वभाव को जान ले तो भूल और अविकार का नाश करके निर्मल दशा को प्रगट कर सकता है।

प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है। स्वयं पररूप से असत् है परवस्तु दूसरी वस्तु में (आत्मा में) असत् है, इसलिए कोई तेरे आधीन नहीं है और तू किसी की अवस्था का कर्ता नहीं है। किसी एक वाक्य के कहने पर उनमें दूसरी अपेक्षा का ज्ञान आ जाता है; एक के कहने पर दूसरे की अपेक्षा निश्चय से आ जाती है। नित्य कहने पर अनित्य की अपेक्षा आ जाती है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। एक आत्मा में नित्यत्व, अभेदत्व, एकत्व, शुद्धत्व कहने पर उसमें अनित्यत्व, भेदत्व, अनेकत्व और अशुद्धत्व अपनी अपेक्षा से आ जाता है, इसलिए पर से भिन्नरूप से एक-एक आत्मा में निश्चयदृष्टि तथा व्यवहारदृष्टि से दो प्रकार देखे जाते हैं।

परवस्तुरूप से यह वस्तु नहीं है, यह कहने पर पर की अपेक्षा आती है। इसलिए परवस्तु उसरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। जब कोई नहीं समझता जब कोई समझानेवाला उससे अलग है ऐसा साबित होता है। आत्मा देहादि संयोग से रहित है, इससे इन्कार करनेवाला वर्तमान में इन्कार भले ही करे तथापि वह संयोगरहित ही है। जैसे अनन्त ज्ञानीजन ज्ञान का स्वभाव समझकर पुरुषार्थ करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार यदि श्रद्धा न करे, अविरोधी वस्तु को न समझे तो स्वभाव की शान्ति नहीं मिल सकती। 'यह सत् है' यह कहते ही उसमें से यह अर्थ निकलता है कि—'यह पररूप नहीं है' इस प्रकार अस्ति में पर की नास्ति आ जाती है।

यदि कोई एकान्त पक्ष को पकड़कर कहे कि—जो एक है उसे अनेकरूप से नहीं कहा जा सकता, एक वस्तु में दो विषयों का विरोध है; तो वह विरोध को सम्यग्ज्ञान नष्ट कर देता है। जैसे स्वर्ण में पीलापन, चिकनाहट, भारीपन और स्निग्धता इत्यादि अनेक गुण तथा समस्त गुणों की पर्यायें एक साथ रहती हैं तथापि यदि उसे अनेक गुणरूप तथा पर्यायरूप देखें तो सोना अनेकरूप है और यदि सम्पूर्ण सोना ही सामान्यरूप से लक्ष्य में लिया जाये तो वह एकरूप है इसी प्रकार आत्मा उसके अखण्ड स्वभाव से एकरूप है और ज्ञानादिक गुण तथा पर्याय की दृष्टि से अनेकरूप है। यदि एक-अनेकरूप से सम्पूर्ण तत्त्व को न जाने तो यथार्थता ध्यान में नहीं आती, और यथार्थ का पुरुषाथ भी प्रगट नहीं होता।

वस्तु सत् है; ऐसा जानना सो निश्चयदृष्टि अथवा द्रव्यार्थिकनय का विषय है; असत्-पररूप से नहीं है ऐसा जानना सो व्यवहारनय का विषय है।

एकत्वः—यदि त्रिकाल अनन्त गुण और अवस्थारूप अखण्ड पिण्ड एकाकार वस्तुरूप से देखा जाये तो निश्चयदृष्टि से आत्मा एकरूप है।

अनेकत्वः—व्यवहारदृष्टि से अनन्त गुण-पर्याय को लेकर अनेकरूप है।

निश्चय से उसका लक्ष्य करके पूर्ण एकत्व के लक्ष्य से स्थिर होने पर संसार की विकारी अवस्था का नाश, मोक्ष की अविकारी अवस्था की उत्पत्ति और वस्तु का एकरूप ध्रौव्यत्व बना रहता है। जो इस प्रकार यथार्थरूप से समझ लेता है, वह एकान्तपक्ष का विकल्प और विरोध मिटाकर एक वस्तु में एकत्व-अनेकत्व का ज्ञान एक साथ कर लेता है, पर में अपना एकत्व नहीं मानता।

नित्यत्वः—आत्मा चिदानन्द एकरूप बना रहता है, इस प्रकार वस्तुदृष्टि से नित्य है।

अनित्यत्वः—प्रत्येक द्रव्य स्थिर रहकर प्रति समय अपनी पर्याय को बदलता रहता है, इसलिए पर्यायदृष्टि से अनित्य है।

जिस अपेक्षा से नित्यत्व है, उस अपेक्षा से अनित्यत्व नहीं है। इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् वस्तुदृष्टि से स्थिर रहना और पर्यायदृष्टि से बदलना—यह दोनों मिलकर एक स्वरूप है यदि बिल्कुल एकरूप अखण्ड हो तो विकारी अवस्था बदलकर अविकारी नहीं हो सकेगा। कर्ता-कर्म अथवा क्रिया कुछ भी नहीं रहेगा। और यदि वस्तु अनित्य ही हो तो नित्यत्व के आधार के बिना अनित्यत्व ही नहीं कहा जा सकेगा।

अभेदत्वः—प्रत्येक आत्मा अपने वस्तुस्वभाव से अभिन्न है। आत्मा और गुणों में प्रदेशभेद नहीं है।

भेदत्वः—व्यवहारदृष्टि से आत्मा में भिन्नता है। नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजन से भेद किये जाते हैं।

(१) नामभेद—(संज्ञाभेद) आत्मा ज्ञानरूप से है इस प्रकार वस्तु और गुण के नामभेद न किये जाये तो आत्मा किस प्रकार बताया जायेगा? इसलिए अखण्ड स्वरूप बताने के लिये नामभेद होता है।

(२) संख्याभेद—आत्मा एक है, उसमें ज्ञानादिक अनेक गुण हैं; इस प्रकार संख्याभेद है किन्तु प्रदेशभेद नहीं है।

(३) लक्षणभेद—अनन्त गुणों को धारण करना आत्मा का लक्षण है। ज्ञान का लक्षण जानना, श्रद्धा का लक्षण प्रतीति करना, चारित्र का लक्षण स्थिर होना, वीर्य का लक्षण आत्मबल को स्थिर रखना, इत्यादि अनन्त गुण हैं, उनके लक्षण (चिह्न-स्वरूप) भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए लक्षणभेद है। पर्याय का लक्षण प्रति समय अवस्था का बदलना है।

(४) प्रयोजनभेद—आत्मा का प्रयोजन सम्पूर्ण स्व-द्रव्य का कार्य करना है। ज्ञान का प्रयोजन हिताहित का निर्णय करके हितरूप से प्रवृत्ति करना है, चारित्र का प्रयोजन राग-द्वेषरूप न होकर निर्मल स्थिरतारूप रहना है इत्यादि।

इस प्रकार एक वस्तु में अभिन्नता-भिन्नता और निश्चय-व्यवहार, इन दोनों दृष्टियों से यथावत् जाने तो एक पक्ष का विरोध मिट जाता है।

शुद्धत्वः—पर-निमित्त की अपेक्षा से रहित, नित्यस्वभाव को देखनेवाली निश्चयदृष्टि से देखा जाये तो आत्मा शुद्ध ही है।

अशुद्धत्वः—पर-निमित्त की अपेक्षा से वर्तमान अवस्था में अशुद्धता, (पुण्य-पाप, राग-द्वेष) क्षणिक विकारीभाव जीव में होते हैं। पर को अपना मानकर ऐसी विपरीत धारणा बना लेना कि मैं राग-द्वेष का कर्ता हूँ और शुभाशुभ भाव करने योग्य हैं, सो अशुद्ध अवस्था है, और यही संसार है।

अज्ञानी जीव के पर-संयोगाधीन विकारभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यवहार से है; किन्तु विकार मेरा स्वरूप नहीं है, स्वभाव की प्रतीति पूर्वक स्थिरता से वह विकार दूर किया जा सकता है। संयोगाधीन विकारी अवस्था वर्तमान में है ऐसा जानना सो व्यवहारनय की अपेक्षा है। जब स्वयं विकारीभाव करता है, तब विकार होता है। वह विकार क्षणिक अवस्थामात्र के लिये है। जो नित्यस्वभाव की दृष्टि से उसका स्वामी नहीं होता और उसे अपना स्वभाव नहीं मानता वह ज्ञानी है। अवस्थादृष्टि को गौण करके एकरूप यथार्थ वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में ले तो निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर अपूर्व आत्मप्रतीति होती है और एकान्तपक्ष की मान्यता दूर हो जाती है।

यदि वस्तुस्वभाव को यथार्थ समझ ले तो उसके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता। इल्ली अथवा केंचुआ जैसा दो इन्द्रिय प्राणी भी शरीर की ममता के बल से पत्थर के नीचे दबकर उससे अलग होने के लिये इतना प्रयत्न करता है कि पत्थर के नीचे दबे हुए शरीर का एक भाग टूट जाता है, तथापि वह पत्थर के उस भार से हटकर स्वतन्त्र रहना चाहता है, इसी प्रकार जिसने पर से भिन्नरूप असंयोगी ज्ञानस्वरूप को ही अपना माना है, वह उसे विपरीत मान्यता और परावलम्बनरूप विकार से दबा हुआ नहीं रहने देगा। जिसे अपना माना है उसे परिपूर्ण स्वतन्त्र रखना चाहता है। मैं त्रिकाल निर्मल असंग हूँ, इस प्रकार शुद्ध स्वतन्त्र स्वभाव की दृष्टि के बल से वर्तमान संयोगाधीन विकारी झुकाव से और विपरीत दृष्टि से स्वयं अपने को बचा लेता है। मैं शुद्ध स्वतन्त्र ज्ञानानंदरूप हूँ—ऐसी प्रतीति नहीं थी, तब स्वयं कहीं अन्यत्र अशुद्धरूप अथवा संयोगरूप अपने को मानता था यदि अपने अस्तित्व को नित्यस्थायीरूप न माने तो कोई सुख के लिये प्रयत्न ही न करे। जिसे अवगुण इष्ट नहीं है, वह अवगुणों को दूर करने की शक्ति का लक्ष्य करके अवगुणों को दूर करके, गुणरूप से स्वन्तत्र रहना चाहता है।

जैसे यह मानना मिथ्या है कि—यदि विकार करेंगे तो उसके निमित्त से गुण प्रगट होंगे, इसी प्रकार यह मानना भी मिथ्या है कि पुण्य-पाप की भावना में से पुण्य की भावना को बढ़ायें तो लाभ होगा। पाप में प्रवृत्त न होने के लिये अथवा अशुभराग से बचने के लिये शुभभाव करे सो तो ठीक है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे पवित्र गुण प्रगट होंगे; क्योंकि जिस भाव से बन्धन होता है, उस भाव से अविकारी भाव (-शुद्धभाव) नहीं हो सकते।

जो व्यवहारनय अर्थात् पर्यायदृष्टि का आश्रय लेता है, वह यह भूल जाता है कि वस्तुस्वभाव अखण्ड निर्मल अनन्त शक्ति से पूर्ण है, इसलिए उसे राग के अभाव करने का पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। यदि वह अशुभराग को दूर करे तो वर्तमान मात्र के लिये राग मन्द हो जाता है, परमार्थत: शुभभाव से राग कम नहीं होता। निश्चय अखण्ड निर्मल वस्तु में पूर्ण शक्ति जैसी है वैसी ही उसे पहिचानकर, अवस्था को गौण करके यदि अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य पर भार दे तो राग का सहज ही अभाव होता है और निर्मल आनन्द की वृद्धि होती है, विरोधमात्र दूर हो जाता है।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में कथंचित् विवक्षा के भेद से एक-एक वस्तु में (एक अपेक्षा को मुख्य करके और दूसरी अपेक्षा को गौण करके) अस्तित्व, एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व इत्यादि निश्चयदृष्टि की अपेक्षा का विषय और नास्तित्व, अनेकत्व, अनित्यत्व, भेदत्व तथा अशुद्धत्व इत्यादि व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा का विषय होता है। यदि दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान करे तो प्रमाणज्ञान-यथार्थ ज्ञान होता है। सत्य में से सत्य आता है। इस प्रकार वीतराग की वाणी के न्याय से जानने पर विरोधी अभिप्राय दूर हो जाता है। वीतराग की वाणी में मिथ्या की कल्पना तक नहीं है।

परद्रव्य के आश्रयरूप उन्मुखता होने से पुण्य-पाप की विकारी अवस्था होती है, वह व्यवहारदृष्टि मुख्य करने की आवश्यकता नहीं है; उसे गौण करके अनादि-अनन्त एकरूप निर्मल, असंग, अविकारी, निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चयदृष्टि से लक्ष्य में लेना, और उस स्वाश्रित अखण्ड दृष्टि से स्वभाव का बारम्बार मनन करना सो यही प्रयोजनभूत-मुख्य करने योग्य कहा है। अनादि काल से संसार का बहुभाग पराश्रित व्यवहार के पक्ष को मान रहा है और यह मानता है कि राग-द्वेष के कार्य करनेयोग्य हैं, परवस्तु और शुभभाव का स्वामित्व रखकर व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिए; ऐसा कहनेवाले की बात को जल्दी मान लेता है कि यदि पुण्य करोगे और देह की क्रिया करोगे तो धर्म होगा; और वह मानता है कि हम देव होकर सुख प्राप्त करेंगे। इस प्रकार जिसकी दृष्टि बाह्य-संयोग पर जाती है, उसे पुण्य में मिठास मालूम होती है, क्योंकि उसे तत्त्वज्ञानरूप अविरोधी सत् की खबर नहीं है, तत्त्व से द्वेष और विकार के आदर का फल एकेन्द्रिय में जाना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इन ग्यारहवीं और बारहवीं गाथा में जिस अपेक्षा से जिस प्रकार कहा गया है, उसे समझकर जो अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप निश्चय स्वभाव को मुख्य करके भेदरूप व्यवहार की दृष्टि को गौण करेगा उसके समस्त विरोधरूप संसार का नाश हो जायेगा।

जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, वह परवस्तु को पराधीन मानता है, और ऐसा मानने से कि अन्य मेरा कुछ कर देगा—स्वयं भी अकर्मण्य-पराधीन सिद्ध होता है। समस्त तत्त्व इस प्रकार स्वतन्त्र हैं कि किसी को किसी की आशा नहीं रखनी

चाहिए। सब आत्मा भी स्वतन्त्र हैं, अपनी अनन्त शक्ति से प्रत्येक आत्मा पूर्ण है। जो इस प्रकार नहीं समझता और जैसे उपचार से लोक-व्यवहार में घड़े को 'घी का घड़ा' कहा जाता है, इसी प्रकार इसने इसका भला किया अथवा उपकार किया है, इत्यादि व्यवहार की लौकिक भाषा में कहा जाता है; यदि उसके अर्थ को उस भाषा के शब्दों को ही पकड़कर किया जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यदेवक हते हैं कि—मैं पर का कर्ता-भोक्ता हूँ, विकार मेरा कार्य है ऐसी विपरीत दृष्टि को दूर करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को मुख्य करो! और व्यवहार के भेदविकार की दृष्टि का त्याग करो। परवस्तु तुझ रूप नहीं है, इसलिए पर के लक्ष्य से होनेवाले विकार (पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव) भी तेरे नहीं हैं, वे तुझमें स्थायीरूप से रहनेवाले नहीं हैं; इसलिए उस व्यवहार का विषय भेदरूप विकार आवश्यक नहीं है; इसलिए उसमें नहीं लगना चाहिए। एकरूप ध्रुव विषय को मुख्य करके बारम्बार अखण्ड स्वभाव के बल से पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव का आश्रय करके, शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि[१] का करना सो निश्चयनय है; अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय को शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि से पर्यायार्थिकनय[२] अथवा व्यवहार कहते हैं।

तुझमें जो विकार होता है, सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

तेरी पर्याय में जो विकार होता है, सो पर्यायार्थिकनय है।

पराश्रय से विकार होता है, इसलिए व्यवहारनय है।

ऐसे वीतराग कथित न्याय-वचनों के द्वारा जो अविरोधी तत्त्व का अभ्यास करता है, सो वह योग्य जीव शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है, यथार्थदृष्टि प्राप्त करता है; यथार्थ प्रतीति को प्रगट करता है। यह समस्त विषय अन्तरंग का है, इसमें नय का विषय सूक्ष्म है जो कि यहाँ सरल भाषा में कहा जाता है; किन्तु जो अन्तरंग से उसकी चिन्ता नहीं करता और उसे स्मरण करके उसका मनन नहीं करता वह उसे नहीं समझ सकता। यदि स्वाधीन होकर उसे समझे तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएँ दूर हो जाती हैं। जैसे शरीर के रोगयुक्त होने पर उसे दूर करने का सावधानीपूर्वक प्रयत्न किया जाता है, इसी प्रकार

१—द्रव्यार्थिक=(द्रव्य+अर्थ) द्रव्य=वस्तु, अर्थ=प्रयोजन। वस्तु को द्रव्यस्वभाव से बताना सो द्रव्यार्थिकनय है।
२—पर्यायार्थिक=पर्याय (अवस्था) को बताने का जो प्रयोजन है, सो पर्यायार्थिकनय है।

आत्मा को अनादि काल से आकुलतारूपी रोग लगा हुआ है उसे दूर करने की अपूर्व विधि यहाँ कही जा रही है, उसे सावधानीपूर्वक समझना चाहिए।

सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित अविरोधी न्याय से जैसा कहा जाता है, वैसा ही समझना चाहिए; यथार्थ को सुनकर स्वयं यथार्थता का निश्चय करना और पूर्ण निर्मल अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चयदृष्टि के बल से मुख्य करके उसका मनन करना चाहिए; वर्तमान विकारी अवस्था को जो कि आत्मा में है जड़ में नहीं जानना और अवस्था दृष्टि को गौण करना चाहिए; ऐसे प्रयोजन को जानकर अवस्था और अखण्ड वस्तु दोनों का यथार्थ ज्ञान करके, अन्तरंग में निर्मल ध्रुवस्वभाव की रुचि से उसकी दृढ़ता का अभ्यास बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के विषय में रमणता करने से मोह का नाश होकर स्वभाव की प्रतीति होने से निर्मलदशा का अनुभव होता है।

इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है। ऊपर से ऐसा मानता है कि मैंने समझ लिया है, मेरे समभाव है, मुझे बुरा नहीं करना है किन्तु अच्छा ही करना है और इस प्रकार अपने मन को समझाया करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के न्यायानुसार अच्छा क्या है यह निश्चय न करे तो यह मालूम नहीं हो सकता कि विपरीत मान्यता कहाँ पुष्ट हो रही है। जैसे गर्मी के दिनों में किसी छोटे बालक को पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठण्डक से सन्तुष्ट होता है, यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है; इसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मन के विकल्पों से पृथक् है, उसे भूलकर अपनी कल्पना से (विपरीत मान्यता से) माने गये धर्म के नाम पर अपने हित करने के नाम पर शुभभाव (चैतन्यस्वभाव के गुण की विकाररूपी विष्टा) को ठीक मानकर सन्तुष्ट होता और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा; वह उस बालक के समान अज्ञानी है जो विष्टा को अच्छा मान रहा है। सर्वज्ञ के न्याय से, सत्समागम से, पूर्वापर विरोध से रहित, यथार्थ हित क्या है इसकी परीक्षा करना सो अज्ञान है, और अज्ञान कोई बचाव नहीं है।

संसार की रुचि के लिये बुद्धि का विलोड़न कर रहा है, उसमें (संसार में) अच्छे-बुरे का निश्चय कर सकता है किन्तु यदि उस रुचि को बदलकर अपनी ही रुचि करे और भलीभाँति निश्चय करे कि यही सच्चा हित है, तो यथार्थ हित हो इसलिए परीक्षा करनी चाहिए, किन्तु अन्ध-श्रद्धा से उसे नहीं मान लेना चाहिए।

समयसार में जो विविध न्याय निहत हैं, वे अत्यन्त बहुमूल्य हैं। इस काल में वैसी यथार्थ बात कानों में पड़ना दुर्लभ है। यह निवृत्ति का मार्ग है। अपूर्व आत्मधर्म में संसार का अभाव है, उस धर्म की रुचि में समस्त संसार को उड़ा देना है। अपूर्व स्वभाव की रुचि में संसार की रुचि नहीं पुसा सकती।

लोकोत्तर पात्रता के बिना अन्तरंग के सूक्ष्मभाव समझ में नहीं आते और न वस्तु के प्रति बहुमान ही होता है। अनन्त काल से न तो परमतत्त्व की संगति की है और न परिचय ही किया है तथा जब ज्यों-त्यों करके यथार्थ तत्त्व को समझने का अवसर आता है वहाँ उसकी प्रति नहीं करता; इसका कारण यह है कि उसे सामाजिक-लौकिक मोह रुचिकर है और इसलिए वह उसमें लगा रहता है।

यह ऐसा सुअवसर है कि जब जन्म-मरण कैसे दूर हो इसकी स्वयं चिन्ता करके अपना सुधार कर लेना चाहिए; सबको एक साथ लेने का अथवा पर में लग जाने या रुक जाने में हित का उपाय नहीं है। यह तो परम आध्यात्मिक विषय है, इसमें जीव को अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। दूसरा सब कुछ भूलकर तत्त्व का परिचय करने के लिये अत्यन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है। तत्त्व की भाषा ही अति गूढ़ होती है, और उसका भाव बहुत गम्भीर होता है। यथार्थ पात्रता के बिना यथार्थ समझ नहीं जमती। पात्रता के अभाव में यह सब बातें ऊपरी सी मालूम होती हैं और वस्तु की महिमा प्रतीत नहीं होती।

जो पुरुष निर्दोष वीतराग के वचनों में रमण करता है, अभ्यास करता है, वह यथार्थतया शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। दूसरे सर्वथा एकान्त पक्षवाले लोग यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होते। कोई आत्मवस्तु को सर्वथा एक पक्ष से ही मानते हैं कि आत्मा बिल्कुल अखण्ड शुद्ध है, पर्याय में भी विकार नहीं है अथवा पर्याय ही नहीं है, मात्र नित्यता ही है, राग-द्वेष-विकार जड़कर्म की प्रवृत्ति को करता है और भोगता है, ऐसा कहनेवाले की बात मिथ्या है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव में पुण्य-पाप के विकार प्रविष्ट नहीं हो गये हैं यह बात सच है, किन्तु वर्तमान अवस्था में विषय-भोगरूप तृष्णा और राग-द्वेष स्वयं करता है इसे न मानकर दूसरे पर डालता है, उसे सामान्य त्रिकाल एकरूप शुद्ध द्रव्यत्व और विशेष वर्तमान अवस्थाभाव दोनों मिलकर पूर्ण वस्तु है इसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यदि कोई

ऐसा माने कि त्रिकाल नित्यता ही है और वर्तमान अनित्य अवस्था का परिवर्तन न माने तो वास्तव में ऐसा स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी मान्यता मिथ्या है।

मिर्च और कालीमिर्च की चरपराहट का अन्तर ज्ञान में प्रतीति होता है, किन्तु स्वाद का वर्णन वाणी द्वारा सन्तोषपूर्वक नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार अखण्ड ध्रुव ज्ञानानन्द एकाकार स्वभाव को लक्ष्य में लेने पर सहज निर्मल अवस्था का आनन्द प्रगट होता है; उसका भेद नहीं करना पड़ता तथापि वह ज्ञान में प्रतीत होता है। वर्तमान पर्याय में भेददृष्टि करने पर राग-द्वेष-विकल्प होता है, यदि उसमें शुभभाव करे तो मन्द आकुलता और पापभाव करे तो तीव्र आकुलता का स्वाद आता है, उसके अन्तर को ज्ञानी जानता है। स्थिरता का लक्ष्य करने पर बीच में व्यवहार के भेद आते हैं, तथापि उन्हें मुख्य नहीं करते। इस प्रकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा के बल से क्रमशः निर्मल अवस्था बढ़ती जाती है और राग कम होता जाता है। शुद्धनय का फल वीतरागता है, भेदरूप व्यवहार में अटकनेवाली अशुद्ध दृष्टि का फल संसार है; ज्ञानी उसका आदर नहीं करते।

किसी बाह्य पदार्थ की शरण लेने से गुण प्रगट नहीं होते। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की शरण से भी अन्तरंग तत्त्व को लाभ नहीं होता। देव-गुरु वीतराग हैं, तुझसे पररूप हैं, वे तुझमें नास्तिरूप हैं; जो अपना होता है, वह काम आता है, मन और मन के सम्बन्ध के योग से विचार करने में विकल्प होता है, किन्तु यदि उसकी ओर के लक्ष्य को भूल जाये तब स्वाश्रय अखण्ड दृष्टि होती है। अन्तरंग का मार्ग ऐसा परम अद्भुत है, उसे यथार्थ समागम के द्वारा अपूर्व पात्रता से जागृत होकर समझना चाहिए। श्रवण के बाद यथार्थ क्या है इसका मनन करना सो लाभ का कारण है। भव के भय से मुक्त होने के लिये जिसे निर्भय सत् की शरण चाहिए हो और अविकारी, अविनाशी, स्वतन्त्रता की नींव डालना हो उसे पहले से ही ऐसी यथार्थ की श्रद्धा करनी होगा कि जिसमें किसी ओर से विरोध न रहे, उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहार के साथ इस बात का मेल नहीं खाता। अखण्ड ज्ञायकस्वरूप को समझने के विचार में भेद (विकल्प) होता है तथापि यह सहायक नहीं है, उसमें कोई गुण-लाभ नहीं होता। अखण्ड के यथार्थ लक्ष्य से अखण्ड का ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण हो जाता है किन्तु ज्ञान में भेदरूप अवस्था ख्याल

से बाहर नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिए। इस प्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसार की भूमिका हुई। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिये उसके तने के चारों और चबूतरा बनाया जाता है उसी प्रकार आत्मा के सार को संक्षेप में समझने के लिये आचार्यदेव ने भूमिकारूपी चबूतरा बाँधा है। विशेषरूप से, विविध पहलुओं से दृढ़तापूर्वक समझाने का अधिकार इसके बाद कहा जायेगा।

शंका:—समयसार में तो मुनियों के लिये उपदेश है, बहुत उच्च भूमिका की बात है।

समाधान:—ऐसा नहीं है, किन्तु प्रथम धर्म के प्रारम्भ की ही बात है, यह तो वीतराग मार्ग की सबसे पहली इकाई है।

अब आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। जीव-अजीव आदिक नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है। नव तत्त्व के भेद-विकल्प से रहित, एकरूप, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तु को शुद्धदृष्टि के द्वारा जानने से विकल्प टूटकर अखण्ड के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि बीच में नव तत्त्व के भेद करनेवाले शुभविकल्प का व्यवहार आता है, किन्तु वह कहीं सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थता का निश्चय करने के लिये भेदरूप व्यवहारनय द्वारा शुभ विकल्पों से नव तत्त्वों को जानना सो व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। उन नव तत्त्वों का स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है:—

(१) जीव:—जीव=आत्मा। वह सदा ज्ञाता, पर से भिन्न और त्रिकाल स्थायी है। (जब पर-निमित्त के शुभ अवलम्बन में युक्त होता है, तब शुभभाव (पुण्य) होता है और जब अशुभ अवलम्बन में युक्त होता है, तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलम्बी होता है, तब शुद्धभाव होता है।)

(२) अजीव:—जिनमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है ऐसे पाँच द्रव्य हैं। उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त है।

अजीव वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र-भिन्न हैं। परसंयोग से रहित एकाकी तत्त्व हो तो उसमें विकार नहीं होता। परोन्मुख होने पर

जीव के पुण्य-पाप की, शुभाशुभ विकार की भावना होती है। जब जीव रागादिक करता है, तब जड़कर्म की सूक्ष्म धूल जो क्षणिक संयोग-सम्बन्ध से है, निमित्त होती है।

(३) **पुण्यः**—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के भाव जीव के होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जो कि भावपुण्य हैं और उसके निमित्त से जड़ परमाणुओं का समूह स्वयं (अपने कारण से स्वतः) एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है, सो द्रव्यपुण्य हैं।

(४) **पापः**—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादि का अशुभभाव भावपाप है और उसके निमित्त से जड़ की शक्ति से परमाणुओं का जो समूह स्वयं बँधता है, सो द्रव्यपाप है।

परमार्थ से पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में क्षणिक अवस्था में पर-सम्बन्ध से विकार होता है, वह मेरा नहीं है।

(५) **आस्रवः**—विकारी शुभाशुभ भावरूप जो अरूपी अवस्था जीव में होती है, सो भावास्रव है; और नवीन कर्म-रजकणों का आना (आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) **संवरः**—पुण्य-पाप के विकारी भावो (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध भावों से रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधने से रुक जायें सो द्रव्यसंवर है।

(७) **निर्जराः**—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभाव के बल से स्वरूप-स्थिरता की वृद्धि के द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) **बन्धः**—आत्मा का राग-द्वेष पुण्य-पाप के भाव में अटक जाना सो भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का उसकी शक्ति से कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबन्ध है।

(९) **मोक्षः**—अशुद्ध अवस्था का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्र दशा का प्रगट होना सो भावमोक्ष है।

इस प्रकार जैसा नवतत्त्व का स्वरूप कहा है वैसा शुभभाव से विचार करता है, उस शुद्ध का लक्ष्य हो तो व्यवहार-सम्यक्त्व है। व्रतादि के शुभभाव को संवर-निर्जरा में माने तो आस्रव तत्त्व की श्रद्धा में भूल होती है। व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से भूल न हो

इस प्रकार नव भेदों में से *शुद्धनय के द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्मा को परख लेना सो परमार्थश्रद्धा-सम्यग्दर्शन है। धर्म के नाम पर लोगों में अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरे को देते हैं या कहते हैं, किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि किसी का गुण तथा गुण की पर्याय किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती।

प्रथम व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी समझ होनी चाहिए। जो मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र से अपना हित मानता है-शंकर, हनुमान और ऐसे ही अन्य देवी-देवताओं की मनौती मनाता है, इनसे सन्तान प्राप्ति होगी, धन मिलेगा, रोग दूर होगा ऐसी विविध धारणाएँ बना लेता है, उसके तीव्र तृष्णा का पाप होता है। बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता का संयोग तो पूर्वकृत पुण्य-पाप के अनुसार होता है, देवी-देवता किसी भी प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता करने में समर्थ नहीं हैं। यदि ऐसा विश्वास अपने में लाये तो व्यवहार से शुभभाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वीतराग कथित सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और उनके स्वरूप को पहिचानकर माने तो जब शुद्ध का लक्ष्य होता है, तब वह व्यवहार से सच्ची श्रद्धा कहलाती है, वह भी वास्तव में निमित्तमात्र है।

शुभभावरूप नव तत्त्वों की श्रद्धा से निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता, तथापि प्रथम निश्चयस्वरूप की यथार्थता को जानने के लिये शुभ विकल्प आते तो हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन और धर्म उससे भिन्न वस्तु है। जैसे किसी मंजिल पर जाते हुए बीच में सीढ़ियाँ आती हैं किन्तु उनसे ऊपर नहीं चढ़ा जाता, किन्तु जब सीढ़ियों को छोड़ते हैं (छोड़ने की दृष्टि से पैर रखते हैं) तब ऊपर पहुँचा जाता है; इसी प्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करने के लिये श्रवण-मनन के द्वारा अनेक पहलुओं से विचार करने के लिये पहले शुभभाव आता है, तथा अशुभ से बचने के लिये दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभभाव आते हैं किन्तु वह कर्म-निमित्तक शुभ उपयोग का भेद है। नव तत्त्व के भेदों का विचार करना भी मन के सम्बन्ध से होनेवाले शुभभाव के विकल्प हैं, अखण्ड स्वभाव नहीं हैं। नव तत्त्व के भेद से-विकल्प से आत्मा का विचार करना सो शुभराग है, व्यवहार है, उसमें धर्म नहीं है।

वस्तु त्रिकाल में ऐसी ही है। सत्य बदल नहीं सकता किन्तु जिसे सत्य समझना

---

* वर्तमान अवस्था के भेद को लक्ष्य में न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभाव को अभेदरूप से लक्ष्य में लेना सो शुद्धनय है।

हो उसे बदलना होगा। पहले अनन्त काल में अनन्त बार व्यवहार के विकल्प जीव ने किये हैं; भगवान के द्वारा कही गई व्यवहार-श्रद्धा अभव्य जीव भी करता है, किन्तु उस भेद से लाभ नहीं होता।

जो अज्ञानी पहले समझना चाहता है, उससे मात्र आत्मा अथवा 'अखण्ड आत्मा' कह देने से नहीं समझ सकेगा, इसलिए उसे समझाने के लिये व्यवहार से नव तत्त्व के भेद करके विकल्प के द्वारा अखण्ड का लक्ष्य कराते हैं। मैं जीव हूँ, अजीव नहीं, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है इत्यादि प्रकार नव तत्त्वों के शुभविकल्परूप श्रद्धा के भेद में से आत्मा को भिन्न करके एकत्व ग्रहण करके, त्रिकाल एकरूप स्थायी ज्ञायकरूप से पूर्ण स्वभाव को शुद्धनय से श्रद्धा में लेना सो सम्यग्दर्शन है।

समझनेवाला किसी प्रस्तुत वस्तु से अथवा विकल्प करने से नहीं समझता किन्तु स्वत: समझता है। जो जानता है सो जीव है, उसमें पररूप न होनेवाले अनन्त गुणों की अनन्त शक्ति है, इसका विश्वास करनेवाले के शुभभाव की प्रधानता नहीं है। तत्त्व का विचार करने पर जितने भेद होते हैं, उनमें से अभेद वस्तु की ओर झुककर अभेदत्व का निश्चय करता है; वह पर से या मन के द्वारा निश्चय नहीं करता किन्तु स्वयं ज्ञाता होने से स्वयं निश्चय करता है। जब तक मन के सम्बन्ध से शुभविकल्प से श्रद्धा करता है तब तक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु जब विकल्प का श्रद्धा में अभाव करके, अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से व्यवहार के भेद को गौण करके एकरूप स्व-वस्तु में एकाग्रता द्वारा अभेद स्वरूप का अनुभव करता है, तब निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

शुभभाव राग है। राग के द्वारा आत्मा को मानना सो पुण्यरूप व्यवहार है, धर्म नहीं। जीवादिक नव तत्त्वों के लक्ष्य से श्रद्धा करना सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहार का अर्थ है एक का दूसरे में उपचार। बिल्ली को सिंह कहना सो उपचार है। जिसने कभी सिंह को न देखा हो उसे समझाने के लिये बिल्ली में सिंह का उपचार करके सिंह की पहिचान करायी जाती है, किन्तु बिल्ली वास्तव में सिंह नहीं है। जिसे उपचार की-व्यवहार की प्रतीति नहीं है, वह बिल्ली को ही वास्तविक सिंह मान लेता है; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अखण्ड आत्मा की पहिचान कराने के लिये उपचार से-व्यवहार से नव तत्त्व के भेद कहे हैं। यदि वह नव तत्त्वों के विकल्पवाली श्रद्धा के भेद

को ही यथार्थ आत्मा का स्वरूप मान बैठे तो उसे व्यवहार की ही खबर नहीं है। व्यवहार किसी परवस्तु में या देहादि की क्रिया में नहीं है। कोई जीव शरीरादिक परवस्तु की क्रिया का या परवस्तु का व्यवहार से भी कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकाल में भी न तो पररूप हो सकता है और न पर की पर्यायरूप हो सकता है। अज्ञानी जीव पुण्य-पाप के विकारी शुभाशुभभाव का कर्ता है। ज्ञानी के अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से राग होता है किन्तु वह उसका स्वामिभाव से कर्ता नहीं होता।

जो जीव यथार्थ तत्त्वों का विचार करता है और यथार्थ स्वभाव का निश्चय करना चाहता है, उसे नव तत्त्वों की श्रद्धा निमित्तभूत होती है, किन्तु निर्विकल्प एकाकार ध्रुवरूप से ज्ञायक वस्तु की निर्मल श्रद्धा न करे तो शुभभाव से मात्रपुण्य होने से बाह्य फल देकर छूट जाता है। व्यवहारनयाश्रित निमित्त सम्बन्धी जो वृत्ति उद्भूत होती उसकी शुभराग पर्यन्त मर्यादा है, किन्तु भेद का निषेध करके शुद्ध अखण्ड वस्तु की यथार्थ दृष्टि से अन्तरंग में स्थिर हो तो भेद का लक्ष्य गौण होकर एकाकार पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है, वहाँ उपचार से नव तत्त्वों की श्रद्धा व्यवहार से निमित्त कहलाती है। जहाँ निश्चयश्रद्धा नहीं होती वहाँ शुभ-व्यवहाररूप श्रद्धा को निमित्त भी नहीं कहा जाता।

नव तत्त्व के भेद को जाननेवाला आत्मा ज्ञायकरूप से त्रिकाल अखण्ड है। शुभाशुभ विकल्प की जो वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका ज्ञायकस्वभाव में अभाव है। मैं असंग एकरूप ज्ञायक हूँ, इस प्रकार निर्विकार निरावलम्बी निरपेक्ष स्वभाव को अखण्डरूप से श्रद्धा का विषय बनाये तो यथार्थ सम्यग्दर्शन होता है। जो अनन्त काल में कभी प्रगट नहीं हुई ऐसी श्रद्धा यथार्थ के बल से प्रगट होती है और नव तत्त्वों के भेद तथा पर-निमित्त का बुद्धिपूर्वक विचार छूट जाता है; ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति में क्या है सो यह बताने के लिये तीन श्लोक कहते हैं।

प्रथम श्लोक में कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा है तथापि वह कहीं वस्तुभूत नहीं है सहायक भी नहीं है, क्योंकि निश्चय परमार्थ के अनुभव में वह छूट जाता है इसलिए अभूतार्थ है।

प्रश्न:—कहीं तो व्यवहार का विधान है और कहीं उसका निषेध है, एक बार तो व्यवहार को स्वीकार किया जाता है और दूसरे ही क्षण उसका निषेध कर दिया जाता है;

ऐसी स्थिति में किसे यथार्थ समझा जाये ?

उत्तरः—जिस अपेक्षा से व्यवहार का विधान है, उस अपेक्षा से वह वैसा है और जिस अपेक्षा से उसका निषेध है, उस अपेक्षा से वह नहीं है, इस प्रकार वह जैसा है वैसा ही कहा जाता है। ध्रुवज्ञायकस्वभाव तो त्रिकाल एकरूप अखण्ड है, उसे निश्चय से स्वीकार किया जाता है और वर्तमान अवस्था में पर-सम्बन्ध से विकार होता है तथा ज्ञायकस्वभाव का सम्बन्ध करने से निर्मल अवस्था होती है, उसे व्यवहार से स्वीकार किया जाता है; अखण्ड स्वभाव को ध्रुव एकाकार देखनेवाले निश्चयनय के बल से स्वभाव में विकल्प-राग-द्वेष नहीं हैं, निमित्ताधीन होने से निषेध किया जाता है, भूतार्थदृष्टि में व्यवहारभेद नहीं है।

शंकाः—राग-द्वेष, अज्ञान जड़ प्रकृति कराती है ?

समाधानः—स्वयं उसका कर्ता होकर जड़कर्म के सिर पर थोपता है, किन्तु जड़ तो अन्ध-अचेतन है, उसे कुछ खबर नहीं है। यदि कोई माने कि हम तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं और इन्द्रियों के विषय को इन्द्रियाँ ही भोगती हैं तो यह ठीक नहीं है। विषयों के भोगने का विकारीभाव स्वयं ही करता है, अर्थात् दोष स्वयं करता है और उसे दूसरे पर डालता है; ऐसा 'अन्धेर नगरी बेबूझ राजा' का राज्य वीतरागमार्ग में नहीं है।

जहाँ गुण हैं, वहाँ गुणों की विपरीत अवस्था (विकार) हो सकती है और विकार का नाश भी वहीं हो सकता है। मुझमें न तो विकार है और न उसकी अवस्था ही; मैं तो शुद्ध ही हूँ, ऐसा एकान्त को माननेवाला दोनों पहलुओं को नहीं समझा है। यदि त्रिकाल स्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों को यथावत् मानकर स्वभाव को मुख्य करे तो अविकारी-स्वभाव का आनन्द प्रगट हो।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान, श्रद्धा, पूजा, भक्ति तथा तत्त्वचिार इत्यादि शुभभाव आते हैं। यथार्थ में जाते हुए बीच में व्यवहार का आश्रय दृढ़तापूर्वक आ जाता है जो कि खेद का विषय है; वह सारभूत वस्तु नहीं है। अब वह कलश द्वारा कहते हैं:—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं,
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ।।५।।

आचार्यदेव कहते हैं कि जो व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न हो जाये तब तक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को, यथार्थ स्वरूप का अविरोध निर्णय करने के लिये खेद है कि हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ को' अन्तरंग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा तद्रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उनके लिये यह व्यवहारनय किंचित्मात्र भी प्रयोजनवान नहीं है।

जब तक यथार्थ वस्तु का निश्चय करके आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जाता तब तक व्यवहारनय हस्तावलम्बन तुल्य कहा गया है, वास्तव में उसका अवलम्बन नहीं है। किसी मंजिल पर चढ़ते हुए जीने की सीढ़ियों पर पैर रखते हैं और दीवाल का सहारा लेते हैं किन्तु वह छोड़ने के लिये ही होता है; इसी प्रकार यथार्थ स्वरूप के विरोध से रहित निर्णय करने के लिये शुभविकल्प में लगना पड़ता है सो व्यवहार है, किन्तु खेद है कि निमित्ताश्रित भेद में रुकना पड़ता है। परमार्थ में जाते हुए बीच में तत्त्व के विकल्प का आँगन आता तो है किन्तु उसे लेकर आगे नहीं बढ़ा जाता। अपने बल से जब स्वयं उसे लाँघ जाता है, तब वहाँ जो विकल्प का अभाव है सो निमित्त कहलाता है। जब मंजिल पर चढ़नेवाला कूदकर अन्तिम सीढ़ी को छोड़ देता है, तब यह कहा जाता है कि जो छूट गया है वह निमित्त था; इसी प्रकार अनादि काल से पराश्रयरूप व्यवहार की पकड़ से राग-द्वेष, पुण्य-पाप, पर का स्वामित्व-कर्तृत्व मान रहा था, वहाँ से कुलाँट खाकर अखण्ड अविकारी निरावलम्बी स्वभाव के बल से विकल्प का अंश टूटकर प्रारम्भ के तीन गुणस्थानों को लाँघकर सीधा चौथे गुणस्थान में पहुँचता है।

विकार का नाशक स्वभाव नित्य एकरूप ज्ञायक है, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि विकार में अटक जाये। आचार्यदेव कहते हैं कि जीव को परमार्थ में ही जाना है तथापि नव तत्त्व के और गुण-गुणी के भेदविचार और शुभविकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, तथापि वह कोई प्रयोजनवान नहीं है। जैसे कोई माल-मिठाई लेते समय उसकी

किस्म तय की जाती है, भाव तय किया जाता है और फिर तौल करायी जाती है; इस प्रकार लेते समय यह सब कुछ करना पड़ता है, किन्तु माल लेने के बाद उसे खाते समय (स्वाद लेते समय) तराजू बाँट और भाव इत्यादि साथ में नहीं रखे जाते, इसी प्रकार परमार्थस्वरूप आत्मा का निर्णय करने के लिये पहले जीवादि नव तत्त्व क्या है, यह जानने का तथा विकल्परहित यथार्थ तत्त्व क्या है इसका माप करने का विचार गुरुज्ञान से यथावत् करना पड़ता है, किन्तु उसके एकरूप अनुभव-स्वाद के लिये नव तत्त्व और माप लेने का विकल्पि आदि सब छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उस शुभ विकल्प से आत्मानुभव प्रगट नहीं होता।

वास्तविक सम्यग्दर्शन ही धर्म का प्रथम प्रारम्भ है। यदि नव तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न करे तो आत्मा का पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होता। जीवादिक नव तत्त्वों का यथावत् शुद्धता के लक्ष्य से जानना सो व्यवहार है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध एकदम त्याज्य हैं, तथा शुद्ध, जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहार से आदर योग्य हैं। ऐसा व्यावहारिक यथार्थ विवेक करने पर शुभभाव होता है। नव तत्त्वों को यथार्थतया जाने तो वह सम्यग्दर्शन के लिये हस्तावलम्बन—आधार कहलाता है। उस अवस्था के आधार से सम्यग्दर्शन नहीं होता किन्तु वह पुरुषार्थ से होता है। जो इतना नहीं समझता वह धर्म के निकट भी नहीं पहुँच पाया, ऐसा समझे बिना धर्म नहीं होता। धर्म तो मन और इन्द्रियों से परे (बिल्कुल भिन्न) मात्र अन्तरंग ज्ञानदृष्टि से अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति करने से बाह्यदृष्टि एवं दशा बदल जाती है। प्रतीति करना सर्व प्रथम कर्तव्य है, वह चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दर्शन है, उसी से धर्म का, आनन्द का प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् श्रावक और मुनिदशा होती है और अंशत: निर्मलता-स्वरूपस्थिरता होती है, जो कि बहुत ऊँची बात है।

सुख का प्रारम्भ करने के लिये पहले यथार्थ ज्ञान करना होता है। निराकुल स्वाधीन सुखरूप आत्मा को जानने के लिये पहले नव तत्त्व के यथार्थ भेद जानने पड़ते हैं। वह विकल्प राग का अंश है। नव तत्त्व को गुरु-ज्ञान से यथार्थतया जानने पर परमार्थस्वरूप के निकट पहुँचा जाता है। वह जीव स्वरूप के आँगन में आकर उपस्थित है, घर में-स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ, स्वभाव की ऋद्धि ही अलग है। पहले से ही उन समस्त विकल्पों को त्याज्य समझकर यथार्थतया नव तत्त्वों को न जाने तो निर्विकल्प अनुभव

सहित अखण्ड तत्त्व की श्रद्धा नहीं होती, निज-पर की भिन्नता का विवेक करनेवाला यथार्थ ज्ञान नहीं होता और अन्तर रमणतारूप चारित्र नहीं होता।

निर्विकल्प पूर्ण परमार्थस्वभाव को प्रगट करने के लिये, तत्त्वसम्बन्धी विशेष ज्ञान करने के लिये नव तत्त्वों के विचार में रुकना पड़ता है, इसका भी आचार्य को खेद है। किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सच्चे देव-गुरु कौन हैं और मिथ्या कौन हैं, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जो सच्चे देव-गुरु का विपरीत स्वरूप मानते हैं, पुण्य से धर्म करते हैं, पाप से बचने के लिये जो पूजा-भक्ति इत्यादि के शुभभाव होते हैं, उस पुण्यबन्ध के कारण को (आस्रव तत्त्व को) गुण का कारण मानते हैं अथवा पाप की अशुभ भावना को धर्म मानते हैं और आकुलता में सुख मानते हैं, उन अज्ञानियों को तो व्यवहार से भी नव तत्त्वों की खबर नहीं है।

देह पर दृष्टि रखकर क्रियाकाण्ड-तपस्या करे और यह माने कि मैंने कष्ट सहन किया है, तथा एक ओर तो उस कष्ट सहने का खेद करे और दूसरी ओर उसमें धर्म माने कि अहो! धर्म बहुत कठिन है, लोहे के चने चबाने के समान है। और यह माने कि—मैंने बहुत कष्ट सहन किया है इसलिए बहुत धर्म हुआ है, किन्तु उसमें जो खेद होता है वह अशुभभाव है, आर्तध्यान है, पाप है। जीव की अन्तरंग महिमा ज्ञात नहीं हुई और यह मालूम नहीं हो सकता कि वास्तविक शुभ क्या है इसलिए समझे बिना तपस्या उपवास आदि में लगा रहता है और तज्जन्य खेद-अरुचि-उपेक्षा को धर्म मानता है, आकुलता और अनाकुलता की प्रतीति के बिना हठ, कष्ट एवं अशुभभाव से किये गये क्रियाकाण्ड में धर्म मानता है और यह मानता है कि अधिक कष्ट होगा तो अधिक धर्म होगा; किन्तु धर्म तो आत्मा का पूर्ण निराकुलस्वभाव है, उसमें दु:ख हो नहीं सकता और जहाँ दु:ख है, वहाँ धर्म नहीं है। धर्म सुख-शान्ति देनेवाला हो या दु:ख देनेवाला हो, वह निज में हो या पर में हो इसकी जिसे खबर नहीं है, वह पर को देखता है और यह मानता है कि शरीर अधिक सूख गया है इसलिए धर्म बहुत हुआ है। इस प्रकार बाह्य में दु:ख पर खेद प्रगट करके उल्टा असातावेदनी कर्म की उदीरणा करता है।

आत्मा के जिस भाव से शुभाशुभ विकार का भाव रुकता है, वह संवर है; पंच महाव्रतादि के शुभभाव आस्रव (नवीन कर्मबन्ध का कारण) है। जो उसे धर्म मानता है,

उसे व्यवहार से भी नव तत्त्वों का ज्ञान नहीं है। पाप में प्रवृत्त न होने के लिये शुभभाव होना ठीक है, किन्तु यह बात त्रिकाल असत्य है कि शुभ विकार से धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन इत्यादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसे यथार्थ आत्मस्वरूप का अनुभव-आत्मसाक्षात्कार करना है, निर्विकल्प श्रद्धा के विषय में स्थिर होना है, उसे पहले तो नव तत्त्वों को और देव, शास्त्र, गुरु को यथार्थतया जानना होगा किन्तु उसी समय यह ध्यान रखना होगा कि उस विकल्प से (भेद के लक्ष्य से) सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। व्यवहाररूप भेद-अभेद का कारण नहीं होता। जिसे यथार्थ आत्महित की खबर नहीं है और जिसे नव तत्त्वों के नाम तक नहीं आते उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति अथवा आत्मा का धर्म कहाँ से प्राप्त हो सकता है ?

मन के सम्बन्ध से, विकल्प से, नव तत्त्वों का यथार्थ विचार करने के बाद अवस्था के भेद के लक्ष्य को गौण करके पूर्णरूप शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर, मन से भी किंचित् पृथक् होकर अखण्ड की श्रद्धा के विषय में स्थिर हो और निरावलम्बी, असंग, अविकारी, ज्ञायकस्वरूप में तद्रूप एकत्व की श्रद्धा लाये सो यथार्थ सम्यग्दर्शन है। जन्म-मरण के दु:ख को दूर करने का यह एक उपाय है। विपरीत दृष्टि को दूर करने के बाद जहाँ तक स्थिर न हुआ जा सके वहाँ तक अशुभ से बचने के लिये; नव तत्त्व सम्बन्धी विशेष ज्ञान की निर्मलता करने के लिये शुभभाव में रुकना पड़ता है, किन्तु ज्ञानी उस भेद का आदर करके उसमें अटकता नहीं है। आगे कहा गया है कि मात्र नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का होना मिथ्यादृष्टि है। चिदानन्द पूर्ण स्वरूप को यथार्थ प्रतीतिपूर्वक न माने तब तक शुभ विकार की श्रद्धा है, किन्तु अविकारी अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

सर्व प्रथम यह समझने योग्य है कि चाहे जितनी सांसारिक सावधानी रखे किन्तु उसका परिणाम शून्य से अधिक नहीं होता। जब प्रारम्भ में शून्य होता है, तब उसके योगफल में भी शून्य ही आता है, किन्तु उसके हर्ष का तो पार नहीं होता और जिससे अविनाशी हित होता है, उसकी वह चिन्ता नहीं करता।

आचार्यदेव ने परम अद्‌भुत रहस्य को प्रगट कर दिया है। जिसे इस अपूर्व वस्तु का ध्यान नहीं है, वह उसका विचार कहाँ से करेगा ? यदि सावधानी के साथ तत्त्वाभ्यास न करे तो स्थिर होने का कहीं भी ठिकाना नहीं मिल सकता, वह तो मात्र परिभ्रमण ही करता

रहेगा। गत अनन्त काल में एक क्षण भर को भी यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ। वस्तु का यथार्थ निर्णय करने के लिये उसका अधिक समय का अभ्यास और यथार्थ श्रवण होना चाहिए। एकाधबार थोड़ा-बहुत सुनकर चले जाने से दोनों अपेक्षाओं का मेल नहीं बैठता। यदि अपनी बुद्धि से एक अपेक्षा से अर्धसत्य को पकड़ रखे तो यथार्थ रहस्य समझ में नहीं आ सकता। जैसे किसी महिला ने अपनी पड़ोसिन के बच्चे को जीने पर चढ़ते हुए देखकर कहा कि 'यदि गिरेगा तो मर जायेगा,' उस बालक की माँ ने इतना ही सुना कि 'मर जायेगा' और इस अधूरी बात को सुनकर वह अपनी पड़ोसिन से लड़ने लगी कि तूने मेरे बालक से मरने की बात क्यों कही ? उत्तर में उस महिला ने कहा कि तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी, मैंने तो यह कहा है कि यदि 'गिर जायेगा तो मर जायेगा' और इस प्रकार मैंने तुम्हारे बालक से मरने की नहीं किन्तु जीने की बात कही है, तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी इसमें तुम्हारी ही भूल है। इसी प्रकार पूर्वापर विरोध से रहित सर्वज्ञ वीतराग के वचनों में क्या कथन है, उसे भलीभाँति सम्पूर्ण सुनकर न्याय को सन्धिपूर्वक न समझे और एक ओर की ही अपूर्ण एकान्त बात को पकड़ रखे तो विरोध का होना स्वाभाविक ही है।

जिसे व्यवहार तत्त्व की भी कोई खबर नहीं है और पुण्य-पापरूप आस्रव को जो नहीं समझता वह उससे भिन्न संवर-निर्जरारूप धर्म को भी नहीं समझ सकता। जहाँ प्रथम व्यवहार में ही भूल हो वहाँ परमार्थ के आँगन तक कहाँ से आ सकता है ? परमार्थ से तो शुभास्रवभाव भी त्याज्य हैं; नव तत्त्व के भेद-विकल्प भी परमार्थ दृष्टि से त्याज्य हैं। नव तत्त्वों की श्रद्धा को परमार्थ नहीं कहा है तथापि बीच में हस्तावलम्बन की भाँति आ जाने से उसमें रुक जाने का खेद है। सीधा ही परमार्थ में जा सकता हो तो व्यवहार में रुकने की कोई बात नहीं है।

भावार्थः—आत्मा की निर्मल श्रद्धा होने के बाद श्रद्धा के लिये नव तत्त्वों के विकल्परूप व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं रहता। निश्चय-श्रद्धा के साथ आंशिक स्वरूपाचरण चारित्र के प्रगट होने पर फिर श्रद्धा के लिये अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं होता। व्यवहार से नवतत्त्वों को जानकर शुभभाव करे और उस शुभ व्यवहार में लगा रहे तो उसे परमार्थ से कोई लाभ नहीं होता।

अब निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं:—

एकत्वे नियतस्य शुद्ध-नयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञान-घनस्य दर्शन-मिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शन-मेतदेव नियमा-दात्मा च तावा-नयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।।६।।

[आचार्यदेव ने सर्वज्ञ वीतराग के कथन का रहस्य उद्घाटित करके जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। किसी को यह बात जम सकती है अथवा नहीं भी जम सकती। सब अपने-अपने भाव में उल्टा-सीधा करने के लिये स्वतन्त्र हैं। सत् को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये भी सब स्वतन्त्र हैं। प्रभु! तेरी अशुद्धता की विपरीतता भी बहुत बड़ी है। श्रीमद् राजचन्द्र ने लिखा है कि—'भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं, तथापि उनमें भी कुछ कम अपलक्षण नहीं हैं' इस प्रकार आत्मा को संबोधित करके पुरुषार्थ करने को कहा है।]

कोई कर्म के संयोग में रत होकर यह माने कि राग-द्वेष मेरे हैं, करनेयोग्य हैं, और मैं पर का कर्ता हूँ, तथा अविकारी शुद्धतत्त्व से इन्कार करे तो उसे स्वीकार कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है। यदि कोई ओंधा गिरता है तो उसमें भी वह स्वतन्त्र है। जैसे किसी बालक के हाथ से उसकी चूसनी लेकर दूसरे बालक को दे दी जाये तो वह ऊँ-ऊँ करके रोना प्रारम्भ करता है और फिर बराबर रोता रहता है; यदि उसके हाथ में पेड़ा दे दिया जाये तब भी वह चुप नहीं रहता और यदि उसे वह चूसनी लाकर दे दी जाये तो भी वह रोना बन्द नहीं करता, क्योंकि उसे यही ध्यान नहीं रहता कि मैंने क्यों रोना प्रारम्भ किया था, इसी प्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा पुण्य-पाप से भिन्न है, पुण्य से भी आत्मा का धर्म नहीं होता, आत्मा का आनन्द प्रगट होने की श्रद्धा अलग ही है, इसे सुनकर निषेध करने की धुन लगी सो उसके पुण्य-पाप के कर्तृत्व को और पर का स्वामित्व रखने की मान्यतारूप अज्ञान (स्वभाव से इन्कार) छुड़ाने के लिये ज्ञानियों ने पुण्य-पापरहित परमार्थ की बात की तथापि उसे सत्य-असत्य की खबर ही नहीं और न यही खबर है कि मैंने कहाँ भूल की है, इसलिए उसके भावों में से उसका विरोध नहीं मिटता। जैसे (उपरोक्त दृष्टान्त में) बालक का पिता बालक को चाहे जिस रीति से और चाहे जितना समझाता है किन्तु वह नहीं मानता और फिर अपने आप चुप रह जाता है; इसी प्रकार ओंधे पड़े हुए जीवों को

अनन्त ज्ञानी समझाते हैं किन्तु वह नहीं मानते; सच तो यह है कि अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ हो तभी समझा जा सकता है।

[आचार्य महाराज कहते हैं कि हम किसी दूसरे के लिये नहीं कहते, किन्तु यह तो हमारी रुचि का निमन्त्रण है, जो सत् अनुकूल पड़ा है उसी की घोषणा है किसी का कोई विरोध नहीं है। जैसे अपने घर कोई अतिथि आये तो उसे अपनी रुचि की उत्तम से उत्तम वस्तु परोसी जाती है उसी प्रकार ज्ञानीजन जगत के समक्ष निस्पृह करुणा से सत् की घोषणा करते हैं क्योंकि वही उनकी रुचि की वस्तु है। कोई दूसरा सत् के मूल्य को आँके या न आँके उसे यह अनुकूल पड़े या न पड़े, उस पर उनकी दृष्टि नहीं है, किन्तु वे तो अपनी अनुकूलता के गीत गाते हैं।]

परद्रव्यों से तथा पुण्य के विकारी भावों से भिन्न आत्मा के त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानमय अखण्डानन्द स्वरूप को श्रद्धा में लेने की रीति जानकर, व्यवहारदृष्टि को गौण करके एकरूप अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से मिथ्या मान्यता का निषेध और यथार्थ मान्यता का स्वीकार एवं मैं अखण्ड ज्ञायक परमानन्दरूप से पूर्ण हूँ, इस प्रकार ध्रुवस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा में जो स्वीकृति है, सो सम्यग्दर्शन है।

भगवान आत्मा को परद्रव्य से सदा भिन्न देखना, परसम्बन्धरहित—विकाररहित मानना अर्थत् प्रतिष्ठा, धन, स्त्री, पुत्र, मन, वाणी, देह तथा देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सब अपने से भिन्न हैं, पुण्य-पाप के विकार भी अपने स्वभावरूप नहीं हैं; इस प्रकार सर्वथा पर से भिन्न एकरूप शुद्ध आत्मा को मानना, श्रद्धा में लेना सो *नियम से सम्यग्दर्शन है। जब दूसरे से अपने को भिन्न माना और यह माना कि त्रिकाल में भी किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तब पर से लाभ-हानि नहीं हो सकती ऐसी श्रद्धा होने से परवस्तु सम्बन्धी भ्रान्ति से छूटकर मात्र स्वाधीनभाव में ही (स्वभाव में ही) स्थिर होना रह जाता है। पुण्य-पाप का स्वामित्व छूट गया, (अखण्ड स्वरूप की प्रतीति में विकार की नास्ति है) किसी के साथ एकमेक करने की बात न रही, किसी में कर्तृत्व की मान्यता न रही इसलिये अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो गया और आंशिक निराकुल आनन्द प्रगट हो गया; इस प्रकार एकरूप निरावलम्बी आत्मा की प्रतीति करना सो धर्म के प्रारम्भ का मूल सम्यग्दर्शन है।

* नियम कदापि नहीं बदलता, और यदि बदले तो वह नियम नहीं कहा जा सकता।

भगवान आत्मा पर से तो भिन्न है किन्तु अपनेपन से कैसा है ? सदा अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है, और वह रागादि में नहीं रहता। स्वयं ज्ञान-दर्शन-आनन्द से पूर्ण त्रिकाल एकरूप ध्रुवभाव से स्थिर होकर अपने गुणरूप से रहकर अपने गुणों की अवस्था में व्याप्त होकर रहनेवाला है। उसे पर से भिन्न अविकारी ज्ञानानन्दरूप मानकर, पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित मानना ही प्रारम्भ से आत्मा के लिये लाभदायक है।

और फिर कैसा है वह आत्मा ? शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है। शुद्धनय के द्वारा तत्त्व के नव-भेदों में से एक ज्ञायकस्वरूप से अखण्डरूप से आत्मा को लक्ष्य में लेकर अपने त्रिकाल ध्रौव्यत्व में निश्चित किया गया है। यद्यपि गुण अनन्त हैं किन्तु अखण्ड की श्रद्धा में भेद-विकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे सोने में पीलापन, चिकनापन इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं, किन्तु मात्र सोने को ही खरीदनेवाले स्वर्णकार को उसके विभिन्न गुणों पर अथवा उसकी रचना इत्यादि पर लक्ष्य नहीं होता, उसका लक्ष्य तो एकमात्र सोने पर ही होता है, वह तो देखता है कि उसी में समस्त अवस्थाएँ तथा गुणों की शक्ति वर्तमान में एक ही साथ विद्यमान है। भेद को लक्ष्य में न लेकर अखण्ड ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेना, उसमें किसी निमित्त की अपेक्षा को न मिलाना सो सच्चा धर्म-सम्यग्दर्शन है। इसमें ऐसी बात नहीं है कि यदि हमारी बात को मानो तो ही सम्यग्दर्शन होगा, किन्तु स्वयं निश्चित करके अपने स्वतन्त्र-पूर्ण एकत्वस्वरूप को अपने से ही मानो तो सम्यग्दर्शन होता है। देव-गुरु-शास्त्र और वीतराग की साक्षात् वाणी भी परवस्तु है। तू उसके आश्रय से रहित पूर्ण है, ऐसे एकरूप अखण्ड स्वरूप की प्रतीति तुझसे ही होती है।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीति (सम्यग्दर्शन) गृहस्थदशा में (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्था में) हो सकती है। गृहस्थदशा के अनेक संयोगों के बीच रहते हुए भी अपने अविकारी स्वभाव की प्रतीति हो सकती है। यदि वह राग को दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि हो सकता है; वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति को जानता है और अन्तरंग में उदास रहकर परावलम्बन के सम्पूर्ण राग को छोड़ना चाहता है। संसार में रहता हुआ भी संसार के संयोगों में अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूप में ही ज्ञानानन्द

साक्षीरूप से आत्मा में ही विद्यमान है। जैसे अछूतों के किसी मेले में कोई वणिक अपनी दुकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतों के साथ एकमेक हो गया हूँ ? उसके मन में यह नि:शंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक ही हूँ इसी प्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकार का नाशक, स्वरूप का रक्षक, अखण्ड अविकारी स्वभाव का स्वामी हूँ, विकल्प-संयोग का स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोग में एकरूप नहीं हो जाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान पुरुषार्थ से वीतरागी अबन्ध ही हूँ। आत्मा अछूत-हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

पर से भिन्नरूप सिद्ध-परमात्मा के समान पूर्ण पवित्र आत्मा में परमार्थ से एकत्व का निर्णय करना सो उसे भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्ड के बल से एकबार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट हो गयी है, वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभाव में एकाग्रता के बल से पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और वह पर से भिन्न आत्मा कैसा है ? पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पाप की रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (ऐरन) में लोहे की कील प्रवेश नहीं कर सकती उसी प्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मा में पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्प का उत्थान निमित्ताधीन अवस्था से होता है जो कि गौण है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थ में विकार के कर्तृत्व का किंचित्मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम श्रद्धा में पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी प्रतीति के बल से कोई विकार की प्रवृत्ति का स्वामित्व नहीं होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभ से बचने के लिये शुभ में प्रवृत्त होता है, किन्तु उसमें गुण का होना नहीं मानता। श्रद्धा में प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है। जैसे अग्नि ईंधन की नाशक है—रक्षक नहीं और सूर्य का स्वभाव अन्धकार को उत्पन्न करना नहीं किन्तु उसका नाश करना है, इसी प्रकार मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एकरूप सतत् ज्ञायकत्वरूप है, किसी में अच्छा-बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं है। ऐसे वीतरागी भाव की प्रतीति के बल में राग का स्वामित्व-कर्तृत्व नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण

जो राग होता है, उसे मात्र जानता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। विकल्प को तोड़कर स्थिर होना चाहता है, और यह मानता है कि अखण्डस्वभाव के बल से अन्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होने पर अशुभराग टूटकर सहज ही व्रतादिक आते हैं, उसमें जितना राग दूर होता है, उतना ही गुण मानता है और जो राग रहता है, उसका किंचित्मात्र भी आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कथित न्यायानुसार नव तत्त्वों को जानकर पर से और विकार से आत्मा भिन्न है, उसे शुद्धनय से जानना सो सम्यग्दर्शन है जो कि अनन्त काल में जीव ने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे रहित पुण्यभाव में मिथ्यादर्शन का महा-पाप बँधता है। भक्ति, पूजा, दान, व्रत, तप, त्याग में राग को कम करे तो पुण्यबन्ध होता है, जिसके फल से कभी बड़ा राजा अथवा निम्न कोटि का देव होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इत्यादि के अशुभभाव करने से पाप-बन्ध होता है, जिसके फल से तिर्यंच और नरक इत्यादि गति में परिभ्रमण करता है। पुण्य-पाप की उपाधि से रहित अविकारी, असंग, एकरूप स्वभाव की श्रद्धा और स्व-पर के भेदरूप ज्ञान के बिना सच्चा चारित्र नहीं हो सकता और वीतराग चारित्र के बिना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं हो सकता।

जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितने में मिठास है, उतने में मिश्री है, इसी प्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है, क्योंकि वह (सम्यग्दर्शन) आत्मा में आत्मा के आधार से है, मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पाप की शुभाशुभ वृत्ति के आधार पर अवलम्बित नहीं है। यदि कोई मात्र शास्त्र से आत्मा की बात को मन में धारण कर ले तो वह भी सम्यग्दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नव तत्त्वों के शुभभाव की वृत्ति करे तो भी वह संयोगाधीन क्षणिकभाव है—कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत्, अकृत्रिम, अविकारी, एकरूप, ज्ञायकस्वभाव का नहीं है। कुछ भी करने-धरने की हाँ या ना के रूप में जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभाव के भेद से रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्मा के स्वरूप में फैली हुई है, आत्मा से भिन्न नहीं है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभाव का जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञ भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते हैं कि 'इस नव तत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, हमें यह

एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।' अन्यत्र रुक जाना हमें नहीं पुसाता। उसे नव तत्त्व के विचार में मन के सम्बन्ध से विकल्प करने को रुक जाना भी ठीक नहीं है। आत्मा का स्वरूप ऐसा नहीं है कि नव तत्त्व के विकल्प से उसका पूरा पड़ सके। समझे बिना अपनी कल्पना से शास्त्र पढ़े अथवा चाहे जितने अन्य प्रयत्न करे किन्तु अन्तरंग का मार्ग गुरुज्ञान के बिना हाथ नहीं आता। यथार्थ नि:सन्देह ज्ञान जब स्वयं करे तब स्वत: होता है, किन्तु एक बार यथार्थ गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मा में मात्र आनन्द भरा हुआ है। उसकी श्रद्धा में यथार्थ समझपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प चारित्र की क्रिया है। उसी में आनन्द है। जो कष्ट में धर्म मानता है, वह कहता है कि 'देहे दु:खं महाफलं' अर्थात् यदि कष्ट सहन करो तो गुण प्राप्त होगा। जो यह कहता है कि उपवास तो धूल का ग्रास है, उसे उपवास पर अरुचि है। उस अरुचि (द्वेष) भाव को भगवान ने आर्तध्यान कहा है। शारीरिक प्रतिकूलता सहन नहीं होती इसलिए जो यह मानता है कि क्षुधा-तृषा से या शरीर के कष्ट से धर्म होता है, वह पाप को गुणरूप मानता है। वहाँ व्यवहार से भी नव तत्त्वों की श्रद्धा नहीं है। जो धर्म करते हुए कष्ट मानता है, उसे निराकुल स्वभाव के प्रति अरुचि है जो कि द्वेष है, और द्वेष पाप है, उससे धर्म नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता।

प्रश्न:—इतने-इतने कष्ट सहन करने पर भी धर्म नहीं होता ?

उत्तर:—हे भाई! देह की क्रिया से धर्म तो क्या किन्तु पुण्य-पाप भी नहीं होता। स्वयं अपने परिणामों को सुधारे और कषाय को सूक्ष्म करे उतना शुभभाव होता है, उस भाव से पुण्य होता है, धर्म नहीं। पर सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना सो निराकुल स्थिरता है और उसी में सुख है। पर से किसी को कष्ट नहीं होता किन्तु पर के ऊपर जितना राग करता है, उतना ही दु:ख होता है।

प्रश्न:—तपस्या न की जाये तो क्या लड्डू खाकर मोक्ष जाया जा सकता है ?

उत्तर:—कोई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डू के राग की आकुलता को भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्वभाव के लक्ष्य में अपने परिणाम का माप निकालता है। शरीर की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर लक्ष्य नहीं है। अखण्ड स्वभाव की रुचि के मन्थन में आहार की इच्छा सहज टूट जाती है, इस प्रकार इच्छा का निरोध

करके, स्वरूप में लीन होना सो भगवान ने तप कहा है, वही तप मोक्ष का कारण है। जो उसे कष्टदाता मानता है, वह धर्म का-स्वभाव का अनादर करता है, उसे वीतराग कथित नव तत्त्वों की व्यवहार से भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ नव तत्त्वों की परिपाटी की पकड़ में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थ तत्त्व को समझने के लिये तैयार होकर आया है, उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धा की खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहार के भेद को उल्लंघन कर जाने की बात है। मात्र व्यवहारतत्त्व से और पुण्य से धर्म मनवानेवाली दुकानें बहुत-सी हैं। जैसे कॉलेजवाले यह समझ लेते हैं कि यहाँ पढ़ने को आनेवाले पहली कक्षा से लेकर मैट्रिक तक तैयार होकर ही आये हैं, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरण को टालने के लिये जो परमार्थ तत्त्व के निकट आया है, उसे नव तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान की खबर तो होनी ही चाहिए। यह धर्ममार्ग की सर्व प्रथम इकाई की बात है। सर्व प्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यग्दर्शन है।

कितने लोग यह कहते हैं कि समयसार में बहुत ही उच्च कक्षा की बात है, उसे समझने या उसका परिचय प्राप्त करने से इन्कार करते हैं; किन्तु सर्व प्रथम धर्म का मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है, यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्त काल में स्वरूप को पहिचानने के अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। 'पहले जो कभी नहीं समझा था, वह परमार्थ स्वरूप कैसा है' यही समझने के लिये जो आये हैं, उन्हें आचार्यदेव कहते हैं कि—यथार्थ नव तत्त्वों के शुभ विकल्प की प्रवृत्ति से छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्मा की प्राप्ति करो। पर से भिन्न और निज से अभिन्न स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थ:—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्याय के भेदों में व्याप्त यह आत्मा एक बार ज्ञायकरूप से शुद्धनय से बतलाया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यों से तथा अन्य द्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारी भावों से भिन्न देखना और अनुभवसहित यथार्थरूप में श्रद्धा करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। भगवान आत्मा पर से निराला त्रिकाल स्वभाव से निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में कर्म के संयोग की अपेक्षा से अशुद्धता का अंश है, उसे देखनेवाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके

त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायकस्वभाव को शुद्धनय से अपने एकत्व में निश्चित किया गया है अर्थात् नि:शंक श्रद्धा की गयी है और वही जन्म-मरण को दूर करने का निश्चित उपायरूप प्रथम गुण है। (गुण=लाभ)

नव तत्त्वों के जो विचार मन में होते हैं, उनके विकल्पों में अटककर आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर व्यवहारनय सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, एकरूप नियम नहीं रहता। आत्मा एकस्वभावी है, उसे नव तत्त्वों में रोकना अर्थात् एक तत्त्व को अनेक तत्त्वों में रोकना सो व्यभिचार है।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अविरोधरूप से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और नव तत्त्वों की श्रद्धा के भेदों को जानने के बाद भी उसके अनेक प्रकार में—शुभराग में रुकना पड़ता है सो गुण नहीं है, किन्तु निर्दोष एकरूप स्वभाव का निश्चय करके उसमें शुद्धनय से श्रद्धा के निर्मल विषय में रुकना सो गुण है। देव-गुरु-शास्त्र भी परवस्तु हैं, उसके आश्रय से तथा नव तत्त्वों के शुभ विकल्प में रुकने से एकरूप निर्विकल्प अनुभव नहीं होता, किन्तु पूर्ण ज्ञानानन्द निर्विकार, त्रिकाल स्वभाव का लक्ष्य करके अन्तरंग में उन्मुख हो तो अभेद, शान्त आनन्द का अनुभव होता है। जिसे परावलम्बन से तथा शुभराग से गुण प्रगट होने का विश्वास जमा हुआ है, उसके धर्म का प्रारम्भ भी नहीं हुआ है।

समयसार में तो पहले धर्म के प्रारम्भ की बात है। जो अनादि काल का अत्यन्त अप्रतिबुद्ध-निरा अज्ञानी है, वह परमार्थस्वरूप के रहस्य को जान सके इसलिए सर्व प्रथम परमार्थ सम्यग्दर्शन की बात कही है। जो यथार्थ को समझता है, उसके सम्पूर्ण भ्रम का नाश हो जाता है और जैसा परमानन्द पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, वैसा ही प्राप्त होता है।

तीनों काल में मनुष्य भव महादुर्लभ है, उसमें भी पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता और उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है। और जब ऐसा अमूल्य सुयोग प्राप्त हुआ है, तब यदि जन्म-मरण को दूर करने का उपाय न करे तो फिर अनन्त काल में भी ऐसा सुयोग मिलनेवाला नहीं है। सांसारिक कार्यों में भी पिता पुत्र से कहता है कि यदि इस भर मौसम में नहीं कमायेगा तो कैसे चलेगा? इन दो महीनों में बारह महीनों की रोटी पैदा करनी है। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अब तुझे यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, एक-एक क्षण एक लाख वर्ष के समान जा रहा है, इसलिए आत्मकल्याण कर ले। ऐसा महामूल्य मनुष्य

भव प्राप्त करके भी यदि अपूर्व श्रद्धा नहीं करेगा तो यह प्राप्त किया हुआ सब व्यर्थ जायेगा, इसलिए पहले पूर्वापर विरोध रहित आत्मा की यथार्थ पहिचान करना चाहिए। यह तो प्रथम भूमिका की रीति है।

शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर अथवा पवित्र स्वभाव की मर्यादा में पहुँचने पर, नव तत्त्व का भेदरूप व्यवहार गौण हो जाता है। तब विकल्प के आश्रयरूप दोष में रुकना नहीं होता; परमार्थदृष्टि में एकरूप निश्चय का नियम रहता है।

कैसा है वह शुद्धनय का विषयभूत आत्मा ? पूर्ण ज्ञानघन है, सर्व लोकालोक को एक ही साथ सहज जाननेवाला ज्ञानरूप है। जैसे दर्पण में जितना दिखायी देता है, वह उसकी स्वच्छता की शक्ति है, दिखायी देनेवाली परवस्तु उस दर्पण में प्रविष्ट नहीं होती, इसी प्रकार आत्मा अरूपी पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है। जिसका स्वभाव ही जानना है वह किसे न जानेगा ? और कब न जानेगा ? वह सबको जानता है और एक ही साथ जानता है इसलिए मैं ज्ञायक हूँ, किंचित्मात्र हीन नहीं हूँ; मेरा स्वभाव विकारी या उपाधिमय नहीं है। ऐसे स्वाधीन आत्मा की पहिचान होने पर अनादिकालीन मिथ्या-मान्यता का नाश होकर निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है। श्रद्धा कहीं आत्मा से पृथक् पदार्थ नहीं है, वह आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए आत्मा ही है। इसलिए जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

इसे समझे बिना धर्म के नाम पर जो कुछ करता है, वह सब व्यर्थ जाता है, क्योंकि जिस भाव से भव होता है, उस भाव से भव का नाश कदापि नहीं होता। जिस भाव से पुण्य-पाप के विकारी भाव का नाश होता है। वैसी श्रद्धा और स्थिरतारूप अविकारी भाव से धर्म का प्रारम्भ होता है। प्रतिक्षण भयंकर भावमरण करके विपरीत भाव से अनन्त भव धारण किये तथापि तुझे अपनी दया नहीं आती ! अब भव धारण नहीं करना है, इस प्रकार का भाव यदि अन्तरंग में उदित हो तो भवरहित अविनाशी असंयोगी स्वरूप को पहिचानने का पुरुषार्थ करे, किन्तु जिसे परभव की श्रद्धा ही नहीं है और जिसे अभी इतनी सामान्य आस्तिकता भी नहीं है कि आत्मा नित्य होगा या नहीं, अथवा आत्मा एकाकी रहे तो उसमें क्या सुख है, और जो वर्तमान संयोग को ही मानता है तथा जिसकी ऐसी धारणा है कि मरने के बाद चाहे जो होता रहे इसकी हमें चिन्ता क्यों होनी चाहिए, उसके लिये आचार्यदेव कहते हैं कि तू प्रभु है, तेरी विपरीत मान्यता से तेरे गुणों में क्षयरोग लग गया है और तू अपने

स्वभाव के विरोधभाव से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है, इसका खेद होना चाहिए। मुझे संसार का कुछ भी नहीं चाहिए और किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, यह जानकर असंग, अविकारी, स्वाधीन-स्वभाव की श्रद्धा कर।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश है, इसलिए शुद्धनय भी श्रुतज्ञान-प्रमाण का ही अंश हुआ। त्रिकाल स्थायी सामान्य एकरूप स्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों मिलकर सम्पूर्ण वस्तु है, इस प्रकार ध्यान में लेना सो अपूर्ण अवस्था में 'परोक्ष प्रमाण' अथवा श्रुतज्ञान-प्रमाण कहलाता है, और केवलज्ञानरूप पूर्ण अवस्था को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' रूप ज्ञान कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष सौ वर्ष का है, उसे वर्तमान रोगी-निरोगी अवस्था के भेदरूप से न देखकर एकरूप सौ वर्ष का देखना सो शुद्धनय अथवा निश्चयदृष्टि है; उस निश्चय की ओर के लक्ष्य को गौण करके वर्तमान अवस्था को देखना सो व्यवहारनय है और उन दो अपेक्षाओं का भेद न करके पुरुष को जानना सो श्रुतप्रमाण है। इसी प्रकार आत्मा में त्रिकालस्थायी ज्ञायक एकरूप भाव को देखना सो निश्चयनय है, अखण्डता के लक्ष्य को गौण करके वर्तमान अवस्था का देखना सो व्यवहारनय है और त्रिकाल अखण्डस्वरूप एवं वर्तमान अवस्था के दोनों पहलुओं का एक साथ अखण्ड वस्तुरूप से ज्ञान करना सो प्रमाण अर्थात् श्रुतप्रमाण कहलाता है। एक पहलू का ज्ञान नयज्ञान है और दोनों पहलुओं का एक साथ जो ज्ञान है, सो प्रमाणज्ञान है।

प्रश्न:—जब केवलज्ञान होता है, तब आत्मा कैसा मालूम होता है ?

उत्तर:—जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। यहाँ परोक्षप्रमाणरूप श्रुतज्ञान में भलीभाँति आगम-शास्त्र द्वारा स्वयं निज को जान सकता है। जो पंचेन्द्रियों के विषय में सुख माना है सो कहीं पर में देखकर नहीं माना है; यथेच्छ मिष्टान्न आदि के रस में जो मिठास मान रखी है उसका स्वाद पर से निश्चित् नहीं किया है। मैं कहाँ पर सुख का निश्चय कर रहा हूँ इसकी खबर निश्चित् करनेवाले को ही नहीं है। पर में सुख है ऐसी कल्पना स्वयं ही भीतर से उत्पन्न ही है, यह अरूपी भाव आँखों से दिखायी नहीं देता तथापि अनादि काल से उसका ऐसा दृढ़ विश्वास है कि उसमें वह शंका नहीं करता। यद्यपि परवस्तु में सुख नहीं है किन्तु स्वयं अपनी विपरीत कल्पना से मिष्टान्न आदि जड़ वस्तु के स्वाद में सुख

मान रखा है। यह ज्ञान की विपरीतदशा है। यदि पर की ओर से दृष्टि को बदलकर अपनी ओर करे तो स्वयं अपना निर्णय कर सकता है। सराग अवस्था में आत्मा को परोक्ष श्रुतज्ञान-प्रमाण से जैसा जानता है उसी स्वरूप केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, मात्र दोनों में निर्मलता-मलिनता का (प्रत्यक्ष-परोक्ष का) भेद है।

प्रश्नः—वर्तमान में प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार होता है ?

उत्तरः—अन्धा मनुष्य मिश्री को नहीं देख सकता किन्तु वह देखनेवाले मनुष्य के समान ही स्वाद ले सकता है। इसी प्रकार वर्तमान में परोक्ष ज्ञानी अपने सम्पूर्ण आत्मा को अनन्त शक्तिरूप प्रत्यक्ष न देखे तथापि उसका स्वसंवेदनज्ञान तो कर ही सकता है। जब यथार्थ श्रद्धा के समय बुद्धिपूर्वक विकल्परहित निज में एकाग्र होता है तब और उसके बाद जब-जब ऐसे अनुभव में स्थिर होता है, तब-तब केवलज्ञानी अपने आनन्द का पूर्ण स्वाद अनुभव में लेता है, उसी प्रकार के आनन्द का आंशिक स्वाद श्रुतज्ञान के उपयोग के समय लिया जा सकता है। वीतराग कथित शास्त्रज्ञान से मति, श्रुतज्ञानी आत्मा को पूर्णतया शुद्धनय से परोक्ष जानता है, और अखण्डस्वभाव में एकाग्र होने पर बुद्धिपूर्वक के विकल्प से छूटकर सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होने के साथ ही आत्मा के निराकुल आनन्द का आंशिक अनुभव होता है।

धर्मों में पहला धर्म सम्यग्दर्शन है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, अविकारी गुण आत्मा में हैं, कर्मों के निमित्ताधीन शुभाशुभ विकार आत्मा का मूल स्वभावभाव नहीं है। आत्मा का अविकारी अखण्ड मूलस्वभाव जिस भाव के द्वारा माना जाता है, वह भाव निर्मल सम्यग्दर्शन है।

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' के अनुसार जिसकी निमित्ताधीन विपरीत दृष्टि है, उसके विकारी अवस्था की उत्पत्ति होती है, और निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती, ऐसा मिथ्या-दृष्टि का फल है। सम्यग्दृष्टि त्रिकाल ध्रुव अखण्डस्वभाव को लक्ष्य में लेता है। यथार्थ ज्ञान अविकारी स्वभाव को और वर्तमान विकारी अपूर्ण अवस्था को यथार्थतया जानता है, किन्तु उसमें विकार को नहीं रखना चाहता। जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसकी वैसी सृष्टि (-पर्याय) होती है। मेरा स्वभाव त्रिकाल में पूर्ण निर्मल शाश्वत् अनन्त शक्ति से भरा हुआ है, उसकी प्रतीति के बल से एक समय में पूर्ण आनन्द प्रगट करने की शक्ति है; उसकी

यथार्थ स्वीकृति करनेवाला केवली हो जाता है, क्योंकि अविकारी पूर्ण केवलज्ञानघन हूँ, ऐसी पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से पूर्ण स्वभाव तक पहुँचनेवाली प्रतिक्षण निर्मल पर्याय प्रगट होती है। पहले यथार्थ स्वरूप का बहुमान करके यदि उसके लक्ष्य की रुचि को बढ़ाये तो यथार्थता प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

ज्ञानी राज्यादि के कार्यों में लगा हो, बाह्य में बहुत-सी प्रवृत्ति हो तथापि वह आत्मा की यथार्थ प्रतीति होने के कारण स्वभाव नि:सन्देहता में प्रवृत्तमान रहता है। वर्तमान अशक्ति से शुभाशुभ राग में युक्त होता है तथापि उसे आदरणीय नहीं मानता, पुण्य-पाप की क्रिया में स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं मानता। निरावलम्बी अविकारी स्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है इसलिए निर्मलता की उत्पत्ति क्रमश: होती रहती है। जिसकी वर्तमान पर्याय पर दृष्टि है, शुभाशुभ विकार में कर्तृत्व की दृष्टि है और जो बाह्य प्रवृत्ति को अपनी मानता है, वह भले ही मुनि होकर ध्यान में बैठा हो तथापि उसकी पर में कर्तृत्वबुद्धि होने से प्रति समय अशुद्धता की उत्पत्ति और गुण की अवस्था का नाश होता रहता है।

शुभाशुभ विकार के भाव को अपना स्वरूप मानना सो मिथ्यात्व है। सम्पूर्ण आत्मा का लक्ष्य करना सो प्रमाण है। एक वस्तु को एक पहलू से लक्ष्य में लेकर दूसरे पहलू को गौण करना सो नय है। अखण्ड शुद्ध पहलू से देखना सो शुद्धनय-निश्चयनय है, और मलिन-अपूर्ण अवस्था के पहलू से देखना सो व्यवहारनय है। यह दोनों नय श्रुत-प्रमाणरूप सम्पूर्ण ज्ञान के एक-एक अंश-भाग हैं। सम्यक् श्रुतज्ञान के द्वारा अवस्था को और त्रिकाल पूर्ण स्वभाव को एक साथ ज्ञान में माप लेना सो श्रुतज्ञान है। शुद्धनय भी श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश है। श्रुतप्रमाण परोक्षप्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ वीतराग के वचनरूप आगम द्वारा जाना है, इसलिए यह शुद्धनय सर्वद्रव्यों से भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्व लोकालोक को जाननेवाला, असाधारण चैतन्य धर्म को परोक्ष दिखाता है। श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता किन्तु वह प्रत्यक्ष का कारण है। शुद्धनय से, स्वाश्रित लक्ष्य से अविकारी ध्रुव एकाकार स्वभाव को मानना सो सम्यग्दर्शन है।

यह बात समझने योग्य है। एक आत्मा की यथार्थ समझ के बिना अनन्त काल व्यतीत हो गया जिसमें पशु-नारक आदि के घोर दु:ख अनन्त बार भोगे हैं, अब अनन्त

काल में यह दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है, इसलिए यथार्थ मनन करना चाहिए। यदि कोई यह कहे कि अभी मेरे पास साधन नहीं है या निवृत्ति नहीं है तो वह झूठा है। यदि सच पूछा जाये तो इसी समय सर्व सुयोग हैं, क्योंकि आत्मा वर्तमान में अन्तरंग के सर्व साधनों से परिपूर्ण है। अन्तरंग साधन से ही सब कुछ हो सकता है। देह, मन, वाणी की प्रवृत्तिरूप आत्मा नहीं हो गया है, नरक में भयंकर प्रतिकूलताओं के संयोग में रहने पर भी आत्मा में कोई प्रतिकूलता नहीं आ गयी है, ऐसी प्रतीति करके वहाँ भी प्रतिकूलता के संयोग होने पर भी आत्मा शांति भोग सकता है। अनन्त जनम-मरण का नाश करनेवाले यथार्थ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का वास्तविक कर्तव्य है, यही मोक्ष का बीज है।

शुद्धनय पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप को परोक्ष दिखाता है। यदि पहले परोक्ष प्रतीति न करे तो प्रत्यक्ष प्रतीति भी न हो। जो यह कहता है कि जो कुछ अपनी आँखों से देखा जाये वही मानना चाहिए, तो वह नास्तिक है। अनुभव से तो प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञानी कहते हैं; किन्तु जो यह कहता है कि मैं तो प्रत्यक्ष देखने पर ही मानूँगा तो वह नास्तिक ही है, क्योंकि पूर्ण प्रत्यक्ष होने के बाद मानने को क्या शेष रह जाता है।

इस समयसार शास्त्र में किसी वस्तु का स्वभाव शेष नहीं है। 'ग्रन्थाधिराज तुझमें हैं भाव ब्रह्माण्ड के भरे'। विश्व की जितनी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब और स्वभाव की ओर की अनुकूल बाजू एवं तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नों का स्पष्टीकरण इस महान ग्रन्थ में है। धैर्यपूर्वक अपूर्व पात्रता के द्वारा सुने, क्रमशः श्रवण-मनन की पद्धति से अभ्यास करे तो कुछ कठिन नहीं है। इस समय तो लोगों ने बाह्यक्रिया में और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में धर्म मानकर और मनवाकर वीतराग के शासन को छिन्न-भिन्न कर डाला है, और समयसार में अन्तरंग तत्त्व की जो प्राथमिक बात सम्यग्दर्शन सम्बन्धी कही है, उसे उच्च भूमिका की बात मानते-मनवाते हैं; इसलिए तटस्थ भाव से विचार करना चाहिए।

प्रश्नः—जब यह सब बुद्धि में जमेगा तभी तो माना जायेगा?

उत्तरः—किसी साहूकार के यहाँ पचास हजार रुपया ब्याजपर रखना हों और वहाँ जाकर वह उस साहूकार को कहे कि पहले यह बताइये कि आपके पास कितनी जायदाद है, तथा उसके लिये अपने बही-खाते भी दिखाओ, साथ ही यह भी कहे कि अपने घर

के गहने आदि भी दिखाओ एवं अपनी प्रतिष्ठा का भी प्रमाण दो; तभी मैं आपके यहाँ अपने रुपये ब्याज पर रखूँगा। ऐसा कहनेवाले को साहूकार स्पष्ट सुना देगा कि मुझे तेरे रुपयों की आवश्यकता नहीं है, तू अपना रास्ता नाप। यदि उस साहूकार के मुनीम से पूछा जाये तो वह भी कहेगा कि सब कुछ नहीं बताया जा सकता, किन्तु तू स्वयं आकर दुकान पर बैठ, यह देखकर प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में स्वत: जानकारी कर ले कि यहाँ हुंडियाँ कैसी चल रही हैं; इस प्रकार कुछ दिन परिचय करके जान ले, इसके बाद यदि तुझे स्वयं विश्वास आये तो रुपये जमा करा देना। इसके बाद ऐसा करने पर जब विश्वास जमता है तो रुपया जमा कराता है; तथापि संसार के विश्वास में कहीं अन्तर पड़ सकता है, किन्तु परमार्थ में सत् ही आता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। किसी भी ऋद्धि अपनी आँखों से देखकर ही विश्वास करूँगा ऐसा कभी नहीं बनता; उसी प्रकार आत्मा में कितनी ऋद्धि भरी हुई हैं, यह दिखाओ तभी मानूँगा, तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। किन्तु विचार करे कि जो वस्तु है, सो नित्य है, ज्ञायकस्वभाव को कोई नहीं रोक सकता, कोई नहीं दे सकता इसलिए स्वभाव स्वतन्त्र हैं। जिसका स्वभाव सतत जाननेरूप है वह अपूर्ण, हीन अथवा पर में अटकनेवाला नहीं हो सकता, यही निश्चित हो सकता है। ज्ञायकरूप से अरूपी आत्मा और उसका अरूपी ज्ञान परोक्षप्रमाण से बराबर जाना जा सकता है। जिनके अल्प और अपूर्ण अवस्था या विकार नहीं है वे ही पूर्ण केवलज्ञानी हैं ऐसा निर्णय करना चाहे तो निश्चय हो सकता है। इसलिए सत् समागम में रहकर परिचय करके ध्यान रखकर सुनना चाहिए और अन्तरंग से समझना चाहिए।

जो वस्तु नित्य है, उसमें पूर्ण स्वाधीन शक्ति भरी हुई है। यदि स्वाधीनतया पूर्ण शक्ति न हो तो वह वस्तु ही नहीं है। जो 'है' उसे 'नहीं' कैसे कहा जा सकता है ? जो 'है' सो स्वाधीन है, उसे पराधीन कैसे कहा जा सकता है ? स्वयं नित्य जैसा है, वैसा अपने को जानना चाहिए और पररूप से-उपाधिरूप से नहीं है ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार त्रिकाल पूर्ण एकत्व का निर्णय करके अल्पज्ञान में पूर्ण ज्ञान की श्रद्धा करे तो प्रत्यक्ष केवलज्ञानी हो सकता है।

जैसे साहूकार की पेढ़ी में हुंडियों के लेन-देन में किसी प्रकार का कोई विरोध न देखे तो फिर उसके घर की सब बात जानने से पूर्व ही उसका विश्वास कर लिया जाता

है, इसी प्रकार केवलज्ञानी के वचनों के अविरोधी न्यायरूप आगम का सत् समागम के द्वारा परिचय करके, श्रवण करके निज को अविरोधीपन से तत्त्व का जो एक न्याय जम जाता है, उसे अपने आत्मा में परिपूर्ण विश्वास होता है। वह श्रुतज्ञानप्रमाण परोक्ष है तथापि प्रत्यक्ष स्वभाव की प्राप्ति का कारण है, यह जानकर छद्मस्थ-मतिश्रुतज्ञानी जीव वीतराग द्वारा कथित आगम को प्रमाण करके, शुद्धनय से ज्ञात अविकारी पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करता है, सो निश्चयसम्यग्दर्शन है।

जहाँ तक केवल (मात्र) व्यवहारनय के विषयभूत नव तत्त्व के विचार में जीव रुकता है, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। निमित्ताधीन अवस्था में शुभाशुभ विकारी भाव के द्वारा मुझे गुण प्राप्त होगा ऐसा माने, अथवा नव तत्त्व के शुभराग को करनेयोग्य माने, हितकर माने, अपना माने तो उससे मिथ्यादृष्टिता दूर नहीं होती। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जितने शुभाशुभ भाव हैं, वे सब व्यवहार के पक्ष में जाते हैं। पश्चात् उन नव तत्त्वों की श्रद्धा हो तो भी वह केवल व्यवहार का पक्ष होने से वहाँ मिथ्यादृष्टि ही है। पूर्ण स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बाद धर्मात्मा को जहाँ स्थिर नहीं हो सकता वहाँ नव तत्त्व के विचार की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु उसे उसका अन्तरंग से आदर नहीं होता। इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि नव तत्त्वों की परिपाटी को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो, हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं? इतना सब समझने का कष्ट क्यों किया जाये? दो अपेक्षाओं का ज्ञान करना, और फिर प्रमाण करना, और उसमें भी अवस्थादृष्टि को गौण करना एवं निश्चयदृष्टि को मुख्य करना, इतना सब समझने की अपेक्षा 'आत्मा चैतन्य है' इतना मानने में निर्मलता की उत्पत्ति और मलिन अवस्था का नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन आया या नहीं?

समाधानः—नहीं, नास्तिक मतावलम्बियों के अतिरिक्त सभी आत्मा को चैतन्य मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सभी को सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा। सर्वज्ञ वीतराग ने तीन काल और तीन लोक का यथार्थ स्वरूप अपने ज्ञान से

साक्षात् जानकर आत्मा का जैसा स्वतन्त्र पूर्ण स्वरूप कहा है वैसा ही सत्समागम से जानकर स्वभाव से निश्चय करके वैसा ही श्रद्धान करने से यथार्थ सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ के ज्ञान को स्वीकार करनेवाले ने यह निश्चय किया है कि अल्पज्ञ जीव भी अपूर्ण अवस्था के समय भी सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में पूर्ण होने की शक्तिवाले हैं, मेरे ज्ञानगुण की एक समय की अवस्था में तीन काल और तीन लोक को एक ही साथ जानने की अपार शक्ति है। पूर्ण को स्वीकार करनेवाला प्रतिसमय पूर्ण तक पहुँचने की शक्ति रखता है। परोक्षज्ञान में भी यथार्थ निर्णय आये कि यह वस्तु वर्तमान में भी स्वतन्त्र त्रिकाल अखण्ड अविकारीरूप से परिपूर्ण है, इस प्रकार शुद्धनय से जानना सो निश्चयसम्यक्त्व होने का कारण है।

किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सर्वज्ञ वीतराग कौन हैं, उन्होंने क्या कहा है, सच्चे नव तत्त्व और देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप क्या है, उसकी तो बात ही क्या की जाये? यदि सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने तो उनके कहे हुए को स्वयं यथार्थ समझे और जाने। जैसा सर्वज्ञ भगवान का पूर्ण स्वभाव है वैसा ही परमार्थ से प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा शुद्धनय के आश्रय से होती है। यह बात चौथे श्लोक में टीकाकार आचार्य ने कही है:—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नव-तत्त्व-गतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति।।७।।

तत्पश्चात् शुद्धनयाधीन जो सर्व परद्रव्यों से भिन्न, पर-निमित्त के विकारी भावों से भिन्न तथा मन के विकल्पों से परे ऐसी चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्मज्योति है सो प्रगट होती है, क्योंकि वर्तमान अवस्था में नव तत्त्वों के विकल्पों में व्यवहार से अटकने पर अनेक प्रकार से दिखायी देती है, तथापि शुद्धनय से देखने पर अपने एकरूप ध्रुवस्वभाव को नहीं छोड़ती। इस प्रकार आत्मा को परिपूर्ण माने और न्याय से बराबर जानकर शुद्धनय के द्वारा पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा करे तो विकार का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और अल्प काल में मोक्ष को प्रग्रट करने का सच्चा कारणभूत निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार प्रवचन

भाग-२

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
संकलित प्रवचन
(गाथा क्रमांक १३ से ३३ तक)

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ
ललितपुर (उत्तरप्रदेश)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रकाशकीय

ग्रंथाधिराज श्री समयसार-प्रवचन का द्वितीय भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्व लाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रन्थराज की विस्तृत व्याख्या का प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है, यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रन्थराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से ही मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावना में दिया हुआ है, इसलिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसार में कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवान के पादमूल में आठ दिवस तक रहकर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवों के लिए उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों के रूप से परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवं भविष्य में भी लगेंगे।

इसी प्रकार समयसार के अत्यन्त गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों का प्रकाशन करनेवाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी भगवान के गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गम्भीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिए उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवं रुचि की मन्दता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवं रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्व की जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से

समयसार के मर्मज्ञ एवं अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के सत् समागम का महान लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुननेवाला धुनिया रुई के बँधे पिण्ड को धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है। उसी प्रकार आपने भी समयसार के एवं उसकी टीका के गम्भीर से गम्भीर एवं गूढ़ रहस्यों को इतनी सरल एवं सादी भाषा में खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धिवाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्त काल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए हम मन्द बुद्धिवाले जीवों पर तो श्री कानजीस्वामी का महान-महान उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होती ? इसलिए हमारे पास आपके उपकार का वर्णन करने के लिए कोई शब्द ही नहीं है। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीरस्वामी के समय में दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेप में ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवों की रुचि, आयु, बल और क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान का निर्वाण होने के करीब पाँच सौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्त्व का श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूप में संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उनकी और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या हो गयी और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवं सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करनेवाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजीस्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी संकलनता किस प्रकार किसके द्वारा और क्यों की गयी, यह सब प्रस्तावना में खुलासा किया गया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् पण्डित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अति उत्साह से यह अनुवाद-कार्य किया।

अन्त में पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजीस्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसार को नष्ट कर देनेवाले सत्धर्म की प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १ — भवदीय—

वीर नि० सं० २४७६ — **नेमीचन्द पाटनी, आगरा**

इस आवृत्ति का निवेदन

श्री समयसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गये प्रवचनों से अनेक मुमुक्षुओं को इस अध्यात्मशास्त्र का सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझने में तथा आत्मप्रतीति करने में बहुत सहायता मिली है। इसकी प्रथमावृत्ति करीब २५ वर्ष पहले श्री पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित हुई थी; इस बीच इसकी खूब माँग बनी रही। अब इसकी तृतीयावृत्ति संशोधन सहित प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष होता है।

ब्रह्मचारी श्री गुलाबचन्दजी, सोनगढ़ ने जिनवाणी की भक्तिवश यह प्रवचन गुजराती भाषा में लिख लिये थे; आज समयसार प्रवचन भाग-१ और भाग-२ के रूप में गुजराती भाषा में प्रकाशित हुए और फिर उन्हीं प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद श्री पंडित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ने बड़े ही परिश्रम से लगनपूर्वक किया जो दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। उपरोक्त दोनों महानुभावों के हम अत्यन्त आभारी हैं। अजित मुद्रणालय के संचालक श्री मगनलाल जैन ने इस आवृत्ति का मुद्रणकार्य बड़ी सावधानीपूर्वक किया है। अत: उनका भी हम आभार मानते हैं।

इसे पढ़कर मुमुक्षुजन सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझकर आत्मसाधना में तत्पर हों-ऐसी भावना है।

वीर नि०सं० २५०३
पौष शुक्ल २

-साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ॐ

समयसार प्रवचन

(भाग-२)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर
परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के संकलित प्रवचन
(गाथा १३ से प्रारम्भ)

भूमिका

यथार्थ नवतत्त्वों के विकल्प से छूटकर निर्मल एक स्वभावता को शुद्धनय से जानना, सो निश्चय सम्यक्त्व है, यह बात तेरहवीं गाथा में कही जायेगी।

धर्म—आत्मा का निर्मल स्वभाव—आत्मा में ही स्वाधीनरूप से है, वह न तो बाहर से आता है और न बाहर की सहायता से आता है; किसी भी पर से या शुभविकल्प की सहायता से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव पर संयोगाधीन विकारी अवस्था का कर्ता होकर अपने को देहादिक तथा रागादिरूप से पर की क्रिया करनेवाले के रूप में मानता है, किन्तु परमार्थ से आत्मा सर्व से भिन्न है, प्रतिसमय अनादि-अनन्त पूर्ण है और स्वतन्त्र है।

आत्मा में अनन्त गुण भरे हुए हैं, उसकी यथार्थ प्रतीति करके, विकारी भावों का त्याग करके निर्मल निराकुल ज्ञानानन्द स्वभाव को प्रगट करने को कहा है। जो हो सकता है, वही कहा जाता है। आत्मा बाहर का कुछ नहीं कर सकता इसलिए वह नहीं कहा गया है। आत्मा अपने में ही अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है, बाह्य में कुछ नहीं कर सकता।

जो कोई आत्मा अपना भला (कल्याण) करना चाहता है, वह यदि स्वाश्रित हो तभी कर सकता है। यदि बाहर से लेना पड़े तो पराधीन कहलाता है। आत्मा का धर्म

स्वाधीन अपने में ही है। संयोग है उसमें भी धर्म नहीं है। परवस्तु आत्मा के लिए व्यवहार से भी सहायक नहीं है। आत्मा के स्वाधीन गुणों को कोई ले नहीं गया है इसलिए कोई दे भी नहीं सकता। पुण्य-पाप का संयोग और पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकारी भावों से अविकारी आत्मधर्म प्रगट होगा इस प्रकार जो मानता है उसे आत्मा के स्वतन्त्र गुण की श्रद्धा नहीं है; वह अपने को परमुखापेक्षी और निर्वीर्य पराधीन मानता है।

आत्मा में शक्तिरूप से समस्त गुण प्रतिसमय परिपूर्ण हैं, किन्तु मान्यता में अन्तर हो जाने से बाह्यदृष्टि के द्वारा दूसरे से गुण-लाभ मानता है। अन्य पदार्थों में अच्छाई-बुराई मानना ही मान्यता का अन्तर है। जो यह मानता है कि भीतर गुण विद्यमान ही हैं उसका अनन्त संसार विद्यमान है, और जो यह मानता है कि अन्तरंग में समस्त गुण विद्यमान हैं, उसकी दृष्टि भीतर की ओर जाती है, तब वहाँ एकाग्रता होती है अर्थात् गुण की अवस्था निर्मल हुआ करती है और अवगुण की अवस्था का नाश होता जाता है।

जो पूर्ण निर्मलस्वरूप आत्मा की प्रतीति के बिना, पर से धर्म मानता है और देव, गुरु, शास्त्र से धर्म मानता है तथा शरीर रुपया-पैसा इत्यादि जड़ पदार्थों से धर्म मानता है उसकी मान्यता विपरीत है, जिसमें कौआ, कुत्ता, नारकी इत्यादि के अनन्त भव विद्यमान हैं।

परमार्थदृष्टि के द्वारा यथार्थ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही वास्तविक कर्तव्य है। वह सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप कहलाता है। वह परम अद्‌भुत, अलौकिक, अचिंत्य है। यह ऐसा स्वरूप है कि जिसे लोगों ने अनन्त काल में न तो माना है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। उसका रहस्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को सर्वज्ञ परमात्मा के निकट से प्राप्त हुआ था और उन्होंने उसका स्वयं अनुभव किया था जो कि यहाँ तेरहवीं गाथा में कहते हैं।

जिसे अन्तरंग स्वभाव के गुणों की प्रतीति नहीं जमती, और जो यह मानता है कि बाह्य में कुछ करूँ तो गुण-लाभ हो; मन, वाणी, देह तथा इन्द्रियों से और देव, गुरु, शास्त्र आदि संयोगी परवस्तु में आत्मस्वभाव प्रगट होता है, वह जीव-अजीव को एक मानता है। उसे असंयोगी स्वाधीन आत्मस्वरूप की श्रद्धा नहीं है। जैसे सिद्ध भगवान देहादि संयोग से रहित अनन्त गुणों से अपने पूर्ण स्वभावरूप हैं, वैसे ही प्रत्येक जीव सदा परमार्थ से

अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है। एकेन्द्रिय में अथवा निगोददशा में भी स्वभाव से तो पूर्ण प्रभु ही है।

मैं अन्तरंग के अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ, असंयोगी हूँ, अविनाशी हूँ, स्वतन्त्र हूँ और पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार स्वभाव को भूलकर जो यह मानता है कि मैं दूसरे से सन्तुष्ट होऊँ, दूसरे को सन्तुष्ट करूँ और किसी की कृपा से लाभ हो जाए, इस प्रकार दूसरों से गुण-लाभ मानता है, उसे यह खबर ही नहीं है कि स्वतन्त्र आत्मा क्या है; धर्म की प्रारम्भिक इकाई (सम्यग्दर्शन) क्या है। जो यह मानता है कि पुण्य-पाप के विकारी भाव अथवा मन, वाणी या देह की सहायता से निज को गुण-लाभ होता है, वह अनित्य संयोग में शरण मानता है। किसी का आधार मानने का अर्थ यह है कि अपने में निज की कोई शक्ति नहीं है, यह विपरीत मान्यता ही अनन्त संसार में परिभ्रमण करने का बीज है।

जैसे पूर्ण गुण सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा में हैं वैसे ही पूर्ण गुण मुझमें भी हैं, ऐसी श्रद्धा के बल से मलिनता का नाश और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उपाय बताये तो वह निरा पाखण्ड है, संसार में परिभ्रमण करने का उपाय है।

निर्मल स्वभाव की प्रतीति करने के बाद सम्यग्ज्ञान के द्वारा वर्तमान विकारी अवस्था और संयोग का निमित्त इत्यादि जैसा है वैसा ही जानता है, किन्तु यदि उसके कर्तृत्व को या स्वामित्व को माने अथवा शुभराग को सहायक माने तो वह ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है। मैं शुद्धनय से एकरूप पूर्ण ध्रुवस्वभावी हूँ, ऐसी प्रतीति किये बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट नहीं होता क्योंकि दृष्टि की भूल से ज्ञान की और चारित्र की भूल अनादि काल से चली आ रही है।

सच्चे नवतत्त्व के विचाररूप विकल्प शुभभाव हैं, उन्हें यथावत् जानना सो व्यवहार है, किन्तु वह अविकारी एकरूप स्वभाव के लिए सहायक नहीं है। मैं निरावलम्बी एकरूप पूर्ण हूँ, ऐसी यथार्थ श्रद्धा का बल हो तो सच्चे नवतत्त्वों के शुभभाव के व्यवहार को निमित्त कहा जाता है, किन्तु यदि मात्र शुभभाव की श्रद्धारूप नवतत्त्व में रत हो तो व्यवहारनयाभास कहलाता है।

जगत की मिठास, धन, मकान, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि तथा रोग, अप्रतिष्ठा आदि पुण्य-पाप के संयोग में आत्मा का किंचित्मात्र हित नहीं है। वह सब जोंक के समान है।

अशुद्ध-विकारयुक्त रक्त को पीकर जोंक मोटी दिखायी देती है किन्तु वह कुछ समय पश्चात् मर जाती है, उसी प्रकार पुण्य-पाप के संयोग से माना हुआ बड़प्पन क्षण भर में नष्ट हो जाता है। उससे किंचित्मात्र शोभा मानना भगवान चिदानन्द आत्मा के लिए लज्जा की बात है।

जो अविनाशी हित प्रगट करना है, वह यदि शक्तिरूप से स्वभाव में ही न हो तो प्रगट नहीं हो सकता। निमित्ताधीन दृष्टि ने अड्डा जमाया है इसलिए अज्ञानी यह मानता है कि मुझे कोई दूसरा सुख दे देगा। इसी प्रकार की विपरीत श्रद्धा ही संसार है, बाह्य में संसार नहीं है।

आत्मा पूर्ण परमात्मा के समान ही है, उसमें कोई परवस्तु अथवा राग-द्वेष घुस नहीं गये हैं। शुभाशुभ विकाररूप भूल स्वभाव में नहीं है, किन्तु परलक्ष्य से विपरीत मान्यता के पुरुषार्थ से उत्पन्न हुई क्षणिक विकारी अवस्था है। भूलरहित त्रिकाल अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से एक क्षण भर में अनादिकालीन भूल को दूर करने की शक्ति प्रति समय विद्यमान है।

अब, निश्चयसम्यक्त्व के स्वरूप की गाथा कहते हैं:—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्।।१३।।

अर्थ:—भूतार्थनय के द्वारा जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष (यह नवतत्त्व) सम्यक्त्व हैं।

यहाँ सम्यक्त्व की चर्चा हो रही है। श्रावक के व्रत और मुनित्व सम्यक्त्व के बाद ही होते हैं। निश्चय परमार्थरूप सम्यक्त्व के बिना जितने भी क्रियाकाण्ड, व्रत, तप इत्यादि किये जाते हैं, वे सब बालव्रत और बालतप हैं, ऐसा ही श्री सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। शुभभाव भी विकारी (आस्रव) भाव हैं, उनसे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। ज्ञानी को भी महाव्रतादि के शुभभाव से लाभ नहीं होता, किन्तु अविकारी अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य

से जितनी स्थिरता प्रगट होती है उतना लाभ होता है। जब तक सम्पूर्ण राग दूर नहीं हो जाता, वीतराग नहीं हो जाता तब तक अशुभ में न जाने के लिए व्रतादि के शुभभाव हुए बिना नहीं रहते, किन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वभाव का नहीं मानते। जो शुभभाव से लाभ मानते हैं, उन्हें स्वतन्त्र स्वभाव के गुण की श्रद्धा नहीं है।

प्रश्न : आत्मा के गुणों की फसल कहाँ से बढ़ती है ?

उत्तर : स्वभावाश्रित सम्यग्दर्शनरूपी बीज से और सम्यग्दर्शन के द्वारा की गयी अखण्ड स्वलक्ष्य की स्थिरता से। किन्तु स्मरण रहे कि शुभभाव से अथवा किसी भी विकार से अविकारी आत्मा को कदापि गुण-लाभ नहीं होता। गुण तो स्वभाव में ही विद्यमान हैं। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुण की पर्याय प्रगट होती है, उसे व्यवहार से यह कहा जाता है कि-'गुण प्रगट हुए हैं'।

जड़ कर्माधीन जो पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति उठती है सो अभूतार्थ है, नव तत्त्व का विकल्प भी अस्थायी क्षणिकभाव है, इसलिए वह अभूतार्थ है, स्वभाव में स्थिर होनेवाला नहीं है। नव तत्त्व के भेद तथा सर्व विकारी अवस्था के भेदों को गौण करके नित्य एकरूप ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेनेवाली दृष्टि को शुद्धनय अथवा भूतार्थदृष्टि कहते हैं।

नव तत्त्वों का मन के द्वारा विचार करना सो शुभराग है। वह शुभ-विकल्प परिपूर्ण यथार्थ तत्त्व के समझने में बीच में निमित्तरूप से आये बिना नहीं रहता; किन्तु उस विकल्प का अभाव करके, क्षणिक विकारी अंश को गौण करके, शुद्धनय के द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जानकर उसकी श्रद्धा करे सो सम्यग्दर्शन है। स्वभाव के बल से निश्चय एकत्व की श्रद्धा होती है, वहाँ नव तत्त्व के विचार की प्रथम उपस्थिति थी इसलिए वह निमित्त कहलाता है।

स्वयं ही पूर्ण कल्याणस्वरूप स्वतन्त्र है, उस स्वभाव के लक्ष्य से नव तत्त्व के भेद को छोड़कर निर्मल एकत्व की श्रद्धा में स्थिर होना सो उसे सर्वज्ञ भगवान ने सम्यक्त्व कहा है।

टीका:—जीवादिक नव तत्त्वों को शुद्धनय से जाने और जानने के बाद विकल्प

को गौण करके स्वभावोन्मुख होकर एकरूप स्वभाव को जाने सो नियम से सम्यग्दर्शन है। यह धर्म की पहली सीढ़ी है। इसके बिना व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि शुभभाव करके राग को कम करे और तृष्णा को घटाये तो पुण्य होता है, किन्तु उससे किंचित्मात्र भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होता। आगे ३९वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि - जो शुभाशुभ भाव को आत्मा का स्वरूप मानता है, वह मूढ़ है।

अन्तर में भूतार्थ (त्रैकालिक पदार्थ) नित्य पूर्ण शक्ति से भरा हुआ है, उसकी महिमा लाकर, उसी का लक्ष्य करके अन्तरंग में न ढले और मात्र नव तत्त्वों के विचार में लगा रहे तो उसे पुण्य होता है, किन्तु अनन्त गुणस्वरूप द्रव्य की श्रद्धा नहीं होती। अज्ञानी जीव यह मानता है कि नव तत्त्वों का विचार करते-करते भीतर गुण प्रगट हो जायेंगे, किन्तु शुभभावों के द्वारा आत्मा का स्वभाव त्रिकाल में भी प्रगट नहीं हो सकता। जो सत् है वह सत्रूप से ही रहेगा, त्रिकाल में भी सत् में असत्पना नहीं आ सकता। नव तत्त्वों को राग के भेदों से रहित भूतार्थ के द्वारा (स्वभाव की अन्तरंग निर्मल दृष्टि से) जानना सो सम्यक्त्व है, इस प्रकार सर्वज्ञों ने कहा है।

यदि कोई ठीकरों का संग्रह करके उन्हें रुपया माने तो वह अज्ञानी है, उसी प्रकार जो यथार्थ वस्तु को न जानकर उससे विपरीत मार्ग में बाह्य में अपने माने हुए कार्य से सन्तोष माने तो वह अज्ञानी है। यदि कोई व्यवहारिक नव तत्त्वों की श्रद्धा से अथवा उनके विकल्प से, पुण्य से या देहादिक जड़ की क्रिया से या शुभराग के आचरण से धर्म माने तो वह अपनी ऐसी विपरीत धारणा के बनाने में स्वतन्त्र है किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के अन्तरंग मार्ग में वह विपरीत धारणा कार्यकारी नहीं होगी, अर्थात् उस विपरीत धारणा से कदापि धर्म नहीं होगा। शुभाशुभभाव मोक्षमार्ग नहीं किन्तु बन्धनमार्ग है, संसार में परिभ्रमण करने का मार्ग है; भगवान ने रागरहित दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सद्भूत व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है।

आत्मा के अभेद परमार्थ स्वरूप को समझाने के लिए पहले निमित्तरूप से तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थ (व्यवहार) नय से नव तत्त्वों के भेद किये जाते हैं कि जो इन्हें जानता है सो आत्मा है और जो नहीं जानता सो अचेतन-अजीव है। कर्म के निमित्ताधीन जो शुभाशुभभाव होते हैं, सो पुण्य-पाप के विकारी भाव हैं, इसलिए वे आस्रव हैं, और उनमें युक्त होने से बन्ध होता है। आत्मा को पहिचानकर स्थिर होने से

संवर-निर्जरारूप अवस्था होती है, तथा स्वभाव में पूर्णरूप से स्थिर होने से मोक्षरूप पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है।

इस प्रकार नव तत्त्वों की परिभाषा को जाने बिना परमार्थ को नहीं जाना जा सकता, इसलिए तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए अनेक प्रकार के अभूतार्थ भेदों से भूतार्थ एकरूप आत्मा को कहते हैं। वास्तव में तो उससे धर्म नहीं होता तथापि उसकी उपस्थिति होती है। जब श्रद्धा में उसका अभाव करे और नव प्रकार के विकल्पों को छोड़कर एकरूप अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य करे तब नव तत्त्व का व्यवहार निमित्त कहलाता है, वह अभावरूप से निमित्त है।

पहले यथार्थ नव तत्त्वों के समझने में (गुरु आदिक तो निमित्त हैं) एकत्व को प्रगट करनेवाला शुद्धनय ही है। यदि स्वभावोन्मुख न हो और मात्र देव, गुरु, शास्त्र तथा नव तत्त्वों के शुभराग में अटक जाये तो वह पुण्य है।

सच्चे नव तत्त्वों की पहिचान में देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान आ जाती है। उसका स्वरूप संक्षेप में कहा है:—

जीव तत्त्वः—राग-द्वेष, अज्ञानरहित असंयोगी शुद्ध आत्मा को मानना सो निश्चयश्रद्धा है।

अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, बन्ध—इन पाँच तत्त्वों को आत्मा के स्वभाव में नास्तिरूप मानना, वे हेयरूप हैं ऐसी श्रद्धा करना; कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आस्त्रव और बन्ध के कारणभूत होने से हेयरूप तत्त्व हैं, उनकी भी हेयरूप श्रद्धा इन पाँच तत्त्वों में आ जाती है।

संवर निर्जराः—वह निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्ग है साधकभाव है। आचार्य, उपाध्याय, साधुरूप में जो श्रीगुरु हैं, उनका स्वरूप संवर-निर्जरा में आ जाता है।

मोक्षः—पूर्ण निर्मल अवस्था मोक्ष है; अरहन्त और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, उनका स्वरूप मोक्ष में आ जाता है।

जिसने ऐसे नव तत्त्वों को नहीं जाना उनकी यहाँ बात नहीं है। वीतरागदेव के शास्त्रों से या सत्समागम से जिसने सच्चे नव तत्त्वों को जान लिया है तथापि यदि वह नव तत्त्वों

के विकल्प में ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नव प्रकार में से शुद्धनय के द्वारा एकरूप ज्ञायक हूँ इस प्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सो सम्यक्त्व है। दान, पूजा इत्यादि शुभभाव हैं और हिंसा, असत्य आदि अशुभ भाव हैं। उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है, यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है। इससे पुण्य के शुभभाव छोड़कर पाप में जाने को नहीं कहा है। विषय-कषाय-देहादि में आसक्ति, रुपया-पैसा और राग की प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावों में मात्र पापरूप अशुभभाव हैं, और दानादि में तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मन्दता इत्यादि हो तो वह शुभभाव-पुण्य है, इस प्रकार पुण्य-पाप को व्यवहार से भिन्न माने किन्तु दोनों को आस्रव मानकर उससे धर्म न माने; इस प्रकार नव तत्त्वों को भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।

धर्म की ऐसी बात यदि धीरज से एकाग्रतापूर्वक न सुने तो मूल वस्तु यकायक समझ में नहीं आती; पश्चात् भीतर ऐसा होता है कि यदि ऐसा मानेंगे कि ऐसे पुण्य के व्यवहार से पुण्य नहीं होता, तो धर्म और पुण्य दोनों से भ्रष्ट हो जायेंगे। किन्तु सत्य को समझे बिना त्रिकाल में भी संसार का अभाव नहीं हो सकता। अनादि काल से यथार्थ वस्तु की प्रतीति के बिना जितना किया और जितना माना है, वह सब अज्ञान ही है, उस सबको छोड़ना पड़ेगा। जिस भाव से अनन्त काल से संसार का सेवन किया है, वह भाव नया नहीं है। धर्म के नाम पर अन्तरंग स्वरूप को भूलकर अन्य सब अनन्त बार किया है किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ; मात्र शुभ-अशुभभाव हुए हैं किन्तु उन बन्धनभावों से अंशमात्र धर्म नहीं होता। पूर्वापर विरोध से रहित सच्चे नव तत्त्वों को जाने तब अभूतार्थ में (व्यवहार में) आता है, वह भी पुण्यभाव है; उससे पूर्ण परमात्मपद प्रगट नहीं होता।

जो समझने के मार्ग पर हो और जिसे समझने की रुचि हो, वह सत्य को समझे बिना नहीं रहता। यथार्थ समझ ही प्रथम धर्म है और समझ के अनुसार जो आत्मा में स्थिरता होती है, सो धर्मक्रिया है।

समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक परमात्मा है, एक सर्व-व्यापक ईश्वर है, वह जगत का आधार है, जगत का कर्ता है; इस प्रकार माननेवाला तो स्वभाव का शोधक भी नहीं है; जो सत् का जिज्ञासु नहीं है, उसे अभूतार्थ-व्यवहारनय का भी ज्ञान नहीं है। भगवान ऐसे रागी नहीं हैं कि किसी को कुछ दे दें अथवा देने की इच्छा करें। किसी के

आशीर्वाद से भला हो सकता है अथवा किसी की प्रार्थना करने से गुण प्रगट हो सकता है, इस प्रकार मानना सो घोर अज्ञान है, महा पाखण्ड है, निरा भ्रमा है।

मात्र नव तत्त्वों की श्रद्धा करके पुण्यबन्ध करे तो स्वर्ग में जाता है, किन्तु आत्मस्वरूप की प्रतीति के बिना वहाँ से आकर पशु इत्यादि में और फिर नरक निगोद इत्यादि गतियों में चौरासी के भवों में परिभ्रमण करता है। सत् तो जैसा होता है वैसा ही कहा जाता है, वह दुनिया को अनुकूल पड़ता है या नहीं उस पर सत् अवलम्बित नहीं होता। जिसे मानने से अहित होता हो वह कैसे कहा जा सकता है ?

जैसा यहाँ कहा है उसी प्रकार नव तत्त्वों का और परमार्थ श्रद्धा का स्वरूप सत्समागम करके स्वयं समझे, निर्णय करे और यथार्थ प्रतीति सहित निश्चय सम्यग्दर्शन को स्वयं पुरुषार्थ से प्रगट करे तो उसमें व्यवहार-श्रद्धा निमित्त कहलाती है।

आत्मा की यथार्थ पहिचान के बिना अथवा स्वरूप की प्रतीति के बिना जगत में कोई शरण नहीं है; मात्र अखण्डानन्द पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्रतीति ही परम शरणभूत है, स्वयं ही परम शरण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, उसी प्रकार नव तत्त्वों को प्रथम सत्समागम से जानो, पात्रता प्राप्त करके तत्त्वज्ञान का अभ्यास करो, स्वाधीन स्वरूप का परिचय करो, स्वतन्त्र परमार्थ को प्राप्त करनेवाले शुद्धनय के द्वारा निर्मल स्वभाव की श्रद्धा करो।

नव तत्त्वों के विकल्प से आत्मा का यथार्थ अभेदस्वरूप नहीं समझा जा सकता, किन्तु उन नव प्रकार के भेदरूप मैं हूँ, इस प्रकार नहीं यदि विकल्प और विचार का भेद छोड़कर ऐसी श्रद्धा करे कि मैं त्रिकाल पूर्ण हूँ तो आत्मा का स्वभाव समझ में आ सकता है। यदि आत्मा का सच्चा सुख चाहिए तो यथार्थता को जानकर उसकी श्रद्धा करो। पुण्य -पाप के भाव धर्म की ओर के विकारी भाव हैं, अभूतार्थ हैं, आत्मा में टिकनेवाले नहीं हैं। इसलिए वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। इस प्रकार नव तत्त्वों में अटक जानेवाले अनेक भेदों से आत्मा को पृथक् मानकर एकरूप निर्विकल्प परमार्थभाव को अलग चुन लेना सो सम्यग्दर्शन है। शुद्ध नयाश्रित आत्मा के एकत्व का, निरपेक्ष निर्मलता का निश्चय करना चाहिए कि मैं स्वभाव से पूर्ण हूँ, एकाकार निर्मल ज्ञायकस्वभाव में निश्चल हूँ, नवतत्त्वों

के विकल्प से रहित हूँ; इस प्रकार शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति जो कि आत्मख्याति है—सम्यग्दर्शन है, उसकी प्राप्ति होती।

ऐसी श्रद्धा के बिना कि - मैं अक्रिय असंग पूर्ण हूँ, भव-रहितता का अनुभव नहीं होता और अतीन्द्रिय स्वानुभव के बिना स्वभाव के गुण की निर्मलता प्रगट नहीं होती। देखनेवाला और जाननेवाला स्वयं अपने को ही नहीं जाने और बाह्य में जो शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति दिखायी देती है उसे माने एवं उससे आगे जाये तो पापभाव को दूर करके दया, व्रतादि के शुभभाव करे और उसी में सम्पूर्ण धर्म मान बैठे तो उसे यथार्थ धर्म कहाँ से प्राप्त होगा ?

अपने को मन के शुभाशुभ विकल्पों से, नव तत्त्वों से भिन्न एकरूप ज्ञायक ध्रुवभाव से न देखे और यदि कोई बाह्य प्रवृत्ति बतलाये, पुण्य की बात करे कि कन्दमूल का त्याग कर दोगे तो धर्म होगा, तो उसे जल्दी स्वीकार कर ले; किन्तु यह न समझे कि पुण्य-पाप से भिन्न मेरा आत्मा क्या है; तो उससे यथार्थ धर्म कैसे प्राप्त होगा ? जाननेवाला तो स्वयं है किन्तु दूसरे को जानता है और अपने को भूल जाता है। यहाँ कन्दमूल के खाने या न खाने की बात ही नहीं है किन्तु बात तो यह है कि पापभाव को छोड़ने के लिए शुभभाव अवश्य करना चाहिए; लेकिन यह ध्यान रहे कि उससे धर्म नहीं होता।

जिससे तर जाते हैं वह तीर्थ कहलाता है, उसका जो उपाय ऊपर कहा है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। अखण्ड के लक्ष्य से नव तत्त्वों के शुभराग का जो खण्ड होता है वह आदरणीय नहीं है, स्वभाव नहीं है, यह जानना सो भी व्यवहार है। उसका आश्रय छोड़कर, भेद का लक्ष्य गौण करके, उसके अभावरूप निर्विकल्प निश्चयदृष्टि से अन्तरंग में एकाग्र होकर, उस अनुभव सहित पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर सम्यग्दर्शन होता है। उसे यथार्थ प्रतीति होती है कि मुझे परमात्मा के दर्शन हो गये अर्थात् पूर्ण निश्चय साध्य सिद्ध परमात्मस्वरूप का यथार्थ लक्ष्य प्राप्त हो गया। सम्यग्दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है।

प्रश्नः—क्या आत्मा के साक्षात्कार में तेज (प्रकाश) दिखायी देता है ?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है, सदा ज्ञानानन्दस्वरूप है और प्रकाश परमाणु है-पुद्गल की पर्याय है, रूपी है। अरूपी आत्मा में रूपी रजकण नहीं हो सकते।

सर्वज्ञ के न्यायानुसार विरोधरहित यथार्थ वस्तु का आत्मा में निर्णय होता है, अर्थात् जैसा स्वाधीन पूर्ण स्वभाव है उसकी प्रतीति का सन्तोष होता है कि अहो! मैं ऐसा हूँ; मैं सम्पूर्ण ज्ञानानन्द का पृथक् पिण्ड हूँ। प्रत्येक आत्मा इसी प्रकार परिपूर्ण है। उसकी एकाग्रता में निराकुल स्वभाव की जो अनुपम शान्ति प्राप्त होती, वह सहज है। यदि भीतर से पूर्ण स्वभाव का नि:शंक विश्वास प्राप्त हो तो स्वभाव सम्पूर्ण आनन्द से भरा ही हुआ है, उसमें से निर्मल स्थिरता और आनन्द प्राप्त होता है। निमित्त, विकल्प से आनन्द प्राप्त नहीं होता। यथार्थ तत्त्वज्ञान का अभ्यास होने के बाद अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य स्वभाव में मिल जाती है; सम्यग्दर्शन की ऐसी परम अद्भुत महिमा है।

इस प्रकार शुद्धनय से आत्म-सन्मुख होकर नव तत्त्वों का विचार करने पर एवं अखण्ड स्वभाव की ओर एकाग्र दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा होने में यथार्थ नव तत्त्वों का ज्ञान निमित्त होता है, इसलिए यह नियम कहा है। किन्तु यदि अन्तरंग अनुभव से निश्चय श्रद्धा न करे तो उसे वह निमित्त नहीं होता। जिसने वीतराग के द्वारा कहे गये यथार्थ नव तत्त्वों को ही नहीं जाना उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

सम्यग्दर्शन आत्मा के अनन्त गुणों में से श्रद्धा नामक गुण की निर्मल पर्याय है। यदि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण को मुख्य करके कहा जाए तो वह गुण अनादि-अनन्त हैं। जब उनकी शुद्ध अवस्था अप्रगट होती है, तब विकारी अशुद्ध अवस्था प्रगट होती है; उस अशुद्ध अवस्था को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। स्वभाव के लक्ष्य से यथार्थ श्रद्धान की निर्मल अवस्था उत्पन्न होने पर अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध हो जाती है, जिसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन के होने पर तत्काल ही चारित्र में पूर्ण स्थिरता-वीतरागता नहीं हो जाती।

जैसे आम में उसकी खट्टी पर्याय के समय ही खट्टेपन का नाश करनेवाला मीठा स्वाद शक्तिरूप से भरा हुआ न हो तो खट्टेपन का अभाव होकर मीठापन प्रगट नहीं हो सकेगा। वस्तु में जो शक्ति ही न हो वह उत्पन्न नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि आम में मिठास नवीन ही प्रगट हुई है, उसकी दृष्टि स्थूल है। पुद्गल में रस गुण अनादि-अनन्त है, उस गुण की अवस्था बदलती रहती है, इसलिए जिस समय रसगुण की खट्टी अवस्था

प्रगट होती है, उसी समय उस खट्टी अवस्था को बदलने की और उसमें मीठी अवस्था होने की शक्ति (योग्यता) ध्रुवस्वभावी गुण में प्रति समय भरी हुई है। यह सिद्धान्त सर्व प्रचलित है कि:—

'नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सतः'

अर्थात् - जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु और गुण एकरूप ध्रुव त्रिकाल स्थायी रहता है, मात्र उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। खट्टी-मीठी पर्याय की शक्तिरूप रसगुण पुद्गलद्रव्य में त्रिकाल भरा हुआ है। उसकी शक्ति के बल से खट्टी पर्याय का नाश और मीठी पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह रसगुण की ध्रुवता के कारण होती है और वह गुण द्रव्याश्रित है। इसी प्रकार आत्मा में उसका शान्त अविकारी स्वभाव अनन्त गुण से त्रिकाल एकरूप है। उसमें आनन्द-गुण की दो अवस्थाएँ हैं (१) विकारी, (२) अविकारी। यदि परवस्तु के सम्बन्ध के बिना वस्तु एकस्वभाव से रहे तो विकारी न हो। विकार पर से नहीं होता किन्तु अपनी योग्यता से (वैसे भाव करने से) पर्याय में क्षणिक विकार होता है। निमित्त संयोगरूप परवस्तु है। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है और अपने आधार से स्थिर रहकर अपनी अवस्था स्वतः बदलती है।

आत्मा ज्ञाता है। वह अपने निर्विकार अखण्ड एकरूप ज्ञायक स्वभाव को न देखकर, अपने स्वरूप को भूलकर परवस्तु पर लक्ष्य करता है और वह निमित्ताधीन होकर वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ से—मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, पर का कर्ता हूँ इस प्रकार विपरीत मान्यतानुसार क्रोध, मान, माया, लोभ की विकारी वृत्ति करता है। वह पुण्य-पाप की विकारी वृत्ति मेरी है और मैं विकारी हूँ—इस प्रकार मानना सो मिथ्यादृष्टि का विषय है।

मैं एकरूप ज्ञानानन्दस्वभावी निर्विकार त्रिकाल ध्रुव हूँ, ऐसी दृष्टि अविकारी स्वभाव को देखती है। पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति निमित्ताधीन नयी होती है जो कि वर्तमान में पुरुषार्थ की अशक्ति से होती है, कोई बलात् नहीं कराता। उस क्षणिक राग-द्वेष विकल्प जितना ही मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव से एकरूप रहनेवाला हूँ; उसके लक्ष्य से विकार का नाश करके ध्रुव एकाकार स्थिर रहे उस अखण्ड दृष्टि का विषय सम्पूर्ण आत्मा वर्तमान में भी पूर्ण है; उसे लक्ष्य में लेना सो तो सम्यग्दर्शन है।

ध्रुव सामर्थ्य के बल से वर्तमान विकारी अवस्था का क्रमशः नाश और अविकारी आनन्दरूप से निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होती है। बाहर से गुण अथवा उसकी पर्याय नहीं आती। पाप से बचने के लिए शुभभाव होता है किन्तु वह स्वभाव के लिए सहायक नहीं है। वर्तमान अपूर्ण अवस्था का अभाव व्यवहार से पूर्ण निर्मल अवस्था का कारण है। परमार्थ से आत्मद्रव्य अखण्ड वस्तु है, वही विकारी और अपूर्ण अवस्था का नाश करनेवाला और पूर्ण निर्मल अवस्था को प्रगट करनेवाला निश्चय कारण है।

विकार क्षणिक है, वह अविकारी अखण्ड नित्यस्वभाव का विरोधी है ऐसा जाने तो अपने स्वभाव को विकार का नाशक मान सकता है। विकार का निमित्तकारण (संयोगी वस्तु) अजीव-जड़ पदार्थ है; ऐसे जीव और अजीव दोनों स्वतन्त्र पदार्थों की वर्तमान विकार अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार के सम्बन्ध से नौ अथवा सात* भेद होते हैं। एक अखण्डस्वभाव में पर की अपेक्षा के बिना नव प्रकार के विकल्प सम्भवित नहीं होते। निमित्ताधीन किये जानेवाले समस्त भाव शुभ अथवा अशुभ विकल्प हैं। नव तत्त्व के विकल्प को भगवान ने राग कहा है; उसमें जीव न लगे और पूर्ण एकरूप स्वभाव की श्रद्धा करे तो नव तत्त्व के व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्नः—नव तत्त्वों के शुभभाव की सहायता तो लेनी ही होगी? व्रत, संयम आदि की शुभ प्रवृत्ति के बिना आगे कैसे बढ़ा जा सकता है?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन के हुए बिना व्रत, तप, संयमादि यथार्थ नहीं हो सकते। शुभराग विकार है, उसकी सहायता से आगे नहीं बढ़ा जा सकता किन्तु परमार्थ की रुचि में बीच में शुभराग आये बिना नहीं रहता। मैं विकल्प से भिन्न त्रिकाल अखण्ड अविकारी हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से जब विकल्प का अभाव करता है, तब निर्मल पर्याय प्रगट होती है और नव तत्त्व के जो विचार थे उन्हें निमित्त के रूप में आरोपित किया जाता है; किन्तु यदि अखण्ड की श्रद्धा न करे तो निमित्त नहीं कहलाता। नव तत्त्वों के शुभ विकल्प से लाभ होगा इस प्रकार मानना सो व्यवहारनयाभास है।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, वह शुभराग के आस्रव की भावना भाता है कि यह व्रत,

* यदि पुण्य-पाप को आस्रव से अलग माना जाए तो नौ भेद होते हैं और यदि पुण्य-पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना जाए तो सात भेद होते हैं।

तप इत्यादि करना तो होंगे ही ? किन्तु वे तो अशुभ को दूर करने के लिए शुद्ध दृष्टि के बल में आ जाते हैं। जिसकी स्वभाव पर दृष्टि नहीं है, उसका निमित्त पर भार होता है, और इसलिए यह मानता है कि पर्याय से, नास्ति से, अनित्य से पुरुषार्थ होता होगा। जिसकी पर्याय पर ही दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है। उससे राग सूक्ष्म होता है किन्तु राग का सम्पूर्ण अभाव कदापि नहीं होता। अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा के बल से ही राग का अभाव हो सकता है। जो लोग इस बात को नहीं समझते वे 'हमारा व्यवहार'—ऐसा कहकर अपने द्वारा माने गये व्यवहार को ही पकड़ रखते हैं।

आत्मा की अपूर्व बात भीतर ज्ञान की समझ से ही जमती है, इसलिए यह बात ही छोड़ दो कि 'हमारी समझ में नहीं आ सकता।' यदि आत्मा का स्वरूप आत्मा की ही समझ में न आये तो फिर उसे कौन समझेगा ? यह बेचारे शरीर और इन्द्रियादिक तो कुछ जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सब जीव के द्वारा हो सकता है, यह ज्ञान में जानकर ही कहा है। सर्वज्ञ वह बात ही नहीं कहते जो नहीं हो सकती। सभी आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण हैं, ऐसे स्वतन्त्र स्वभाव की पूर्ण शक्ति को समझकर भगवान की वाणी निकली है। जिन्हें अपने भीतर अनुकूल नहीं पड़ता वे ऐसी धारणा की आड लेकर कि—'हमारी समझ में नहीं आ सकता', वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं समझना चाहते। इसे समझना कठिन है अथवा यह बात समझ में नहीं आ सकती। इस प्रकार की मान्यता ही सच्चे हितरूप स्वभाव को रोके हुए है।

पहले नव तत्त्व के विचार और सच्चे ज्ञान के बिना स्वभाव प्रगट नहीं होता और यदि नव तत्त्व के विकल्प रूप विचार में लग जाए तो उस शुभराग से भी आत्मा को लाभ प्राप्त नहीं होता। नव तत्त्व का विचार पहले आता अवश्य है, उसके बिना परमार्थ में सीधा नहीं जा सकता और उससे भी नहीं जा सकता। जैसे आँगन में आये बिना घर में नहीं जा सकते और आँगन को साथ में लेकर भी घर में नहीं जा सकते, किन्तु यदि आँगन में पहुँचने के बाद उसका आश्रय छोड़कर अकेला घर में जाए तो ही जा सकता है; इसी प्रकार सच्चे नव तत्त्वों को यथावत् न जाने और यह माने कि समझे बिना उपादान से आत्मा का विकास हो जाएगा तो ऐसा कदापि नहीं बन सकता। उपादान का ज्ञान विकल्प के द्वारा हो सकता है; यदि उसे जैसा का तैसा न जाने तो भूल होती है।

यदि कोई मात्र आत्मा को ही माने और आत्मा में न तो अवस्था को माने, न विकल्प को माने, न पुण्य-पाप को माने और नव तत्त्वों का व्यवहार भी न माने तो उसे त्रिकाल में परमार्थ की सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती। और यदि कोई नव तत्त्वों को यथार्थ तो माने किन्तु साथ ही यह भी माने कि उसके शुभभाव से गुण प्रगट होगा तो भी वह असत् ही है। मैं पररूप नहीं हूँ, क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकती तथा मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, मैं अनन्त गुणों से परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप हूँ, इस प्रकार यदि यथार्थ स्वभाव को जाने तो सब समाधान हो जाए। स्वतन्त्ररूप से त्रिकाल एकरूप स्थायी आत्मा अनन्त हैं और परमाणु भी अनन्त हैं। पर्याय में विकार होता है, वह क्षणिक अवस्था परनिमित्ताधीन जीव में होती है और जीव उसका अज्ञानभाव से कर्ता है। अनन्त जीव स्वतन्त्ररूप से (एक-एक) पूर्ण हैं। परमार्थ से प्रत्येक आत्मा की शक्ति प्रतिसमय पूर्ण सिद्ध परमात्मा के समान है। परलक्ष्य से होनेवाले विकारीभाव वर्तमान एक ही समय की अवस्था तक होते हैं किन्तु प्रवाहरूप से अनादि काल से अपनी वर्तमान भूल और पुरुषार्थ की अशक्ति से होते हैं; उस क्षणिक विकार को दूर करनेवाला अविकारी नित्य हूँ, इस प्रकार अखण्ड स्वभाव के बल में भूल और मलिन अवस्था का नाश करके, स्वाश्रय के बल से स्थिरता बढ़कर क्रमशः निर्मलता के होने पर अंश में सम्पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट हो सकती है। इसमें अनेक न्यायों का समावेश हो गया है और नव तत्त्वों का सार आ गया है।

अनादि काल से स्वच्छन्द कल्पना के द्वारा असत् को सत् मान रखा है। परमार्थ की यथार्थ श्रद्धा करने में नव तत्त्व और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की परख होनी चाहिए और सच्चा उपदेश देनेवाले सत् निमित्त की उपस्थिति में एकबार साक्षात् उपदेश सुनना चाहिए; किन्तु उस निमित्त से गुण-लाभ नहीं होगा। ऐसी पराधीनता नहीं है कि गुरु प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा करनी पड़े। पात्रता होने पर गुरु का निमित्त उसके कारण से उपस्थित होता ही है।

सत् को समझने के लिए स्वयं पात्र होकर उसका भलीभाँति श्रवण-मनन करना चाहिए; कहीं निमित्त नहीं समझा देगा। स्वयं पात्र होकर समझे तो सत् का उपदेश और उपदेशक ज्ञानी पुरुष उपस्थित होते हैं। किन्तु स्वयं अपने में स्वलक्ष्य से स्थिर होकर सत् की श्रद्धा करे तभी उसमें सफल निमित्त का आरोप होता है। यदि कोई न समझे तो वे नहीं समझा सकते; इसलिए उसको वे निमित्त भी नहीं कहे जा सकते।

आत्मा की बात अनादिकालीन अनभ्यास के कारण सूक्ष्म मालूम होती है किन्तु वह स्वभाव की बात है। आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अरूपी एवं सूक्ष्म हैं, तथापि उस सूक्ष्मभाव को जाननेवाला नित्य अरूपी सूक्ष्मस्वभावी और अनन्त शक्तिरूप है। यदि कोई यह माने कि ऐसी सूक्ष्म बात हमारी समझ में नहीं आ सकती तो उसका उत्तर यह है कि तू स्वयं ही अरूपी सूक्ष्म है; तब स्वयं निज को क्यों नहीं जानता? दुनियादारी के सूक्ष्म दाँव-पेचों को बराबर समझ लेता है, तब फिर अपने स्वभाव को क्यों नहीं समझता?

व्यवहार से पाप को छोड़कर पुण्य करने को कहा जाता है, किन्तु परमार्थ से दोनों को छोड़ने योग्य पहले से ही माने तो पवित्र अविकारी स्वभाव का प्रेम हो सकता है, किन्तु यदि राग के द्वारा अविकारी गुण का प्रगट होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा। यदि भीतर पूर्ण स्वभावरूप शक्ति न हो तो वह कहीं से आ नहीं सकती। और यह मानता है कि अपने गुण दूसरे की सहायता से प्रगट होते हैं तो वह अपने को अकर्मण्य मानता है, उसे अविकारी गुण की खबर ही नहीं है। वर्तमान विकारी अवस्था के समय भी प्रतिसमय अनन्त गुण की अपार शक्ति आत्मा में है, उसे शुद्धनय से जानकर एकरूप नित्य स्वभाव की प्रतीति करे तो उसके बल से निर्मलता का अंश प्रगट होकर पूर्ण निर्मल सम्पूर्ण स्वभाव की प्रतीति होती है। अवस्था भेद को देखने से अर्थात् व्यवहार का आश्रय लेने से राग की उत्पत्ति होती है, उससे अविकारी ध्रुवस्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

मुझे यथार्थ सम्यग्दर्शन हो गया है, यह सुदृढ़ विश्वास होने पर भव की शंका रह ही नहीं सकती। सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव और तेरा स्वभाव एक ही प्रकार का है। स्वभाव भव का कारण नहीं है, भव का कारण तो पराश्रयरूप राग को अपना मानना है; वह जब नया किया जाता है तभी होता है। स्वभाव में परभाव का कर्तृत्व त्रिकाल में भी नहीं होता। जिसे नि:शंक स्वभाव की प्रतीति हो गयी है, वह पूर्ण पवित्र स्वभाव को जानता है। वह एकरूप ध्रुवस्वभाव में संसार-मोक्ष के पर्याय भेद को नहीं जानता। उसे स्वभाव का ही सन्तोष है। किन्तु जिसे स्वभाव की ओर का बल नहीं है और अन्तरंग स्वभाव की दृष्टि नहीं है, उसे दूसरे की प्रीति है और इसलिए उसे भव की शंका बनी रहती है। जहाँ विरोधी भाव की प्रीति होती है वहाँ अविरोधी स्वभाव की एकाग्रतारूप प्रीति नहीं हो सकती। पर्याय के भेद से नहीं तरा जा सकता।

शुद्धनय से नव तत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, उस हेतु से यह नियम कहा है। जहाँ विकारी होनेयोग्य और विकार करनेवाला-दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं; वहाँ विकार होनेयोग्य और विकार करनेवाले जीव-अजीव दोनों में दो अपेक्षाएँ व्यवहार से हैं। जैसे सोने में परधातु के निमित्त से अशुद्धता कही जाती है, उसी प्रकार यदि अशुद्ध अवस्था से भेदरूप होने की योग्यता न हो तो पर का आरोप नहीं हो सकता। जीव को वर्तमान अवस्था में परनिमित्त का संग करने की, विकारी होने की और कर्म में निमित्तभूत होने की-दोनों की स्वतन्त्र योग्यता है।

कर्म सूक्ष्म परमाणु है, उसमें दो प्रकार से निमित्त-नैमित्तिकरूप होने की अवस्था है। जीव को विकारी भाव करने में निमित्तकारण भीतर का द्रव्यकर्म है, और शरीर आदि नोकर्म बाह्य कारण हैं। स्वयं विकारी भाव करे तो संयोग में निमित्तकारण का आरोप होता है, यदि अविकारी भाव से स्वयं स्थिर रहे तो कर्म को अभावरूप से निमित्त कहा जाता है। जो निमित्त की अपेक्षा के बिना अकेला स्थिर रहता है उसे स्वभाव कहते हैं। कर्म के संयोगाधीन विकारी होनेयोग्य अवस्था जीव में न हो तो त्रिकाल में भी विकार नहीं हो सकता, किन्तु विकारीपन स्वभाव नहीं है। विकारी होने की योग्यता क्षणिक अवस्था है इसलिए बदली जा सकती है और स्वभाव ध्रुव एकरूप ही स्थिर रहता है। जब तक जीव विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति नहीं करता तब तक विकार का कर्तृत्व है।

जगत में अनन्त रजकण विद्यमान हैं, वे सब आत्मा के विकाररूप होने में निमित्त नहीं होते। किन्तु जो रजकण पहले कर्मरूप से बँध चुके हैं, उन पुराने कर्मों का संयोग, जब जीव के शुभाशुभभाव होते हैं तब निमित्तरूप कहलाता है, और जीव के वर्तमान राग-द्वेष का निमित्त प्राप्त करके ही जिस परमाणु में बन्धरूप होने की योग्यता होती है, वह नवीन कर्मरूप में बँधता है।

जीव को विकार करते समय मोहकर्म के परमाणुओं की उदयरूप प्रगट अवस्था निमित्त है; उसके संयोग के बिना विकारी अवस्था नहीं होती किन्तु वह निमित्त विकार नहीं कराता। यदि निमित्त विकार कराता हो तो स्वयं पृथक् स्वतन्त्र नहीं कहला सकता है और न राग को ही दूर कर सकता है। दोनों स्वतन्त्र वस्तु हैं। आत्मा में कर्म की नास्ति है; जो अपने में नहीं है, वह अपनी हानि नहीं कर सकता। स्वयं स्वलक्ष्य से विकार नहीं किया

जा सकता किन्तु विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु की उपस्थिति होती है। किसी की अवस्था किसी के कारण नहीं होती। जहाँ जीव के विकार भाव करने की वर्तमान योग्यता होती है, वहाँ निमित्तरूप से होनेवाला कर्म विद्यमान ही होता है।

जो रजकण वर्तमान में लकड़ीरूप होने से पानी के ऊपर तैरने की शक्ति रखते हैं, उन्हीं रजकणों का पिण्ड जब लोहे की अवस्थारूप में होता है, तब वह पानी में तनिक भी नहीं तैर सकता। इसी प्रकार पुद्गल में जिस समय जीव को विकार में निमित्त होने की और बँधने की योग्यता हुई तब अन्य अवस्था को बदलकर वह कर्मरूप अवस्था में होता है; उसरूप होने की शक्ति उसमें थी सो प्रगट हो जाती है, उसमें जीव की विकारी अवस्था निमित्त है।

जब सूर्य का उदय होता है, तब जो सूर्यविकासी कमल होते हैं, वे ही खिलते हैं— ऐसी उनकी योग्यता है; उसी प्रकार जीव के शुभाशुभ भाव का निमित्त पाकर जड़-परमाणु स्वयं कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं, परमाणुओं में अनन्त प्रकार की अवस्थाओं के रूप में होने की शक्ति स्वाश्रित है, क्योंकि वह भी अनादि-अनन्त सत् वस्तु है; उसमें अनन्त प्रकार की शक्तियाँ स्वतन्त्ररूप से विद्यमान हैं।

संसारी अवस्था में रहनेवाले आत्मा के साथ स्थूल देह के अतिरिक्त भीतर सूक्ष्म रजकणों (आठ कर्मों) का बना हुआ एक सूक्ष्म शरीर है, वह कार्माण शरीर कहलाता है। कार्माण शरीर को द्रव्यकर्म भी कहते हैं। जैसे दाल, भात, साग, रोटी इत्यादि के रजकण रक्त-माँस इत्यादि अवस्थारूप में अपनी स्वतन्त्र शक्ति से परिणमित होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म कर्मरूप होने की योग्यता जड़-रजकणों में थी जो कि अपनी शक्ति से कर्मरूप परिणमित होते हैं। जड़ की कोई भी अवस्था जीव नहीं कर सकता।

जीव में पुण्य-पाप के विकारी भाव करने की योग्यता है, किन्तु उसके स्वभाव में वह विकार नहीं है; यदि स्वभाव में अशुद्धता हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। जब जीव बाह्यदृष्टि से अच्छा-बुरा मानकर पर में अटक जाता है, तभी विकार होता है, वह प्रतिसमय नया होता रहता है। दया, हिंसा आदि अनेक प्रकार से पुण्य-पाप के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, वे भाव स्वाधीन स्वभावरूप नहीं हैं, उन विकारी भावों का नाश करने के बाद भी सिद्ध परमात्मा में प्रतिसमय निर्विकारी अवस्था का परिणमन रहता है; अनन्त आनन्द के अनुभवरूप अवस्था प्रतिसमय बदलती रहती है।

अज्ञान और राग-द्वेष विकारी अवस्था को जीव की योग्यता कहा है, क्योंकि वह जीव में होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई अन्य वस्तु आत्मा से भूल कराये अथवा उसके भावों को बिगाड़े, क्योंकि आत्मा में जड़-कर्म का और समस्त परपदार्थों का अभाव है। प्रत्येक आत्मा सदा अपनेरूप से है और पररूप से अर्थात् किसी अन्य आत्मा के रूप से अथवा जड़ कर्मरूप से या शरीरादि पररूप से या पर के कार्य-कारणरूप से त्रिकाल में भी नहीं है। तुझे परवस्तु से कोई हानि-लाभ नहीं होता क्योंकि तुझमें उसका सर्वथा अभाव है। जहाँ गुण होता है वहाँ उससे विपरीततारूप दोष हो सकता है और ध्रुव एकरूप गुण की शक्ति के आधार से दोष को बदलकर गुण भी वहीं हो सकते हैं; इसलिए तुझे हानि पहुँचानेवाला भाव भी तेरा ही है और उस विरोधीभाव को दूर करनेवाला भी तेरा ही स्वभाव है। जिस समय अविकारी अवस्था तुझमें तेरे आधीन हुई, उसी समय कर्म की अवस्था उसके कारण बदलकर अन्यरूप हुई, उसमें तू नास्तिरूप से निमित्त हुआ। इस प्रकार तेरा निमित्त प्राप्त करने की उसमें योग्यता थी इसलिए उसकी नैमित्तिक निर्जरारूप अवस्था हुई।

परमाणु में कर्मरूप विकारी अवस्था होने की योग्यता है और जीव में जो विकारीभाव होता है, उसमें उस कर्म का निमित्त बन जाने की योग्यता है। जड़कर्म में और जीव में भी निमित्त-नैमित्तिकभाव है, इस प्रकार व्यवहार से जीव-अजीव में निमित्त-उपादान का (परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप होने का) सम्बन्ध है।

इस प्रकार नव तत्त्व के विचार रागवान हैं,—यह बात इस गाथा में उठायी है; यदि बाहर की चिन्ता को भूलकर एकाग्रतापूर्वक ध्यान दे तो यह सब समझ में आ सकता है।

जो जिज्ञासु जीव हैं, उन्हें तो बारह गाथाओं में ही यथार्थ स्वरूप समझ में आ सकता है, ऐसा संक्षेप में सारभूत कथन किया गया है। तेरहवीं गाथा में नव तत्त्वों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वाणी से या शुभविकल्प से समझा जाता है यह तो व्यवहारकथन है, मैं परनिमित्त से समझा हूँ—इस प्रकार यदि वास्तव में मान ले तो मिथ्यात्व है। जीव और अजीव दोनों त्रिकाल भिन्न हैं, एक पदार्थ में पर-निमित्त की अपेक्षा से भेद होते हैं। पर-निमित्त के बिना मात्र तत्त्व में विकार या भेद सम्भव नहीं है।

आत्मा में वर्तमान अवस्था में जो अपूर्णता और दु:ख है वह त्रिकाल स्थायी आनन्दगुण की—सुखगुण की वर्तमान निमित्ताधीन विकारी अवस्था है। अन्तरंग स्वभाव

में दु:ख नहीं है, जो पराश्रित विकार है सो वर्तमान एक-एक समय की अवस्था तक ही सीमित है; उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ध्रुवस्वभाव वर्तमान में भी पूर्ण अखण्ड निर्मल है। जो वस्तु सत् है, वह नित्य स्वतन्त्र होती है, अविकारी होती है और यदि उसकी वर्तमान प्रगट अवस्था भी अविकारी ही हो तो आकुलता नहीं हो सकती, किन्तु वर्तमान अवस्था में आकुलता है इसलिए दु:ख है। एक-एक समयमात्र की स्थिति से वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन भाव करने से आकुलता होती है। अपने स्वभाव की प्रतीति के कारण अनादि काल से निराकुल शान्ति को छोड़कर जीव आकुलता का दु:ख भोग रहा है।

विकार में पर-संयोग की निमित्तमात्र उपस्थिति है, और अज्ञानभाव से निमित्ताधीन होने की योग्यता अपनी है। परोन्मुख होने से जीव में विकारी अवस्था होती है। जहाँ गुण ही नहीं होता वहाँ उस गुण की कोई अवस्था भी नहीं होती। जैसे लकड़ी में क्षमा गुण नहीं है इसलिए उससे विपरीत अवस्था क्रोध भी उसमें नहीं है। जहाँ गुण हो वहीं उस गुण की विकारी अथवा अविकारी अवस्था अपने से हो सकती है, तथापि कभी भी गुण में दोष नहीं घुस जाते। गुण तो सदा एकरूप ही निर्मल रहते हैं। जिसे ऐसे त्रिकाल स्वभाव का ज्ञान नहीं है, वह अपने में अपने ध्रुव अविकारी स्वभाव का अस्तित्व नहीं देखता और इसीलिए वह त्रिकाल एकरूप अखण्ड स्वभाव को नहीं मानता, प्रत्युत वर्तमान निमित्ताधीन विकार की प्रवृत्ति को ही देखता है।

आत्मा अखण्ड अक्रिय ज्ञानानन्दरूप से ध्रुव है, उसका स्वभाव एकरूप अक्रिय है, उसे न देखकर वर्तमान अवस्था के पुण्य-पाप की क्रिया के शुभाशुभ विकार को देखता है; किन्तु वह पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति स्वभाव में नहीं है-स्वभावाधीन भी नहीं है, वह क्षणिक अवस्था निमित्ताधीन है। उस विकारी अवस्था का नाशक अपना ज्ञायकस्वभाव अविकारी ध्रुव है; इसे जो नहीं मानता उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। ज्ञानी क्षणिक विकारी अवस्था पर भार नहीं देता, उसकी रुचि की प्रबलता तो मात्र अविकारीपन पर होती है और वह उस स्वभाव के बल से स्थिर होने के कारण विकार का नाश करता है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से है जो कि निम्न प्रकार है:—

द्रव्य—अपने अनन्त गुण-पर्याय का अखण्ड पिण्ड।

क्षेत्र—अपना विस्ताररूप आकार (असंख्य प्रदेशी)।

काल—अपनी वर्तमान होनेवाली प्रगट अवस्था।

भाव—अपने अनन्त गुण अथवा त्रैकालिक शक्ति।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है, पररूप से नहीं है। किसी के गुण अथवा अवस्था किसी दूसरे द्रव्य के कारण अथवा कार्यरूप से नहीं है, सहायक नहीं है। यदि यह माने कि परनिमित्त से अपना कार्य होता है तो यह पर को और आत्मा को एक मानना कहलायेगा जो कि एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है। शुभभाव से गुण-लाभ होता है। इस मान्यता का अर्थ यह है कि मेरी सहायता करता है और जो यह मानता है, वह अपने पृथक् गुणों को नहीं मानता, किन्तु रागरूप विकार और अपने अविकारी स्वभाव को एक मानता है; और इसलिए वह भी एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है।

प्रत्येक वस्तु अकारण स्वतन्त्र है। परवस्तु के साथ व्यवहार से भी कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक वस्तु की निमित्त-नैमित्तिक भावरूप अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है। किसी का बनना-बिगड़ना किसी पर के आधीन नहीं है। जिसे हित करना हो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्यों का त्यों अस्तित्व और स्वातन्त्र्य मानना होगा।

अल्पज्ञ को नव तत्त्वों का विचार करने में द्रव्यमन* निमित्त तो है किंतु भीतर ज्ञान की विचार-क्रिया मन की सहायता से नहीं होती। भीतर गुण में उपादान की शक्ति है, वही शक्ति कार्य करती है। ज्ञान की जैसी तैयारी हो वहाँ सन्मुख वैसी ही अन्य जो वस्तु उपस्थित हो, उसे निमित्त कहते हैं जो कि व्यवहार है, किन्तु यह मानना कि निमित्त से काम होता है, सो नयाभास है। निमित्त है अवश्य, उसे जानने का निषेध नहीं करते, किंतु ऐसा मानने से वस्तु पराधीन सिद्ध होती है कि उससे काम होता है या उसकी सहायता आवश्यक है। अपूर्ण ज्ञान के कारण और राग के कारण क्रम होता है, उसमें मन का अवलम्बन निमित्त है। पंचेन्द्रिय के विषय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द हैं उनकी ओर से झुकाव को छोड़कर जब आत्मा नव तत्त्व इत्यादि का विचार करता है, तब उसमें विचार

* वक्षस्थ के मध्य भाग में आठ पंखुड़ियोंवाला विकसित कमल के आकार रजकणों से निर्मित द्रव्यमन है।

करना सो ज्ञान की क्रिया है, जड़-मन की नहीं। शुभाशुभ विकल्परूप राग का भाव जीव में होता है, जड़ में नहीं। जड़-कर्म तो निमित्त है। नव तत्त्व का विचार क्रमशः होता है, मात्र स्वभावभाव से ज्ञान कार्य कर रहा हो तो क्रम नहीं होता। इन्द्रियों के विषय बन्द हो जाने पर भी मन के योग से ज्ञान में भेद हो जाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि मन भिन्न वस्तु है। मन ज्ञान से भिन्न वस्तु है, यह बात ज्ञान से निश्चित हो सकती है। नव तत्त्व का विचार पंचेन्द्रिय का विषय नहीं है, और अकेला ज्ञान मन के अवलम्बन के बिना कार्य करे तो एक के बाद दूसरे विचार का क्रम न हो, क्योंकि क्रम होता है इसलिए बीच में मन का अवलम्बन होता है। विचार में उसका अवलम्बन होता है किन्तु ज्ञान उसके आधीन नहीं है; ज्ञान तो स्वतन्त्र है।

'मैं आत्मा हूँ' इस विचार में ऐसा अर्थ निहित है कि 'मैं कहीं भी हूँ तो अवश्य;' पहले अज्ञानदशा में अपने अस्तित्व को पर में मान रखा था और परवस्तु पर लक्ष्य करके विकारोन्मुख हो रहा था, उस पर-विषय से हटने और स्व-विषय में स्थिर होने के लिए पहले ऐसे नव तत्त्व का विचार करना होता है कि 'मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ' मन का योग हुए बिना नव तत्त्व का विचार नहीं हो सकता, किन्तु द्रव्यमन विचार नहीं करता, विचार तो भावमन से ही होता है। इस बात को भलीभाँति समझना चाहिए।

यहाँ पहले सम्यग्दर्शन के लिए चित्तशुद्धि के आँगन में आने की बात चल रही है। पहले अज्ञानदशा में (व्यवहार की अशुद्धि में) जो दूसरे पर गुण-दोष का आरोप कर रहा था, वहाँ से हटकर अपने आँगन में (व्यवहारशुद्धि में) आ गया है; उसके बाद पूर्व धारणा बदल जाती है और वह यह समझने लगता है कि विश्व में मेरे अतिरिक्त मुझे लाभ या हानि करनेवाला कोई नहीं है। ऐसी मान्यता होने पर अनन्त परवस्तु में कर्तृत्व की भावना नहीं रहती, और इसलिए तीव्र आकुलता दूर हो जाती है।

व्यवहारशुद्धि की योग्यता में निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं:—(१) संसार की ओर का विचार बन्द करके, पंचेन्द्रिय के विषय के तीव्र राग से हटकर, मनशुद्धि के द्वारा यथार्थ नव तत्त्व की भूमिका में आ जाना सो अपनी योग्यता है। (२) अपनी वर्तमान योग्यता और निमित्त की योग्यता की उपस्थिति को स्वीकार किया कि परवस्तु मुझे भूल में नहीं डालती है, किन्तु जब में परलक्ष्य से विकार करता हूँ, तब मेरी ही योग्यता से भूल

और विकार क्षणिक अवस्था में होता है; इस पाप के निमित्त से और विकल्प से किंचित् हटकर अपनी अवस्था के शुभव्यवहार में आ गया, वह पुण्यभाव पूर्व का कोई कर्म नहीं करता। यह निमित्त की अशुद्धता है। (३) निमिततरूप जो देव, गुरु, शास्त्र हैं सो परवस्तु हैं; मेरी योग्यता की तैयारी हो कि यहाँ सच्चे देव-गुरु का निमित्त अपने स्वतंत्र कारण से उपस्थित होता है। तीर्थरूप व्यवहार से दूसरे को मोक्षमार्ग बताते हुए परमार्थ की श्रद्धा के लिए पहले नव तत्त्व के भेद करने पड़ते हैं, उस भेद से अभेद गुण में नहीं पहुँचा जाता, किन्तु अपनी निज की तैयारी करके जब अखण्ड रुचि के बल से यथार्थ निर्मल अंश का उत्पाद और विकार तथा भूल का नाश करता है, तब अपने उन भावों के अनुसार निमित्त को (देव-गुरु-शास्त्र अथवा नवतत्त्व के भेदों को) उपचार से उपकारी कहा जाता है। यदि स्वत: न समझे तो अनन्त कालीन संसार सम्बन्धी पराश्रयरूप व्यवहाराभास ज्यों का त्यों बना रहेगा।

प्रत्येक वस्तु की अवस्था निज से ही स्वतन्त्रतया बदलती रहती है। किसी की अवस्था में कोई निमित्त कुछ नहीं कर सकता, दोनों पदार्थों की स्वतन्त्र योग्यता को माने तब व्यवहार-पुण्यपरिणामरूप नवतत्त्वों की शुद्धि के आँगन में आया जाता है, और उस नव तत्त्व के विचार में से मात्र अविकारी स्वभाव को मानना सो सम्यग्दर्शन है। निमित्त-नैमित्तिकता अवस्था को लेकर व्यवहार से है, द्रव्य, द्रव्य का निमित्त व्यवहार से भी नहीं है।

पुराने कर्म की उपस्थिति का निमित्त पाकर (उसके उदय में युक्त होने से) जो शुभभाव किये जाते हैं, उसमें अजीव निमित्त, और जीव की योग्यता उपादान होती है; और वह भावपुण्य है। दया, दान इत्यादि के शुभभाव का निमित्त पाकर जिन परमाणुओं में पुण्यबंधरूप होने की योग्यता थी वे उसके कारण से पुण्यबंधरूप हुए उसमें शुभभाव (जीव) निमित्तकारण और पुद्गल परमाणुओं में पुण्यरूप होने की जो योग्यता है सो (अजीव की योग्यता) उपादान है; उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। इस प्रकार पाप-तत्त्व की बात भी समझ लेनी चाहिए।

भावपुण्य और भावपाप जीव की अवस्था में होते हैं तथा द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप पुद्गल की अवस्था है। जिस रजकण में पुण्य-पापरूप कर्मबन्ध होने की योग्यता थी, वह

उसके द्रव्य की शक्ति से उसरूप हुआ और उसमें जीव की रागादिरूप विकारी अवस्था निमित्त हुई। इस प्रकार राग के निमित्त का संयोग पाकर द्रव्यकर्मरूप होनेवाले जड़-परमाणु स्वतन्त्र हैं। पूर्वबद्ध कर्मों का पाक (उदय) होने पर आत्मा उस ओर उन्मुख होकर निज लक्ष्य को भूल गया और अज्ञानभाव से पुण्य-पाप के भाव किये इसलिए विकारी होने की योग्यता आत्मा की है। इस प्रकार दो तरह की योग्यता अपने में और दो तरह की अवस्था सामने संयोग होनेवाले पुद्गल-परमाणु में है।

जो यह कहता है कि जड़-कर्म मुझे विकार कराते हैं, वह अपने को पराधीन और अशक्त मानता है और दो तत्त्वों को (जीव और कर्म को) एक मानता है।

यदि कोई अज्ञानी यह कहे कि जैनधर्म में स्याद्वाद है इसलिए कभी तो जीव स्वयं विकार करता है और कभी कर्म विकार कराते हैं; कभी निमित्त से हानि-लाभ होता है और कभी नहीं होता; तो यह बात बिलकुल मिथ्या है। स्याद्वाद का ऐसा अर्थ नहीं है। अरे! ऐसा 'फुदड़ीवाद' जैनधर्म में हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु त्रिकाल में भी पराधीन नहीं है, जब स्वयं गुण-दोषरूप अपनी अवस्था को करता है तब निमित्त पर आरोप करने का व्यवहार लोकप्रसिद्ध है; किन्तु वह झूठा है। लोगों में ऐसा कहा जाता है कि यह घी का घड़ा है और यह पानी का घड़ा है, किंतु घड़ा मिट्टी का अथवा पीतल इत्यादि का होता है।

दूसरे से गुण-लाभ होता है, दूसरे की सहायता आवश्यक है, इस प्रकार जिसने माना है, उसे यह सब समझना कठिन है, क्योंकि उसने पुण्य-पाप को अपना ही मान रखा है। परन्तु पुण्य-पाप विकार हैं, व्रतादि के शुभराग से पुण्यबन्ध होता है किन्तु उस विकारी भाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता। जीव की वह विकारी अवस्था है और विकार के होने में पर-निमित्त है, किंतु विकार ऊपरी दृष्टि से निमित्त होता है। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिए आदरणीय नहीं है, ऐसा जानना सो भी व्यवहार है। अवस्थादृष्टि को गौण करके एकरूप अविकारी ध्रुवस्वभाव के बल से अर्थात् निश्चयनय के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होकर सहज ही विकार का नाश हो जाता है। स्वभाव में विकार का नाश करनेवाली और अनन्तगुनी निर्मलता उत्पन्न करनेवाली अपार शक्ति भरी हुई है; उसके बल को निमित्ताधीनदृष्टिवाला कहाँ से समझ सकता है?

विकारी अवस्था में निमित्तभूत पूर्वकर्म का संयोग केवल उपस्थितिमात्र है, यदि मैं

उसमें विकारभाव से युक्त होऊँ तो वह निमित्त कहलायेगा और यदि स्वरूप में स्थिर रहूँ तो वही कर्म अभावरूप निर्जरा में निमित्त कहलायेगा। इस प्रकार संयोगरूप परवस्तु में— निमित्त में उपादान के भावानुसार आरोप होता है।

यदि कोई कहे कि निमित्त होगा तो तृष्णा को कम करने का (दया, दान इत्यादि का) भाव होगा, अथवा कोई कहे कि यदि उसके भाग्य में प्राप्ति लिखी होगी तो मुझे दान देने का भाव उत्पन्न होगा, तो यह दोनों धारणाएँ मिथ्या हैं। जब स्वयं अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तभी कम कर सकता है। बाह्य-संयोग की क्रिया अपने अधीन नहीं है किन्तु तृष्णा को कम करने का शुभभाव तो स्वयं अपने पुरुषार्थ से चाहे जब कर सकता है। अपने भाव में तृष्णा को कम करे तो दानादिक कार्य सहज ही हो जाते हैं। यह विचार मिथ्या है कि अमुक व्यक्ति के पास पैसा जाना होगा तो मेरे मन में दान करने के भाव होंगे, अथवा अमुक व्यक्ति बचनेवाला होगा तो मेरे मन में दया के भाव आयेंगे; क्योंकि अशुभभाव को बदलकर स्वयं चाहे जब शुभभाव कर सकता है।

जो नव तत्त्वों को यथार्थ समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगाता वह पर से भिन्न भगवान चिदानन्द आत्मा का नि:सन्देह निर्णय करने की शक्ति कहाँ से लायेगा? सच्चे नव तत्त्वों के आँगन में आये बिना परिपूर्ण स्वभाव की यथार्थ स्वीकृति नहीं हो सकती। मन की शुद्धिरूप नव तत्त्वों को जानने के बाद उन नव के विकल्प के व्यवहार का चूरा करके निमित्त और विकल्प का अभाव करे तब भेद का लक्ष्य भूलकर एकरूप स्वभाव में आया जा सकता है। निमित्त और अवस्था को यथावत् जानना चाहिये; किन्तु उसका आदर नहीं करना चाहिए, उस पर भार नहीं देना चाहिए।

जो ऐसा मानता है कि पर से हिंसा या अहिंसा होती है, वह दो तत्त्वों की स्वतन्त्रता या पृथक्ता को नहीं मानता। वास्तव में पर से हिंसा नहीं होती किन्तु आयु के क्षय होने से जीव मरता है, किन्तु उसे मारने का जो अशुभभाव आत्मा ने किया वही आत्मा के गुणों की हिंसा है। कोई शत्रु अथवा कोई भी वस्तु पाप का भाव कराने के लिए समर्थ नहीं है, किन्तु जब आत्मा पापभाव करता है, तब उसकी उपस्थिति होती है। प्रत्येक वस्तु का उपादान अपनी सामर्थ्यरूप स्वतन्त्र शक्ति से है, उसका कार्य होने के समय बाह्य-संयोगरूप निमित्त अपने ही कारण से उपस्थित होता है। दोनों स्वतन्त्र हैं; ऐसे निर्णय की

एक ही कुँजी से उपादान-निमित्त के सभी ताले खुल जाते हैं। किसी वस्तु का कार्य होते हुए उस समय साथ में दूसरे की उपस्थितिमात्र होती है जिसे सहकारी निमित्त कहते हैं; किन्तु उसकी प्रेरणा, सहायता अथवा कोई प्रभाव नहीं होता।

जीव की अवस्था जीव की योग्यता के कारण होती है। वह जब परोन्मुख होकर रुक जाता है, तब रजकण स्वयं ही अपनी योग्यता के कारण बँध जाते हैं और जब वह स्वोन्मुख होकर रुक जाता है और गुण का विकास करता है, तब रजकण अपने ही कारण से पृथक् हो जाते हैं। उन रजकणों की किसी भी अवस्था को आत्मा नहीं कर सकता और आत्मा का कोई भाव रजकणों को नहीं बदल सकता, दोनों की स्वतन्त्र अवस्था अपने-अपने कारण से है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना सो व्यवहारशुद्धि।

जड़ और चेतन सम्पूर्ण वस्तुओं की अवस्था अपने-अपने आधार से होती है। किसी भी वस्तु की कोई अवस्था पर के आधार से कभी नहीं होती, कोई किसी पर प्रभाव अथवा प्रेरणा भी नहीं कर सकता; इस प्रकार मानना सो सम्यक्-अनेकान्तरूप वीतराग धर्म है। यदि यह माना जाए कि निमित्त के प्रभाव से किसी की अवस्था होती है, तो व्यवहार स्वयं ही निश्चय हो गया, क्योंकि उसमें त्रिकाल स्थायी अनन्त सत् को पराधीन निर्माल्य माननेरूप मिथ्या एकान्त अधर्म है।

पुराने कर्मोदय में युक्त होकर जीव पुण्य-पाप के जो विकारी भाव करता है, सो भावास्रव है, और उस भाव का निमित्त पाकर पुण्य-पापरूप-कर्मरूप होने की योग्यतावाले रजकण जीव के पास एक क्षेत्र में आते हैं, सो वह द्रव्यास्रव है। जीव पुण्य-पाप के आस्रवरूप जैसे भाव करता है, उसका निमित्त प्राप्त करके उसी अनुपात में वैसे ही पुण्य-पापरूप रजकणों का बन्ध होता है। इस प्रकार व्यवहार से दोनों परस्पर निमित्त और नैमित्तिक हैं। यद्यपि जड़ रजकणों को कोई ज्ञान नहीं होता और वे जीव का कुछ भी नहीं करते किन्तु अज्ञानी मानता है कि उनका मुझ पर असर होता है और मेरे द्वारा जड़ का यह सब कारभार होता है, मैं ही कर्म की पर्याय को बाँधता हूँ और मैं ही छोड़ता हूँ।

जिस प्रकार तराजू के एक पलड़े में एक सेर का बाँट रखा हो और दूसरी ओर ठीक एक सेर वजन की वस्तु रखी जाए तो उस तराजू की डण्डी ठीक बीच में आकर स्थिर हो जाती है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार शुभाशुभ कर्मों में भी ऐसी

ही विचित्र योग्यता है। जड़कर्मों में ज्ञान नहीं होता तथापि जीव जैसे रागादि भाव करता है, वैसे ही निमित्तरूप प्रस्तुत जड़-रजकण अपने ही कारण से कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं—उनमें अपनी ऐसी योग्यता होती है। जड़वस्तु में अपनी निज की अनन्त शक्ति है, और वह अनन्त शक्ति अपने प्रति है। रजकण एक समय में शीघ्र गति करके नीचे के अन्तिम सातवें पाताल से उठकर अपर चौदह राजु लोक के अग्रभाग तक अपने आप चला जाता है। उसकी शक्ति जीव के आधीन नहीं है, तथापि स्वतन्त्रभाव से ऐसा निमित्त-नैमित्तिक मेल है कि जहाँ जीव के राग-द्वेष का निमित्त होता है, वहाँ कर्मरूप बँधने योग्य वैसे रजकण विद्यमान होते हैं। दूध के मीठे रजकण दहीरूप में खट्टे हो जाते हैं, सो वे अपने स्वभाव से ऐसा होते हैं, उन्हें कोई करता नहीं है। लकड़ी तैरती है और लोहा डूब जाता है, वह उस समय की पुद्गल की अपनी ही अवस्था का स्वभाव है। आत्मा का भाव आत्मा के आधीन और जड़ की अवस्था जड़ के आधीन है, तथापि मात्र एकाकी स्वभाव में विकार नहीं हो सकता। इस प्रकार दो स्वतन्त्र पदार्थों में व्यवहार से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग होता है, तथापि एक-दूसरे की अवस्था को कर सकने योग्य सम्बन्ध नहीं है; ऐसा मानना सो अभूतार्थनय (व्यवहार) को स्वीकार करना कहलायेगा। निमित्त और विकारी योग्यतारूप अवस्था को स्वीकार करने के बाद, पूर्ण अविकारी ध्रुवस्वभाव को देखना मुख्य रहता है। स्वभाव के बल से भीतर से निर्मल अवस्था प्रगट होती है, बारम्बार अखण्ड निर्मल, एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृढ़ता के बल की रटन होती है। यह सम्यग्दर्शन और संवर होने की पहली बात है।

आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के क्षणिक विकारीभाव का नाशक है, यह जानकर उसके आश्रय से संवरभाव को प्रगट करने की अपनी योग्यता होती है। यह मानना पाखण्ड है कि अच्छे संयोग मिलें और कर्म मुझे मार्ग दें तब धर्म करने की सूझे। जिसकी ऐसी विपरीत धारणा है कि भाग्य में अच्छा होना लिखा होगा तो धर्म होगा, उसे स्वतन्त्र धर्म-स्वभाव की खबर ही नहीं है। अखण्ड स्वभाव में अपार गुणों की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके विश्वास से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकारी पर्याय का सहज नाश होता है।

लोग अनादि काल से यह मानते हैं कि देहादि की क्रिया तो हम करते हैं, किंतु अनन्त ज्ञानी नि:शंकतया यह घोषित करते हैं कि शरीर की एक अँगुली हिलाने की भी

किसी आत्मा की शक्ति नहीं है, आत्मा मात्र अपने में ही अहित या हित अथवा ज्ञान या अज्ञान कर सकता है। जब तक जीव को यह बात समझ में नहीं आयेगी तब तक अपने स्वभाव में विरोधी मान्यता बनी ही रहेगी।

निरावलम्बी एकरूप स्वभाव के बल से अशुद्धता रुक जाती है सो भावसंवर है, यह योग्यता आत्मा की है। और पुद्गल परमाणुओं का नये कर्मों के रूप में होना रुक जाये सो द्रव्यसंवर है; यह योग्यता जड़ की है। यदि पाप का भाव करे तो उदयरूप कर्म को पापभाव में निमित्त कहा जाता है, और यदि स्वभाव का आश्रय करे तो उसी कर्म को संवर करनेवाले निमित्त का आरोप होता है। इस प्रकार अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करने का व्यवहार है। दोनों में परस्पर निमित्ताधीन अपेक्षा से और स्वतन्त्र उपादान की योग्यता से संवार्य (संवररूप होने योग्य) और संवारक (संवर करनेवाला) ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

मात्र निरपेक्ष स्वभाव में नव तत्त्व के भेदरूप विचार का क्रम नहीं होता, और विकल्प के भेद नहीं होते। निमित्त और अपनी विकारी अवस्था ज्यों की त्यों जानने योग्य है, किन्तु वह आदरणीय नहीं है। नव तत्त्व के विचाररूप शुभभाव भी सहायक नहीं हैं, इस प्रकार जानना सो व्यवहारनय को स्वीकार करना है।

प्रत्येक वस्तु में अनादि-अनन्त स्वतन्त्र गुण हैं। परमाणुरूप वस्तु में स्पर्श, रस, गन्ध इत्यादि गुण अनादि-अनन्त स्वतन्त्र हैं। गुण स्थिर रहते हैं और गुणों की अवस्था में परिवर्तन होता है, अवस्था में परिवर्तन होना अपने-अपने आधीन है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य इत्यादि गुण अनादि-अनन्त विद्यमान हैं। उसकी अवस्था का बदलना अपने आधीन है। आत्मा अनेक प्रकार के विकारी भावों को अलग कर दे तब भी अविकारी एकरूप रहकर अवस्था को बदलने का स्वभाव रहता है।

आत्मा के स्वभाव में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए उसमें पर-निमित्त की अपेक्षा का भेद नहीं होता, किन्तु मैं रागी हूँ, मैं पर का कर्ता हूँ, पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है ऐसी मान्यता से अवस्था में स्वभाव का विरोधी विकार हुआ करता है, वैसे भाव जब स्वयं करे तब होते हैं। वे क्षणिक विकार गुणों की विपरीत अवस्था से नवीन होते हैं, वह विपरीत अवस्था ही संसार है, जड़ में अथवा परवस्तु में संसार नहीं है। आत्मगुणों की सम्पूर्ण निर्मलता मोक्ष है, और स्वभावोन्मुख होनेवाली अपूर्ण निर्मल अवस्था मोक्षमार्ग है।

उसमें नवीन गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणों की विपरीत अवस्था बदलकर प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती जाती है। गुण त्रिकाल एकरूप ध्रुव है, उसकी पर्याय बदलती रहती है। विपरीत धारणा बदलकर सीधी धारणा ध्रुवस्वभाव के आधार से होती है, निमित्त के लक्ष्य से अथवा अवस्था के लक्ष्य से निर्मलदशा प्रगट नहीं होती किन्तु उल्टा राग होता है।

आत्मा में दया, दान, भक्ति इत्यादि के शुभभाव तथा हिंसा, तृष्णा आदि के अशुभभाव करने की उपादानरूप योग्यता है, और उसमें निमित्तरूप होने की जड़कर्म में योग्यता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र हैं, ऐसा स्वीकार करने पर दूसरे पर दोष डालने का लक्ष्य नहीं रहता; मात्र अपने ही भाव देखने होते हैं। कोई परवस्तु मुझमें पुण्य-पाप आदि के भाव नहीं कराती। परवस्तु मेरी तृष्णा को कम या अधिक नहीं कर सकती, तथा मैं किसी अन्य को बचा या मार नहीं सकता—इस प्रकार कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु मात्र वैसे भावरूप राग-द्वेष-अज्ञान कर सकता है अथवा राग-द्वेष को दूर करके ज्ञान कर सकता है। आत्मा के कोई भाव बाह्य-प्रवृत्ति से नहीं होते।

यदि कोई कहे कि जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं, वैसे भाव होते हैं जब बाहर बुरे निमित्त मिलते हैं; शरीर में रोग इत्यादि होता है तब अशुभभाव होते हैं और जब बाह्य में धन, पुत्र, निरोगता, अनुकूलता इत्यादि होती है तब शुभभाव होते हैं, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। जो इस प्रकार मानता है, वह यह नहीं मानता कि वह स्वयं पर से भिन्न स्वतन्त्र है। परवस्तु का क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर त्रिकाल में भी किसी के आधीन नहीं है। जो वस्तु पराधीन है, वह सत् ही नहीं कही जा सकती।

जिसे व्यवहार से यथार्थ नव तत्त्व भी समझ में नहीं आ सकते उसे नव तत्त्वों के विकल्प का अभाव करके एकाकार परमार्थ में आने का अवकाश नहीं है। अनन्त बार वीतराग धर्म के नाम पर उत्कृष्ट क्रिया अथवा शुभभाव करके जो जीव नव ग्रैवेयक तक गया उसने नव तत्त्वों के भेद को तथा देव, गुरु, शास्त्र को तो यथावत् माना था, उसके नग्न दिगम्बर दशा और निरतिचार पंच महाव्रत भी थे, तथापि उसे एकमात्र स्वतन्त्र तत्त्व की अन्तरंग में ऐसी श्रद्धा नहीं हुई कि मैं विकल्परहित हूँ, उद्भूत शुभवृत्ति भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझे सहायक नहीं है, मैं तो चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ, इसलिए उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

व्यवहारश्रद्धा में जिसकी भूल है, जिसे प्राथमिक चित्तशुद्धि के सच्चे निमित्त की पहिचान नहीं है, उसके परमार्थ श्रद्धा करने की शक्ति नहीं है, परमार्थ की श्रद्धा के बिना जन्म-मरण को दूर करने का उपाय नहीं हो सकता। निमित्तरूप व्यवहारशुद्धि के आँगन में आ खड़ा हो तो पुण्यबन्ध हो सकता है किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं हो सकता। जिस जीव को सर्वज्ञ-कथित सच्चे नव तत्त्वों की तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार से यथार्थ पहिचान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि का भी उच्च पुण्य नहीं बाँध सकता; क्योंकि जिसके पुण्य के निमित्त भी अपूर्ण हैं अथवा मिथ्या हैं उसके पुण्य के भाव भी पापानुबन्धी पुण्यवाले अपूर्ण होते हैं।

राग को दूर करके निर्मल अवस्था उत्पन्न करने के लिए ध्रुव एकरूप स्वभाव में त्रिकाल शक्ति भरी हुई है, उसका अवलम्बन एक वीतरागभावरूप होता है, जबकि राग के अनेक प्रकार होने से राग के अवलम्बन भी अनेक प्रकार के होते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र तथा स्त्री, कुटुम्ब, देहादि सब अशुभराग के अवलम्बन हैं। कुदेव आदि को माननेवाला कभी अशुभराग को अत्यधिक कम कर दे तथापि वह बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता, और सच्चे नव तत्त्वों के भेद तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को माननेवाला उत्कृष्ट शुभभाव करे तो नववें ग्रैवेयक तक जाता है। जीव राग के पक्ष से न छूटे और यथार्थ श्रद्धा न करे तब तक वह चौरासी लाख के जन्म-मरण में परिभ्रमण करता रहता है।

जो यह मानता है कि सम्यक्त्व गुण और संवर होने की योग्यता गुरु दे देंगे, और गुरु की प्रेरणा से मुझमें गुण का विकास हो जाएगा, वह स्वतन्त्रता को ही नहीं मानता। जो दूसरे से सहायता और दूसरे से हानि-लाभ मानता है, वह अपनी स्वतन्त्रता की शक्ति को नहीं समझता और उसने अपने स्वभाव को यथार्थतया नहीं जाना है। सम्यक्त्व होने से पूर्व और पश्चात् जहाँ तक वीतरागी स्थिरता न हुई हो वहाँ तक शुभराग में निमित्त (देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि) की ओर का लक्ष्य रहता है, उसे ज्ञानी धर्म के खाते में नहीं डालते। पहले से ही अनादि काल से माना गया (परनिमित्त से धर्म होता है) खोटा खाता बदलने की आवश्यकता है।

निर्जरण के योग्य और निर्जरा करनेवाले जीव-अजीव दोनों हैं। उनमें से शुभाशुभरूप अशुद्धभाव को नाश करने की स्वतन्त्र योग्यता जीव की है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य

से अशुद्धता का अशंत: दूर हो जाना और शुद्धता की अंशत: वृद्धिरूप अवस्था का होना सहज होता है, वह भावनिर्जरा है। अशुद्धता में जो निमित्तकर्म था, उस कर्म में दूर होने की योग्यता उसके कारण होकर जो निर्जरण योग्य रजकणों की अवस्था बदली सो द्रव्यनिर्जरा है।

प्रभु! तेरी महत्ता के गुण गाये जा रहे हैं। अनन्त काल में अनन्त बार नवतत्त्व के आँगन तक गया किन्तु भीतर प्रवेश किये बिना तू अपने आँगन से वापिस आया है। चित्तशुद्धि के आँगन में जाना पड़ता है (नव तत्त्व का भेदरूप ज्ञान करना पड़ता है) किन्तु आँगन को साथ लेकर घर में प्रवेश नहीं किया जाता।

समयसार परम अद्भुत ग्रन्थ है। अब एक भी भव नहीं चाहिए ऐसी सावधानी के साथ पात्र होकर सत् समागम से जो समझता है वह कृतकृत्य हो जाता है; व्याकुलता का नाम भी नहीं रहता। टीका में भी आचार्यदेव ने अद्भुत काम किया है। केवलज्ञानी के हृदय का अमृत प्रवाहित किया है। मात्र सत् की जिज्ञासा से मध्यस्थ होकर समझना चाहे, अन्तरंग की उमंग से बराबर पात्र होकर, समागम करके सत्य को सुने तो स्वत: उछलकर अन्तरंग में यथार्थता का स्पर्श हो जाता है, तथा स्वभाव में से यथार्थ का उद्भव होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसी सुन्दर-सरस बात आचार्यदेव ने कही है।

जो सत् को समझने के जिज्ञासु हैं तथा जो पात्र हैं उन्हें आचार्यदेव यह सब समझाते हैं, और वे जो समझ सकें ऐसी ही बात कही जा रही है। पहले आचार्यदेव ने कहा था कि मैं और तुम सब सिद्ध परमात्मा के समान हैं। इस प्रकार निज-पर के आत्मा में पूर्णता (सिद्धत्व) को स्थापित किये बिना सत्य को नहीं समझाया जा सकता। तू भी परमार्थत: त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा आनन्दमूर्ति भगवान है। जो-जो पूर्ण गुण सिद्ध परमात्मा में हैं, वे सभी तुझमें भी हैं और जो सिद्ध में नहीं हैं, वे तुझमें भी नहीं हैं। ऐसा परमार्थस्वभाव वर्तमान अवस्था में भी अखण्डरूप से भरा हुआ है। यदि उस पूर्ण का विश्वास न जमे और भव की शंका दूर न हो, तो कहना होगा कि तूने न तो केवलज्ञानी को माना है और न उनके उपदेश को माना है।

समस्त आत्मा ज्ञातास्वरूप हैं, तू भी ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह खूब जानकर कहा जा रहा है, तू पंचेन्द्रिय है अथवा तू मनुष्य है यह कहकर उपदेश नहीं देते हैं।

अशुभराग में संसार सम्बन्धी निमित्त होता है, और शुभराग में सच्चे देव, गुरु, शास्त्र

आदि शुभनिमित्त होते हैं, सम्यग्दृष्टि के राग नहीं होता, वह राग को या पर के अवलम्बन को स्वीकार नहीं करता। अवस्था में पुरुषार्थ निर्बल होता है वहाँ राग का अवलम्बन अनेक प्रकार का होता है। इसमें पूर्ण होने से पहले बीच में व्यवहार तथा शुभराग में क्या निमित्त होता है, उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जहाँ राग की दिशा बदल जाती है, वहाँ बाह्य-लक्ष्य में देव, गुरु, शास्त्र, पूजा, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव होता है। शुभभाव करे तो संयोग में शुभ निमित्त का आरोप होता है, और अशुभभाव करे तो संयोग में अशुभ -निमित्त का आरोप होता है, तथा यदि पर-निमित्त के भेद के बिना स्वभाव में रहकर ज्ञान ही करे तो वही संयोग (निर्जरा में) अभावरूप निमित्त कहलाते हैं। इस प्रकार निमित्त में अपने भावानुसार आरोप होता है। निमित्त से पर का कार्य नहीं होता, किन्तु कार्य के समय उसकी उपस्थिति होती है। यहाँ दो तत्त्वों की स्वतन्त्र योग्यता को स्वीकार करने की बात है।

पर-पदार्थ की ओर लक्ष्य का होना सो राग है। पर में लक्ष्य करके रुक जाना सो पर-विषय है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द के विषय में राग द्वारा रुककर अच्छे-बुरु को वृत्ति करना सो पर-विषय है। ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता, किन्तु अखण्ड ध्रुवस्वभाव का स्वामित्व और उसकी ही मुख्यता है। उस अखण्ड स्वभाव के बल से प्रति समय निर्मलता बढ़ती है, मलिनता की हानि होती है और अशुद्धता में निमित्तभूत कर्म की निर्जरा होती है। बीच में जो राग रह जाता है, उसमें देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति तथा व्रत, संयम इत्यादि शुभभाव के निमित्त होते हैं, किन्तु निमित्त से राग नहीं होता और निमित्त के लक्ष्य के बिना राग नहीं होता। स्वभाव में भेद का निषेध है, रागरहित गुण पर पड़ी हुई दृष्टि गुणकारी है। जो राग रह गया है, उसके प्रति न आदर है, न स्वामित्व है और न कर्तृत्व है।

निमित्त अथवा अवलम्बनरूप राग लाभदायक नहीं है, सहायक नहीं है, किन्तु स्वावलम्बी स्वभाव की ओर दृष्टि के बल से जितना राग दूर हो गया उतना लाभ होता है; अवशिष्ट शुभराग भी हानिकारक है। जहाँ पुरुषार्थ की अशक्ति होती है, वहाँ राग का भाग होता है किन्तु उसमें ज्ञानी के कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। मैं राग नहीं हूँ, विकार करनेयोग्य नहीं हूँ; इस प्रकार विरोधभाव का निषेध करनेवाला भाव यथार्थ श्रद्धा की रुचि हो तो शुभभाव है। स्वलक्ष्य से राग का निषेध और स्वभाव का आदर करनेवाला जो भाव है, वह निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है; उसमें आंशिक अवलम्बन का भेद तोड़कर

यथार्थ का जो बल प्राप्त होता है, वह निश्चय-सम्यग्दर्शन का कारण होता है।

संवर का अर्थ है निश्चयसम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव द्वारा पुण्य-पाप के भावों को रोकना, उन विकारी भावों को रोकना मेरे पुरुषार्थ के आधीन है। उसमें कोई दूसरा सहायता करे तब गुण प्रगट हों ऐसी बात नहीं है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से संवरभाव की उत्पत्ति और आस्रवरूप विकारी भाव का रुकना होता है तथा कर्म उनके कारण से आते हुए रुक जाते हैं। रजकणों को बाँधना, रोकना या छोड़ना मेरे आधीन नहीं है।

निर्जरा:—स्वयं राग के उदय में युक्त नहीं हुआ और मैं ज्ञान हूँ इस प्रकार स्वलक्ष्य में स्थिर रहा तथा वहाँ पूर्व कर्म का उदय अभावरूप निर्जरा में निमित्त कहलाता है। विकार का अभाव करके शुद्धि की वृद्धि करना सो भावनिर्जरा है और कर्म का आंशिक अभाव होना सो द्रव्यनिर्जरा है। भीतर कर्म में किस प्रकार का जोड़-मेल होता है, यह दिखायी नहीं देता, किन्तु निमित्त कर्म में जितना जोड-मेल होता है, उतनी राग-द्वेष की आकुलतारूप भावना का अनुभव होने पर ज्ञान से माना जा सकता है। जैसे पर में सुख मानने की कल्पना अरूपी है, वह सुख पर में देखकर नहीं माना तथापि उसमें वह नि:सन्देहता मान बैठा है। वह ऐसा सन्देह नहीं करता कि उसमें जो सुख है, उसको यदि अपनी दृष्टि से देखूँ तभी मानूँगा। कपट का, आकुलता का भाव आँखों से दिखायी नहीं देता तथापि उसे मानता है, उसे पर में देखे बिना नि:सन्देह मानता है। उस मान्यता का भाव अपना है। उस मान्यता को बदलकर अपने में जोड़े तो आत्मा में अरूपी भाव को मान सकता है कि परलक्ष्य में वर्तमान अवस्था से न रुका होऊँ तो राग की उत्पत्ति न हो। पर में नि:सन्देहरूप से सुख मान रखा है, उस मान्यता को बदलकर अविरोधी स्वभाव को माने तो स्वयं इस प्रकार नि:सन्देह हो सकता है कि मैं त्रिकाल स्वाधीन हूँ, पूर्ण हूँ। निर्जरा प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती किन्तु अनुभव में जो निराकुल शान्ति की वृद्धि होती है, उतना तो स्वत: निश्चित होता है, और यह अनुमान हो सकता है कि उससे उसके विरोधी तत्त्व निमित्तकारण का अभाव हुआ है। प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में दिखायी देता है। भीतर जो सूक्ष्म कर्म टल गये हैं, उन्हें देखने का मेरा काम नहीं है किन्तु पुरुषार्थ से अपने ध्रुवस्वभाव को स्वीकार करके जितना स्वभाव की ओर एकाग्रता की शक्ति को लगाता हूँ उतना वर्तमान में फल प्राप्त होता है। वह नि:सन्देहता स्वभाव के आश्रय से आती है।

यदि कोई कहे कि मैं पुरुषार्थ तो बहुत करता हूँ किन्तु पूर्व कर्म के उदय का बहुत बल है सो इच्छित फल नहीं मिल पाता तो यह बात मिथ्या है, क्योंकि कारण की बहुलता हो और कार्य (उसका फल) कम हो ऐसा नहीं हो सकता। अपने पुरुषार्थ की कमी को न देखकर पर-निमित्त के बल को देखता है, यही सबसे बड़ा गड़बड़ घोटाला है। निमित्तदृष्टि संसार है, और स्वतन्त्र उपादान-स्वभावदृष्टि मोक्ष है।

प्रश्नः यदि यह सच है तो शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि वीर्यान्तराय कर्म का आवरण आत्मवीर्य को रोकता है ?

उत्तर : कोई किसी को नहीं रोकता। जब स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से हीन शक्ति को लेकर अटक जाता है, तब निमित्तरूप से जो कर्म उपस्थित होता है उसमें रोकने का आरोप कर दिया जाता है। यह तो 'घी का घड़ा' कहने के समान व्यवहार की लोकप्रसिद्ध कथन शैली है, किन्तु वैसा अर्थ नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्त में आरोप करके व्यवहार से बात कही है। जो यह कहता है कि त्रिकाल में निमित्त से कोई रुकता है तो वह झूठा है। यदि कोई अन्य वस्तु अपने को रोकती हो या हानि पहुँचाती हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं निर्माल्य है। वह स्वयं ही परलक्ष्य करके विपरीत पुरुषार्थ से अपने को हीन मानता है। यदि स्वयं ज्ञानस्वभावरूप में रहे तो विकास होना चाहिए, किन्तु उसकी जगह पर में अच्छा-बुरा मानकर जब स्वयं रुक जाता है, तब कर्म में निमित्तता का आरोप करता है।

मात्र आत्मा में अशुद्धता को दूर करूँ ऐसा विकल्प कहाँ से आता है ? अकेले में टालने की बात नहीं होती किन्तु जहाँ पर-निमित्त में राग से रुक गया वहाँ निमित्ताधीन किये गये विकारभाव को दूर करने का विचार होता है। भीतर स्वभावरूप से त्रिकाल ध्रुव अनन्त गुण की शक्ति है उस अखण्ड के बल से शक्ति में से निर्मल अवस्था प्रगट होती है। संसार की विकारी अवस्था की स्थिति एक-एक समयमात्र की है वह प्रति समय नयी वर्तमान योग्यता को लेकर (निमित्ताधीन) आत्मा स्वयं जैसा करता है, वैसा होता रहता है, निमित्त कुछ नहीं करता। जैसे पानी के ऊपर तेल की बूँद तैरती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ध्रुवस्वभाव पर वर्तमान एक-एक अवस्थामात्र का जो विकारी भाव है सो तैरता रहता है। ध्रुवस्वभाव में वह प्रतिष्ठा को नहीं पाता। विकार में जीव की योग्यता और निमित्त की

उपस्थिति होती है। जब दोनों को स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं तब नव तत्त्व का ज्ञान मन के राग के द्वारा यथार्थ किया गया कहलाता है।

बन्ध : आत्मा स्वयं अपने विकारीभाव से बँधने योग्य है। वह बँधने योग्य अपनी जो अवस्था है, सो भावबन्ध और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो नये कर्म बँधते हैं सो द्रव्यबन्ध है।

कोई किसी को नहीं बाँधता। जीव बन्धनरूप विकार करके, परोन्मुख होकर जब अच्छे-बुरे भाव में अटक जाता है, तब पर निमित्त होने का आरोप होता है, और यदि स्वलक्ष्य में स्थिर रहे तो निर्मल शक्ति का विकास होता है। विकासरूप न होकर पर-विषय में विकार भाव से योग करके अर्थात् वर्तमान अवस्था को उसी समय हीन कर दिया सो भावबन्ध है, वही परमार्थ आवरण है। उस विकाररूप होनेवाले आत्मा की जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है, सो भावकर्म है। प्रथम समय से दूसरे समय की जो अरूपी अवस्था विकाररूप में परिणत होती है सो क्रिया है; इस भावबन्ध का कर्ता अज्ञानता से जीव है। जीव न तो जड़कर्म का कर्ता है और न कर्मों ने जीव को रोक रखा है।

वर्तमान एक समय की स्थिति में होनेवाले नये बन्ध को स्वत: रोकने की शक्ति जीव में होती है। प्रगट विकारी अवस्था के समय भी प्रति समय द्रव्य में त्रैकालिक पूर्ण शक्ति से अखण्डता है, जो इसे नहीं मानता उसने अपने स्वभाव को हीन मान रखा है, अपनी त्रैकालिकता को न मानने का भाव ही बन्ध योग्य है; जड़कर्म ने नहीं बाँध रखा है। अभी तक शास्त्र के नाम पर ऐसे पहाड़े रटता रहा है कि कर्म आवरण करते हैं, कर्म बाँधते हैं, इसलिए उन्हें बदलना कठिन मालूम होता है। यदि स्वतन्त्र वस्तु की पहिचान करे तो दोनों द्रव्य पृथक्-स्वतन्त्र थे तथापि निमित्ताधीन मान्यता का संसार था इस प्रकार वह मानेगा। श्रद्धा में पूर्ण स्वतन्त्र स्वरूप को स्वीकार करने के बाद पुरुषार्थ की अशक्तिरूप जो अल्प राग रह जाता है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है। स्वभाव में विकार नहीं है। स्वभाव तो विकार का नाशक ही है, उसे भूलकर जीव जब भावबन्धन में अटक गया तब जड़कर्म को निमित्त कहा गया है।

कर्म जीव को बन्ध नहीं कराते और जीव परमार्थ से कर्मों को नहीं बाँधते। यदि यह माना जाए कि अपने में बन्ध करने की योग्यता थी तो वीर्यान्तराय कर्म पर भार न रहे।

कर्म का संयोग तो उसकी स्थिति पूर्ण होने पर ज्ञानी अथवा अज्ञानी दोनों के नियम से छूट जाता है। कर्म बाधक नहीं होते किन्तु स्वयं जैसा भाव (विरोध अथवा अविरोधरूप से) करता है, उसका फल उसी समय उसके आकुलता या निराकुलतारूप में आता है।

आत्मा वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहता है तथापि उसकी अवस्था एकरूप नहीं रहती, उसी प्रकार रजकण वस्तुत्व की दृष्टि से एकरूप रहते हैं तथापि उनकी अवस्था बदलती रहती है-एकरूप नहीं रहती। यद्यपि जड़ में ज्ञान नहीं है तथापि वह वस्तु है इसलिए त्रिकाल शक्तिवान है। प्रति समय पूर्ण ध्रौव्य रखकर शक्ति से अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यह रहस्य केवलज्ञान की बारहखड़ी है। उसमें प्रत्येक वस्तु की परिपूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा होती है।

जब जीव असंग स्वभाव को भूल जाता है, तब वह बन्ध के योग्य होता है। बन्ध में पूर्व का कर्म निमित्त है। जो विकारी-अविकारी अवस्था अपने में होती है, वह व्यवहार है। निमित्त राग-द्वेष कराता है ऐसा मानना सो व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है, अज्ञान है।

नव तत्त्व के लक्ष्य से परमार्थश्रद्धा या निर्मल चारित्र प्रगट नहीं होता, क्योंकि भेद के लक्ष्य से विकल्प उत्पन्न होता है। निश्चयश्रद्धा में नव तत्त्व के भेद नहीं होते। मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों व्यवहारनय के विषय में जाते हैं।

प्रश्न : नव तत्त्वों में मोक्ष तो साध्य है, उसे भी विकल्प मानकर क्यों अलग कर देना चाहिए?

उत्तर : संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं। संसार कर्म के सद्भाव की अपेक्षारूप पर्याय है और मोक्ष उस कर्म के अभाव की अपेक्षारूप पर्याय है। आत्मा मोक्षपर्याय जितना नहीं है। मोक्षपर्याय तो कर्म के अभाव का फल है इसलिए वह व्यवहार से साध्य कहलाती है, किन्तु निश्चय से साध्य तो ध्रुवस्वभाव है। परमार्थ साध्यरूप अखण्ड एक स्वभाव के बल से मोक्षपर्याय सहज ही प्रगट होती है, और पर्याय तो व्यवहार है, उसकी अखण्ड स्वभाव में गौणता है; क्षणिक पर्याय पर भार नहीं देना है, भार तो वस्तु में होता है।

द्रव्य में त्रिकाल की समस्त पर्याय वर्तमानरूप में हैं, उसमें कोई पर्यायभूत अथवा भविष्य में नहीं गयी है, तथापि वस्तु में प्रत्येक गुण की एक समय में एक पर्याय प्रगट होती है और वह प्रत्येक अवस्था के समय शक्तिरूप में अनन्त गुण ध्रुवरूप में विद्यमान हैं,

इसलिए अनन्त शक्ति के रूप में वस्तु वर्तमान में पूर्ण है। आत्मा का स्वभाव वर्तमान एक-एक समय में त्रैकालिक शक्ति से परिपूर्ण है। जो विकारीदशा होती है, उसका द्रव्य में प्रवेश नहीं है। स्वभाव विकार का नाशक है इसलिए नव तत्त्व के विकल्प अभूतार्थ हैं।

मोक्ष : मैं विकार से और पर से मुक्त होने की अपेक्षा से हूँ। ध्रुवस्वभाव के बल से जो पूर्ण निर्मल अवस्था उत्पन्न होती है, और पूर्ण अशुद्ध अवस्था का नाश होता है, सो भावमोक्ष ओर उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यता से जो कर्म के रजकण छूट जाते हैं, सो द्रव्यमोक्ष है। अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र अवस्था होती है। निमित्त से हुआ है ऐसा कहना व्यवहार है, किन्तु निमित्त से किसी की अवस्था होती है ऐसा मानना सो मिथ्यात्व है। कर्म का संयोग सर्वथा छूट गया सो जीव में अभावरूपी निमित्तकारण (मोक्ष को करनेवाला) अजीव और जो कर्म छूट गये वे मुझे निमित्त हुए इस प्रकार नास्तिरूप (अभावरूप) आरोप से जीव व्यवहार से मोक्ष होने योग्य है।

जीव-अजीव में स्वतन्त्र उपादान की योग्यता, निमित्त-नैमित्तिकता तथा नव तत्त्व के विकल्प हैं यह बतलाकर मन के द्वारा स्वतन्त्रता का निश्चय कराया है; किसी का कारण-कार्यरूप पराधीनपन नहीं बताया है। मात्र स्वभाव में नव तत्त्व के भेद नहीं होते। निमित्त की अपेक्षा से, व्यवहार से (अवस्था में) नव अथवा सात भेद होते हैं।

जिसे हित करना हो उसे सर्व प्रथम क्या करना चाहिए, सो कहते हैं। निराकुल सुख आत्मा में है। शरीर आदि की अनुकूलता में (अनुकूल संयोग में) सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव उसमें सुख मान रहा है, किन्तु पर के आश्रय की पराधीनता में त्रिकाल भी सुख नहीं है। जिसने अपने में सुख का अवलोकन नहीं किया, उसे पर संयोग की महत्ता मालूम होती है। जो यह मानता है कि पर-संयोग के आश्रय से सुख होता है, वह अपने को निर्माल्य, रंक और परमुखापेक्षी मानता है, यह अज्ञानभाव की मूढ़ता से मानी हुई कल्पना है। जो पर को हितरूप मानता है, वह पराश्रयरहित अविकारी आत्मस्वभाव को हितरूपी नहीं मानता।

पर मेरा है, पर में सुख है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी विपरीत कल्पना करनेवाला अपना विपरीत ज्ञान है। जड़-देहादिक भूल नहीं कराते। आत्मा पर से भिन्न नित्य पदार्थ है, स्वयं जिस स्वभाव में है, उसकी प्रतीति नहीं है इसलिए पर में कहीं भी

अपने अस्तित्व की, अपने सुख की कल्पना कर लेता है। उस अज्ञान से चौरासी लाख के अवतार होते हैं। स्वतन्त्र स्वभाव को यथार्थतया सत्समागम से पहिचानकर उस विपरीत मान्यतारूप भूल को दूर कर देने पर नित्य स्वभावाश्रित निर्मल आनन्द की उत्पत्ति होती है। वर्तमान विकारी अवस्था के समय भी बाह्यभाव की मान्यता को दूर करके देखे तो उस एक अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण निर्मल स्वभाव त्रिकाल शुद्धरूप में वर्तमान में भी मालूम होता है। पामरता, अशरणभाव, अवगुणभाव पामरता की भूमिका में रहकर दूर नहीं किया जा सकता। पामरता के समय ही तुच्छता रहित ध्रुवस्वभाव पूर्ण महिमारूप विद्यमान होता है।

जिसने पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है, वह साक्षात् भगवान है। मैं भी शक्तिरूप से पूर्ण भगवान हूँ। इस प्रकार सत्समागम से जानकर यदि पूर्ण स्वाधीन ध्रुवस्वभाव की महिमा को लाये तो अपने में कल्पित हीनता और स्वामित्व दृष्टि में से छूट जाता है। पश्चात् वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पर में रुक जाता था सो उस रुचि-भाव के कारण नहीं रुकता है। वह स्वभाव के बल से राग-द्वेष को तोड़ना चाहता है; विकार का अर्थात् राग की वृत्ति का स्वामित्व नहीं करता।

जो विकार का नाश करना चाहता है वह विकारस्वरूप नहीं हो सकता। विकार को जाननेवाला क्षणिक विकाररूप नहीं है। यदि विकार को दूर करने की शक्ति आत्मा में न हो तो जो नहीं है, वह जगत में त्रिकाल में भी नहीं हो सकता; किन्तु अनन्त ज्ञानी पूर्ण, पवित्र उत्कृष्ट, परमात्मदशा को प्रगट कर चुके हैं। नित्यस्वभाव के बल से अमुक अंश में राग को दूर करके उसी रुचि से राग न होने दे या पूर्ण पुरुषार्थ से अंशमात्र राग-विकार न होने दे ऐसी आत्मा की शक्ति प्रतिसमय प्रत्येक आत्मामें विद्यमान है।

यदि कोई जीव किसी दूसरे के दोषों को दूर कर सकता हो तो कोई दूसरा जीव नरक में या दुःख में भी डाल सकता है। किन्तु वास्तव में जीव के ऐसी पराधीनता नहीं है। दोषों को दूर करने में स्वयं अकेला ही समर्थ है तो स्वयं त्रिकाल पूर्ण और स्वतन्त्र असंयोगरूप में भी वर्तमान में परिपूर्ण है। जो पर सम्बन्ध मान रखा है, सो निमित्ताधीनदृष्टि की भूल है और यही संसार है। जब ऐसे नित्य भाव के बल से पामरता दूर हो जाती है कि मैं पूर्ण प्रभुतावाला हूँ तो उसी समय आंशिक निर्मल पवित्रता प्रगट होती है।

देह पर दृष्टि रखकर विचार करता है इसलिए वह प्रतिभासित नहीं होता कि भगवान आत्मा कीड़े-मकोड़े में भी पूर्ण स्वतन्त्र है, क्योंकि अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा निज को निज में प्रतीत नहीं हुई। इसलिए अपनी दृष्टि से अपने को हीन, अपूर्ण, विकारी मानता है। देहादिक वर्तमान संयोग को ही माननेवाला यह नहीं मानता कि मैं वर्तमान में भी त्रिकाल-स्थायी पूर्ण प्रभु हूँ, इसलिए वह अज्ञानी है; क्योंकि अपने में सुख नहीं देख सका इसलिए देहबुद्धि से किसी में अनुकूलता की कल्पना करके अच्छा मानता है और किसी में प्रतिकूलता की कल्पना करके बुरा मानता है।

स्वयं ज्ञाता होकर भी अपने को हीन मानकर पुण्य और देहादिक क्षणिक संयोगी वस्तुओं को महत्व देता है। यदि बिच्छू कपड़े को काट खाता है तो दु:ख नहीं मानता किन्तु शरीर को काटता है तो दु:ख मानता है; किन्तु वस्त्र और शरीर दोनों त्रिकाल में भी अपनी वस्तु नहीं है। क्योंकि देह पर (संयोग पर) दृष्टि है इसलिए वह मानता है कि जो देखनेवाला है सो मैं नहीं हूँ किन्तु जो वस्तु दिखायी देती है, वह मैं हूँ। मूर्ख प्राणी शरीर को लक्ष्य करके कहता है कि 'यदि तू अच्छा रहे तो मुझे सुख हो,' किन्तु शरीर को अथवा जड़ इन्द्रिय को कुछ खबर ही नहीं होती, फिर भी मूर्ख प्राणी यह मानता है कि उनके कारण मुझे सुख-दु:ख होता है। एक तत्त्व को दूसरे का अवलम्बन लेना पड़े सो वह सुख नहीं है। जो यह मानता है कि पर का आश्रय आवश्यक है, वह अपने स्वतन्त्र स्वभाव की हत्या करता है और यही हिंसा है।

यदि अविनाशी स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव को अपूर्वरूप में न जाने और अन्तरंग में उसकी महिमा को न लाये तो मरकर कहाँ जाएगा यह विचार करो! जैस समुद्र में फेंका गया मोती मिलना कठिन है उसी प्रकार मनुष्यभव को खोकर चौरासी लाख के अवतार में परिभ्रमण करते हुए सत् का सुनना दुर्लभ हो जाएगा।

जैसे मात्र सोना अशुद्ध या हीन नहीं कहा जाता किन्तु वह ताँबा इत्यादि के संयोग से अशुद्ध अथवा सौटंच से उतरता हुआ कहलाता है तथापि यदि वह संयोग के समय भी सौटंची शुद्ध सोना न हो तो कदापि शुद्ध नहीं हो सकता; इसी प्रकार मात्र चैतन्य आत्मा में स्वभाव से विकार नहीं हो सकता, किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्त-संयोगाधीन विकारी अवस्था नवीन होती है। इस संयोगाधीन दृष्टि को छोड़कर यदि अखण्ड शुद्ध ध्रुव पर दृष्टि करे तो निर्मलता प्रगट होती है।

यदि अकेले तत्त्व में पर-निमित्त का संयोग हुए बिना विकार हो तो विकार स्वभाव कहलायेगा। पर-संयोग में कर्ताभाव से (अपनेपन के भाव से) अटककर जैसे शुभाशुभ भाव जिस रस से वर्तमान अवस्था में जीव करता है, उसका फल उसी समय अपने में आकुलता के रसरूप से होता है, और उसके निमित्त से बँधनेवाले संयोगीकर्म का फल बाद में संयोगरूप से होता है।

अज्ञानी की बाह्य में देह, स्त्री आदि पर दृष्टि है और भीतर सूक्ष्म कर्म पर दृष्टि है। यथार्थ नव तत्त्वों को शुभभाव से जानना भी बाह्यभाव है। इस बाह्यभाव से अन्तरंग में पैठ नहीं हो सकती। मात्र आत्मा में अपने आप नव तत्त्व की सिद्धि नहीं होती।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो जीव पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप में अनुभव करने पर यह नव तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। यहाँ समीप का अर्थ क्षेत्र से नहीं किन्तु पर में एकमेकपन की मान्यतारूप भाव की एकाग्रता होता है। जिसे अविकारी भिन्न आत्मस्वभाव की खबर नहीं है, उसे पर-संयोग का (राग-द्वेष के विकल्प का) जो अनुभव होता है, वह भूतार्थ है, भ्रम नहीं है; राग-द्वेष का निमित्त पाकर कर्म अपनी योग्यता से अज्ञानी आत्मा के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप में आते हैं, यह बात भी सच है।

यदि कोई कहे कि पुण्य-पाप होते ही नहीं, जीव की वर्तमान अवस्था में भूल और विकारी भाव का होना भ्रम है, असत् है तो ऐसा कहनेवाले की यह बात सच नहीं है। यह खरगोश के सींग की भाँति असत् नहीं है। यदि कोई यह कहे कि स्वर्ग और नरक वास्तव में नहीं हैं। किन्तु लोगों को पुण्य का लोभ और पाप का भय बताने के लिए इनकी कल्पना की है तो ऐसा कहनेवाले की बात मिथ्या है, क्योंकि स्वर्ग और नरक अनेक न्याय-प्रमाणों से सिद्ध किये जा सकते हैं।

जैसे कोई भला ब्रह्मचारी सज्जनों की संगति को छोड़कर कुशीलवान व्यक्तियों के साथ आये-जाये तो यह लज्जा की बात है, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा परवस्तु में कर्तृत्व या अपनापन स्थापित करके अनन्त ज्ञानानन्द प्रभुत्व की महिमा को भूलकर और यह मानकर कि पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं रागी हूँ, मुझे पर का आश्रय चाहिए चौरासी के चक्कर में पड़ा रहता है और भव-भ्रमण करता रहता है। पर संयोग में सुख मानना महा व्यभिचार है।

संयोगाधीनदृष्टि में एकाग्र होकर बन्धभाव का अनुभव करने पर यह नव तत्त्व के भेद भूतार्थ-सत्यार्थ हैं। अज्ञानभाव से अवस्थादृष्टि के व्यवहार को पकड़कर राग-द्वेष-अज्ञान के कारण जीव का जो परिभ्रमण होता है सो वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं है, असत् कल्पना नहीं है। जैसे मृगजल में वास्तव में पानी नहीं है तथापि पानी का प्रतिभास होता है, उसे वास्तविक पानी मानने की भूल होती है, यह वास्तविक भूल ही है। इस प्रकार अज्ञानभाव से जीव परिभ्रमण करता है जो कि वास्तविक है।

जिसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप की खबर नहीं है, वह मूढ़तावश अपने को पूर्ण स्वतन्त्र भगवान नहीं मानता। जिनकी ऐसी धारणा है कि अन्य कोई मेरी सहायता कर दे, मुझ कोई कुछ दे दे, दूसरे का आश्रय आवश्यक है, दूसरे का आशीर्वाद चाहिए, पुण्य का साधन आवश्यक है वे अपने को पामर—अशक्त मानते हैं। जो बाह्य में धर्म मानकर क्रिया-कष्ट से खेद-खिन्न होता है, उसे आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति और भव से निःसन्देह मुक्ति का निर्णय नहीं होता। भगवान ने उसकी बाह्यक्रिया को अज्ञानरूप बालव्रत और बालतप कहा है।

जिसे भव से भय लगता है वह यह विचार करता है कि निर्मल नित्य शरणभूत वस्तु क्या है, किन्तु जो संसार में वर्तमान पुण्य की अनुकूलता को ही देखता है, वह पुण्य-पाप के नाशक स्वभावरूप अविकारी भगवान आत्मा को नहीं देखता। धर्मात्मा को राग की चेष्टा में लज्जा मालूम होती है; खेद होता है। अज्ञानी जीव पुण्य को अच्छा मानकर उसमें हर्ष करता है। प्रतिष्ठा, धन, शरीर इत्यादि में सुख मानता है किन्तु ज्ञानियों ने पुण्य-पाप से रहित अविनाशी स्वभाव की प्राप्ति में स्थिर होकर पुण्य-पाप को विष्टा की भाँति छोड़ दिया है।

यदि जीव पामरता करे और उस पामरतारूप अवस्था को ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप माने और यह न माने कि अपना अवगुण का नाशक त्रैकालिक स्वभाव वर्तमान में सम्पूर्ण है, तो वह चौरासी लाख के अवतार में निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए उसे नव तत्त्वों का खण्डशः अनुभव सत्यार्थ है।

यदि कोई यह कहे कि भोग योग्य कर्मों का बन्ध किया है, सो वे विषय-भोग कराते हैं इसमें मैं क्या कर सकता? राग-द्वेष हो जाते हैं;—तो ऐसा माननेवाला स्वच्छन्द चौरासी के चक्कर में भवभ्रमण करने के लिए सच्चा है।

जब कोई व्यक्ति दान में पैसा नहीं देना चाहता तब संस्था को दोष देता है और कहता है कि 'मेरे भाव दान देने के तो हैं, किन्तु आपकी संस्थावाले व्यवस्था ठीक नहीं रखते' इस प्रकार तृष्णा को कम न करने के लिए बात को गोलमगोल कर देता है, किन्तु यह स्पष्ट क्यों नहीं कह देता कि मुझे कुछ देना नहीं है। वह संस्था सुधरे या बिगड़े, उस पर तेरी तृष्णा के बढ़ने या घटने का आधार नहीं है। जिसे दानादि में मान चाहिए है अथवा दान के बाद जो आशा रखता है, उसके वर्तमान तृष्णारूप पापभाव होता है। जो दान में तृष्णा को कम करता है, उसका वह भाव अपने पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार परिणाम का व्यवहार से स्वतन्त्र कर्तृत्व जानकर जैसे नव तत्त्व हैं, उन्हें वैसा जाने तो व्यवहारशुद्धि होती है, किन्तु उससे जन्म-मरण नहीं मिटता, क्योंकि वह पुण्यभाव है।

असंयोगी निर्विकार स्वभाव भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान अशक्ति में राग होता है, और उसमें कर्तृत्वबुद्धि को छोड़कर पाप से बचने के लिए पुण्यभाव की शुभवृत्ति करता है, किन्तु उसे निमित्ताधीन विकारी जानकर ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता।

कोई शास्त्र के पहाड़े रटकर विपरीत अर्थ ग्रहण करे कि पहले के कठिन कर्म आड़े आते हैं, निकाचित कर्म का बल अधिक है, इसलिए संसार के भोग नहीं छूटते। इस प्रकार गोलमाल करनेवाले के व्यवहार-नीति का भी ठिकाना नहीं है। अपने भाव से स्वभाव की निर्मलता को भूलकर मैंने दोष किया है और मैं उसे दूर करके पवित्र आनन्दभाव कर सकता हूँ, इस प्रकार यदि अपनी स्वतन्त्रता को मन से स्वीकार करे तो वह आँगन में आया हुआ माना जाएगा।

अब आगे यह कथन है कि विकल्प को अंशत: दूर करके ध्रुव-स्वभाव के लक्ष्य से शान्ति कैसे प्रगट की जाए और अतीन्द्रिय स्वरूप को कैसे जानना चाहिए।

आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण भरे हुए हैं, जो कि अपने ही कारण से हैं, वे किसी निमित्त को लेकर प्रगट नहीं होते। निमित्त से अथवा रागादि विकार से अविकारी दशा नहीं हो सकती। आत्मा का स्वभाव कर्मसंयोग से रहित, निर्विकार और अभेद है। आत्मा में जो कर्म संयोगाधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है, सो अभूतार्थ है। मन के द्वारा जो शुभविकल्परूप नव तत्त्वों का निर्णय होता है, सो वह आत्मा के मूल

स्वभाव का निर्णय नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने से पूर्व मन के द्वारा जो इस प्रकार नव तत्त्व के भेद का विचार करता है कि मैं जीव हूँ, पर से भिन्न हूँ, अजीव नहीं हूँ, स्वभाव की प्रतीति से संवर होता है इत्यादि। वह विकल्प शुभराग है। एकरूप ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना चाहिए, उसकी जगह पर-सम्बन्ध से उत्थान होता है, जो आदरणीय नहीं है; तथापि मन से उस यथार्थ नव तत्त्व का विचार किये बिना स्वभाव के आँगन में नहीं आया जा सकता।

आत्मा देहादि की क्रिया नहीं कर सकता। देहादि से अथवा पर-जीव से प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न ही है। पर के सम्बन्ध से राग-द्वेष और ममता का जो भाव अपनी अवस्था में स्वयं करता है, उस क्षणिक अवस्था के भेद से भी आत्मा परमार्थत: भिन्न है। स्वभाव के लक्ष्य से हटकर मैं पुण्य-पाप के भाव परलक्ष्य से करूँ तो वे होते हैं, किन्तु मेरी योग्यता से वह वर्तमान में नया विकार होता है। बन्धनरूप विकारभाव और अविकारी संवर, निर्जरा, मोक्ष का भाव मेरी योग्यता से होता है; उसे कोई दूसरा नहीं कराता। निमित्त का संयोग-वियोग उसकी योग्यता से होता है, इस प्रकार स्व-पर की स्वतन्त्रता का निर्णय नव तत्त्व के भेद से करे तो जीव अभी प्राथमिक भूमिका के समीप आता है। उसके शुभराग में रुक जाना पुण्य का कारण है; वह आत्मा के धर्म का अथवा शान्ति का कारण नहीं है; क्योंकि पहले ऐसे मन के स्थूल विषय से आत्मा सच्चे नव तत्त्वों के पुण्यरूप आँगन तक अनन्त बार पहुँचा है, किन्तु वहाँ से आगे विकल्प को तोड़कर ध्रुवस्वभाव में एकत्व की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ को नहीं पा सका, इसलिए संसार ज्यों का त्यों बना रहा। जिस भाव से भव बन्ध किया, उस भाव का आत्मस्वभाव के बल से यदि अन्त न किया जाए तो भव का अन्त नहीं हो सकता और पवित्रता प्रगट नहीं हो सकती।

बिना समझे जीव ने अनन्त बार अनेक शास्त्र पड़े, पण्डित हुआ, वीतराग देव के द्वारा कहे गये सनातन जैनधर्म का नग्न दिगम्बर साधु हुआ। नव तत्त्वों का मन में यथार्थ निर्णय किया, किन्तु निमित्त पर लक्ष्य बना रहा कि मन का आलम्बन आवश्यक है, शुभराग से धीरे-धीरे ऊपर जा सकेंगे, और इस प्रकार पर से, विकार से गुण का होना माना; किन्तु निरपेक्ष, निरावलम्बी, अक्रिय, एकरूप आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं की। मन में नव तत्त्वों के विचार के ओर की जो दृष्टि है, सो परावलम्बन है, जब तक जीव के ऐसा भाव बना हुआ है, तब तक वह राग में रंगा हुआ है।

अब परमार्थ एकरूप सम्यग्दर्शन का कथन करते हैं। नव तत्त्व के भेद को गौण करके (निषेध करके) एक जीवस्वभाव के निकट जाकर अभेद का अनुभव करने पर वे नव भेद अभूतार्थ हैं, वे मात्र ज्ञायकस्वभाव में प्रतीत नहीं होते। मैं नव तत्त्व के भेदरूप क्षणिक अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु त्रिकाल स्थायी वर्तमान में पूर्ण कृतकृत्य और स्वभावत: शान्ति से परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार पूर्ण की श्रद्धा के बल से अतीन्द्रिय आनन्द सहित अनुभव करने पर भेद दिखायी नहीं देता। अविकारी, अभेद की श्रद्धा होने के बाद विकल्प में आनेवाले विकल्प के भेद होते हैं, किन्तु एक बार अखण्ड आत्मस्वभाव में स्थिर होकर नव के भेद से कुछ हटकर स्वभाव के निकट आये तो फिर पराश्रित भेद में स्वामित्व (कर्तृत्व) न होने दे।

अनादि काल से जो खण्ड-खण्डरूप बन्ध-पर्याय में एकाग्र होता था, उसमें एकत्व मानता था और स्वभाव से दूर भागता था, वह अब त्रिकाल एकरूप निर्विकारी अखण्डस्वभाव के समीप जाकर विकल्पों का अभाव करता है। उसे परमार्थ एकत्व का ऐसा अनुभव होता है कि कोई भी परमाणु या विकल्प मात्र मेरा स्वरूप नहीं है।

जैसे सफेद स्फटिक को लाल या काले फूल के संयोग की दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में पर-निमित्त की भेदरूप से होनेवाली लाल या काली झलक दिखायी देगी; किन्तु यदि उस संयोग पर की दृष्टि को छोड़कर मात्र स्फटिक को उसके मूल स्वभावरूप में देखें तो संयोग के समय भी एकरूप स्वच्छ, और शुभ्र दिखायी देगा; इसी प्रकार भगवान आत्मा अरूपी, ज्ञानानन्द एकरूप है (स्फटिक को कोई खबर नहीं होती किन्तु आत्मा को खबर है-ज्ञान है) उसे पर-संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वर्तमान अवस्था में वह पुण्य-पाप के अनेक भेदरूप से दिखायी देता है, जो कि व्यवहार से यथार्थ है। त्रिकाल पूर्ण, एकरूप स्वभाव का लक्ष्य करने के लिए संयोगाधीन क्षणिक भेद को दूर करके निमित्ताधीन होनेवाली अवस्था के लक्ष्य को गौण करके एकरूप निर्मल आत्मस्वभाव को देखने पर यह प्रतीत होता है कि वे नव तत्त्व के भेद अभूतार्थ हैं, क्षणिक हैं, एक समय स्थायी हैं। यह प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है; इसके बाद श्रावकत्व और मुनित्व सहज ही हो सकता है। पर के ग्रहण और त्याग से रहित निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव को समझे बिना जो यह मानता है कि मैं त्यागी हूँ, उसके बाह्यसंयोग अन्तरायकर्म के उदय से छूट गये हैं, किन्तु परमार्थत: अन्तरंग से वे नहीं छूटे हैं।

परमार्थ एकतव स्वभाव में एकाग्र अनुभव से निर्विकल्प श्रद्धा प्रगट करके, उसके अभेद विषय में जाने पर विकल्प नहीं रहते। यथार्थ प्रतीति होने के बाद शुभाशुभ राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु ज्ञानी उसका रुचिभाव से कर्ता नहीं होता और उसका आदर नहीं करता। वह एकाकार ज्ञायकस्वभाव को ही मुख्य मानता है। वर्तमान संवर, निर्जरा और मोक्ष-पर्याय भेदरूप है, एकरूप आत्मा अनादि-अनन्त है। निर्मल आनन्दरूप मोक्ष-अवस्था आत्मा में अनन्त काल तक रहती है, किन्तु आत्मा मात्र मोक्ष-अवस्था के भेद जितना नहीं है। संसार और मोक्ष की त्रैकालिक अवस्था मिलकर प्रत्येक आत्मा वर्तमान में एकरूप अखण्ड शक्ति से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव की परमार्थदृष्टि में संसार और मोक्ष-पर्याय का भेद नहीं है। मात्र ज्ञायकस्वभाव (पारिणामिक भाव, निर्मल स्वभावभाव) उस श्रद्धा का अखण्ड विषय है, निश्चय ध्येय है।

शुद्धनय से नव तत्त्व के विकल्प को गौण करके ज्ञायक स्वभावभाव से एकाग्र होने पर नव भेद नहीं होते, पानी के एकान्त शीतलस्वभाव को देखने पर अग्नि के निमित्त से होनेवाली उष्ण अवस्था नहीं है; इस प्रकार मात्र पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव को निरपेक्ष ध्रुवदृष्टि से देखने पर नव प्रकार के भेद नहीं दिखायी देते।

इस बात को समझना भले ही अति सूक्ष्म मालूम हो किन्तु प्रभु! यह तेरी बात है। तुझे अपना नित्यस्वभाव कठिन मालूम होता है, और वह समझ में नहीं आ सकता ऐसा न मान; तेरी महिमा की क्या बात कही जाए! सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में तू भलीभाँति नहीं आ सका। कहा भी है कि:—

जो पद दीखा सर्वज्ञों के ज्ञान में,
कह न सके उसको भी श्री भगवान हैं;
उस स्वरूप को वाणी अन्य तो क्या कहे ?
अनुभव-गोचर मात्र रहा वह ज्ञान है!

(अपूर्व अवसर)

[यह सुअवसर की-पूर्ण पुरुषार्थ की भावना है]

आत्मस्वरूप ज्ञान में परिपूर्ण आता है, वाणी में पूरा नहीं आता, यह कहकर तेरी अपूर्व महिमा का वर्णन किया है। (यद्यपि तीर्थंकर की वाणी द्वारा सम्पूर्ण भाव समझ में

आते हैं) जो कोई तेरी महिमा गाता है, उसका विकल्प-वाणी में युक्त होना रुक जाता है, इसलिए यह कहा है कि - उसे वाणी में नहीं गा सकते। अनुभव से पूर्ण स्वभाव जैसा है, वैसा ही परोक्ष ज्ञान से माना जा सकता है। हे प्रभु! तू ऐसा त्रिकाल परिपूर्ण भगवान आत्मा है कि सर्वज्ञ की वाणी में भी तेरी महिमा पूर्णतया नहीं आती, तथापि तू निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से अपनी महिमा को भूलकर पुण्य-पाप में रुककर दूसरे की आधीनता में सुख मानकर चौरासी के परिभ्रमण में अनन्त दु:ख पा रहा है। यदि उस दु:ख की बात ज्ञानी के निकट जाकर सुने तो भव का दु:ख मालूम हो किन्तु तू तो विपरीतता में ही सुभट बनकर फिर रहा है।

यह अज्ञानी जीव वर्तमान पुण्य से प्राप्त अनुकूलता से ही बँट जाता है—उसी में तन्मय रहता है, मानो यह शरीर सदा स्थिर रहेगा। यदि किसी को कैंसर नामक असाध्य रोग हो जाता है अथवा किसी का हार्टफेल हो जाए तो वह समझता है कि यह तो अमुक व्यक्ति को हुआ है, मुझे थोड़े ही होना है। इस प्रकार मूढ़ता में नि:शंक होकर सुख मानता है। घर में लड़के 'पिताजी-पिताजी' कहकर पुकारते हैं और सभी अनुकूल दिखायी देते हैं किन्तु वह यह नहीं समझता कि वे सब यह मोह की चेष्टा-राग को लेकर कहते हैं। और इसलिए वह मानता है कि हमारे लड़के स्वार्थी नहीं हैं, स्त्री, पुत्रादि बहुत भले हैं। किन्तु वह यह नहीं समझता कि अरे! वे किसी के लिए विनयवान नहीं हैं, किन्तु अपने राग में जिन्हें जो अनुकूल लगता है, वे उसी के गीत गाते हैं।

जो वर्तमान अवस्था में ही सर्वज्ञ मानते हैं भीतर ही भीतर प्रतिक्षण स्वभाव की मूढ़ता से अपना भाव-मरण कर रहे हैं, वे उस ओर दृष्टि ही नहीं डालते। हे भाई! यह सब यों ही पड़े रहेंगे और तू अकेला ही जाएगा, अथवा समस्त संयोग तुझे छोड़कर चले जाएँगे इसलिए एक बार शान्तचित्त से अपनी महिमा को सुन। बाहर की ममता के सब फल थोथे हैं। जैसे धुएँ को पकड़कर उससे कोई महल नहीं बनाया जा सकता। उसी प्रकार परवस्तु में तेरी कोई सफलता नहीं हो सकती, और परवस्तु से सुख नहीं मिल सकता; इस प्रकार विचार करके सत्य का निर्णय कर। एक बार प्रसन्नचित्त से अपने पवित्र मोक्ष-स्वभाव की बात सुनकर उसे स्वीकार कर, उससे क्रमश: आत्मस्वभाव की सम्पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाएगी।

यथार्थ स्वभाव को सुनकर अन्तरंग से स्वीकार करके जो अंशत: यथार्थ की रुचि में जा खड़ा होता है। वह फिर वापिस नहीं होता। पहले वह बाह्य-पदार्थों की रुचि में रागपूर्वक बारम्बार एकाग्रता करता था, और अब वही भीतर ही भीतर अपूर्व रुचिभाव से गुण के साथ एकाग्रता को रटता रहता है। जो एक बार सत्समागम करके स्वभाव की रुचि से जाग्रत हो जाता है और उस रुचि में दृढ़तापूर्वक जा खड़ा होता है, वह सब ओर से अविरोधी परमार्थ को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि स्वभाव तो विकार का नाशक है, रक्षक नहीं। इस स्वतन्त्र स्वभाव के लिए मन, वाणी, शरीर अथवा विकल्प की सहायता नहीं होती। स्वभाव के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने से पूर्व एकमात्र निरावलम्बी स्वभाव की स्वीकृति होनी चाहिए।

जो आत्मा के पूर्ण हितरूप स्वभाव को यथार्थतया समझता है और मानता है वही सज्जन है। जो राग-द्वेष होता है सो स्वभाव की अपेक्षा से असत् है, चिरस्थायी नहीं है। स्वभाव के लक्ष्य से राग-द्वेष को क्षण भर में बदलकर पवित्र भाव किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा में राग-द्वेष का नाशक स्वभाव प्रतिसमय विद्यमान है। यदि उसी को माने, जाने और उसमें स्थिर हो जाए तो राग न तो स्वभाव में था और न नया हो सकता है। स्वभाव की शक्ति में जितना स्थिर हुआ जाए उतना ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न: पुण्य तो साथी है, उसके बिना आत्मा अकेला क्या करेगा?

उत्तर : पुण्य का निषेध करके स्वभाव में जो सम्पूर्ण शक्ति है, उसकी रुचि के बल से जीव अकेला ही पहले से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ करता है। बाह्य दृष्टान्त को लें तो यदि चलनेवाला अपने पैरों से चले तो साथी (मार्गदर्शक) निमित्त कहलाता है, किन्तु यहाँ अन्तरंग अरूपी मार्ग में किसी का अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में त्रिकाल में भी कोई बाह्य साधन नहीं है। अपनी शक्ति में वैसी तत्परता हो तो वहाँ तदनुकूल संयोग अपने आप उपस्थित होते हैं। आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि उसके लिए निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़े।

प्रश्न : जब उपदेश सुने तभी तो ज्ञान होगा?

उत्तर : उपदेश सुनने से ज्ञान नहीं होता; यदि ऐसा होता हो तो सभी श्रोताओं को एक सा ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता; लेकिन जिसमें जितनी योग्यता है, वह

स्वयं उतना समझता है; उसमें निमित्त से ज्ञान होने की बात नहीं है। कोई चाहे जितना समझाये, किन्तु स्वयं सत्य को समझकर स्वयं ही निर्णय करना चाहिए।

नव तत्त्व में विकारी अवस्था के भेद को दूर करके (गौण करके) अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायकस्वभाव को भूतार्थ दृष्टि से देखने पर एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार अन्तरंग लक्ष्य की एकाग्रदृष्टि से देखें तो ज्ञायकभाव जीव है, और जीव के विकार का भेद अजीव है। 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार मन के योग से जो विकल्प होता है, उसे यहाँ जीवतत्त्व कहा है। जैसे जब तक राजपुत्र राज्यासन पर नहीं बैठा तब तक वह ऐसा विकल्प करता है कि -मैं राजा होनेवाला हूँ, किन्तु जब राज्यासनारूढ़ हो जाता है, और उसी की आज्ञा चलती है, तब तत्सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता; इसी प्रकार मैं पर से भिन्न आत्मा हूँ, अजीव नहीं हूँ ऐसे विकल्प से एकरूप परमार्थ की श्रद्धा के लिए नव तत्त्व का विचार करता है, पश्चात् जब यथार्थ-अनुभवयुक्त प्रतीति हो जाती है, तब वहाँ नव तत्त्व के विकल्प गौण हो जाने पर अपने को स्वविषयरूप अखण्ड मानता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। द्रव्य के निश्चय के कारण से स्वभाव में नि:शंक होने के बाद श्रद्धा सम्बन्धी विकल्प नहीं उठते। यदि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग को जल्दी दूर न कर सके तो नव तत्त्व के विशेष ज्ञान की निर्मलता का विचार करता है, किन्तु वह राग को करनेयोग्य (उपादेय) नहीं मानता। वह विकारनाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से राग को दूर करता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा में अनन्त केवलज्ञान को प्रगट करने की पीढ़ी का प्रारम्भ है। मैं पूर्ण अरागी हूँ इस प्रकार स्वभाव की अखण्ड दृष्टि होने पर भी अस्थिरता से पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न हो तो उसका यहाँ निषेध है। पर में अच्छा-बुरा मानकर उसमें लग जाने का मेरा स्वभाव नहीं है; किन्तु लगातार एकरूप जानना मेरा ज्ञायकस्वभाव है।

आत्मा में पुण्य-पाप के विकल्प भरे हुए नहीं हैं। जैसे दर्पण की स्वच्छता में अग्नि, बर्फ, विष्टा, स्वर्ण और पुष्प इत्यादि जो भी सम्मुख हों वे सब दिखायी देते हैं तथापि उनसे दर्पण को कुछ नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा पर-संयोग से भिन्न है, भावत: दूर है, इसलिए परवस्तु चाहे जिसरूप में दिखायी दे किन्तु वह आत्मा में दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। [१]ज्ञायक स्वभाव किसी भी संयोग में, चाहे जैसे क्षेत्र या काल में रुकनेवाला नहीं है,

१. निरपेक्ष, अखण्ड, पारिणामिकभाव।

क्योंकि आत्मा पररूप नहीं है और पर आत्मरूप नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभाव की श्रद्धा की प्रतीति के द्वारा स्वभाव के आश्रय से निर्मलभाव प्रगट होता है। नव तत्त्व के शुभराग के अनेक प्रकार के राग के भेद प्रगट होते हैं जो कि अन्तरंग में सहायक नहीं हैं। बाह्यदृष्टि से देखने पर पर-निमित्त के भेद दिखायी देते हैं; अन्तरंग में दृष्टि में अभेद, ज्ञायकस्वरूप मात्र आत्मा दिखायी देता है। कर्माधीन होनेवाली अवस्था के जो भेद होते हैं, उनकी अपेक्षा से रहित त्रिकाल एकरूप ध्रुव-स्थायी एक ज्ञायकभाव को ही आत्मा कहा है।

तू सदा एकरूप ज्ञाता है। जानना ही जिसका स्वभाव है, वह किसे न जानेगा? और जिसका जानना ही स्वभाव है, उसे पर में अच्छा-बुरा मानकर रुक जानेवाला रागवान कैसे माना जा सकता है? अहो! मैं तो ज्ञायक, पूर्ण कृतकृत्य, सिद्ध परमात्मा के समान ही हूँ। अवस्था में निमित्ताधीन विकार का भेद अभूतार्थ है, स्थायी नहीं है, इसलिए उसमें मेरा स्वामित्व नहीं है।

ज्ञान सर्व समाधान स्वरूप है। जैसे-वीतरागी, केवलज्ञानी परमात्मा एक-एक समय में लोकालोक को परिपूर्ण ज्ञान से जाननेवाले हैं, वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार जिसे पूर्ण-स्वतन्त्र स्वभाव की महिमा की प्रतीति हो जाती है, उसके अन्तरंग से सारे सांसारिक मल दूर हो जाते हैं। उसे देहादिक किसी भी संयोग में महत्ता नहीं दिखायी देती है। जिसने निमित्ताधीन-दृष्टि का परित्याग कर दिया है, उसने संसार का ही परित्याग कर दिया है, और पूर्ण स्वतन्त्र-मोक्ष स्वभाव को ग्रहण कर लिया है।

पुण्य-पाप के भेद मात्र आत्मा के नहीं होते। इसलिए अवस्था के विकार में अजीव हेतु हैं; अर्थात् जीव में कर्म-निमित्तक शुभाशुभभाव नव तत्त्व के विकल्परूप से हैं। और फिर पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष जिसके लक्षण हैं ऐसे जो केवल जीव के विकार हैं।

पर-निमित्त के भेद से रहित आत्मस्वभाव को देखने पर आत्मा ज्ञायक एकरूप है, उसमें अवस्था पर लक्ष्य करके पर निमित्त में युक्त होकर नव तत्त्व का विचार करे तो राग होता है, मैं इस प्रकार संवर कर सकता हूँ, मोक्ष को प्राप्त करूँ, ऐसे विचार में लगकर जो मन के राग में अटक रहा है सो वह (अटकने के रूप में) सत्यार्थ है। एकरूप ज्ञायकस्वभाव नव प्रकार के राग के भेद से रहित है, ऐसे निरावलम्बी अखण्ड स्वभाव पर एकाग्रता करने

पर निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और विकार का सहज नाश होता। अकेली पर्याय पर लक्ष्य देने से राग की उत्पत्ति होती है, निर्मलता प्रगट नहीं होती, स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। अवस्थादृष्टि वह रागदृष्टि है, व्यवहारदृष्टि है। मैं वर्तमान में त्रिकाल स्थायी पूर्ण ज्ञायक हूँ, जितनी निर्मल अवस्था प्रगट होगी वह मुझमें अलग प्रगट होनेवाली नहीं है। मोक्षदशा, अनन्त-ज्ञानानन्द, अनन्त आत्मबल इत्यादि सम्पूर्ण शक्ति प्रतिसमय वर्तमानरूप में आत्मा में भरी हुई है। ऐसे पूर्ण अखण्ड स्वभाव पर लक्ष्य देने पर विकल्प छूट जाता है।

श्रद्धा का विषय आत्मा का सम्पूर्ण त्रिकाल पूर्ण स्वभाव है। संसार और मोक्ष अवस्था है। उस अवस्था तथा मोक्षमार्ग की अवस्था के भेद का लक्ष्य श्रद्धा के विषय में नहीं है। जैसे सामान्य स्वर्ण को लेनेवाला सोने की कारीगरी की अलग कीमत नहीं देता यद्यपि सोने में वर्तमान सारी कारीगरी की योग्यतारूप शक्ति है, उसे वह स्वर्णरूप में अभिन्न अनुभव करता है; इसी प्रकार आत्मा एकरूप त्रिकाल, पूर्ण शक्ति से अखण्ड है, उसे माननेवाला किसी अवस्था के भेद को पृथक्-खण्डरूप में ग्रहण नहीं करता, केवलज्ञानादिरूप समस्त शक्तियाँ वर्तमान द्रव्य में भरी हुई हैं, उस अखण्ड ज्ञायकस्वभाव के बल से निर्मल अवस्था सहज प्रगट होती है, किन्तु यदि भेद पर लक्ष्य रखकर नव तत्त्व के विकल्प में लग जाए तो स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता, निर्मल आनन्द-शान्ति प्रगट नहीं होती; इसलिए भेद को गौण करके नव तत्त्व के भेद से किंचित् छूटकर स्वभाव जो कि एकरूप है, उस पर एकाग्रता का भार देने पर एक साथ निर्मलता की उत्पत्ति, और विकार का नाश होता है, तथा क्रमशः पूर्ण निर्मल मोक्ष पर्याय सहज ही प्रगट हो जाती है। अविकारी एकाकार पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव की ऐसी महिमा है। निर्मल शक्ति का बल द्रव्य में से स्वरूप स्थिरता के रूप में आता है। वह निर्मल-निराकुल शान्ति, सुख और आनन्द अपना स्वाद है।

समयसार का अर्थ है असंयोगी, अविकारी, शुद्ध आत्मा का स्वभाव। सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् ज्ञान से प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु की स्वतन्त्रता को देखा है। कर्म के निमित्त से आत्मा में विकारी अवस्था होती है, वह क्षणिक विकार का नाशक त्रैकालिक स्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। उसकी प्राप्ति कैसे करनी चाहिए, यह बतानेवाली वाणी सर्वज्ञ के मुख-कमल से निकलती है, जिसे सन्त पुरुष झेलते हैं। आत्मानुभव से उस परम सत्य

को पचाकर जगत के परम उपकार के लिए सन्त पुरुषों ने परमागम शास्त्रों की रचना की है, उनमें से यह समयसार ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट है। एक-एक गाथा में त्रिकाल के सर्वज्ञ-हृदय के रहस्य भरे हुए हैं। इसे जो समझता है, वह निहाल हो जाता है।

जो वस्तु होती है, वह नित्य स्वयंसिद्ध होती है, किसी के आधीन नहीं होती, आत्मा जड़ इत्यादि पदार्थ त्रिकाल स्वयंसिद्ध हैं। जैसे कोई अग्नि को गरम न माने तो उससे उसका स्वभाव नहीं बदल जाता, इसी प्रकार जड़-चेतन पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं; किसी के कार्य कारणरूप नहीं हैं, तथापि यदि ऐसा न माने तो स्वभाव बदल नहीं जाता। अपने पृथक्त्व को भूलकर, निमित्ताधीन दृष्टि से देखनेवाले ने जिसको देखा उसको अपना मान लिया। जो शरीर इन्द्रियादिक हैं सो मैं हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, और मैं पर का कुछ कर सकता हूँ; इस प्रकार मानता है, किन्तु अनन्त काल में एक क्षण भर को भी यह नहीं माना कि मैं पृथक् नित्य-ज्ञायक हूँ।

निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर स्वाधीन स्वभाव की एकरूप दृष्टि से देखने पर जीव ज्ञायकभाव है; वह मात्र जाननेवाला ही नहीं है किन्तु अनन्त सत्व-स्वरूप अन्य अनन्त गुणों से परिपूर्ण है; उसकी वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप के विकार का निमित्त-कारण अजीव है। (यहाँ यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि जीव को जड़-पदार्थ विकार कराते हैं) अपने को भूलकर निमित्त को अपने में गुण-दोष-दाता मानकर आत्मा स्वयं ही विकारी अवस्था करता है, तब परवस्तु की उपस्थित निमित्त कहलाती है। उसके दो पहलू हैं। [१] नव प्रकार के विकल्परूप से विकारी भाव जिसका लक्षण है, वह तो जीव की अवस्था है। यदि विकारी होने की योग्यता जीव में स्वयं न हो तो नयी नहीं हो सकती, किन्तु वह एक-एक समय की अवस्था जितनी ही होती है इसलिए नित्य स्वभाव के लक्ष्य से क्षण भर में निर्मलरूप में बदल सकती है [२] जीव की विकारी अवस्था के नव भेदों में निमित्तकारण जड़कर्म है।

विकार त्रिकालीस्वभाव में से नहीं आता, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि से नया होता है। जब आत्मा पुण्य-पाप के राग में अटक जाता है, तब गुण का विकास रुक जाता है, वह भावबन्धन है। जहाँ निन्दा और प्रशंसा को सुनने के लिए रुका कि—वहाँ दूसरा विचार करने की आत्मा की शक्ति हीन हो जाती है। पंचेन्द्रियों के विषयों की ओर अच्छे-बुरु की रुचि करके राग में जो रुकना होता है, सो वही परमार्थ से भावबंधन है।

यहाँ सात अथवा नव तत्त्व के शुभाशुभ विकल्प को जीव के विकार का लक्षण कहना है। दया, दान, सेवा और भक्ति के शुभभाव जीव स्वयं परलक्ष्य से करता है, तब होते हैं। उसके निमित्त से पुण्य के जो रजकण प्रारब्धरूप से बँधते हैं, सो अजीवतत्त्व है। एक ओर विकारी सात तत्त्व के रूप में जड़-अजीव वस्तु है और दूसरी ओर जीव की विकारी अवस्था सात प्रकार के विकल्परूप से है। उस विकार के दो-दो भेद एकरूप स्वभाव में नहीं हैं; उस भेद के लक्ष्य से निर्मल श्रद्धा प्रगट नहीं होती।

अपने में प्रतिक्षण क्या हो रहा है इसका विचार तक जीव नहीं करते, घर की खिड़कियों, दरवाजों और जीने की सीढ़ियों का बराबर ध्यान रखता है कि वे कितनी हैं और कैसी हैं, किन्तु भगवान आत्मा के शाश्वत् घर में क्या निधान है, और मैं उनका कैसा क्या उपयोग करता हूँ, इसकी कोई खबर नहीं रखता। यहाँ कोई कह सकता है कि यह चर्चा तो बहुत बारीक है, जो कि मेरी समझ में नहीं आती किन्तु यदि बाहर की कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्ति बतायी जाए तो झट समझ में आ जाती है। अरे भाई! यह तो ऐसी बात हुई कि:—

घर में नहीं है चून चने का, ठाकुर वड़ीं करावें।
मुझ दुखनी को लहँगा नाहीं, कुतिये झूल सिलावें॥

तेरे अपने स्वाधीन गुण की निरन्तर हत्या होती है, तेरे अविवेक से तेरी समस्त शक्तियाँ हीन हो रही हैं; इससे तेरा स्वभाव प्रगट नहीं हो सकता, किन्तु विकारी पर्याय ही प्रगट होती है। तू अपने स्वभाव को लुटा रहा है। इस प्रकार आत्मा में सुख का अकाल करके मैं किसी का भला कर सकूँगा, ऐसी जो मान्यता बना रखी है, सो अनादि कालीन महा अज्ञान है। जो पुण्य के संयोग में सुख मानता है, वो भी मात्र आकुलता के दु:ख में सुख की कल्पना कर रहा है। जैसे मूढ़ बालक विष्टा को चांटता है। उसी प्रकार बाल जीव स्वभाव की शान्ति को भूलकर पुण्य-पाप की आकुलता को अपना मानकर उसका स्वाद लेते हैं। और वे ऐसी व्यर्थ की डींग मारते रहते हैं कि - हम नीतिवान हैं, हम परोपकारी हैं, किन्तु अरे भाई! जरा ठहर और विचार कर कि - तू कौन है, तेरा क्या स्वरूप है, क्या नहीं है, तू क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता, यह सब निर्णय कर, अन्यथा चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने का पार नहीं आयेगा। अज्ञान वह कोई बचाव नहीं है। जैसे

शराबी मनुष्य शराब पीकर उसमें आनन्द मानता है, इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने को अज्ञान भाव से सुखी मानता है, वे दोनों समान हैं। यह जीव अनन्त काल से चौरासी के अवतार में अनन्त बार अपार दु:ख भोगकर आया है; उन्हें यह भूल गया है। यदि स्वयं ही निज को अपनी दया आये तो इस भव का अन्त हो। अन्तरंग में जो निराकुल आनन्द है, उसे भूलकर यह जीव बाहर की आकुलता के दु:ख को ही सुख मान रहा है।

जो यह कहते हैं कि मैं लोगों का सुधार कर दूँगा, वे झूठे हैं। अपने राग के लिए कोई शुभभाव करे तो उसका निषेध नहीं है, किन्तु जो उसमें यह मानता है कि मैं दूसरे का कुछ करता हूँ और दूसरे के लिए करता हूँ, सो महा मूढ़ता है। जगत में सर्वत्र काँटे बहुत हैं, किन्तु तू उन सबकी चिन्ता क्यों करता है। यदि तू केवल अपने पैरों में जूते पहिन ले तो बहुत है। तेरे द्वारा दूसरे का समाधान नहीं हो सकेगा। जब तुझे भूख लगती है, तब दुनियाँ भर को भूलकर अकेला खा लेता है। ऐसा कोई परोपकारी दिखायी नहीं देता कि जो ऐसा निश्चय करे कि जब गाँव के सब लोग खा चुकेंगे तब मैं खाऊँगा, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता।

कहत कबीरा सुन मेरे मुनियाँ।
आप मरे सब डूब गयी दुनियाँ॥

स्वयं समझ लिया कि मैं पर से भिन्न हूँ, दूसरे के साथ त्रिकाल में भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है; इस प्रकार अपने स्वतन्त्र स्वभाव का निर्णय होने के बाद, जगत माने या न माने, उस पर अपनी मान्यता अवलम्बित नहीं है। अपने परमार्थ एकरूप स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप की विकारी अवस्था मेरी है, इस प्रकार पर में नव प्रकार के विकल्पों से एकता मानकर उसके फल में खण्ड-खण्ड भाव से राग में जीव अटक जाता है, यह बात (अटकने की अपेक्षा से) सच है।

प्रश्न : आत्मा के साथ कर्म का संयोग कब से हुआ है ?

उत्तर : कर्म का संयोग अनादि काल से है, किन्तु वह एक-एक समय को लेकर वर्तमान अवस्था से है। जहाँ तक विकारी भाव को दूर नहीं करेगा तब तक वह वैसा ही बना रहेगा। वर्तमान में किसी भी जीव के पास अनादि काल के कर्म नहीं हैं। हाँ प्रवाहरूप

से अनादि हैं। जीव पर से बँधा हुआ नहीं किन्तु पर से भिन्न है, तथापि अज्ञान भाव से पर को अपना मानकर परोन्मुखरूप-राग में अनादि काल से अनेक अवस्थाओं में यह जीव अटक रहा है।

जैसे कनक पाषाण में सोना, और तिल में तेल तथा खली एक साथ ही होती है, तथापि स्वभावत: भिन्न हैं इसलिए उन्हें अलग किया जा सकता है; इसी प्रकार जीव और कर्म का एक साथ एक क्षेत्र की अपेक्षा से अनादि कालीन संयोग सम्बन्ध है, किन्तु दोनों भिन्न वस्तु हैं इसलिए वे अलग हो सकती हैं।

कोई कहता है कि हम तो आपकी बात को तब सच माने जब कि हम उसे सुनते ही तत्काल सब समझ लें; किन्तु भाई! पाठशाला में जब पढ़ना प्रारम्भ किया जाता है, तब क्या सब कुछ उसी समय समझ में आ जाता है ? और व्यापार सीखने के लिए कई वर्ष तक अभ्यास करता है क्योंकि उसमें उमंग है; और क्या यह मुफ्त की चीज़ है, जो सुनते ही तत्काल मन में समा जाए। यह तो ऐसी अपूर्व बात है, जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है, इसलिए यह खूब परिचय करने पर समझ में आ सकती है।

जो यह कहता है कि आप तो दिन-रात आत्मा ही आत्मा की बातें किया करते हैं, आप कभी कोई ऐसी बात तो कहते ही नहीं कि जिसमें किसी का भला कर सकें; तो वह यथार्थतया यही निश्चय नहीं कर पाया कि दूसरे के लिए वह कितना उपकारी है।

प्रश्न : जो दिखायी नहीं देता उसकी महिमा गायी जाती है, और जो दिखायी देता है, उसके सम्बन्ध में आप कहते हैं कि इसे तू नहीं कर सकेगा, इसका क्या कारण है ?

उत्तर : आत्मा अरूपी है, ज्ञातास्वरूप है, वह किसी अन्य वस्तु का कुछ करने के लिए समर्थ नहीं है, जो दिखायी देता है, वह जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है। जीव तो राग-द्वेष और अज्ञान कर सकता है, अथवा राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके ज्ञान और शान्ति कर सकता है। तू कहता है कि आत्मा दिखायी नहीं देता, किन्तु यह तो बता कि - यह किसने निश्चय किया कि - आत्मा दिखायी नहीं देता ? देह अथवा जड़ इन्द्रियों को तो खबर होती नहीं तब उन सबको जाननेवाला कौन है ? सच्चे-झूठे का निश्चय करनेवाला शरीर नहीं हो सकता। इसलिए शरीर से भिन्न आत्मा है, यह पहले स्वीकार कर लेने पर यह जानना चाहिए कि - उसका क्या स्वरूप है, उसके क्या गुण हैं, वह किस अवस्था में है, और भिन्न

हैं तो किससे भिन्न है। समझने की इस पद्धति से यथार्थ को समझा जा सकता है। यदि सुनकर मनन न करे तो क्या लाभ हो सकता है।

अपूर्व परम तत्त्व की बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है, इसलिए उसके विचार में सत्समागम में, अधिक समय लगाना चाहिए। भीतर से भव धारण करने का खेद होना चाहिए कि - अरे रे! मैंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की। यदि अन्तरंग में अपनी दया आये तो यह जाना जा सकता है कि पर दया क्या है? अपने को पर का कर्ता मानना, अथवा पुण्य-पाप के विकाररूप मानना ही सबसे बड़ी स्वहिंसा है। अपने स्वभाव को पर से भिन्न त्रिकाल स्वाधीन जानकर, अपने को राग-द्वेष और अज्ञान से बचाना; अर्थात् एकरूप ज्ञानभाव से अपनी संभाल करना, सो सच्ची अहिंसा है।

जिस भाव से जन्म-मरण दूर होता है, उसकी बात यहाँ कही जाती है। धर्म के नाम लौकिक बातें करनेवाले तो इस जगत में बहुत हैं। काम, भोग, और बंध की कथा घर-घर सुनने को मिलती हैं; आत्मा पर का कर्ता है, उपाधिवाला है, इत्यादि बातें भी जहाँ तहाँ सुनने मिलती किन्तु यहाँ तो नव तत्त्व की पहिचान कराकर और फिर उस भेद को तोड़कर अभेद स्वभाव में जाने की बात कही है। वर्तमान संयोगाधीन अवस्था को गौण करके नव तत्त्व के भेदरूप मन के योग से जरा हटकर, सर्व काल में अस्खलित एक जीव द्रव्य में स्वभाव के समीप जाकर एकाग्र अनुभव करने पर नव प्रकार के क्षणिक भंग अभूतार्थ हैं-असत्यार्थ हैं। वे त्रिकाल स्थायी नहीं हैं। त्रिकाल स्थायी तो स्वयं है। यह सम्यग्दर्शन की पहली से पहली बात है। अनादि कालीन विपरीत मान्यता का नाश करके परिपूर्ण स्वभाव को देखनेवाली शुद्ध दृष्टि का अनुभव होने पर दु:ख का नाशक और सुख का उत्पादक पवित्र आत्मधर्म प्रगट होता है।

नव प्रकार के विचार में खण्ड-खण्डरूप से रुककर सत् समागम से पहले मन से यथार्थ निर्णय करना होता है; किन्तु उस भेद में लगे न रहकर नव तत्त्व के विचार से जरा पीछे हटकर, निर्विकल्प एकरूप सम्पूर्ण ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होकर, एकत्व का अनुभव करने पर एक में अनेक प्रकार के भेद दिखायी नहीं देते। क्षणिक शुभ-अशुभ विकल्प ध्रुव स्वभाव में स्थान नहीं पाते। इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार वह एकरूप से प्रकाशित करता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव

किया जाता है। और जो वह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है; और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। आत्मा की पूर्ण सुखरूप दशा को प्रगट करने का यह मूल है।

यह सम्यग्दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं है तथा ऐसी वस्तु भी नहीं है कि जिसे मात्र मन में धारण कर लिया जाए। प्रभु! तेरी वस्तु तेरे ही पास है जिसे ज्ञानी बतलाते हैं। तेरी महत्ता अनन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ने गायी है। जैसे चक्रवर्ती शकोरा लेकर, अथवा मिट्टी का भिक्षापात्र लेकर भीख माँगने निकल पड़े, दूसरे का मुँह ताके, और पराश्रय ढूँढ़े, तो वह उसे शोभा नहीं देता, उसी प्रकार तू अपने उत्कृष्ट स्वभाव को भूलकर दूसरे की आशा करता है, दूसरे से सहायता चाहता है, तो वह तुझे शोभा नहीं देता।

मेरा पूर्ण स्वभाव अविकारी ध्रुव एकरूप है। ऐसे स्वभाव के बल से विकारी अवस्था के लक्ष्य को गौण करके, मैं नित्य एकस्वभावी भूतार्थ हूँ, ऐसी यथार्थ पहिचान का स्वानुभव में आना, सो नि:शंक आत्मानुभूति है। यही अपूर्व आत्म-साक्षात्कार है। यही आत्मख्यातिरूप एकत्व की सच्ची श्रद्धा है, वह अखण्डस्वलक्ष्य से प्रगट होती है।

इस प्रकार यह सर्व कथन पूर्वापर दोष रहित है। लोग भी कहते हैं कि - परिचय बहुत बड़ी वस्तु है। निमित्ताधीन दृष्टि से पुण्य-पाप के बाह्यभाव में अटककर जीव अनेक प्रकार के खण्डों का अनुभव करता था, निज लक्ष्य को भूलकर पर को मानता, जानता और पर के राग में अटक रहा था; जब रुचि बदल गयी तब वह एकरूप स्वभाव में आया और उससे वह अपने को मानता, जानता और उसमें स्थिर होता है। इस प्रकार जब आत्मा की पहिचान स्वयं करता है, तब होती है।

प्रश्न : जबकि सब स्वयं अपने लिए करते हैं, तो गुरु उपदेश किसलिए देते हैं?

उत्तर : वे दूसरे के लिए उपदेश नहीं देते किन्तु अपने को सत् के प्रति रुचि है इसलिए वे अपनी अनुकूलता के गीत गाते हैं। यह तो अपनी रुचि का आमन्त्रण है। अपनी रुचि की दृढ़ता को प्रगट करते हुए, सत्य की स्थापना और असत्य का निषेध सहज ही हो जाता है। मैं किसी के लिए उपदेश करता हूँ, यह मानना मिथ्या है। दूसरे लोग धर्म प्राप्त करें, या न करें इससे उपदेशक को लाभ या हानि नहीं होती, किन्तु प्रत्येक को अपने भाव की तारतम्यता के अनुसार फल मिलता है।

यह अपूर्व समझ की रीति कहलाती है। यह बाहरी बातें नहीं हैं। सत्य जल्दी पकड़ में न आये और सीधी बात के समझने में देर लगे तो कोई हानि नहीं है, किन्तु अपनी कल्पना से उल्टा कर बैठे तो अपने में बहुत बड़ा विरोध बना रहेगा। सत्य को समझे बिना राग दूर नहीं हो सकता। विपरीत ग्रहण से मूढ़ता का विष चढ़ जाएगा।

कोई बालक माता से कहे कि 'मुझे बहुत भूख लगी है, घर में जो कुछ हो सो मुझे दे दे।' माता कहती है कि घर में मात्र रोटी हैं, लेकिन उस पर विषैले जानवर का विष पड़ा हुआ मालूम होता है इसलिए वह खाने योग्य नहीं हैं; मैं एक घण्टे में दूसरा भोजन तैयार करे देती हूँ; अथवा काकाजी के घर चला जा, उनके घर मिष्टान्न तैयार हो रहा है; किन्तु उसमें दो-तीन घण्टे की देर लगेगी, इतने में कुछ मर नहीं जाएगा, किन्तु यदि यह विषैली रोटी खा लेगा तो जीवित नहीं रहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि निर्दोष अमृतमय उपदेश में से पवित्र आत्मा के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी मिष्टान्न तैयार हो रहा है, उसे समझने का धैर्य न रखे, उसे महँगा समझकर बाहर के पुण्य-पाप में धर्म माने, तो उस विपरीत मान्यता का चढ़ा हुआ विष ऐसा फद-फदा उठेगा कि पुण्य के शोथ की जलन का पार नहीं आयेगा; चौरासी के अवतार में कहीं भी धर्म सुनने का सुयोग नहीं मिलेगा। इसलिए सर्वज्ञ वीतराग का कथन क्या है ? उसे पात्रता से सत्समागम से निवृत्ति पूर्वक सुनकर, अविकारी-आत्मस्वभाव को स्वीकार करना चाहिए।

आत्म-प्रतीति के होने के बाद, स्वभाव के बल से विशेष राग के दूर होने पर बीच में व्रत-संयम के शुभभाव सहज ही आते हैं, शुभाशुभ वृत्ति में छूटकर अन्तरंग ध्यान में एकाग्र होते समय बाह्यवृत्तिरूप विचार नहीं होता। शुभाशुभ राग अविकारी स्वभाव से विरोधभाव है; उससे त्रिकाल में भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। पापभाव को छोड़ने के लिए पुण्यभाव ठीक है-उसका निषेध नहीं है, किन्तु उससे हित मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि वहाँ अविकारी स्वभाव का विरोध होता है। जिसे पूर्वापर विरोध रहित स्वरूप की प्रतीति नहीं है उसके सच्चे व्रत और साधुता नहीं हो सकती। कषाय को सूक्ष्म करने से पुण्यबन्ध होता है, किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष-निर्बाध है। बाह्यदृष्टिवाला जीव निर्दोषत्व अथवा दोषत्व किसमें निश्चय करेगा ?

जैसे एक ढ़ाल की दो बाजू होती हैं, उनमें से जब एक बाजू देखने की मुख्यता होती है, तब दूसरी लक्ष्य में गौण हो जाती है; इसी प्रकार एक आत्मा को कर्म के निमित्ताधीन विकारी क्षणिक दृष्टि से देखें तो एकरूप स्वभाव से विरुद्ध अनेक प्रकार का रागभाव है, उसे जानकर यह मेरा मूल स्वभाव नहीं है, इसलिए उस ओर आदरभाव से देखना बन्द करना चाहिए अर्थात् उसके लक्ष्य को गौण कर देना चाहिए। यदि अन्तरंग दृष्टि से दूसरी शुद्ध पवित्रता की बाजू पर देखें तो आत्मा त्रिकाल एकरूप ज्ञायक है, अनन्त आनन्दस्वरूप है।

भावार्थ : इन नव तत्त्वों को जानने के बाद, एक में अनेक प्रकार को देखनेवाली बाह्य दृष्टि को गौण करके शुद्धनय से अखण्ड एक स्वभाव की ओर उन्मुख होकर देखें तो जीव ही एकमात्र चैतन्य चमत्कार प्रकाशरूप में प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों के विकल्प कहीं कुछ दिखायी नहीं देते। इस प्रकार जहाँ तक जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की जानकारी नहीं है, वहाँ तक वह व्यवहार में मूढ़ दृष्टिवाला है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों को मानता है।

शुद्धनय के द्वारा नव प्रकार में से बाहर निकालकर आत्मा को एकरूप मानना सो सम्यक्त्व है। नव तत्त्वों के विकल्प के भेद की श्रद्धा को गौण करके अभेद को स्वविषय करनेवाले को निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। पहले नव तत्त्वों के भेद जानना पड़ते हैं, किन्तु वह गुण का कारण नहीं है, स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो त्रिकाल एक शुद्ध ही है। वह विकार का नाशक, गुण का रक्षक और निर्मलता का उत्पादक है; उसके बल से धर्म का प्रारम्भ होता है।

आत्मा का स्वभाव निमित्ताधीन होनेवाले दोष और दु:खरूप अवगुण दशा का नाशक है। विकार का नाशक ध्रुवस्वभाव अन्तरंग में पूर्ण शक्तिरूप से भरा हुआ है, जो कि स्वयं आत्मा है। अवगुणों को दूर करने से पूर्व, उन्हें दूर करते समय अथवा दूर करने के बाद स्वयं तो एक ही प्रकार से अविकारी ज्ञानानन्द स्वरूप है। जो स्वभाव नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान विकारी अवस्था के समय भी विकार का ज्ञाता आत्मा, अविनाशी पूर्ण शक्ति से शुद्ध है, वह विकाररूप से क्षणिक नहीं है, स्वभाव के बल से विकार का नाश करके एकाकी रहनेवाला है। वह त्रिकाल अविकारी भिन्न ही है, निमित्ताधीन विकारी अवस्था क्षणिक है, किन्तु आत्मा इतने भर के लिए भी क्षणिक नहीं है।

आत्मा मन, वाणी और देह की क्रिया तथा किसी परवस्तु की क्रिया व्यवहार से भी नहीं कर सकता, क्योंकि दो तत्त्व त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप है, उसे किसी दूसरे का कर्ता माने तो वह विपरीत दृष्टि का अज्ञान है। क्षणिक विकार की जो शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका स्थान मेरे ध्रुवस्वभाव में नहीं है। मैं जिस अवगुण का नाश करना चाहता हूँ उसका नाशक पवित्र स्वभाव मुझमें है, उसके लिए बाहर लक्ष्य करने की आवश्यकता नहीं है। बाह्य-साधन अन्तरंग में सहायक नहीं होता। बाह्य-लक्ष्य से पुण्य-पाप के जितने भाव किये जाते हैं, वे अविकारी स्वभाव से विरोधरूप होने के कारण आदरणीय नहीं हैं। जहाँ पुरुषार्थ की हीनता है वहाँ शुद्ध के लक्ष्य से अशुभ से बचने के लिए शुभभाव होते तो हैं, किन्तु उनसे गुणों को कोई सहायता नहीं मिलती। शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है, जो उस विकार को अविकारी गुण में सहायक मानता है, उसे गुण के प्रति श्रद्धा नहीं है।

यद्यपि अखण्ड गुण की श्रद्धा और पूर्ण वीतरागता का ही आदर है तथापि ज्ञानी को छद्मस्थ अवस्था में अपनी शक्ति से पुण्य-पाप का योग होता है; उसे ज्ञानी जानता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं स्वभाव के बल से विकार का नाशक हूँ। इस प्रकार क्षणिक विकार की नास्ति को देखनेवाला अविनाशी गुणरूप पूर्णस्वभाव की अस्ति को यथावत् देखकर अविकारी एकरूप ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा में लेता है। विकार का नाशक परिपूर्ण निर्मल स्वभाव जैसा है, उसे वैसा ही मानना सो सर्व प्रथम उपाय है; उसके बिना व्रत, प्रत्याख्यान आदि सच्चे नहीं होते।

आत्मस्वभाव को सम्पूर्णतया लक्ष्य में लिए बिना धर्म नहीं होता। शरीर की क्रिया और बाह्य संयोगों की प्रवृत्ति की तो यहाँ बात ही नहीं है; बाहर का लेन-देन और जड़-वस्तु का त्याग-ग्रहण त्रिकाल में भी आत्मा के आधीन नहीं है। संयोगों में लगने से या परोन्मुख होने से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उद्‌भूत होती हे, वह मलिन अवस्था आत्म-स्वभाव की नहीं है। उसके लक्ष्य को गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभाव को लक्ष्य में ले तो स्वयं ही निर्विकल्प एकरूप चैतन्यचमत्कार अलग ही दिखायी देता है, (यहाँ दिखायी देने का अर्थ आँखों से दिखायी देना नहीं है, किन्तु परिपूर्ण निर्मल स्वभाव की नि:सन्देह प्रतीति होना है) वहाँ भिन्न-भिन्न नव तत्त्व के प्रकार दिखायी नहीं देते। जहाँ तक

स्वतन्त्रतया परमार्थ आत्मा का ज्ञातृत्व जीव को नहीं है, वहाँ तक वह व्यवहारदृष्टि वाला है, चौरासी में परिभ्रमण करनेवाला है।

नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा मिथ्यादृष्टिपन है। पुण्यभाव के करते-करते निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट हो जाएगा, जो ऐसा मानता है, उसे अविकारी भिन्न स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, पवित्रता की रुचि नहीं है, उसे राग की भक्ति है अर्थात् वीतराग से विरोधभाव की भक्ति है। बाह्यदृष्टिवाले को यह परम सत्य कठिन मालूम होता है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व शुद्ध अभिप्राय प्राप्त होने की यह बात है। अविरोधी स्वभाव का आदर करने के बाद अशुभ को दूर करने के लिए भक्ति, दान, पूजा इत्यादि के शुभभाव होंगे, किन्तु उनमें कर्तृत्व स्वामित्व अथवा हितभाव नहीं माना जा सकता। यह तो विपरीत मान्यता की पकड़ है जो जमकर बैठी है। जिसे यह समझने की परवाह नहीं है कि तीनों काल के वीतराग का कथन क्या है, वही सत्य से विचकता है।

वर्तमान में पूर्ण वीतराग स्वभाव को माने बिना पर में, बन्धन में, पुण्य-पाप के विकार में कर्तृत्वबुद्धि की पकड़ नहीं मिट सकती। निमित्ताधीन दृष्टिवाला जो कुछ मानता है, जानता है अथवा करता है वह सब मिथ्या है। नव तत्त्व के विकल्प का जो उत्थान होता है सो वह स्वभाव का कर्तव्य नहीं है, किन्तु परलक्ष्य की ओर झुकने से क्षणिक अवस्थामात्र का होनेवाला विकार है। मैं दया, दान का करनेवाला हूँ, देह की क्रिया का कर्ता हूँ, मेरी प्रेरणा से सब कुछ होता है, यदि मैं न करूँ तो यह नहीं हो सकता इत्यादि मान्यता स्वतन्त्र, अक्रिय आत्मस्वभाव की हत्या करनेवाला महा मिथ्यात्व है। जीव पुण्य-पाप के विकारीभाव को अज्ञानभाव से करता है। जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वही मैं हूँ यह मानकर जो विकार भाव में अटक जाता है और जो शुभविकार के भाव को संवर-निर्जरारूप धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अभेद है, स्वतन्त्र है; और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से नहीं है। आकाश-क्षेत्र में संयोग-वियोग होता है; इसलिए दो मिटकर एक नहीं हो सकता; जीव सदा सोपयोगी (ज्ञाता-दृष्टा) अरूपी है, वह मिटकर कदापि और किसी भी अवस्था में जड़रूप नहीं हो सकता। परनिमित्त में सम्बन्ध मानकर राग-द्वेष में अटक जाए तथापि क्षणिक अवस्था के रागरूप से पूरा नहीं हो

सकता। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से पूर्ण निर्मल है। नव तत्त्व की भेदरूप अवस्था कर्म के निमित्त से और अपनी योग्यता से जीव में होती है। उस भेद का उल्लंघन करके स्वभाव में आने पर शुद्धनय के द्वारा अवस्थादृष्टि को गौण करके, अखण्ड ज्ञायक अविकारी स्वभाव को देखने पर नव तत्त्व के विकल्प से परे निर्मल ज्ञानानन्द एकरस से पूर्ण पवित्र भगवान आत्मा सदा एकरूप रहनेवाला वर्तमान में भी पूर्ण है ऐसी श्रद्धा होती है। साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द होता है।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं अविकारी, असंयोगी, एकरूप ज्ञाता-दृष्टा और स्वभावत: नित्यस्थायी हूँ; तथा जो पुण्य-पाप के विकल्प की क्षणिक संयोगी वृत्ति उत्पन्न होती है, सो वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह श्रद्धा के लक्ष्य में निमित्ताधीन किसी भेद को स्वीकार नहीं करता, क्षणिक वर्तमान अशक्ति से पुण्य-पाप की वृत्ति होती है तथापि उसका कर्ता और स्वामी नहीं होता। जो आत्मा पराश्रयरूप व्यवहार में अटक रहा है, वह पुण्य-पाप के विकार में मूढ़ होकर स्वामीरूप से राग का-पुण्य का कर्ता होता है। जिस भाव से बन्धन होता है, उस भाव को वह गुण में सहायक मानता है, इसलिए वह गुण की हत्या करता है। विरुद्ध भाववाला व्यक्ति मन में रटता रहे इसलिए अन्तरंग की मूढ़ता दूर नहीं हो जाती। ज्ञानी धर्मात्मा के जागृत स्वभाव का निरन्तर विवेक रहता है। जब स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पाप की वृत्ति में योग हो जाता है किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता, वह अपनी अशक्ति को छोड़ना चाहता है। अनन्त पवित्र-स्वभाव की श्रद्धा के बल से वह वर्तमान क्षणिक अशक्ति का कर्ता नहीं होता।

यह अपूर्व बात है, त्रिकाल के ज्ञाता इस प्रकार समझ का मार्ग बताते हैं। लोगों ने यह बात इससे पहले कभी नहीं सुनी थी। लोगों की ऐसी योग्यता है कि कानों में सत्य नहीं पड़ता और आग्रह की पकड़ बाधक होती है। सब स्वतन्त्र प्रभु हैं! जो पुण्य-पाप के क्षणिक विकार को अपना मानता है, वह अविनाशी निर्विकारी स्वभाव को नहीं मानता। जो पुण्य का-विकार का कर्ता होना चाहता है वह उसका नाशक नहीं होना चाहेगा। यदि अविकारी स्वभाव को स्वीकार कर ले तो पराश्रय के भेद पर भार न रहे, निमित्ताधीन दृष्टि न रहे। सत्य के आदर में असत्य का आदर न रहे। सत्य क्या है, यह मध्यस्थ भाव से समझना चाहिए, तीन लोक और तीन काल में सत्य नहीं बदल सकता।

प्रश्न : आत्मा पृथक् नहीं है तथापि उसे पृथक् क्योंकर मानना चाहिए?

उत्तर : आत्मा सदा पृथक् ही है, किन्तु बाह्य देहादि पर दृष्टि है इसलिए एकमेक माना है। जैसे गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता अपने अभ्यास से ऐसा मानता है कि मेरे आधार पर गाड़ी चल रही है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अरूपी ज्ञानानन्द है, उसे भूलकर देहाभ्यास से मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं पुरुष हूँ इत्यादि रूप से पर में एकत्व मान रखा है और इस विपरीत मान्यता ने अड्डा जमा रखा है। एक क्षेत्र में पानी और कंकड़ इकट्ठे रहते हैं इसलिए वे एकमेक नहीं हो जाते, इसी प्रकार यह आत्मा सदा अरूपी है, वह रूपी शरीर के साथ एकत्रित रहने से त्रिकाल में भी रूपी नहीं हो जाता। जड़ पदार्थ तो अन्ध होते हैं, उन्हें कुछ खबर नहीं होती। देहादिक रजकणों में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि हैं; जो कि जड़ के (पुद्गल के) गुण हैं, और जो मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि के रूप आकार हैं, सो भी जड़ की पर्यायें हैं। आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, अरूपी है, त्रिकाल में सदा पर से भिन्न है, वह देहादि की क्रिया का कर्ता नहीं है, प्रेरक नहीं है तथा उसे कोई प्रेरणा नहीं करता। मैं दूसरे का कुछ कर सकता हूँ और अन्य मेरा कर सकता है। इस प्रकार अनादि काल से मान रखा है, जो कि बहुत बड़ी भूल है। जड़ और चेतन को स्वतन्त्ररूप से भिन्न स्वीकार किये बिना किसी को भी पृथक्त्व की पहिचान और पृथक्त्व के स्वतन्त्र आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। मैं शरीर हूँ, पर का कर्ता हूँ, पुण्य-पाप विकार मेरे हैं, अन्य मुझे सुधार या बिगाड़ सकता है, इस प्रकार की मान्यता की प्रबलता चौरासी लाख के अवतार का कारण है। स्वयं विकार की क्षणिक अवस्थामात्र के लिए नहीं है, यदि प्रतीति करे तो प्रति समय पूर्ण निर्मल परमात्मा जितना तथा स्वभावत: विकार का नाशक है। वर्तमान अवस्था में विकार करने का विपरीत पुरुषार्थ है, उसकी अपेक्षा त्रैकालिक स्वभाव में वर्तमान में ही अनन्त गुनी पवित्ररूप में अनुकूल शक्ति है। जो यह मानता है कि पूर्वकृत कर्म बाधा डालते हैं, उनकी बहुत प्रबलता है, राग-द्वेष स्वयं ही हो जाते हैं, इस प्रकार पराधीनता को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञ वीतराग ने जिस प्रकार वस्तु का स्वतन्त्र स्वभाव कहा है, उसे उस प्रकार जाने बिना कोई चाहे जितना सयाना कहलाता हो, शास्त्रों का पण्डित माना जाता हो, तथापि वह वीतराग के मार्ग में स्थित नहीं है। वीतराग को कोई पक्ष नहीं है, वीतराग को अपनी

पीढ़ी या वंश-परम्परा बनाये नहीं रखनी है। जो प्रत्येक की स्वतन्त्रता को घोषित करता है, वही वीतराग है। जो यह कहता है कि पुण्य से धर्म होता है, दूसरे मेरा कहा मानें तो कल्याण हो, अथवा आशीर्वाद से सुखी होना माने वह आत्मा को पराधीन, परमुखापेक्षी एवं निर्वीर्थ मानता है।

अज्ञान के कारण से अवस्था में पर-सम्बन्ध के द्वारा अनेक भेदरूप से, पर में कर्तारूप से, विकाररूप से स्वयं अपने को भासित होता था, किन्तु जब शुद्धनय से स्वाश्रित निरावलम्बी स्वभाव को स्वीकार करके जड़-चेतना का स्वतन्त्र स्वरूप पृथक्-पृथक् देखने में आया तब यह पुण्य-पाप आदि भेदरूप नव तत्त्व ध्रुववस्तुरूप से दिखायी नहीं देते। परलक्ष्य से निमित्ताधीन होनेवाले क्षणिक विकार उत्पन्नध्वंसी हैं; उनका ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा द्वारा नाश किया है। श्रद्धा के निर्मल लक्ष्य से एकाकार अनुभव करने पर, स्वभाव में कोई विकल्प का भेद नहीं आता। अखण्ड की श्रद्धा में वर्तमान क्षणिक संयोगी खण्डरूप भाव का स्वीकार ज्ञानी के नहीं होता। ज्ञानी को एकरूप अविकारी स्वभाव की श्रद्धा का बल है। जब एकाग्र-स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पाप की वृत्ति में (छोड़ने की बुद्धि से) रुक जाता है, तथापि उसमें धर्म नहीं मानता।

पुद्गल कर्म के निमित्ताधीन होनेवाले भेद अविकारी आत्मा की एकरूप श्रद्धा होने पर मिट जाते हैं। पश्चात् बारम्बार निर्मल स्वभाव के लक्ष्य के बल से स्थिरता बढ़ते-बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। अवस्था में जो निमित्त-नैमित्तिक भाव था वह सर्वथा समाप्त हो जाता है। वर्तमान में विकार होता है, तथापि सम्यग्दृष्टि उसे स्वामी के रूप में स्वीकार नहीं करता।

प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, पराधीन नहीं है। विकार से किसी को गुण-लाभ नहीं होता। मात्र स्वभाव से ही धर्म होता है, उसमें बाह्य-साधन किंचित्मात्र भी सहायक नहीं होते। ऐसी प्रतीति के बिना कदापि किसी का भला नहीं हो सकता। यदि अज्ञानभाव से धर्म के नाम पर शुभभाव करे तो पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध करता है; किन्तु सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने कहा है कि इससे भवभ्रमण कम नहीं होता।

प्रत्येक अजीव तत्त्व में उसकी त्रिकाल शक्ति वर्तमान परिपूर्ण है। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसी पर अवलम्बित नहीं हैं। इसी प्रकार प्रत्येक जीव में अनन्त गुण की

शक्तिरूप त्रिकाल शक्ति वर्तमान में परिपूर्ण है; उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसी पर अवलम्बित नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से त्रिकाल अखण्डित है। आत्मा पर वस्तुरूप में, पर आकाररूप में, पर अवस्थारूप में अथवा पर भावरूप में कदापि नहीं है; इसलिए वह परवस्तु का कर्ता नहीं है। परवस्तु (देहादिक) की अवस्था का परिवर्तन जड़-वस्तु स्वयं करती है। आत्मा त्रिकाल में भी दूसरे की अवस्था को बदलने में समर्थ नहीं है। देहादिक पर की क्रिया से आत्मा को पुण्य-पाप या धर्म नहीं हो सकता। जो यह मानता है कि देहादिक पर की क्रिया से अपने में गुण-दोष होते हैं, उसे पृथक् तत्त्व की खबर नहीं है। यह प्राथमिक भूमिका की बात है। जीव सधन अथवा निर्धन चाहे जिस स्थिति में यथार्थ परिचय की प्रतीति करके अन्तरंग में शान्ति का भोग कर सकता है— ऐसी स्वाधीन स्वधर्म की यह बात है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के विकार का नाशक है, उसके धर्म में पुण्य का राग अथवा पंच महाव्रत का शुभराग भी सहायक नहीं है। अशुभ में न जाने के लिए व्रतादि के शुभभाव आते हैं किन्तु वे बन्धभाव हैं, उनके द्वारा मोक्षभाव को लाभ नहीं होता। यदि ऐसी प्रथम श्रद्धा न करे तो अविकारी स्वभाव का अनुभव नहीं होता। जैसा है वैसे स्वभाव को स्वीकार न करे तो वहाँ पहले यथार्थ श्रद्धा ही नहीं हो सकती।

पहले निमित्ताधीन पुण्य-पाप के संयोगी भाव का (नैमित्तिक विकारी भाव का) श्रद्धा में नाश किया कि वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो फिर स्वभाव की श्रद्धा के बल में स्थिरता के अनुसार शुभाशुभ व्यवहार के भेद छूटते जाते हैं, क्योंकि उनका पहले से ही आदर नहीं था। जहाँ पूर्ण स्वरूपस्थिरता के द्वारा पूर्ण विकारी नैमित्तिक भाव का (संयोगी भाव का) नाश किया वहाँ पूर्ण निर्मल एक प्रकार अविनाशी असंयोगी वीतरागभाव पूर्णानन्दरूप से रह जाता है, उसी का नाम मोक्ष है। विकार से मुक्त होकर अविकारी गुणरूप में रहना सो मोक्ष है। सम्पूर्ण आत्मा में और उसकी समस्त अवस्थाओं में सभी गुण एक साथ अखण्ड रहते हैं, वे भिन्न-भिन्न खानों में-कोठों में भरे नहीं होते।

प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। रजकण से तथा अन्य आत्माओं से प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न है। पर से नास्तित्व और स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव से प्रत्येक का अस्तित्व अपने में स्वतन्त्ररूप से है। जो पर से त्रिकाल भिन्न है, वह अपने से भिन्न का कुछ

भी नहीं कर सकता और स्वयं पर से भिन्न है इसलिए दूसरे से अपने को कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता; इसलिए पर में अच्छा-बुरा मानने का प्रश्न ही नहीं रहता, और मात्र अपने में ही देखना रह जाता है। इतना यथार्थ निश्चय करने पर अनन्त पर-पदार्थों के साथ के अनन्त कर्तृत्व का तीव्र राग-द्वेष कम हो जाता है। जो सन्मुख-आँगन में आ गया है, वह अपना कितना बुरा करेगा? अपनी अवस्था में पर-निमित्ताधीन दृष्टि से क्षणिक विकार पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न होती है, वैसा आत्मा नहीं है। त्रिकाल अविकारी स्वभाव में क्षणिक अवस्था की नास्ति है, अनन्त गुणरूप ध्रुवरूप स्वभाव विकार का नाश है, ऐसी प्राथमिक समझ के बिना सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की तैयारी नहीं होती। जिसकी दृष्टि क्षणिक अवस्था पर है, वह नीति और व्रतादि के चाहे जितने शुभभाव रखे किन्तु उसे विकारी बन्ध के नाशक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती।

कोई कहता है कि हमें अनेक प्रकार की भूल और गुण-दोष जानने की माथापच्ची में क्यों पड़ना चाहिए? हम तो इतना जानते हैं कि राग-द्वेष दूर करके समभाव रखना चाहिए। किन्तु ऐसा कहनेवाला सत्य को न समझकर मूढ़ता को बढ़ाता रहेगा। जड़ ज्यों की त्यों बनी रहे और ऊपर से वृक्ष के मात्र पत्ते तोड़कर कोई यह मान ले कि मैंने उनकी सफाई कर दी है, किन्तु यह उसका भ्रम है, क्योंकि कुछ समय के बाद उसी वृक्ष में पुनः पत्ते उग जाएँगे। इसी प्रकार यदि कोई धर्म के नाम पर शुभराग करके उसमें लग जाए और तत्त्वज्ञान की चिन्ता न करे तो वह मूढ़ हो जाएगा, और फिर उसकी मूढ़ता फूलती-फलती जाएगी। क्योंकि उसके त्रिकाल अज्ञान के अभिप्राय की जड़ मौजूद है इसलिए उसके चौरासी लाख के अवतार की फसल बढ़े बिना नहीं रहेगी; काँच और हीरे की परीक्षा किये बिना किसे रखेगा और किसे फेंक देगा? इस प्रकार पहले सत्य-असत्य का निर्णय किये बिना ही यदि राग को कम करने की बात तो उल्टा मिथ्यात्व को दृढ़ करके मनुष्यत्व को ही खो बैठेगा। पाप को छोड़कर पुण्य करने का निषेध नहीं है किन्तु उसका पूरा हिसाब-किताब जानने की बात है।

प्रश्न : शुद्ध पर दृष्टि रखकर पहले शुभ में आये फिर धीरे-धीरे शुभ से शुद्ध में पहुँचा जा सकता है या नहीं?

उत्तर : नहीं, विकार से अविकारीपन अंशमात्र भी प्रगट नहीं हो सकता। शुभभाव

चाहे जैसा हो तथापि वह राग है। जो भाव गुण से विरुद्ध हो उसे गुणकारी मानना बहुत बड़ी भूल है। अशुभभाव, शुभभाव और शुद्धभाव यह तीनों प्रकार भिन्न हैं। यदि शुभ से शुद्ध में पहुँचा जा सकता हो तो अशुभ में रहकर शुभभाव होना चाहिए। किन्तु जैसे शुभभाव के पुरुषार्थ से अशुभ का दूर होना और शुभ का होना एक साथ होता है, उसी प्रकार शुभाशुभ दोनों विकार हैं ऐसी प्रतीति के बल से जितनी निर्विकल्प स्थिरता होती है, उतना ही शुभाशुभराग का अभाव उसी समय होता है। अशुभ से बचने के लिए पुण्यभाव ठीक है, किन्तु वह विकारी रागभाव है; उसकी सहायता से अविकारी गुण का कार्य त्रिकाल में भी नहीं हो सकता।

यह बात भलीभाँति समझने योग्य है। निमित्ताधीन शुभाशुभ राग की जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह मैं नहीं हूँ, ऐसी भूतार्थ स्वभाव की अविकारी श्रद्धा के बल से मिथ्या श्रद्धा का नाश, विकार का आंशिक नाश, और उसी समय भूलरहित अविकारी अवस्था की उत्पत्ति होती है; आगे-पीछे नहीं।

प्रश्न : जैसे 'कंटकेनैव कंटकम्' अर्थात् काँटे से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार राग को दूर करने के लिए व्यवहार भी तो चाहिए?

उत्तर : यहाँ राग एक काँटा है और उस राग को दूर करनेवाला अरागी मोक्षमार्ग दूसरा काँटा है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरे काँटे से पहला काँटा निकाला जा सकता है। मैं अवगुणों का नाशक त्रिकाल पूर्ण शक्तिवान हूँ, ऐसी श्रद्धा का स्वलक्ष्य में जितना बल आता है, उतना स्वरूप की स्थिरता का व्यवहार प्रगट होता है। उस अंशत: अरागी स्थिरता के व्यवहाररूपी काँटे से शुभाशुभ रागरूपी अशुद्धता का काँटा नष्ट होता है। मैं अक्रिय अखण्ड ज्ञायक हूँ, अविकारी हूँ ऐसा लक्ष्य करना सो निश्चय है, और अंशत: स्वलक्ष्य में स्थिरता करके राग को दूर करना सो व्यवहार है। पर-निमित्त का आलम्बन लेने से गुण होता है ऐसा मानना सो व्यवहार है अथवा मात्र शुभ में लग जाना सो व्यवहार है। इस प्रकार अपनी कल्पना से व्यवहार माने तो वह भूल है। जो लोग आत्मा में निश्चय, और देह की क्रिया में अथवा मात्र पुण्यभाव में व्यवहार मानते हैं, उनकी अत्यंत स्थूल जड़बुद्धि है। सर्वज्ञ वीतराग ने जैसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप कहा है, वैसा यथार्थतया जानकर वस्तु का निर्णय करना सो निर्मल श्रद्धा को प्रगट करने का उपाय है; उसमें बाहर का कोई साधन उपयोगी नहीं है।

अपना स्वभाव स्वतन्त्रतया राग का नाशक है, जिसे इसकी प्रतीति नहीं है, वह बाह्यदृष्टि से पराश्रयरूप राग का बल देखता है। अकषाय स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बाद कषाय के बल से अरागी स्थिरता के बढ़ने पर जो कुछ राग रहता है, उसमें अशुभराग के दूर होने पर व्रतादि का शुभराग आता है; जहाँ शास्त्रों में ऐसी बात आती है, वहाँ मूलस्वभाव के बल की बात को भूलकर लोग अपनी मानी हुई बात को आया हुआ मानते हैं, वे पराश्रय से अन्तरंग की हीनता को रखना चाहते हैं। जिसे राग का आश्रय अनुकूल पड़ता है, वह उससे गुण का होना मानता है, उसे वीतरागता अनुकूल प्रतीत नहीं होती। स्वभाव की प्रतीति के बाद ज्ञान की रमणतारूप स्थिर दशा को भगवान ने चारित्रदशा कहा है। शुभराग चारित्र नहीं है, मैं अवगुणों का नाशक हूँ इस प्रकार नित्य स्वभाव के बल के बिना विकाररूपी काँटे को निकालनेवाला स्वाश्रित पुरुषार्थ का काँटा हाथ में नहीं आता।

आत्मा अनादि-अनन्त अपने अनन्त गुणों का तथा त्रिकाल समस्त अवस्थाओं का अखण्ड पिण्ड है। गुण तो शक्तिभाव से एकरूप है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु एक गुण की एक समय में एक अवस्था विकारीरूप से अथवा अविकारीरूप से प्रवृत्तमान होती है। गुण तो अपने आधार से होता है किन्तु जब जीव पर-संयोगाधीन लक्ष्य करता है, तब उस अवस्था में विकार नया होता है। स्वभाव में से दोष उत्पन्न नहीं होता। मैं त्रिकाल अविकारी ज्ञायक हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से भूल का नाश होकर क्रमशः सर्व विकारी भावों का नाश हो सकता है।

स्वद्रव्य=स्वयं त्रिकाल अनन्त गुण-पर्याय के आधाररूप अखण्ड द्रव्य।

स्वक्षेत्र=अपना आकार।

स्वकाल=वर्तमान में वर्तनेवाली स्व-अर्थ की क्रियारूप अवस्था।

स्वभाव=अपनी त्रिकाल शक्तिरूप अवस्था अथवा गुण।

इस प्रकार प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ त्रिकाल में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से सत् है और अपने से पर-पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से असत् है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का पर से पृथक्त्व अथवा असंयोगीपन है। जो आत्मा को परमार्थ से स्वतन्त्ररूप नहीं जानता वह अपने को क्षणिक विकारी अवस्था जितना मानता है। जो विकार से-पुण्य से गुण का होना मानता है, वह अविकारी नित्यस्वभाव को नहीं मानता!

सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे सो होय।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्तकारण सोय॥

[आत्मसिद्धि, गाथा १३५]

अपने उपादान की तैयारी में सहज ही अखण्ड का ज्ञान और ज्ञान की स्थिरता का व्यवहार आता है, उसमें बीच में सच्चे निमित्त का बहुमान अपने गुण की रुचि के लिए आता है। वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो विकार दिखायी देता है, उतना ही मैं नहीं हूँ, यह विकारी अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है, अखण्ड के लक्ष्य से भेद को गौण करके अखण्ड स्वभाव के बल से निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

मोक्ष का कारण वीतरागता, वीतरागता का कारण अराग चारित्र, अराग चारित्र का कारण सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है। पूर्ण अविकारी अखण्ड स्वभाव के बल से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण निर्मल अवस्था और सम्यग्दर्शन पर्याय है। भेद के लक्ष्य से विकल्प—राग होता है, निर्मलता नहीं होती, इसलिए अवस्थादृष्टि को गौण करके निश्चय अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य करना चाहिए। ध्रुव स्वभाव के बल से विकार का व्यय और अविकारी पूर्ण निर्मलता की उत्पत्ति होती है, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भाव का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है, और वस्तु का अनन्त गुणरूप निजस्वभाव वस्तुरूप से एकाकार रहता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है।

प्रभु! तूने अपनी स्वतन्त्र प्रभुता को कभी नहीं सुना। वर्तमान प्रत्येक अवस्था के पीछे अनन्त शक्तिरूप पूर्ण पवित्र गुण की शक्ति अखण्ड स्वभावरूप से भरी हुई है, उस सत् की बात अपूर्व भाव से अन्तरंग से तूने कभी नहीं सुनी, तूने अपनी महिमा को नहीं जाना। जिसने अविकारी पूर्ण स्वभाव को माना है, वह अपने स्वाधीन अनन्त सुख में समा गया है; जो उसे मानेगा सो वह भी अक्षय अखण्ड शान्ति में समाविष्ट होकर अनन्त सुख का अनुभव करेगा। यथार्थ स्वभाव की प्रतीति होने पर वर्तमान में परम अद्भुत शान्ति अंशत: वेदी जाती है।

अनन्त पवित्र ज्ञानानन्द स्वभाव की अन्तरंग से हाँ कहनेवाले की शक्ति का भाव वर्तमान में अनन्त है। विकार को जाननेवाला उस विकाररूप नहीं होता, विकार तो क्षणिक

अवस्थामात्र के लिए होता है, उसका नाशक स्वभाव वर्तमान में पूर्ण पवित्र है, उसकी प्रतीति के बल से विकार की शक्ति दिखायी नहीं देती। जैसा स्वभाव होता है वैसी मान्यता होती है और जैसी मान्यता होती है, वैसा स्वभाव होता है। इस प्रकार पवित्र, अविकारी, असंग स्वभव की एकरूप श्रद्धा के बल से नव तत्त्व के राग के विकल्प टूट जाते हैं। जो दो तत्त्व भिन्न थे, वे भिन्न ही रह जाते हैं।

जैसे सूत के पुड़े में गाँठ आँट और कलफ इत्यादि एक भाव में संयोग-सम्बन्ध से विद्यमान हैं, किन्तु वह सब सीधे सूत के लक्ष्य से गिनती में नहीं आते। इसी प्रकार आत्मा में मिथ्यात्वरूपी गाँठ और राग-द्वेषरूपी आँट जो अवस्था के एक भाग में डाली गयी थी, उसमें द्रव्यकर्मरूपी कलफ का संयोग था, वह सीधे ज्ञायकस्वभाव के लक्ष्य से नाश किया जाता है। जैसे गाँठ, आँट की अवस्था छूटकर सूत में समा गयी वैसे ही एकरूप स्वभाव में मिथ्या श्रद्धा और मिथ्याचारित्र की अवस्था बदलकर जो निर्मल एकभावरूप अवस्था होती है, सो वह स्वभाव में समा जाती है। आत्मा के पूर्ण त्रिकाल स्वभाव को जो शुद्धनय से जानता है, सो सम्यग्दृष्टि है। जब तक भिन्न-भिन्न नव-पदार्थों को जानता है और आत्मा को पुण्य-पाप के अनेक प्रकार से मानता है, तब तक पर्यायबुद्धि है।

अब उस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योति रुद्योतमानम्॥८॥

इस प्रकार नव तत्त्वों के रागमिश्रित विचारों में चिर काल से रुकी हुई—छुपी हुई इस आत्मज्योति को जैसे वर्णों के समूह में छुपे हुए एकाकार सुवर्ण को बाहर निकालते हैं, उसी प्रकार शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट भिन्न बतायी गयी है। इसलिए हे भव्य जीवो! अब इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो। यह ज्ञायकज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रति पर्याय में एकरूप चैतन्य-चमत्कारमात्र प्रगट है।

अनादि काल से आत्मा एकरूप स्वभाव का लक्ष्य चूककर कर्म के संयोगाधीन

लक्ष्य से नव तत्त्वों के राग मिश्रित विचारों में अटकता था सो वह क्षणिक अवस्था जितना नहीं है, किन्तु नित्य अविकारी स्वभाववाला है, इस प्रकार शुद्धदृष्टि के द्वारा एकरूप शुद्ध आत्मा का प्रकाश किया अर्थात् यथार्थ पहिचान कर ली। जैसे ताम्र के संयोग से सोने को लाल इत्यादि रंग के भेदवाला माना था, किन्तु उसे तपाकर एकाकार शुद्ध सोना अलग कर लिया जाता है, इस प्रकार नव तत्त्वों के अनेक भेदरूप राग में आत्मा को मान रखा था, उसे शुद्धनय के द्वारा बाहर निकालकर अविकारी, ध्रुव, एकरूप आत्मा को भिन्न बताया है। आत्मा वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं है। आत्मा में अनन्त काल तक स्थिर रहने की पूर्ण शक्ति प्रति समय की अवस्था में परिपूर्ण भरी हुई है। वह किसी में रुका हुआ, पर-सत्ता से दबा हुआ अथवा किसी में मिला हुआ नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि—सम्पूर्ण पवित्र स्वभाव को स्वीकार करके निरन्तर एक ज्ञायक का ही परम सन्तोषपूर्वक अनुभव करो।

जैसे घास और मिठाई को एक साथ खानेवाले अविवेकी हाथी को उन दोनों के पृथक् स्वाद की प्रतीति नहीं होती और जैसे कोई राजा मदिरापान करके अपना सुवर्ण-सिंहासन छोड़कर मलिन स्थान पर बैठा हुआ भी आनन्द मानता है, इसी प्रकार श्री गुरुदेव कहते हैं कि हे भगवान आत्मा! तू पर को अपना स्थान मानक पुण्य-पाप की विष्टा में लोट रहा है और उसमें आनन्द मानता है, किन्तु वह तेरा स्थान नहीं है। तेरा सुवर्णरूप उत्कृष्ट पद तो परमात्मपद है। तू अपने पद को देख। तू तीव्र मोह के वेग से पागल हो गया है इसलिए तुझे हिताहित का विवेक नहीं है। मृत्यु के समय कोई साथी-सगा नहीं होता। जब भयंकर रोग होगा तब महा आर्त-रौद्रध्यान होगा। मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा किया इस प्रकार यदि पर के कर्तृत्व में लगा रहा और आत्मस्वभाव की चिन्ता नहीं की तो चौरासी के अनन्त दु:ख सहन करना पड़ेंगे।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे योग्य जीवों! तुम्हें आत्मा की अपूर्व अचिंत्य महिमा की बात सुनने का लाभ मिला है, इसलिए अन्य द्रव्यों से, देहादि से, जड़कर्म के संयोग से तथा निमित्ताधीन होनेवाली पुण्य-पाप की भावना से भिन्न वीतरागी एकरूप ध्रुवस्वभावी आत्मा को नित्य पवित्र स्वभावरूप से देखो (स्वीकार करो, मानो) चैतन्यज्योति प्रतिसमय अपने स्वभाव में से निर्मलरूप से प्रगट होती है।

आत्मा में मात्र लाभ की ही बहुतायत रहती है, वह कदापि विकार में एकमेक नहीं

होता। अनादि काल से विकार को अपना मान रखा है, यह मान्यता ही अनंत-संसार का कारण है। उस मान्यता का दोष दूर होने के बाद, पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्प-राग रहता है, किंतु अरागी स्वभाव के बल से ज्ञानी उसका कर्तृत्व नहीं होने देगा। आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से तत्काल ही सब त्यागी होकर चले नहीं जाते। गृहस्थदशा में राग होता है, तथापि ज्ञानी मानता है कि राग करनेयोग्य नहीं है। जिसे तत्त्व की प्रतीति नहीं है, उसका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। तत्त्वज्ञान होने के बाद स्वभाव की स्थिरता के बल से त्याग सहज ही होता है और वह क्रमशः बढ़कर पूर्ण वीतरागदशा की प्राप्ति होती है।

यहाँ सम्यक्त्व की बात चल रही है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ज्ञानी थे तथापि पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण वे जवाहरात का व्यापार करते थे; किन्तु उसमें उनका अन्तरंग से रुचिभाव नहीं था। पर से उदासीनभाव से ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति में वे स्थिर रहते थे। गृहस्थदशा में रहकर सर्व विरतित्व अथवा मोक्षदशा भले ही प्रगट न हो तथापि एकावतारी हुआ जा सकता है। पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता, वह शुभविकल्प को भी लाभदायक नहीं मानता। बाह्यदृष्टि वाला ज्ञानी के हृदय को नहीं पहिचान सकता। जो ज्ञानी है, वह अज्ञानी जैसा स्वच्छन्दी नहीं होता; अज्ञानी त्याग को देखादेखी उत्कृष्ट मानता है। पर का कर्तृत्व मानकर अज्ञानी चाहे जैसा त्याग करे तथापि वह अनन्त संसार के भोग का हेतु है। बाह्यक्रिया करे, बाह्यचारित्र पाले, और उसमें तृष्णा एवं मानादि को कम करके यदि शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध होता है, किन्तु धर्म नहीं होता। यदि तत्त्वज्ञान का विरोध करे तो अनन्त काल के लिए एकेन्द्रिय निगोद में जाता है। सब स्वतन्त्र हैं, किसी में किसी को जबरन समझाने की शक्ति नहीं है।

जब शुद्धनय के द्वारा भेद को गौण करके एकरूप पवित्र स्वभाव को माना तब से लेकर निश्चयदृष्टि के बल से प्रत्येक अवस्था में निर्मल एकत्व बढ़ता है और भेदरूप व्यवहार छूटता जाता है। शुद्धदृष्टि होने से पूर्व भगवान आत्मा अनेक पुण्य-पाप की भावनारूप से अटकता हुआ खण्ड-खण्डरूप से दिखायी देता था; उसे शुद्धनय से देखने पर वह त्रिकाल निर्मल एकरूप दिखायी देता है। इसलिए पर्यायभेद का लक्ष्य गौण करके निरन्तर अखण्ड शुद्ध परमार्थ स्वभाव का अनुभव करो! अवस्थादृष्टि का एकान्त मत

रखो। अपनी अशक्ति से अवस्था में विकार होता है किन्तु ऐसा मत मानो कि मैं उतना ही हूँ। यह अवस्था ही मेरी है, उसके लक्ष्य से गुण-लाभ होगा, इस प्रकार यदि व्यवहार को पकड़ रखे तो एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

टीका:—अब, जैसे नव तत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसी प्रकार एकरूप निर्मल स्वभाव से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के (बतानेवाले) उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं। रागमिश्रित ज्ञान के भेद भी निश्चय से एकत्व में अभूतार्थ हैं, उसमें भी आत्मा एक ही भूतार्थ है, क्योंकि वस्तु का निश्चय करने के विकल्प तो एक के अनुभव में छूट जाते हैं। जैसे घेवर लेना हो तो पहले घी, आटा, शक्कर इत्यादि के सम्बन्ध में जान लिया जाता है कि वे कैसे हैं और बनानेवाला कौन है ? यह सब जानकर और भाव-ताव करके उसे तुलवाया जाता है, इस प्रकार इतने विकल्प करने पड़ते हैं किन्तु उसके बाद घेवर का स्वाद लेते समय (खाते समय) उपरोक्त विकल्प और तराजू बाँट इत्यादि के विकल्प नहीं रहते। इसी प्रकार भगवान आत्मा अखण्ड ज्ञायक है, उसे पहले अविरोधीरूप से निचय करने के लिये प्रमाण* नय निक्षेप के भाव से सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान करने के लिए रुकना पड़ता है।

भगवान आत्मा अविकारी, अनन्त-ज्ञानानन्दमय, पूर्ण अखण्ड-शक्ति का पिण्ड है। देहादिरूपी संयोगों से भिन्न अरूपी ज्ञानघन है। उसे अखण्ड निर्मल स्वभाव के पक्ष से जानना सो निश्चयनय है, वर्तमान अवस्था के भेद को जानना सो व्यवहारनय है और दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण आत्मा का ज्ञान करना सो प्रमाण है।

वस्तु के एकदेश (भाव) को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। प्रमाण तथा नयज्ञान के अनुसार जाने हुए पदार्थ को नाम में, आकार में, योग्यता में, और किसी भावरूप अवस्था में भेदरूप से बताने का व्यवहार करना, सो निश्चय है।

निक्षेप के चार भेद हैं:—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप।

(१) नाम निक्षेप:—जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, उसे उस नाम से कहना सो नाम निक्षेप है। जैसे किसी को दीनानाथ कहते हैं किन्तु उसमें दीनानाथ के गुण अथवा

* **प्रमाण (प्र=विशेष करके+माप=माप)=जो सच्चा माप करता है सो सम्यग्ज्ञान है। यहाँ प्रमाण का विकल्प अभूतार्थ है, यह कहा है।**

लक्षण नहीं हैं, या किसी को चतुर्भुज के नाम से बुलाते हैं, किन्तु उसके चार भुजाएँ नहीं होतीं, वह तो नाममात्र है।

(२) स्थापना निक्षेपः—यह वह है, इस प्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना सो स्थापना निक्षेप है। जैसे भगवान महावीर की तदाकार मूर्ति में भगवान महावीर की स्थापना करना, उसे तदाकार स्थापना कहते हैं। दूसरी अतदाकार स्थापना भी होती है; जैसे शतरंज की गोटों में ऊँट, घोड़ा और हाथी का आकार न होने पर भी उनमें ऊँट, घोड़ा और हाथी की स्थापना कर ली जाती है।

(३) द्रव्य निक्षेपः—वर्तमान से भिन्न अर्थात् अतीत या अनागत पर्याय की अपेक्षा से वस्तु को वर्तमान में कहना जैसे भविष्य में होनेवाले राजा को (राजकुमार को) वर्तमान में ही राजा साहब कहना; अथवा जो वकालत का काम छोड़ चुका है, उसे वर्तमान में भी वकील कहना।

(४) भाव निक्षेपः—वर्तमान पर्यायसंयुक्त वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे साक्षात् केवलज्ञानी भगवान को भाव जीव कहना अथवा पूजा करते समय ही किसी व्यक्ति को पुजारी कहना।

आत्मा को यथार्थ समझने के लिये प्रमाण, नय, निक्षेपरूप शुभ-विकल्प का व्यवहार बीच में आये बिना नहीं रहता, किन्तु आत्मा के एकत्व के अनुभव के समय वह विकल्प छूट जाता है, इसलिए वह अभूतार्थ है, आत्मा के लिए सहायक नहीं है। वस्तु का अभेदरूप से निर्णय करते हुए और उसमें एकाग्ररूप से स्थिर होते हुए बीच में नव तत्त्व तथा नय-प्रमाण इत्यादि के रागमिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते किन्तु उससे अभेद में नहीं आया जाता। आँगन के छोड़ने पर ही घर में भीतर जाया जाता है, इसी प्रकार व्यवहाररूप आँगन के छोड़ने पर ही स्वभावरूपी घर में जाया जाता है।

कोई कहता है कि इतनी सूक्ष्म बातों को जानने से क्या लाभ है ? एकान्त ध्यान में बैठने से राग-द्वेष छूट जाएगा ? उससे ज्ञानी कहते हैं कि यथार्थ अविरोधी आत्मस्वभाव की प्रतीति करने से पूर्व राग-द्वेष परमार्थ से दूर नहीं हो सकता, उल्टी मूढ़ता बढ़ जाएगी। इसी प्रकार तो वृक्ष के भी ध्यान है, और बाह्य परिग्रह का त्याग पशु के भी है किन्तु आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना सच्चा ध्यान या सच्चा त्याग नहीं हो सकता।

जैसे राजा को भलीभाँति पहिचानकर यदि उसे योग्य विधि से बुलाया जाए तो ही राजा उत्तर देता है और यदि उसकी सेवा करे तो धन देता है; इसी प्रकार आत्मा को जिस विधि से परिपूर्णतया समझना चाहिए उसी प्रकार सत्समागम से जानकर उसमें एकाग्रता करे तो भगवान आत्मा प्रसन्न हो उत्तर दे और उसमें विशेष लीनता करे तो अनन्त मोक्षसुख दे। जिसकी रुचि हो उसका पूर्ण प्रेम करके परिचय करना चाहिए।

आत्मा अनन्त गुणों का अविनाशी पिण्ड है, देहादि संयोग और संयोगाधीन होनेवाला पुण्य-पाप का भाव क्षणिक है। अनादि काल से अपनी विस्मृति और दूसरे का सारा अभ्यास चला आ रहा है; यदि वास्तविक हित करना हो तो उसे पहले यथार्थ निर्णय करने के लिए सत्समागम का परिचय करके, पात्र होकर वीतराग भगवान ने जैसा स्वतन्त्र आत्मा बताया है वैसा ही उसकी विधि से समझना होगा। लोकोत्तर अरूपी सूक्ष्म धर्म लोगों के द्वारा बाहर से मानी गयी प्रत्येक कल्पना से बिल्कुल भिन्न है। जगत में धर्म के नाम पर अन्धश्रद्धा और अनेक मतमतान्तर चल रहे हैं।

कोई कहता है कि ईश्वर हमें सुधारता-बिगाड़ता है, सुखी-दुःखी करता है, कोई कहता है कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म बनाते-बिगाड़ते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं; कोई कहता है कि सब मिलकर एक आत्मा है, कोई कहता है कि देहादिक जड़ की क्रिया आत्मा कर सकता है, दूसरे का कर्ता-भोक्ता हो सकता है। कोई एकान्त पक्ष से आत्मा को वर्तमान दशा में भी बिल्कुल शुद्ध मानता है, कोई आत्मा को अकेला बन्धनवाला और पाप-पुण्यवाला मानता है, कोई यह मानता है कि शुभराग के विकार से धीरे-धीरे गुण-लाभ होगा, कोई यह मानता है कि निमित्त की सहायता से अथवा आशीर्वाद से पार हो जाऊँगा; इत्यादि विविध प्रकार से वस्तु को अन्यथा मानते हैं। जगत का यह समस्त भ्रम दूर करने के लिए सर्वज्ञ वीतराग के न्यायानुसार तत्त्व का रहस्य जानने के लिए सत्समागम प्राप्त करके, यथार्थ श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिए।

यथार्थ श्रद्धा होने के बाद स्वभाव के निर्णय सम्बन्धी विकल्प नहीं रहते, और पुरुषार्थ की शक्ति के कारण जितना राग रहता है उसका ज्ञानी को आदर नहीं है, उसका कर्तृत्व नहीं है। ज्ञान की विशेष निर्मलता के लिए और अशुभ से बचने के लिए शास्त्रज्ञान से प्रमाण, नय, निक्षेप, नवतत्त्व इत्यादि से तत्त्वविचार में लगने पर शुभराग होता है, किन्तु

उस रागमिश्रित विचार को ज्ञानी गुणकारी नहीं मानता। वह स्थिरता के द्वारा उन समस्त विकल्पों को तोड़ना चाहता है। सम्यक्त्व होने से पूर्व ऐसा अभिप्राय करके पूर्ण वीतरागता को ही उपादेय मानना चाहिए।

आत्मा को जानने के लिए पहले निमित्तरूप से रागमिश्रित ज्ञान का व्यवहार आता है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाने बिना अरूपी, अतीन्द्रिय भगवान आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती और अन्तरंग एकाकार स्थिरता का आनन्द नहीं आता, तथा पवित्र स्थिरता के बिना वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।

आत्मा को जानने का उपाय प्रमाण ज्ञान है। त्रिकाल नित्यस्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों को एकसाथ सम्पूर्ण वस्तु के रूप में जानना सो प्रमाण ज्ञान है। जो स्व-पर को जानता है, सो पूरा प्रमाण ज्ञान है परवस्तु निमित्त है उसे जैसी की तैसी भिन्नरूप से जानना चाहिए। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है।

यहाँ जीव अपने से ही जानता है, किंतु अपूर्ण अवस्था होने से इन्द्रिय और मन का अवलम्बन करके विचार करे ऐसा राग-मिश्रित ज्ञान है। ऐसा निर्णय किये बिना वर्तमान वस्तुस्थिति नहीं जानी जाती। इन्द्रिय तथा मन के सम्बन्ध में प्रवर्तमान रागयुक्त ज्ञान अविकारी गुण की सहायता नहीं करता, तथापि उस खण्डरूप ज्ञान को अपनी ओर उन्मुख किये बिना तत्त्व को नहीं समझा जा सकता, इसलिए प्रमाणादि वस्तु को मन के द्वारा निश्चित करने के लिए शुभराग के आँगन में आये तब, शुद्ध का लक्ष्य हो तो व्यवहारशुद्धि होती है उससे भीतर नहीं घुसा जा सकता, किन्तु स्वभाव की अन्तरंग दृष्टि से एकाग्रता में उन्मुख होने पर अन्तरंग आनन्दरूप अरूपी अनुभव होते समय नय-प्रमाण के रागमिश्रित विचार अस्त हो जाते हैं, भेद का लक्ष्य छोड़ देने पर सम्यग्दर्शन होता है।

सभी कहते हैं कि आत्मा है, किन्तु वह कैसा है, कितना बड़ा है, कैसा नहीं है; क्या कर सकता है, क्या नहीं कर सकता उसे सर्वज्ञ वीतराग के न्याय से रागमिश्रित नय-प्रमाण के द्वारा निश्चित न करे तो सत्य-असत्य का तोल करके परम हितस्वरूप आत्मा का आदर नहीं किया जा सकता। इन मनद्वार के बिना वस्तु नहीं समझी जा सकती, किन्तु इसमें भी नहीं समझी जा सकती; जब श्रद्धा की स्थिरता से विकल्प का अभाव करता है, तब आत्मानुभव होता है; इसलिए निश्चय अनुभव में वे विकल्प अभूतार्थ हैं।

यदि ध्यान रखे तो यह सब समझ में आता है। अन्तरंग की, अरूपी मार्ग की यह बात है। अपना अरूपी भाव आँखों से नहीं देखा जा सकता तथापि निरन्तर उस भाव की अनुभूति और विचार को जान रहा है। यदि पूर्व के ज्ञान को याद करना हो तो अन्तरंग में धैर्यपूर्वक रुकना पड़ता है, वह बाहर से निश्चित नहीं होता। निश्चित करनेवाला नित्य ज्ञातास्वरूप से आत्मा है। देह, वाणी और जड़ इन्द्रियों को यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं। भीतर जाननेवाले को नहीं जाना इसलिए अविकारी आत्मस्वभाव को न देखकर बाह्यदृष्टि से दूसरे को देखता है। पुण्य-पाप, राग और देहादिरूप से अपने को मानता है। मैं देहादि की क्रिया कर सकता हूँ, इसके द्वारा धर्म हो सकता है ऐसा मानकर धर्म के नाम से जीव बाह्यदृष्टि में अटक रहा है। नव तत्त्वों को नय, प्रमाण, निक्षेप के माप से अनन्त बार मन में रटा है, किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं हुई कि मैं मन के विकल्प से भिन्न हूँ, राग का नाशक हूँ, स्वतन्त्र हूँ और मेरा मार्ग भी निरावलम्बी है। अशुभ में न जाने मात्र के लिए बीच में शुभ अवलम्बन का भेद आता है, किन्तु ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं होता।

प्रमाण के दो प्रकार हैं:—परोक्ष और प्रत्यक्ष। जो इन्द्रियों से स्पर्शित होकर (सम्बन्धित होकर) प्रवृत्ति करता है तथा जो बिना ही स्पर्श के मन से ही प्रवृत्त होता है-इस प्रकार दो पर-द्वारों से प्रवर्तित होता है वह परोक्ष है और जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चित् रूप से प्रवृत्ति करता है, सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाणज्ञान है, वह ज्ञान पाँच प्रकार का है-मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल। इनमें से मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मन:पर्यय विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है, इसलिए यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।)

किसी वस्तु का नापतौल करने के बाद उस नापतौल को छोड़ देना पड़ता है, इसी प्रकार पहले आत्मा को बताने में प्रयोजनभूत वस्तु-नवतत्त्व, देव, गुरु, शास्त्र तथा जड़-चेतन वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं। वैसे नय, प्रमाण, निक्षेपरूप माप से निश्चित् करना होते हैं और फिर परमार्थ स्वभाव में जाने के लिए उन विकल्पों को छोड़ना पड़ता है। अखण्ड के लक्ष्य से स्वभावोन्मुख होने पर अभेद अनुभव के समय बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं, उसके बाद चारित्र के बल से सर्वथा छूट जाते हैं।

परोक्ष ज्ञान भी सच्चा ज्ञान है। जीव ने जो यह माना है कि पर में सुख है सो वह पर

में देखकर निश्चित नहीं किया है, किन्तु भीतर अरूपी कल्पना से निश्चित किया है, उसे जीव देखता नहीं है तथापि उसमें नि:शंक है, वह यह नहीं कहता कि वह भाव दिखायी दे तभी मानूँगा। उस अरूपी भाव को देखने के लिए परिश्रम भी नहीं किया तथापि उसे प्रत्यक्ष की भाँति मानता है; इसी प्रकार आत्मा का निर्णय परोक्ष प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ समझ के अभ्यास से हो सकता है।

जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है, वह परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष के जानने के कार्य में बीच में निमित्त का अवलम्बन आता है, किन्तु जीव इन्द्रियों से नहीं जानता; जीव स्वयं निज से जानता है। इन्द्रियाँ पर पदार्थों के जानने में निमित्त हैं। निज को जानने में इन्द्रियाँ या मन निमित्त नहीं हैं। पाँच इन्द्रियों के उपयोग में जिस पर-पदार्थ का संयोग होता है, उस पदार्थ को जान सकती है, और मन के द्वारा तो चाहे जितने दूर क्षेत्र अथवा पदार्थ का विचार ज्ञान कर सकता है, उसमें दूर रहनेवाले पदार्थों को निकट आने की आवश्यकता नहीं है।

पंचेन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़कर जब अन्तरंग में विचार जाता है, तब मन निमित्त होता है। वक्षस्थल में आठ पंखुड़ियों के कमल के आकार का सूक्ष्म रजकणों का बना हुआ मन है। जैसे आँख का गटा (कौड़ी) जानने का काम नहीं करता, किन्तु उसके द्वारा ज्ञान जानता है, इसी प्रकार मन आँख के गटा की भाँति निमित्त है। इन्द्रियाँ और मन नहीं जानते।

पर-पदार्थों के निश्चित करने में इन्द्रियज्ञान मिथ्या नहीं है; जो खरा-खट्टा है, उसे ज्यों का त्यों जानता है, किन्तु वह ऐसा नहीं जानता कि मैं खारा-खट्टा हूँ। प्रस्तुत-जानने योग्य पदार्थ ज्ञेय हैं; बीच में इन्द्रियों और मन का निमित्त है और उसे जाननेवाला स्व-परप्रकाशक मेरा ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञेय निमित्त और ज्ञान उपादान जैसा है, वैसा जानकर सर्वज्ञ के कथनानुसार स्वतन्त्र पदार्थ का नय-प्रमाण विचार के द्वारा निर्णय करे तब आत्मा के भीतर प्रविष्ट होने के द्वाररूप चित्तशुद्धि होती है। योग्यता से सत्य स्वरूप को माने बिना अनादिकालीन मूढ़ता की गड़बड़ी बनी रहती है।

देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानना पड़ता है, किन्तु वे निर्णय नहीं कराते। यदि वे स्वयं स्वत: निर्णय करें तो निमित्त हुए कहलाते हैं। जीव अनन्त बार साक्षात् प्रभु के पास हो

आया और धर्म के नाम पर अनेक शास्त्र रट डाले, किन्तु यथार्थ आत्मनिर्णय नहीं किया इसलिए भवदु:ख दूर नहीं हुआ। पर से ज्ञान होता है, पर-पदार्थ मेरी सहायता करता है ऐसी निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से जीव अनादि काल से दु:ख भोग रहा है। कुछ समय के लिए पुण्य के उदय से यदि बाह्य में थोड़ा-सा दु:ख कम दिखायी देता है तो उसे भ्रम से सुख मानता है। स्वयं राग को कम करे तो उतने समय तक मन्द आकुलता रहती है। वैसे संसार में आकुलतारूप दु:ख के बिना जीव क्षणभर को नहीं रहा है। शरीर में रोग होने का दु:ख नहीं है, किन्तु शरीर में जितना मोह है, उतना दु:ख है। जब कोई महीनों से रोग में ग्रसित होकर दु:खी हो रहा हो तब उसकी स्त्री कहती है कि अरे रे! तुमने पूर्व भव में छुरी से बकरे को काटा होगा और मैंने उसकी अनुमोदना की होगी इसलिए मुझे तुम्हारा यह दु:ख देखना पड़ रहा है, किन्तु लाचार हूँ कि मैं तुम्हारे दु:ख में भाग नहीं बँटा सकती। कोई किसी के दु:ख में भाग नहीं ले सकता।

प्रत्येक आत्मा भिन्न है, और आत्मा से शरीर एवं इन्द्रियाँ भी भिन्न हैं। कोई आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता। ज्ञान इन्द्रियाधीन नहीं है। जवानी में सत्ताप्रिय प्रकृति में अपना बड़पन और दूसरे की हीनता मानकर तीव्र तृष्णारूपी वासना का सेवन किया होता है, उस वासना की गन्ध जम गयी है, वहाँ इन्द्रियाँ निमित्त थीं। वृद्धावस्था में शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं, मन भी नीरस हो गया, किन्तु तृष्णा का करनेवाला वैसी की वैसी तीव्र तृष्णा किया करता है, वहाँ उसे इन्द्रियों का आधार नहीं है। स्वयं देहादि से अलग है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार यदि अविकारी पृथक् स्वभाव की प्रतीति करे तो तृष्णा को कम करके स्वयं अपने में शक्ति का अनुभव कर सकता है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि आत्मा ज्ञान के द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार जानता है, किन्तु जहाँ ज्ञान हीन होता है वहाँ इन्द्रियों का निमित्त होता है, तथापि ज्ञान इन्द्रियों पर अवलम्बित नहीं होता। जिसने आत्मा की यथार्थ प्रतीति की है कि मैं देह से भिन्न हूँ, क्षणिक विकार की वासना मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका नाशक हूँ, पवित्र हूँ, और जिसने नित्य पवित्र असंयोगी स्वभाव का निर्णय दृढ़ता पूर्वक किया है, उसके शरीर में रोग आये, वृद्धावस्था आये या मन और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाएँ तथा अखण्ड, अविकारी, ज्ञानानन्द आत्मा के स्वभाव का निर्णय हीन नहीं होता, उसकी समता कम नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि जाननेवाले का ज्ञान, उसमें इन्द्रियों का निमित्त और प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थों की जैसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति है वैसा निर्णय नय, प्रमाण और निक्षेप के माप से मन:शुद्धि के द्वारा न करे तो अतीन्द्रिय स्वभाव के आँगन में नहीं आ सकेगा; तथा उसमें कोई ले जाए अथवा दूसरे की सहायता से जा सके सो भी बात नहीं है।

ज्ञान में ऐसी दोहरी सामर्थ्य है कि वह अपने को जानता है और पर को भी जानता है। ज्ञान की अवस्था की हीनता के कारण जानने में बीच में मन-इन्द्रिय का निमित्त होता है उसे भी ज्ञान जानता है। पर-निमित्त में लगने से तो पर ज्ञात होता है; निज को जानने में परलक्ष्य और इन्द्रियों की ओर का संयोग छोड़ना पड़ता है। शब्द, रूपरस, गन्ध, स्पर्श के जानने में इन्द्रियाँ और संकल्प-विकल्प जानने में मन निमित्त होता है, किन्तु निज को जानने में कोई निमित्त नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर निमित्त और राग का लक्ष्य गौण करे तब स्वलक्ष्य होता है और स्वलक्ष्य की स्थिरता रह सकती है। स्वलक्ष्य की स्थिरता ही चारित्ररूप निज आचरण की क्रिया है।

परोक्ष ज्ञान से जानने के व्यापार में बीच में निमित्त का अवलम्बन आता है, किन्तु उसमें रुकना ठीक नहीं है। ज्ञानी होने के बाद जितने अंश में स्वभाव में स्थिरता नहीं रहती उतना परावलम्बनरूप राग के योग से रुकना पड़ता है। मैं उस क्षणिक अशक्ति का नाशक हूँ, इस प्रकार अपार सबल स्वभाव के बल से ज्ञानी राग का स्वामी नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा में ज्ञान-गुण अनादि-अनन्त एकरूप हैं, उसकी पाँच अवस्थाएँ हैं। उसमें जिसके मति-श्रुतज्ञान की अवस्था प्रगट होती है उसमें इन्द्रिय-मन द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है। अवधिज्ञान (जो मन और इन्द्रियों के निमित्त के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है) और मन:पर्ययज्ञान (जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से दूसरे के मनोगत रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है) दोनों देश प्रत्यक्ष हैं। जो लोकालोक की त्रैकालिक स्थिति को एक ही साथ ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में सहज ही जानता है, वह केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है।

आत्मा अपने ज्ञान-गुण से अपने को जानता है और अपने ज्ञान-गुण की अवस्था की स्वच्छता में पर-वस्तु सहज ज्ञात होती है; किन्तु पर-संयोग से या पर से जानना नहीं होता। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि घड़ा, शास्त्र इत्यादि पर-पदार्थ को जान लिया,

किन्तु निश्चय से तो अपनी योग्यता के अनुसार ज्ञान अपनी अवस्था को ही जानता है। ज्ञान-गुण के अतिरिक्त आत्मा के अन्य गुणों में स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है।

मति-श्रुतज्ञान के लिए एक दृष्टान्त:—जो आम को नहीं जानता वह उसे जानने के लिए किसी ऐसे बागवान के पास जाता है, जिसने अपने बगीचे में आम के पेड़ को बोकर इतना बड़ा किया है और तभी वह उसके पास से आम की उत्पत्ति की सारी कहानी जान सकता है। बागवान उसे बताता है कि जो आम पेड़ की डाल में पकता है, उसका स्वाद अधिक मीठा होता है। आम का वह वर्णन सुनकर पहले सामान्यरूप से आम का स्थूल ध्यान आता है, वह मति में स्थूलरूप से अवग्रह ज्ञान हुआ, उसके बाद आम के जानने में कुछ विशेष विचार हुआ सो ईहा है, पश्चात् यह निश्चय किया कि यह आम ही है सो अवाय है, और ज्ञान में दृढ़तापूर्वक धारण कर लिया कि यह आम ऐसा ही है, अन्यरूप नहीं है; उसमें संशय या विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ तक मतिज्ञान में अन्तिम धारणा का भेद हुआ। पश्चात् यह आम इष्ट प्रतीत हुआ इस प्रकार उसमें जो विशेषता ज्ञात हुई सो मति में से बढ़ता हुआ तार्किकज्ञान-श्रुतज्ञान है। वह मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। उस यथार्थ आत्मज्ञान से सम्यक्प्रमाण होने पर केवलज्ञान का बीज होता है।

जैसे बागवान से आम का वर्णन सुना उसी प्रकार केवलज्ञान लक्ष्मी के बागवान श्री तीर्थंकरदेव अथवा उन्हें भलीभाँति जाननेवाले छद्मस्थ ज्ञानी श्रीगुरु के पास से निज को समझने की चिन्ता की, सत् सुनने को आया और आत्मा का वर्णन सुनते ही उसने अन्तरंग में उमंगित होकर बहुमान से स्वीकार किया सो वह स्वभाव का अव्यक्त व्यंजनावग्रह मतिज्ञान का प्रथम प्रकार हुआ। भीतर यथार्थ निश्चय का जो अव्यक्त अंश प्रारम्भ हुआ उसमें पहले सामान्य-स्थूलरूप से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हुआ; फिर विचार के निर्णय की ओर उन्मुख हुआ सो ईहा है। जो निर्णय हुआ सो अवाय है। और दृढ़तापूर्वक आत्मबोध को ग्रहण कर रखा कि ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है सो धारणा है। वहाँ तक तो परोक्षभूत मतिज्ञान में धारणा तक का अन्तिम भेद हुआ। पश्चात् यह आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द शान्तिस्वरूप है। इस प्रकार मतिज्ञान में से बढ़ता हुआ जो तार्किकज्ञान है, सो श्रुतज्ञान है।

अनन्त द्रव्य त्रिकाल अखण्ड परिपूर्ण है और उसे बतानेवाले सर्वज्ञ हैं। उन्होंने जो स्वरूप बताया है उसे स्वीकार करनेवाला मैं भी अखण्ड ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ। निमित्त,

परवस्तु, अनन्त आत्मा और पुद्गल इत्यादि अजीव वस्तु हैं, उसे जाननेवाला ज्ञान स्व-परप्रकाशक है और पर से भिन्न अपने में अभिन्नरूप से है। नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, और अखण्ड-खण्ड इस प्रकार सामान्य-विशेष दोनों पहलुओं को देखनेवाली निश्चय-व्यवहारनय की सन्धि बतायी है। सत्समागम से मन द्वारा ऐसे निर्णय से अपने ज्ञान को व्यवहार से प्रमाणरूप बनाये तब चित्तशुद्धि के आँगन में आकर शुभ में आ खड़ा होता है। इसमें छह काय की दया का स्वरूप बतानेवाली वीतराग की आज्ञा भी आ जाती है। जो सर्वज्ञ वीतराग हैं वही छह काय के जीव, उनकी रक्षा का ज्ञान और छह द्रव्यों का परिपूर्ण स्वरूप बतानेवाले हैं। सर्वज्ञ के अखण्ड ज्ञानस्वरूप की मर्यादा को स्वीकार करने पर अपने को ही स्वतन्त्र अखण्डरूप से स्वीकार किया जाता है। अपने सतत् जाननेवाले स्वरूप में कहीं भी अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष में अटकना नहीं होता। इस प्रकार अनन्त काल में नहीं माने गये अपने स्वरूप में सर्वज्ञ की आज्ञा का निश्चय होने पर अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ देखा और अपने अखण्ड स्वभाव के लक्ष्यरूप स्वदया में वीतराग कथित छह द्रव्य, उसके गुण और पर्याय तथा छह काय के जीवों का स्वरूप भी जाना, और स्वलक्ष्य से राग-द्वेष, अज्ञान से अपने अखण्ड गुण को बचानेरूप स्वदया में परदया का ज्ञान भी आ गया। इस प्रकार अपने अखण्ड स्वरूप का निश्चय और स्वाश्रित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप व्यवहार ऐसे निश्चय-व्यवहार की सन्धि अपने ज्ञान में करने पर स्वतन्त्र निमित्त-उपादान का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण प्रमाणज्ञान में आ जाता है।

प्रश्नः—देह, इन्द्रियों से आत्मा को अलग करके किसी ने नहीं बताया, इसलिए आत्मा को देह से भिन्न कैसे माना जाए?

उत्तरः—बहुत से मृत शरीर देखे हैं जिनमें जाननेवाला (आत्मा) नहीं होता, उनमें से जाननेवाला अन्यत्र चला गया है, क्योंकि जो है, उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता; वह अवस्था को बदलकर स्थिर हो रहता है। कोई कहता है कि शरीर के साथ मेरा भी नाश हो गया है, किन्तु नाश होना किसने जाना है? तेरे नाश के कथन में तेरे अस्तित्व की स्पष्ट घोषणा देह से भिन्न लक्षणरूप में होती है। देह में ज्ञातृत्व नहीं है। और यदि देह तथा इन्द्रियाँ ही आत्मा हो तो मोटे शरीर में अधिक ज्ञान और शान्ति होनी चाहिए, तथा पतले शरीर में ज्ञान और शान्ति कम होना चाहिए, एवं आँख-कान के फूट जाने पर आत्मा का नाश हो

जाना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। जाननेवाला पर में सुख मानता है, किन्तु वह यह नहीं देखता कि वह अरूपी मान्यता किस जगह की है, तथापि उसे प्रत्यक्षवत ही मानता है। जड़ देहादि को कुछ खबर नहीं है। राग-द्वेष की भावना शरीर में नहीं होती। इस प्रकार शरीर और आत्मा लक्षणभेद से त्रिकाल भिन्न हैं। पानी और कंकड़, पत्थर और सोना, दूध-पानी एक क्षेत्र में एकत्रित होने पर भी भिन्न हैं, क्योंकि यदि वे पृथक् न हो तो पृथक् नहीं किये जा सकते।

समाधान करनेवाला ज्ञान है। लड़के ने सट्टे में दस हजार रुपया गमा दिये हों तो भी वह किसी प्रकार मन में समाधान कर लेता है कि यदि लड़के को डाटें-धमकायेंगे या बुरा-भला कहेंगे तो वह विष खाकर मर जाएगा। इसमें किसी पर-निमित्त ने समाधान नहीं कराया है। जब कोई सीख देने आता है तब अपने को रुचता है तो अपने भाव से मानता है। प्रमाणरूप यथार्थज्ञान का स्वभाव स्वीकार करने में ज्ञान का विकास होता है।

अनन्त पर-पदार्थों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करनेवाला स्वयं अनन्त ज्ञानमय है। यथार्थ सानुकूल पदार्थ को समझकर भूल को दूर करनेवाला स्वयं स्वतन्त्र है। पहले मन के द्वारा तत्त्वज्ञान के अभ्यास से नव तत्त्व, छह द्रव्य तथा उसमें गुण-पर्याय रागमिश्रित नय और प्रमाण के ज्ञान द्वारा निश्चित करे, वहाँ तक तो शुभराग की भूमिका है, वहाँ रुककर पुण्यबन्ध करके जीव अनन्त बार वापिस हुआ है, इसलिये उस राग की भूमिका भी निश्चय अनुभव में अभूतार्थ है स्थायी नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ, निरालम्बी अक्रिय स्वभावी हूँ, राग का नाशक हूँ ऐसा यथार्थ निश्चय सत्समागम से करना चाहिए। जिसने तत्त्व को समझने की परवाह नहीं की उसने अपने पृथक् स्वतन्त्र सवभाव का अपने में बहुत विरोध किया है, इसलिए भगवान कहते हैं महा मूल्यवान मनुष्य भव को हारकर एकेन्द्रिय वनस्पति में महामूढ़ होकर अनन्त काल तक अनन्त जन्म-मरण में तीव्र आकुलता के दु:खों को भोगेगा। अनन्त काल तक परिभ्रमण करके भी जोंक-शंख इत्यादि का भव पाना भी कठिन हो जाएगा, इसलिए सर्व सुयोग आ गया है ऐसा समझकर अपनी चिन्ता करने की आवश्यकता है।

आत्मा और उसके अनन्त गुण अनादि-अनन्त एकरूप स्थिर रहते हैं, उस ध्रुव अखण्ड स्वभाव की पहिचान करके पर से (विकार से) भिन्न स्वभाव की महिमा लाकर,

रागमिश्रित श्रद्धा का नाश करके, एकरूप स्वभाव का निर्णय करे फिर विकल्प से (मन के अवलम्बन से) कुछ हटकर ठहरे तो वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्व होने से पूर्व रागमिश्रित ज्ञान से सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व तथा छह वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर उसका नय-प्रमाणरूप ज्ञान के द्वारा मन से निर्णय करना सो वहाँ तक तो व्यवहारशुद्धि कहलाती है। ऐसी समझ के बिना क्रियाकाण्ड में अटकनेवाले जीव को व्यवहाराभास की भी खबर नहीं होती, उसकी यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो ज्ञान का विषय चल रहा है।

प्रमाता=जाननेवाला आत्मा।

प्रमाण=मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञानरूप ज्ञानगुण की पाँच अवस्थायें।

प्रमेय=आत्मा के ज्ञान में जाननेयोग्य स्व-पर पदार्थ, ज्ञान के द्वारा जाननेयोग्य समस्त वस्तुएँ ज्ञेय होती हैं।

परवस्तु:—अनन्त जीव-अजीव पदार्थ हैं। देव-गुरु-शास्त्र, वीतराग की मूर्ति इत्यादि निमित्त हैं। इस प्रकार ज्ञान भलीभाँति जानता है और तभी ज्ञान सच्चा कहलाता है।

कोई कहता है कि 'सब मिलकर एक ही आत्मा है' किन्तु यह भूल है। कोई कहता है कि 'ज्ञान अकेला निज को ही जानता है, परवस्तु अनेक प्रकार से भासित होती है जो कि माया का भ्रममात्र है।' ऐसा कहनेवाले का ज्ञान ही भ्रमरूप मिथ्या सिद्ध होता है। परवस्तु है तो अवश्य, किन्तु आत्मा के स्वरूप में पर अथवा पर का कोई भेद नहीं है। खट्टा-खारा जानने पर कहीं जीव खट्टा-खारा नहीं हो जाता। एक के दु:ख से दूसरा दु:खी नहीं हो जाता, एक व्यक्ति के शान्ति रखने से विश्व को शान्ति नहीं हो जाती, क्योंकि सब भिन्न-भिन्न हैं। कोई कहता है कि 'यहाँ पर भले ही आत्मा अलग हो, किन्तु मोक्ष में जाने पर जोत में जोत समा जाती है;' किन्तु यह भी मिथ्या है, क्योंकि यहाँ दु:ख भोगने में तथा राग-द्वेष में तो अकेला है, और राग-द्वेष का नाश करके अनन्त पुरुषार्थ से पवित्र निरुपाधिकदशा प्रगट की तब किसी पर-सत्ता में मिलकर पराधीन हो जाए तो अपने में स्वाधीन सुख भोक्ता ही नहीं रहा, अर्थात् अपना ही नाश हो गया; तो ऐसा कौन चाहेगा।

स्वतन्त्र वस्तु का जैसा यथार्थ स्वरूप केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग ने दिव्यध्वनि में कहा है, वैसा ही पूर्वापर विरोधरहित कहनेवाले सर्वज्ञ के शास्त्र हैं। उनके अर्थ को गुरु-ज्ञान से समझे और अपने भाव में यथार्थतया निश्चित करे तब शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। यदि शास्त्र से तर सकते हों तो शास्त्र के पन्नों का भी मोक्ष हो जाना चाहिए। शास्त्र को पहले भी जीव अनन्त बार बाह्यदृष्टि से पढ़ चुका है। यहाँ तो ज्ञान में यथार्थ वस्तु को स्वीकार करने की बात है। आत्मा को देह से पृथक् जानने पर ज्ञानी को यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि देव, गुरु पर हैं, निमित्त हैं।

मति-श्रुतज्ञान है, उसमें मन और इन्द्रियाँ निमित्त हैं, इस प्रकार ज्ञान से ज्ञान में जानता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता। जब तक वर्तमान में ज्ञान हीन है, तब तक दूसरे को जानने के लिए मन और इन्द्रियाँ निमित्त हैं। भीतर स्वलक्ष्य में मन और इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं। जीव उससे अंशत: अलग होता है, तब स्वतन्त्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियाँ तो एक-एक प्रकार को ही जानने में निमित्त हैं। इन्द्रियाँ नहीं जानती। यदि कान, आँख इत्यादि इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य बन्द करे तो भीतर मन के द्वारा विचार का काम ज्ञान करता है, तथापि वह जानता अपने से ही है; मन और इन्द्रियाँ तो बीच में व्यर्थ ही थोथी सिद्ध होती हैं, उनकी तो उपस्थिति मात्र होती है, तथापि वह अल्पज्ञान में निमित्त हैं, उनका ज्ञान में निषेध नहीं है, किन्तु उनसे ज्ञान होता है, इस विपरीत-मान्यता का निषेध है। मैं क्रमश: जानता हूँ, मेरे ज्ञान में क्रम होता है, अक्रमरूप से मेरा ज्ञान नहीं जानता, इसलिए बीच में निमित्त का अवलम्बन आ जाता है, इसलिए वह परोक्ष ज्ञान है। वर्तमान में हीन अवस्था है किन्तु स्वभाव इतना मात्र नहीं है, हीन नहीं है; अल्पज्ञान में निमित्त है। राग-रहित पूर्ण ज्ञान में निमित्त का सम्बन्ध नहीं होता, क्रम नहीं होता, प्रथम समय में दर्शन का व्यापार हो और दूसरे समय में ज्ञान का व्यापार हो ऐसे भेद केवलज्ञान में नहीं होते।

मतिज्ञान में सामान्यरूप से जानना होता है। श्रुतज्ञान में विशेषरूप से विस्तारपूर्वक और अधिक सूक्ष्म ज्ञात होता है। यह शब्द अमुक भाई का ही है, और पहले जो आवाज सुनी थी वैसी ही यह आवाज है; इस प्रकार का ज्ञान मतिज्ञान का भेद है। उसके बाद ज्ञान को तनिक और बढ़ाकर जहाँ यह ज्ञात होता है कि उसकी आवाज मीठी है, धीमी है, सो

यह श्रुतज्ञान है। स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा वायु का स्पर्श हुआ सो उसे जानना मतिज्ञान है, फिर यह विशेष जानना कि वह वायु ठण्डी है या गर्म है सो श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान से जानने में इन्द्रियाँ निमित्त नहीं हैं किन्तु भीतर जो मन है, वह निमित्त है। स्वस्वरूप का अभेद लक्ष्य करने में जितने अंश में मन का अवलम्बन छूट जाता है, उतना प्रत्यक्ष स्वलक्ष्य होता है।

आत्मा का स्वतन्त्र स्वरूप ज्ञानी के निकट से सुनकर निमित्त की ओर का लक्ष्य छोड़कर भीतर इस प्रकार विचार में मग्न हो जाता है कि अहो! यह आत्मा देहादिक संयोग से भिन्न स्वतन्त्र और पूर्ण गुणस्वरूप प्रतीत होता है, ज्ञान और शान्ति मुझमें विद्यमान से हैं, जो स्वतन्त्र होता है, उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं होती, मेरा अस्तित्व सदा मुझसे ही है, देहादि के संयोग से मेरा अस्तित्व नहीं है, मैं असंयोगी ज्ञातास्वरूप हूँ, किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा ज्ञान सदा एकरूप रहता है, मेरे ज्ञान की शक्ति में ज्ञात होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेय मुझसे भिन्न-भिन्न हैं और वे वैसे ही प्रतीत होते हैं, मैं पर से नहीं जानता, मैं ऐसा प्रतिबन्धवाला नहीं हूँ कि अमुक क्षेत्र, काल, संयोग और राग-द्वेष में रत होऊँ तो जान सकूँ, ज्ञान में विकार नहीं है, ज्ञान का अटकने का स्वभाव नहीं है, अटकना तो परोन्मुख होनेवाली क्षणिक अवस्था से होता है जो कि राग का कार्य है, स्वभाव तो राग का नाशक और अनन्त गुण का रक्षक है।

वस्तु है सो नित्य है। मैं नित्य हूँ तो स्वतन्त्र हूँ या नहीं? यदि स्वतन्त्र होऊँ तो स्वतन्त्रता दिखायी देनी चाहिए; किन्तु मैं अपनी अशक्ति के कारण वर्तमान अवस्था में राग में अटका हुआ हूँ; और यही पराधीनता है; त्रिकाल स्वभाव में पराधीनता नहीं है। यदि स्वभाव के विश्वास का बल हो तो पर की ओर अटकना स्वयं ही छोड़ सकता है। मैं स्वतन्त्र हूँ इस प्रकार पहले यदि निःशंक निर्णय करे तो फिर आत्मस्वभाव में स्थिर होकर वीतराग परमात्मा हो सकता है। पूर्ण निर्मल मोक्ष होने से पूर्व मोक्ष की 'हाँ' कहनेवाले को स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव की महिमा प्राप्त होती है, उसी की यह बात है।

मतिज्ञान से पर को जानने में इन्द्रियाँ तथा मन निमित्त होते हैं। मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान के होने में मात्र मन निमित्त होता है। जड़ इन्द्रियाँ पर के जानने में निमित्त होती हैं, वे आत्मा के जानने में निमित्त नहीं होती। जबकि शब्दादिक पर-विषयों को बाहर झाँककर जान लेता हूँ, तो फिर सीधी रीति से मैं अपने को क्यों नहीं जानूँगा? मैं स्वावलम्बी नित्य

एकरूप पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, इस प्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान से स्व-विषय करे ऐसा मति-श्रुतज्ञान का स्वभाव है। स्वतन्त्र स्वभाव के मानने में एक अंश भी आलम्बन नहीं है। आलम्बन तो पराधीनता की दृष्टि है।

आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये अपने अविनाशी चैतन्य-शक्ति के माल को पहिचानकर तौल करने के लिए पहले अपने ज्ञान को प्रमाणरूप बना। जैसा हम कहते हैं वैसा यदि तू जान ले तो जैसा हमारा भव का अभाव हुआ है वैसा ही तेरा भी हो जाएगा।

जैसे मिठास मिश्री में है, थैले में नहीं, इसी प्रकार ज्ञान-शान्ति इत्यादि समस्त गुणरूप स्वधर्म मुझमें त्रिकाल अभिन्नरूप से विद्यमान हैं। वह देहादि में नहीं है, देह की क्रिया में नहीं है; और बाह्यसाधन अथवा आलम्बन से गुण नहीं आता। गुण भीतर विद्यमान है, इसलिए उसकी एकाग्रता के बल से वह प्रगट होता है। उस अतीन्द्रिय स्वभाव को किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है तथा उसमें कोई कमी नहीं है। जब तक अपने को स्वभाव से हीन या पराधीन मानता है, तब तक मान्यता में संसार है। पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करने के बाद अवस्था में क्षणिक अशक्ति होती है, किन्तु ज्ञानी उस क्षणिक अशक्ति का स्वामी नहीं होता। वह अभूतार्थभाव का कर्ता नहीं किन्तु नाशक है।

मति-श्रुतज्ञान अपने को जानने के लिए प्रत्यक्ष हैं-एकदेश प्रत्यक्ष हैं; और पर को जानने के लिए परोक्ष हैं। वर्तमान में मेरी योग्यता से होनेवाला, इन्द्रियों में अटकनेवाला पराधीन ज्ञान आदरणीय नहीं है; किन्तु भीतर पूर्ण निर्मल अखण्ड स्वभाव में निरपेक्ष, निश्चय दृष्टि के बल से यदि मैं स्थिर होऊँ तो पूर्ण केवलज्ञान की निर्मल अनन्त शक्ति स्वयं प्रगट कर सकता हूँ। वह पूर्ण ज्ञान प्रगट न हुआ हो उससे पूर्व आत्मा में किसी के अपूर्ण ज्ञान की अवस्था-अवधिज्ञान प्रगट होता है, उसमें इहलोक और परलोक के रूपी पदार्थ अमुक क्षेत्र और काल की मर्यादा के लिए हुए ज्ञात होते हैं। ज्ञान को कहीं बाहर दूर नहीं जाना पड़ता और परज्ञेय भीतर ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते। जबकि मैं स्वतन्त्र हूँ, तो फिर निमित्त के बिना क्यों नहीं जानूँगा ? मुझसे अवधिज्ञान की शक्ति विद्यमान है ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार अवधिज्ञान प्रमाण की विवक्षा की है।

ज्ञान की चौथी अवस्था मन:पर्ययज्ञान है। जो दूसरे प्राणी के मन में रमनेवाले रूपी

पदार्थ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प को बिना ही निमित्त के जानता है, सो मन:पर्ययज्ञान है। जबकि मैं स्वतन्त्र हूँ तो उसकी श्रद्धा के बल से स्थिर होकर यदि निर्मलता प्राप्त करूँ तो वह क्यों न ज्ञात होगी ? अवश्य ज्ञात होगी। यह मन:पर्ययज्ञान की स्वीकृति है।

अवधि और मन:पर्ययज्ञज्ञान रूपी पदार्थों को एकदेश प्रत्यक्ष जानते हैं। मन:पर्ययज्ञान में अवधिज्ञान की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता (निर्मलता) है। अवधि और मन:पर्यय का विषय पर का है। मति-श्रुतज्ञान निज का एकदेश प्रत्यक्ष और पर का सब परोक्ष जानता है, किन्तु ज्ञान पर की सभी अवस्थाओं को नहीं जानता। केवलज्ञान में प्रत्येक समय की एक-एक अवस्था से तीन काल और तीन लोक के समस्त भाव एक साथ ज्ञात होते हैं। पूर्णरूप से अनन्त को जाननेवाला अपने गुण से अनन्त है। ऐसी स्वतन्त्र वस्तु के पूर्णज्ञान को स्वीकार करनेवाला मैं हूँ। प्रस्तुत जगत में वस्तु अनादि-अनन्त है, उसे जानने का स्वभाववाला मैं क्यों न जानूँगा ? इसलिए केवलज्ञानी के जैसा सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान है वैसा मेरे भी है। उनमें जितने और जैसे अनन्त गुण हैं, उतने और वैसे ही मुझमें भी प्रतिसमय विद्यमान हैं। इस प्रकार अपार-अनन्त को एक साथ स्वीकार करनेवाला ज्ञान है। ज्ञान का थैला ही इतना बड़ा है कि उसके विश्वास में पूर्ण स्वभाव और पूर्ण पुरुषार्थस्वरूप स्वयं समा जाता है। मैं अपूर्ण अथवा उपाधिवाला नहीं हूँ। मेरे भव नहीं हैं। मैं पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व हूँ। मुझे पर से बन्धनबद्ध कहना शोभा नहीं देता।

मैं नित्य वस्तु हूँ। प्रतिसमय पर्याय बदलती रहती है। अपूर्ण ज्ञान के समय निमित्त होता है, किन्तु निमित्त से जानना नहीं होता। निमित्त में जाकर जानता नहीं है किन्तु निज में जानता है। सम्यग्दृष्टि के पाँचों ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान होते हैं। इस प्रकार जब ज्ञान का रागमिश्रित निर्णय किया तब उच्च शुभभाव हुआ। ऐसे शुभभाव से भी जीव अनन्त बार पीछे हट आया है।

यह दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के भेद को अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, और जिसमें सर्व भेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीव के स्वभाव का अन्तर निर्मलदृष्टि से अनुभव करने पर वे (रागमिश्रित विचार) अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, अर्थात् रागादिक निज में टिकनेवाले नहीं हैं। जगत में जो परवस्तु है, सो स्व-वस्तु से असत् है, अर्थात् अपने में नहीं है। पर-निमित्त अपूर्ण अवस्था में होता है, किन्तु त्रिकाल स्वभाव अपूर्ण नहीं है। उसके विचार में रुकने का राग अभूतार्थ है।

इन्द्रियाँ क्षणिक संयोग से नाशवान हैं, मन से निर्णय किया सो वह रागमिश्रित था। वह पर का अवलम्बन कहाँ तक टिक सकता है ? कहा जाता है कि लिया-दिया कहाँ तक टिक सकता है ? यदि जीव अभूतार्थ राग का आश्रय छोड़कर नित्यस्वभाव का आश्रय करे तो स्वाश्रय में राग नहीं है।

कोई कहता है कि यहाँ सुनते हैं तब तक अच्छे विचार रहते हैं, फिर नहीं रहते; किन्तु यह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। जैसे सिगड़ी को छाती से नहीं बाँधा जाता, किन्तु सालमपाक और गरम मसाले खाने से यदि पुण्योदय हो तो भीतर गर्मी आ जाती है, इसी प्रकार मेरा कोई सहायक नहीं है, मुझ पर किसी निमित्त का असर नहीं होता, मैं पर से भिन्न अकेला पूर्ण शक्तिवान हूँ ऐसा निर्णय करके, विश्वास करके स्वभाव की निराकुल गर्मी उत्पन्न करे तो निमित्ताधीन दृष्टि का भार न आये और पराधीनता न देखे।

जब जीवों की तैयारी होती है, तब परम-सत्य सुनने को मिलता है, किन्तु उसके शुभराग में न रुककर अपूर्व पुरुषार्थ करना चाहिए, जो कि अपनी भीतर तैयारी से होता है। आचार्यदेव ने सर्व शास्त्रों का रहस्य ऐसी अद्‌भुत संकलना से संक्षेप में क्रमशः उपस्थित किया है कि जो यथार्थ पात्रता से समझता है वह पीछे नहीं हटता। ज्ञान, ज्ञेय और निमित्त इत्यादि जो कहा गया है सो उसे जानकर यदि जीव स्वतन्त्र स्वभाव में से बल लगाये तो विकल्प टूटकर स्वानुभव से निर्मल अंश प्रगट हो और स्थिरता के बढ़ते-बढ़ते पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान परमात्मदशा प्रगट हो। यथार्थ सम्यग्दर्शन से अनुभव हुआ कि तत्काल ही घर छोड़कर सब चले नहीं जाते। जब तक वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति रहती है, तब तक अपूर्ण दशा में रुका रहता है किंतु अपूर्ण का आदर नहीं है। भीतर चिदानन्द का गोला पृथक् प्रतिभासित होता है। किसी विकारी प्रवृत्ति या विकल्पमात्र का कर्तृत्व नहीं है। एकाकार पूर्ण वीतरागता पर जिस जीव की दृष्टि है, वह राग को छोड़कर अल्प काल में पूर्ण वीतराग हो जाता है। पहले यहाँ नवतत्त्वों में से एक को अलग बताकर एकरूप निश्चय-श्रद्धा का स्वरूप बताया है।

सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व नवतत्त्वों का और प्रमाण का ज्ञान तो होता ही है, कोई विस्तार से जाने या कोई संक्षेप में जाने, किन्तु स्वरूप के आँगनरूप चित्तशुद्धि का व्यवहार आये बिना नहीं रहता। सभी तत्त्वों के नाम आयें ऐसा नियम नहीं है। किसी पशु के भी

सम्यग्दर्शन होता है। वह तो यथार्थ आनन्द-शान्ति का अनुभव करता है और उसे हित-अहितरूप भाव का भास भलीभाँति होता है। जैसे कुत्ते को लाल, पीले, काले इत्यादि नामों की खबर नहीं होती, और हम उसे कुत्ता कहते हैं इसकी भी उसे खबर नहीं है, तथापि उसके देहदृष्टि से अनुकूलता-प्रतिकूलता का ऐसा ज्ञान विद्यमान होता है कि यह मेरा विरोधी है और यह मुझे अनुकूल है। इसी प्रकार शब्दज्ञान न हो किन्तु भावज्ञान होता है कि आत्मा पर से सदा निराला है, पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, कोई सहायक नहीं है, मैं स्वतन्त्र हूँ, पर से कोई लाभ-हानि नहीं होती; मेरा स्वरूप अखण्ड ज्ञान शान्तिरूप है जो कि आदरणीय है, और जो विकल्प की भावना उत्पन्न होती है, वह मेरे स्वरूप नहीं है; निमित्ताधीन लक्ष्य करके विकल्प में रुकना-आकुलता में रुकना भी आदरणीय नहीं है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष के आशयरूप से और संक्षेप में हेय-उपादेय का ज्ञान स्वभावाश्रित होने से पशु के भी होता है।

आत्मा त्रिकाल एकरूप स्थायी अनन्त गुणस्वरूप पूर्ण शक्तिवाली वस्तु है। वह सदा अरूपी ज्ञानाकार है। जीव अपना नित्य अखण्ड स्वभाव न माने और कर्म के संयोग के आधीन होनेवाली क्षणिक अवस्था जितना अपने को माने तो यह उसकी श्रद्धा में भूल है। आत्मा वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं है, उसमें राग-द्वेष नहीं भरे हैं, किन्तु बाह्य लक्ष्य करने से एक-एक अवस्था जितना नवीन विकारभाव करता है। किन्तु उसी समय उसका नाश करनेवाला जीव का स्वभाव शक्तिरूप से पूर्ण निर्मल है। उसका यथार्थतया निर्णय करने से जन्म-मरण का नाश करनेवाले स्वभाव की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जीव को होती है।

पहले नव तत्त्व के भेद जानकर, भेद के लक्ष्य से छूटकर, भूतार्थ एक स्वभाव का आश्रय करने की रीत बतायी थी। यहाँ दूसरी रीति से वही बात बताते हैं कि प्रमाण, नय, निक्षेप आत्मा को जानने का उपाय है, इसलिए रागमिश्रित विचार के द्वारा पहले आत्मा का प्रमाणरूप यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

पहले प्रमाण के प्रकार कहे जा चुके हैं, अब नय (ज्ञान की अपेक्षारूप दृष्टि) का स्वरूप बताते हैं। नय के दो प्रकार हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। इनमें से जो द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यतया अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय का मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिकनय है।

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक वस्तु में सामान्य-विशेष और नित्य-अनित्य आदि दो पहलू हैं। उसे देखनेवाली दृष्टि से उस-उस पहलू का ज्ञान किया जा सकता है। दो पहलुओं से एक ही साथ सम्पूर्ण वस्तु को ध्यान में लेना सो ज्ञान प्रमाण है। आत्मा में त्रिकालस्थायी निर्मल अखण्ड गुणस्वभाव है, वह राग-द्वेष और भूल का नाशक है, उस नित्यस्वभाव के पहलू से देखनेवाला ज्ञान का अंश द्रव्यार्थिकनय है। गुण से जो विरोधभाव है, सो अवगुण है, वह क्षणिक अवस्था मात्र के लिए पर की ओर के रागरूप झुकाव से नया होता है। वह आत्मा के साथ नित्यस्थायी नहीं है; इसलिए वह अभूतार्थ है। मुझे अवगुण नहीं चाहिए अर्थात् मुझे वीतरागभाव रखना है। उसे रखनेवाला त्रिकालस्थायी है, यह जानकर अवस्था बदली जा सकती हे। उस भेद का जो लक्ष्य किया सो व्यवहारनय अथवा पर्यायार्थिकनय है।

जैसे सोना नित्यस्थायी वस्तु है, वह कुण्डल इत्यादि की अवस्था में एकरूप रहनेवाला सामान्य सोना ही है। इस प्रकार नित्य एकरूप स्वभाव के पहलू से देखना सो द्रव्यार्थिकनय है और कुण्डल, माला, हार इत्यादि की पर्यायदृष्टि से देखना सो पर्यायार्थिकनय है। दोनों दृष्टियाँ मिलकर सम्पूर्ण सोना एक ही वस्तु है। ऐसा जानना सो प्रमाण है। संसार और मोक्ष की सब पर्यायें मिलकर त्रैकालिक अवस्था का अखण्ड पिण्ड अनादि-अनन्त वस्तु अपना आत्मा है, वह मात्र शुद्ध या अशुद्ध अवस्था जितना ही नहीं है। प्रगटरूप से एक समय में एक ही अवस्था होती है। संसार की विकारी दशा एक समय की स्थितिवाली होने पर भी प्रवाहरूप से अनादि काल से है। प्रति समय उस पर्याय के पीछे त्रिकालस्थायी अनन्त गुण की शक्तिरूप स्वभाव है। उसके बल से उस विकारी दशा का नाशक स्वभाव प्रत्येक आत्मा में है; किन्तु इसकी जिसे खबर नहीं है, वह बाह्यदृष्टि से पर में अच्छा-बुरा मानकर अटक जाता है। वर्तमान अवस्थामात्र तक जो राग-द्वेष होता है, उसे अपना भले ही माने किन्तु स्वयं उसरूप नहीं हो जाता।

नित्य स्थायी सोना अपने ही आधार से अँगूठी, कड़ा, कुण्डल, इत्यादि अवस्थाओं में बदलता रहता है। जो सोने को अँगूठी के ही आकार में सीमित मानता है, उसे नित्य एकरूप स्थायी सोने की खबर ही नहीं है। वस्तु में सदा स्थायी स्वभाव को देखना सो द्रव्यदृष्टि है और पर्याय (अवस्था) बदलती है सो उसका लक्ष्य करना पर्यायदृष्टि है। पानी को एकरूप देखना सो द्रव्यदृष्टि है और उसमें उठनेवाली तरंगों को देखना सो पर्यायदृष्टि है।

यदि ध्यान रखे तो यह बात सबकी समझ में आ सकती है। जो सब आत्मा हैं, सो भगवान हैं, कोई आत्मा स्त्री या पुरुषरूप नहीं है। भगवन्! ऐसा मत मान कि तेरी ही बात तेरी समझ में नहीं आ सकती। जो-जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं, उन्होंने पहले सच्ची पहिचान करके फिर अन्तरंग स्थिरता करके पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है। इसी प्रकार अनन्त सिद्ध हुए हैं। तीर्थंकर परमात्मा ने साक्षात् केवलज्ञान से जगत को जन्म-मरण दूर करने का-पवित्र मोक्षदशा प्राप्त करने का सत्य उपाय बतलाया है। उन्होंने अकषायी करुणा से जो निर्दोष उपदेश दिया है, वह ऐसा है कि जिसे जगत के प्राणी भलीभाँति समझ सकते हैं। उन्होंने कुछ ऐसा नहीं कहा है कि जिसे नहीं समझा जा सकता, अथवा पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता या कर्म आड़े आ सकते हों।

आत्मा स्वभावत: प्रति समय निर्मल ध्रुव है, पराश्रित रागादि विकार क्षणिक नहीं हैं। उसे जाननेवाला विकार का नाशक स्वभाव है, जो कि क्षणिक नहीं है। एक-एक समय की क्षणिक अवस्था बदलती रहती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेपन से नित्य एकरूप बनी रहती है। जीव में से राग की विकारी अवस्था दूर कर दी जाए तो अविकारी अवस्थारूप से पर्याय बदलती रहती है। यदि प्रति समय बदलनेवाली अवस्था को दूर कर दिया जाए तो ध्रुव वस्तु न रहे। जैसे सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष में से एक समय की अवस्था को दूर कर दिया जाए तो सम्पूर्ण पुरुष नहीं रह सकता। यदि ऐसा माने कि मैं वर्तमान अवस्था तक ही सीमित हूँ तो ध्रुव स्थायी वस्तु के बिना पर्याय किसके आधार से होगी? जीव निरन्तर विचार बदलता रहता है किन्तु उन विचारों को बदलानेवाला तो नित्य एकरूप स्थायी रहता है। इस प्रकार एक वस्तु में नित्य और अनित्यरूप दो दृष्टियाँ हैं।

कोई चाहे जितना नास्तिक हो किन्तु यदि कोई उसके लड़के के टुकड़े करना चाहे तो वह उसे ठीक नहीं मानेगा, और वह बुरा कर्म नहीं होने देगा। वह यह स्वीकार करता है कि लड़के को दु:ख न हो ऐसी अनुकूल परिस्थिति रखनी चाहिए। इसका अप्रगट अर्थ यह हुआ कि बुराई से रहित भलाई उपादेय है और भलाई को रखनेवाला नित्य स्थिर रह सकता है। बुरी अवस्था के छोड़ने की स्वीकृति में पवित्रता और भलेपने से स्थायित्व स्वीकार किया है; इस प्रकार नास्तिक में दो दृष्टियाँ मानने की आस्तिकता उपस्थित होती है। उसे सत्य की प्रतीति नहीं है तथापि बुरी अवस्था के समय यदि सज्जनता का अप्रगट

सद्भाव न हो तो भले-बुरे का ध्यान कहाँ से आये? राग-द्वेष और भूलरूप विकार के समय भी अविकारी स्वभाव शक्तिरूप से है। जैसे दियासलाई में शक्तिरूप से अग्नि विद्यमान है, वही प्रगट होती है। इसलिए प्रत्येक वस्तु में सदा स्थायीरूप से शक्ति और बदलनेरूप से प्रगट अवस्था इस प्रकार दो पहलुओं को देखने की दृष्टि की आवश्यकता है।

भगवान आत्मा सदा एकरूप से रहनेवाली वस्तु है और वर्तमान प्रगट अवस्था में राग-द्वेष-विकार है जो कि एक समय मात्र के लिए होता है। उस अवस्था के पीछे उसी समय विकार नाशक के रूप में अविकारी स्वभाव है; इसलिए मैं अवगुणरूप नहीं हूँ किन्तु नित्य निर्दोष गुणरूप हूँ यह जानकर त्रिकाल एकरूप निर्मल स्वभाव की अखण्डता की दृष्टि से देखना सो द्रव्यार्थिकनय है, अवस्था को देखना सो पर्यायार्थिकनय है; और दोनों दृष्टि से सम्पूर्ण वस्तु को जानना सो प्रमाण है। प्रमाणज्ञान में गौण-मुख्य का क्रम नहीं है।

आत्मा को जो एकान्त पक्ष से नित्य ही मानता है उसके यहाँ राग को दूर करके आनन्द को प्रगट करना अथवा पुरुषार्थ करके अवस्था को बदल देना कैसे हो सकता है? इसलिए यह मानना होगा कि प्रत्येक द्रव्य में अवस्थाओं का बदलना होता रहता है। एक वस्तु में एक ही साथ दो दृष्टियाँ हैं, उनका क्रमशः विचार होता है। नित्य अखण्ड की दृष्टि से देखने पर खण्डरूप अवस्था का लक्ष्य गौण होता है और अवस्था के विचार को मुख्य करने पर नित्य अखण्डता का लक्ष्य गौण होता है। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है अवश्य, किन्तु जीव जब तक रागमिश्रित विचार में लगा रहता है तब तक मन के सम्बन्ध से राग की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु निर्विकल्प अभेद स्वभाव का लक्ष्य और शान्ति का अनुभव नहीं होता। इसलिये उसके विचारों को छोड़कर स्वरूप में एकाग्रता प्रगट करने को एकरूप स्वभाव की श्रद्धा करके अखण्ड स्वभाव के बल से अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण होकर (विकल्प टूटकर) निर्मल आनन्द का अनुभव होता है।

यद्यपि जीव चित्तशुद्धि के आँगन में अनन्त बार आया है, किन्तु उसे लाँघकर एकरूप स्वभाव का लक्ष्य कभी नहीं किया। इसलिए निर्विकल्प स्वभाव को पहिचानकर, वस्तु की महिमा को जानकर पूर्ण की ओर की रुचि करना चाहिए। जब यथार्थ स्व-लक्ष्य के बल से निर्विकल्प शान्ति के अनुभवरूप अन्तरंग एकाग्रता होती है तब सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था प्रगट होती है और भ्रान्ति का नाश होता है। जैसे रोग के मिट जाने पर कुछ

अशक्ति रह जाती है, जिसकी स्थिति अधिक लम्बी नहीं होती, वह पथ्य सेवन से दूर हो जाती है; इसी प्रकार स्वभाव में विरोधरूप मान्यता का नाश करने के बाद वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति अधिक समय तक नहीं रहती। विकार के नाशक स्वभाव की प्रतीति के बल से अल्प काल में पूर्ण निरोग परमात्मदशा प्रगट होती है। शरीर में तो उदयानुसार होता है, किन्तु स्वतन्त्रस्वभाव में अपना कार्य बराबर होता ही है।

पहले आत्मा का निर्णय करते समय दो नयों का विचार आता है, जो कि उस काल में सत्यार्थ है, किन्तु मैं उस विकल्परूप नहीं हूँ, इस प्रकार भेद का लक्ष्य छोड़कर एकरूप स्वभाव का अनुभव करने पर वे विकल्प अभूतार्थ हैं। शुभविकल्प से अभेद स्वभाव का लक्ष्य और एकाग्रतारूप अनुभव नहीं होता। अन्तरंग के मार्ग में कोई परावलम्बन या व्रतादि का शुभराग भी सहायक नहीं है।

प्रश्न : सभी के लिए इसी प्रकार है या कोई दूसरी रीति है ?

उत्तर : तीन लोक और तीन काल में ऐसा ही है; किसी के लिए पृथक् मार्ग नहीं है। जहाँ शुद्ध में स्थिर नहीं हुआ जा सकता वहाँ अशुभ में न जाने के लिए व्रतादि के शुभभाव बीच में होते हैं; किन्तु उनसे अविकारी स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। भीतर गुणों की शक्ति भरी हुई है, उसके बल से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की एकता होती है। पूर्वापर विरोध से रहित ज्ञान किये बिना व्रत को उपचार से भी व्रत नहीं कहा जा सकता। कोई कहता है कि 'हमारा व्यवहार ही उड़ जाएगा,' किन्तु बुरे का अभिमान भले ही उड़ जाये इसमें डर क्या है ? वीतराग के द्वारा कहा गया व्यवहार नहीं उड़ता है। पुण्यभाव को छोड़कर पाप में जाने के लिए ज्ञानी नहीं कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर एकाकार शान्ति का अनुपम अनुभव होता है और जब विशेषरूप से ज्ञान में स्थिरता करता है तब सिद्ध परमात्मा के समान आंशिक आनन्द का स्वाद गृहस्थदशा में भी ज्ञानी के होता है। कोई चक्रवर्ती राजा हो तो भी वह अपने में एकाग्र होकर ज्ञान-ध्यान का आनन्द ले सकता है। अपनी अशक्ति के कारण वह स्त्री, पुत्र, महल इत्यादि के निकट गृहस्थदशा के राग में विद्यमान दिखायी देता है तथापि वह किसी प्रवृत्ति या संयोग का स्वामी नहीं है; उसके ऐसी आन्तरिक उदासीनता विद्यमान रहती है कि राग-द्वेष की वृत्ति मेरा कार्य नहीं है। उसे निरन्तर ऐसी प्रतीति रहती है कि मैं ज्ञानानन्द हूँ।

यहाँ तो अभी यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दर्शन के होने पर कैसी स्थिति और क्या निर्णय होता है। जो मुनि और सर्वज्ञ केवली हो गये हैं, उनके लिए यह उपदेश नहीं है।

यहाँ जो कहा जा रहा है वैसी प्रतीति चौथे गुणस्थान में गृहस्थदशा में महाराजा श्रेणिक, भरत चक्रवर्ती और पाण्डव इत्यादि धर्मात्माओं के थी। यह ऐसी बात है कि वर्तमान में भवरहित होने की अपूर्व साक्षी स्वयं छलककर आ जाए। किन्तु लोगों को सत्य सुनने को नहीं मिला इसलिए यह बात नयी और अद्‌भुत सी लगती है, किन्तु यदि मध्यस्थ होकर परिचय प्राप्त करे तो स्वयं समझ सकता है। तीनों काल के ज्ञानियों का यही कथन है। अजान को ऐसा भ्रम होता है कि समयसार में बहुत उच्च प्रकार की भूमिका की बातें हैं इसलिए वे हमारी समझ में नहीं आ सकतीं; जो इस प्रकार पहले से ही समझने का द्वार बन्द रखे तो इसे जन्म-मरण को दूर करने का अमोघ उपाय कहाँ समझ में आ सकता है? जैसे कचहरी से अज्ञान किसान वहाँ जाते हुए अनेक शंकाएँ करके डरता है; इसी प्रकार भ्रम से यह मानकर कि यह बात कठिन है, जीव पहले से ही अन्तरंग में अभ्यास करने से इंकार करता है। यदि कोई यह माने कि समयसार में तो केवली के लिए कहा गया है तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। यह तो ऐसी बात है कि गृहस्थदशा में भी सहज हो सकती है, अन्तरंग में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ उत्पन्न हो सकता है, तथा भव का भय और जन्म-मरण की आशंका दूर हो सकती है। सत्‌समागम से यदि अपने स्वभाव की महिमा को एक बार भलीभाँति सुन ले तो किसी से पूछने को नहीं जाना पड़े और कृतकृत्य हो जाए। किन्तु जो कभी भी परमार्थ के आँगन का अभ्यास करने को न आये तो उसे सत्य अथवा असत्य क्या है—इसे समझने का अवकाश ही नहीं है।

जैसा सर्वज्ञ ने कहा है वैसा ही यथार्थ श्रवण-मनन करके, स्वभाव को पहिचानकर, शुद्धनय के आश्रय से पर्याय के लक्ष्य को गौण करके यदि स्वभाव के बल से एकाग्र हो तो पूर्ण मुक्त स्वभाव की अपूर्व श्रद्धा अवश्य होगी। ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थदशा में हो और वहाँ यदि प्रसंग उपस्थित होने पर युद्ध में जाना पड़े तो युद्ध क्षेत्र में खड़ा रहकर भी उसके अन्तरंग से यह प्रतीति नहीं हटती कि मैं भिन्न हूँ, मैं किसी पर-प्रवृत्ति का स्वामी नहीं हूँ, विकल्प मात्र का कर्त्ता नहीं किन्तु साक्षी हूँ, और मुझे किसी प्रकार का राग इष्ट नहीं है।

प्रश्न : क्या ऐसी प्रतीति निरन्तर रहती होगी?

उत्तर : हाँ, जैसे यह याद नहीं करना पड़ता कि मैं अग्रवाल या खण्डेलवाल वणिक हूँ, इसी प्रकार मैं स्वतन्त्र ज्ञाता हूँ, ध्रुव हूँ, इस प्रकार की प्रतीति दूर नहीं होती। जैसे देह के अभ्यास से, यदि कोई स्वप्न में भी नाम लेकर बुलाये तो तत्काल ही उत्तर देता है। यहाँ एक भव के शरीर का इतना परिचय हो जाता है कि उसके नाम को नहीं भूलता, तो जिसे ऐसी यथार्थ प्रतीति हो गयी है कि मैं पर से भिन्न अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभाववाला हूँ, वह कैसे भूल सकता है ?

प्रश्न : क्या ज्ञानी होकर लड़ाई में जाएगा ?

उत्तर : यदि ज्ञानी मुनि हो तो वह लड़ाई में नहीं जाएगा, क्योंकि उसके राग नहीं है; किन्तु गृहस्थदशा में कोई राजा धर्मात्मा हो तथापि युद्ध का प्रसंग आने पर और स्वयं वर्तमान अशक्ति से उस युद्ध के राग को न छोड़ सके तो वह युद्ध में भी लग जाएगा। यद्यपि उसे अपनी उस अशक्ति का खेद होता है और आत्मप्रतीति विद्यमान रहती है। उसके युद्ध के समय भी ऐसी भावना होती है कि समस्त राग को तोड़कर, मुनि होकर परिपूर्ण हो जाऊँ। यद्यपि वह युद्ध करता हुआ दिखायी देता है तथापि सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि उसके तीव्र तृष्णा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उसके अनन्त मन्दराग है, अल्प-परिग्रह और अल्प-संसार है; और मिथ्यादृष्टि बाह्य में त्यागी होकर ध्यान में बैठा हो तथापि उसके अन्तरंग आशय में तीव्र मूर्च्छारूप राग और अत्यधिक परिग्रह भरा है, इसलिए वह अनन्त-संसारी है। यद्यपि वह बाहर से त्यागी दिखायी देता है तथापि उसके अन्तरंग में देह की क्रिया और पुण्य-पाप के भाव का स्वामित्व विद्यमान है; वह विकार को सहायक मानता है इसलिये उसने अनन्त राग को उपादेय मान रखा है। जब तक दृष्टि राग पर पड़ी हुई है तब तक भले ही उग्र तपस्या करे तथापि भगवान उसे बाल-तप कहते हैं। यह जीव अनन्त बार नववें ग्रैवेयक तक गया तथापि भव कम नहीं हुआ, तो उसने क्या बाकी रखा होगा यह विचार करना चाहिए।

स्वरूप में पूर्ण स्थित नहीं हुआ उससे पूर्व परमार्थ को पकड़ने और स्थिर होने के लिए दृढ़ता से नव तत्त्व, नय, प्रमाण और निक्षेप के रागमिश्रित विचार आये बिना नहीं रहते, किन्तु जब उन्हें छोड़े तभी तो परमार्थ प्रगट होता है। स्वभाव के बल से अनुभव में स्थिर होता है कि विकल्प छूट जाते हैं और राग का आंशिक अभाव होकर निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

जो नय हैं सो प्रमाण (श्रुतज्ञान) के भेद हैं, और निक्षेप ज्ञेय के भेद हैं। ज्ञान के अनुसार निश्चित हुई वस्तु में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में भेद करके जानने का जो व्यवहार है, सो निक्षेप है।

'भगवान' शब्द सुनते ही चार प्रकार से प्रश्न उठता है कि किसी को नाम मात्र 'भगवान' कहकर नाम के व्यवहार मात्र का काम है, या वीतरागरूप से तादृश वीतराग भगवान की प्रतिमा को भगवान कहते हैं, या द्रव्य अर्थात् अल्प समय में ही भगवान होने की सन्मुखता (योग्यता) जिसमें है, उसे भगवान कहते हैं; अथवा वर्तमान में जिसके भगवत्ता प्रगट हुई है, उसकी बात है।

जैसे पिता की मूर्ति अथवा चित्र देखकर कहा जाता है कि यह मेरे पिताजी हैं और पिता के विरह में अपनी रुचि के अनुसार उनके गुणों को याद करता है; इसी प्रकार यह सर्वज्ञ वीतराग भगवान ही हैं यों भगवान की स्थापना अपने उत्कृष्ट स्वभाव की पुष्टि के लिए करना सो स्थापना निक्षेप है। जिसे पूर्ण वीतराग हो जानेवालों की यथार्थ पहिचान है किन्तु अपनी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, उन्हें पूर्ण वीतराग का स्मरण करते-करते पूर्ण निमित्त के प्रति गुण के बहुमानरूप से भक्ति छलकने लगती है। वीतराग भगवान की प्रतिमा के प्रति एक तो वीतराग के शुभराग नहीं होता और दूसरे अज्ञानी मूढ़ को नहीं होता; किंतु जिसे यथार्थ सत्य स्वभाव की रुचि हो गयी है, उसे संसार की ओर का अशुभराग बदलकर वीतरागता के स्मरण का शुभराग हुए बिना नहीं रहता, ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसी वस्तुस्थिति बीच की दशा में होती है, ऐसा जो नहीं जानता उसे व्यवहारशुद्धि के प्रकार के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं है; अर्थात् अपने परिणाम सुधारते हुए बीच में शुभराग में क्या निमित्त होता है इसकी खबर नहीं होती और इस प्रकार वह अज्ञानभाव से सत् का अनादर किया करता है।

देव, गुरु, शास्त्र, नव तत्त्व तथा अपूर्ण ज्ञान में इन्द्रियाँ इत्यादि निमित्त हैं, उसे ज्ञान बराबर जानता है; उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता को यथावत् जानता है; वह यह नहीं मानता कि निमित्त से काम होता है या किसी की सहायता आवश्यक है। निमित्ताधीन दृष्टिवाले तो इस प्रकार निमित्त पर भार देते हैं कि जब निमित्त मिलता है, तब काम होता है। उन्हें यह खबर नहीं होती कि स्वतन्त्र स्वभाव में पूर्ण शक्ति है।

अरूपी वस्तु रूपी पदार्थ में कोई प्रेरणा नहीं कर सकती और परवस्तु आत्मा में कोई असर नहीं कर सकती; क्योंकि प्रत्येक वस्तु पर से भिन्न और स्वतन्त्र है। जो इतना नहीं मानता वह दो तत्त्वों को पृथक् नहीं मानता।

नाम, स्थापना और द्रव्य यह तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनय का विषय है। नाम और स्थापना दोनों निक्षेप निमित्त की संज्ञा से तथा आकार की स्थापना से पहिचानने के व्यवहार के लिए प्रयोजनवान हैं यदि द्रव्य निक्षेप अपने में घटाये तो वह स्वरूप-सन्मुखतारूप होने से वर्तमान भावनिक्षेप का उपादानकारण है। भाव निक्षेप उसका वर्तमान प्रगट फल है।

नाम निक्षेप : लोक-व्यवहार में वस्तु को पहिचानने के लिए नाम की संज्ञा दी जाती है। उसमें किसी गुण, जाति या क्रिया का सम्बन्ध होने की आवश्यकता नहीं होती, मात्र नाम से काम होता है। लोक में महावीर, चतुर्भुज, सदासुख इत्यादि अनेक प्रकार के जैसे चाहे नाम, चाहे जिस व्यक्ति के रख लिए जाते हैं, उनका गुण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि इसे समझ ले तो नाम का झगड़ा न रहे। किसी का नाम धर्मविजय हो और वह घोर पापी हो तो उसका वह नाम बदल नहीं दिया जाता।

स्थापना निक्षेप : 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना (प्रतिमारूप स्थापित करना) सो स्थापना निक्षेप है। जो वीतराग स्वभाव की शक्ति को देखता है, वह भगवान की मूर्ति में उसके परिचयपूर्वक बहुमान स्थापित करता है। दृष्टि के विकसित होने के बाद 'सर्व जीव हैं सिद्धसम' इस प्रकार अपनी गुणदृष्टि का विकास करके, सभी आत्माओं में सिद्धत्व स्थापित करता है।

स्थापना निक्षेप में समझ में योग्य बात है। सत्य में पक्ष नहीं है। योग्य जीव वीतराग की मूर्ति को देखकर उसे अक्रिय पूर्ण पवित्र शान्त ज्ञानघन स्वभाव का स्मरण करने में निमित्त बनाते हैं। अपनी पहिचान के पूर्ण साध्यभाव की स्थापना गुण की रुचि के लिए करते हैं। यह वही वीतराग परमात्मा हैं साक्षात् भगवान विराज रहे हैं, इस प्रकार वह स्मरण करता है जिसने अपने परमार्थ का निर्णय कर रखा है। मेरा ऐसा पूर्ण स्वभाव शक्तिरूप से है, इस प्रकार स्वानुभव सहित पूर्ण की महिमा वर्तती है। जहाँ तक पूर्ण नहीं होता वहाँ तक राग रहता है, इसलिए संसार सम्बन्धी राग को बदलकर वीतरागमुद्रा-जिनप्रतिमा में अपने

भाव की स्थापना करता है। जिसे वीतराग की यथार्थ श्रद्धा हो गयी है, उसे वीतराग की प्रतिमा पर परमात्मापन की स्थापना करने का भक्तिभाव तरंगित हुए बिना नहीं रहता।

'जिन प्रतिमा जिन सारखी, भाखी आगम माहिं'

अपना साधकभाव अपूर्ण है इसलिए पूर्ण साध्यभाव का बहुमान उछालकर उसमें पूर्ण निर्मलभाव की स्थापना की है, और उसका आरोप शान्त वीतराग की मूर्ति पर करता है। जिसे पूर्ण की पहिचान है, वह गुणों के स्मरण के लिए भक्ति-भाव को छलकाता है। निमित्त के लिए गुण नहीं किन्तु गुण के लिए निमित्त है। उसमें जो राग रह गया है, सो वह गुणकारी नहीं है किन्तु भीतर जो वीतराग-स्वभाव की रुचि का झुकाव है, सो गुणकर है। भक्ति के बहाने अपनी रुचि में एकाग्रता बढ़ाता है। भक्ति-स्तुति में राग का भाग रहता है, किन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो राग का नाशक हूँ। राग सहायक नहीं किन्तु पूर्ण वीतराग स्वभाव की रुचि सहायक है; इस प्रकार के स्वभाव का जिसे निर्णय नहीं है, वह भगवान के पास जाकर क्या स्मरण करेगा ? किसी की पूजा-भक्ति करेगा ? वह तो राग की ही पूजा-भक्ति करेगा।

सर्वज्ञ भगवान पूर्ण वीतराग ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हैं। वे यहाँ नहीं आते। अपूर्ण भूमिका में साधक को अनेक प्रकार का राग रहता है, इसलिए राग के निमित्त का अवलम्बन भी अनेक प्रकार से होता है। किसी के शास्त्र-स्वाध्याय की मुख्यता होती है, किसी के वीतराग की पूजा-भक्ति होती है, तो किसी के ध्यान, संयम इत्यादि की मुख्यता होती है। ऐसी स्थिति साधकदशा में होती है, इस प्रकार जो नहीं जानता उसे यह ज्ञात नहीं होता कि निम्न भूमिका में शुभराग के कौन से निमित्त होते हैं; और इसलिए ज्ञान में भूल होती है। सम्यग्ज्ञान चौथे गुणस्थान से ही होता है तथापि पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है इसलिए उसे पूर्ण वीतराग का बहुमान रहता है, और शुभराग में वीतराग की प्रतिमा के देखने पर गुण का आरोप आ जाता है। जैसे अपने पिता के चित्र पर प्रेम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार धर्मात्मा को पूर्ण वीतराग की मूर्ति देखकर उस ओर भक्ति छलकने लगती है, ऐसी त्रिकाल स्थिति है। भक्ति इत्यादि का शुभराग भी गुणकारी नहीं है, किन्तु अकषायी स्वभाव की रुचि के बल से राग को दूर करके गुण की रुचि में जितना स्थिर होता है, उतना निराकुलभाव गुण करता है, इस प्रकार अन्तरंग गुण की दृष्टि में प्रतीति होती है।

प्रश्न : जबकि राग हानिकारक ही है तो फिर ज्ञानी पुरुष राग में युक्त क्यों होता है ?

उत्तर : जैसे किसी को सौ रुपया दण्ड में देना हो तो वह उसकी जगह किसी भी प्रकार से पाँच रुपया दण्ड देकर पंचानवे रुपया बचाना चाहता है और उसका अभिप्राय यह रहता है कि एक पैसा दण्ड में न देना पड़े, इसी प्रकार धर्मात्मा जीव के पूर्ण वीतराग की ही स्वीकृति होती है। वह जानता है कि अंशमात्र भी राग मेरा स्वरूप नहीं है, किसी प्रकार का राग करने योग्य नहीं है, तथापि अशक्ति है इसलिए अशुभ से बचने के लिए शुभ आलम्बन में अर्थात् व्रत, तप, संयम, भक्ति के शुभभाव में हेयबुद्धि से आना पड़ता है, किन्तु उस राग पर भार नहीं है, हितबुद्धि नहीं है। दृष्टि गुण पर पड़ी है इसलिए राग की आकुलता का निषेध पाया जाता। इस प्रकार शुद्धदृष्टि के होने पर भी उस रूप से पूरा स्थिर नहीं हो सकता, वहाँ राग रहता है और राग में भी निमित्त होता ही है, इसलिए वहाँ वीतराग भगवान की मूर्ति का शुभ अवलम्बन आये बिना नहीं रहता। जिसे पूर्ण वीतरागता की रुचि है उसे परिपूर्ण निमित्त अर्थात् वीतराग की मूर्ति देखते ही इस प्रकार बहुमान उत्पन्न होता है कि यह वही है, और तब भक्ति का शुभराग आये बिना नहीं रहता।

कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिन प्रतिमा प्रवांनै जिन सारखी॥

(समयसार नाटक, अधिकार १३)

जिसके अन्तरंग निर्मल ज्ञान में जिनेन्द्र भगवान के न्याय का प्रवेश है, वह जीव संसार-सागर को पार करके किनारे पर आ गया है। वीतरागदृष्टि में भव का अभाव है। वैसा सुयोग्य जीव जिन-प्रतिमा में शाश्वत् जिनेन्द्र परमात्मा का आरोपण करता है, उसका नाम स्थापना-निक्षेप है। उसमें वास्तव में सत् का बहुमान है। जो भगवान हो चुके हैं, उन्हें पहिचानकर भगवान का सेवक पुरुषार्थ के द्वारा अपनी हीनता को मिटाकर भगवान हो जाता है। परमात्मा को पहिचाननेवाला परमार्थ से परमात्मा से अपूर्ण नहीं होता। उस व्यवस्थित पूर्ण गुण को बढ़ाकर उसमें उत्साह लाकर, पूर्ण पवित्र स्वभाव का स्मरण करके बहुमान के द्वारा इष्ट-निमित्त (प्रतिमा) में साक्षात् परमात्मपन का आरोप करता है। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि वह निमित्त का बहुमान करता है किन्तु अपनी अपूर्ण अवस्था को गौण करके अपने आत्मा में पूर्ण परमात्मदशा की स्थापना करता है। कोई जीव

वास्तव में परद्रव्य की भक्ति नहीं करता। धनवान को पहिचानकर, धनवान की प्रशंसा करनेवाला उस व्यक्ति के गुण नहीं गाता, किन्तु अपने को लक्ष्मी की रुचि है इसलिए उस रुचि की प्रशंसा लक्ष्मी के राग के लिए करता है। दृष्टान्त एकदेशीय होता है। पुण्य हो तो लक्ष्मी मिलती है किन्तु यहाँ पवित्रता का लाभ अवश्य होता है।

परमार्थ से आत्मा निरावलम्बी असंयोगी है। निमित्ताधीन किसी के गुण नहीं होता, ऐसे स्वाधीन स्वरूप को स्वीकार करके, धर्मात्मा अपने शुद्ध उपयोग में नहीं टिक सकता तब तीव्र कषाय में से बचने के लिए सत् निमित्त का बहुमान करता है; उसमें जो राग का अंश है सो उसका निषेध होता है। जिसे वीतराग का राग होता है उसे राग का राग नहीं होता। वीतरागता पर भार होने से यह वीतरागता सदा बनी रहे ऐसी पूर्णता की रुचि का पुरुषार्थ झलक उठता है।

अपने ज्ञान की स्वच्छता में सन्मुख निमित्त वीतराग की प्रतिमा दिखायी देती है, किन्तु धर्मात्मा परद्रव्य को न देखकर उस निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञान को देखता है, ज्ञान की परिणतिरूप क्रिया करता है। अनन्त पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर गुण का बहुमान करता है। आन्तरिक प्रतीति में पूर्ण वीतरागता की भावना प्रबल बनी रहती है, वह भाव अनन्त संसार का नाश करनेवाला सच्चा पुरुषार्थ है। प्रतिमा के समक्ष भक्ति के समय जिनस्तुति में निमित्तरूप द्रव्य वचन खिरते हैं, वे परमाणु की जैसी योग्यता होती है, तद्नुसार खिरते हैं, इस प्रकार ज्ञाता जानता है। मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो सदा अरूपी ज्ञाता साक्षी हूँ, शब्दादिक विषयों से भिन्न अरागी, अखण्ड ज्ञायक हूँ, निरावलम्बी हूँ देव-गुरु-धर्म भी पूर्ण पवित्र वीतरागी हैं, इस प्रकार परिचय का बहुमान जिसे हुआ है, उसे सच्चे निमित्त का भी बहुमान होगा ही, क्योंकि वह वास्तव में अपनी अकषाय रुचि का बहुमान है। जहाँ पवित्र वीतराग धर्म की रुचि होती है, वहाँ संसार के अप्रशस्त राग की दिशा इस प्रकार बदलती है। जो अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यादर्शन शल्य में फँसा हुआ है, उसे सच्चे निमित्त का वास्तविक बहुमान अथवा भक्ति जागृत नहीं होती।

वीतराग की रुचिवाला वीतराग की विज्ञप्ति दो प्रकार से करता है। (१) विकल्प दशा में हो तब शुद्ध के लक्ष्य से युक्त राग को तोड़ने का पुरुषार्थ करता है, किन्तु उसमें अपनी अशक्ति से जो राग रह जाता है, वह शुभभाव है और उसमें शुभ-निमित्त होता ही

है। इस प्रकार वह व्यवहारधर्म की भक्ति और प्रभावना अपने लिए करता है। (२) निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता के समय अभेद एकाकार वीतरागभाव की दृढ़ता की जमावट करता है, सो निश्चय प्रभावना है। गुण से गुण विकसित होता है; निमित्त से नहीं। निमित्त की उपस्थिति मात्र होती है। जब गुण प्रगट होता है तब निमित्त को उपकारी कहा जाता है, यह लोकोत्तर विनय है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि निमित्त उपकारी है, किन्तु निश्चय से तो अपना उपादान ही स्वयं अपना उपकार करता है।

वीतराग की मूर्ति अस्त्र, वस्त्र, माला, अलंकार और परिग्रह इन पाँच दोषों से रहित होती है। वह नग्न, सुन्दर, शान्त, गम्भीर और पवित्र वीतराग का ही ध्यान दिलाती है। जो तदाकर वीतराग भगवान का प्रतिनिधित्व व्यक्त करती है, वही प्रतिमा निर्दोष वीतराग की (जिन-मुद्रावाली) प्रतिमा कहलाती है।

माया मिथ्या और निदान—इन तीनों शल्य से रहित पवित्र वीतराग स्वरूप की जिसे रुचि है और जिसे राग-द्वेष अज्ञान रहित केवल वीतराग स्वभाव के प्रति ही प्रेम है, उसे सर्वोत्कृष्ट, पवित्र निमित्त परम उपकारी निर्दोष देव-गुरु-धर्म के प्रति तथा धर्मात्मा के प्रति अमुक भूमिका तक धर्मानुराग रहता है। छट्ठे गुणस्थान तक वीतराग का राग रहता है।

जिसे दृष्टि में राग हेय होता है, उसे वीतरागभाव की रुचि होती है। जहाँ यह प्रतीति है कि जो राग है सो मैं नहीं हूँ, वहाँ वीतराग की भक्ति आदि का शुभराग होता है, किन्तु वह राग को बन्धन मानता है। जिसके राग का निषेध विद्यमान है, ऐसे जीव के अकषायपन के लक्ष्य से राग का ह्रास और शुद्धता की वृद्धि होती है। स्वभाव के बल से जितना राग दूर होता है, उतना वह गुण मानता है और शेष को हेय मानता है।

मैं स्वाधीन स्वरूप से पूर्णानन्द अभेद वीतराग हूँ, इस प्रकार सत् की रुचि को बढ़ाकर वीतराग की प्रतिमा को निमित्त बनाकर परमात्मा का स्वरूप सम्हालकर, पूर्ण वीतरागभाव की अपने ज्ञान में स्थापना करता है और प्रगट गुण के द्वारा पूर्ण का आदर करता है; यह वीतराग भगवान की अपने में स्थापना है—इस प्रकार स्थापना निक्षेप है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

द्रव्य निक्षेप—वस्तु में जो अवस्था वर्तमान में प्रगट विद्यमान नहीं है, किन्तु उसमें

योग्यता को देखकर भूतकाल में हुई अथवा भविष्यकाल में होनेवाली अवस्था की दृष्टि से उसे वर्तमान में कहना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजपुत्र में राजा होने की योग्यता को देखकर उसे वर्तमान में भी राजा के रूप में पहिचानना अथवा जो इसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं, उन्हें वर्तमान में ही मुक्त कहना। जो अभी तेरहवें गुणस्थान में नहीं पहुँचे हैं (प्रगटरूप से तीर्थंकर नहीं हैं) उन्हें इन्द्र और देव इत्यादि जन्मकल्याणक के समय तीर्थंकर मानकर जन्मोत्सव मनाते हैं, यह भावी द्रव्य निक्षेप कहलाता है। आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाला श्रेणिक महाराजा का जीव वर्तमान में पहले नरक में है, तथापि उसे वर्तमान में तीर्थंकर करना सो भावी द्रव्य निक्षेप है, और उसे मगध देश के राजा के रूप में पहिचानना सो भूत द्रव्य निक्षेप है क्योंकि दोनों प्रकार का भाव वर्तमान में प्रगट नहीं है, किन्तु शक्तिरूप योग्यता है, इसलिए उसका वर्तमान में आरोप करके उसरूप से पहिचानने का व्यवहार है।

श्रेणिक महाराजा का जीव आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होगा। जैसे वर्तमान चौबीसी में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे लगभग वैसी ही स्थिति उस समय प्रथम तीर्थंकर की होगी। वे अभी प्रथम नरकक्षेत्र में चौरासी हजार वर्ष की आयु को भोग रहे हैं। उन्होंन एक महामुनि की अविनय की थी, उनके गले में मरा हुआ साँप डाल दिया था इसलिए चींटियों ने चढ़कर मुनिराज के शरीर को खा डाला था। इस प्रकार श्रेणिक राजा ने वीतरागी साधक धर्म का अनादर किया था, इस तीव्र कषाय का फल नरकक्षेत्र के रूप में प्राप्त हुआ, इसलिए वहाँ की आयु का बन्ध हुआ। यद्यपि उस क्षेत्र में तीव्र प्रतिकूलताओं का संयोग है तथापि वह क्षायिक सम्यक्त्वी हैं इसलिए वहाँ भी आत्मा की शान्ति को भोगते हैं। जो तीन कषाय जितना राग है, सो अपनी अशक्तिमात्र का दु:ख है, संयोगजन्य दु:ख नहीं है। वहाँ की आयु पूर्ण होने से छह महीने पूर्व नयी आयु का बन्ध होगा, तब भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर की माता के पास इन्द्र आकर नमन करके रत्नों की वर्षा करेंगे और जब वह नरकायु को पूर्ण करके माता के गर्भ में आयेंगे तब इन्द्र माता की स्तुति करके महा-महोत्सव करेंगे; फिर जन्म के समय इन्द्रगण चरणों की सेवा करेंगे और जैसे वर्तमान में साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा हैं, उसी प्रकार भक्ति के द्वारा वीतरागता का बहुमान करेंगे। इन्द्र स्वयं सम्यग्दृष्टि हैं, उसे पूर्ण वीतराग की रुचि है, उसे निकट लाने के लिए वर्तमान में वीतरागता का आरोप करके भक्ति करता है।

प्रश्न—नरक में पाप और दु:ख का संयोग है, वहाँ आत्मा की शान्ति कहाँ से लायेगा ?

उत्तर—अनेक बार न्याय से कहा जाता है कि संयोग के कारण सुख-दु:ख और पुण्य-पाप नहीं होते; धर्म भी संयोग के कारण नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्त-संयोग में आरोप करके कहने का व्यवहार है। पर-संयोग से किसी को दु:ख नहीं होता; किन्तु जीव मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और परवस्तु या जीव मेरा सुधार या बिगाड़ कर सकता है, ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषरूप दु:ख की खान है; पर में अपनापन मानकर उसमें अच्छे-बुरु की आकुलता में लगना सो यही दु:ख है। तीव्र पाप का फलरूप जो नरकक्षेत्र है, सो संयोग है तथापि जीव सातवें नरक में भी अपूर्व आत्मप्रतीति प्राप्त करके आंशिक शान्ति पा सकता है। अन्तरंग में शक्तिरूप से पूर्ण शुद्ध है, वह उसमें स्थिर होने की रीति को बराबर जानता है किन्तु पुरुषार्थ की अशक्ति से जितना राग करता है, उतना दु:ख होता है। नरक में भी सम्यग्दृष्टि को अमुक स्थिरता का आनन्द निरन्तर होता है।

कोई महापाप करके नरक में जाता है तो उसे वहाँ जाति-स्मरण ज्ञान होता है अथवा उसकी पात्रता के कारण पूर्व भव का मित्र कोई धर्मात्मा देव उसे समझाने आता है अथवा मात्र दारुण दु:ख की वेदना के समय भीतर विचार में लीन होने पर पूर्वकृत सत्समागम याद आता है कि अहो! मैंने ज्ञानी के निकट आत्मकल्याण की यथार्थ बात सुनी थी किन्तु तब उसकी दरकार नहीं की थी। सत्य बात का अंशत: स्वीकार किया किन्तु परिपूर्णरूप से अन्तरंग में उस सत् की रुचि नहीं की थी; इसलिए तीव्र पाप में फँस गया, जिसका यह फल है। इस प्रकार विचार करने पर किंचित् विकल्प छूटकर, अन्तरंग में एकाग्र होने पर नवीन सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। सातवें नरक में भी ऐसी यथार्थ प्रतीति होती है।

श्रेणिक राजा वर्तमान में पहले नरक में हैं, किन्तु वहाँ उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन है जो कि कभी नहीं छूट सकता। पुरुषार्थ से यद्यपि बहुत कुछ कषाय को नष्ट कर दिया है तथापि वहाँ चौथा गुणस्थान है और जो शेष कषाय है सो अपने पुरुषार्थ की कमी है। श्रेणिक राजा को वर्तमान में द्रव्य निक्षेप से तीर्थंकर कहा जाता है। अष्टापद पर्वत पर भरत महाराज ने तीन चौबीसी के तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिम्ब बनवाकर उनकी वंदना की थी, उसमें आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले श्रेणिक भगवान के जीव की भी स्थापना का समावेश था।

निमित्त में अखण्ड वीतरागता को स्वीकार करनेवाला उपादान में स्वयं अखण्ड है, इसलिए वीतराग को निकट लाना चाहता है। वहाँ शुभराग से निमित्त को याद करके द्रव्य निक्षेप से वन्दना करता है। मध्यस्थ होकर धीरज से समझनेयोग्य यह बात है। बहुत से जीव निक्षेप को नहीं समझते इसलिए अपनी कल्पना से गड़बड़ कर देते हैं। स्थापना निक्षेप में त्रिकाल में तो वीतराग की मूर्ति है उसे भाव में मान लेता है, निमित्त को और शुभराग को एक मानता है, शुभराग को आत्मा के लिए सहायक मानता है, जो कि त्रिकाल मिथ्या है। विकाररूप कारण का अधिक सेवन करूँ तो अधिक गुण-लाभ होगा, इस प्रकार वह विष को अमृतरूप से मानता-मनवाता है।

जन्म-मरण की उपाधि को नाश करनेवाला सर्व प्रथम उपाय सम्यग्ज्ञान है। जिसे जिसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उसमें उसका पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। वस्तु की कीमत होने पर उसकी महिमा आये बिना नहीं रहती और परिपूर्ण स्वतन्त्र सत् को बतानेवाले निमित्त ऐसे पूर्ण वीतराग ही होते हैं, इस प्रकार स्वीकार करनेवाले अपने भाव में पूर्ण की महिमा गाये बिना नहीं रहते। जैसे पूर्ण वीतराग सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ, इस प्रकार पूर्णता का यथार्थ आदर होने पर संसार-पक्ष में तुच्छता ज्ञात हुए बिना नहीं रहती। देहादिक अनित्य संयोग में पुण्य-पाप, प्रतिष्ठा, पैसा इत्यादि में जो शोभा मानता था, पर में अच्छा-बुरा मानता था वह भूल थी; यह जानकर स्वभाव की महिमा लाकर पर के ओर की रुचि को दूर करके पुण्यादिक संयोग को सड़े हुए तृण के समान मानता है, और पुण्य की मिठास छूट जाती है। जो बाह्य संयोगों का अभिमान करता था, शुभाशुभ का स्वामी बनता था, पुण्य, देह और इन्द्रियों में सुख मानता था, उसमें तुच्छता और मात्र वीतरागी पूर्ण स्वभाव की महिमा होने पर दृष्टि में उसी क्षण, पर का आदर छूटकर सम्पूर्ण संसार-पक्ष के त्याग का अनुभव होता है। अर्थात् पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित पृथक् अविकारी ज्ञायक ही हूँ ऐसा अनुभव साक्षात् प्रगट होता है।

पुण्य-पाप की प्रवृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो उसका नाशक हूँ, ऐसा जानने पर भी उसी समय जीव सम्पूर्ण राग को दूर नहीं कर सकता। श्रद्धा में परवस्तु के राग का त्याग किया, पर में कर्तृत्व का त्याग किया तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप में लग जाता है और अशुभ से बचने के लिए शुद्धता के लक्ष्य को स्थिर करके व्रत-संयमादि

शुभभाव में युक्त होता है; किन्तु रुचि में कोई राग का आदर नहीं है। जिस भाव से इन्द्र पद मिलता है, तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह पुण्यभाव भी विकार है। विकारी भाव और उसका फल संयोगी नाशवान वस्तु है, उसका जिसे आदर है, उसे अविकारी नित्यस्वभाव का आदर नहीं है, क्योंकि पुण्य के संयोग भी फूटे हुए काँच के समान हैं, वे आत्मा के साथ रहनेवाले नहीं हैं।

प्रभु! यह तेरी महत्ता के गीत गाये जा रहे हैं। तुझे अनादि काल से परपदार्थ की धुन लगी है कि पर मेरा भला कर सकता है। वीतराग भगवान कहते हैं कि तेरी अनन्त शक्ति तेरे लिए स्वतन्त्र है पराधीन होकर मानता है कि मैं किसी को दे दूँ, कोई मुझे सहायता करे, किन्तु यह तेरी मान्यता की भूल है। तीन काल और तीन लोक में किसी का स्वरूप पराधीन नहीं है। तू जागकर देख! अब विपरीतता से बस कर! अब भव नहीं चाहिए, तेरी मुक्तदशा की प्रभुता कैसे प्रगट हो उसकी यह कथा चल रही है। जैसे बालक को सुलाने के लिए उसकी माता प्रशंसा के गीत गाती है, इस प्रकार यहाँ जागृत करने के लिए सच्चे गीत गाये जा रहे हैं। 'घोष हुए रजपूत छुपे नहिं,' जब युद्ध का नगारा बजता है, तब क्षत्रिय का शौर्य उछलने लगता है ऐसी योग्यता उसमें होती है। इस प्रकार मुक्त होने का नाद सुनकर उत्साहित होकर हाँ कह कि अहो! मेरे बड़प्पन के गीत अपार हैं, मैं वर्तमान में पूर्ण भगवान हूँ, मुक्त हूँ। तुझमें भगवान होने की शक्ति है, उस शक्ति के बल से अनन्त भगवान हो चुके हैं। जो शक्ति तीर्थंकर प्रभु ने प्रगट की है, उसे तू भी प्रगट कर सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व क्रमशः पापभाव को दूर करके नव तत्त्व, नय, प्रमाण और निक्षेप के शुभ व्यवहार में आने के बाद वह राग मैं नहीं हूँ, इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा में राग का अभाव करके अखण्ड वीतरागी स्वभाव की प्रतीति करनी चाहिए। सत् की अविरोधी बात को सुनकर, यथार्थ हाँ कहकर सत् का आदर किया सो वह भी भविष्य का सम्यक्त्वी है, वह वीतराग भगवान होनेवाला है। ऐसी जिसने सत् की यथार्थ जिज्ञासा की है, उसे वर्तमान में सम्यग्दर्शन न होने पर भी सम्यग्दृष्टि कहना अथवा वीतराग होने की योग्यतावाले जीव को देखकर, वह वर्तमान में वीतराग नहीं है तथापि वर्तमान में वीतराग है, इस प्रकार द्रव्य निक्षेप से कहने का व्यवहार है।

भाव निक्षेप : वर्तमान पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना सो भाव निक्षेप है।

जैसे राज्यासन पर राजा बैठा हो तथा उसकी आज्ञा चलती हो तभी उसे राजा कहना सो भाव निक्षेप है।

इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षण-भेद से अनुभव करने पर वे भूतार्थ हैं। व्यवहार से सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्य लक्षणरूप जीव स्वभाव का अनुभव करने पर यह चारों अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जैसे सच्चे मोती का हार खरीदते समय मोती, धागा और सम्पूर्ण हार को भलीभाँति देखा जाता है किन्तु कीमत लगाकर खरीद लेने के बाद पहिनते समय उसका विचार नहीं किया जाता; किन्तु सारा हार पहिनने की शोभा के आनन्द का अखण्ड अनुभव करता है। इसी प्रकार नव तत्त्व, नय, निक्षेप और प्रमाण के द्वारा पहले तत्त्व-निर्णय करने के लिए रागमिश्रित विचार में लग जाता है; तत्पश्चात् उस भेद से अलग होकर एकरूप अविकारी जीवस्वभाव का अनुभव करने पर परम सन्तोष होता है; उसमें विकल्प के कोई भेद नहीं होते। इस अनुभव के समय जो सूक्ष्म अव्यक्त विकल्प है सो केवलीगम्य है। निज को उस समय ध्यान नहीं होता। ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन गृहस्थ दशा में भी हो सकता है।

संसार में जैसा पुण्य होता है वैसा ही वक्ता की वाणी का निमित्त बन जाता है। तेरहवीं गाथा अत्यन्त विस्तार पूर्वक कही गयी है, उसमें बहुत सी बातें और उसके रहस्य अत्यधिक स्पष्टता पूर्वक और विस्तार से कहे गये हैं। उसका विशेष अभ्यास करके अन्तरंग की परिणति से मेल बिठाना चाहिए और परमतत्त्व का लाभ प्राप्त करना चाहिए। अपने में यथार्थता की महिमा का अभ्यास किया जाए तो स्वयं बहुत सा लाभ प्राप्त कर सकता है। शास्त्र और वाणी तो निमित्त मात्र है।

तत्त्वज्ञान का न्याय अनेक दृष्टियों से कहा गया है। यदि उसे ध्यान पूर्वक सुने तो एक घण्टे की शुभ सामायिक के बराबर लाभ प्राप्त हो, और उससे ऐसे पुण्य का बन्ध हो कि जिससे ऐसा तत्त्वज्ञान पुन: सुनने को मिले; किन्तु यथार्थ निर्णय करने में वर्तमान में अपूर्व नवीन पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य क्षणिक संयोग मिलाकर छूट जाता है। प्रचुर पुण्य के बिना उत्तम धर्म की वाणी का निमित्त नहीं मिलता, किन्तु वर्तमान पुरुषार्थ से तत्त्व का अभ्यास करके अपूर्व निर्णय न करे तो मात्र शुभभाव होता है, किन्तु भव कम नहीं होता।

भावार्थ : प्रमाण, नय और निक्षेप का विस्तृत कथन तद्विषयक ग्रन्थों में से जानना

चाहिए, (तत्त्वार्थ-सूत्र व्यवहार का ग्रन्थ हे, उसकी विस्तृत टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के नाम से सुविख्यात हैं। सर्वार्थसिद्धि टीका में प्रत्येक सूत्र के शब्दों के प्रत्येक अर्थ की अविरोधरूप से सिद्धि की है) उनसे द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। वे साधक अवस्था में तो सत्यार्थ ही हैं क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना-सर्वज्ञ के न्यायानुसार यथार्थ समझ के बिना अपनी कल्पना से वस्तु को चाहे जैसा मान ले तो विरोध बना रहेगा। अज्ञान कोई बचाव नहीं है। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि त्रिकाल द्रव्यस्वभाव क्या है, वर्तमान अवस्था क्या है और निश्चय-व्यवहार ग्रन्थ की अविरोधता क्या है। यथार्थ वस्तु को जानने के बाद भी जब तक वीतराग नहीं हुआ तब तक अस्थिरता के राग को दूर करने के लिए उसका अवलम्बन होता है, उसमें ज्ञान की विशेष निर्मलता करने के लिए शास्त्रज्ञान के सूक्ष्म न्यायों को अनेक दृष्टियों से जानना चाहिए।

जैसे हीरे का व्यापार सीखना हो तो पहले उसका परीक्षक बनना होता है, और फिर उसके विशेष अभ्यास से तत्सम्बन्धी विविध कलायें विकसित होती हैं; इसी प्रकार जैसा सर्वज्ञ वीतराग के साक्षात् ज्ञान से जानकर कहा है और जो त्रिकाल में भी परिवर्तित न होनेवाला परम सत्य है उसका बराबर अभ्यास करके जाने और अन्तरंग में उसका मेल बिठाये तो पूर्ण स्वभाव की यथार्थ महिमा को पाकर आन्तरिक समृद्धि को भलीभाँति जान ले। पश्चात् शास्त्रज्ञान की सूक्ष्मता में गहरा उतरे तो वहाँ केवलज्ञान की पहुँच का आनन्द पाता है। समयसार के प्रत्येक पृष्ठ में केवलज्ञान की कला विकसित होती हुई दिखायी देती है। वैसी पात्रता सभी में भरी हुई है। यदि तत्पर हो तो वस्तु की प्राप्ति दूर नहीं है।

यदि आत्मा को जानने का प्रयत्न न करे तो वह कहीं यों ही नहीं मिल जाता। वह किसी के आशीर्वाद से भी प्रगट नहीं हो सकता। जिसकी पवित्र स्वरूप के आँगन में आने की तैयारी नहीं है, वह यदि पुण्यबन्ध करे तो भी वह पापानुबन्धी पुण्य होता है। संसार के प्रति, और देहादिक परपदार्थों के प्रति तीव्र प्रेम रखता है और दूसरी ओर यह कहता है कि मुझे परमार्थस्वरूप पवित्र आत्मा के प्रति प्रेम है, सो यह निरा कपट है।

अवस्थानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं, सो कहते हैं।

प्रथम अवस्था में सम्यग्दर्शन से पूर्व नय-प्रमाणादि से यथार्थ वस्तु को जानकर

सम्यग्दर्शन-ज्ञान की सिद्धि करना चाहिए। पहले व्यवहार से, पर से, विकार से पृथक् हूँ ऐसा माना। शास्त्र में जो भेद कहे हैं सो सर्वथा न हों ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन भेदों के विकल्पों का श्रद्धा में अभाव करके, विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है इस प्रकार एकरूप ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से अवस्था का लक्ष्य गौण करके, स्वभाव में एकाग्र होने पर निर्विकल्प आनन्द के अनुभवपूर्वक त्रिकाल एक यथार्थ स्वरूप की प्रतीति आत्मा में होती है जो कि चौथी भूमिकारूप सम्यग्दर्शन है। ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने के बाद स्वतन्त्र स्वरूप का निर्णय करने के लिए नय-प्रमाणादि के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं होती।

ज्ञानी गृहस्थ दशा में राजा के रूप में हो और अनेक प्रवृत्तियों में लगा हुआ दिखायी दे सो वह चारित्र सम्बन्धी अपनी अशक्ति का दोष है। सम्यग्दर्शन हुआ इसलिए तत्काल ही सब मुनि हो जाएँ ऐसी बात नहीं है। सम्यग्दर्शन के बाद उसकी निम्न भूमिका का व्यवहार छूट गया है, किन्तु चौथे गुणस्थान के बाद जब तक यथाख्यात चारित्रदशा प्रगट नहीं होती तब तक व्यवहार की दूसरी भूमिका में चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प में योग रहता है, वहाँ जो राग-रूप व्यवहार है, सो उसका क्रमशः स्वभाव की स्थिरता की शक्ति के अनुसार अभाव हो जाता है। चौथी भूमिका से श्रद्धा के लिए नय-प्रमाण से शास्त्रज्ञान का विचार नहीं रहता, किन्तु राग को दूर करने और ज्ञान की विशेष निर्मलता करने के लिए श्रुतज्ञान के व्यवहार का अवलम्बन रहता है, क्योंकि सम्पूर्ण राग दूर नहीं हुआ है। स्वभाव की निर्मलता का विकास करने के लिए अकषाय स्वभाव के बल से जितनी शुद्धि की वृद्धि करता है, उतना भेदरूप व्यवहार छूट जाता है। तेरहवीं वीतराग भूमिका में कोई नय-प्रमाणादि के भेद का आलम्बन नहीं है। बीच में चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक राग होता है, सातवीं भूमिका से बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता, दसवें गुणस्थान तक केवलीगम्य सूक्ष्म विकल्प होता है, छद्मस्थ की ध्यानदशा में उसका विचार नहीं आता।

चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग होता है, वहाँ पदवी के अनुसार दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम और शास्त्राभ्यास इत्यादि के शुभभाव अकषाय के लक्ष्य सहित होते हैं। दृष्टि तो अखण्ड गुण पर होती है। स्वलक्ष्य की जितनी स्थिरता रखकर राग को दूर किया उतना गुण मानता है, और जो राग रह जाता है, उसका निषेध है। भूमिका के

अनुसार बाह्य प्रवृत्ति सहज होती है, किन्तु उसके आधार से गुण नहीं होते। चारित्रदशा बाह्य क्रिया, वेश अथवा किसी परिकर में नहीं है। व्रतादि का शुभभाव भी गुण में सहायक नहीं है, ऐसी श्रद्धा के साथ वीतरागी स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होकर, विकल्प रहित जितनी निरालम्बी स्थिरता बढ़ायी उतना चारित्र है—ऐसा जानना सो सद्भूत व्यवहार है। जो व्रतादि का शुभराग रह गया सो वह सहायक नहीं है, आदरणीय नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जानना सो असद्भूत व्यवहार है। राग मेरी अशक्ति से निमित्ताधीनरूप से युक्त होने से होता है; उस राग और राग के निमित्त को यथावत् जानना सो असद्भूत व्यवहार है। भूमिका के अनुसार जो राग और राग के निमित्त हैं, उन्हें न माने तो व्यवहार का लोप हो जाए, और व्रतादि के शुभराग से गुण का प्रगट होना माने तो वह व्यवहाराभास है; उसे तो जो रागरूप व्यवहार है, सो वही गुणरूप निश्चय हो गया है; वह विपरीत मान्यता है।

श्रद्धा के एकरूप लक्ष्य में संसार, मोक्ष और मोक्षमार्ग के भेद का स्वीकार नहीं है। निरपेक्ष अखण्ड पूर्ण स्वभावभाव का लक्ष्य करना सो शुद्धदृष्टि का और श्रद्धा का विषय है। ज्ञान में त्रिकाल स्वभाव, वर्तमान अवस्था तथा निमित्त को जानता है, किन्तु श्रद्धा में कोई दृष्टिभेद नहीं है। अविकारी एकरूप ध्रुवस्वभाव की महिमापूर्वक स्वरूप में एकाग्र होने पर अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। उस समय प्रमाण, नय इत्यादि के कोई विचार बुद्धिपूर्वक नहीं होते।

दूसरी अवस्था में प्रमाणादि के अवलम्बन द्वारा विशेष ज्ञान होता है, और राग-द्वेष-मोहकर्म के सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; जिससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होने के बाद प्रमाणादि का अवलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई अवलम्बन नहीं है; इस प्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण, नय, निक्षेप का अभाव ही है।

अब इस अर्थ का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थ—आचार्यदेव शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य चमत्कारमात्र तेज: पुंज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

यहाँ चतुर्थ गुणस्थान का प्रारम्भ होने पर और फिर जब विकल्प से किंचित् छूटकर अखण्ड स्वभाव के बल से एकाग्ररूप से अन्तरंग की ओर उन्मुख होता है, तब ऐसे किसी विचार का विकल्प नहीं रहता कि मैं आत्मा हूँ, और आनन्द का संवेदन करता हूँ। यह केवली की बात नहीं है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान के प्रारम्भ होने पर जो स्थिति होती है, उसकी मुख्यता से यह बात है। मुनि को इस वस्तुस्थिति का सहज अनुभव होता है, वहाँ इस उपदेश की आवश्यकता नहीं है। आचार्यदेव छठवें गुणस्थान में आकर सम्यग्दर्शन के लिए शुद्धनय के अनुभव की बात शिष्य से कहते हैं। सम्यग्दर्शन और उसके अभेद अनुभव का कारण आत्मा स्वयं ही है। जो पहिचान की है सो स्वभाव के लक्ष्य के बल से आन्तरिक शक्तिरूप बल की ओर, एकाग्रतारूप अभेद अनुभव होने पर निर्मलदशा का उत्पाद और रागरूप अशुद्धता का नाश होता है। उसमें कोई शुभराग के विकल्प अथवा कोई निमित्त कारण नहीं है। जो भेदरूप रागमिश्रित निर्णय किया था, सो व्यवहार का अभाव निश्चय स्वभाव के बल से किया है। जब उस व्यवहार का व्यय हो गया सो उसे निमित्त कहा गया।

भेद-अभेद का कारण नहीं होता, इसलिए जो शुद्धनय है सो अखण्ड ध्रुवस्वभाव को एकरूप लक्ष्य में लेकर अवस्था के लक्ष्य को गौण करता है। जैसे द्वार तक आने के बाद फिर द्वार को भीतर नहीं ले जाया जाता और मिष्ठान खाते समय तराजू, बाँट पेट में नहीं डाले जाते; इसी प्रकार नव तत्त्व, नय और प्रमाण के रागमिश्रित विचार मन-शुद्धि के भेद हैं किन्तु उन्हें साथ में लेकर शुद्धता में नहीं पहुँचा जा सकता।

आत्मा स्वयं त्रिकाल स्थायी तत्त्व है, उसे भूलकर अपने को वर्तमान अवस्थामात्र का मानता है। संसार में जिसके इकलौता पुत्र होता है, वह उस पर पूरे प्रेम से देखता है, और वह यही भावना भाता है कि वह चिरकाल जीवित रहे तथा उसके विवाहिद के प्रसंग

पर तत्सम्बन्धी राग में ऐसा एकाग्र हो जाता है कि अन्य समस्त विचार सहज ही गौण हो जाते हैं। अन्तरंग में जो अविकारी नित्य स्वभाव है, उसकी रुचि को बदलकर पर में महत्ता मानकर राग में एकाग्र होता है और पुण्यादिक जड़ में चमत्कार मानता है; किन्तु जड़ विचारे अन्ध हैं उन्हें कुछ खबर नहीं होती। जानने की शक्ति आत्मा में ही है। पर में तुच्छता जानकर पृथक्त्व का निश्चय करके, आन्तरिक चिदानन्द विभूति पर दृष्टि न डाले तो शाश्वत् टंकोत्कीर्ण एकरूप चैतन्य भावना का अनुभव नहीं हो सकेगा।

अनादि काल से वर्तमान विकार पर दृष्टि स्थापित करके जीव अच्छा-बुरा करने में लगा हुआ है, यदि उससे अलग होकर स्वभाव की ओर उन्मुख हो तो वर्तमान अवस्था और पर-निमित्त तथा त्रिकाल स्वभाव को यथावत् ज्ञान में जाने; और फिर क्षणिक विकारी दृष्टि को गौण करके एकरूप ध्रुव स्वभाव की ओर उन्मुख होने पर शुद्धनय के अनुभव से युक्त सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वहाँ बुद्धिपूर्वक का विकल्प छूट जाता है, गौण हो जाता है। इसलिए कहा है कि शुद्ध अनुभव में द्वित्व मालूम नहीं होता। रागमिश्रित विचाररूप नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; अर्थात् अत्यन्त गौण हो जाती है।

एक बार भयंकर अकाल पड़ा, लोग एक-एक दाने को तरसने लगे, तब एक महिला अपनी ससुराल से खरे मोतियों की एक थैली भरकर अपने पिता के घर गयी और पिता से उन मोतियों के बदले में अन्न माँगा, किन्तु पिता ने मोतियों से अन्न का विनिमय नहीं किया; ऐसी स्थिति में अन्न का मूल्य बढ़ जाने से खरे मोतियों का मूल्य गौण हो गया; इसी प्रकार पूर्ण चिदानन्दस्वरूपी आत्मस्वभाव की एकाग्रता होने पर नयों के विकल्परूपी लक्ष्मी की कीमत कम हो गयी।

शुद्धनय के द्वारा भेद की गौणता होती है, उसका दृष्टान्त:—भोजन के समय थाल में लड्डू, शाक, पूरी इत्यादि विविध वस्तुएँ रखी हों तो उनमें से जिसकी जठराग्नि और पाचनशक्ति प्रबल हो उसकी मुख्य दृष्टि गरिष्ट-पौष्टिक पदार्थों पर जाती है; और तब हलके पदार्थों का लक्ष्य गौण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा में अनन्त शक्ति का अखण्ड पिण्ड ज्ञानघन स्वभाव है, उसे पचाने की-सहन करने की विशेष शक्ति जिसके श्रद्धा-गुण में विद्यमान है, उसकी मुख्य दृष्टि अखण्ड ध्रुव-स्वभाव पर जाती है। वहाँ अवस्थादृष्टि का लक्ष्य और नयों का विचार गौण हो जाता है।

जीव अपने को समझे बिना अनन्त काल में एक-एक समय में अनन्त दुःख पा चुका है, क्योंकि वह स्वयं अनन्त शक्तिशाली और अनन्त सुखस्वरूप होकर भी उल्टा जा गिरा है, इसलिए अनन्त दुःख को भोगता है। किन्तु यदि स्वभाव को प्राप्त हो तो उससे अनन्त गुना सहज सुख प्राप्त करे।

अपने स्वतन्त्र स्वभाव का विरोध करके, जीव ने अनन्त भव धारण किये हैं। यदि उसका सम्पूर्ण वर्णन सुने तो भव का त्रास हो और कहे कि अरे! अब और भव नहीं चाहिए। ज्ञानी कहता है कि तू जैसे-तैसे मनुष्य हुआ और वहाँ पुण्य, पैसा, प्रतिष्ठा इत्यादि के संयोग में फँस गया। अनन्त जन्म-मरण को नाश करने का यह सुयोग मिला है, सो भी नहीं मानता। सत्य-असत्य का निर्णय नहीं कर पाता। कुलधर्म में जो कुछ चला आया है, उसी को स्वयं करता है और उसे ही स्वीकार करता है, इस प्रकार कोई धर्म की ओट में या बाहर से त्यागी हो जाता है, तो यह मान बैठता है कि मैं त्यागी हूँ; और इस प्रकार बाह्य में सब कुछ मानता है। इस प्रकार अनेक तरह से अपनी कल्पना से या शास्त्र के नाम पर मान लेता है; किन्तु यह नहीं मानता कि मैं राग का नाशक हूँ, राग मेरा सहायक नहीं है, मैं पर के आश्रय से रहित वर्तमान में पूर्ण शक्ति से स्वतन्त्र परमात्मा हूँ। जैसे पहला घड़ा उल्टा रख देने से उस पर जितने ही घड़े रखे जाते हैं, वे सब उल्टे ही रखे जाते हैं; इसी प्रकार जहाँ पहली मान्यता विपरीत होती है, वहाँ सारी मान्यताएँ विपरीत होती हैं।

स्वतन्त्र चैतन्य की जाति और उसके परम अद्भुत चमत्कार की स्पष्ट बात करके आचार्य महाराज ने समयसार में केवलज्ञान का रहस्य उद्घाटित किया है। वर्तमान में लोगों में धर्म के नाम पर बहुत अन्तर हो गया है। तीर्थंकर देव के द्वारा कथित सत्य बदल गया है। काल बदल गया है। लोगों की योग्यता ही ऐसी है। सत्य को समझने के लिए तैयारी कम है और साधन भी अल्प हैं, इसलिए पक्ष का मोह सत्य को असत्य मनवाता है और असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अनादि काल से ऐसी मान्यता चली आ रही है। अविकारी आत्मा का धर्म राग का नाशक और निर्मलता का उत्पादक है। उसमें बाह्य साधन सहायक नहीं हैं। नय, प्रमाण, निक्षेप और नव तत्त्व की विकल्परूप व्यवहार श्रद्धा परमार्थ श्रद्धा में सहायक नहीं है। जब तक ऐसी दृढ़ता नहीं होती तब तक सम्यग्दर्शन तो हो ही नहीं सकता, किन्तु उसके यथार्थ आँगन तक भी नहीं पहुँचा जा सकता।

यदि पहले गुरु ज्ञान से यथार्थ को विरोधरहित समझ के मार्ग से जाने तो आत्मा में एकाग्र अनुभव हो। वहाँ बुद्धिग्राह्य रागमिश्रित विकल्प छूट जाते हैं। सूक्ष्म अव्यक्त विकल्प का ध्यान नहीं रहता। परम आनन्द का अनुभव होता है। जैसा सिद्ध परमात्मा को आनन्द होता है, उसी प्रकार का आंशिक आनन्द सम्यग्दृष्टि के प्रत्यक्ष होता है। जैसे अन्धा आदमी मिश्री को अपनी आँखों से नहीं देखता किन्तु उसे स्वाद तो वैसा ही आता है जैसा कि किसी भी दृष्टिवान बड़े से बड़े ज्ञानी को आता है। इस प्रकार यहाँ अपूर्ण ज्ञान में आत्मा को परोक्षज्ञान से परिपूर्ण स्वीकार किया है, किन्तु उसे अनुभव प्रत्यक्ष है और इसलिए वह स्वाद भी प्रत्यक्ष लेता है।

किसी निमित्त के आश्रय के बिना-विकल्प के बिना स्वभाव के लक्ष्य के बल से अन्तरंग में पूर्ण शक्तिरूप में एकाग्र लक्ष्य से उन्मुख होने पर अपूर्व अनुभवयुक्त सम्यक्त्व प्रगट होता है। उसमें शुभराग कारण नहीं है। श्रद्धा से पूर्व शुभराग होता है, बाद में भी होता है। व्यवहार-ज्ञान के बिना परमार्थ ज्ञान नहीं होता, उसके बिना सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त नहीं होता, किन्तु उससे गुण-लाभ या सहायता नहीं मिलती। द्रव्य में पूर्ण शक्ति है, उसके लक्ष्य से निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और अशुद्धता का आंशिक त्याग हो जाता है। उसका कारण द्रव्य स्वयं ही है। उस परमार्थ को यथार्थ तत्त्वज्ञान से पहिचानकर, उस परमार्थ का बल मिलने पर वस्तु का बहुमान करके एकरूप स्वभाव की श्रद्धा के दृढ़तर बल से स्थित हुआ कि फिर यह नहीं दिखायी देता कि नय-निक्षेप के विकल्प कहाँ उड़ गये? आचार्यदेव कहते हैं कि इससे अधिक क्या कहें? द्वित्व क्या है इसका भी ध्यान नहीं रहता। अपूर्ण ज्ञान में एक ही साथ दोनों ओर लक्ष्य नहीं होता, और एक वस्तु का विचार करने में असंख्यात समय लग जाते हैं; उसके बाद ही दूसरे स्थान पर लक्ष्य बदलता है।

ऐसा सुनकर कोई माने कि इस प्रकार ध्यान में बैठकर स्थिर हो जाएँ, किन्तु हे भाई! हठ से ध्यान नहीं होता। उस प्रकार की पात्रता और सत्समागम से उसके लिए अभ्यास करना चाहिए। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है, यह सारी मान्यता छोड़कर निजस्वभाव पर आना होगा। निज की दरकार से, अपूर्व तैयारी से केवल अपने परमार्थ के लिए रात-दिन लगे रहने के बिना उसके द्वार नहीं खुलते। रुपया-पैसा, प्रतिष्ठा और महल इत्यादि की प्राप्ति हो गयी तो उससे आत्मा को क्या लाभ है? पर के

अभिमान का शोथ चढ़ा हुआ है जिससे स्वभाव की दृढ़ता का लोप होता जा रहा है। अपना स्वभाव पर-सम्बन्ध से रहित स्वाश्रित है, पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित स्वतन्त्र है, उसका अनादर कर रहा है। जिसे बहुत से लोग अच्छा कहते हों, वह अच्छा ही हो ऐसा नियम नहीं है। बाह्य प्रवृत्ति और देह की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है, किन्तु भीतर कर्म के निमित्ताधीन करने पर शुभभाव सहित आत्मा के सच्चे ज्ञान के उपाय का विचार किया जाए तो वह भी रागरूप होने से अभूतार्थ कहा गया है। श्रद्धा के अनुभव में उसका अभाव होता है, इसलिए वह आत्मा के साथ स्थायी न होने से असत्यार्थ है। यदि वह सहायक नहीं है तो फिर बाह्य में कौन सा साधन सहायक होगा?

तेरी महिमा सर्वज्ञ की वाणी द्वारा भी परिपूर्णतया नहीं कही जा सकती, किन्तु वह तो मात्र ज्ञान में ही आ सकती है। स्वभाव की पहिचान होते ही विश्व की अनन्त प्रतिकूलताओं को नहीं गिनता, और इन्द्र पद जैसे अनुकूल पुण्य को सड़े हुए तृण के समान मानता है। जो चैतन्य भगवान की महत्ता और दृढ़ता को स्वयं अपनी ही उमंग से नहीं समझता, उसे कोई बलात् नहीं मनवा सकता।

कोई कहता है कि आपकी बात सच है, किन्तु पर का कुछ अवलम्बन तो आवश्यक है ही? पुण्य आदि के आश्रय के बिना कैसे चल सकता है? इस प्रकार परमुखापेक्षी बना रहना चाहता है, यह चैतन्य भगवान की हीनता है-उसका अपमान है। जो भला साहूकार होता है, वह पौने सोलह आने चुकाने में भी लज्जा का अनुभव करता है। इस प्रकार तू प्रभु है, तेरी पूर्ण केवलज्ञानानन्द की शक्ति प्रति समय स्वाधीन है; तू उसे हीन कहे, परमुखापेक्षी माने, और यह कहे कि विकार की सहायता आवश्यक है तो यह तुझे शोभा नहीं देता।

मैं स्वतन्त्र हूँ, अपनेपन से हूँ, पररूप से-विकाररूप से नहीं हूँ, पर के कर्तारूप नहीं हूँ, इस प्रकार यदि यथार्थ मार्ग को समझे सो उसका फल सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगेगा। सत्-समागम से सुनकर जिस जीव की समझ में एक भी न्याय अविरोधरूप से आ जाए उसे तत्काल ही स्वभाव के बल से अनुभव सहित निश्चयश्रद्धारूप फल प्राप्त होता है। स्वभाव में स्थिर होने पर नव तत्त्व इत्यादि का कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता और भेद अत्यन्त गौण हो जाता है। यदि एकदम समझ में न आये तो

प्रेमपूर्वक इसे स्वीकार करके कि सत्य तो यही है, उसके अविरोधी निर्णय के लिए प्रयास करना चाहिए। इसमें किसी पूर्व के प्रारब्ध से अथवा किसी संयोग से काम नहीं होता। यह बात मिथ्या है कि यदि भाग्य में लिखा होगा तो सद्बुद्धि सूझेगी। बाह्य संयोग तो उसके कारण से मिलते हैं, वह वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। स्वभाव में अपना सब कुछ कर सके सो यह अपने वर्तमान पुरुषार्थ का कार्य है।

शुद्ध अखण्ड गुण को मुख्य करके सामान्य एकाकार स्वभाव के बल से एकाग्र होने पर भेदरूप अवस्था और उसका लक्ष्य अत्यन्त गौण हो जाता है। वहाँ सामान्य गुण में लीनतारूप अभेद शान्ति का अनुभव होता है। लीनता का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

सम्यग्दर्शन स्वभाव से प्रगट होता है। वह किसी घेरे की वस्तु नहीं है, वह किसी की कृपा से न तो मिल सकता है और न शाप से दूर हो सकता है। स्वयं जिस स्वरूप है वैसा ही अपने को यथार्थतया मानकर अपने विश्वास को एकाकाररूप से मनन करे तो रागरहित श्रद्धा आत्मा के द्वारा प्रगट होती है, उसमें बाहर का कोई कारण नहीं होता।

भावार्थः—भेद को-रागमिश्रित विचार को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की तो बात ही क्या, शुद्ध अनुभव होने पर द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता; मात्र विकल्परहित एकाकार चिदानन्द स्वयं ही दिखायी देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्त में तो परमार्थरूप अद्वैत का ही अनुभव हुआ, द्वित्व की भ्रान्ति का अभाव हुआ। यही हमारा मत है; आपने इसमें विशेष क्या कहा?

समाधानः—आपके मत में सर्वथा अभेदरूप एक वस्तु मानी जाती है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाए तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाए, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे (ज्ञानियों के) मत में अविरोधीदृष्टि से कथन है कि अनन्त आत्मा त्रिकाल भिन्न हैं और जड़-पदार्थ भिन्न हैं। उसका भेदज्ञान करके, स्वभाव का निर्णय करके, उसमें एकाग्रता होने पर विकल्प टूट जाता है, उस अपेक्षा से शुद्ध अनुभव में द्वैत ज्ञात नहीं होता - ऐसा कहा है। यदि बाह्य वस्तु का और अपनी वर्तमान अवस्था का लोप किया जाए तो जाननेवाला मिथ्या सिद्ध हो और शून्यवाद का प्रसंग आ जाए।

यदि एक ही तत्त्व हो तो एक में भूल क्या? दुःख क्या? और दुःख को दूर करने

का उपाय भी क्यों किया जाए ? विश्व में अनन्त वस्तुएँ स्वतन्त्र और अनादि-अनन्त हैं। द्वैत नहीं है यह कहने का तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप में पर नहीं है। यदि सब एक हों तो कोई यह नहीं मान सकता कि मैं अलग हूँ। जो तुझसे अलग हैं उन्हें यदि शून्यरूप कहे तो वे सब शून्य होंगे, उनकी वाणी शून्य होगी और तत्सम्बन्धी जो विचार जीव करता है, वे भी शून्य होंगे तथा तेरी एकाग्रता भी शून्य होगी; इस प्रकार 'सर्वं शून्यं' सिद्ध हो जाएगा, इसलिए यह मान्यता मिथ्या है। हम तो अपेक्षादृष्टि से कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से त्रिकाल असत् है। पर अपनेरूप नहीं है और स्वयं पररूप नहीं है, इसलिए पर अपना कुछ कर सकता है या स्वयं पर का कुछ कर सकता है ऐसा मानना सो बहुत बड़ी भूल है।

'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है, किन्तु उसकी अवस्था (पर्याय) प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह सर्वथा मिथ्या नहीं है। वर्तमान अवस्था में जीव पर-निमित्ताधीन राग-द्वेष-मोह भाव करता है, तब होता है। वह अवस्था है। स्वयं त्रिकाल स्थायी है इसलिए उस क्षणिक अवस्था मात्र तक सीमित नहीं है, अत: वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण ध्रुवस्वभाव शक्तिरूप से शुद्ध ही है। उस स्वभाव की अपेक्षा से देखने पर आत्मा में राग-द्वेष नहीं है। जीव अवस्था में राग-द्वेष करता है, जो कि अज्ञान है और उसे अपना मानकर दु:ख भोगता है।

आत्मा अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा देह से भिन्न पूर्ण परमात्मा के समान है और विकार निमित्ताधीन अवस्था में होता है। अनन्त जड़ पदार्थ सत् हैं। इसलोक और परलोक में पुण्य-पाप के फल भोगने के असंख्य स्थान हैं। स्वर्ग, नरक, मनुष्य और पशु यह चार गतियाँ पुण्य-पाप के भावों का फल भोगने की निमित्त हैं; इसे न्याय पुरस्सर सिद्ध किया जा सकता है। यदि कोई कहे कि स्वर्ग, नरक तो समाज की व्यवस्था रखने के लिए कल्पित किये गये हैं, तो यह बात यथार्थ नहीं है। प्रत्येक वस्तु त्रिकाल में विद्यमान है। और जो है उसका आदि-अन्त कैसा ? तथा जो नहीं है, उसकी बात ही कैसी ? यदि तू अपने को जानकर पुण्य-पाप का विकल्प दूर करके एकाग्र स्थिरता का अनुभव करे तो तेरे स्वभाव में विकल्प नहीं है।

तेरा ज्ञान अनन्त सामर्थ्यरूप से नित्य है। यदि तू उसकी अनन्त शक्ति से इंकार करे

तो तेरे अनंत ज्ञानस्वभाव का निषेध होता है। यह संग्रहात्मक जगत का समूह अमुक आकाश-क्षेत्र में है, उसके बाद अनन्तानन्त अलोकाकाश है, उस अनन्त को अनन्तरूप से जानने का तेरा सहज स्वभाव है। तेरे ज्ञान की स्व-परप्रकाशक शक्ति अनन्त है। तूने अपने वैभव को नहीं सुना और उस पर विचार नहीं किया। यदि 'अनन्त' शब्द पर विचार करे तो अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल और अनन्त भाव के विचाररूप से अनन्त का ज्ञान अल्प काल में रागमिश्रित अवस्था में रहकर कर सकता है। यदि राग को दूर कर दे तो प्रत्येक समय में जो अनन्त पदार्थ विश्व में हैं, उन्हें और अपने को एक साथ ज्ञान में जान ले, ऐसी अपार गम्भीर शक्ति ज्ञानगुण की प्रत्येक अवस्था में प्रगटरूप से होती है; इससे निश्चित होता है कि प्रस्तुत अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूप से भिन्न न हों और तेरा ज्ञान अनन्त भावरूप से देह जितने क्षेत्र में न हो तो एक स्थान में रहकर अनन्त क्षेत्र-कालादि का विचार नहीं कर सकेगा।

परवस्तु में अनन्त भाव हैं, उस अनन्त का ध्यान तेरे ज्ञान की शक्ति में आ जाता है; मात्र आकाश का अन्त नहीं। काल भी अनादि-अनन्त है। क्रमशः अनन्त काल भविष्य में से भूतकाल में चला गया तथापि काल कम नहीं हो सकता। उस अनन्त का एक क्षण में विचार करनेवाला स्वयं अनन्त ज्ञानस्वभावी अपनेरूप से है, पररूप से नहीं है। परवस्तु ज्ञान में ज्ञेयरूप है, यदि उस पर को अवस्तु माने तो अपना ज्ञान अवस्तुरूप मिथ्या सिद्ध होता है। जैसे दर्पण में सामने के समस्त पदार्थ दिखायी देते हैं, और इधर यह माना जाए कि वे हैं ही नहीं तो यह मिथ्या है; ऐसा मानने पर दर्पण और उसकी स्वच्छता दोनों को मिथ्या मानना होगा; इसी प्रकार चैतन्य ज्ञानरूपी दर्पण है, उसके ज्ञान की स्वच्छता की सहज शक्ति ऐसी है कि अपने स्वच्छ ज्ञायकस्वभाव के द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि पुद्गल के गुण तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल इत्यादि सब सहज ज्ञात होते हैं। यदि उसे असत्य माने तो अपने को और ज्ञानगुण को शून्य मानने का प्रसंग आएगा।

यदि मात्र पवित्र वीतरागदशा माने तो वर्तमान अवस्था में भी शुद्धता चाहिए। जो एक बार शुद्ध हो जाता है वह फिर अशुद्ध नहीं होता। जैसे मक्खन का घी बन जाने पर वह फिर मक्खन नहीं बन सकता, उसी प्रकार सिद्ध होने के बाद फिर संसार में परिभ्रमण नहीं होता। अविनाशी स्वभाव के लक्ष्य से एक बार अमुक राग को दूर किया और फिर उतने

राग को न आने दे तो पूर्ण पुरुषार्थ से सर्वथा राग दूर करके पूर्ण निर्मल दशा प्रगट करके वह फिर कभी संसार में न आये। वर्तमान होनेवाले भावरूप से जीव ने अनन्त भव धारण किये हैं, उन अनन्त भवों के विचारों को बढ़ाने पर, अनन्त भव के संयोग में असंयोगी पृथक् रहा है। तुझमें अनन्त पर से अनन्त पृथक्त्व की अनन्त शक्ति प्रति समय विद्यमान है।

यद्यपि निज से ही जानता है किन्तु यदि परवस्तु न हो तो उसे ज्ञान नहीं जान सकता। जगत में अनन्त पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, हैं, उनकी अपने में नास्ति है, किन्तु वे द्रव्य अपने आपमें त्रिकाल अस्तिरूप हैं। यदि ऐसा न माना जाए और यही माने कि एक आत्मा ही है तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। गुण को मिथ्या कहने पर गुणी (आत्मा) मिथ्या सिद्ध हो जाएगा; इस प्रकार शून्यवाद का प्रसंग आएगा। जब निश्चय स्वभाव के बल से जीव स्वाश्रय में स्थिर होता है, तब अभेद अनुभव में नव तत्त्व, प्रमाण, नय और निक्षेप के रागमिश्रित विचार का भेद भी नहीं रहता; यह कहकर सर्वज्ञ वीतराग के मत में अद्वैतपन कहा है, पर नहीं है, ऐसा नहीं कहा। अनेकत्व प्रत्यक्ष ध्यान में आता है, उसे जो अवस्तु कहता है, उसका ज्ञान और अनुभव दोनों मिथ्या सिद्ध होते हैं। अपनी कल्पना के अनुसार वस्तु को चाहे जैसा मानकर यदि शुद्धता का अनुभव करना चाहे तो वह नहीं हो सकता। इसलिए वीतराग के न्यायानुसार वस्तुस्वरूप को यथार्थतया जानना चाहिए।

यदि कोई कहे कि इन्द्रियाधीन ज्ञान में अभी कुछ दूसरा ही दिखायी देता है, ज्यों-ज्यों ऊपर की भूमिका पर जाते हैं त्यों-त्यों अन्य प्रकार दिखायी देता है। और सर्वज्ञ होने के बाद निश्चय से एक अद्वैत ही दिखायी देता है, तो ऐसी मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या हे। वर्तमान अपूर्ण ज्ञान में सम्यग्दृष्टि को जगत में रहनेवाले सर्व परद्रव्यों की तथा अपने स्वतन्त्र स्वरूप की यथार्थ श्रद्धारूप सच्ची पहिचान होती है। सर्वज्ञ भगवान अपने पूर्ण ज्ञान में जैसा जानते हैं वैसा ही अल्पज्ञ अपने वर्तमान निर्मल ज्ञान से प्रथम भूमिका से ही जानता है, उसमें किंचित् मात्र भी विपरीत नहीं जानता, किन्तु मन के अवलम्बन सहित जानने के कारण परोक्ष-प्रत्यक्ष का अन्तर होता है। किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान से विपरीत ज्ञातृत्व नहीं होता। यह मानना मिथ्या है कि ज्यों-ज्यों भूमिका बढ़ती है, त्यों-त्यों अलग जानता है और जब केवलज्ञान होता है तब अलग जानता है।

दृष्टि तो पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से पहले से ही सम्यक् होती है और तभी पूर्ण की

अपेक्षा से अपूर्ण और पूर्ण परमात्मस्वरूप स्व-साध्य की अपेक्षा से साधक कहलाता है। अपने पूर्ण एकत्व के लक्ष्य के बिना जीव विपरीत है, वह न साधक है और न शोधक ही है।

परद्रव्य का तथा आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा पहले से ही परोक्षरूप से नि:सन्देह ज्ञात होता है। तीन काल और तीन लोक में स्थित समस्त पदार्थ ज्ञान-गुण की प्रत्येक समय की अवस्था में सहज ही ज्ञात हों ऐसा सर्वज्ञत्व प्रत्येक जीव में शक्तिरूप से विद्यमान है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से पूर्ण प्रत्येक आत्मा पर से त्रिकाल भिन्न है। सर्वज्ञ के न्यायानुसार सत्समागम से स्वयं उसका निर्णय करके, अपने एकरूप स्वभाव को मुख्य करके पूर्ण स्वाधीन स्वभाव के लक्ष्य से श्रद्धा की स्थिरता के द्वारा सिद्ध परमात्मा होता है।

कुछ लोग समभाव की उल्टी परिभाषा करते हैं और कहते हैं कि यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय करने में राग-द्वेष होता है, इसलिए सबको समान मानों, किन्तु यह तो मूढ़ता है, अविवेक है। वस्तु को यथार्थरूप से मानना, अन्यथा न मानना सो इसमें समभाव है। ज्ञानी बबूल को वर्तमान में चन्दन नहीं जानेगा, नीम के स्वाद को कड़वा ही जानेगा, रोटी को रोटी ही जानेगा विष्टा नहीं जानेगा, हाँ जब विष्टा की अवस्था होगी तब उसे ऐसा जानेगा, क्रोध अवस्थावाले को क्रोधरूप में देखेगा शान्त नहीं देखेगा। मिथ्या को मिथ्या जानना स्वभाव है, द्वेष नहीं है, पक्षपात नहीं है, प्रत्युत सत् का बहुमान है।

सत् की स्थापना करने पर असत् का निषेध सहज ही हो जाता है। 'कपट नहीं करना चाहिए'—ऐसा उपदेश करते हुए कपट करनेवाले पर द्वेष का भाव नहीं होता, इसी प्रकार सत्य को सत्य कहने में सत्य की दृढ़ता है, अभिमान नहीं है और किसी पक्ष के प्रति द्वेष नहीं है। ज्ञान विवेकयुक्त है, व्यवस्थापूर्वक जाननेवाला है। प्रस्तुत व्यक्ति जिस सम्बन्ध में जो कुछ भाव कहना चाहता है, उसी प्रकार वह वैसा ही सुनता और जानता है।

जगत के पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न त्रिकाल स्वतन्त्ररूप से स्थिर होकर आकाश क्षेत्र में रह रहे हैं। निश्चय से सब अपने निजक्षेत्र में व्याप्त होकर पर से भिन्न हैं। देह के रजकण और आत्मा संयोगरूप से आकाश क्षेत्र में एकत्रित दिखायी देते हैं तथापि प्रत्येक का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। छहों पदार्थ तथा उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को सर्वज्ञ भगवान

जिस प्रकार जानते हैं, उसी प्रकार अल्पज्ञ परोक्ष प्रमाण ज्ञान से बराबर जानता है। जो अन्यथा जानता है, सो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। जाननेवाला सदा-सतत ज्ञातास्वभाव से स्थिर होकर जानता ही रहता है। जिसका स्वभाव जानना है, सो वह किसे न जानेगा? जानने में मर्यादा कैसी? प्रत्येक आत्मा का पूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव है, वह पूर्ण शक्ति वर्तमान में अल्पज्ञ के राग के कारण रुकी हुई है, तथापि अपूर्ण प्रगट ज्ञान जानने में तो व्यवस्थायुक्त है। अज्ञानी विपरीत दृष्टि के कारण स्वपर के स्वरूप को अन्यथा मानता है। अल्पज्ञ सम्यग्दृष्टि अपने को स्वभाव से सर्वज्ञ वीतराग ही मानता है और जगत के जीव-अजीव समस्त पदार्थों के स्वरूप को आगम-प्रमाण से यथावत् जानता है। अनन्त जड़-पुद्गल परमाणु प्रत्येक स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक परमाणु में अनादि-अनन्त पूर्ण शक्तिरूप से स्थिर रहने की और प्रतिक्षण अवस्था को बदलने की अनन्त सामर्थ्यरूप अनन्त वीर्य शक्ति है। उसे सर्वज्ञ के न्याय से जानता है, तथा छहों द्रव्यों के स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न स्वभाव को जानता है। छहों द्रव्यों का स्वभाव अनन्त शक्तिरूप से प्रति समय पूर्ण है ऐसा ज्ञात होगा।

(१) द्रव्य से:—संख्या में जीवद्रव्य की अपेक्षा परमाणु (पुद्गल) द्रव्य अनन्तानन्त हैं। उनमें अनन्त पिण्डरूप से मिलना, पृथक् होना, गति होना इत्यादि अनन्त प्रकार की विचित्र शक्तियाँ अपने स्वभाव से अनन्त हैं, वे किसी की प्रेरणा से नहीं हैं।

(२) क्षेत्र से:—आकाश अपने अपार विस्तार से अनन्त प्रदेशी है, उसका अवगाहन गुण भी अनन्त है। एक प्रदेश में अनन्त वस्तु का समावेश होने दे ऐसा उसका स्वभाव है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त द्रव्यों को अवगाहना देने का स्वभाव है।

(३) काल से:—असंख्यात कालाणु अन्य पाँचों द्रव्यों के परिणमन में प्रतिसमय उदासीनरूप से सहकारी हैं।

(४) भाव से:—ज्ञाता आत्मा प्रत्येक गुण से अनन्त शक्तिरूप है। उसमें मुख्य ज्ञानगुण से तो एक-एक समय में तीन काल और तीन लोक की अनन्तता को एक साथ जानता है, क्योंकि जानने का स्वभाव नित्य है। किसी में अटकनेरूप अथवा न जाननेरूप स्वभाव नहीं होता। केवलज्ञान की प्रत्येक समय की एक अवस्था में लोकालोक को जाने और यदि अनन्त लोकालोक हों तो भी जाने ऐसी—अनन्त गम्भीर ज्ञायकशक्ति प्रत्येक जीव में है।

लोकाकाशप्रमाण अखण्ड अरूपी धर्मास्तिकाय द्रव्य एक है, वह जीव-पुद्गल की गति में उदासीनरूप से सहकारी है। उस अनन्त को गतिरूप होने दे ऐसा उसका अनन्त स्वभाव है।

लोकाकाशप्रमाण अखण्ड अरूपी अधर्मास्तिकाय द्रव्य एक है। उसमें जीव-पुद्गल को स्थिति में उदासीनरूप से सहायक होने का अनन्त गुण है।

ज्ञान की महिमा तो देखो! वर्तमान रागमिश्रित दशा में इन्द्रियाधीन होने पर भी क्षणभर में अपार-अनन्त का विचार ज्ञान में माप लेता है; तब सर्व राग-द्वेष और आवरण से रहित शुद्ध पूर्ण केवलज्ञानदशा में एक-एक समय की प्रत्येक अवस्था में तीन काल और तीन लोक के सर्व पदार्थसमूह को सर्व प्रकार के एक ही साथ जानने की अपार प्रगट शक्ति क्यों न होगी? अवश्य होगी। इसमें सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को शंका नहीं होती। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा को भलीभाँति माननेवाला स्वयं शक्तिरूप से उतना बड़ा हो तभी वह पूर्ण को पहिचान सकेगा। अपूर्ण ज्ञान में भी ज्ञान का ज्ञातृत्व व्यवस्थामय है। प्रत्येक जड़-पुद्गल परमाणु में स्वतन्त्ररूप से अनन्त वीर्य-शक्ति विद्यमान है, उसकी अवस्था की व्यवस्था का कर्ता वह पुद्गल है। कोई ईश्वर कर्ता नहीं है, इस बात को ज्ञानी जान लेता है।

जगत में देहादि के संयोग-वियोग तथा उसकी सम्पूर्ण अवस्था और उसके स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण गुण की अवस्था का अनन्त गुणित हीनाधिकरूप से बदलना इत्यादि जड़ की रचना उस प्रत्येक पुद्गलद्रव्य की स्वतन्त्र उपादान की शक्ति के आधार से होती है। वह पुद्गल-परावर्तन प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्रतया, प्रेरणा के बिना, अपने कारण से और अपने ही आधार से करता है। देहादिक सर्व परद्रव्य की संयोग-वियोगरूप अवस्था की व्यवस्था उसके कारण से जैसी होनेयोग्य है, वैसी ही होती है। ज्ञानी जानता है कि उसके कारण किसी को हानि-लाभ नहीं होता। जो यह जानता है कि पर से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसे निज में ही देखना शेष रहता है। उसमें अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ होता है। परवस्तु की अपने में नास्ति है इसलिए देहादिक परवस्तु को प्रेरणा करना अथवा अँगुली का हिलाना भी आत्मा के आधीन नहीं है। देहादि का तथा पर आत्मा का कोई काम कोई दूसरा आत्मा किसी अपेक्षा से नहीं कर सकता। प्रस्तुत जीव निमित्त पर अपने भावानुसार

आरोप करता है। जब प्रस्तुत जीव समझता है तब कहा जाता है कि इसने मुझे समझाया है, और जब नहीं समझता तो निमित्त नहीं कहलाता। इसलिए निमित्त से किसी का कार्य नहीं होता। आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञातास्वरूप है। व्यवहार से देहादिक परवस्तु का कोई कार्य कोई आत्मा कभी नहीं कर सकता। प्रति समय मात्र जान सकता है अथवा अपने को भूलकर विपरीत मानता है कि इसे मैंने किया है। जड़ देहादिक के आधार से किसी के गुण-दोष नहीं होते, किन्तु अपने विपरीत पुरुषार्थ से दोष (दु:ख) होते हैं और अनुकूल पुरुषार्थ से दोषों का नाश और सुख की उत्पत्ति होती है।

जीव की आज्ञा से देहादिक परद्रव्य में कुछ नहीं होता। जीव इच्छा करे और पुण्य के संयोग से इच्छित होता हुआ दिखायी दे तो वह स्पष्ट भूल है। उस समय भी जड़ का कार्य उसकी योग्यता के अनुसार जैसा होना हो वैसा ही होता है। गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता यह मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा ही चल रही है, किन्तु वह भ्रम है। इसी प्रकार जब शरीरादिक स्वत: चलते हैं, तब जीव यह मानता है कि देहादिक मुझसे चल रहे हैं, किन्तु यह भ्रम है। जगत को यह बात समझना कठिन मालूम होती है किन्तु वास्तव में बात ऐसी ही है। दो वस्तुएँ त्रिकाल भिन्न स्वतन्त्र हैं, यह निश्चित किये बिना पर का स्वामित्व नहीं छूट सकता। जहाँ यह माना कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ वहाँ दो एक हो गये, और यह एकान्त मिथ्यामत है।

ज्ञान स्व-पर को जाननेवाला है, वह जाननेरूप क्रिया करता है। कलम में ग्राह्य और हाथ में ग्राहक योग्यता है, तभी हाथ से कलम पकड़ी जाती है, इसे ज्ञान ने पहले से ही जाना है, किन्तु यह नहीं जाना कि आकाश पकड़ा जा सकता है और दस मन वजन पकड़ा जा सकता है। ज्ञान यह जानता है कि इस लोटे में एक सेर पानी बन सकता है, एक घड़ा पानी नहीं बन सकता। पानी इस स्थान पर आ सकेगा, उसकी धार बनेगी, यह सब जड़ की अवस्था है, इसे ज्ञान जानता ही है। यदि पानी मुँह में जावेगा तो प्यास बुझेगी यह भी ज्ञान जानता ही है; पुद्गल स्वयं स्वतन्त्र जड़ है, मात्र उसमें चेतनता नहीं है। जाननेवाला जानता है कि इसका कार्य ऐसा हुआ है, उसकी जगह मैं ऐसा हो गया हूँ, मैंने पर का कार्य किया है, इत्यादि मिथ्या-मान्यता है। जाननेवाला देह पर दृष्टि रखकर उसकी क्रिया को अपने में मानता है, वह अनादि की भूल है। निद्रा में यह ध्यान नहीं था कि देह की क्रिया

मैं करता हूँ, तथापि क्रिया होती रही, फिर जागने पर यह मानने लगता है कि वह क्रिया मुझसे हुई थी। जीव पुद्गल के स्वभाव को जान सकता है किन्तु कर नहीं सकता। शरीर में क्षुधारूप से परमाणुओं में जो खलबलाहट होती है, उसे जानता है और यह जानता है कि भोजन का संयोग मिले तथा पुण्य का उदय हो तो भूख दूर हो सकती है। कहीं कंकड़-पत्थर नहीं खाये जा सकते और मूत्र नहीं पिया जाता; पानी का स्वभाव पथ्य है, इसलिए वह पिया जाता है। आकाश पर निराधार नहीं सोया जा सकता, इसे ज्ञानी जानता है, और यह जानता है कि इसका कार्य यों हुआ है, किन्तु यह नहीं जानता कि मैं वैसा हुआ हूँ।

पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है, इसलिए मैं पर का कर्ता हूँ, पर मेरा कर सकता है; इस प्रकार सबको शक्तिहीन और पराधीन ठहराता है। मैं निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ, इस प्रकार जाने तो पर को, अपनी विकारी अवस्था को यथावत् जान सकता है। मैं और प्रत्येक आत्मा अपने में अनन्त उल्टा-सीधा पुरुषार्थ कर सकता है। जो निरन्तर जानने का स्वभाव है, वह मर्यादावाला नहीं है। वर्तमान में जो राग की वृत्ति उठती है, उतना मात्र मैं नहीं हूँ। प्रत्येक आत्मा जानने की शक्ति की गम्भीरता से कई गुना बड़ा है, क्षेत्र से बड़ा नहीं है। दूरस्थ पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को लम्बा नहीं होना पड़ता किन्तु अन्तरंग गुण में एकाग्र होना पड़ता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक (जाननेवाला) है, उसकी जगह कोई यह माने कि ज्ञान में जहाँ तक अनेक ज्ञात होते हैं, वहाँ तक द्वैतपन का भ्रमरूप दोष है, इसलिए यदि उस द्वैत के ज्ञातृत्व को दूर कर डालूँ तो मैं अखण्ड अकेला रहूँ और अद्वैत का अनुभव हो, यों मानकर हठयोग द्वारा जड़ देह की क्रिया से ज्ञान को प्रगट करना चाहता है, वह जीव विकास को रोककर मूढ़ता का अभ्यास करता है, और धर्म के नाम पर अज्ञान का सेवन करता है, वह भी दया का पात्र है।

आत्मा को ज्ञानभाव से स्व-क्षेत्र में व्यापक न मानकर जो सर्वक्षेत्र में व्यापक मानता है उसकी दृष्टि स्थूल है। भीतर ज्ञान में स्थिरता होने पर अनन्त शक्ति का विकास होता है। उसमें तीन लोक और तीन काल सहज ज्ञात हो जाते हैं, इस प्रकार जिसे भाव की सूक्ष्म गम्भीरता नहीं जमी, वह बाह्य क्षेत्र में स्थूलदृष्टि से जीव को सर्व क्षेत्र व्यापक मानता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के मिथ्या अभिप्रायवाले लोगों ने सर्वज्ञ कथित अनेकान्तस्वरूप

का विरोध अपने भाव में किया है, इसलिए उनने स्वाधीन वस्तुत्व का निषेध किया है। वस्तुभाव वैसा नहीं है, इसलिए उनका अनुभव मिथ्या होता है। अत: जैसा सर्वज्ञ वीतरागदेव कहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में पूर्ण आनन्दघन एक-एक आत्मा है, वह पर से भिन्न है, किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन विकार स्वयं करता है ऐसा निर्णय करके, अवस्था को गौण करके शुद्धनय के द्वारा अखण्डस्वभाव के लक्ष्य से अभेद अनुभव हो सकता है। सत्-समागम से पहले समझकर स्वाधीन पूर्ण चिदानन्दस्वरूप में स्थिर हुआ कि वह भगवान आत्मा ही अपनी संभाल करेगा, अर्थात् वह राग-द्वेष-अज्ञानरूपी संसार में गिरने से बचायेगा।

अब चौदहवीं गाथा की सूचना के रूप में यह कहते हैं कि शुद्धनय कैसे प्रगट होता है। तेरहवीं गाथा में नवतत्त्व, नयादि के विकल्प से भिन्न और अपने त्रिकाल स्वभाव में एकरूप आत्मा बताया है। यहाँ पर से भिन्न, क्षणिक संयोगाधीन विकार से भिन्न आत्मा शुद्धनय से माना है, सो कहते हैं।

त्रिकाल में भी आत्मा में पर-संयोग नहीं है। आत्मा में परमार्थ से विकार भी नहीं है। जो क्षणिक अवस्थामात्र के लिए राग होता है, सो परलक्ष्य से जीव स्वयं करता है; किन्तु वह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। उसी समय विकार नाशक स्वभाव पूर्ण अविकारी अस्तिरूप है, पर-निमित्त के भेद से रहित, पर्याय के भेद से रहित, प्रत्येक अवस्था में त्रिकाल पूर्ण शक्ति अखण्ड शुद्ध स्वभावरूप है। उस निरपेक्ष पारिणामिक स्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में लेनेवाला ज्ञान शुद्धनय कहा जाता है।

समयसार की प्रत्येक गाथा में से चैतन्यमणि-रत्नों के अद्भुत न्याय-निर्झर बहते हैं। इसे समझ लेने पर पूर्ण समाधान हो जाता है। ज्ञान के प्रतीति भाव से वर्तमान में मोक्ष है। यदि अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ करे तो भव का अभाव हो, यह ऐसी परम अद्भुत बात है।

चमार की दुकान में से चमड़े के टुकड़े निकलते हैं, जौहरी की तिजोरी में से हीरे निकलते हैं और चक्रवर्ती के रत्नकोष में से बहुमूल्य हार निकलते हैं, इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरदेव के श्रीमुख से निकले हुए परमतत्त्व के बोध को सत्समागम से ग्रहण करे तो उससे मोक्षरत्न की प्राप्ति होती है।

अब आगे जो शुद्धनय का उदय होता है, उसका सूचक श्लोक कहते हैं:—

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥१०॥

शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। शाश्वत चैतन्यस्वभावी आत्मा विकार का नाशक है। उसकी वर्तमान अवस्था में संयोगाधीन दृष्टि से क्षणिक विकार होता है, उस समय भी स्वयं विकार के नाशक स्वभाव से पूर्ण गुणस्वरूप है, क्षणिक अवस्था जितना नहीं है, ऐसा निर्णय करके उसमें धैर्यपूर्वक स्थिर हो तो विकार का नाश होकर निर्मल शान्त स्वभाव प्रगट होता है।

पानी में उष्णता के समय शीतलता प्रगट दिखायी नहीं देती, तथापि स्वभावदृष्टि से जल पूर्ण शीतल है ऐसा प्रथम विश्वास करता है। ताँबे का संयोग होते हुए भी सोने में सौटंची शुद्ध सुवर्णत्व मानता है, पर-संयोग के भेद का लक्ष्य गौण करके मूल-असली स्वभाव को देखता है। उसमें जैसे संयोगी भेद को क्षणिक अवस्था तक मानकर जीव मूल शुद्ध स्वभाव को मान सकता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मा अपने में नहीं मानता, इसलिए परलक्ष्य से राग-द्वेष की वृत्ति होती है। वह वृत्ति प्रतिक्षण नाशवान है किन्तु उसे जाननेवाला उसरूप नहीं है, उसके नाशक के रूप में है; इसलिए अवस्था की ओर के लक्ष्य को गौण करके अपने त्रिकालस्थायी निर्मल एक स्वभाव को देखें तो उसमें बन्ध-मोक्ष की पर्याय के विकल्प नहीं उठते। श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि—

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

(समयसार नाटक, जीवद्वार २०)

एक शुद्धनय के द्वारा सम्पूर्ण ध्रुव स्वभाव को लक्ष्य में लेने पर बन्ध-मोक्ष इत्यादि सर्व भेदों का लक्ष्य गौण हो जाता है। इस प्रकार एकरूप स्वभाव के बल से एकाग्र होने पर, पर से भिन्न अविकारी निर्मल स्वभाव की घोषणा होती है और इसी प्रकार स्वभाव की स्थिरता से मोक्षदशा प्रगट होती है।

शुद्धनय का विषय ही सम्यग्दर्शन का विषय है। यह शुद्धनय आत्मस्वभाव को कैसा प्रगट करता है ? परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव-ऐसे परभावों से भिन्न बताते हैं। देहादिक संयोग प्रगट लक्षणों से ही मुझसे भिन्न दिखायी

देते हैं। भीतर आत्मा के साथ द्रव्यकर्म आवरणरूप से निमित्तरूप हैं जो कि सूक्ष्म रज है, और उसके उदयरूप फल उसमें आते हैं। पुद्गल के संयोगीभाव में अच्छा-बुरा जानकर राग-द्वेष होना सो भावकर्म (जीव का विकारी भाव) है। शुद्धनय समस्त परभावों से आत्मा को भिन्न बताता है।

जैसे—जिस पर से विश्वास चला गया है, उसे जीव ठीक नहीं मानता, उसका आदर नहीं करता और जिसे यथावत् पहिचानकर पक्का विश्वास करता है, उसी को हितरूप से आदरणीय मानता है और उसका आश्रय लेता है। उसी प्रकार जीव देहादि, रागादि पर को अनेकरूप मानता था तब तक अच्छा-बुरा मानकर पुण्य-पापरूप उपाधिका आदर करके पर में कर्तृत्व-स्वामित्व मानता था, किन्तु जब यह जाना कि वह मैं नहीं हूँ, तब क्षणिक संयोग और विकार मेरा रूप नहीं है, मैं विकार का नाशक हूँ, मुझमें समस्त गुण भरे हुए हैं इस प्रकार अपने में अपना सम्पूर्ण विश्वास लाये तथा अवस्था का लक्षण गौण करे तो दूसरे में हित न माने, और एकमात्र स्वाश्रय में ही रमना-स्थिर होना रहे। फिर यह शंका नहीं रहेगी कि मैं मैला हूँ, हीन हूँ, उपाधिवान हूँ, पराधीन हूँ।

अनादिकाल से अपने को भूलकर, पर का आश्रय मानकर बन्धनरूप उपाधिभाव की और सम्पूर्ण जगत की ममता एवं परमुखापेक्षा करता है, किन्तु यदि एक बार पर से भिन्न अविकारी पूर्ण चिदानन्द भगवान आत्मा की पहिचान करके स्वभाव में स्थिर हो जाए तो फिर पुण्य-पाप का राग और उसके संयोग का आदर न हो एवं किसी के प्रति आकुलता न हो।

स्वरूप को समझे बिना त्रिकाल में भी छुटकारा नहीं हो सकता। यदि कोई सीधे शब्दों में किसी को गधा कह दे तो वह झगड़ा करने को तैयार हो जाए, किन्तु जिस भाव में वैसे अनन्त भव विद्यमान हैं, उस भाव का नाश नहीं करता, इसलिए उसे भूल का परिणाम भोगना पड़ेगा, इससे प्रति समय अपने परिणामों की जाँच करनी चाहिए।

यहाँ समझ पर भार दिया गया है। जीव समझ में विपरीत मानकर पर में अच्छे-बुरे रूप से राग-द्वेष करता है, अथवा अनुकूल मानकर राग-द्वेष को तोड़कर वीतराग भाव कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसलिए यदि सत्यस्वभाव को न समझा तो जैसे समुद्र में फेंका गया मोती फिर हाथ नहीं आता वैसे ही इस मनुष्यभव

को पुन: चौरासी के चक्कर में डाल देने पर फिर से मनुष्यभव का प्राप्त करना महादुर्लभ है। रुपया, पैसा इत्यादि जो बाह्यसंयोग प्राप्त होते हैं, सो उनमें समझ की आवश्यकता नहीं है, वे सब पूर्वपुण्य के कारण आ मिलते हैं, किन्तु आत्मा को समझने में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ चाहिए, क्योंकि वहाँ जैसा कर्म कराते हैं, वैसा नहीं होता।

आत्मस्वभाव समस्त रूप से (पारिणामिक भाव से) पूर्ण है, ऐसा शुद्धनय बताता है। 'आत्मस्वभाव पूर्ण है' यह कहने में निरपेक्ष ध्रुवस्वभाव की पूर्ण स्वतन्त्र मर्यादा बतायी है। 'समस्तरूप से पूर्ण' कहने में सम्पूर्ण द्रव्य बताया है। जैसे सोने के पाँसे लेते समय उनमें विश्वास होता है कि इनमें से विविध कलापूर्ण आभूषण बन सकेंगे, किन्तु वह उसमें अलग भेद नहीं करता। इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी हुई है जो कि प्रगट होनेवाली है, उसके भेद से रहित सम्पूर्ण स्वभाव को देखते समय उसमें शुद्धनय भेद नहीं करता। जैसे ताँबे का संयोग होते हुए भी यदि मूल स्वभावरूप से देखें तो वह सोना सौटंची शुद्ध ही है, उसी प्रकार क्षणिक निमित्ताधीन विकार के समय भी भगवान आत्मा अपने मूलस्वभाव से पवित्र पूर्ण शुद्ध ही है, इस प्रकार अवस्था को गौण करके जानना सो शुद्धनय है। आत्मस्वभाव समस्त लोकालोक को जाननेवाला है - यह शुद्धनय बताता है। केवलज्ञान तो अवस्था है। संसार और मोक्ष पर्याय है। उसमें कर्म के संयोग-वियोग की अपेक्षा होती है। उस परनिमित्त के भेद की अपेक्षा से रहित शुद्धदृष्टि से वर्तमान में पूर्ण एकरूप स्वभाव को देखने पर, निर्मल सम्यग्दर्शन का विषय जो परिपूर्ण पारिणामिकभावरूप सम्पूर्ण स्वभाव है सो लक्ष्य में आता है। उसमें किसी भेद या विकल्प के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। पूर्ण निर्मल आत्मस्वभाव के प्रगट होने से पूर्व श्रद्धा-ज्ञान में पूर्ण का स्वीकार होता है। सम्यग्दृष्टि अपने पूर्ण शुद्ध पारिणामिक भाव को ही मानता है। उसके लक्ष्य से विकल्प टूटकर स्थिरता का बल बढ़ता है। अल्प काल में मोक्ष ही है, उसे उसके सन्देश निज में से नि:सन्देहरूप से आते हैं।

पूर्ण स्वभाव में हीन या पूर्ण अवस्था के भेद नहीं होते; मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान इत्यादि कर्म के निमित्त की अपेक्षा बताते हैं; उपशम, क्षयोपशम, उदय और क्षायिकभाव इन सबमें पर की अपेक्षा का भेद होता है, वह सब भेद शुद्धनय में गौण हैं। शुद्धनय का विषय निरपेक्ष पूर्ण स्वभाव होने से वह शुद्धनय पारिणामिक द्रव्यस्वभाव

सहज एकरूप अखण्डरूप से बताता है, ऐसा ही सम्यग्दर्शन का स्वविषय है। उसे प्रगट करनेवाले शुद्धनय का स्वाश्रित अनुभव चौथे गुणस्थान में विकल्प को तोड़कर होता है। उसमें बाह्य साधन नहीं हैं, स्वभाव स्वयं ही कारण है।

श्रावक और मुनि होने से पूर्व की यह बात है। वस्तुस्वरूप ऐसा है, तथापि यदि कोई उससे इंकार करे तो उससे दूसरा कुछ नहीं हो सकता। मूल समझ के बिना यदि 'साधु' नाम धारण करे तो नाम रखने से कौन इंकार कर सकता है? यदि किसी अन्धे आदमी का नाम नयनसुख रखा जाए तो वह नामनिक्षेप से ठीक ही है, उसमें गुण की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई एक थैले पर यह लिख दे कि इसमें चालीस रुपये मन के भाव की शक्कर भरी हुई है और उसके भीतर कड़वे नीम के पत्ते और लकड़िया भरी हों तो ऊपर लिखे गये नाममात्र से वे कहीं मीठी नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार पूर्वापर विरोध रहित आत्मस्वभाव को जाने बिना कोई यह माने कि मैं धर्मात्मा हूँ, चारित्रमय हूँ तो इससे यदि अन्तरंग में गुण न हो तो आ नहीं जाते। सर्वज्ञ वीतराग ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा माने और जाने बिना अन्तरंग में निराकुल स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता।

और फिर वह शुद्धनय आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है। जैसे पानी का शीतल स्वभाव किसी ने बनाया नहीं है, उसी प्रकार अनन्त गुण-समुदाय की रचना के रूप में पवित्र वीतराग आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है, उसे किसी ने बनाया नहीं है, वह किसी समय उत्पन्न नहीं हुआ है। जो 'है' उसकी उत्पत्ति या नाश किसी संयोग, क्षेत्र, काल या भाव में नहीं होता। अखण्ड स्वयंसिद्ध आत्मा की रचना किसी ने नहीं की है, वह किसी पर अवलम्बित नहीं है, और प्रति समय परिपूर्ण है—ऐसे नित्य पारिणामिक भाव को शुद्धनय जानता है।

और फिर वह, आत्मस्वभाव को एक-सर्व भेद भावों से (द्वैत भावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है; और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं, ऐसा प्रगट करता है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और देहादि नोकर्मरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार पर में एकत्व का निश्चय सो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में जो भेद मालूम होता है, सो विकल्प है।

राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु वह निमित्ताधीन क्षणिक होने से दूर हो

जाता है, इसलिए जड़ है। व्यवहार से वह जीव में होता है। उस सबमें अपनेपन की कल्पना करना सो विपरीत श्रद्धारूप संकल्प है। पर से हानि-लाभ होता है, शुभाशुभ राग से गुण-लाभ होता है, पर की सहायता आवश्यक है, इस प्रकार जो मानता है वह दो द्रव्यों को एक मानता है। मैं निर्वीर्य हूँ ऐसा मानकर उसने सभी को ऐसा मान रखा है। उसे अक्रिय भिन्न स्वभाव की खबर नहीं है, वह जीव परमार्थ सत्य नहीं बोल सकता। बोलने में ज्ञानी व्यवहार से कहता है कि यह शरीर इत्यादि मेरा है, तथापि अन्तरंगभाव में बहुत अन्तर होता है। मैं पृथक् हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ तथापि जितना राग है, उस भूमिका के अनुसार लौकिक-व्यवहार जैसा बोलना पड़ता है, किन्तु वह भाव में पृथक्त्व को बराबर समझता है। देह, शब्द, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि से मैं भिन्न हूँ, वाणी मेरी नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, सदा एकरूप साक्षी ज्ञायक ही हूँ, इस प्रकार वह समझता है; राग-द्वेष की अस्थिरता होती है तथापि दृष्टि में उसका निषेध है। ज्ञानी राग का कर्ता नहीं किन्तु नाशक है। देह, धन, पुत्रादिक मेरे हैं; इस प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय से मानता है इसलिए अज्ञानभाव से वह पर का कर्ता-भोक्ता और रक्षक है।

प्रश्न : घर का आदमी होता है, तो वह सेवा करता है न?

उत्तर : कोई पर की सेवा नहीं कर सकता। सब अपने लिए ही अच्छे-बुरे भाव कर सकते हैं। जब तक पुण्य होता है, तब तक बाह्य में अनुकूलता सी दिखायी देती है। वास्तव में अनुकूलता या प्रतिकूलता बाह्य में नहीं है। स्वयं अपने में कषाय की आकुलता को कम करके जितनी शान्ति रखे उतना सुख है। निराकुल स्वतन्त्र स्वभाव को जाने बिना आकुलता दूर नहीं होती। स्त्री, देह, धनादि का संयोग मुझे सहायता देगा, इस प्रकार माननेवाले की आकुलता दूर नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि पर का आश्रय चाहिए, नौकर-चाकर चाहिए, स्त्री चाहिए, उसे निर्दोष एकाकीपन और स्वातंत्र्य अच्छा नहीं लगता। वह पराधीनता का आदर करता है और अपने स्वतन्त्र स्वभाव का अनादर करता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी सोलह वर्ष और पाँच माह की आयु में एक अद्भुत झनकार की थी कि:—

'सर्वज्ञ का धर्म, सुशर्ण जानो,
आराध्य आराध्य प्रभाव आनो;

अनाथ एकान्त सनाथ होगा,
इसके बिना कोई न बाह्य होगा।'

अपने आत्मा को परिपूर्ण मानकर, उसका बहुमान करके उसका ही आदर कर, आश्रय कर। उसी का सेवन कर और परमुखापेक्षिता को छोड़; यदि रंकता को छोड़ दे तो पर में जो मूर्छारूप अनाथता है वह छूटकर एकान्त स्वाश्रय से सनाथता आ जाएगी। जबकि पर में-विकर में स्वामित्व-कर्तृत्व ही न होगा तो संसार स्वत: उड़ जाएगा। जिसने स्वाश्रय को ग्रहण किया उसकी श्रद्धा में समस्त संसार ही उड़ गया। जैसे लग्न-मण्डप में पहुँचकर यदि दूल्हा को अविवाहित ही वापिस होना पड़े तो वह अति लज्जा की बात मानी जाती है; उसी प्रकार साक्षात् तीर्थंकर की वाणी तक पहुँचकर वैसी ही न्याययुक्त अमृत जैसी निर्दोष वाणी कानों में पड़े और फिर भी अन्तरंग से न रीझे और यों ही वापिस चला जाए तो घोर लज्जा की बात है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने छोटी-सी आयु में अपूर्व जागृति की ज्वाला प्रज्वलित की थी। उन्होंने इस तथ्य को समझा और कहा था कि एक स्वाधीन आत्मा की आराधना कर, पर की आशा में या पर की सेवा में कहीं भी शरण नहीं है। ऐसी परमुखापेक्षिता चैतन्यप्रभु के लिए हीनता की बात है कि - मैं बीमार होता हूँ तब स्त्री-पुत्रादिक सेवा करनेवाले चाहिए। सर्वज्ञ कथित अविनाशी धर्म अर्थात् स्वतन्त्र स्वभाव को मानो, वही शरणभूत है; उसकी प्रतीति के बिना, आश्रय के बिना इन्द्रों का वैभव भी अशरण है।

बड़ा देव हो गया हो, किन्तु यदि आत्म-प्रतीति न हो और पर में खूब मूर्च्छा का सेवन किया हो, उसकी पुण्य की स्थिति पूर्ण होने आयी हो या आयु पूर्ण होने में छह मास शेष हों तो वहाँ कल्पवृक्ष, देवभवन और विमान इत्यादि निष्प्रभ दिखायी देने लगते हैं। उसे स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति नहीं होती इसलिए वह रोता-चिल्लाता और विलाप करता है। वह मरते समय खूब रौद्रध्यान करता है क्योंकि उसने सत्य का अनादर किया है। जो धर्मात्मा होता है सो आनन्द मानता है कि मैं उत्तम मनुष्य कुल में जाकर दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष में जाऊँगा; और वह वहाँ तीर्थंकर भगवान की शाश्वत मूर्ति के चरणों में नतमस्तक होकर शान्तिपूर्वक शरीर को छोड़ता है।

यहाँ संकल्प का अर्थ है सामान्य में भूल अर्थात् त्रिकाल सम्पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा

में भूल, जो कि दर्शनमोह है; वह अनन्त-संसार में परिभ्रमण करने का मूल है।

जो विकल्प है सो विशेष में भूल है, वह चारित्रमोह है। ज्ञान से देहादिक अनेक संयोगों का परिवर्तन ज्ञात होता है, उसमें पर ज्ञेयों के बदलने पर मैं खण्ड-खण्ड हो गया हूँ, मेरा जन्म हुआ है, मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझे रोग हुआ है, शरीर में जो भी क्रिया होती है वह मेरी क्रिया है, ऐसा मानकर पर में अच्छे-बुरे भाव से पुण्य-पाप की वृत्ति उठती हे सो वह अनेक भेदरूप से मैं हूँ ऐसा विकल्प (विशेष आचार) चारित्र-मोह है। निमित्त तथा रागादिरूप मैं हूँ, इस प्रकार पर में अटक जाना, राग में एकाग्र होना सो अनन्तानुबन्धी कषायरूप चारित्रमोह है।

चैतन्य आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता में जो कुछ दूर या निकट की परवस्तु ज्ञात होती है, उसकी अवस्था में जो परिवर्तन होता है, उसे वह अपने में ही जानता है, इस प्रकार की मान्यतारूप जो प्रवृत्ति है, सो विकल्प है। पराधीनता का और राग-द्वेष औपाधिक भाव का आदर एवं स्वतन्त्र चिदानन्द आत्मा का अनादर सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है; परवस्तु और निमित्तरूप कर्म मुझे राग-द्वेष-मोह कराते हैं और मैं पर का कुछ कर सकता हूँ - यह मानना सो अनन्तानुबन्धी मान है; अक्रिय, स्वतन्त्र स्वभाव को न मानना, देहादि-रागादि से ठीक मानना सो अनन्तानुबन्धी माया है; मैं परवस्तु में लुब्ध हो गया हूँ, यदि पुण्यादि साधन हों तो मुझे गुण-लाभ हो, शुभाशुभभाव मेरे हैं, उनका मैं कर्ता हूँ, इत्यादि प्रकार से मूर्छित हो जाना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है। संकल्प-विकल्प का नाश करनेवाला जो सम्यक् संकल्प है सो सम्यग्दर्शन है, और इन्द्रियों की ओर के योग के बिना स्वरूपसन्मुख जो आंशिक स्थिर भाव प्रवर्तमान होता है, सो स्वरूपाचरण सम्यक् विकल्प है। वह ज्ञान की क्रिया है।

धर्म के नाम पर प्रमाण, नय, निक्षेप, नवतत्त्व, छहद्रव्य इत्यादि का मन द्वारा विचार करने पर तत्सम्बन्धी अनेक विकल्परूप राग में एकाकार होकर अनेक भेदों को प्राप्त करना और यह भूल जाना कि मैं पृथक् साक्षी ज्ञायक ही हूँ सो अज्ञानी के विकल्प हैं। ज्ञानी के तो वह ज्ञेय हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि अखण्ड गुण पर पड़ी है। पूर्ण एकत्वस्वरूप शुद्ध साध्य की रुचि की महिमा अखण्ड ज्ञानरूप से आत्मा में ही प्रवर्तमान रहती है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से शुभाशुभ विकल्प में युक्त होता है, किन्तु साथ ही पृथक्त्व की

प्रतीति है और राग का निषेध रहता है, इसलिए एकरूप ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य स्थिर करके अनेक भेदरूप परविषय को जानते हुए भी अपने में अखण्ड ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता है। मैं अपने को जानता हूँ, इस प्रकार के एकत्व का निश्चय ज्ञानी का संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद को भिन्नरूप से जानने पर दूसरे की ओर की वृत्ति को खींचकर एकाकार ज्ञानमात्र का अनुभव करना सो ज्ञानी का विकल्प (विशेष आचार) है।

अहो! इस तेरहवीं गाथा में भूल को भुला ही दिया है। सम्पूर्ण समयसार की प्रारम्भिक जड़ इसी गाथा में विद्यमान है। अरे! पूर्व की भूल थी भी या नहीं, इस प्रकार भूल को भुला देनेवाली यह गाथा है। इसे न समझा जा सके, ऐसी तो बात ही नहीं है। भूल तो है ही कहाँ? थी ही कब? भूल कभी है ही नहीं। स्वभाव ही त्रिकाल प्रकाशमान है।

सम्पूर्ण मार्ग स्वसन्मुख पुरुषार्थदशा का है। इस समयसार की प्रत्येक गाथा मोक्षदायिनी है। गाथा में मोक्ष नहीं किन्तु समझ में मोक्ष है।

राग-द्वेष युक्त अवस्था के समय भी आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रकाशमान है। स्वभाव की शक्ति त्रिकाल है, इस शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर! इस प्रकार श्री परमगुरु आशीर्वाद देते हैं।

चौदहवीं गाथा की भूमिका

शुद्धनय के द्वारा स्वाश्रय से शुद्ध श्रद्धा सहित निर्मल आत्मधर्म प्रगट होता है। परद्रव्य, परभाव और द्रव्यकर्म के सम्बन्ध से अपनी अशुद्ध योग्यता से होनेवाला जो विकार है - उस सबसे भिन्न, निरपेक्ष, निर्विकार, एकान्त बोधस्वरूप, अखण्ड ज्ञायक आत्मा है। उसके लक्ष्य से, शुद्धनय के अनुभव से जो एकाग्र हुआ सो आत्मानुभवरूप धर्म है। इस प्रकार तेरहवीं गाथा में शुद्धनय की महिमा को सुनकर योग्य शिष्य को यह समझने की जिज्ञासा हुई है कि शुद्धनय कैसा है और वह आत्मा को किस प्रकार बतलाता है। मैं असंग और अविकारी हूँ - यह अन्तरंग में विचार करने पर समझ में आ जाता है; किन्तु विशेष निर्णय के लिए स्वभाव के लक्षण से समझाइये कि शुद्धनय का प्रगट अनुभव अथवा सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है।

शुद्ध पारिणामिकभाव अथवा पूर्ण आत्मस्वरूप को पाँच भावों से जानने पर एकरूप, निर्मल स्वभावरूप से आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं परमेश्वर है, उसके दर्शन होते हैं—यह बात चौदहवीं गाथा में कहते हैं:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।१४।।

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि।।१४।।

अर्थ : जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलितारहित, विशेषरहित और अन्य के संयोग से रहित ऐसे पाँच भावरूप देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।

यह परमार्थरूप का निर्णय कराते हैं। वर्तमान अवस्था में बन्धन और विकार व्यवहार से है। निश्चय से आत्मा विकाररहित और अबन्ध है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि

समुद्र को बाँध लिया है, किन्तु वास्तव में तो समुद्र के निकट स्थित नगर का किनारा बाँधा जाता है; इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दरूप से अनन्त है, वह किसी से बँधा हुआ नहीं है, विकार दोष-दु:खरूप नहीं हुआ है। भेद को गौण करके वर्तमान में भी मुक्तस्वभाव, पूर्ण हूँ, इस प्रकार प्रथम श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है।

अरूपी भगवान आत्मा को पर का बन्धन नहीं हुआ, मात्र वर्तमान अवस्था में पर का बन्धन मान लिया है। आत्मा तो सदा ज्ञायकस्वभाव ही है, पृथक् ही है, उसे न किसी ने बाँधा है और न किसी ने रोका है। इसका एक दृष्टान्त देकर यहाँ, समझाया जा रहा है—

एक मकान के भीतर तीसरे कमरे में जो भोंयरा (तलघर) है; उसमें एक तिजोरी रखी हुई है, उसके भीतर अन्तिम खाने में एक डिब्बी में हीरा रखा हुआ है। यद्यपि वह बहुत दूर है और उसके मालिक ने आँखें बन्द कर रखी हैं तथापि वह हीरा ज्ञान में स्पष्ट झलक रहा है; उसके जानने में बीच में आनेवाली बड़ी-बड़ी दीवारें बाधा नहीं डाल सकतीं। हीरे को रखते समय भले ही राग-द्वेष किया हो, किन्तु उसके ज्ञान की स्मृति के समय राग-द्वेष साथ में नहीं आते, इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान में विकार नहीं है। जब उसे याद करना चाहता है तब चाहे जिस क्षेत्र में याद कर सकता है, इसलिए उसे किसी क्षेत्र, काल, संयोग का बन्धन नहीं है। शरीर को कारागार में बन्धन से बाँध रखा हो, फिर कहे कि घर सम्बन्धी, राज्य सम्बन्धी या दूसरी कोई व्यक्तिगत बात को याद नहीं करना, तथापि यदि याद करना चाहे तो याद कर सकता है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा बन्धनबद्ध नहीं है—खुला हुआ है, वह किसी के आधीन नहीं है। बाह्य संयोगी वस्तुएँ बन्धन या मुक्ति उसके कारण से हुआ करती हैं, किन्तु आत्मा को यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो उसे पर से बन्धन या मुक्ति नहीं है।

जो अपने को बन्धन या उपाधियुक्त देखता है, उसे अवस्थादृष्टि से संसार ही है। जिसने अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर ली है, वह तो मुक्त ही है। तू पूर्ण ज्ञानानन्द की मूर्ति और सबका ज्ञाता है। इसे भूलकर यह मानना कि मैं अपूर्ण हूँ, हीन हूँ, या परमुखापेक्षी हूँ, अथवा पर से बद्ध और दबा हुआ हूँ तो यह भगवान आत्मा के लिये कलंकरूप है। बन्धन तो पर की अपेक्षा से और पराश्रयरूप व्यवहार से कहलाता है। यदि स्वाश्रयदृष्टि से देखे तो तुझमें त्रिकाल में भी बन्धन नहीं है।

जीव आँख की कौढ़ी (गटा) से नहीं किन्तु ज्ञान से देखता है। जैसे-यदि आँख पर पट्टी बाँध दी जाए तो दिखायी नहीं देता और जब पट्टी दूर कर दी जाती है तो दूरस्थ पदार्थ दिखायी देने लगते हैं। किन्तु पट्टी का बन्धन पट्टी में है, आँख के लिए बन्धन नहीं है; इस प्रकार यदि पहले पट्टी के पृथक्त्व को न जाने तो पट्टी दूर नहीं की जा सकती; इसी प्रकार आत्मा में कर्म के संयोग से, व्यवहार से राग-द्वेष, अज्ञान का बन्धन अपनी योग्यता से है, किन्तु उसी समय पृथक्त्व स्वभाव की प्रतीति करके असंयोगी, पवित्र स्वभावी दृष्टि का बल (झुकाव) करे तो अवस्था में निर्मल हो जाता है। निश्चय से पर की अपेक्षारूप बन्ध-मोक्ष ध्रुवस्वभाव में नहीं है। वर्तमान विकारी योग्यता, बन्धनरूप संयोग तथा संसार-मोक्षरूप अवस्था, समस्त प्रकारों को जाननेवाला हूँ, ऐसा देखने पर संयोगी एकरूप ज्ञानस्वभाव त्रिकाल अबन्ध ही है, किसी के साथ एकमेक नहीं हो गया है।

कोई स्वयं अपने को भूलकर भले ही यह माने कि कर्मों ने मुझे मार डाला, मैं बँध गया, मैं हैरान हो गया; किन्तु क्षणिक संयोग को जाननेवाला संयोगरूप, दोषरूप या द्विविधारूप नहीं हो जाता। यदि वास्तव में बन्धरूप या पराधीन हो गया हो, उपाधियुक्त या राग-द्वेषी हो गया हो तो क्षणभर को भी उस स्थिति से अलग नहीं रह सकता। एक क्षण पूर्व जैसा क्रोध होता है उसी प्रकार का क्रोध पुनः नहीं कर सकता। जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे किसी भी परिस्थिति में अलग नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाव और आत्मा में ऐसा स्वतन्त्र धर्म है कि कभी भी आत्मा से अलग नहीं होता, और वह किसी में पकड़ा हुआ या बंधा हुआ नहीं है। इसलिए अनन्त गुण स्वरूप आत्मा को शुद्धनय से देखने पर त्रिकाल में भी बन्धन नहीं है।

भगवान आत्मा स्वभाव की महिमा को भूलकर अहंकार का ऐसा घटाटोप करता है कि मैं संसार और शरीरादि के काम कर सकता हूँ, मैं पर की व्यवस्था कर सकता हूँ; और इस प्रकार बाह्यवृत्ति में अति उत्साह और अपना बल बतलाता है। वह अपनी भगवत्ता को भूलकर पुण्य-पाप की विष्टा का आदर करता है, किन्तु उसे यह भान नहीं है कि इस प्रकार तो अविकारी, स्वतन्त्र स्वभाव की हत्या होती है। बाहर से जो पुण्य के घूरे दिखायी देते हैं, सो वह तेरी वर्तमान चतुराई या समान का फल नहीं है। बहुतों को हस्ताक्षर करना तक नहीं आता और बुद्धि का कोई ठिकाना नहीं रहता तथापि वे लाखों रुपया कमाते हैं;

दूसरी ओर अनेक बुद्धिमानों को पच्चीस-पचास रुपया तक नहीं मिलते; इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य वस्तु तेरे आधीन नहीं है। उससे तुझे गुण-दोष नहीं होता। स्वतन्त्र चिदानन्द स्वभाव को देख। जिस स्वरूप को तू समझ सकता है, उसी की बात तुझसे कही जा रही है। यदि पर में एकमेक हो गया हो तो ऐसी ध्वनि नहीं उठ सकती कि बन्धन और दुःख का नाश करूँ। जिससे मुक्त होने की ध्वनि उठे उस पर दृष्टि करे तो ऐसे एकाकी स्वतन्त्र स्वभाव की प्रतीति हो कि मैं बन्धनरूप, पर की उपाधिरूप नहीं है। और उसकी दृष्टि बन्धन से हट जाए। यद्यपि कर्म संयोगवाली अवस्था है तथापि श्रद्धा में निषेध हो गया है, इसलिए एक दृष्टि से मुक्त हो गया है। परमार्थ से बन्धन उपाधि नहीं है, फिर व्यवहार से चारित्र की अपेक्षा से पुरुषार्थ की अशक्तिरूप अल्प अस्थिरता का जो राग रह जाता है, उसकी प्रतीति के बल से अभाव होता हुआ देखता है। मैं त्रिकाल मुक्तस्वभाव हूँ, संयोगरूप या विकाररूप नहीं हूँ; इस प्रकार मुक्तस्वभाव को समझकर स्वीकार करने पर अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ आ जाता है। एकरूप स्वभाव की दृष्टि में स्वयं अनन्त ज्ञानानन्द स्वभाव से पूर्ण पुरुषार्थ भरा हुआ है; उसे स्वीकार करने पर अनन्त संसार टूट जाता है। स्वभाव की प्रतीति में विद्यमान रहकर देखनेवाले को भव दिखायी नहीं देता। और वह यह जानता है कि जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसा ही मैं हूँ, जो उनमें नहीं है, वह मुझमें भी नहीं है।

जैसे—एक डिब्बी में हीरा रखा है, किन्तु वह मुक्त ही है। डिब्बी डिब्बी में, और हीरा हीरे में है। ऐसा मानना वह दृष्टि में मुक्ति, और एकाग्रता से ग्रहण कर लेना सो स्थिरता में मुक्ति है। जैसा कि पिछली गाथाओं में कहा गया है, वैसा आत्मस्वरूप जानकर वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष और कर्म का निमित्त तथा देह का संयोग है तथापि अवस्था को गौण करके, असंयोगी मुक्त ज्ञायकस्वभाव को उसके परमार्थ स्वरूप से देखना, मानना सो वह अपेक्षादृष्टि से मुक्त और स्वभाव के बल से स्थिरता पूर्वक विकार का नाश करने पर मात्र आत्मा रह जाता है, सो चारित्र की अपेक्षा से मुक्त है। जैसे - हीरा डिब्बी से और डिब्बी के संयोग से भिन्न था, इसलिए वह अलग हो सका, उसी प्रकार आत्मा स्वरूप से देहादिक तथा रागादिक से भिन्न था इसलिए उसे भिन्न मानकर और जानकर स्थिरता से अलग-मुक्त हो सकता है।

पहले ही मुक्त हूँ—ऐसे निर्णय का स्वाश्रित बल उस अवस्था में मुक्त होने का

कारण है। अन्तरंगदृष्टि से स्वभाव में एकाग्र होने पर अल्प काल में पुण्य-पाप के विकार से मुक्ति होती है। बाह्य संयोग अपने ही कारण से छूट जाते हैं, यह सब अन्तरंग मार्ग की बात है। लौकिक मार्ग से बिल्कुल भिन्न मात्र अध्यात्म की प्रयोजनभूत बात है। उसमें यथार्थ निश्चय-व्यवहार क्या है, इसका ज्ञान आ जाता है। यह परम सत्य है, इसे समझकर स्वाधीन सत् की शरण में आना पड़ेगा। व्यावहारिक नीति का पालन करे, तृष्णा को कम करे यह सब पाप को दूर करने के लिए ठीक हैं, किन्तु यदि उसमें सन्तोष मान ले तो स्वभाव की शान्ति नहीं मिलेगी। लोग बाह्य में ही धर्म मान बैठे हैं, अन्तरंग तत्त्व क्या है, इसकी उन्हें रुचि नहीं है। पूर्वापर विरोधरहित न्याय से जो वस्तु को जानता है, उसे अन्तरंग से अपना नि:सन्देह निर्णय प्राप्त होता है। त्रिकाल के ज्ञानियों ने परमतत्त्व का सार— समयसार ऐसा ही कहा है, अन्य प्रकार नहीं। जगत माने या न माने, किन्तु यह तीन लोक और तीन काल में बदल नहीं सकता।

आत्मा को बन्धरहित कहने पर यह निश्चय होता है कि वह कर्म से स्पर्शित एवं सम्बन्धित नहीं है। उसका किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी संयोग में परवस्तु के साथ स्पर्श नहीं हुआ है। जिसने घी का घड़ा देखा है किन्तु घी के संयोग से रहित अलग घड़ा नहीं देखा, वह व्यवहार से यही कहता है कि यह 'घी का घड़ा है', तथापि मिट्टी का ही है; इसी प्रकार अज्ञानी ने अनादि काल से देह को ही अपना मान रखा है, उसने असंयोगी भिन्न आत्मा को नहीं देखा, उसने व्यवहार से देहवान-इन्द्रियवान मनुष्यादि को जीव कहा है और वही मैं हूँ, उसकी जो क्रिया है सो मेरी क्रिया है, जो उसके गुण हैं सो मेरे गुण हैं इस प्रकार जिसने मान रखा है, उसे देह से, देह की क्रिया से, रागादि से भिन्न बताने लिए ज्ञानी शुद्धनय का उपदेश देते हैं। देहादिक अचेतन हैं वह तेरे रूप नहीं हैं, तू सदा अरूपी ज्ञाता-दृष्टा है, पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। व्यवहार मिथ्या है, त्याज्य है, लौकिक में फँसकर परिभ्रमण करेगा। देह पर दृष्टि है इसलिए आत्मा बाहर से सब कुछ मानता है। रंकवत् होकर ऐसा मानता है कि यदि कोई मेरे लिए अनुकूलता कर दे तो ठीक हो; और यदि कोई मेरी प्रशंसा करे तो अच्छा हो। यदि कोई चाय पिला देता है या पान खिला दे तो उसका बदला चुकाने के लिए अमुक प्रकार से बोलने लगता है; किन्तु यह नहीं समझता कि मेरा और पर का त्रिकाल में भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

कितने ही लोग समयसार परमागम का विपरीत अर्थ करते हैं, वे भी स्वतन्त्र हैं। वे मूल रकम को (वस्तुस्वभाव को) ही उड़ा रहे हैं। जो कुछ सर्वज्ञ वीतराग ने कहा है, उसी से इन्कार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ एक दृष्टान्त दिया जा रहा है:—

एक ग्राम में एक किसान है जो कि एक वणिक की दुकान से सदा लेन-देन करता रहता है और बारह महीने में अपना हिसाब साफ करता है। जब दुकानदार हिसाब करते समय कहता है कि देखो तुम्हारे यहाँ एक सेर मिर्च गयी है, पाँच सेर नमक गया है, आधा सेर हल्दी गई है; तब वह किसान ऐसी छोटी-मोटी चार-छह रकमों का स्वीकार कर लेता है, किन्तु जब उसे यह बताया जाता है कि तूने पच्चीस रुपये नकद लिये थे और पचास रुपया लड़की की विदा के समय लिये थे जो कि तेरे नाम लिखे हैं। तब वह चौंककर कहता है कि अरे! इन पच्चीस रुपयों की तो मुझे कुछ खबर ही नहीं है और वे पचास रुपये मैंने कब लिए थे? इस प्रकार वह किसान बड़ी और मूल रकम को उड़ाना चाहता है और हायतोबा मचाता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के द्वारा कहे गये न्याय के साथ जब अज्ञानी (किसान) का हिसाब होता है, तब वह (किसान-भगवान आत्मा) अपने को भूलकर इन्कार करता है और मुख्य-मूल रकम को उड़ा देता है। जब यह कहा जाता है कि क्रोध करने से पाप लगता है तो कहता कि सत्यवचन महाराज! इस प्रकार बाह्य व्यवहार की स्थूल बातों में हाँ मिलाता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि राग-द्वेष-मोह तेरा स्वरूप नहीं है, व्यवहार से भी तू पर का कर्ता नहीं है, तब वह कहता है कि भला यह कैसे हो सकता है, यह तो बिल्कुल मिथ्या बात है। अभी तो मैं बन्धयुक्त और पर का कर्ता ही हूँ, रूपी-जड़ जैसा ही हूँ, और इस प्रकार भिन्न स्वभाव का निषेध करता है। कभी-कभी दो-चार व्यवहार की बातों को स्वीकार भी कर लेता है, किन्तु जब कहा जाता है कि जो पुण्य है सो विकार है, व्रतादि के शुभभाव भी आस्रव हैं, उनसे संवर-निर्जरा नहीं होती तब वह चिल्लपों मचाने लगता है। त्रिकाल के ज्ञानियों ने कहा है कि विकार से अविकार नहीं हो सकता; जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से किसी भी अपेक्षा से गुण-लाभ नहीं हो सकता; जब ऐसी न्याय की बात कही जाती है तब वह (अज्ञानी आत्मा) इसे नहीं मानता; सो यह भगवान के बही-खाते का ऋण न चुकाने की बात है।

'धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है'—इस प्रकार बारम्बार रटता है, किन्तु पक्षपात

की दृष्टि को छोड़कर विचार नहीं करता। जगत में मिथ्यादर्शन के समान कोई दूसरा महापाप नहीं है, स्वरूप में विपरीत मान्यता ही अनन्त चौरासी के अवतार का मूल है। सर्वज्ञ कथित नवतत्त्व, निश्चय-व्यवहार और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप मूल रकम है; उसका विपरीत अर्थ करनेवाले और सत्य का निषेध करनेवाले उस किसान की भाँति हैं।

यदि पराधीनता का नाश करके सुखी होना हो तो स्वयं सावधान होकर न्यायपूर्वक निर्णय करो। अपने लिए सत् को स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं। जो देहादि का बन्धन है सो मैं नहीं हूँ, मैं तो बन्धनरहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस मूल रकम को स्वीकार करो। फिर यदि छोटी रकम में भूल होगी तो वह निकल जाएगी। किसी के जवाहिरात की, कपड़े की, और शाक-भाजी की दुकानें हैं, यदि वह शाक-भाजी बिगड़ जाने के भय से उसी दुकान पर खूब ध्यान रखे और उसी में लगा रहे तथा यह न देखे कि कपड़े की और जवाहिरात की दुकान में कितनी क्या हानि हो रही है तो यह योग्य नहीं कहलायेगा। उसे इतनी खबर नहीं है कि यदि जवाहिरात की दुकान पर विशेष ध्यान रखूँगा तो कपड़े और शाक-भाजी दोनों दुकान की हानि की पूर्ति स्वयमेव हो जाएगी। इसी प्रकार आत्मा के मूल स्वभाव को यथार्थरूप में मानना सो जवाहिरात का व्यापार है, उस स्वभाव के लक्ष्य के बाद बीच में व्यवहाररूप राग के भेद होंगे तो पूर्ण स्वभाव की रुचि का बल उसकी हानि की पूर्ति करके मोक्ष प्राप्त करा देगा। जो निश्चयस्वभाव की ओर नहीं देखता वह हानि का खाता खड़ा रखकर अपने प्रिय व्यवहार को मानता हुआ संसाररूपी साग-भाजी का व्यवसाय करता रहता है।

न तो बाहर प्रतिकूलता है और न भीतर; आत्मा में ही प्रतिकूलता, दोष या दुःख है। मात्र बाह्य निमित्ताधीन दृष्टि से पर में अच्छा-बुरा मान रखा है; उसके द्वारा राग में एकाग्र होकर रुक जाना सो बन्धन है। क्षणिक, एक समयमात्र की नयी अवस्था करता है, तब होती है; मैं उतना नहीं हूँ—ऐसी प्रतीति करके स्थिर हो तो विकार दूर हो सकता है। बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं देखनी है, संयोग-वियोग का किसी को सुख-दुःख नहीं है, जितना तृष्णारूपी मोह है उतना ही दुःख है। जीव नव ग्रैवेयक के पुण्य के संयोग में और सातवें नरक के महापाप के संयोग में अनन्त बार गया है। जहाँ तक पर संयोग पर अच्छे-बुरे की दृष्टि है, वहाँ तक अनन्त संसार के मूल को स्वयं पुष्ट कर रहा है; अपने को भूलकर अपने भाव में अनन्त हिंसारूप प्रतिकूलता निज में ही कर रहा है।

प्रत्येक आत्मा अपनेपन से है, कर्म के रजकणरूप, देहादिरूप, देह की क्रियारूप अथवा किसी भी संयोगादिकरूप से त्रिकाल में नहीं है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। मैं पररूप नहीं हूँ, अन्य आत्मारूप नहीं हूँ, निजरूप हूँ, इसलिए पर मुझे हानि-लाभ नहीं कर सकता; इस प्रकार पर से पृथक्त्व मानना सो सम्यक् समझ है।

राग-द्वेष-अज्ञानपोषक देव, गुरु, शास्त्र को आत्मकल्याण में उपकारी मानना सो मिथ्याश्रद्धा है। मिथ्याप्रमाण और मिथ्यायुक्तियों से आत्मा को पर का कर्ता सिद्ध करे और यह माने कि कोई मुझे सुधार या बिगाड़ सकता है, पुण्य-पाप के विकारी भावों से नया बन्ध होता है, उसको मोक्ष का कारण माने, एवं देह की क्रिया को मैं कर सकता हूँ, इत्यादि पराश्रयरूप भाव मिथ्यात्व है।

पराश्रितभाव से पर को अपना मानना सो व्यवहार है। जगत में ऐसा झूठा व्यवहार चल रहा है, वह आदरणीय नहीं है। किन्तु उसे आदरणीय माने और यह माने कि मैं पर का कर्ता हूँ तो वह छोड़ने योग्य व्यवहार ही निश्चय हो गया।

जड़कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते, पर से लाभ-हानि नहीं होती, किन्तु निमित्ताधीन विकारी अवस्था जीव की योग्यता से की जाती है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। शुभराग भी आदरणीय नहीं है, सहायक नहीं है; इस प्रकार पर की ओर के लक्ष्य को छोड़ देना सो सत्य श्रद्धान है। पर से लाभ-हानि मानना, अपने को पर का कर्ता मानना सो स्थूल मिथ्यात्वरूप व्यवहाराभास है।

स्वाश्रित स्वभाव को अपना मानना सो निश्चयनय है। पराश्रित भाव को स्वाश्रित मानना सो निश्चय में भूल है। परलक्ष्य के बिना शुभाशुभ राग नहीं हो सकता। जितने शुभाशुभ राग हैं, वे अशुद्ध भाव हैं। शुभाशुभ भाव को अपना स्वरूप मानना, गुणकारी मानना और करने योग्य मानना सो निश्चयमिथ्यात्व-अगृहीतमिथ्यात्व है। जो विकार को कर्तव्य मानता है, वह अविकारीस्वभाव को नहीं मानता। पूर्ण अविकारीरूप से अपने स्वभाव को मानना सो यथार्थदृष्टि है। उसके बल के बिना त्रिकाल में भी किसी का हित नहीं हो सकता।

प्रश्न : पर के लिए उपकारी होना चाहिए या नहीं ?

उत्तर : कोई जीव पर का उपकार या पर की अवस्था त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। व्यवहार से पर का कर सकता हूँ – यह मानना भी मिथ्या है। स्वयं दया, दान और सेवा के शुभभाव अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि के अशुभभाव कर सकता है, सो तो अपनी ओर का कार्य हुआ, वह किसी के लिए नहीं करता; वह तो अपने को अच्छा लगता है इसलिए राग की चेष्ठा करके पर का आरोप करता है।

प्रश्न : यदि अस्पताल न हो तो रोगी क्या करें ?

उत्तर : जिसका पुण्य होता है, उसके लिए अनुकूल निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जब अस्पताल बनना हो तब वह बने बिना नहीं रह सकता। निमित्त का होना या न होना सो उसके कारण से है। संयोग के मिलने पर भी रोग नहीं मिटता और संयोग प्राप्त न हो तो भी रोग मिट जाता है। किसी वस्तु की अवस्था किसी के आधीन नहीं है, देह का रोग मिट जाने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। जबतक देह पर दृष्टि तब तक अनन्त शरीर धारण करता रहेगा।

यदि दाल-रोटी और रुपया-पैसा इत्यादि के संयोग से सुख होता हो तो असंयोगी आत्मा को कौन याद करता ? नारकी के शरीर में महाभयंकर रोग होते हैं तथापि वहाँ भी आत्मप्रतीति करनेवाला शांति का वेदन करता है। परसंयोग के साथ किसी के गुण-दोष का संयोग नहीं है, किन्तु अपनी विपरीत दृष्टि का आरोपमात्र करता है। देहादिक जड़ पदार्थों को कोई खबर नहीं होती, वे तो अन्ध हैं, उनमें अच्छा-बुरा कुछ नहीं है; ज्ञानस्वभाव में अच्छे-बुरे का भेद नहीं है। बीच में विपरीत श्रद्धा की शल्य को पकड़कर उठाईगीरपने से अच्छे-बुरे, उपकार-अनुपकार की कल्पना करता है, सो यह विपरीत दृष्टि की महिमा है। मैं मुक्तस्वभाव हूँ, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है – यह जानकर निमित्ताधीन दृष्टि को गौण करके स्वभाव की ओर एकाकार लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन का बल है। उसके द्वारा पूर्णस्वभाव को मानना सो सच्ची दृष्टि है, जो कि सर्व समाधानरूप सुख का कारण है।

जो इस आत्मा को पाँच भावों से मुक्त, पूर्ण एकरूप, ध्रुवस्वभावरूप बतलाता है उसे हे शिष्य ! तू शुद्धनय जान। आचार्यदेव ने 'विजानीहि' अर्थात् विशेषरूप से जान, इस प्रकार 'आदेश'-वचन देते हुए कहा है। उसमें जो योग्य बनकर, अपूर्व उत्साहपूर्वक पाँच वचनों से यथार्थस्वरूप सुनने को आया है, वह वापिस नहीं जा सकता, इसलिए उसे 'विजानीहि' कहा है।

व्यवहारदृष्टि, अवस्थादृष्टि, संयोगाधीनदृष्टि, निमित्ताधीनदृष्टि, पराश्रितदृष्टि और वर्तमान स्थूलदृष्टि—यह सब एकार्थवाचक हैं; उसके आश्रय से जीव अनादि काल से अपने को बन्धवाला, हीन, अपूर्ण उपाधिमय और परमुखापेक्षी माना करता है। ज्ञानी उसकी भावनिद्रा को दूर करते हैं। स्वभाव विकार का नाशक है; अविकारी, ध्रुव और पर से मुक्त है, उसे यह शुद्धनय बतलाता है। राग-द्वेष की बन्धनरूप अवस्था है उसमें निमित्त की उपस्थिति है, ऐसा जानना सो व्यवहार है। उसमें शुभाशुभ राग को ठीक माने, आदरणीय माने तो उसके व्यवहार ने ही निश्चय का घर ले लिया है। जैसे सिंह को बिल्ली जैसा कहने पर कोई बिल्ली को ही सिंह मान बैठे तो वह समझने के योग्य नहीं है, इसी प्रकार आत्मा का परिचय कराते हुए वह बीच में शुभरागरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता, किन्तु ज्ञानी का लक्ष्य व्यवहारनिषेधक परमार्थ पर है, तथापि जिसने अनादि के व्यवहार को ही परमार्थरूप मान लिया है वह नहीं समझ सकता।

टीका : निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्मा की जो अनुभूति है, सो शुद्धनय है और यह अनुभूति आत्मा ही है; इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। यहाँ आत्मा को अबद्धस्पृष्टरूप से भिन्न अनुभव करने के लिए व्यवहारदृष्टि को गौण करके, वर्तमान में त्रिकालस्थायी पूर्णशक्ति से अखण्ड ज्ञायकस्वभावी शुद्ध हूँ, ऐसी यथार्थ दृष्टि कही है।

अपने यथार्थ स्वरूप को जानकर, उसमें एकाग्र होकर, अनन्त जीव मोक्ष गये हैं; मोक्ष कहीं बाहर नहीं है; अपनी पूर्ण निर्मल शक्ति को प्रगट करना सो मोक्ष है। जहाँ विकार का नाश होता है, वहाँ जड़कर्म के अभाव की अपेक्षा से मोक्ष हुआ कहलाता है। वस्तुदृष्टि से मोक्ष नया नहीं है, अवस्थादृष्टि से नया है। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तू भी प्रभु है। पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्ति उत्पन्नध्वंसी है। उसके रक्षक स्वभावरूप में तू नहीं है, तू विकार का नाशक है। यदि ऐसा नहीं मानना चाहता तो तू जन्म-मरण को धारण करता हुआ परिभ्रमण करने के लिए स्वतन्त्र है। तुझे बलात् दूसरा कौन समझाये ? जबकि तू समझना ही नहीं चाहता तब तीर्थंकर भगवान की बात भी नहीं मानेगा ? कोई किसी की नहीं मानता। जो अपने को रुचता है उसे ही मानता है। स्वभाव का विश्वास स्वत: जम जाने पर अनन्त जीव मोक्ष गये हैं।

पैंतालीस लाख योजन के विस्तारवाले ढाई द्वीप में एक रजकण के बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ से अनन्त जीव मोक्ष न गये हों। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित नग्न-दिगम्बर मुनि छट्ठे-सातवें गुणस्थान में सविकल्प-निर्विकल्प ध्यान में झूल रहे हों, वहाँ छट्ठे गुणस्थान में आने पर पूर्व भव का शत्रु मिथ्यादृष्टि देव आकर पैर पकड़कर, उन्हें मेरुपर्वत से दे मारे अथवा समुद्र में डुबा दे; तथापि वे वीतराग मुनि स्वभाव में एकाग्रता का बल बढ़ाकर मुक्तदशा को प्रगट कर लेते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे उपसर्ग सहित समुद्र की प्रत्येक बूँद से और एक लाख योजन के मेरुपर्वत के चारों ओर के प्रत्येक भाग से समश्रेणी से ऊर्ध्वगमन करके अनन्त जीव मोक्ष गये हैं। वे वहाँ ध्यान करने नहीं बैठे थे। उपसर्ग देह को होता है। मैं आत्मा चिदानन्द पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ज्ञायक ही हूँ। ऐसी प्रतीति के द्वारा भीतर अनन्त सामर्थ्यरूप शक्ति भरी हुई है, उस पर भार देने से सहज मोक्षदशा प्रगट होती है, क्योंकि द्रव्य स्वयं अकारणीय है, स्वयं ही अनन्त पुरुषार्थरूप है, उसके विश्वास की बलिहारी है। बाह्य प्रतिकूलता से किसी का मोक्ष या गुण नहीं रुकता। जगत की अनुकूलता हो तथापि अपने में स्वयं विपरीत दृष्टि से प्रतिकूल हो तो अपनी विपरीत रुचि के बल से स्वयं ही रुका रहता है। स्वयं तो मूर्च्छित है और दूसरे पर आरोप करता है कि पर मुझे राग-द्वेष और लाभ-अलाभ कराता है, तब वह कब और कैसे सुधरेगा?

यहाँ पाँच भावों से यथार्थस्वभाव को स्वीकार करके, भेद को भूलकर, अबद्धस्पृष्ट की प्रतीति की और स्थूलरूप से विकल्प से पृथक् होकर, स्वाश्रित एकाग्र लक्ष्य से स्थिर हुआ सो उसका नाम शुद्धनय का अनुभव सम्यग्दर्शन है; यही मुक्ति का प्रथम उपाय है। निर्विकल्प सम्यग्दर्शन के समय शुद्धनय के अनुभवरूप से गुण-गुणी के भेद से रहित भगवान आत्मा एकाकार ज्ञात हुआ सो उसे शुद्धनय कहो आत्मानुभूति कहो या आत्मा कहो-एक ही है, भिन्न नहीं है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि अभी अवस्था में विकार है, तथापि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में 'विजानीहि' के अर्थ की सन्धि है। शिष्य की ऐसी तैयारी हो चुकी है कि उसे सुनते ही अन्तरंग में अव्यक्त आनन्द और रोमांच हो जाता है। अहो! यह बात अपूर्व है। प्रभो! आपने जो कहा है सो सच है, किन्तु अनुभूति

कैसे हो ? अपूर्व वस्तु का स्वरूप सुनकर यदि उत्साहपूर्वक प्रश्न उत्पन्न न हो तो उसने या तो सुना ही नहीं है और या फिर उसे विरोध है कि सारे दिन आत्मा की ही चर्चा होती है।

प्रश्न : जो हमने मान रखा है उसे करने की तो बात ही नहीं कहते ? पहले व्यवहार के सुधरने की बात क्यों नहीं करते ?

उत्तर : आत्मा अपने में (भीतर ज्ञान में) सब कुछ कर सकता है, पर में कुछ नहीं कर सकता; इसलिए बाहर का करने को कुछ नहीं कहते। अपने को यथार्थ जाने बिना बाहर की एक भी बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आयेगी; इसलिए दुनिया की चिन्ता छोड़कर चौबीसों घण्टे आत्मा की चर्चा करते हैं। दुनियाँ अपने विरोधभाव को घोषित न करे तो क्या करे ? जिसे जो अनुकूल पड़ा सो दूसरे को बतलाता है। आत्मा को छोड़कर जिसे दूसरा और कुछ सुनना हो - ऐसा मदरसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो एक ही बात डंके की चोट कही जाती है। यहाँ किसी के लिए कुछ नहीं कहना है; कोई सुने, माने या न माने उस पर आधार नहीं है। जो कहते हैं, उसके अतिरिक्त धर्म के लिए कोई प्रथम सीढ़ी नहीं है। यदि इतना नहीं समझेगा तो त्रस की स्थिति पूरी करके अनन्त काल के लिए अनन्त जन्म-मरण धारण करने को एकेन्द्रिय वनस्पति निगोद में चला जाएगा दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी भव धारण करे तो अधिक से अधिक दो हजार सागर की स्थिति होगी - ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उसमें यदि यथार्थ सत् को न समझा तो उत्कृष्ट असंख्यात पुद्गल परावर्तन के अनन्त काल तक एकेन्द्रिय में रहता है। वहाँ सम्पूर्ण शक्ति हारकर महामूढ़ता की आकुलता का वेदन करता है।

निगोद और एकेन्द्रिय के-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के जीव की कायस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट सबकी मिलाकर असंख्य पुद्गलपरावर्तन काल की है। एक पुद्गलपरावर्तन के अनन्तवें भाग में जो काल व्यतीत होता है, उसमें असंख्यात चौबीसी का लम्बा समय हो जाता है। जैसे धागा डली हुई सुई नीचे गिर गयी हो तो वह ढूँढ़ने से जल्दी हाथ आ जाती है, इसी प्रकार यदि एक बार सम्यग्ज्ञानसहित सच्ची दृष्टि प्राप्त की हो और फिर भूल हो जाए तो अल्प काल में आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु यदि दो इन्द्रिय से जैसे-तैसे मनुष्य हुआ, और तब भी आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं की, धर्म के नाम पर कदाग्रह में लगा रहा और सत्य का अनादर किया

तो त्रस की स्थिति पूर्ण होकर एकेन्द्रिय में जाना पड़ेगा। यदि पुण्य की अधिक स्थिति होगी तो भी नहीं बचा सकेगा, क्योंकि त्रस में रहने की अल्पस्थिति व्यवहार है और निगोद में अधिक लम्बी स्थिति होने से अशुद्ध निश्चय है। अविरोधीरूप से तत्त्व को जानकर सत् का आदर किया तो सत् की आराधना में फल मोक्ष और सत् की चिन्ता न की तो विराधना का फल निगोद है। बीच में त्रस का अल्प काल व्यवहार में जाता है। सिद्ध भगवान प्रतिसमय अनन्त-आनन्द के अनुभव का संवेदन करते हैं, और इससे विपरीत निगोद में सिद्ध प्रतिसमय अनन्त आकुलतारूप मूर्च्छा का संवेदन करता है। वहाँ नरक से भी अनन्त गुना अधिक दु:ख है।

अनन्त काल में महामूल्य मनुष्य भव प्राप्त किया तब भी सीधा होकर, तत्त्व का आदर करके, भव की शंका को दूर करके नि:सन्देह न हुआ तो उसने जो कुछ माना अथवा किया वह सब स्वभाव से विरोधरूप है। जिसे अभी भव की शंका बनी रहती है, जिसके ज्ञान में यह बात नहीं जमती कि स्वभाव की स्वीकृति में अनन्त सुलटा पुरुषार्थ होता है, वह भगवान की वाणी को समझने की शक्ति कहाँ से लायेगा ? भीतर स्वभाव का लक्ष्य करने पर अनन्त सुलटा पुरुषार्थ और भव का अभाव होता हे, ऐसी प्रथम श्रद्धा की बात भव की शंकावाला व्यक्ति नहीं सुन सकता, वह इन्कार करता है। सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि अनन्त पुरुषार्थ से मोक्ष हो सकता है; तब यह कहता है कि मुझसे पुरुषार्थ नहीं हो सकता; भगवान ने देखा होगा तब होगा; ऐसा कहनेवाला मानों तत्त्व का विरोध करके भगवान को गाली देता है। स्वभाव की श्रद्धा बिना जितना तर्क होता है, सो सब विपरीत है।

तत्त्व की बात समझने योग्य है। जो समझना चाहे वह समझे, और जिसे रुचे वह माने; सत् किसी व्यक्ति के लिए नहीं है। सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्, सत् पर अवलम्बित है। सत् को किसी की चिन्ता नहीं होती। त्रिकाल में किसी ने किसी का न तो कुछ सुना है और न कोई किसी को कुछ सुनाता है, सभी अपने भाव में अपनी रुचि के गीत गाते हैं। रुचि का खुला निमन्त्रण है; जिसे जो अनुकूल पड़े सो मानता है।

आचार्यदेव यह बात किससे कहते हैं ? जो समझनेवाला है सो तो समझेगा ही; जड़ को तो कुछ समझना नहीं है; और जो मनरहित पशु हैं, वे वर्तमान में कुछ नहीं समझ सकते। लोग कहते हैं कि हमें जो अनुकूल पड़ता है, वैसा ही कहते रहो; किन्तु अफीम

की गोलियाँ मिठाई की दुकान पर नहीं मिलती। कोई कहे कि हम तो अफीम के ग्राहक हैं, इसलिए हमारे लिए थोड़ी-बहुत तो रखनी ही चाहिए; किन्तु हे भाई! तुमने अनन्त काल से अफीम खा रखी है-अनन्त बार बाह्य की बातों में लगे रहे हो।

'व्यवहारे लख दोह्यला, कांइ न आवे हाथ रे;
शुद्धनय स्थापना सेवतां, न रहे दुविधा साथ रे।'

जिसने अमूल्य अवसर प्राप्त करके अपूर्व सम्यग्दर्शन का निर्णय आत्मा में नहीं किया, उसने कुछ नहीं किया। इस जीव ने अनादि काल से इस प्रकार भेदरूप व्यवहार का आश्रय किया है कि कोई अवलम्बन चाहिए, पुण्य के बिना नहीं चल सकता, शुभ करते-करते गुण-लाभ होगा; किन्तु उसके मन में यह बात आज तक नहीं जम पाई कि मैं अकर्ता हूँ, विकार का नाशक हूँ, दूसरे की सहायता के बिना अन्तरंग में से गुण प्रगट होते हैं। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अबद्धस्पृष्ट स्वभाव पहले लक्ष्य में लेना चाहिए। विरोधरहित यथार्थ दृष्टि किये बिना उसका अनुभव नहीं हो सकता।

देह की क्रिया देह की योग्यतानुसार होती है। वह जीव के आधीन नहीं है। पुण्य -पाप या धर्म देह की क्रिया से त्रिकाल में भी नहीं होते, क्योंकि जड़ में यदि कुछ हो तो उससे पृथक् अरूपी तत्त्व को क्या है ? अज्ञानी यह मानता है कि उपवासादि करके शरीर इतना सूख गया है, और इतने हैरान हुए हैं, इसलिए अन्तरंग में अवश्य ही गुण लाभ हुआ होगा; किन्तु वीतरागदेव कहते हैं कि यह बात मिथ्या है। पर से आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होता, जीव अनन्त बार पुण्य की मिठास में लगा रहा है। उससे भिन्न कौन सी वस्तु रह जाती है कि जिसके समझने से भव न रहे, सो वह बात आचार्यदेव यहाँ कहना चाहते हैं।

अवस्था के क्षणिक भेद को गौण करनेवाला शुद्धनय आत्मा को कैसा बतालाता है—

(१) अबद्धस्पृष्ट : वस्तुरूप से शुद्ध। क्षणिक संयोगी वस्तु द्रव्यकर्म है, उसके बन्ध-स्पर्श से रहित, रागादिक संक्लेशभाव से रहित, परद्रव्य के साथ नहीं मिलने योग्य और असंग; इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुरूप से शुद्ध बतलाते हैं। जैसे निर्लेपस्वभाव वाला कमलपत्र होता है।

(२) अनन्य : स्वक्षेत्र से शुद्ध। नर, नारक, देव, पशु के शरीराकार परक्षेत्र से भिन्न

और अपने अरूपी असंख्य प्रदेश से एकमेक है। वर्तमान देहाकारमात्र या उसके विकल्पमात्र जितना नहीं है, उसकी मुझमें नास्ति है, मैं त्रिकाल एकरूप हूँ।

(३) **नियत :** स्वकाल से अभिन्न। वर्तमान क्षण-क्षण में अवस्था बदलती है, उतना नहीं है; किन्तु त्रिकाल स्थायी होने से त्रैकालिक-शक्ति से नित्य, स्थिर, निश्चल, एकरूप ज्ञायकभाव से हूँ। यदि अवस्था भेद पर देखा करे तो विकल्प नहीं टूटता; किन्तु राग की उत्पत्ति होती है। उसमें समुद्र का दृष्टान्त है।

(४) **अविशेष :** स्वभाव से अभेद। वस्तुदृष्टि में गुण-गुणी का भेद नहीं है। सामान्य एकभावस्वरूप ध्रुव हूँ। यहाँ सोने के दृष्टान्त से विशेष समझना चाहिए। इन चार विशेषणों से आत्मा को जाना, जिसका फल नि:सन्देह अनुभव से ज्ञाता होता है।

(५) **असंयुक्त :** वर्तमान क्षणिक अवस्था में, परनिमित्त में युक्त होने से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भावों से भिन्न; पर-पर्याय में सम्बन्धरूप राग-द्वेष की एकाग्रता के संवेदन से मैं मोहकर्म में संयुक्त हूँ, इस प्रकार बन्धभाव से बँधा हुआ था; उस संयोगाधीन दृष्टि को स्वलक्ष्य के द्वारा तोड़कर मैं पररूप-रागरूप नहीं हूँ, इस प्रकार त्रिकाल निर्मल एकाकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर पूर्ण असंग ध्रुवस्वभाव का मन्थन करके स्वभाव में एकाग्र दृष्टि का बल देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आंशिक स्थिरतारूप निर्मल पर्याय प्रगट होकर भूलरूप और विकाररूप अवस्था का नाश होता है। मैं त्रिकाल एकाकार अखण्ड ज्ञायक हूँ, इस प्रकार शुद्धनय के बल से अपनी अबद्धस्पृष्टता अनुभव में आती है।

शुद्धनय का विषय ही सम्यग्दर्शन का विषय है। अबद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से शुद्ध आत्मा ऐसा है यों कहते ही पात्रता से ग्रहण करनेवाला शिष्य अन्तरंग से प्रफुल्लित होकर उसके अनुभव के लिए प्रश्न करता है।

(यहाँ उत्तमबोध अपूर्व देशनालब्धि के द्वारा ग्रहण करनेवाले भव्य उपादान और सत् का कथन करनेवाले साक्षात् ज्ञानी निमित्त की अलौकिक संधि की गयी है।)

हे भगवान! आपने जो ऊपर कहा है, उसे लक्ष्य में लिया है, गम्भीरता से सत् का आदर किया है, अब मैं वहाँ से पीछे हटनेवाला नहीं हूँ, किन्तु उसकी अनुभूति कैसे होगी? आपने कहा है कि पर के बन्ध-स्पर्श से रहित, पुण्य-पाप की आकुलता के वेदन

से रहित, ऐसा पवित्र पूर्ण वीतराग स्वभावी हूँ; यह बात अन्तरंग में जम गयी है, मात्र उस एक का ही आदर है, किन्तु वर्तमान अवस्था में देहादि का संयोग और उसमें युक्त होने से आकुलता का वेदन होता है, उससे भिन्न सिद्ध भगवान के समान क्यों कर अनुभव किया जाए? यद्यपि अवस्था में संयोग है तथापि अबन्ध का अनुभव करने की कौन सी रीति है, उस अपूर्व अनुभव के लिए पूछता है।

इसमें अनेक न्याय निहित हैं। (१) संसार की तुच्छता और मात्र मोक्षस्वभाव की ही उत्कृष्टता मानकर उसका आदर किया है; (२) उसी को प्राप्त करने की तैयारी है; (३) आपने जो ऊपर कहा है तदनुसार मैंने वस्तु का लक्ष्य किया है - उसकी स्वीकृति; (४) आपने जिस भाव से कहा है, उसी भाव से समझा हूँ, उसमें कोई अन्तर नहीं है; (५) आपने सत्य ही कहा है। पुरुषप्रमाण से वचनप्रमाण होता है, ऐसा मैंने अपने ज्ञान से निश्चित किया है। यह बात पहले अनन्त काल में नहीं सुनी थी ऐसी अपूर्व है; जबकि यह बात ऐसी जम गयी तभी तो आगे बढ़कर अन्तरंग अनुभव के लिए प्रश्न करता है, वहाँ दूसरा कुछ स्मरण नहीं करता। (अनन्त बार ग्यारह अंग और नव पूर्व का पठन किया, तीर्थंकर भगवान के निकट जाकर श्रवण किया तथापि आत्मा समझ में नहीं आया। अनन्त बार वापिस हुआ ऐसी बात याद नहीं करता, रुक जाने की बात नहीं करता।)

जिस प्रकार आचार्यदेव अप्रतिहत भाव से मोक्ष की बात करते हैं, उसी प्रकार अप्रतिहत भाव से हाँ कहनेवाला शिष्य है, इसलिए दोनों एक ही प्रकार के हो गये। बीच में रुकने की कोई दीवार नहीं रखी। उपरोक्त पाँच विशेषणों रूप आत्मा का स्वरूप गुरु के निकट से सुना, फिर अन्तरंग में विचार करने मेल करने के लिए अनादिकालीन संसार-चक्र को बदलने के लिए सम्यग्दर्शन की बात पूछता है।

अनादिकालीन नियम है कि एक बार यथार्थ सत्समागम से प्रत्यक्ष ज्ञानी की वाणी कान में पड़नी चाहिए, फिर उसी भव में अथवा दूसरे भव में अपने आप तत्त्व-मनन से जागृत होता है, किन्तु प्रथम गुरुज्ञान के बिना अकेला शास्त्रों को पढ़े अथवा किसी से सुने या कल्पना करे तो तत्त्व समझ में नहीं आ सकता। इस श्रवण को शास्त्रीय भाषा में देशनालब्धि कहते हैं।

अनादि काल की निमित्ताधीन दृष्टिमय अविवेक को बदलकर त्रिकाल स्थायी

ध्रुवस्वभाव की ओर देख, तो भूतार्थदृष्टि के द्वारा क्षणिक विकार का नाश हो जाएगा। विकार के समय संयोग और निमित्ताधीन विकार से तू अलग न हो तो पृथक्त्व नहीं जाना जा सकता, और विकार दूर नहीं किया जा सकता। जो दूर नहीं होता वह स्वभाव कहलाता है, इसलिए विकार और संयोग की तुझमें नास्ति है, इसलिए उससे भिन्न आत्मा की अनुभूति हो सकती है।

जैसे कमलपत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जलस्पर्शरूप वर्तमान अवस्था से अनुभव करने पर, जल के संयोग की ओर निमित्ताधीन दृष्टि से देखने पर वर्तमान अवस्था में वह कमलपत्र जल को स्पर्श कर रहा है—यह बात व्यवहार से सत्य है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलपत्र के निर्लेप स्वभाव के निकट जाकर देखने पर कमलपत्र को कुछ ऊपर उठाकर देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह किंचित्मात्र भी जल को स्पर्श नहीं कर रहा है। कमलपत्र को पानी के संयोग की ओर की व्यावहारिक बाह्यदृष्टि से देखने पर जलस्पर्श यथार्थ प्रतीत होता है, किन्तु उसके निर्लेप स्वभाव के निकट जाकर देखने पर अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से कमलपत्र का स्वभाव देखने पर वह अस्पर्शी स्वभाववान है, ऐसा दिखायी देता है। जल का संयोग होने पर भी कमलपत्र तो अपने स्वभाव से कोरा ही है, किन्तु यदि उसके निकट जाकर देखा जाए तो वह सभी को कोरा ही दिखायी देगा। इसी प्रकार आत्मा अबद्धस्पृष्टरूप से पृथक् ही है, किन्तु यदि उसके निकट होकर देखा जाए तो सबको वैसा ही प्रतीत होगा। वर्तमान संयोगाधीन दृष्टि से देखने पर व्यवहार से पर्याय में बन्धन-संयोगभाव है, तथापि मूल असंयोगी स्वभाव से, पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य ऐसे आत्मस्वभाव के निकट जाकर एकाग्र अनुभव करने पर, पर से बन्धनभाव-संयोगभाव अभूतार्थ प्रतीत होगा।

वर्तमान कर्म की संयोगरूप क्षणिक अवस्था को गौण करके अपने त्रिकालस्थायी पूर्ण स्वभाव को मानना, जानना और उसमें स्थिरता करना, एवं इस प्रकार स्वाश्रित दृष्टि से पूर्ण असंग स्वभाव की श्रद्धा करना सो अनन्त जन्म-मरण के नाश करने का और पूर्ण पवित्रता को प्रगट करने का प्राथमिक उपाय है।

लकड़ी का छोटे से छोटा टुकड़ा चाहे जैसे पानी में तैरता है, डूबता नहीं। जब उसी लकड़ी के रजकण लोहे की अवस्था में थे तब ऐसा लगता था कि कभी तैर नहीं सकेंगे,

किन्तु पर्याय के बदल जाने पर पानी में तैरने का स्वभाव (जो लोहे की अवस्था में अप्रगट था) प्रगट होता है। तैरने की जो शक्ति रजकण में थी वही प्रगट हुई है। यह तो मात्र एक दृष्टान्त है। जड़ रजकणों को अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं होता, किन्तु आत्मा सदा ज्ञानस्वभाव, मोक्षस्वभावी है, उसमें अवस्था में विकार है, किन्तु उस विकार का नाशक और गुण का रक्षक मुक्तस्वभाव सदा विद्यमान है। पुद्गल परमाणुओं में स्वतन्त्रता से बन्धन-मुक्तरूप होने की शक्ति सदा अपने (परमाणुओं के) आधार से है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि गुण सदा एकरूप स्थिर रहकर पर्याय अनन्त प्रकार से बदलती रहती है। उसकी क्रमबद्ध (नियमित) पर्याय की व्यवस्था करनेवाला पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र है। उस पुद्गल की तथा देहादि की पर्याय को मैं बदलता हूँ, अथवा मेरी प्रेरणा से ऐसा होता है, ऐसा माने और यह माने कि उसका कर्ता कोई ईश्वर है तो कहना न होगा कि उसे प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता की खबर नहीं है।

यहाँ यह निश्चय कराना है कि प्रत्येक आत्मा अपनेरूप से स्वतन्त्र है, और अपने गुण-पर्यायरूप से ही है, पररूप से नहीं है। अपने में निमित्ताधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है, उस विकारी जितना ही आत्मा नहीं है। कर्म का संयोग और वियोग जड़ की पर्याय है, उसके साथ वर्तमान क्षणिक पर्याय का संयोग है, तथापि भिन्न-भिन्न स्वभाव से देखने पर अपने स्वभाव की स्वतन्त्रता दिखायी देती है।

यदि रजकण को वर्तमान लोहे की पर्यायरूप ही देखें तो पानी में डूबने योग्य है, इसी प्रकार आत्मा को संयोगाधीन वर्तमान अवस्थापर्यन्त ही देखें तो वह बन्धनवान है, सो सत्य है। जैसे लकड़ी का स्वभाव त्रिकाल पानी पर तैरने का है, उसी प्रकार आत्मा रजकणों से भिन्न रागादि के नाशक स्वभाववाला है। किन्तु वर्तमान पर्याय में (लोहे की भाँति-अज्ञानदशा में) भव में डूबने की योग्यतावाला है, किन्तु मैं उस रागादि से तथा पर से भिन्न हूँ, हीन या उपाधिवाला नहीं हूँ; इस प्रकार स्वलक्ष्य से स्वभाव को माने तो वह शुद्ध ही है, कर्मों से भिन्न ही है।

मैं पर से भिन्न हूँ, स्वतन्त्र शक्तिरूप हूँ, ऐसे स्वभाव को न माननेवाले का अवस्था में संयोगाधीनदृष्टि से संसार में परिभ्रमण करना सत्यार्थ है। तथापि जिसे पानी किंचित्मात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता, ऐसे कमलपत्र को सैकड़ों वर्ष तक चाहे जितने पानी में डुबा

रखें और फिर उसे चाहे जब निकालकर देखें तो वह वर्तमान में भी वैसा ही कोरा दिखायी देगा जैसा उसका कोरा स्वभाव डूबने से पहले था। इसी प्रकार मैं अज्ञानदशा में पर से बँधा हुआ हूँ, देहादिरूप हूँ, विकारी अवस्था जितना हूँ, इस प्रकार मान्यता की भूल से बन्धनभाव-डूबना मान रखा था; किन्तु असंयोगी ज्ञायकभाव को अलग करके देखें तो रागादिरूप या बन्धनरूप अथवा किसी संयोगरूप में आत्मा का शुद्धस्वभाव कभी भी नहीं गया है।

आत्मा में परवस्तु का त्रिकाल अभाव है, नास्ति है। परवस्तु अपनेरूप में है, आत्मारूप नहीं है। रूपी जड़ परमाणुओं में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इत्यादि गुण और कोमल, कठोर, रूखा, चिकना इत्यादि उन गुणों की पर्याय है। वह सब रजकणों का ही स्वरूप है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो उस जड़ को और उसके गुण-पर्यायों को जाननेवला है। अपने को भूलकर दूसरे को अपना मानकर, उसमें राग करके अटक रहा है और उसके फलस्वरूप नरक, निगोद, देव, मनुष्य इत्यादि चौरासी के अवतार धारण करके परिभ्रमण कर रहा है। वह परिभ्रमण (संसार-अवस्था) व्यवहार से सत्य है। किन्तु यदि मूल शाश्वत आत्म-स्वभाव को निश्चयदृष्टि से देखें तो क्षणिक अवस्था के भेद अभूतार्थ हैं। पर्यायदृष्टि से चार गतिरूप जो भवभ्रमण है, सो भ्रम नहीं किन्तु सत्य है, तथापि निश्चय से वह पर्याय आत्मा में त्रिकाल रहनेवाली नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह अभूतार्थ है।

जब तक देहदृष्टि रहती है, तब तक देह से भिन्नता नहीं मानी जा सकती। जब तक पर्यायदृष्टि होती है, तब तक स्वभाव की यथार्थ प्रतीति नहीं होती। पृथक् स्वतन्त्र स्वभाव को नहीं जाना, इसलिए पर को अपना मानकर जीव राग-द्वेष किया करता है। एकमात्र अपना वास्तविक स्वरूप जाने बिना जीव ने अन्य सब कुछ अनन्त बार किया है। तू विकार तथा बंधन के संयोग से भिन्न है, उसकी तुझमें नास्ति है। हे प्रभु! तू पर से किंचित्मात्र भी स्पर्शित बद्ध अथवा दबा हुआ नहीं है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि के बल से संसार से पार होने का पारायण प्रारम्भ होता है। एकबार तो उत्साह पूर्वक हाँ कह! जिस भाव से अनन्त जीव त्रिलोकीनाथ-प्रभुपद को प्राप्त हुए हैं, पूर्ण हुए हैं, वैसा ही मैं हूँ। और वैसे ही भाव को घोषित करता हूँ कि मुझमें पूर्ण मुक्त-सिद्धस्वभाव वर्तमान में है, मैं सिद्ध परमात्मा की जाति का ही हूँ, वर्तमान में भी सिद्धसमान परिपूर्ण हूँ; ऐसे पूर्ण स्वभाव के बल से मैं वर्तमान भेद को नहीं गिनता। पुद्गल से किंचित् मात्र भी स्पर्शित नहीं हूँ—यह

उनकी बात नहीं है जो केवली भगवान हो गये हैं, किन्तु केवली होने के लिए प्रथम सम्यग्दर्शन करने की बात चल रही है और उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की अपूर्व रीति कही जा रही है।

तीन लोक और तीन काल में कोई किसी का हित अथवा अहित नहीं कर सकता। सब अपनी-अपनी अनुकूलता को लेकर अच्छे-बुरे भाव ही कर सकते हैं। कोई किसी की पर्याय को कर दे अथवा जैसी प्रेरणा करे वैसा हो, ऐसी पराधीन कोई वस्तु जगत में नहीं है। वीतराग के मार्ग में प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता की स्पष्ट घोषणा है। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से है और पर की अपेक्षा से नहीं है, तथा पर में कर्ता-भोक्तारूप भी नहीं है। इस प्रकार जिसने माना है, उसे पर में अपनापन मानकर, राग-द्वेष में अटकना नहीं होता, अर्थात् उसे अपने में ही देखना होता है; इसमें अनन्त परवस्तुओं के साथ कर्तृत्वभाव का अनन्त राग दूर हो गया और जाना कि अरे! अज्ञानदशा में इस बात की मुझे खबर ही नहीं थी; प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपने भावों से अपने को भूलकर अपनी हानि करता है और स्वयं ही पर से भिन्न अपने स्वतन्त्र स्वभाव को जानकर अपना सुधार कर सकता है। प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वतन्त्र स्वरूप बतानेवाले वीतराग सर्वज्ञ ही हैं, और ऐसे स्वरूप को स्वीकार करनेवाले भी वीतराग सर्वज्ञ के समान ही हैं, या होनेवाले हैं।

धर्म का अर्थ है ज्ञानानन्दरूप आत्मा की वस्तु-अपना स्वभाव, स्वतन्त्रभाव, जो कि सदा अपने में ही है और अपने आधार से ही प्रगट होता है। शरीरादिक कोई संयोग मेरे नहीं हैं, किसी के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है; इस प्रकार स्वभाव के निकट जाकर अन्तरंगदृष्टि से देखने पर क्षणिक बन्धन-संयोगरूप अवस्था अभूतार्थ है नाश को प्राप्त होनेयोग्य है। हे प्रभु! तू पूर्ण है, मुक्त है; भीतर दृष्टि डालकर देख।

'मारां नयणानी आळसे रे, हेते न दीठा हरि।'

दूसरा सब कुछ भूलकर एकबार स्वभाव के समीपस्थ हो, अन्तरंग स्वभाव को पर से भिन्न लक्षणरूप देखकर उसमें एकाग्र होने पर विकार का नाश होकर, वर्तमान में साक्षात् पृथक्त्व का-मुक्तस्वभाव का अनुभव मुझसे हो सकेगा। अज्ञान में ही अनन्त काल व्यतीत हो गया, अब स्वादहीन-पुरुषार्थहीन बात को कदापि न सुनना। वस्तुस्वभाव जैसा यह कहा है वैसा ही है, इसमें शंका है ही नहीं। यह समयसार (शुद्धात्मा) की बात जम जाए

और अशुद्धता दूर न हो, मोक्ष प्राप्त न हो, ऐसी बात ही आचार्यदेव के पास नहीं है। सुननेवाले पात्र जीव और सुनानेवाले सन्त-मुनि दोनों को एक ही कोटि में रखा है। सत् की बात सुनकर तेरी प्रभुता तुझे स्वत: जम ही गयी है, जैसा मैं कहता हूँ, वैसा ही है।

चलते-फिरते प्रगट हरि* देखूँ रे,
मेरा जीवन सफल तब लेखूँ रे;
मुक्तानंद का नाथ बिहारी रे,
शुद्ध जीवन है डोरी हमारी रे।

जो राग-द्वेष-मोहरूपी पापों के समूह को हरता है ऐसा भगवान आत्मा हरि है। स्वभाव में ही प्रभुता को देखनेवाला सबको प्रभुरूप ही देखता है। उसकी दृष्टि में प्रभु होने के लिए अपात्र कोई है ही नहीं। और अज्ञानी जीव जिसकी दृष्टि देहादिक परपदार्थों पर है वह सबको हीन, अपात्र या पराधीन देखता है। मैं भी अपात्र और तू भी अपात्र है, इस प्रकार स्वयं ही बात जम गयी है, जिसका दूसरे में भी आरोप करता है, दूसरे को अपने समान ही मान लेता है। ज्ञानी चलते-फिरते सबको परमात्मा के रूप में ही देखता है, क्षणिक अवस्था के विकार को स्वभाव की दृष्टि में मुख्य नहीं करता। मैं प्रभु हूँ और तू भी प्रभु है, तथा सभी आत्मा प्रभु हैं; इस प्रकार रात-दिन चैतन्य-भगवान के ही गीत गाया करता है।

भगवान चिदानन्द मुक्तस्वभावी आत्मा बन्धन-संयोग से त्रिकाल भिन्न है, उस पूर्ण पवित्र साध्यस्वभाव को ही निरन्तर स्वाश्रय से देखता हूँ। वह शुद्धदृष्टि स्वसाध्य जीवन की परिणति है, जिस स्वतन्त्र परमात्मारूप स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि से ज्ञानी समस्त जगत में सभी प्राणियों को मुक्तानन्दरूप, बन्धन उपाधि से रहित पूर्ण प्रभुरूप ही देखता है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से प्रभु है। पहले तेरी मान्यता में बन्धन दूर होकर पूर्ण प्रभुत्व दिखलायी दे, ऐसी बात कही जा रही है; इन्कार मत करना, स्वीकार ही करना। स्वभाव की प्रतीति सहित स्वरूप में आगे बढ़, पीछे हटने की अथवा रुक जाने की बात बीच में मत लाना।

तू हमारे निकट अन्तरंग अनुभव की बात पूछने को आया है, इसका अर्थ यह हुआ कि तू संसार के किनारे पर तो आ ही गया है; अब इधर-उधर का कुछ दूसरा स्मरण करके

* पापं-अघं हरतीति हरि।

पीछे मत हटना। स्त्री-पुरुष अथवा छोटे-बड़े, शरीर-मुर्दे पर दृष्टि मत डाल, उसे स्व-पर की प्रतीति नहीं है, वह तो केवल अन्ध है। तू देह से भिन्न वर्तमान में ही देहमुक्त है, इससे इन्कार मत कर। देह सम्बन्धी ममता को छोड़कर अपने में अन्तरंगदृष्टि से देख, अपने स्वभाव को स्वीकार करने की शक्ति तुझमें ही है; तेरे मुक्तभाव को दूसरे तो स्वीकार करें और तू न माने तो वह कैसे हो सकता है ?

जब बालक बहुत समय तक खेलता-कूदता रहता है, तब माता का ध्यान नहीं होता, किन्तु जब वह थककर माता के पास आता है, तब माता गीत गाकर उसे सुला देती है; इससे विपरीत तू अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा था तब तुझ पर हमारी दृष्टि नहीं थी, किन्तु (आचार्य कहते हैं कि) जब हमारे स्वरूप में समाविष्ट हो जाने का और विकल्पों को तोड़कर स्थिर होने का अवसर आया और तू संसार के भ्रमण से थककर हमारे पास आया है, तब दूसरा सब कुछ भूलकर हमारे अनुभव को समझ ले; सबसे पहले डंके की चोट एक बात सुन ले कि तू ज्ञायकस्वरूप है, मुक्त ही है; तू अपने स्वतन्त्र स्वभाव को स्वीकार कर। (संसार में माता बालक को सुलाती है, किन्तु यहाँ आचार्य मुक्त होने की बात कहकर अनादि काल से निद्रा में पड़े हुओं को जगाते हैं।)

कोई कहता है कि जीवनभर तो संसार के विविध कार्यों में लगे रहे, अब क्या कुछ ही क्षणों में समझ सकेंगे ? क्या सभी इस बात को समझ लेते होंगे ?

समाधान : जो-जो समझने के लिए तत्पर हुए हैं, उन सबकी समझ में अवश्य आया है, त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि स्वरूप समझ में नहीं आये। जिसे अपनी चिन्ता नहीं है, सत् के प्रति रुचि नहीं है; वह दूसरे के गीत गाता है और ऐसी शंका करके कि हमारी समझ में नहीं आयेगा, पहले से ही समझने का द्वार बन्द कर देता है।

यह स्थूल शरीर है, इसके भीतर आठ कर्मों की सूक्ष्म रज भरी हुई है, जो कि परमाणु है। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय रूपी हैं, अचेतन हैं; और तू सदा अरूपी भगवान चैतन्यरूप है, इसलिए उससे सदा भिन्न स्वभाव है। पानी और कंकड़ एक क्षेत्र में एकत्रित रहने पर भी कंकड़ पानीरूप अथवा पानी कंकड़रूप में कदापि परिणत नहीं होता; इसी प्रकार आत्मा और शरीर अनादिकाल से एक क्षेत्र में रहने पर भी भिन्न ही हैं। एक बार पृथक् चैतन्यस्वभाव के निकट आकर अन्तरंगदृष्टि से देख और श्रद्धा कर; यही सम्यग्दर्शन

है। मुक्तस्वभाव को स्वीकार करके आन्तरिक उत्साहपूर्वक सत् का आदर किया कि यही श्रद्धा मोक्ष का बीज है। स्वप्नदशा में भी वही विचार, उसी का आदर और उसी के दर्शन होते रहते हैं।

अेनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे
तेनुं मन न चढ़े बीजे भामे रे।

भव धारण करने का भ्रम दूर हो गया, यह तो चैतन्य स्वयं जागृत होकर घोषित करता है, उसका निर्णय करने के लिये किसी के पास पूछने को नहीं जाना पड़ता।

सर्व प्रथम इसी दृष्टि से इस बात का प्रारम्भ किया है कि तू शुद्ध परमात्मा है। पराश्रयरूप भेद को भूलकर मुक्तस्वभाव को स्वीकार कर और उस दृष्टि पर भार देकर उसके गीत गाता रह। अनादिकालीन भ्रम को दूर करने का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। स्वभाव के लिए किसी बाह्य साधन की त्रिकाल में भी आवश्यकता नहीं होती। जैसे अनादिकालीन अन्धकार को दूर करने के लिए फावड़ा, संबल और सूप इत्यादि साधन काम नहीं आते, किन्तु उसके लिए एकमात्र प्रकाश आवश्यक होता है; इसी प्रकार आत्मा के अनादिकालीन अज्ञान-अन्धकार को दूर करने के लिए कोई बाह्य परिश्रम नहीं करना पड़ता, किन्तु जहाँ सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट हुई कि वहाँ अनादिकालीन अज्ञानान्धकार एक क्षण भर में नष्ट हो जाता है।

गाय के गले में रस्सा बाँधकर यह कहा जाता है कि 'गाय का गला बाँध दिया', किन्तु गला अपने में है और रस्सा रस्से में है, इस प्रकार दोनों पृथक् ही हैं। इसी प्रकार कर्म के परमाणुओं का और देह का संयोग उसकी अवस्था के समय एक क्षेत्र में उसके कारण से संयोगभाव से रह रहे हैं। वे अमुक काल की मर्यादा से आते हैं और जाते हैं। वे आत्मा के साथ एकमेक होकर नहीं रहते। आत्मा सदा अपनेरूप में है, जड़-देहादिक रजकणरूप त्रिकाल में नहीं है। जो वस्तु ही अपने में नहीं है वह न तो अपने को दबा सकती है और न कुछ हानि-लाभ ही कर सकती है।

गाय के गले में जो रस्सा बँधा हुआ है, वह गले के वर्तुल में अधिक चौड़ा है, यदि गाय अपने गले की ओर दृष्टिपात करे और अपने छूटने का विचार करे तो ज्ञात हो कि— अरे! मेरे गले से तो यह रस्सा अधिक चौड़ा है; और इस प्रकार प्रथम विश्वास करे तो फिर

रस्से के बीच से गर्दन को निकालकर गाय मुक्त (खुली) ही है, और वह रस्से से अलग हो सकती है। जब तक उसे भान नहीं था तब तक वह अपने को बँधा हुआ मानती थी; इसी प्रकार मैं बन्धन से मुक्त हूँ, इतना यथार्थ विचार करनेवाला आर्य (ज्ञाता) हुआ है, उसके कर्म का दृढ़ बन्धन नहीं रहता; यदि दृढ़ बन्धन हो तो ऐसे विचार को अवकाश ही नहीं रहता कि मैं ऐसा स्वतन्त्र हूँ। जो सत् को सुनने के लिए तैयार होकर आया है, उसके बन्धन कठिन नहीं हो सकते; उसकी परमुखापेक्षिता दूर हो जाती, खाने-पीने की और रोगादि का झंझट मिट जाता है, और अशरीरी हो सकता है—ऐसी यह बात है।

पानी के महा प्रवाह के बीच रहनेवाला लकड़ी का छोटा सा टुकड़ा भी पानी में तैरने का अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मैं चैतन्य अपने जानने का स्वभाव क्यों छोड़ूँ? लकड़ी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है, किन्तु उसका निर्णय करनेवाला और सबके स्वभाव को जाननेवाला चैतन्यस्वरूप आत्मा है। पहले स्वभाव के निकट जाकर अपनी मान्यता को बदल। दूसरे के झगड़े-झँझट में उत्साह दिखाता है, किन्तु अपने स्वभाव की चिन्ता नहीं करता और प्रभु होकर तू अपनी महिमा का अनादर करता है; यह तो ऐसी कहावत हुई कि 'घर में नहीं है, चून चने का ठाकुर बड़ीं करावें, मुझ दुखिया को लहँगा नहीं, कुतिये झूल सिलावें।'

देहादि संयोग के भेद तुझरूप नहीं हैं। जो निजरूप नहीं है उसे अपना मानने से चौरासी का अवतार होता है। जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अनेक आकाररूप अन्यत्व भूतार्थ-सत्यार्थ है, तथापि सर्वत: अस्खलित (सर्व पर्याय भेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले ऐसे) सतत माटीपन के एकाकार स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। मिट्टी को अनेक आकार में देखने की दृष्टि छोड़कर सामान्य माटीपन को देखने पर घट इत्यादि सभी अवस्थाओं में एकाकार मिट्टी ही प्राप्त दिखायी देती है। इस प्रकार आत्मा को मनुष्य, देव, नारकी और पशु इत्यादि अनेक पुद्गल के आकार से देखे तो विविध प्रकार की भिन्न-भिन्न अनेक अवस्थाएँ संसार-दशा में होती हैं, वे अनेक पर्यायों के भेद व्यवहार से सत्यार्थ हैं। चौरासी के अवताररूप विभाव व्यंजनपर्याय और निमित्ताधीन अनेक देहों के आकार की भाँति आत्मा का आकार छोटा-बड़ा होता है, जो कि व्यवहार से सत्य है।

जब कोयला जलाया जाता है, तब उस कोयले के ही आकार में अग्नि हुई कहलायेगी, इसी प्रकार जीव छोटे-बड़े शरीर का संयोग प्राप्त करके क्षण भर में बड़े हाथी के आकार का हो जाता है और क्षण में सूक्ष्म चींटी के बराबर हो जाता है, तथापि उस प्रत्येक पर्याय में असंख्यात आत्मप्रदेश एक से ही हैं।

जैसे मिट्टी नित्य एकाकार है वैसे ही चैतन्यस्वभाव स्वक्षेत्र से नित्य अभेद एकाकार है। उस स्वभाव के निकट जाकर एकाकार दृष्टि से देखने पर नर, नारकी इत्यादि अशुद्ध पर्याय के अनेक भेद अभूतार्थ हैं। अनेक शरीर में स्त्री, पुत्र, मित्र या शत्रु आदिक अनेकत्व की, अच्छे-बुरे भेद की दृष्टि रखकर देखें तो राग-द्वेष दूर नहीं हो सकेगा, क्योंकि वर्तमान पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। देहादिक आकार में या बाह्य संयोग में कुछ भी अच्छा-बुरापन नहीं है, किन्तु अज्ञानी कल्पना करता है। पिता यह मानता है कि मेरे दो पुत्र मेरी दोनों आँखों के समान ही हैं, किन्तु जो आँख सड़ जाती है, उसे तो निकलवा भी देते हैं; वहाँ आँख को समान नहीं मानता, तथा एक के निकलवा देने पर दूसरी को नहीं निकलवा देता; इसी प्रकार पुत्र के प्रतिकूल हो जाने पर अन्तर हो जाता है। देह पर दृष्टि रखकर कोई भी पर में समानता स्थापित नहीं कर सकता। अन्य आकार पर दृष्टि का होना सो क्षेत्रदृष्टि है, स्थूलदृष्टि है। मैं शरीरादिक पर को समान रखूँ ऐसा माने, किन्तु उस पुद्गल की पर्याय तो उसके कारण से ही होती है; इसलिए पहले संयोगी क्षेत्ररूप देह की दृष्टि को छोड़। एक चैतन्य चारों ओर से अपने क्षेत्र में अस्खलित है। कोई पर आकार से या परक्षेत्र के संयोग से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होता हुआ वह ऐसा शाश्वत टंकोत्कीर्ण है, ऐसे एकरूप चैतन्याकार आत्मस्वभाव के निकट जाकर एकाकार दृष्टि से देखने पर अन्यत्व अभूतार्थ है। परक्षेत्र की मुझमें त्रिकाल नास्ति है, इसे जानना सो यथार्थदृष्टि है।

कोई भी आत्मा शरीर की कोई भी क्रिया नहीं कर सकता। शरीर की एक अँगुली को हिलाना भी आत्मा की सत्ता की बात नहीं है। जड़वस्तु अपने ही कारण से स्वतन्त्र रहकर अपनी योग्यतानुसार पर्याय बदलती है, और आत्मा उसी समय वैसा करने का भाव करता है, इसलिए लोगों को ऐसा भ्रम हो गया है कि वह क्रिया अपनी (आत्मा की) इच्छा अनुसार होती है। आत्मा अपने में हित-अहितरूप, अच्छा-बुरा भाव कर सकता है, अथवा स्वभाव में अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है, किन्तु पर में एक रजकण को भी

परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है। जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों को भिन्न-स्वतन्त्र समझने पर ही यह बात समझ में आ सकती है।

परमाणु सत् वस्तु है। 'है' इसलिए अनादि-अनन्त स्वतन्त्रतया स्थायी अनन्तशक्तिरूप है। प्रतिसमय जीव, परमाणु इत्यादि प्रत्येक पदार्थ अपनेरूप में स्वाधीन स्थिर रहकर पर्याय बदलता है। लोग पर में कर्तृत्व मानते हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक वस्तु का स्व में कर्तृत्व बताया जाता है। इसमें आकाश-पाताल का या उदय-अस्त का महान अन्तर है।

जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है सो कर्म है, और जो परिणति (अवस्थान्तर होना) है सो क्रिया है। 'क्रिया पर्याय का परिवर्तन' है। भेददृष्टि से कर्ता, कर्म और क्रिया तीन कहे जाते हैं, किन्तु अभेददृष्टि से यह तीनों एक द्रव्य की अभिन्न पर्यायें हैं। प्रत्येक वस्तु अपने में क्रिया करती है, और स्वयं ही कर्ता-कर्मरूप होती है। जो स्वतन्त्ररूप से करता है, सो कर्ता है। कर्ता का कार्य किसी भी समय उससे पृथक् नहीं होता, और ऐसा नहीं होता कि जो उससे न बन सके। जो वस्तु है उसकी पर्याय किसी समय न बदले ऐसा नहीं हो सकता। यह मान्यता त्रिकाल मिथ्या है कि देहादि की क्रिया को मैं कर सकता हूँ, या मेरी इच्छा से वह क्रिया-परिणमन होता है; कोई भी आत्मा पर का कर्ता व्यवहार से भी नहीं है। जड़ की किसी भी क्रिया से आत्मा को हानि-लाभ नहीं हो सकता, तथा परसंयोग के परिवर्तन होने से किसी के पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता।

मेरा हिताहित मुझसे ही है और उसका करनेवाला मैं ही हूँ, इस प्रकार पहले स्वतन्त्रता का निश्चय होने के बाद अपने विपरीत पुरुषार्थ से वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, सो मेरा स्वरूप नहीं है। मैं त्रिकाली हूँ, वह क्षणिक है; मैं उस विकारी वृत्ति का नाशक हूँ, अविनाशी असंग हूँ; ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों से वर्तमान में पूर्ण हूँ। इस प्रकार स्वाश्रित दृष्टि से स्वभाव के बलपूर्वक वर्तमान पर्याय का लक्ष्य गौण करके अखण्ड स्वभाव पर लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन का उपाय है।

त्रैकालिक अस्तिस्वभाव का मंथन करना और उसमें एकाग्रतारूप से स्थिर होना सो आत्मा की व्यवहारक्रिया है। आत्मा का व्यवहार आत्मा में ही है जड़ में नहीं। पहले रागमिश्रित विचार से इतना निर्णय करने के बाद स्वभाव में एकाग्र होने पर विकल्प टूटकर

आत्मा में निर्विकल्पता का अनुभव होता है और अपूर्व स्वानुभव प्रगट होता है।

आत्मा का परवस्तु के साथ ज्ञायक-ज्ञेयरूप सम्बन्ध है। संसार अवस्था में पर को अपना मानकर उस निमित्ताधीन लक्ष्य से राग-द्वेष करता है। तब तक जड़कर्मरूप वस्तु साथ में ही विद्यमान है, उसे निमित्त कहा जाता है। यह व्यवहार से कहा जाता है, वास्तव में कोई किसी का कर्तारूप से निमित्त नहीं हो सकता, ऐसा त्रिकाल नियम है।

जीवन भर भले ही ऐसा अभिमान रखा हो कि मैं जड़ का-देह इत्यादि का कार्य कर सकता हूँ; किन्तु जब लकवा हो जाता है, तब मालूम होता है कि शरीर पर मेरा कितना वश चलता है! जब शरीरादिक अपनी इच्छानुसार नहीं चलते तब खेद होता है कि अरे! मुझे कर्मों ने दबा रखा है, कर्मों की भारी प्रबलता है; जब आँख उठाकर देखना कठिन हो जाता है, श्वास नहीं चलती, आंतें और इन्द्रियाँ ढीली हो जाती हैं और मृत्यु के समय घोर वेदना होती है तब स्वभाव की प्रतीति के बिना शरीर को पररूप जाने बिना शान्ति कहाँ से मिलेगी? तूने अपने पृथक् स्वभाव को जाने बिना अनन्त बार बाल-मरण (अज्ञान-मरण) किया है; अब एक बार तो यथार्थ प्रतीति कर कि मैं पररूप नहीं हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ; किन्तु स्वभावरूप हूँ; ऐसी श्रद्धा आत्मा में प्रगट करे तो वही अनन्त गुण और अनन्त सुख को प्रगट करने का मूल है; वही सच्चा संवर और प्रतिक्रमण है। शुद्धनय की दृष्टि के बल से स्वभाव के अस्तित्व में स्थिर हुआ कि उसमें सम्पूर्ण धर्म आ गया।

मैं पुण्य-पाप के विकार का कर्ता हूँ, और वह मेरा कर्म है, तथा परजीव या जड़-वस्तु की क्रिया मैं कर सकता हूँ-इस प्रकार की जो अनादिकालीन महा विपरीत मान्यता थी, उसे छोड़कर अलग हो जाना सो प्रतिक्रमण है। मैं मात्र ज्ञायक हूँ, ऐसे स्वभाव की दृढ़ता का होना दर्शन सामायिक है और उसमें एकाग्र होना सो चारित्र सामायिक है। परावलम्बन के भेद से रहित जितने अंशों में स्वभाव के बल से अरागी-शान्त स्थिरता को बनाये रखा, उतनी यथार्थ सामायिक है।

विकारनाशक ध्रुवस्वभाव के अस्तित्व को दृढ़ करने से विकार का अभाव होता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप को समझे बिना बाह्य प्रवृत्ति में अभिमान (कर्तृत्व) आये बिना नहीं रहता; पर से भिन्न अक्रियस्वभाव ऐसा ही है, यह जाने बिना अनासक्ति, निस्पृहता या निष्कामभाव की बातें भले ही करे, किन्तु स्वतन्त्र स्वभाव की महिमा न लाकर जो निमित्त

पर भार देता है उसके भीतर पर का कर्तृत्व विद्यमान है, क्योंकि उसकी दृष्टि पर के ऊपर है।

कोई कहता है कि—हमने आत्मा को भलीभाँति जान लिया है, किन्तु यह ज्ञान नहीं होता कि अब मुझे संसार में कितने समय तक परिभ्रमण करना पड़ेगा, या मेरे कितने भव शेष हैं! तथा यह भी मालूम नहीं होता कि अरूपी आत्मा पर से भिन्न रहकर अकेला क्या क्रिया करता है! इस प्रकार कहनेवाले ने आत्मस्वरूप को जाना ही नहीं है, किन्तु विकारी भाव को ही आत्मा मान रखा है।

कोई कहता है—पहले बहुत से शुभभाव कर लें बाद में शुद्ध में पहुँच जाएँगे। ऐसा कहनेवाले के मूल कारण में ही भूल है। शुभभाव विकार है, क्षणिक है। जो यह मानता है कि शुभभाव अविकारी, नित्य स्वभाव के लिए सहायक है, उसे आत्मा के गुणों की ही खबर नहीं है। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव होते हैं, किन्तु उन शुभभावों से आत्मा को गुण-लाभ होता है, यह बात त्रिकाल में असत्य है। शुभभाव आत्मा के लिए सहायक तो क्या, उल्टे आत्मा के अविकारी गुणों में विघ्नकर्ता होते हैं। जिस भाव से बन्ध होता है उस भाव से मुक्ति नहीं हो सकती। मोक्ष का कारणभूत सम्यग्दर्शन भी शुभराग से प्रगट नहीं होता। जब तक वीतराग नहीं हो जाता तब तक शुभराग विद्यमान तो रहता है, किन्तु उससे गुण-लाभ नहीं होता।

प्रश्न : पहले तो गुण को विकसित करना चाहिए न?

उत्तर : पहले यह जानना चाहिए कि गुण किसे कहते हैं? बाह्य में कोई प्रवृत्ति करने से, या शुभभाव से गुण-लाभ होता है, यह बात मिथ्या है। भीतर स्वभाव में ही सब गुण अविकारीरूप से भरे हुए हैं। यह मानकर कि इनको बाहर से ही विकसित करूँ तो वे प्रगट होंगे, और इस प्रकार चाहे जैसे शुभभाव करे तो उनसे पुण्यबन्ध होगा, किन्तु स्वाभाविक गुण प्रगट नहीं होंगे। बहुधा यह कहा जाता है कि तत्त्वों का श्रवण-मनन करो, क्योंकि एक बार श्रवण-मनन के बिना समझ में नहीं आ सकता। किन्तु श्रवण-मनन के शुभराग से स्वरूप समझ में नहीं आता। यदि ऐसा चिन्तवन करे कि 'मैं शुद्ध हूँ' तो भी गुण प्रगट नहीं होता, मात्र शुभभाव बँधता है। जब यथार्थ अभ्यास से स्वरूप को पहचाने और मन इन्द्रियों से भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी स्वभाव की श्रद्धा करे तब पवित्रता अंशतः प्रगट होती है

और राग का नाश होता जाता है। यही सामायिक है, और यही चारित्र, तप, व्रत एवं यही धर्म है।

उपदेश सुनने के ओर की वृत्ति भी राग है। उस राग से गुण लाभ नहीं होता, किन्तु निमित्त और राग को भूलकर स्वभाव में अपूर्व रुचि से निर्णय करे अथवा निर्णय के बाद अन्तरंग में एकाग्रता का जितना लक्ष्य स्थिर करे, सो पुरुषार्थ है, क्योंकि उसमें राग नहीं है। यथार्थ परिचय के बाद स्वभाव की ओर लक्ष्य करे तो उसमें राग नहीं है, क्योंकि दृष्टि तो सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव पर ही है।

प्रश्न : उपदेश को निमित्त किस प्रकार कहा जाए?

उत्तर : निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर जब स्वलक्ष्य से यथार्थता को समझे तब देव-गुरु-शास्त्रादि को निमित्त कहा जाता है। शब्द और उसे सुनने का जो राग है सो मैं नहीं हूँ, इस प्रकार भेद के लक्ष्य को भूलकर स्वाश्रित लक्ष्य से स्वभाव में एकाग्रदृष्टि के बल से विकल्प टूटकर स्थिर हुआ और यथार्थ निर्णयपूर्वक स्वानुभव किया तब उपचार से उपदेश और शुभराग को निमित्त हुआ कहा जाता है। वह मात्र निमित्त कहलाता है, प्रेरणारूप निमित्त नहीं कहलाता। अपूर्व प्रतीति करे तो यह कहा जाता है कि उपकारी निमित्त है। स्वभाव में किसी पर-निमित्त को स्वीकार नहीं किया गया है। ज्ञान निज को, निमित्त को तथा वर्तमान अवस्था के व्यवहार को यथावत् जानता है। जानने में किसी का निषेध नहीं है। यह सारी बात भलीभाँति मननपूर्वक समझने योग्य है। यदि कोई मध्यस्थभाव से विचार करे तो स्वयं निश्चय हो जाए कि त्रिकाल में वस्तुस्वरूप ऐसा ही हो सकता है। जो न समझे वह भी स्वतन्त्र है, और जो समझता है उसके आनन्द की बात ही क्या है?

प्रश्न : बाल जीव ऐसा कहाँ से समझ सकते हैं?

उत्तर : सत् को समझने की जिज्ञासापूर्वक जो सत् के निकट आया है, वह बालक नहीं कहलाता।

प्रश्न : आठ वर्ष की आयु से पूर्व साधुत्व प्रगट न होने का क्या कारण है?

उत्तर : उसमें अपना पुरुषार्थ कम है। पहले जब विपरीत पुरुषार्थ किया तभी तो भवबन्ध हुआ है न? जितने बलपूर्वक पहले विपरीत पुरुषार्थ किया उतनी ही अशक्ति वर्तमान अवस्था में रहती है और इसलिए आठ वर्ष की शारीरिक आयु से पूर्व पुरुषार्थ का

प्रारम्भ नहीं कर सकता। इस प्रकार जहाँ-जहाँ रुकने की बात है, वहाँ-वहाँ अपनी अशक्ति ही कारण है। निमित्त तो मात्र ज्ञान करने के लिए है।

प्रश्न : तप का अर्थ क्या है ? या तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'इच्छानिरोधस्तपः' अर्थात् इच्छाओं का निरोध करके स्वरूप-स्वभाव की स्थिरता को तप कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद अकषाय स्वभाव के बल से आहारादि की इच्छा मिटकर स्वरूप में स्थिरता होना तप है। जहाँ ऐसी स्थिति होती है, वहाँ बीच में अशुभ से बचने के लिए बारह प्रकार के शुभभाव को उपचार से तप कहा है। उसमें जो शुभराग विद्यमान है, सो हितकर नहीं है। निर्जरा का अर्थ है पुण्य-पापरहित स्वभाव के बल से शुद्धता की वृद्धि और अंशतः राग का दूर होना। खान-पान का त्याग कर देना तप नहीं है किन्तु स्वभाव की रमणता से स्वतः खान-पान छूट जाए सो तप है। ऐसा तप अनन्त काल में भी इस जीव ने कभी नहीं किया।

मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य में स्थिर होने पर सहज ही राग छूट जाता है, और तब राग में निमित्तभूत शरीर का लक्ष्य छूट जाता है, तथा शारीरिक लक्ष्य छूटने पर आहार भी छूट जाता है। इस प्रकार स्वभाव की प्रतीति में शान्तिपूर्वक स्थिर हुआ कि यही तपस्या है। स्वभाव की प्रतीति के बिना यह कहता रहता है कि मैं इच्छा को रोकूँ, उसका त्याग करूँ; किन्तु वह प्रतीति के बिना किसके बल से त्याग करेगा ? और कहाँ जाकर स्थिर होगा ? वह वस्तु को यथार्थतया समझा ही नहीं है।

आत्मा में अन्नादिक किसी भी जड़ पदार्थ का ग्रहण-त्याग नहीं होता, परवस्तु का किसी भी प्रकार से लेन-देन नहीं होता। मैं निरावलम्बी ज्ञायकस्वभाव हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से अन्तरंगस्वरूप में एकाग्र होने पर आहार का विकल्प छूट जाना सो तप है; और अन्तर्लीनता में जो आनन्द आता है, सो तप का फल है।

तत्त्वार्थसूत्र में व्रतादिक शुभभाव की वृत्ति को आस्रव कहा है। वह शुभभाव हेय है, इसलिए जब उसका निषेध करके स्वभाव के बल से स्थिरता के द्वारा राग का नाश करते हैं, तभी केवलज्ञान होता है।

पहले सम्यग्दर्शन होने के बाद श्रद्धा के बल से स्थिरता की वृद्धि होने पर चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान का क्रम होता है, वहाँ बुद्धि-पुरस्सर शुभराग होता है, किन्तु वह राग

चारित्र नहीं कहा जाता। चारित्र का अर्थ है प्रतीतिपूर्वक स्वरूप में स्थिर होना। अकषाय, निरावलम्बी वस्तुस्वभाव को जाने बिना भीतर अकषायभावसहित स्थिरता का अर्थात् चारित्र अंशमात्र नहीं हो सकता। अकषायभाव को जानने के बाद उसमें स्थिर होने में विलम्ब होता है और केवलज्ञान के प्रगट होने में देर लगती है, सो अपने पुरुषार्थ की मन्दता का कारण है। जिस भाव से पुण्य-पाप के बन्धनभाव का नाश होता है, उसी भाव से गुण, अविकारी धर्म होता है; यह एकान्त सत्य है। जैसे समुद्र की वृद्धि-हानिरूप (ज्वार-भाटे के समय तद्रूप) अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है-सत्यार्थ है। किनारे की ओर दृष्टि से देखें तो प्रति समय बदलनेवाली पानी की अवस्था अनिश्चल है; ध्रुव-एकरूप नहीं है यह-सत्य है। तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर नियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। पानी तो नित्य जैसा का तैसा बना हुआ है। इसी प्रकार आत्मा की वर्तमान अर्थपर्यायों में हीनाधिकरूप अवस्था होती है, जो कि ठीक है। जैसे ज्ञान-दर्शनादि गुण नित्यस्थायी हैं, किन्तु उनकी अवस्था में हानि-वृद्धि हुआ करती है; अवस्था में क्षयोपशम, क्षायिक इत्यादि भावों में भेद हो जाता है। अर्थात् अवस्थादृष्टि से हानि-वृद्धि होती है, यह सच है। तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने पर पर्याय में हीनाधिकता अभूतार्थ है-नित्यस्थायी नहीं है।

वर्तमान पर्याय पर लक्ष्य रखने से अखण्ड ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। पर्यायदृष्टि में संसार है, और स्वभावदृष्टि में मोक्ष है। पर्याय के लक्ष्य से अल्पज्ञ के राग-द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है, इसलिए भेद का लक्ष्य गौण करके ध्रुव निश्चल एकरूप परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें अन्तरंगदृष्टि पर भार देकर एकाग्र होने पर निर्मल पर्याय उत्पन्न होकर सामान्य ध्रुवस्वभाव में अभेद होता है। अंशत: विकल्प टूटकर निर्मल आनन्दरूप शुद्धि की वृद्धि होती है, और अशुद्धि का नाश होता है। उसका कारण द्रव्यस्वभाव है।

जब समुद्र में आया ज्वार उतरना होता है, तब बाहर से उसमें हजारों नदियों का पानी एकसाथ आकर गिरे और ऊपर से वर्षा का चाहे जितना पानी बरसे, तथापि वे कोई भी बाह्य कारण उसे रोकने में समर्थ नहीं होते। और जब ज्वार आना हो तब हजारों सूर्यों

की गर्मी एकसाथ गिरे तथा नदियों के पानी का समुद्र में गिरना एकदम बन्द हो जाए तथापि समुद्र तो तरंगित होता हुआ अपने मध्यबिन्दु से अपने ही कारण उछलता रहता है, जिसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में इन्द्रियाधीन प्रवर्तमान चाहे जैसे बाह्यसंयोग और चाहे जैसे शुभविकल्प करे तथापि किसी भी बाह्य निमित्त से अवस्था में हीनता के समय गुण प्रगट नहीं होते; किन्तु मैं ध्रुवस्वभाव वीतराग हूँ, पूर्ण हूँ, इस प्रकार अखण्ड सत् स्वभाव की प्रबलता करने से श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होकर वीतरागी स्थिरता की वृद्धि होने पर जब केवलज्ञानरूपी समुद्र स्वभाव के मध्यबिन्दु से उछलता हुआ प्रगट होता है, तब विश्व की कोई भी प्रतिकूलता उसे रोकने में समर्थ नहीं है।

जैसे समुद्र में मूसलधार वर्षा होने पर भी और हजारों नदियों का पानी एकसाथ गिरने पर भी वह ज्वार का कारण नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में अविकारी गुण के लिए अनन्त रागमिश्रित भाव किया करे और इन्द्रियों से शब्द ज्ञान एवं शास्त्रज्ञानरूपी नदियाँ बहाया करे तथापि उनसे ज्ञान नहीं बढ़ता। किन्तु जो भीतर ज्ञान भरा हुआ है, यदि वह छलके तो उसे कोई नहीं रोक सकता। भीतर अनन्त गुणों की अपार शक्ति प्रतिसमय विद्यमान है, उस पर दृष्टिपात करे तो सहजस्वभाव छलककर साक्षात् गुण की प्राप्ति होती है। यहाँ पहले श्रद्धा में यथार्थस्वरूप को स्वीकार करने की बात है।

अखण्ड पूर्ण स्वभाव पर दृढ़तापूर्वक दृष्टिपात करने से स्वभाव प्रगट होता है। श्रद्धा में अखण्ड ध्रुव एक स्वभाव है और ज्ञान उस त्रिकाल पूर्णस्वभाव को और पर्याय को जाननेवाला है। जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तब तक शुद्ध लक्ष्य सहित आंशिक स्थिरता को बनाये रखकर अशुभ से बचने के लिये शुभभाव का अवलम्बन आता है। उस राग को और राग के निमित्त को-दोनों को ज्ञान में जान लेना सो व्यवहार है; किन्तु यदि उसे आदरणीय माने तो मिथ्यादृष्टि है। यदि सत्य जल्दी समझ में न आये तो भी धैर्यपूर्वक सत् को समझने पर ही संसार से छुटकारा मिल सकता है; इस प्रकार सत् का आदर करके जिसे उसे ही समझने की जिज्ञासा है, उसे समझने में जितना समय लगता है, वह भी समझने के उपाय में सहायक है।

स्व-स्वरूप का अज्ञान महापाप है। भवरहितपने की नि:सन्देहता हुए बिना अन्त:स्वरूप का अनुभव नहीं होता। बाह्य निमित्ताधीन दृष्टि रखकर चाहे जैसे उच्च शास्त्रों

का अध्ययन करता हो किन्तु उस क्षणिक संयोगरूप इन्द्रियाधीन अनित्य ज्ञान का अभिमान हुये बिना नहीं रहता। बिना समझे अन्तरंग में शान्ति नहीं आती इसलिए शान्त्यर्थ बाह्य प्रयत्न करता है, और यह मानकर कि गुण-प्राप्ति के लिए बाह्यक्रिया आवश्यक है-बाह्यक्रिया में सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु उसके ज्ञान में यह बात नहीं जमती कि भीतर गुण भरे हुए हैं, उनका लक्ष्य करने में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ आता है। संयोगीवस्तु स्त्री, धन, कुटुम्ब, घर इत्यादि मुझसे क्षेत्रापेक्षा से दूर चले जाएँ अथवा मैं एकान्त जंगल में जाकर रहूँ तो गुण प्रगट हों, शान्ति हो;—ऐसा मानने का अर्थ यह हुआ कि मुझमें गुण हैं ही नहीं, परावलम्बन से गुण-लाभ होता है और ऐसा माननेवाले निमित्ताधीनदृष्टिवाले हैं, एवं मिथ्यादृष्टि हैं।

जैसे सांसारिक रुचि के लिए एक ही बात का बारम्बार परिचय करने में उसके प्रति अरुचि या उकताहट नहीं होती, इसी प्रकार इस अपूर्व सत् की रुचि के लिए बारम्बार सत् का बहुमान करके उसके श्रवण-मनन के प्रति उत्साह बढ़ना चाहिए; यदि उसमें अरुचि या उकताहट प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि अपनी श्रद्धा में कमी है। जैसे सांसारिक विषयों में दो मास में बारह महीने की कमाई कर लेने का उत्साह होता है, उसी प्रकार यहाँ स्वभाव में अल्प काल में अनन्त भव का अभाव करनेवाली सम्यक्श्रद्धा के प्रति उत्साह छलकना चाहिए।

अज्ञानी कहता है कि 'देहादि के बिना मेरा काम नहीं चल सकता, मैं तो पामर हूँ, और राग-द्वेष-मोह में दबा हुआ हूँ, संयोग अति कठिन हैं;' उससे ज्ञानी कहते हैं कि 'हे भाई! तू तो असंयोगी अविनाशी भगवान है, पर से तू मुक्त ही है, तेरे स्वभाव में अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं। यदि अनन्त अव्याबाध सुख प्रगट करना हो तो वर्तमान अवस्था के भेद की दृष्टि का त्याग कर और अविकारी स्वभाव की ओर भार दे। अनन्त काल में स्वभाव के बल से एक क्षणभर को भी स्थिर नहीं हुआ है। तेरी स्वतन्त्रदृष्टि से ही अनन्त केवलज्ञानलक्ष्मी उछल उठेगी; जब लक्ष्मी टीका करने आ रही है तब मुँह धोने मत जा; पुनः ऐसा सुयोग अनन्त काल में भी मिलना कठिन है। निगोद से लेकर सिद्ध तक की समस्त अवस्थाओं के भेद के लक्ष्य को गौण कर। यदि खण्ड पर लक्ष्य रखेगा तो राग-द्वेष होंगे और अखण्ड स्वभाव में नहीं पहुँच सकेगा। इसलिए एक-बार अखण्ड

स्वभाव के निकट अन्तरसन्मुख होकर यह स्वीकार कर कि मैं ज्ञानानन्द पूर्ण हूँ, और अन्तरस्वभाव पर भार दे तो पर्यायभेद का लक्ष्य शिथिल हो जाएगा। भगवान ने कहा है कि पर्यायदृष्टि का फल संसार और द्रव्यदृष्टि का फल वीतरागता मोक्ष है।

मैं एकरूप, शुद्धस्वभाव, सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, जो सिद्ध में नहीं है, सो मुझमें नहीं है; इस प्रकार सिद्धत्व की श्रद्धा के बल से परवस्तु का अभिमान नष्ट हो जाता है। देहादिक परवस्तु के कर्तृत्व का अभिमान तो पहले ही दूर कर दिया, किन्तु पुण्यादि मेरे नहीं हैं, पर की ओर मेरा कोई झुकाव नहीं है, और गुण-गुणी के भेदों का विचाररूप शुभराग का विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे लिए सहायक नहीं है, ऐसी श्रद्धा बिना, एकरूप स्वभाव को माने बिना विकार और पर में अभिमान को छोड़े बिना स्वभाव की दृढ़ता नहीं आती।

जैसे सुवर्ण को चिकनापन, पीलापन, भारीपन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व भेद गौण हो गये हैं, ऐसे एकाकार सुवर्णस्वभाव का एकरूप अखण्ड सामान्य स्वभाव देखने पर उसमें अलग-अलग गुण-भेद ज्ञात नहीं होते। सोने को खरीदनेवाला सुवर्णकार मात्र सोने का वजन करके सोने का ही मूल्य देता है, उसकी कारीगरी का मूल्य नहीं चुकाता, वह सोने के (गहने के) आकार-प्रकार और उसकी रचना-कला को मुख्यता न देकर मात्र सोने पर ही लक्ष्य देता है, उसे तो जिस अवस्था की चाह है, वह सब सोने में विद्यमान है, इस प्रकार अखण्ड सुवर्ण पर ही उसकी दृष्टि है, इसलिए वह मात्र यह पूछता और देखता है कि सोना कितने टंच का है ? सुवर्णभेद पर उसका लक्ष्य ही नहीं होता, या वह गौण होता है। इसी प्रकार आत्मा में दृष्टि डालने पर, पर्याय की ओर के विचार छोड़कर, अभेदरूप को एकदम निकट लाकर, गुण-गुणी के भेदरूप रागमिश्रित विचार को छोड़ देता है। मैं ज्ञान-दर्शनवाला हूँ, चारित्रवान हूँ, ऐसे विकल्प-भेद करके यदि विभिन्न गुणों के विचार में लग जाए तो अखण्ड स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक निर्विकल्प स्वानुभव नहीं होता। यद्यपि वस्तु में अनेक गुण हैं किन्तु उसे पहिचानने के लिए, उसका विचार करने पर अनेक भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं; उस भेददृष्टि को शिथिल करके, एकरूप सामान्य ध्रुवस्वभाव को दृष्टि में लिए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर की क्रिया, देहादि की प्रवृत्ति मेरे आधार से होती है, इस प्रकार अज्ञानी जीव विपरीत दृष्टि से अनन्त सत् को पराधीन और हीन मानता है। यह मानना कि स्वतंत्र सत् को दूसरे की सहायता से गुण-लाभ होता है-स्वतन्त्र सत् की हत्या करना है। ज्ञानी स्वतन्त्र स्वभाव में पर का बिल्कुल निषेध करता है। प्रभु! तू अपने स्वभाव की महिमा को भूला हुआ है। देहदृष्टि से और पर में कर्तृत्व की मान्यता से अनन्त संसार बना हुआ है। जो पुण्य-पाप का कर्ता होना चाहता है, वह अज्ञानी अज्ञानभाव से उसका भोक्ता भी होता है, इसलिए पुण्य-पाप के फल को भोगने में अनादि काल से देह में लगा हुआ है।

यदि मैं पर का कार्य करूँ तो हो, और मैं न करूँ तो न हो, ऐसी कर्तृत्व की दृष्टि यह भूल जाने से होती है कि दो तत्त्व स्वतन्त्र-भिन्न हैं। देहादिक जड़ वस्तुएँ और उसकी सर्व पर्यायों का कर्तृत्व जड़ का ही है। यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा जड़ की पर्याय या गुण का कर्ता हो तो जड़ का कर्ता होने से वह भी जड़ (मूढ़) कहलायेगा।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि 'जो जीव है सो जिनवर है और जो जिनवर हैं, सो जीव है।' जो इन दोनों के स्वभाव में अन्तर मानता है, उसे भगवान आत्मा के प्रति अनन्त द्वेष है। यदि व्यवस्था या अनुकूलता में किंचित्मात्र भी कमी रह जाती है तो वह नहीं चल सकती। शाक में यदि नमक-मिर्च कम-बढ़ हो जाता तो थाली फेंक देता है; चाय के बिना नहीं चलता, पान-सुपारी के बिना चैन नहीं पड़ता; वह 'मैं प्रभु हूँ' यह क्यों कर माने? परमार्थत: सभी आत्मा वर्तमान में पूर्ण ज्ञानानन्दघन परमात्मा हैं, स्वभाव में पराधीनता है ही नहीं। वर्तमान भूल (विपरीत मान्यता क्षणिक अवस्थापर्यन्त होने से भूल है) और विकार को दूर करने की शक्ति प्रति समय प्रत्येक आत्मा में भरी हुई है। वर्तमान भूल पर दृष्टिपात न करके अपने स्वभाव की ओर देख। प्रभु! तेरी प्रभुता की इतनी शक्ति है कि अनन्तानन्त काल से अनन्त शरीरों के संयोग में रहकर भ्रमण किया तथापि तेरा गुण एक अंशमात्र कम नहीं हुआ। अनादि काल से प्रवाहरूप में चली आनेवाली अशुद्धता एक समयमात्र की है, वह अशुद्धता बढ़ नहीं गयी है। उसका नाश करनेवाला तू नित्यस्वभावी है। उसके स्वीकार से तो वर्तमान में भी दृष्टि में मोक्ष है। मुक्तस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बिना चारित्र नहीं होता, और चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती।

यहाँ बाहर की बात तो है ही नहीं, किन्तु मन के द्वारा अन्तरंग गुणों के अलग-

अलग भेद करके उनमें लग जाना-रुक जाना वही भी व्यवहारदृष्टि है, रागदृष्टि है। वस्तु में भेद होना व्यवहार ही है। मैं प्रभु हूँ, विभु हूँ, (अनन्त गुणों में व्याप्त हूँ), स्वच्छ हूँ, स्व-परप्रकाशक-ज्ञायक हूँ, इत्यादि अनेक गुणों का विचार करने में मन के सम्बन्ध से राग का विकल्प उठता है; उस भेद के लक्ष्य से ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य नहीं होता। एक बार यथार्थ परिपूर्ण सत् को स्वीकार करके उसके अभेद का लक्ष्य करके उसमें स्थिर हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, और स्वभाव का लक्ष्य करने के बाद श्रद्धा के विषय में भेद नहीं रहते। भेदकारक दृष्टि पर भार देने से विकल्प होते रहते हैं, इसलिए भेद का लक्ष्य गौण करके अखण्ड स्वभाव पर दृष्टिपात करने से भीतर स्थिरता बढ़ती है। इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य से ही निर्मलता की उत्पत्ति और राग का—अशुद्धता का व्यय होता है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान है, वह इन दोनों अवस्थाओं को जानता है, अवशिष्ट राग को जानता है, तथा उसके निमित्त को भी यथावत् जानता है। यदि हेय में उपादेयता और उपादेय में हेयता जाने तो ज्ञान में भूल होती है और ज्ञान में भूल होने पर दृष्टि में भी भूल होती है।

जैसे सोने में अनेक गुण हैं, किन्तु उसे सम्पूर्ण लक्ष्य में लेने के लिए उसके भेद का—विभिन्न गुणों का—विचार छोड़ देना पड़ता है, इसी प्रकार अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिए भेददृष्टि को गौण करना पड़ता है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द इत्यादि गुणों का भेद करके रागमिश्रित विचार करने से रागदशा का नाश नहीं होता। मैं ज्ञान हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं शुद्ध हूँ ऐसे विकल्प भी स्थूल हैं, क्योंकि वह व्यवहारनय का विषय है। जैसे सोने में सभी गुण एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में अनन्त गुण एक साथ अखण्डरूप से प्रति समय विद्यमान हैं, उसमें रागमिश्रित विचार के द्वारा खण्ड-भेद करना सो पर्यायदृष्टि है। उस रागरूप विषय का लक्ष्य छोड़कर; जिसमें अनेक भेदरूप विकल्प का अभाव है और जिसमें कोई गुण-भेद नहीं दिखायी देता, ऐसे आत्मस्वभाव के निकट जाकर देखने पर विकल्प-भेद होने का स्वरूप में अवकाश नहीं है। ऐसे स्वभाव पर भार देकर एकत्व का निश्चय करना सो सम्यक्श्रद्धा है। अखण्ड सामान्य स्वभाव पर एकाग्र-लक्ष्य होने पर निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और आंशिक आनन्दरूप चारित्र प्रगट होता है। सामान्य लक्ष्य में भेद गौण हो जाता है, इसलिए पर का विश्वास और भेददृष्टि को छोड़कर एकरूप सामान्य स्वभाव में एकाग्र होकर देखें, तो उसमें अभूतार्थ भेदविकल्प का अभाव प्रतीत होगा।

स्थिर एकाकार स्वानुभव के समय भेद-विचार नहीं होता। मैं आनन्दस्वरूप का वेदन करता हूँ, अनुभव करता हूँ, मैं अपने को जानता हूँ, ऐसे किसी भी विकल्प का आत्मस्वभाव में प्रवेश नहीं है; इस प्रकार क्षणिक भेद अभूतार्थ है। राग नाशक आत्मा स्वयं रागरहित है।

यदि यथार्थता की प्रतीति न हो तो उसके लिए काल व्यतीत करना होता है। यदि कोई यह कहे कि यथार्थता जल्दी प्रगट होती तो रहने दो, चलो कोई दूसरा कार्य करें; निश्चय ही उसे सत् की यथार्थ रुचि नहीं है-श्रद्धा नहीं है। जब परदेश में धन कमाने को जाता है तो वहाँ १०, १५, २० वर्ष रहता है, किन्तु मन में उकताहट नहीं लाता; और जिससे जन्म-मरण मिट जाता है ऐसी बात यदि जल्दी समझ में नहीं आती तो उकता उठता है, और बाहर के सस्ते सौदे को (रुपया-पैसा खर्च करने में) धर्म मान लेता है, तो कहना होगा कि उसकी यथार्थता की ओर रुचि नहीं है। आत्मस्वभाव तो ज्ञानामृत से भरा हुआ है। उस पूर्णस्वभाव की महिमा के आगे इन्द्रों के सुख भी तुच्छ-तृण समान प्रतिभासित होते हैं।

जीव अनादि काल से बाहर से देखता आ रहा है, इसलिए अखण्ड गुणस्वभाव की जगह भेदरूप विकल्प दिखायी देता है, उस भेदरूप लक्ष्य को गौण करके स्वभाव के निकट आकर अर्थात् अन्तरंग दृष्टि से देखे तो अखण्डस्वरूप की प्रतीति होगी। श्रद्धा का विषय अखण्ड द्रव्य है, और श्रद्धा का कारण अखण्ड द्रव्यस्वभाव है, वही अखण्ड की श्रद्धा करा देगा। सम्यग्दर्शन के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वस्तुस्वरूप को जानते हुए बीच में रागमिश्रित विचार निमित्तरूप से आ जाते हैं, किन्तु वह स्वरूप में सहायक नहीं हैं, इस प्रकार जानना सो व्यवहार है। और स्वरूप के ओर की रुचि एवं लक्ष्य को बढ़ाकर, गुण में एकाग्रता करके, व्यवहार एवं भेद का लक्ष्य गौण करके अखण्ड-स्वभाव को जानना सो निश्चय है। सम्यग्दर्शन का विषय अबद्धस्पृष्ट आदि चार प्रकारों द्वारा बताया जा चुका है, अब पाँचवें 'अनसंयुक्त' प्रकार में यह बताया जाएगा कि सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था कैसे प्रगट होती है।

कर्मों के निमित्त में लग जाने से राग-द्वेष होता है, जो कि उपाधिभाव-विरोधभाव कहलाता है। क्षणिक विचार का नाशक भगवान आत्मा कैसा है यह समयसार का (आत्मा की शुद्धता का) कथन साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकला है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा भाव कहा है, वैसा ही आचार्यदेव ने अनुभव किया, और छट्ठे-सातवें गुणस्थान की

पवित्र दशा में झूलते हुए उनके प्रशस्त विकल्प उठा कि अहो! धन्य है यह वीतरागता! जगत के जीव अनन्त काल से अज्ञान के कारण परिभ्रमण कर रहे हैं। उन जीवों के लिए मुक्ति का प्रथम उपाय समयसार शास्त्र में बताया गया है।

शुभ और अशुभ दोनों बन्धन भाव हैं। बन्धन भाव को मोक्षमार्ग या मोक्षमार्ग का कारण माने अथवा यह माने कि पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा तो ऐसी मान्यता अनन्त संसार का मूल है। सत्य को समझना कठिन है, इसलिए असत्य को सत्य नहीं माना जा सकता। अपना स्वरूप अपनी ही समझ में न आये - ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि तू वर्तमान में है, इसलिए जो है वह त्रिकाल स्थायी है। तू भी अनादि से है। अनन्त बार एकेन्द्रिय में रहा, अनेक बार कौआ-कुत्ते आदि का भव धारण किया, तथापि प्रभु! तुझे अभी जन्म-मरण की पराधीनता नहीं खटकती! विपरीत मान्यता में ऐसे अनन्त भव कराने की शक्ति है। जन्म-मरण का कारण विपरीत मान्यता ही है। अपूर्व तत्त्व की यथार्थ समझ के बिना उसका नाश नहीं हो सकता। पूर्वापर विरोधरहित श्रद्धा किये बिना धर्म के नाम पर पंच महाव्रतादिक शुभभावों के द्वारा अनन्त बार स्वर्ग का देव हुआ; किन्तु आत्मप्रतीति के बिना एक भी भव कम नहीं हुआ। जब तक परवस्तु पर अपनेपन की दृष्टि रहती है, तब तक स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और स्वभाव पर दृष्टि पहुँचे बिना धर्म नहीं होता।

जैसे कुआँ तो स्वच्छ-पथ्य जल से भरा है, किन्तु उसमें से पानी बाहर निकाल कर यदि दो थालियों में भर दिया जाए, जिनमें से एक में मिश्री और दूसरी में चिरायता रखा हो, तो जिस थाली का पानी पिया जाएगा उसका वैसा ही (मीठा अथवा कड़वा) स्वाद आएगा, किन्तु वास्तव में वह पानी का मूलस्वभाव नहीं है; मिश्री या चिरायते के संयोग से पानी का वैसा स्वाद मालूम होता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से निर्विकार है, जिसके स्वभाव में से मात्र ज्ञान ही आता है, पुण्य-पाप की वृत्ति नहीं आती; किन्तु वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन-दृष्टि से शुभाशुभभाव की उत्पत्ति होती है। हिंसादिक कषायभाव की ओर उन्मुख होने से पापबन्ध होता है, और दया, दानादि करके कषाय को मन्द करे तो पुण्य-बन्ध होता है, किन्तु उनमें से किसी से भी धर्म नहीं होता।

पुण्यभाव करते-करते परम्परा से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हो जाए अर्थात् गुण से विरोध भाव करते-करते निर्दोष भाव प्रगट हो जाए, यह त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। जो

शुभाशुभ विकल्प हैं सो मैं नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक हूँ; ऐसी श्रद्धा के बल से, स्वभाव के लक्ष्य से अनन्त संसार की मूलभूत विपरीत श्रद्धा दूर होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होता है। पूर्णरूप शुद्ध आत्मा की श्रद्धा में पुण्य सहायक नहीं होता, प्रत्युत विघ्नकारक होता है।

जैसे किसी प्रतिष्ठित परिवार का पुत्र व्यभिचारी हो जाए और नित नया बखेड़ा मचाये तो उसका पिता उसे उलहाना देता हुआ कहता है कि ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेकर तुझे यह सब शोभा नहीं देता। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ जगतपिता कहते हैं कि तू स्वतन्त्र भगवान अपनी जाति को भूलकर अपने से भिन्न परवस्तु को अपना मानकर उसके साथ प्रवृत्त हो रहा है, और इस प्रकार पराचारी हो रहा है कि जड़ की अवस्था को मैं कर सकता हूँ, पुण्य-पाप मेरे द्वारा होता है, वे सब मेरे हैं और मेरे लिए सहायक हैं। एवं इस प्रकार जिसे ज्ञानियों ने विष्टा जानकर छोड़ दिया है ऐसे पुण्य को अपना मान रहा है, जो कि व्यभिचार है। उस अनित्य वस्तु की शरण में जाना तेरे अविनाशी स्वभाव के लिए कलंक है।

पुण्य से मानव शरीर पाया है; अब यदि सत्य की चिन्ता करके नहीं समझा तो यह मानव शरीर पाना निरर्थक जाएगा। और फिर पुनः मनुष्यभव पाना दुर्लभ है। सत्यार्थ को सुनते ही मनुष्य घबरा उठता है कि अरे रे! हमारा पुण्य तो एकदम ही उड़ाया जा रहा है; और कहता है कि भीतर की बात मेरी समझ में नहीं आती, आत्मधर्म समझ में नहीं आता इसलिए पुण्य करते हैं; और यदि उसको छोड़ देने की बात कहेंगे तो हम सब तरफ से कोरे ही रहे जाएँगे ?

किन्तु हे भाई! तृष्णादि के पापभावों को कम करके पुण्यभाव करने से कोई नहीं रोकता, किन्तु यदि उस पुण्य में ही सन्तोष मानकर और विकार को धर्म का साधन मानकर बैठा रहे तो कदापि मुक्ति नहीं होगी। यहाँ धर्म में और पुण्य में उदय-अस्त जैसा अन्तर है; यही समझा जा रहा है।

जिस भाव से स्वभाव से विरोध फल मिलता है अर्थात् संसार में जन्म-धारण करना पड़ता है, उस भाव से कदापि मोक्ष नहीं हो सकता, और अंशमात्र भी धर्म नहीं हो सकता। जिस अभिप्राय में सम्यग्दर्शन है, उसी अभिप्राय में मिथ्यात्व नहीं होता। मिथ्यात्व

का नाश करके सम्यग्दर्शन होने के बाद दृष्टि में संसार नहीं रहता, भव की शंका नहीं रहती। अखण्डस्वभाव को लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन है, जो कि अनन्त अवगुणों का नाश करनेवाला और अनन्त पवित्र गुणों की उत्पत्ति करनेवाला निर्मल गुण है। अनन्त जन्म-मरण के नाश का मूल *बोधिबीज सम्यग्दर्शन है, उसकी प्राप्ति के लिए इस चौदहवीं गाथा में अद्भुत न्याय-कनि है।

शुद्धनय के द्वारा आत्मा की पर से - विकार से अलग, परिपूर्ण ध्रुव-स्वभाव बताया है, वह स्वभाव ही आदरणीय है; सम्यग्दर्शन का लक्ष्य ध्येय वही है।

लोग कहते हैं कि यदि खानपान की सम्पूर्ण सुविधा हो और शरीर निरोग रहे तो धर्म हो। किन्तु ऐसी इच्छा का अर्थ यह हुआ कि शरीर बना रहे अर्थात् शरीर धारण करता रहूँ, भूख लगा करे और उसकी पूर्ति होती रहे, अन्न, वस्त्रादि का पराधीन सदा बना रहूँ। जो ऐसी पराधीनता की चाह करता है, वह कभी भी मोक्ष की स्वाधीनता को नहीं पा सकेगा।

ज्ञानी तो असंयोगी स्वतन्त्र चैतन्यस्वभाव मात्र को ही अपना मानता है, और यह जानता है कि बाह्य अनुकूल या प्रतिकूल संयोग मेरे स्वभाव में नहीं हैं, इसलिए उन संयोगों से मुझे सुख या दुःख नहीं है, वर्तमान अशक्ति के कारण होनेवाला राग ही दुःख है। सम्यग्दृष्टि अपने को श्रद्धा में पूर्ण वीतरागी मानता है, किन्तु सभी ऐसा नहीं कर पाते कि समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करके चलते बनें। श्रेणिक राजा यथार्थ आत्मप्रतीति के होते हुए भी गृहस्थदशा में थे। कोई विकल्प या कोई परमाणुमात्र मेरा स्वरूप नहीं है; मैं चिदानन्द, असंग, मुक्तस्वभावी हूँ; पुण्य-पाप की किसी वृत्ति का स्वामित्व मेरे नहीं है, महान राजकाज में रहते हुए भी अन्तरंग में उस ओर से उदासीनता रहती है।

जैसे धाय-माँ बालक को खिलाती है अर्थात् उसकी सेवा करती रहती है, किन्तु वह अपने अन्तरंग से उस बालक को अपना नहीं मानती; इसी प्रकार ज्ञानीजन संसार में रहते हुए भी धाय-माँ की भाँति अन्तरंग से किसी परवस्तु को अपने स्वरूप की नहीं मानते। स्वरूप की प्रतीति होने पर भी पुरुषार्थ की अशक्ति से राग में युक्त हो जाता है। ऐसी ही प्रतीति की भूमिका में श्रेणिक राजा ने तीर्थंकरगोत्र का बन्ध किया था। सम्यग्दर्शन की

* आत्मप्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अकषाय स्थिरतारूप जो चारित्र है, सो बोधि है।

प्रबलता से ऐसी शुभवृत्ति उठती है कि मैं पूर्ण हो जाऊँ और दूसरे भी धर्म को प्राप्त करें। अन्तरंग में पुण्य का और राग का निषेध था तभी उनके उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध हुआ था।

अब पाँचवें दृष्टान्त से यह समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो सकता है।

पानी का स्वभाव शीतल है, किन्तु वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी में उष्णता है। तथापि एकान्त शीतलतारूप जल के स्वभाव को लक्ष्य में लेकर देखने पर पानी वास्तव में स्वभावत: उष्ण नहीं हुआ है, उसकी मात्र उष्ण अवस्था हुई है; उस समय भी स्वभाव तो शीतल ही है। यदि पानी स्वभाव से ही उष्ण हो गया हो तो वह फिर ठण्डा हो ही नहीं सकेगा। लाखों वर्ष से उष्ण हुआ पानी चाहे जब अग्नि पर डाला जाए तो वह जिस अग्नि से उष्ण हुआ था उसी को ठण्डा कर देता है, और उस पानी को हवा में रख दें तो वह ठण्डा ही है। पानी में अग्नि को बुझाने की और ठण्डा रहने की त्रिकाल-शक्ति है। उष्ण अवस्था के समय शीतलस्वभाव की ओर दृष्टि करे तो यह निश्चय करना कठिन नहीं है कि इस पानी को ठण्डा कर देने से यह तृषा को मिटा देने योग्य हो जाएगा। अर्थात् यदि पानी में उष्णतानाशक स्वभाव से देखे तो स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि पानी की यह उष्णता अभूतार्थ है-त्रिकाल स्थायी नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा भी देह से भिन्न, शान्त, पूर्ण आनन्दघन है, उसका कर्मनिमित्तक मोह के साथ संयुक्तरूप अवस्था से अनुभव करने पर ज्ञात होता है कि संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है। मैं देहादिरूप हूँ, रागादिरूप हूँ, रागादि का कर्ता हूँ, ऐसा निमित्ताधीन वर्तमान दृष्टि से देखने पर मोह के साथ संयुक्तता होती है। यदि निमित्त की ओर लक्ष्य न हो तो स्वलक्ष्य से अवगुण नहीं होता है। निमित्त अर्थात् जड़कर्म जो कि राग-द्वेष या मोह नहीं कराते और न मोह करने को कहते हैं; किन्तु आत्मा स्वयं ही कर्माधीन होकर राग-द्वेष-मोह में युक्त होता है। शरीर तो स्थूल धूल है, रजकणों से निर्मित है, और उसके भीतर दूसरा सूक्ष्म धूल से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है। उन निमित्तों का अपने में स्वीकार करके, अर्थात् निमित्ताधीन होकर देखने पर जीव में मोह संयुक्त विकारी अवस्था होती है; वह पर में राग-द्वेष की मान्यता के कारण हर्ष-शोक में एकाग्र होता है; जो कि अवस्थादृष्टि से ठीक है। पानी में अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्थारूप होने की योग्यता है; किन्तु स्वभाव में तो शीतलता ही है; इसी प्रकार जीव में कर्म के निमित्त से विकारी अवस्थारूप होने की

योग्यता है, किन्तु स्वभाव में विकार नहीं है। विकारी अवस्था का अनुभव करने पर अभूतार्थ राग-द्वेष का भाव होता है, वह भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है। सत् स्वभाव का अनादर करके पर का आदर करे तो यह तेरे स्वभाव के लिए कलंकरूप है।

जैसे पानी में शीतलता भरी हुई है, उसी प्रकार तुझमें शाश्वत् सुख भरा हुआ है। जैसे पानी मलिनता का नाशक है, उसी प्रकार तू राग-द्वेष-मोह का नाशक है। जैसे पानी में मीठा स्वाद है, उसी प्रकार तुझमें अनुपम अनन्त आनन्दरस भरा हुआ है। इस प्रकार अपने निजस्वभाव की ओर दृष्टि कर। जैसे कच्चे चने में अप्रगट मिठास भरी हुई है जो कि चने के भुंजने पर प्रगट अनुभव में आ जाती है, इसी प्रकार आत्मा में अतीन्द्रिय गुणों की अनन्त मिठास भरी हुई है जो कि स्वभाव की प्रतीति के द्वारा, उसमें एकाग्र होने से प्रगट अनुभव में आ जाती है।

अनन्त काल में कभी स्वलक्ष्य नहीं किया है, और पुण्य की ही मिठास अच्छी लग रही है; इसलिए लोगों को भीतर भरे हुए अनन्त सुख-शान्ति की श्रद्धा नहीं जमती। वे मानते हैं कि खाये-पिये बिना धर्म कहाँ से होगा? और कहते हैं कि आप तो त्यागी हैं, इसलिए आपको तैयार भोजन मिलता है, इसलिए आप भलीभाँति धर्म सेवन कर सकते हैं। किन्तु हे भाई! तेरी दृष्टि ही बाह्य पर जाती है; तू सर्वज्ञ परमात्मा के ही समान है। तीन लोक और तीन काल में तुझे किसी की पराधीनता है ही नहीं। बाह्य निन्दा को सुनकर तू रुक जाता है और आकुलित हो उठता है; किन्तु भाई! लोग तो देह की निन्दा करते हैं, इससे तुझ-अरूपी आत्मा को क्या लेना-देना है? तुझमें अपनेपन की शक्ति है या नहीं? तूने यह क्यों-कर मान लिया कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति मेरी प्रशंसा करे तो मैं अच्छा कहलाऊँगा? धर्म में ऐसी देहाधीनता या पराधीनता कदापि नहीं होती कि यदि पेट में अन्न पड़े या अच्छी नींद आये तो ही धर्म होगा। धर्म तो आत्मा का स्वतन्त्र निराकुल स्वभाव है। उसमें ऐसा कुछ है ही नहीं कि अन्त मिले तो भलीभाँति धर्म होगा और न मिले तो धर्म में बाधा आयेगी।

प्रश्न—जबकि धर्मसाधन के लिए खान-पान की आवश्यकता नहीं है, तो फिर ज्ञानी होकर भी आहार क्यों करता है?

उत्तर—ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती, इसलिए ज्ञानी को आहार करना

भी परिग्रह नहीं है। असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं होहती, और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानता है, और उसे रोग के समान जानकर मिटाना चाहता है। ज्ञानी को इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं है, अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं है कि मेरी यह इच्छा सदा बनी रहे। इसलिए ज्ञानी के अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। ज्ञानी के परजन्य इच्छा का स्वामित्व नहीं होता, इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। उसकी दृष्टि तो अनाहारी आत्मस्वभाव पर ही है। अमुक प्रकार का राग दूर हुआ है और पुरुषार्थ की निर्बलता है इसलिए वहीं तक अल्पराग हो जाता है। वह राग और राग का निमित्त शरीर, तथा शरीर का निमित्त आहार इत्यादि से मैं बना हुआ हूँ, टिका हुआ हूँ - ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। वे तो यदि अल्प राग हो तो उसको भी नष्ट कर देने की भावना निरन्तर करते रहते हैं।

जिस बाह्य में शरीर, मकान इत्यादि को सुरक्षित बनाये रखना है, और धर्म करना है उसके बाह्यदृष्टि से, बिना किसी अवलंबन के, पुण्य-पापरहित वीतरागस्वभाव धर्म कहाँ से होगा ? जिसकी बाह्यरुचि है, वह स्वभाव की रुचि कहाँ से लाएगा ?

चारों तरफ से रस्सियों और कीलों से कसा हुआ तम्बू हो, और उसके भीतर कोई सत्ताप्रिय (अभिमानी) पुरुष बैठा हो, तो वह तम्बू की एक ही रस्सी को ढीला देखकर या तम्बू में कहीं सिकुड़न देखकर आकुलित हो उठता है, उसे वह नहीं सुहाता; तब उसे सारा तम्बू ही खराब होना या उसका समूल उखड़ जाना कैसे रुच सकता है ? इसी प्रकार जिसकी दृष्टि संयोग पर है और जो संयोगाधीन सुख मानता है, उसे तनिक सी प्रतिकूलता आने पर भारी कठिनाई प्रतीत होती है, मन आकुलित हो जाता है और पामरता प्रगट हो जाती है, तब मृत्यु के समय (सारा तम्बू बिगड़ जाने या उसके उखड़ने के समय) वह स्वभाव की दृढ़ता, धैर्य, शान्ति और समाधान कहाँ से लायेगा ? मैं असंयोगी, पर से भिन्न हूँ, बाह्य अनुकूलता की या किसी पुण्यादि साधन की आवश्यकता नहीं है, शुभ विकल्प भी मेरी शान्ति का साधन नहीं है; ऐसी श्रद्धा के द्वारा पहले यथार्थ मान्यता को स्वीकार किये बिना, निर्विकार मुक्त स्वभाव का आदर किये बिना, सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की तैयारी नहीं हो सकती।

हे प्रभु! एक बार स्वभाव की रुचि करके सत् की महिमा सुन। आचार्यदेव कहते हैं कि हम अपनी आत्मानुभव की बात तेरे हित के लिए तुझसे कह रहे हैं। तुझे सिद्धपद से सम्बोधित करके कहा जा रहा है कि प्रभु! अपने शुद्ध पूर्ण स्वभाव को देख। तेरे स्वभाव में बाह्य विकार और संयोग का सर्वथा अभाव है। इसलिए उस ओर की दृष्टि को छोड़कर अपने नित्य एकरूप स्वभाव को देख!

आत्मा अनन्त गुणस्वरूप अनादि-अनन्त स्वतन्त्र वस्तु है। जिसे अपना हित करना हो उसे पर से भिन्न अपने स्वभाव की प्रतीति पहले करनी होगी। स्वभाव पूर्ण ज्ञानानन्द है, उसे शरीरादिक किसी बाह्य संयोग के साथ सम्बन्ध नहीं है।

जाननेवाला स्वयं नित्य है, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि से शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्ति जो ज्ञान में जानने योग्य है, उस पृथक् तत्त्व को अपना मानकर, परसंयोग से अच्छा-बुरा मानकर उसमें राग-द्वेष करता है। परपदार्थ से लाभ-हानि मानने की भ्रान्ति अनादि काल से है। जो यह मानता है कि परवस्तु मेरी सहायता कर सकती है या पर से मुझे हानि-लाभ होता है; वह मानो यह मानता है कि मुझमें अपनी कोई शक्ति नहीं है और मैं स्वयं पराधीन हूँ।

विपरीत मान्यता से ऐसी मिथ्या धारणा बना ली कि संयोगी वस्तु-शरीर इत्यादि से लाभ होता है, इसलिए उस वस्तु को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना है और उसकी रखवाली में लगा रहता है। और जब यह मान लेता है कि प्रतिकूल संयोग मुझे हानि पहुँचाते हैं, तो उन्हें दूर करने के प्रयास में लग जाता है और इस प्रकार द्वेष में फँस जाता है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव को भूलकर पर से लाभ-हानि मानता है, इसलिए उसके राग-द्वेष होता है।

जो वस्तु है, सो नित्य अपनेरूप से स्थिर रहनेवाली है और पररूप से कदापि नहीं है। जैसे वस्तु पररूप से नहीं है उसी प्रकार यदि निजरूप से भी न हो तो वस्तु का अभाव ही हो जाए। जो अपने को अपनेपन में भूलकर पर से लाभ होना मानता है, वह मानो यह मानता है कि स्वयं पर के साथ एकमेक हो गया है। और यह मान्यता वस्तु की स्वतन्त्रता की हत्या करनेवाली है। कोई भी वस्तु उसके गुण के बिना निरी अकेली नहीं होती। जैसे गुड़ मिठास के बिना नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य

और आनन्दादि अनन्त गुणों के बिना नहीं हो सकता। ऐसा अनन्त गुण का शाश्वत पिण्ड आत्मा सदा अपनेरूप से है, पररूप से कदापि नहीं है, और न पर के कारणरूप या पराश्रयरूप ही है; तथापि यह मानना कि पर से गुण प्रगट होते हैं, वह पराधीनता की श्रद्धा है।

जीव ने सभी प्रकार के शुभाशुभ भाव पहले मिथ्यादृष्टि दशा में अनन्त बार किये हैं, जिनके फलस्वरूप अनन्त बार उच्च-नीच भव धारण किये हैं। यदि उन्हीं भावों से वर्तमान में धर्म हो सकता हो तो पूर्व काल में क्यों नहीं हुआ ? इससे सिद्ध हुआ कि उससे किसी अन्य ही प्रकार से कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गयी है; इस महत्वपूर्ण बात को गत अनन्त काल में जीव एक क्षणभर को भी नहीं समझा है।

पर में अनुकूल-प्रतिकूल मानने की दृष्टि से जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है, उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टि से तीन काल और तीन लोक के अनन्त पदार्थों के प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टि से असंयोगी आत्मस्वभाव में जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नहीं होती। जब शरीर का संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जाएगा और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतन्त्र स्वभाव को इस प्रकार माने कि शरीर की क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरालम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थों के प्रति होनेवाला अनन्त राग-द्वेष दूर हो जाता है।

सकल वस्तु जग में असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई॥

[नाटक समयसार]

निश्चयनय से जगत में सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसी की अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में मिल नहीं जाता और न कोई किसी के आश्रित है; कोई किसी का न कारण है और न कार्य। कर्मों के निमित्त का अपने में आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःख का भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तु को अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभाव की भ्राँति है, अज्ञान है; और इसी का नाम मोह संयुक्तता है।

जैसे पानी में वर्तमान अग्नि के निमित्त से उष्णता है, किन्तु पानी का स्वभाव उष्ण नहीं हो गया है; इसी प्रकार भगवान आत्मा कर्म संयोग में अपने को भूलकर पर में आदर-अनादररूप से राग-द्वेष की कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु त्रैकालिक अविकारी स्वभाव को भूलकर क्षणिक विकार को ही आत्मा मानता है; उस त्रिकाल असत्य का सेवन करनेवाला, सत् की हत्या करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। जब तक विकारी दृष्टि है तब तक आत्मा को विकारी मानता है, तथापि सम्पूर्ण आत्मा में विकार और संयोग घुस नहीं गये हैं। आत्मा और पुद्गल के एकक्षेत्र में रहने से वे एकरूप नहीं हो जाते। यद्यपि कर्मसंयोग राग-द्वेष नहीं कराता, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं युक्त होकर राग-द्वेष करता है और अपने को तद्रूप मानता है। उस निमित्ताधीन मान्यता को छोड़े बिना अविकारी स्वभाव कैसे प्रगट होगा ? जबकि निर्दोष स्वभाव की प्रतीति ही न हो तो दोषों को दूर करने का पुरुषार्थ कैसे उठेगा ? दोष को दूर करनेवाला आत्मा सम्पूर्ण अविकारी न हो तो विकारी अवस्था को दूर करके दोषरहित स्वभाव से कौन रहेगा ? विकारी अवस्था के समय एक समय की अवस्था के अतिरिक्त सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से अविकारी है। विकार को दूर करने का भाव अविकारी स्वभाव के बल से ही होता है। दोष और दुःखरूप विकार को जाननेवाला दोषरूप या दुःखरूप नहीं है, किन्तु सदा ज्ञातास्वरूप है। इस वर्तमान एक-एक समयमात्र की पर्याय में संयोग और विकार के होते हुए भी असंयोगी, अविकारी स्वभाव त्रिकाल स्थायी शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, विकार का नाशक है। उस ध्रुव चैतन्यस्वभाव के निकट जाकर और विकल्प से कुछ हटकर अन्तरंगदृष्टि से एकाग्र होने पर वह निमित्ताधीन विकार अभूतार्थ है।

एकान्त बोधबीजरूप स्वभाव का अर्थ है - सम्यग्दर्शन का कारणरूप स्वभाव। एकान्त स्वभाव अर्थात् परनिमित्त के भेद से रहित, स्वाश्रितरूप से नित्यस्थायी ज्ञानस्वभाव। उसी से धर्म होता है, विकारी भाव से त्रिकाल में भी धर्म नहीं होता; इस प्रकार धर्मस्वरूप स्वभाव की श्रद्धा करनेवाला जो बोधबीज है, सो सम्यग्दर्शन है।

पर से हानि-लाभ होता है, इस विपरीत मान्यता का त्याग करके, स्वभाव का लक्ष्य करके, राग से किंचित् अलग होकर, अन्तरंगदृष्टि से एकाग्र होकर स्वभाव के निकट जाकर देखा जाए तो मैं असंयोगी अविकारी हूँ, ऐसा स्वानुभव होकर सम्यक्श्रद्धारूप

बोधबीज प्रगट होगा। आत्मा का स्वभाव पर से-विकार से प्रगट नहीं होता, किन्तु जो है, उसी में से आता है। आत्मा में नित्य स्वतन्त्ररूप से पूर्ण शुद्ध स्वभाव भरा हुआ है, ऐसी श्रद्धा के कारण निर्मल ध्रुवस्वभाव का स्वीकार करने पर भाव तरंगित होकर उछल उठता है कि अहो! मुझमें विकार है ही नहीं। ऐसी श्रद्धामय शुद्धदृष्टि के द्वारा अपने स्वभाव की प्रतीति और पर-पदार्थ की श्रद्धा की सर्व प्रकार से त्याग की सिद्धि हुई।

मोक्षमार्ग में पुण्य का श्रद्धा से निषेध किया है, वहाँ अवशिष्ट राग से सहज ही उच्च प्रकार का पुण्यबंध हो जाता है। ज्ञानी के पुण्य की इच्छा नहीं होती। कोई भी समझदार किसान घास के लिए अन्न नहीं बोता, क्योंकि जहाँ अन्न उत्पन्न होता है, वहाँ साथ ही घास भी सहज ही मिल जाता है। ज्ञानियों ने स्वभाव के अविनाशी अमृतपान का निराकुल आनन्द आत्मा में से ले लिया है, और पुण्य-पाप को मल की भाँति त्याग दिया है।

आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि हे प्रभु! तू अमृतकुण्ड में रहनेवाला आत्मा चमारकुण्डवान् इस मृतक कलेवर (शरीर) में पुण्यादि को 'मेरा-मेरा' करके उसमें मूर्च्छित हो रहा है। तू संयोगी, नाशवान धूल का आदर और असंयोगी भगवान आत्मस्वभाव का अनादर कर रहा है।

प्रश्न —आत्मश्रद्धा की बात कर डालें, किन्तु सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की क्रिया क्या है?

उत्तर—बाहर की किसी भी क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता। स्वयं अभ्यास करके, सच्ची रुचिपूर्वक स्वभाव को समझने का प्रयत्न करना सो अपूर्व सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की क्रिया है। राग-द्वेष-मोह मेरे नहीं हैं, पर से किसी को हानि-लाभ नहीं हो सकता मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, मैं तो मात्र अपने पूर्ण ज्ञायकस्वभाव में अनन्ती क्रिया कर सकता हूँ। ऐसे स्वतन्त्र स्वभाव को स्वीकार करके, अन्तर्मन्थन करके, यथार्थ निर्णयरूप नि:सन्देह श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की क्रिया है।

मैं अनन्त ज्ञानानन्द हूँ और विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी श्रद्धा करने में ज्ञान की अनन्ती क्रिया हो गयी, मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हो गया और अनन्त भव का प्रत्याख्यान हो गया। अपने स्वतन्त्र पूर्ण स्वभाव को पहचानकर मानना सो उस भ्रान्ति का (मिथ्यात्व का) प्रतिक्रमण है।

अज्ञानी जीव स्वयं ही विपरीत श्रद्धा से अपने ही द्वारा अपना अहित करते हैं। अज्ञान उस अहित का बचाव नहीं हो सकता। अज्ञान से यदि विष खा लिया जाए तो भी उसका फल तो मिलेगा ही, इसी प्रकार अज्ञान कृत राग-द्वेष का फल भी मिले बिना नहीं रहता।

व्यवहार से देखा जाए तो भी कोई किसी का सिरच्छेद करनेवाला नहीं है, क्योंकि आत्मा के हाथ, पैर, मस्तक आदि हैं ही नहीं। आत्मा तो अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी, अरूपी ज्ञानघन है। छिदना, भिदना या संयोग-वियोग होना पुद्गल-जड़ रजकणों का स्वभाव है। शरीर मन, इन्द्रियादि की रचना पौद्गलिक है। पुद्गल जड़द्रव्य है, उसमें गलना-मिलना आदि संयोगीपन का स्वभाव है, वह किसी के आधीन प्रवर्तित नहीं है, स्वतन्त्र स्वभावी है, वह जड़ेश्वर भगवान है। मात्र उसमें ज्ञातृत्व नहीं है, सुख-दु:ख का संवेदन नहीं है, इसके अतिरिक्त उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। वह अपनी पर्याय को स्वतन्त्ररूप से बदलता है। यह बात मिथ्या है कि जब कोई आत्मा उसकी पर्याय को बदले तब वह बदलता है ? यदि वह ऐसा हो कि जब उसकी क्रिया को कोई दूसरा करे तभी हो, तो वह वस्तु पराधीन कहलायेगी-शक्तिहीन कहलायेगी; किन्तु जो वस्तु सत् है वह कभी भी अपनी अनन्त शक्ति से रिक्त नहीं हो सकती। जिसे जड़ की स्वतन्त्र शक्ति की खबर नहीं है, उसे ऐसा लगता है कि जीव के द्वारा किये बिना जड़-पुद्गल की क्रिया नहीं हो सकती। यह भी अनादिकालीन दृष्टि की भूल है।

जड़ और चेतन दोनों तत्त्व बिल्कुल भिन्न हैं, तीनों काल भिन्न हैं। कोई आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता, और पर से कभी किसी को कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। सबका हिताहित अपने भाव में ही है। बाहर के चाहे जितने अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आयें, किन्तु वे मेरे स्वभाव में कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि मैं स्वतन्त्र हूँ। इस प्रकार त्रिकाल स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव की घोषणा करने से अनन्त राग-द्वेष हेतु की बाह्यवृत्ति को समेटकर आत्मस्वरूप के आँगन में आ खड़ा होता है। और जो आँगन में आ खड़ा हुआ है, वह अपना कितना बुरा करेगा ?

यथार्थ समझ के करने में अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ चाहिए। अपने परिणाम के लिए पर के ऊपर दृष्टि नहीं रही, इसलिए अनन्त परद्रव्यों के प्रति का राग-द्वेष न करनेरूप

अनन्त तपस्या आ गयी। पर की इच्छा का विरोध ही तप है, (इच्छानिरोधस्तपः) इसमें संवर भी अन्तर्हित है और यथार्थ मान्यता को स्थिर रखनेवाले अनन्त पुरुषार्थ का भी समावेश हो गया। यह सब ज्ञान की क्रिया है। जो हो सकता है वही कहा जाता है। लोग थोड़ी सी बाह्य प्रतिकूलता आ जाने से आकुल-व्याकुल हो जाते हैं, किन्तु भगवान कहते हैं कि जब मुनि ध्यानमग्न हों तब कोई विरोधी देव (जिसे धर्म की रुचि नहीं है) आकर उनका पैर पकड़कर सुमेरुपर्वत पर ऐसा दे पछाड़े जैसे धोबी कपड़े को पत्थर पर पछाड़ता है, तो ऐसी घोर प्रतिकूलता के समय भी अनन्त मुनिवर्य स्वरूप में एकाग्र रहकर मोक्ष गये हैं; अर्थात् किसी भी आत्मा के अपार शक्तिरूप स्वभाव-भाव को रोकने के लिए जगत में कोई समर्थ नहीं है। शरीर को पर्वत के साथ पछाड़ देने का मुनि को कोई दुःख नहीं होता। जिसे शरीर के प्रति मोह है, उसे अपने राग के कारण शरीर में तनिक सी प्रतिकूलता आने पर दुःख मालूम होता है—वह उसे दुःख मान लेता है। मुनि की दृष्टि शरीर पर नहीं है, और न उस ओर कोई राग है, इसलिए उन्हें शारीरिक प्रतिकूलता में दुःखानुभव नहीं होता। शरीरादिक परवस्तु दुःख का कारण नहीं है, किन्तु पर के प्रति जो अपना राग है, सो वही दुःख का कारण है। कोई शरीर जला दे या घानी में पेल डाले तो - ऐसे शारीरिक संयोग धर्मात्मा को कभी भी हानिकारक नहीं हुये हैं। ऐसे बाह्य-शारीरिक संयोगों के होते हुए भी वे अन्तरंग स्वभाव में लीन रहकर मोक्ष गये हैं, क्योंकि आत्मा में बाह्यसंयोगों की नास्ति है। और जो अपने में है ही नहीं वह अपना हानि-लाभ नहीं कर सकता। मात्र अपनी मान्यता का विपरीत भाव अनन्त हानि करता है और सुलटा भाव अनन्त लाभ करता है।

किन्तु यहाँ तो लोग थोड़ी सी भी बाह्य प्रतिकूलता में या निन्दा करने पर धर्म नहीं सुन सकते - नहीं सुनना चाहते, सम्पूर्ण अनुकूलता होने पर ही धर्म श्रवण करना चाहते हैं। थोड़ी-सी प्रतिकूलता होने पर लोग चीखने-चिल्लाने लगते हैं और द्वेषभाव करने लगते हैं; किन्तु हे भाई! जबकि मनुष्य भव मिला है, तब इसमें प्रतिकूलता को कुछ गिनना-मानना ही नहीं चाहिए। इस पृथ्वी के नीचे नरकक्षेत्र हैं, वहाँ दुःख का ऐसा बाह्य संयोग है कि जिसका वर्णन सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, कँपकपी छूटती है। तू ऐसे बाह्य प्रतिकूल संयोगों में अनन्त बार हो आया है।

जिसकी करोड़ों रुपयों की दैनिक आय हो ऐसे राजा के सुकुमार, सुन्दर एवं

नवनीत के समान सुकोमल शरीरधारी युवक पुत्र को किसी ऐसी भयंकर प्रज्वलित भट्टी में जीवित ही फेंक दिया जाए जो लाखों मन लोहे को गलाकर क्षणभर में पानी बना देती है; तो उसमें जलते हुए राजकुमार को जितना दु:ख होता है, उससे भी अनन्त गुना अधिक दु:ख प्रथम नरक में है और ऐसा दु:ख पहले नरक में कम से कम दस हजार वर्ष तक रहता है। जिसे पाप से भय नहीं और जिसके माँस-भक्षण, परस्त्री सेवन, गर्भपात, मदिरापान एवं शिकार आदि के महा क्रूर परिणाम होते हैं, उसके नरकगति की आयु का बन्ध होता है। वैसे नरक के भयंकर प्रतिकूल संयोगों में भी आत्मप्रतीति की जा सकती है। बाह्य में दु:ख के समय भी दु:खरहित स्वभाव का विचार करने पर कोई जीव अन्तरंग में एकाग्र होकर शुद्ध आत्मा के निर्णय के द्वारा बोधबीज (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त कर सकता है। उस क्षेत्र में भी ज्ञान हो सकता है कि मैंने पहले मुनि के निकट सदुपदेश सुना था, किन्तु उसकी परवाह नहीं की; और ऐसा विचार करते-करते स्वलक्ष्य से आन्तरिक प्रतीति, या प्रकाश पा लेता है। इसमें किसी निमित्तकारण की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा नहीं है कि बाह्य अनुकूलता हो तो भी ज्ञान हो। पाप की भाँति पुण्य के फल से नववें ग्रैवेयक में-सम्पूर्ण बाह्य अनुकूलता में गया, किन्तु वहाँ बाह्य अनुकूलताओं के होते हुए भी निरालम्बी स्वभाव की प्रतीति न करे तो कहीं वे बाह्य संयोग आत्मप्रतीति नहीं करा देंगे!

किसी भी आत्संयोग से न तो आत्मा का धर्म होता है, और न धर्म रुकता ही है; इस प्रकार अपने स्वतन्त्र स्वभाव को मानना सो यथार्थदृष्टि है। देहादि का कोई संयोग मेरा स्वरूप नहीं है। किसी के पहले का बैरभाव जागृत हुआ हो तो वह भले ही शरीर के टुकड़े कर डाले, किन्तु वह आत्मा के लिए हानिकारक नहीं है। वह आत्मा की क्रिया नहीं किन्तु जड़ स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा अनन्त स्वभाव की शक्ति प्रदान करती है। जो ऐसे स्वभाव से इनकार करता है उसे पराधीनता अनुकूल मालूम हो रही है। संयोग की श्रद्धा समताभाव नहीं करा सकती। मेरे स्वभाव को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, ऐसी श्रद्धा को बनाये रखने में अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसी समझ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानपूर्वक समझ और समझ पूर्वक स्थिरता में प्रत्याख्यान और तपस्या इत्यादि ज्ञान की क्रिया आती है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से मिथ्या मान्यता का नाश किया है, उसके अनन्त संसार का कारण मिथ्याभाव रुक गया है, और मिथ्याभाव के रुकने पर मिथ्यामार्ग का

अनुमोदन रुक गया है। इस प्रकार मिथ्यात्वरूप इच्छा का निरोध हुआ सो सच्चा तप है।

पुण्य-पापरहित निरावलम्बी स्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता के द्वारा मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षमार्ग बाह्य संयोगाधीन नहीं है, क्योंकि स्वभाव में संयोग की नास्ति है।

भावार्थ—वर्तमान संयोगाधीन दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा पाँच प्रकार के व्यवहार से अनेकरूप ज्ञात होता है। वे पाँच प्रकार निम्न प्रकार हैं:—

१- अनादि से पुद्गलकर्म का संयोग होने से कर्मरूप मालूम होता है।

२- कर्म के निमित्त से होनेवाले चारगतिरूप—नर, नारक, देव, तिर्यंच के शरीर के आकाररूप दिखायी देता है।

३- आत्मा में अनन्त गुण एकरूप हैं, जो कि सब एक साथ रहते हैं, किन्तु उसकी अवस्था में हीनाधिकता होती रहती है। उस अवस्थादृष्टि से अनेकरूप ज्ञात होता है।

४- श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अनेक गुणों के भेदरूप अवस्थाक्रम के द्वारा देखने पर अनेकरूप दिखायी देता है।

५- मोहकर्म के निमित्त में लगने से राग-द्वेष, सुख-दु:खरूप अनेक अवस्थामय दिखायी देता है।

यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय व्यवहारनय का विषय है। वे सब प्रकार व्यवहारदृष्टि से विकारी अवस्था में हैं, किन्तु स्वभाव वैसा नहीं है। इस संयोगाधीन अनेकरूप दृष्टि से आत्मा का एकरूप स्वभाव दिखायी नहीं देता। जितना परिनिमित्त से अनेक भेदरूप दिखायी दे उतना ही अपने को मान ले तो यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता।

निमित्ताधीन अशुद्ध दृष्टि का पक्ष छोड़कर विकारी अवस्था तथा निमित्त के संयोग को यथावत् जाननेवाले व्यवहारनय को गौण करके, एक असाधारण ज्ञायकभाव-चैतन्यमात्र आत्मा अभेद स्वभावग्रहण करके उसे शुद्धनय की दृष्टि से (१) सर्व परद्रव्यों से भिन्न, (२) त्रैकालिक सर्व पर्यायों में अपने अरूपी, असंख्य प्रदेश के अखण्ड पिण्डरूप से एकाकार, (३) वर्तमान में विद्यमान पर्याय की हीनाधिकता के भेद से रहित, (४) अनेक गुणों के विभिन्न भेदों से रहित, (५) निमित्त में युक्तरूप विकारीभाव से रहित, अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव और गुण-भेद से रहित, निर्विकल्प सामान्य वस्तुरूप

से देखने पर समस्त परद्रव्य और परभावों के अनेक भेदों से युक्त अवस्था की स्वभाव में नास्ति है। इस प्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन का विषय कहा है।

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक जड़ वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, जो कि सर्वज्ञदेव कथित 'स्याद्वाद' से यथार्थ निश्चित होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मोंवाला है। प्रत्येक आत्मा में जो धर्म (गुण) हैं, वे कहीं बाहर से नहीं आते। कर्म के निमित्त से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उठती है, वह आत्मस्वभाव की नहीं है। आत्मा का स्वभाव विकार नाशक नित्य ज्ञानस्वरूप है; पराश्रय से रहित, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित स्वाधीन है। उसे ऐसा न मानना सो मिथ्यात्व-मूढ़ता है; और जैसा है वैसा ही मानना सो सम्यग्दर्शन है। फिर स्वभाव के बल से अशुभराग को दूर करते-करते जो शुभराग रह जाता है उसमें व्रत, तप इत्यादि शुभभाव सहज ही होते हैं; और स्वलक्ष्य से स्थिरता में स्थित होने पर जितना राग का नाश हुआ उतना चारित्र है; किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना व्यवहार से भी व्रत-चारित्रादि अंशमात्र भी सच्चे नहीं होते।

छह पदार्थ अनादि-अनन्त, स्वयंसिद्ध, किसी के भी कार्य-कारण से रहित, स्वतन्त्र हैं; प्रति समय अपनी शक्ति से परिपूर्ण हैं; इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष देखा है। उसमें अनन्त आत्मा स्वतन्त्र अरूपी ज्ञानमय है; अनन्त जड़-पुद्गलपरमाणु अचेतन हैं। और अन्य शेष चार पदार्थ (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल) अचेतन हैं। यह सब पदार्थ अनादि-अनन्त अपने धर्म (गुण) स्वरूप से हैं, पररूप से नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु एक-एक समय में अपने अनन्त गुणस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय बदलती रहती है।

प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, भेदत्व-अभेदत्व इत्यादि अनन्त गुण शाश्वत हैं। कोई आत्मा कभी भी जड़ रजकणरूप, उसके गुणरूप, या उसकी पर्यायरूप में नहीं होता; इसलिए वह परवस्तु का कर्ता नहीं है। और वह अनन्त परमात्मारूप या उनके गुण-पर्यायरूप नहीं होता कभी हो ही नहीं सकता। इसलिए कोई आत्मा किसी के कार्य-कारणरूप नहीं है। आत्मा अनादि-अनन्त सत् पदार्थ हैं, इसलिए अनादि काल से अनन्त देहादि के संयोग के बीच रहकर भी किसी भी पर के साथ किसी भी काल में पररूप न

होनेवाला अपने में अपना अनन्यत्व नामक गुण हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं। जैसे एक कलम अनन्त रजकणों का पिण्ड है, यदि उसमें वस्तुरूप से परमाणु पृथक् न हों तो वे अलग नहीं हो सकेंगे। परमाणुओं का क्षेत्रान्तर या रूपान्तर होता है किन्तु मूल वस्तु का कदापि नाश नहीं होता। यदि प्रत्येक वस्तु में अनन्त पर-पदार्थरूप न होने की शक्ति न हो तो स्वतन्त्र वस्तु ही न रहे। प्रत्येक रजकण में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और उपरोक्त अस्तित्व, अन्यत्व आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। वे अपनी शक्ति से अपनेपन को सुरिक्षत पर्याय बदलते रहते हैं।

जैसे—एक डाकू को अधिकार में रखने के लिए पचास चौकीदारों को रखना पड़ता है। यह डाकू के बल का प्रभाव है, तथापि उस डाकू की सत्ता चौकीदारों से अलग ही है; इसी प्रकार एक आत्मा के विपरीत रुचि की प्रबलता से भावबन्ध के कारण अनन्त परमाणुओं का संयोग है, तथापि उसमें मात्र चैतन्य की प्रबलता है। आत्मा कदापि अपनी चैतन्यसत्ता से छूटकर रूपित्व को प्राप्त नहीं होता, चैतन्यस्वरूप में से एक अंश भी कम नहीं होता। इस प्रकार शरीर के रजकण चैतन्य को प्राप्त नहीं हो सकते और आत्मा कभी शरीर के रजकणरूप जड़ता को प्राप्त नहीं होता। न तो चैतन्य में जड़ है और न जड़ में चैतन्य। दोनों अनादि काल से अलग थे और वर्तमान में भी अलग ही हैं। अलग वस्तु कभी भी दूसरे में नहीं मिल सकती। यदि आत्मा और शरीर एकमेक हों तो चैतन्य (आत्मा) के उड़ जाने पर जड़ शरीर भी उड़ जाना चाहिए, किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। जड़-चेतन दोनों द्रव्यों के स्वभाव त्रिकाल भिन्न हैं। जो वस्तु है उसका त्रिकाल में भी सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु मात्र पर्याय बदलती रहती है, जिसे लोग नाश कह देते हैं। जो वस्तु है ही नहीं वह कदापि नवीन उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु वस्तु की पर्याय नयी प्रगट होती है, जिसे लोग (अवस्था पर दृष्टि होने से) वस्तु का उत्पन्न होना मानते हैं।

सर्वज्ञ कथित स्याद्वादन्याय से अनन्त धर्मस्वरूप स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को भलीभाँति निश्चित किया जा सकता है। स्वतन्त्र वस्तु के अनेक धर्मों में से जिस अपेक्षा से जो स्वभाव है, उसे मुख्य करके कहना सो *स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु अपनेपन से त्रिकाल है,

* स्यात=अपेक्षा, वाद=कथन अर्थात् अपेक्षादृष्टि से कहना।

और पररूप से एक समयमात्र को नहीं है। इस प्रकार अस्ति-नासित से वस्तु के निश्चयस्वरूप को जानना सो स्याद्वाद की सच्ची श्रद्धा है। आत्मा कभी तो पर की क्रिया करे और कभी न करे, ऐसा विपरीतवाद, विचित्रवाद सर्वज्ञदेव के शासन में नहीं है।

प्रत्येक वस्तु त्रिकाल स्थायी होने की अपेक्षा से नित्य है, और पर्याय परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य है। निश्चयदृष्टि से-वस्तुदृष्टि से नित्य अभिन्नता और पर्यायदृष्टि से भिन्नता (अपेक्षादृष्टि से) यथावत् कही जाती है। एक धर्म के कहने पर (स्वभाव या गुण के कहने पर) दूसरे को गौण कर दिया जाता है। जिस दृष्टि से शुद्ध कहा, उसी दृष्टि से अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। किन्तु अशुद्ध को बताते समय शुद्ध को गौण कर देते हैं, इस प्रकार स्याद्वाद है। एक वस्तु को परधर्म के साथ एकमेक न करके, जिस प्रकार स्वतन्त्र वस्तु है, उसे वैसा ही बतानेवाला स्याद्वाद है। अनेकान्तस्वरूप स्वतन्त्र वस्तु को भगवान के द्वारा कथित स्याद्वाद से भलीभाँति जाना जा सकता है।

विचारों में प्रति समय परिवर्तन होता है। विचार करनेवाला स्वतन्त्रतया स्थिर रहकर पर्यायरूप से बदलता रहता है। उस पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता है। यदि कोई कहे कि-आत्मा सर्वथा नित्य, कूटस्थ, शुद्ध ही है, वह पर्याय परिवर्तन नहीं करता तो वह सर्वथा एकान्तवादी है। एक पक्ष की मिथ्या मान्यता को दूर करके दोनों पहलुओं का यथार्थ ज्ञान करनेवाला स्याद्वाद ही न्याय पूर्ण है। उसके द्वारा द्रव्यदृष्टि से शुद्धत्व, नित्यत्व इत्यादि धर्म बताये जाते हैं, और पर्यायदृष्टि से वर्तमान अशुद्धता, अनित्यता आदि यथावत् बतायी जाती हैं।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, उनमें से कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं; वे पर-निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते। जैसे ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि गुण किसी के निमित्त से नहीं; किन्तु स्वयंसिद्ध हैं। उन गुणों में पराधीनता, परापेक्षा या बाधारूप आवरण नहीं होता। जो है सो अनादि-अनन्त है, इसलिये गुणरूप धर्म नित्य है, वह शुद्धस्वभाव से एकरूप है।

पर्यायदृष्टि से आत्मा अशुद्ध है, किन्तु अशुद्धता उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा में जड़कर्म नहीं हैं, किन्तु जड़कर्मों का संयोग प्राप्त करके मिथ्याभाव के द्वारा पर में कर्तृत्व (अपनापन) स्थापित करके राग-द्वेष की अवस्था को स्वयं धारण कर रहा है; तथापि वह

अपने ज्ञानस्वभाव से अलग नहीं हो गया है। अनादि काल से अशुद्ध पर्यायबुद्धि की पकड़ से बाह्य देहादि संयोगों पर लक्ष्य करके, अपने में पर का आरोप करके पुण्य-पाप भाव करता है। उस संयोगी विकारीभाव के द्वारा जीव को संसार की प्राप्ति होती है। जीव आकुलता के कारण शुभाशुभभाव करता है और उसके फलस्वरूप संसार का सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि को भोगता है।

आत्मा न तो पर का कुछ कर सकता है और न पर को किसी प्रकार से भोग ही सकता है। कर्मसंयोग से जो भाव होते हैं वे अज्ञानी जीव के होते हैं। पुण्य-पाप के भावों का फल बाह्य में संयोगदान करना है, और अज्ञानी जीव उसमें सुख-दु:ख की कल्पना करके थोड़े दु:ख को सुख मानता है और अधिक दु:ख को दु:ख मानता है; किन्तु वास्तव में तो दोनों दु:खी ही हैं, उनमें कहीं किंचित् भी सुख नहीं है। देवपद, राजपद इत्यादि पुण्य के फल को अज्ञानी जीव सुख मानता है और नरक, निर्धनता आदि में दु:ख मानता है; किन्तु ज्ञानी पुण्य और पाप दोनों के फल को दु:खरूप ही मानता है; उसे दु:ख ही कहता है। बहुत से धनिक व्यक्ति आत्मप्रतीति के बिना देहबुद्धि के द्वारा चमारकुण्ड में मोह को प्राप्त हो रहे हैं, वे सब दु:खी ही हैं। उत्कृष्ट देवत्व भी मिल जाये तो भी उसे ज्ञानी दु:ख ही मानते हैं। क्योंकि जब आत्मस्वभाव को भूलकर विभावरूप शुभभाव किये तभी वह देवत्व मिला है, इसलिए वह दु:ख ही है।

कई लोग रुपये-पैसे से धर्म होना मान बैठे हैं। उन्हें सच्चे धर्म की और सच्चे सुख की ही खबर नहीं है। वे द्रव्य कमाने के लिये कई वर्ष परदेश में रहते हैं, और कभी देश में आकर मान बढ़ाई के लिए पाँच-दस हजार रुपये धर्म के नाम पर खर्च कर जाते हैं, तो उन्हें यह सुनानेवाले भी मिल जाते हैं कि अहो! आपने खूब धर्म किया, आप बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं। यह सुनकर रुपया-पैसा खर्च करनेवाला भी मान लेता है कि मैंने बहुत उत्तम कार्य किया, मैंने खूब धर्मकार्य किया है, मुझे धर्म की प्राप्ति हुई; इत्यादि। इस प्रकार विपरीत मान्यता के कारण यथार्थ वस्तुस्वभाव को समझने की चिन्ता नहीं रहती।

जैसे - शरीर के एक अंग में फोड़ा हुआ हो, किन्तु सारे शरीर को फोड़ामय मान ले तो वह मान्यता मिथ्या है, इसी प्रकार प्रति समय अनंत गुणस्वरूप आत्मा अनंत शक्ति से त्रिकाल स्थायी है, उसे परनिमित्त के संयोग से वर्तमान एक-एक समय मात्र का मान

ले तो वह भूल है—अज्ञान है। पुण्य-पाप फोड़े के समान हैं, आत्मा तद्रूप नहीं है।

संयोगाधीन दृष्टिवाला धर्म के लिए साक्षात् तीर्थंकर भगवान के निकट जाकर भी अपनी विपरीत मान्यता को चिपकाये हुए यों ही वापिस आ जाता है। उसके अन्तरंग में स्व-पर विवेक की यह बात ही नहीं जमती कि 'मैं पर से भिन्न हूँ, इसलिए पर का कुछ भी नहीं कर सकता।' आचार्यदेव कहते हैं कि पर में कर्तृत्व मानकर जीव राग-द्वेष करता है, इसीलिए अनादि काल से दु:खी होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जो यह मानता है कि देह की क्रिया मेरी है और मैं उसकी सम्हाल कर सकता हूँ, वह शरीर और आत्मा को एक मान रहा है। दूसरे का कुछ करने-धरने की वृत्ति का होना भी राग है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा राग-द्वेष के भावमात्र के लिए नहीं है, किन्तु विकार का नाशक, अखण्ड ज्ञायकस्वरूप ध्रुव है। ऐसे सम्पूर्ण आत्मा को पहिचाने बिना अखण्ड आत्मस्वभाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता अर्थात् परिपूर्ण स्वतन्त्रता की श्रद्धा के बिना अंशमात्र भी यथार्थ जागृत नहीं होता।

श्रद्धा के अखण्ड लक्ष्य में भेद नहीं हैं, इसलिए अखण्ड स्वभाव और खण्डरूप पर्याय को सर्वज्ञ के आगम से जानकर, खण्डरूप पर्याय का लक्ष्य गौण करके, अनादि-अनन्त, एकरूप, ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा करे तो पर्यायबुद्धि का नाश होकर पर में कर्तृत्व का अहंकार दूर होकर अखण्ड ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता होती है।

पर में सुख नहीं है, तथापि संसार के अज्ञानी जीव पर में सुख मानकर विपरीत मान्यता पर कितना भार देते हैं ? सुवर्ण में, रुपये-पैसे में, खान-पान में, मकान में और शरीरादि अनन्त परवस्तुओं में राग करके, उनमें सुख की विपरीत मान्यता के आग्रह से भिन्न ज्ञायकस्वभाव की विरोधरूप दृष्टि के बल से अशुद्ध पर्याय पर भार देते हैं। पर्याय के आश्रय से एकान्त राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होती है। उस विपरीत मान्यता को पलटकर यथार्थ मान्यता करके उसके द्वारा पूर्ण ज्ञानघन अविनाशी सम्पूर्ण स्वभाव को लक्ष्य में लेना सो यही यथार्थदृष्टि है। इससे अशुद्ध पर्याय में अहंबुद्धि मिट जाती है, पर में कर्तृत्वभाव नहीं होता।

किसी को लड्डू खाते देखकर कोई दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि क्यों! लड्डू का स्वाद आ रहा है ? तो वह उत्तर में कहता है कि हाँ, बहुत अच्छा मीठा स्वाद आ रहा

है। इस प्रकार राग की एकाग्रतारूप आकुलता में जड़ के स्वाद का आरोप करके ऐसा मानता है कि जड़ में से स्वाद आ रहा है। उसे यह खबर नहीं है कि जड़ के रस को जाननेवाला स्वयं जड़ के स्वाद से भिन्न है और लड्डू के जो रजकण अभी स्वादिष्ट प्रतीत हो रहे हैं वे कुछ ही समय बाद मलरूप हो जाएँगे। उसे यह जानने-देखने का धैर्य नहीं है, इसलिए ऐसा विपरीत निर्णय जम गया है कि पर में सुख है। वह लड्डू में स्वाद मानता है, किन्तु यह नहीं जानता कि लड्डू या उसके स्वाद को जाननेवाला स्वयं कैसा है ? यदि कोई उससे यह कहे कि 'तुझे जिस स्वाद का अनुभव हो रहा है वह लड्डू में से नहीं आ रहा है, क्योंकि तू लड्डू के स्वादरूप-जड़ नहीं हो गया है। मिठास जड़ के रसगुण की पर्याय है; तेरा ज्ञान मीठा या कड़वा नहीं होता, तूने स्वाद नहीं लिया है, किन्तु स्वाद में राग किया है;' तो वह इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होगा। स्वाद से पृथक्त्व को स्वीकार करते हुए भारी कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि अनादि काल से पर में एकमेकता मान रखी है—पर में सुखबुद्धि मान रखी है।

अनादि कालीन विपरीत दृष्टि का बल बाह्यक्रिया या हठ से दूर नहीं होता; किन्तु पर से भिन्न-स्वतन्त्र स्वभाव को समझे और उसकी महिमा को जानकर उसी का आश्रय ले तो पर-विषय में सहज ही तुच्छता प्रतीत होने लगे। स्वभाव दृढ़ता हुए बिना-भीतर गहरे तक जो पुण्य की मिठास हुई है, वह दूर नहीं हो सकती।

आत्मा के अनादि कालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है। उसे अनादि-अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। उसे बतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है, जो कि अखण्ड है, नित्य है, अनादिनिधन है। उसे जान लेने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है।

ऊपर यह कहा गया है कि पर्यायबुद्धि की पकड़ कैसे छूट सकती है। पूर्वापर विरोध से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के द्वारा श्रद्धा में पूर्ण एकरूप नित्य अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को अंगीकार करने से भूल दूर होती है। फिर उसे पर का कर्तृत्व या पर का स्वामित्व नहीं रहता। पुण्य-पाप के विकार में भी स्वामित्व नहीं है। एकरूप ज्ञायकस्वभाव को देखने पर यह प्रतीत हो जाता है कि मैं परद्रव्यों से और परद्रव्यों के भावों से भिन्न हूँ; देहादिक जड़ की अवस्था बदलनेरूप जो क्रिया—खाना-पीना, बोलना-चालना, उठना-बैठना और

चलना तथा स्थिर रहना है सो सब जड़ की क्रिया है, मेरी नहीं है, और न मेरे आधीन है, उसमें मेरी कोई प्रेरणा भी नहीं है, और न उससे मुझे कोई हानि-लाभ है; क्योंकि वह स्वतन्त्र परमाणुओं की अवस्था है और मैं जड़ से भिन्न हूँ।

परद्रव्यों से, उनके भावों से (अवस्था से) और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर उसका अनुभव जीव करे तब वह परद्रव्यों के भावरूप परिणमित नहीं होता; उससे कर्मबन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है, और शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका अवलम्बन दिया है।

जड़कर्म के संयोग में युक्त होने से क्षणिक अवस्था जितने पुण्य-पाप के विकारी भाव होते हैं, तद्रूप मैं नहीं हूँ, विकारी भाव मेरे (स्वभाव के) नहीं हैं, यह जानकर अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण करके, अखण्डस्वभाव के बल से स्वभाव में एकाग्र होकर नित्य, अखण्ड, ज्ञायक पूर्ण हूँ, इस प्रकार निश्चयरहित अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है। उसके बल से पर से भिन्नत्व का अभ्यास निरन्तर रहता है, इसलिए परद्रव्य के भावरूप से आत्मा कभी परिणमित नहीं होता—परभावरूप नहीं होता, अज्ञानभाव से पर में कर्तृत्व नहीं मानता, इसलिए परमार्थ से कर्मरूपी आवरण का बन्धन नहीं होता। ऐसा समझ लेने पर श्रद्धा-ज्ञान के बल से उसके विरोधरूप मिथ्याभाव का नाश होने से उसमें कर्म फिर से नहीं बँधते और क्रमशः संसार का, एवं चारित्र की अस्थिरता का अन्त हो जाता है। ऐसा होने से भेद के आश्रित-पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके उसे अभूतार्थ कहा है।

यथार्थ वस्तुस्वरूप की प्राप्ति तथा उसमें यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान का अनुभव प्राप्त होने के बाद नयपक्ष के विकल्प का अवलम्बन नहीं रहता। अर्थात् श्रद्धा में पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा हूँ—ऐसा वर्तमान में ही पूर्णता का निःसन्देह विश्वास होने से स्वरूप के निर्णय सम्बन्धी शंका नहीं रहती और चारित्र में पूर्ण होने के बाद केवलज्ञान में सूक्ष्म राग या विकल्प का अवलम्बन नहीं होता।

परनिमित्त के भेद से रहित, शुभाशुभ विकल्परहित अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने के बाद श्रद्धा सम्बन्धी रागरूप व्यवहार का भार छूट जाता है और त्रिकाल ज्ञानस्वभाव के स्वामित्व के द्वारा शुभ या अशुभ रागरूप किसी भी प्रकार की आकुलता

के भाव का स्वामित्व नहीं रहता। कोई आत्मा त्रिकाल में भी पर का कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानभाव से जो अपने को राग-द्वेष का कर्ता मान रहा था और शुभराग को तथा पुण्यादि परवस्तु को सहायक मानता था, सो वह विपरीत मान्यता सच्ची दृष्टि होने पर छूट गयी, इसलिए उसे पराश्रयरूप व्यवहार कहकर, स्वाश्रित लक्ष्यसहित श्रद्धा के बल से गौण किया, और फिर चारित्र के बल से उसका अभाव होता है, इसलिए भेदरूप व्यवहार को अभूतार्थ कहा है, अर्थात् यह कहा है कि वह आत्मा के साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय खरगोश के सींग के समान सर्वथा असत् है।

सम्पूर्ण स्वभाव में परनिमित्त का भेद नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्था में जड़कर्म का संयोग और पुण्य-पाप का विकार तथा देहादि का संयोग व्यवहार से है। किन्तु वह संयोग है ही नहीं और अशुद्ध अवस्था में भी नहीं है तथा पर्यायभेद भी नहीं है, ऐसा मानने से तो जो संसार को सर्वथा अवस्तु (भ्रमरूप) मानता है, ऐसे वेदान्तमत का एकान्त पक्ष आ जाएगा और उससे मिथ्यात्व आ जाएगा; इस प्रकार वह शुद्धनय का अवलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टित्व का कारण हो जाएगा। इसलिए सर्व नयों की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

जगत में अनन्त जीव और अनन्त जड़-परमाणु हैं। विकारी अवस्था में संयोगभाव, राग-द्वेष और अज्ञान जिसे है उसके अशुद्धता व्यवहार से सत्यार्थ है। उस अवस्था के भेद को गौण करके अखण्ड-स्वभाव में द्रव्यदृष्टि से देखने पर कोई आत्मा विकाररूप नहीं है, क्षणिक अवस्था जितना नहीं है। किन्तु यदि कोई एकान्त शुद्धनय का पक्ष लेकर वर्तमान अवस्था को साक्षात् पूर्ण शुद्ध मान ले-पूर्णदशा के प्रगट न होने पर भी उसे प्रगट मान ले और अशुद्ध अवस्था को न माने तो फिर राग को दूर करने का पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही? इसलिए 'तू दुःख से मुक्त हो'—यह शास्त्र कथन ही मिथ्या सिद्ध होगा। इसलिए आत्मा निश्चय से शुद्ध है और पर्याय से अशुद्ध है; इस प्रकार दोनों अपेक्षाओं से जानकर शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से पर्याय की अशुद्धता को दूर करने का पुरुषार्थ करे तभी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो।

जीव में पराश्रितभाव करने से प्रति समय राग-द्वेष-मोहरूप नवीन विकारी अवस्था

उत्पन्न होती है और वह विकारी अवस्था ही संसार है। वह विकार स्वभाव में से नहीं आता; यदि विकार स्वभाव में से आता हो तो कभी दूर नहीं हो सकता। आत्मा को कर्म या परवस्तु बलात् राग-द्वेष नहीं कराते। जब स्वयं स्वलक्ष्य को चूककर परवस्तु पर लक्ष्य करके उसमें शुभ-अशुभ भाव से (अच्छा-बुरा मानकर) रुक जाए तब उस भाव का आरोप करके जड़कर्म को राग-द्वेष का निमित्त कहा जाता है। और यदि रागादिभाव में युक्त न होकर स्वलक्ष्य से ज्ञान करे तो कर्म ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। किन्तु इतना निश्चय है कि जब जीव राग-द्वेष करता है तब सन्मुख परवस्तु-जड़कर्म अपने-अपने स्वतन्त्र कारण से उपस्थित होते हैं और उनमें युक्त होकर आत्मा स्वयं विकारीभाव करता है। परलक्ष्य किये बिना स्वलक्ष्य से विकार नहीं हो सकता। अखण्ड श्रद्धा में अवस्थाभेद नहीं हैं; किन्तु ज्ञान में पूर्ण शुद्ध स्वभाव और वर्तमान अपूर्ण अवस्था दोनों को बराबर जानना चाहिए। विपरीत पुरुषार्थ के कारण जीव में विकारी अवस्था निज में ही होती है और पूर्ण शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से-पुरुषार्थ से वह दूर की जा सकती है।

कोई कहता है कि - जागृत अवस्था में कुछ और ही दिखायी देता है तथा स्वप्नावस्था में कुछ अलग ही दिखायी देता है, इसलिए जो स्वप्नावस्था में दिखायी देता है, वह असत् है अर्थात् उसे मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो 'है' उसे जानना तो होगा ही न? असत्, असत् के रूप में भी है, ऐसा तो जानना ही पड़ेगा। यदि ऐसा माने कि स्वप्न कोई वस्तु ही नहीं है और उसका सर्वथा अभाव ही है, तो जो वस्तु नहीं है उसका ज्ञान कहाँ से आया? यदि स्वप्नदशा को न माने तो स्वप्न का ज्ञान करनेवाले को भी नहीं माना जा सकेगा। स्वप्न एक अवस्था है और वह त्रिकाल स्थायी किसी वस्तु के आधार से ही होती है। इस प्रकार व्यवहार अवस्था सत्यार्थ है, उसका ज्ञान करना आवश्यक है। किन्तु वह अवस्था नित्य एकरूप रहनेवाली नहीं है, इस अपेक्षा से अभूतार्थ है।

वर्तमान अवस्था है, निमित्त है, उसका निषेध नहीं किया किन्तु अपनी अवस्था और बाह्य निमित्त जैसे हैं, उन्हें वैसा ही जानना सो व्यवहार कहा गया है।

सर्वज्ञ के स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिए, मुख्य-गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष को नहीं पकड़ना चाहिए। जगत में धर्म अनेक प्रकार से माना जा रहा है, किसी को एकान्त शुद्धनय का पक्ष है तो किसी को एकान्त

अशुद्धनय का पक्ष है, उस सम्पूर्ण विरोधी मान्यता को दूर करके इस कथन में टीकाकार आचार्यदेव ने स्याद्वाद बतलाया है। पर से भिन्न और त्रिकाल पूर्ण शुद्ध स्वभाव के निर्णय के बिना विकार का नाश नहीं होगा, और यदि अपने को विकारी अवस्था जितना बन्धवाला ही माने तो किस स्वभाव के लक्ष्य से अविकारीपन प्रगट करेगा ? तात्पर्य यह है कि यदि दोनों अपेक्षाओं को माने तो विकारी पर्याय का नाश करके शुद्ध अविकारी स्वभाव को प्रगट कर सकेगा।

यहाँ यह जानना चाहिए कि जो यह नय है सो श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बताता है, इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बताता है। बिल्कुल स्पष्ट और पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में होता है। जैसी श्रद्धा केवलज्ञानी को है वैसी ही सम्यग्दृष्टि को भी है, मात्र अपूर्ण ज्ञान के कारण परोक्ष है, फिर भी अनुभव की अपेक्षा से केवली के समान ही अंशत: साक्षात् आनन्द का स्वाद लेता है। जैसे-कोई अन्ध पुरुष मिश्री खाता है तो उसे उसका वैसा ही स्वाद आता है जैसा चक्षुष्मान पुरुष को मिश्री का स्वाद आता है; अन्तर इतना ही है कि अन्ध पुरुष मिश्री को प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी और पूर्ण ज्ञानी को आत्मा का अनुभव होता है किन्तु निम्न दशा में सम्यग्ज्ञानी को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्य शक्तिमात्र है। यह शक्ति आत्मा में परोक्षरूप से विद्यमान ही है। सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव वर्तमान में प्रगट निर्मल मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं है तथापि उसके यथार्थ प्रमाणरूप शुद्धनय के द्वारा अनुमान करके यह ठीक निर्णयरूप से माना जा सकता है कि सम्पूर्ण स्वभाव चैतन्यशक्ति से पूर्ण है और उसमें अप्रगट पूर्ण ज्ञानशक्ति है।

वर्तमान परोक्ष ज्ञान की व्यक्त-प्रगट दशा कर्म के संयोग से मति-श्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है। मति-श्रुत के निर्मल होने पर, स्वलक्ष्य में एकाग्र होने से चतुर्थ गुणस्थान में भी केवलज्ञानी के समान अंशत: साक्षात् अनुभव होता है, वहाँ मात्र अनन्त गुण का परोक्ष दर्शन होता है, प्रत्यक्ष नहीं।

जैसे वर्तमान में कोई जीव राग-द्वेष या हर्ष-विषाद का स्वयं संवेदन करे और कहे कि हृदय सदा धधकता रहता है, कहीं भी चैन नहीं पड़ता। उस मनुष्य का आकुलताभाव

दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि वह साक्षात् आकुलता का वेदन करता है। उससे विपरीत मैं निराकुल आनन्दमय शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, ऐसे निर्णय से युक्त स्वभाव के बल से एकाग्र होने पर विकल्प का बुद्धिपूर्वक लक्ष्य छूटकर अपूर्व शान्ति का अंशत: प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

आत्मा चैतन्यरूप शान्ति का सागर है। भूलरहित-आकुलतारहित पूर्ण स्वभाव को स्वीकार किया कि वहीं आंशिक शान्ति का अनुभव होता है और अविकारी पूर्ण प्रतीति के बल से प्रत्यक्ष अनुभव होता है; और उसके लिए किसी दूसरे से पूछने को नहीं जाना पड़ता। जैसे किसी ने दस-पाँच लाख रुपये कमाये हों तो उसे गाँव में ढोल पिटाने की आवश्यकता नहीं होती अथवा किसी से कह-सुनकर स्वीकार कराने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार मिश्री की एक डली का प्रत्यक्ष स्वाद लेने के बाद यह विश्वासपूर्वक प्रतीति हो जाती हे कि परोक्ष हजारों मन मिश्री ऐसी ही है; इसी प्रकार आंशिक निराकुल अनुपम शान्ति में अनन्त पुरुषार्थ का बल भीतर से आता है, स्वयं दृष्टि में त्रिलोकीनाथ परमात्मा वर्तमान में हो जाता है, इसके लिए किसी से पूछने को नहीं जाना पड़ता—यह ऐसा नगद धर्म है।

सम्पूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान छद्मस्थ को प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि वह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। निम्नदशा में सम्पूर्ण आत्मा साक्षात् प्रत्यक्ष लक्ष्य में न आये तथापि अपने को पर से भिन्नरूप से स्वभावरूप लक्षण से निश्चय करनेवाला अंशत: प्रत्यक्ष निर्मल ज्ञान है, वह सम्पूर्ण अप्रगट निर्मल ज्ञान की आत्मा में प्रतीति करता है। वह पूर्ण को साक्षात् न जाने किन्तु स्वानुभव का वेदन वर्तमान अपूर्ण ज्ञान में अंशत: प्रत्यक्ष होता है।

जब तक यह जीव शुद्धनय के द्वारा पूर्ण ज्ञानघन, पर से भिन्न आत्मा को न जाने तब तक रागरूप विकल्प से छूटकर निर्विकल्प पवित्र आत्मा के पूर्ण रूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता, इसलिए श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करने का उपदेश दिया है।

साक्षात् तीर्थंकर भगवान से प्राप्त उपदेश गुरु परम्परा से चला आया है, उसे सन्त पुरुषों ने अनुभव में उतारकर, जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसी शुद्धदृष्टि से अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटाने का उपाय शुद्धनय है, यह जानकर संसारी जीव के भवमरणों को दूर करने के लिए अकषाय करुणा करके शुद्धनय को ही मुख्य करके अत्यन्त बलपूर्वक

उसका प्रगट उपदेश दिया है। आत्मा जड़कर्म के बन्धन से रहित, पर में कार्य-कारण से रहित पूर्ण ज्ञान घनस्वभाव है, उसे यथार्थ जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए, अर्थात् वर्तमान संयोगी अवस्था को अपना स्वरूप नहीं मानना चाहिए। पर में कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि के फलस्वरूप अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए उस भूल का त्याग करके—मैं वर्तमान अवस्था जितना नहीं हूँ किन्तु विकारी अवस्था का नाशक हूँ, इस प्रकार शुद्धनय के द्वारा पूर्ण केवलज्ञानस्वभावी आत्मा को स्वीकार करना सो सच्ची श्रद्धा का विषय है। पूर्ण स्वरूप शुद्ध आत्मा के यथार्थ निर्णय के बिना सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती और स्वरूप की सच्ची श्रद्धा के बिना यथार्थ चारित्र और केवलज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि - ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखायी देता नहीं है, इसलिए बिना देखे ही श्रद्धान करना मिथ्याश्रद्धान है ?

आचार्यदेव प्रश्नकार का समाधान करते हुए कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जिज्ञासाभाव से समझने के लिए प्रश्न पूछे और सत्य को सुनने के लिए उत्सुक हो तो उसे भी पर से भिन्न आत्मा की बात भलीभाँति समझ में आ जाती है। पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात को सुना है वह भव्य पुरुष भावी मुक्ति का भाजन अवश्य होता है। अन्तरंग से सत् का आदर करनेवाला पात्र जीव अल्प काल में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अवश्यमेव पात्र है। सत् की स्वीकृति के बाद समझने के लिए आशंका हो, बारम्बार सुने और समझ में न आये तो पूछे, उसमें अकुलाहट या आलस्य न लाये तो वह अवश्य समझ में आ जाता है।

जिज्ञासु की ओर से समझने के लिए ऐसा प्रश्न उपस्थित किया गया है कि शुद्ध और मुक्त आत्मा प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता तो हम उसे बिना देखे-जाने, यों ही कैसे मान लें ?

उत्तर:—मात्र देखे हुए का ही श्रद्धान करना, सो तो नास्तिक मत है। जैसे-अपने पिता की सातवीं पीढ़ी को प्रत्यक्ष नहीं देखा है फिर भी अनुमान से सिद्ध होता है कि सातवीं पीढ़ी अवश्य थी, उसमें कोई शंका नहीं होती। जबकि मैं हूँ तो मेरे पिता के पिता और उनके पिता की परम्परा अन्त तक अवश्य होगी। इसी प्रकार समुद्र का दूसरा किनारा

दिखायी नहीं देता फिर भी वह नि:शंक माना जाता है। पेट की आँतें दिखायी नहीं देतीं फिर भी उसे मानता है। खाये हुए अन्न की विष्टा बनती दिखायी नहीं देती फिर भी उसे मानता है, कुनेन की गोलियों से बुखार मिट गया यह दिखायी नहीं देता फिर भी उसे मानता है— इस प्रकार अरूपीभाव का अनुभव प्रति समय हो रहा है।

वर्तमान में पुण्य-पाप नहीं किया फिर भी धन इत्यादि का संयोग प्राप्त होता है, वह वर्तमान चतुराई अथवा सयान नहीं किन्तु पूर्व कृत पुण्य का फल है; वह पुण्य आँखों से दिखायी नहीं देता फिर भी बाह्य में संयोग देखकर उस पुण्य की मिठास का साक्षात् वेदन करता है। उस समय वह ऐसा विचार कभी नहीं करता कि उस अरूपी पुण्यभाव को प्रत्यक्ष देखूँ तो ही मानूँ तथा उपरोक्त सभी बातों को प्रत्यक्ष देखूँ तो ही मानूँगा।

यह किसने ज्ञात किया कि नींबू खट्टा है ? क्या जीभ ने ज्ञात किया है ? जीभ तो जड़ है उसने नहीं जाना, किन्तु उसी स्थान पर जीभ से भिन्न अरूपी ज्ञान विद्यमान है जिसने उसे जाना है। यदि जीभ इत्यादि इन्द्रियों से ज्ञान होता हो तो निर्जीव-मृत शरीर में ज्ञान क्यों नहीं होता ? सच बात तो यह है कि जाननेवाला (ज्ञाता आत्मा) शरीर से भिन्न रहकर जानता रहता है।

जैनशासन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। उनमें से आगम प्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। उस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए। केवल व्यवहार प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिए। पहले शास्त्रज्ञान के द्वारा जान ले, फिर अन्तरंगदृष्टि से अनुमान प्रमाण करे कि मैं नित्य ज्ञानस्वभावी हूँ। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है वह हीन-अपूर्ण या पराधीन कैसे हो सकता है ? जबकि मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ तो किसे नहीं जानूँगा ? इस प्रकार अपने पूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव को परोक्ष ज्ञान से पूर्ण-निश्चयरूप से लक्ष्य में लिया जा सकता है।

यदि पिताजी किसी बही में यह लिख गये हों कि सौ तोला सोना अमुक स्थान पर धरती में पड़ा हुआ है, तो वह सोना प्रत्यक्ष न होते हुए भी अपने पिता के विश्वास के आधार पर मान लिया जाता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने साक्षात् ज्ञान से आत्मस्वरूप एवं मोक्षमार्ग के स्वरूप का जिस प्रकार अनुभव किया है और जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में अवतरित हुआ है, उनके उस निर्दोष वचन से उनका सम्पूर्ण

स्वरूप जान लेने पर यह भलीभाँति माना जा सकता है कि अपना परमार्थस्वरूप भी वैसा ही है।

वैद्य और डॉक्टरों पर रोगी कैसे विश्वास कर लेता है ? कोई वैद्य बीसों औषधियों को एकत्रित करके और उन्हें नीबू के रस में घोंटकर राई के दाने बराबर गोलियाँ बनाकर बीमार को देता है और कहता है कि मैंने इसमें बीसों प्रकार की दवाइयाँ डाली हैं, तो रोगी उस पर विश्वास कर लेता है। कोई भी रोगी चाहे जिस वैद्य के पास न जाकर प्रामाणिक वैद्य को ढूँढ़कर उसी का विश्वास करता है। वैद्य कहता है कि यह सहस्रपुटी अभ्रक भस्म है, यदि इसे छह मास तक विधिपूर्वक सेवन करोगे तो रोग मिट जाएगा, और वह उन लोगों का उदाहरण देता है जिनका रोग उसकी औषधि से मिटा है। इस प्रकार औषधि की प्रशंसा सुनकर जीवन का लोभी (शरीर का रागी) रोगी उसका विश्वास कर लेता है जो वर्तमान में दिखायी नहीं देता। किन्तु यह सांसारिक बात है, बाह्य संयोग की सारी बातें पूर्व पुण्याधीन होती हैं, उसमें किसी का कुछ नहीं चलता, यदि पूर्व पुण्य होता है तभी बच सकता है। किन्तु यहाँ तो त्रिलोकीनाथ साक्षात् महावैद्य हैं, जिनकी बतायी हुई औषधि अचूक है। अनादि कालीन रोगियों से सर्वज्ञ महावैद्य कहते हैं कि तुम हमारी ही भाँति पूर्ण पवित्र हो, अविनाशी निरोगी हो, तुम्हारा स्वरूप संयोगाधीन नहीं है, वर्तमान अवस्था जितना नहीं है। यदि यह सब माने तो अनादि काल से पर में कर्तृत्वबुद्धि के द्वारा अपने को भूल जाने का जो अज्ञान नामक महा क्षयरोग लग गया है, वह नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार वर्तमान में पूर्ण स्वभाव का विश्वास करो।

पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित और विकार का नाशक ज्ञानानन्द पूर्ण स्वभाव वर्तमान में तुझमें है। यदि स्वभाव में पूर्णता न हो तो फिर वह आये कहाँ से ? मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, मेरी प्रेरणा से देह की क्रिया होती है, परद्रव्य मेरी सहायता करता है, परद्रव्य से मुझे लाभ होता है, मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, और मैं बन्धनयुक्त हूँ, इस प्रकार के रोगों को दूर करने के लिए पहले सर्वज्ञकथित निर्दोषस्वभाव का आश्रय ग्रहण कर। मुक्तदशा होने से पूर्व मुक्तभाव का यथार्थ निर्णय हो सकता है। पहले से ही स्वभाव को पूर्ण और मुक्त माने बिना उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र नहीं हो सकेगा।

व्यावहारिक विषयों में भी प्रत्यक्ष नहीं दिखता, फिर भी लोग उन्हें मान रहे हैं। माता

पुत्री को रसोई बनाने की विधि बतलाती है और पुत्री अपनी माता के कथन पर विश्वास करके उसी प्रकार आटा, दाल, चावल और मसाला इत्यादि लेकर अच्छी रसोई बना लेती है; इसी प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा का ज्ञान करके, अन्तरंग में श्रद्धा के लक्ष्य पर भार देकर, स्वभाव की रुचि की एकाग्रता होने पर केवलज्ञानरूपी पाक तैयार हो जाता है। चैतन्य भगवान आत्मा निर्विकल्प ज्ञानानन्दरूप से त्रिकाल ध्रुवस्वभाव में निश्चल होकर विराजमान है। यदि शुद्धदृष्टि से देखा जाये तो उसमें पुण्य-पाप की वृत्तिरूप छिलके हैं ही नहीं, किन्तु पूर्ण स्वभाव को भूलकर, स्वलक्ष्य से हटकर, पुण्य-पापरूप विकार मेरा है और मैं पुण्य -पाप का कर्ता हूँ, इत्यादि निमित्ताधीन दृष्टि से बाह्य लक्ष्य करके अटक जाता है और पर का अभिमान करता है। उससे विपरीत, त्रिकाल पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव से आत्मा में एकाकारता का निश्चय करे तो वह अपना स्वभाव होने से स्वयं पूर्णता की निःसन्देह श्रद्धा कर सकता है। शुद्धनय को मुख्य करके और वर्तमान अवस्था के अशुद्धनय को गौण करके चौदहवीं गाथा का साररूप कलश निम्न प्रकार कहा है:—

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥११॥

आचार्यदेव सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—हे जगत के सर्व जीवो! इस सम्यक् -स्वभाव का अनुभव करो जिसके द्वारा मिथ्या मान्यता का नाश करके यथार्थ श्रद्धासहित स्वभाव में एकाग्र हुआ जा सके। और कहते हैं कि शुभाशुभ अशुद्धता का अनुभव न करो; शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति तुम्हारी नहीं है और तुम्हारे आत्मा में एकरूप से सदा स्थिर रहनेवाली नहीं है। वह विकारीभाव तुम्हारे स्वरूप में नहीं है इसलिये उससे रहित अपने शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा करो। जन्म-मरण की उपाधि के नाशक अपने यथार्थ स्वतन्त्र स्वभाव को नहीं जानोगे तो स्वतन्त्र कहाँ से होगे? उस स्वतन्त्रता को प्रगट करने की बात यहाँ कही जा रही है, वही यथार्थ मुक्ति का मार्ग है।

तू अपने में अच्छा-बुरा भाव अथवा अच्छे-बुरे भाव से रहित वीतरागता के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता। जीव पर में अपने पर की मान्यतारूप भाव करता

है, किन्तु पर को अपना कभी नहीं बना सकता। मात्र वह अज्ञानभाव से मानता है कि— यह मेरे द्वारा होता है और इसे मैं करता हूँ। उस विपरीत मान्यतारूप भूल को दूर करके आत्मा को पर से भिन्न, पुण्य-पाप के विकार से भिन्न स्वभावरूप देखा जाए तो इस बन्धन और संयोगीभाव को बतानेवाले अशुद्ध व्यवहार के भाव स्पष्टतया-प्रगटरूप से नित्य शुद्धस्वभाव से भिन्नरूप में ऊपर ही दिखलायी देने लगते हैं, तथापि वे स्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, अर्थात् उन्हें स्वभाव में आधार प्राप्त नहीं होता; इसलिए वे शोभा या स्थिरता को प्राप्त नहीं होते।

जैसे पानी के ऊपर तेल की बूँद तैरती रहती है, वह पानी के भीतर नहीं जा सकती, तेल और पानी अलग किये जा सकते हैं; इसी प्रकार आत्मा से बाह्य वर्तमान प्रगट अवस्था में कर्म के सम्बन्ध से अज्ञानभाव से किये जानेवाले राग-द्वेषभाव भीतर के शुद्ध ज्ञानघन स्वभाव में प्रवेश को प्राप्त नहीं होते। आत्मा का स्वभाव अविकारी है, उसके लक्ष्य से कभी भी राग-द्वेष नहीं होता। जब जीव परलक्ष्य करता है तब वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में शुभाशुभ विकार का भाव होता है, किन्तु वह स्वभाव में नहीं है। वह परलक्ष्य से होता है इसलिए दूर किया जा सकता है, और स्वभाव नित्य रहनेवाला ध्रुव है।

यदि नित्यस्थायी अविकारी ध्रुव और अज्ञान अवस्था में होनेवाले क्षणिक मलिन भाव एकमेक हो गये हों तो मलिनभाव स्वभाव से अलग नहीं हो सकते और स्वाभाविक निर्मल गुणों का नाश हो जायेगा। किन्तु स्वाभाविक निर्मल गुण कभी भी विकाररूप नहीं होते। गुण न तो दोषरूप हैं और न दोष गुणरूप हैं।

गुण:—आत्मा में त्रिकाल रहनेवाली शक्ति गुण है। अपनी-अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लेकर अनन्त गुण हैं, उसमें परनिमित्त का भेद या उपचार नहीं है।

दोष:—वर्तमान अवस्था में, जब तक पराश्रित दृष्टि रखे तब तक व्यवहार से एक-एक समय की अवस्था जितना जो राग-द्वेष-मोहरूपी नवीन विकार होता है, सो दोष है। स्वभाव में विकार नहीं है।

जैसे सूर्य में अन्धकार है ही नहीं इसलिए सूर्य का कार्य अन्धकार को उत्पन्न करना नहीं है, किन्तु सूर्य के स्वभाव के बल से अन्धकार स्वयं नाश होने योग्य है; इसी प्रकार

चैतन्य आत्मा के स्वरूप में त्रिकाल स्थायी अनन्त गुण अपनी पूर्ण निर्मल शक्ति से भरे हुए हैं, उस स्वभावभाव में से राग-द्वेष अथवा मोहादिक विकारीभावों का उत्थान नहीं होता, किन्तु जब स्वभाव का लक्ष्य भूलकर, और कर्म के संयोग का निमित्त पाकर जीव बाह्य में लक्ष्य करता है और उसमें भावों को युक्त करता है, तब वह अस्थिरता को लेकर राग-द्वेष के विकारी भाव करता है। परपदार्थ में कुछ लेन-देन करूँ, अथवा पर में अच्छे-बुरे की वृत्ति जीव करता है, वह अनादि काल से परलक्ष्य से समय-समय पर नवीन करता है, तभी होती है; स्वलक्ष्य से रागादिक विकल्प नहीं होते, क्योंकि आत्मा के स्वभाव में दु:खरूप आकुलता की शुभाशुभ लगन नहीं होती। स्वभाव को पहिचानकर श्रद्धा किये बिना विकल्प नहीं टूटता।

चैतन्य ज्ञानसरोवर आत्मा में से निर्मल श्रद्धा और ज्ञान का प्रवाह आता है; वह स्वलक्ष्य में स्थिर रहे और पर में लक्ष्य न जाये तो सामान्य एकरूप स्वभाव में ही मिल जाता है। किन्तु तब तीव्र-मन्द आकुलतारूप शुभाशुभभाव परलक्ष्य से करता है, तब अशुद्धता आती है। वह एक-एक समयमात्र की होने से अविकारी स्वभाव के लक्ष्य से दूर की जा सकती है।

त्रिकाल निर्मल शुद्ध स्वभाव और वर्तमान अवस्था—दोनों को यथार्थतया जानकर, अवस्था की ओर का लक्ष्य गौण करके, शुद्धनय को मुख्य करके, उसके द्वारा पूर्ण शुद्धात्मा की श्रद्धा करना, उसी का लक्ष्य करना और उसमें एकाग्र अनुभवरूप स्थिर होना सो यही चैतन्यस्वभाव का कर्तव्य है, उसी में चैतन्य की शोभा है। विकार को, पुण्य-पाप के भावों को अपना मानकर उसका कर्ता होने में चैतन्यस्वरूप की शोभा नहीं है, वह चैतन्य का कर्तव्य नहीं है।

यहाँ देहादि की क्रिया करने की अथवा पर की सहायता की बात तो है ही नहीं, किन्तु व्रत, तप इत्यादि के शुभभाव भी चैतन्यस्वरूपी वीतरागी स्वभाव में विरोधरूप हैं, विघ्न करनेवाले हैं। नित्य ऐसा ही होने से ज्ञानीजन उस शुभभाव का भी आदर नहीं करते। वे भाव अपने एकरूप स्वभाव में नहीं है। इसलिए बाह्य में लक्ष्य जाता है, स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानभाव से अस्ति हैं, उसमें क्षणिक पुण्य-पाप के भावों की नास्ति होने में उन भावों को निश्चय से अभूतार्थ मानना चाहिए।

वर्तमान में प्रत्येक आत्मा का ऐसा परमार्थस्वरूप है, किन्तु लोगों को बाह्य लक्ष्य छोड़ना अच्छा नहीं लगता। स्वाश्रित पूर्णस्वरूप की प्रतीति नहीं है इसलिए पराश्रय से सुख मानते हैं, किन्तु पराश्रय तो वास्तव में दु:खरूप ही है। चाहे जिस उपदेशक के उपदेश का निमित्त पाकर वैसी तत्परतावाले या उनके कथनानुसार आँखें बन्द करके कूद पड़नेवाले बहुत से लोग हैं। इस जगत में अन्धश्रद्धा को लेकर स्वतन्त्रतापूर्वक भेड़ियाधसान चल रहा है। अपनी चिन्ता किये बिना स्वतन्त्र सुखस्वरूप वस्तुस्वभाव नहीं समझा जा सकता; यथार्थ स्वरूप को सुनने का योग मिलना भी कठिन है। कोई किसी को समझ शक्ति नहीं दे सकता और स्वयं सर्वज्ञ के न्यायानुसार स्वतन्त्र को समझे बिना अंशमात्र धर्म या धर्म का मार्ग नहीं है। आत्मा का धर्म अन्तरंग में ही है। बाह्यक्रिया में, किसी वेश में, अथवा तिलक-छाप में अथवा किसी सम्प्रदाय के पक्ष में आत्मा का धर्म नहीं है, आत्मा का धर्म आत्मा में और आत्मा से ही है। व्यवहार और निश्चय दोनों आत्मा में हैं। आत्मा का व्यवहार भी बाहर नहीं है। इस प्रकार आत्मा स्वतन्त्र, परिपूर्ण है, तथापि यदि कोई बाहर से आत्मा का धर्म मानता है तो भी वह स्वतन्त्र है।

पंचम काल के जीव समझ सकें इसलिए आचार्यदेव ने धर्म का स्वरूप कुछ प्रकारान्तर से अथवा हलका करके नहीं कह दिया है, किन्तु अनन्त सर्वज्ञों के द्वारा कथित एक ही मार्ग बताया है। लोगों की समझ में न आये इसलिए सत्य को कुछ बदल दिया जाए ऐसा कभी नहीं हो सकता; सत्य का प्रकार त्रिकाल में एक ही होता है।

रागादिक-बाह्यभाव स्वरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, इसके दो अर्थ हैं:—

(१) अविकारी ध्रुवस्वभाव में वे आधार को प्राप्त नहीं करते क्योंकि स्वभाव में गुण ही है और गुण में राग-द्वेषरूप दोष कभी भी नहीं है।

(२) रागादिकभाव स्वरूप में शोभा को प्राप्त नहीं होते क्योंकि चाहे जैसा शुभराग हो किन्तु वह वीतरागी स्वभाव का विरोधीभाव है। जो वीतराग हुए हैं, वे सब शुभ या अशुभ दोनों प्रकार के भावों को नाश करने के बाद ही हुए हैं। कोई भी राग को रखकर वीतराग नहीं हो सकता। मैं राग का नाशक हूँ, राग मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी गुण की प्रतीति के बल से शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आंशिक शुद्ध चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धा में राग का नाश होने के बाद क्रमश: राग को दूर करके पूर्ण वीतराग होता है।

क्रोधादिभाव क्षणिक अवस्थामात्र तक ही होने से वे एक क्षण में दूर हो जाने योग्य हैं—दूर किये जा सकते हैं। पहले सच्ची श्रद्धा के बल से उन भावों को गौण करके-दृष्टि में नाश करके, पश्चात् स्वभाव में एकाग्रतारूप चारित्र के बल से उनका सम्पूर्ण नाश करता है। ऐसा त्रिकाल नियम होने से विकार के नाशक शुद्ध अविकारी त्रिकाल स्थायी अखण्ड ज्ञानघनस्वभाव में उन क्रोधादि भावों को आधार नहीं मिलता वे क्रोधादिभाव स्वभाव में नहीं हैं, इसलिए वे स्वभाव में शोभा नहीं पाते।

त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव में विकार की नास्ति होने से राग-द्वेष के किन्हीं भावों को स्वभाव में स्थान नहीं मिलता और उस विकार के आधार से आत्मा का कोई गुण प्रगट नहीं होता। ऐसी प्रतीति के बिना व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि के चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी उस राग से वीतरागी स्वभाव को कोई लाभ या सहायता नहीं मिलती। भीतर गुण भरे हुए हैं, उनकी एकाकार श्रद्धा से गुण में से ही गुण प्रगट होते हैं—ऐसा त्रिकाल नियम है।

पानी को उष्णता का आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो उष्णता का अभाव होने पर पानी का शीतलस्वभाव नष्ट हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होता। पानी अपने शीतलस्वभाव के आधार से है, उष्णता के आधार से नहीं है। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानानन्द आत्मस्वभाव नित्य अविकारी है, वह क्षणिक राग-द्वेष का आधार नहीं रखता, और क्षणिक विकार को आत्मा का आधार नहीं है। यदि परस्पर (विकारी को अविकार का और अविकारी स्वभाव को विकार का) आधार भाव माने तो विकार और आत्मा एक ही हो जायें और विकार का नाश होने पर आत्मा का और उसके अनन्त गुणों का नाश हो जायेगा, ऐसा मानना पड़ेगा। विकार स्वभाव में नहीं है इसलिए विकारी भाव दूर होने योग्य है; और आत्मा का स्वभाव त्रिकाल ध्रुवरूप से रहनेवाला है।

पुण्य-पाप की वृत्ति अन्तरंग ध्रुवस्वभाव से बाहर दौड़ती है, इसलिए वह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। स्वभाव के भाव से-नित्य अस्तिस्वभाव की प्रतीति से वे पुण्य-पाप के विकारीभाव दूर हो सकते हैं, इसलिए पहले श्रद्धा में शुद्ध स्वभाव की नि:सन्देहता करनी चाहिए, और ऐसा निश्चय करना चाहिए कि मैं पूर्ण स्वभावी नित्य अविकारी हूँ।

ज्ञानस्वभाव नित्य एकरूप है, वह वर्तमान अवस्थामात्र तक नहीं है। जैसे सोने की अँगूठी के रूप में बाह्य आकृति है, वह सोने के स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो गई है। यदि सोना

स्वभाव से ही उस अँगूठी के रूप में होगा तो फिर वह सोना कभी भी दूसरे आकार में नहीं बदल सकेगा, अर्थात् उससे फिर कोई दूसरा आभूषण नहीं बन सकेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा पर्यायभेद जितना ही नहीं है, संसार और मोक्ष दोनों अपूर्ण और पूर्ण अवस्था के भेद हैं, आत्मा उस भेदरूप-खण्डरूप नहीं हो गया है। जब तक पर्यायभेद पर लक्ष्य रहता है, तब तक विकल्प नहीं टूटते। पहले अखण्ड और खण्ड दोनों का ज्ञान करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में रखे और पर्याय का भेदरूप लक्ष्य गौण करे तो स्वभाव के बल से क्रमशः विकल्प टूटकर शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, और क्रमशः विकल्प टूटकर शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, और क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र बढ़ता है तथा राग का नाश होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिए स्वाश्रित शुद्ध निश्चयनय पहले से ही आदरणीय है।

कोई कहे कि पहले व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, और तेरहवें गुणस्थान में शुद्ध निश्चय होता है, तो ऐसा कहनेवाला व्यवहार और निश्चय को न जानकर ऐसी बात करता है। यदि चौथे गुणस्थान में श्रद्धा से पूर्ण और आंशिक यथार्थ चारित्र न हो तो पूर्ण कहाँ से होगा ? नास्ति में से अस्ति कहाँ से आयेगी ? पहले से ही निश्चय-श्रद्धा के बिना यथार्थ धर्म अंशमात्र भी किसी को, कभी किसी भी प्रकार से प्रगट नहीं हो सकता।

और फिर ज्ञान में विकार है ही नहीं। युवावस्था में अनेक प्रकार के तीव्र पाप किये हों, और उनका ज्ञान (स्मरण) वृद्धावस्था में करे तो तब राग-द्वेष के तूफान के वैसे भाव उस समय ज्ञान के साथ नहीं उठते। विकार की नई वासना की वृद्धि विपरीत पुरुषार्थ के कारण होती है, ज्ञान के कारण से नहीं। युवावस्था में अभिमान में चूर होकर जो अनेक काले कृत्य किये थे, कपट, चोरी, दुराचार और हत्या इत्यादि महा दुष्कृत्य किये थे; इस प्रकार विकार भाव का ज्ञान करना सो दोष नहीं है, इससे विचारवान को तो वैराग्य उत्पन्न होता है। बालक, युवक या वृद्ध—यह सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। उनके साथ विकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यहाँ तो विकार का ज्ञान विकार से भिन्न है और बालक, युवक आदि शारीरिक अवस्थाओं से भी भिन्न है, इसलिए पूर्व विकारी अवस्था का ज्ञान करने में वे विकारी भाव अथवा उस समय की अवस्था ज्ञान के साथ नहीं आती; इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञानगुण में विकार नहीं होते।

नीतिमान जीव भले असत्य, कपट, चोरी इत्यादि का आदर नहीं करते। यदि अपने बड़े-बूढ़े या कुगुरु इत्यादि कोई अनीति करने को कहें तो निर्भयतापूर्वक इन्कार करते हैं और दृढ़तापूर्वक कह देते हैं कि हमने अपना पुण्य कहीं बेच नहीं खाया है, अर्थात् यदि हमारा पुण्योदय होगा तो रुपये-पैसे का संयोग अवश्य मिलेगा, किन्तु हम उसे प्राप्त करने के लिए अनीति नहीं करेंगे। व्यापार-रोजगार चाहे जैसा चले किन्तु उसमें कपट या किसी प्रकार की अनीति नहीं करते। इस प्रकार लौकिक सज्जन पुरुष भी दुष्टभाव का आदर नहीं करते, वे उसमें अपनी शोभा नहीं मानते; किन्तु नीति, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि में अपनी शोभा मानते हैं। इसी प्रकार क्षणिक विकारी भाव बाह्य लक्ष्य करने पर होते हैं, वे स्वभाव विरोधी कलंक होने से चैतन्यस्वभाव में शोभा या आदर को प्राप्त नहीं होते। उनकी स्थिति उत्पन्नध्वंसीरूप से एक समयमात्र की होती है। पहले स्वाश्रित स्वभाव में उनका लक्ष्य गौण करके, उनका स्वामित्व-कर्तृत्व छोड़कर, विकार को पर मानकर उनका चारित्र के बल से नाश करता है, अर्थात् स्वभाव में उनकी नास्ति ही है। वह दूर होने योग्य है इसलिये वर्तमान में भी मेरे नहीं हैं, यदि वह मेरे हों तो मुझसे अलग नहीं हो सकते। त्रिकाल में भी विकार मेरा नहीं है, ऐसा न मानकर जब तक विकार को अपना मानता है और अपने को विकाररूप मानता है तब तक अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। चैतन्यस्वरूप की अवस्था में पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण ज्ञानी के भी पुण्य-पाप के क्षणिक विकार होते हैं, किन्तु स्वभाव की श्रद्धा की प्रबलता में उनका निषेध है। शुद्धदृष्टि से देखने पर चैतन्यमूर्ति सदा अखण्ड ज्ञानानन्दघनरूप है। अशुद्ध दृष्टि से वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था को लेकर विकार और विपरीत मान्यता अनन्त काल से करता चला आ रहा है, फिर भी यदि त्रिकाल स्वतन्त्र स्वभाव को पहिचानकर यथार्थदृष्टि करे तो क्षण भर में वह भूल दूर हो जाती है, और वर्तमान पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण जो राग शेष रह गया है, वह ऊपरी बाह्यभाव के निमित्ताधीन है, स्वभावाधीन नहीं है, इसलिए वह दूर हो सकता है। (बाह्य निमित्त राग-द्वेष नहीं कराता किन्तु वह स्वयं उपरोक्त लक्ष्य से जब राग या द्वेष करता है, तब निमित्त कहलाता है।)

आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पाप के बन्धनरूप भाव का कर्तव्य छोड़ो। यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा करके सम्पूर्ण संसार का, त्रिकाल के कर्मबन्धन

का और विकार का त्याग करो। द्रव्यस्वभाव तो नित्य शुद्ध ही है, सदा एकरूप रहनेवाला है, अखण्ड है, और क्षणिक अवस्थामात्र की पुण्य-पाप की भावना अनेक प्रकार से भेदरूप है, इसलिए वह शरणभूत न होने से उस खण्डरूप अशुद्ध अवस्था का आश्रय छोड़कर नित्य ध्रुवस्वभाव का आश्रय करो, तो तुम स्वयं ही भगवान आत्मा शाश्वत् शरण हो। तुम्हें किसी अन्य की शरण की आवश्यकता नहीं है।

नित्य एकरूप रहनेवाला अविनाशी आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दरूप वीतरागस्वभावी है। देहादिक संयोग और पुण्य-पाप की भावना नाशवान है। नाशवान वस्तु अविनाशी स्वभाव में क्या कर सकती है ? वर्तमान अपूर्ण दशा में भी वह सहायक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समय की विकार और देह की अवस्था तुझसे भिन्नरूप है, और तेरे ज्ञानादि गुण की अवस्था उससे भिन्नरूप है। कोई परवस्तु या परभाव तेरे स्वभाव में नहीं है; जो तुझमें नहीं है वह तेरे लिए सहायक कैसे हो सकता है ?

व्यवहार से राग-द्वेष चैतन्यस्वभाव को हानिकारक है, किन्तु वह त्रिकाल ध्रुवस्वभाव का नाश करनेवाला या गुण की शक्ति को कम कर देनेवाला नहीं है, क्योंकि गुण नित्य है, उसमें राग-द्वेष की नास्ति है। क्षणिक अवस्था में होनेवाला राग-द्वेष नित्य, पूर्ण गुणरूप स्वभाव में नहीं है। मैं नित्य अखण्डस्वभावी राग का नाशक ध्रुवरूप से हूँ, ऐसी प्रतीति का बल रखनेवाला अल्प काल में ही राग-द्वेष का नाश करके पूर्ण पवित्र वीतराग हो जाता है।

यह अपूर्व बातें हैं। इनका पुनः पुनः सुनना भी दुर्लभ है। पहले सत् का आदर करके उसे स्वीकार करने की बात है, उसे अन्तरंग से स्वीकार करने में भी अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ है। जगत की समझ में आये या न आये किन्तु इसे समझने पर ही संसार से छुटकारा हो सकता है। यहाँ नग्न सत्य को डंके की चोट घोषित किया है। स्वभाव में रहकर मात्र पुरुषार्थ की यह बात है।

मुक्ति का सर्व प्रथम उपायभूत जो सम्यग्दर्शन है, उसी की यह सब रीति कही जा रही है। यह ऐसी बात है कि गृहस्थदशा में भी हो सकती है। और की तो बात ही क्या पशु और आठ वर्ष की बालिका के शरीर में स्थित आत्मा के भी ऐसा अपूर्व धर्म हो सकता है। अनंत जीव आठ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये हैं, जो हो सकता है वही जन्म-मरण के अनादि कालीन दुःखों से छूटने का उपाय कहा जा रहा है।

प्रथम श्रद्धा करने पर मोक्ष का हर्ष प्रगट हो जाता है। संसार में जो जिसे बहुमूल्य मानता है उसकी बात सुनते ही कैसा उछल पड़ता है ? यदि दो महीने में इस प्रकार धन्धा करूँ तो दो लाख का लाभ हो, ऐसे भाव करके हर्ष मानता है; धन, देह, पुत्रादि की प्रशंसा सुनकर उसमें उत्साहित होकर मिठास मानता है और उन सब संयोगों को बनाये रखना चाहता है; किन्तु स्वयं नित्यस्थायी है यह भूलकर पर को नित्यस्थायी बनाये रखना चाहता है। जिसमें रुचि है उसकी प्रशंसा सुन-सुनकर उकताहट मालूम नहीं होती, बारम्बार उसका परिचय करना चाहता है, और उसकी प्रशंसा सुनना चाहता है; इसी प्रकार भगवान आत्मा के स्वभाव का अपूर्व रीति से मूल्य अंकन करे तो उसे समझने के लिए उसका बारम्बार श्रवण-मनन करने में उकताहट मालूम नहीं होगी, और उसे समझने के बाद भी उसकी रुचि कम नहीं होगी।

मेरा स्वभाव त्रिकाल पूर्ण शुद्ध है, क्षणिक विकार की उपाधि अथवा किसी परवस्तु का संयोग मेरा स्वरूप नहीं है; ऐसे पर से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा के बल से निरुपाधिक पूर्ण स्वभाव का विवेक करना और पर से यथार्थतया भिन्न मानना ही प्रथम धर्म है, और यही सम्यग्दर्शन है। उस स्वाभाविक धर्म को अंगीकार करके हे जगत के जीव आत्माओ! तुम मोहरहित होकर स्वरूप का अनुभव करो, पर में सावधानी और पर के आश्रय की मान्यता छोड़कर राग से कुछ हटकर स्वभाव में स्थिर होओ! इस प्रकार सम्पूर्ण जगत के जीवों से स्वरूप का अनुभव करने को कहा है। आचार्यदेव अपनी दृष्टि से समस्त आत्माओं में परमार्थ से प्रभुता-पूर्णता को निहारते हैं, और इस प्रकार सभी को सम्बोधित करके कहते हैं कि मोहरहित होकर हमारी ही भाँति तुम भी अनुभव करो, शान्त-निराकुल सुख-आनन्द स्वभाव में ही स्थिर होओ; यही सबका ध्रुवपद है। जब तक पर में कर्तृत्व-ममत्व है, तब तक स्वतन्त्र स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसका शुद्ध अनुभव नहीं होता, इसलिए शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का उपदेश दिया है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है:—

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोह हठात्।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

अर्थ—जो सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा) व्यक्ति भूत, भविष्यत और वर्तमान-तीन काल के कर्मबन्ध को (अपनी यथार्थ श्रद्धा के बल से मन के अवलम्बन से किंचित् अलग होकर) अपने आत्मा से तत्काल शीघ्र भिन्न करके अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं नित्य असंग ज्ञायक हूँ, पूर्ण निर्मल हूँ—ऐसी श्रद्धा के स्वाश्रित बल से कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नष्ट करके अन्तरंग में पर से भिन्न स्वभाव का अभ्यास करे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जिसकी प्रगट महिमा जानने योग्य है ऐसा अनुभवगोचर, निश्चल शाश्वत नित्य कर्मकलंक-कर्दम से रहित एकरूप, शुद्धस्वभावी, ऐसा स्वयं ही स्तुति करने योग्य देव अन्तरंग में विराजमान है।

एक बार उपरोक्त कथनानुसार यथार्थ स्वरूप को श्रद्धा के लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होकर शुद्ध स्वभाव का एकाकार भाव से अनुभव करो। जैसे कोई डिबिया और उसके संयोग में रहनेवाला हीरा एक नहीं है, यद्यपि यह लक्ष्य में है कि वर्तमान हीरा डिबिया के संयोग में विद्यमान है तथापि यदि हीरे पर ही लक्ष्य करके देखा जाये तो वह अलग ही है; इसी प्रकार चैतन्य ज्ञानमूर्ति आत्मा वर्तमान अवस्था में देहादि के संयोग में रहता हुआ भी असंयोगी स्वभाव की दृष्टि से देखने पर अलग ही है। भगवान आत्मा वर्तमान शरीर के संयोग से एक क्षेत्र में रह रहा है, तथापि वह देहादिक जड़ की अवस्था से अलग ही है, और परमार्थ से पराश्रय के द्वारा होनेवाले विकारी भावों से भी भिन्न है।

यद्यपि ऐसा ही है! यथार्थदृष्टि से देखने पर आत्मा त्रिकाल पर से तथा विकारी भाव से भिन्न है, तथापि अज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि से पर के साथ एकमेक होना मानता है। यहाँ शुद्धनय के द्वारा पर्याय को गौण करके सम्पूर्ण स्वभाव को मानने की रीत बतायी है। जो यथार्थ रीति है उसे यदि कठिन माने तो दूसरे मार्ग से स्वभाव को नहीं जाना जा सकेगा। सत् के मार्ग से ही सत् स्वभाव आता है, असत् का मार्ग सरल मानकर यदि उसी पर चला जाएगा तो सत् अधिक दूर होता जाएगा। जैसे देहली से अहमदाबाद जाना हो किन्तु वह बहुत दूर है, इसलिये यदि कोई मुरादाबाद की तरफ चल दे तो उससे अहमदाबाद और

अधिक दूर होता चला जाएगा, तथा वह कभी भी अहमदाबाद को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार यद्यपि आत्मा का अन्तरंग मार्ग बिल्कुल सीधा ही है, किन्तु अनभ्यास के कारण कठिन प्रतीत होता है। अनादि कालीन विपरीत मान्यता के कारण वह मार्ग पहले कठिन प्रतीत होता है, इसलिए बाह्य में सरल मार्ग को धर्म मान ले तो अंशमात्र भी अज्ञान-मिथ्याभिमान दूर नहीं होगा, और वह स्वभाव से दूर ही दूर रहेगा।

आचार्यदेव ने स्वभाव की दृढ़ता के द्वारा एक समयमात्र में मिथ्या मान्यता के नाश करने का उपाय बताया है। मिथ्या मान्यता के द्वारा और अशुद्धता के आश्रय से एक-एक समय की अवस्था को लेकर अज्ञान और अशुद्धता में ही अनन्त काल व्यतीत हुआ है, तथापि वह अज्ञान और अशुद्धता की स्थिति एक समयमात्र की उत्पन्नध्वंसी है, इसलिए क्षण भर में उसका नाश हो सकता है। वह अनादि कालीन है; इसलिए उसके लिए (क्षय के लिए) अधिक समय की आवश्यकता हो - ऐसी बात नहीं है।

लौकिक कला-बुद्धि विकसित हो और धनादि का संयोग मिले यह वर्तमान चतुराई या सयान का फल नहीं है, किन्तु पर से भिन्नत्व की श्रद्धा करने के लिए और राग-द्वेषरहित स्वभाव का ज्ञान एवं उसमें स्थिरता करने के लिए वर्तमान में नवीन पुरुषार्थ करना चाहिए। अन्तरंग स्वभाव के पुरुषार्थ का सम्बन्ध जड़कर्म के साथ नहीं है, गुणरूप धर्म को पुण्य जागृत नहीं कर सकता अर्थात् पुण्य से धर्म का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। गुण प्रगट करने के लिए अन्तरंग में पूर्ण स्वाधीन गुण की श्रद्धा से युक्त पुरुषार्थ चाहिए। स्वाधीन स्वभाव के लिए कोई काल, कोई क्षेत्र या किसी भी संयोग की सहायता आवश्यक नहीं है।

'न जाने कब गुण प्रगट होगा? ऐसे विषम पंचम काल में ऐसा धर्म मुझसे नहीं हो सकेगा?' यों कहकर पुरुषार्थ को मत रोको। भला आत्मस्वभाव में काल और कर्म बाधक हो सकते हैं? तू आत्मा है या नहीं? जड़-कर्म तो अन्ध हैं, ज्ञानरहित हैं, वे तेरा कुछ नहीं कर सकते; तथापि अपने पुरुषार्थ की निर्बलता का दोष दूसरे पर डालना अनीति और अधर्म है।

'अनुभवप्रकाश' में कहा है कि 'इस काल में दूसरा सब कुछ करना सरल है, मात्र स्वरूप को समझना ही कठिन है, ऐसा कहनेवाले स्वरूप की चाह-भावना को मिटानेवाले, पुरुषार्थ के मन्द करनेवाले बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं।'

पृथक्त्व की यथार्थ श्रद्धा करके स्वाधीन स्वभाव की भावना करने को तू महँगा कहता है, किन्तु तेरे पास ऐसे कौन से बाह्य संयोग हैं कि जिससे तू महँगा-महँगा कह रहा है ? भरत चक्रवर्ती के पास छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं और सोलह हजार देव उनकी सेवा करते थे; छह खण्ड का राज्य था; ऐसे संयोगों के बीच रहते हुए भी वे महान धर्मात्मा थे, सम्यग्दृष्टि थे, उनके अन्तरंग में पृथक्त्व की प्रतीति विद्यमान थी, और तेरे घर पर तो छियानवे हजार नलियाँ भी नहीं हैं, फिर भी परसंयोग का दोष निकालकर आत्मधर्म को समझना मुश्किल कहकर ज्ञान में विघ्न डालकर समझने का द्वार ही बन्द कर देता है, तब उसकी समझ में कहाँ से आ सकता है ? उसे संसार के प्रति प्रेम है।

और फिर कई लोग यह कहकर कि 'अध्यात्मवस्तु का समझना कठिन एवं महँगा है,' तत्त्वज्ञान को समझने की चिन्ता ही नहीं करते; वे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव की हत्या करनेवाले हैं। निठल्ला बैठा हुआ मानव सांसारिक क्रिया में उत्साह माना करता है; वह निरन्तर यह पूछता रहता है और जानना चाहता है कि अखबार में क्या नवीन समाचार आये हैं ? और रेडियो पर कौन से नवीनतम समाचार कहे गये हैं ? इस प्रकार बारम्बार पूछता रहता है, किन्तु अपने आत्मा के समाचार-आत्मा क्या कहता है, तथा भयंकर भावमरण कैसे मिट सकते हैं, यह समझने के लिए कभी भी नहीं पूछता। जिसे बाह्य में पर की रुचि है, वह परसम्बन्धी राग के लिए समय निकालकर सब कुछ करता है, राग की वस्तु को अच्छी रखने का प्रयत्न करता है; परवस्तु में राग-द्वेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। जिससे जन्म-मरण के अनन्त दुःख दूर होकर शाश्वत सुख प्रगट होता है उसकी रुचि नहीं है, उसके प्रति आदर नहीं है, उसका परिचय नहीं है; तो आत्मस्वभाव ऐसी कोई मुफ्त की वस्तु नहीं है जो पुरुषार्थ के बिना ही अपने आप प्रगट हो जाए।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मस्वभाव को शीघ्र समझने के लिए पात्रता के द्वारा सत्समागम प्राप्त करके उसका अभ्यास करे, रुचि पूर्वक पुरुषार्थ करे तो इस काल में भी आत्मस्वभाव को समझना सुलभ है, किन्तु पर को अपना मानकर, पुण्यादि संयोगों को अपना बनाकर रखना चाहता है; किन्तु कभी पुण्य-पाप किसी के एकसमान स्थिर नहीं रह सके हैं, इसलिए वह एकान्त अशक्य है, अर्थात् आत्मा पर में कुछ भी करने के लिए कदापि समर्थ नहीं है, और स्वभाव में सब कुछ करने के लिए सर्व काल में समर्थ है।

अज्ञानी यह मानता है कि पर मेरे लिए निमित्त हैं और मैं पर का निमित्तकर्ता होता हूँ, किन्तु परवस्तु तो मात्र ज्ञेय है, उसे ज्ञान में जानने का निषेध नहीं है। श्रद्धा के पश्चात् ज्ञान का विषय यथार्थतया स्व-पर के विवेक से ज्यों का त्यों निमित्त को जानता है। श्रद्धा में अखण्ड ध्रुव सामान्य स्वभाव लक्ष्य में आने के बाद अवस्था विशेष की ओर ज्ञान झुकता है, वह सम्यक् प्रकार से हुआ ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है इसलिए वर्तमान अपूर्ण अवस्था को जानने पर संयोगरूप निमित्त की उपस्थिति को भी ज्यों का त्यों जानता है, और त्रिकालस्थायी असंयोगी ध्रुवस्वभाव को भी जानता है। किन्तु ज्ञान निमित्त के आधार पर अवलम्बित नहीं है, और निमित्त अर्थात् बाह्य संयोग की उपस्थिति का निषेध ज्ञान नहीं कर सकता।

सम्यक्श्रद्धा के विषय में पूर्ण निर्मल पर्याय और अपूर्ण पर्याय के भी भेद नहीं हैं। अनादि-अनन्त पूर्णरूप एकाकार वस्तुस्वभाव श्रद्धा के लक्ष्य में लिया कि उसमें पूर्ण ध्रुवस्वभाव की अस्ति और वर्तमान अवस्था के किसी भी भेद की नास्ति है; श्रद्धा का विषय तो अखण्ड वस्तु ही है।

ज्ञान में स्ववस्तु और पर्याय के भेद जानने पर ज्ञेयरूप परवस्तु भी जानने का विषय बन जाती है, वह (ज्ञान करना) भी वास्तव में स्व-विषय है, क्योंकि पर में जानना नहीं होता और पर से जानना नहीं होता, फिर भी परवस्तु है अवश्य जो कि ज्ञान में परज्ञेय होने में निमित्त है, इस प्रकार ज्ञानी परवस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं; तब अज्ञानी विपरीत ही ग्रहण करता है कि परज्ञेय से—निमित्त से ज्ञान होता है और इस प्रकार निमित्त का अपने में अस्तित्व मानता है। ज्ञानी निमित्त को अपने में नास्तिरूप से ज्ञेयरूप जानता है, और स्व-पर का विवेक करता है।

निमित्त निमित्तरूप से है, अनेकरूप से नहीं; स्वयं निजरूप है, किन्तु ज्ञान में सहायक नहीं है। निमित्त किसी कार्य में कुछ नहीं करता, मात्र उसकी उपस्थिति होती है; तथापि निमित्ताधीन दृष्टिवाले को अन्तरंग में स्वतन्त्र वस्तु समझ में नहीं आयी है, इसलिए वह यह सुनकर कि 'पर का कुछ नहीं कर सकता' यदि विरोध न करेगा तो दूसरा कौन विरोध करेगा? अज्ञानी समझ के दोष से असत्य का स्वीकार करके सत्य का विरोध करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जो सम्यग्दृष्टि त्रिकाल के कर्मबन्ध को अपने आत्मा से भिन्न जानकर भिन्न

अनुभव करके मिथ्यात्व मोह और अज्ञान को अपने पुरुषार्थ से रोककर अथवा नाश करके अन्तरंग में पृथक्त्व का अभ्यास करता है, वह अपने को अपने में ही स्पष्टतया-असंगरूप देखता है; इसलिए यह आत्मा अपने अनुभव से ही ज्ञेययोग्य जिसकी प्रगट महिमा है-ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) अन्तरंग में विराजमान है। उसे शुद्धनय के द्वारा भलीभाँति जाना जा सकता है।

शुद्ध स्वभाव को पर से भिन्नरूप अनुभव करने का अभ्यास अनादि काल से कभी नहीं किया और कभी यह नहीं माना कि शुद्ध भाव के द्वारा भीतर देखने पर मैं विकार का नाशक त्रिकाल ज्ञानरूप असंयोगी हूँ; किन्तु अपने को वर्तमान अशुद्ध पर्यायरूप तथा होनेवाले पुण्य-पाप के भावरूप माना है, किन्तु उस पर्यायदृष्टि से कभी भी धर्म का विकास नहीं हो सकता। पराधीन मान्यता और अशुद्ध भाव का नाश करनेवाले अपने स्वभाव को भूलकर जब तक पराधीनता का सेवन करता है तब तक पराश्रयरूप विपरीत मान्यता का त्याग नहीं कर सकता। पूर्ण निर्मल स्वाधीन स्वरूप क्या है इसे पहले भलीभाँति जानकर पूर्ण स्वभाव के आधीन होकर स्वाश्रित अखण्ड श्रद्धा के लक्ष्य से स्वभाव पर भार देकर स्थिर हो तो - निज में टिके तो नित्य ज्ञानानन्दरूप स्वाधीन स्वभाव होने से स्वरूप की निर्मलता प्रगट होती है अर्थात् क्रमशः वर्तमान अवस्था में साक्षात् निर्मलतारूप स्वाधीन शक्ति प्रगट होती है।

शुभ और अशुभ दोनों बन्धनभाव हैं। जिस भाव से बन्धन होता है, उस भाव से स्वाधीनस्वरूप मोक्ष कदापि नहीं हो सकता, इतना ही नहीं किन्तु स्वाधीन धर्म का मार्ग भी नहीं हो सकता। ऐसा होने से व्रतादि के शुभ भावों के द्वारा धीरे-धीरे आत्मा के गुण प्रगट हो जाएँगे यह मान्यता मिथ्या है। पहले श्रद्धा में उस विकारी भाव के अवलम्बन का निषेध करके अन्तर में गुण स्वभाव को पहिचानकर यदि उसमें एकाग्र हो तो उतनी गुण की निर्मलता प्रगट होती है। आत्मा के गुण आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होते हैं, पुण्य-पाप से आत्मा के गुण कभी भी प्रगट नहीं होते। (यहाँ शुभभावों के करने या न करने का प्रश्न नहीं है। जब तक पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तब तक शुभभाव होते हैं, किन्तु उनसे आत्मा को लाभ नहीं है।)

आत्मा में पूर्ण अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभाव नित्य भरा हुआ है, किन्तु वर्तमान अवस्था

का प्रवाह अन्तरोन्मुख न होकर बाह्य लक्ष्य से पुण्य-पाप से युक्त होता है, उतना विकारी भाव एक-एक समय की अवस्था जितना दिखायी देता है। यदि स्वलक्ष्य में एकाग्र रहे तो राग-द्वेष नहीं होते।

पर का ज्ञान करने में राग नहीं है, किन्तु जानने में जितना रुकता है, अच्छे-बुरेपन का भाव करता है उतना ही राग-द्वेष होता है। गुण से कभी भी बन्धन नहीं होता। स्वभाव पुण्य-पाप के विकारी भाव का उत्पादक नहीं किन्तु नाशक है, इसलिए पहले स्वाधीन गुण की श्रद्धा पर भार दिया है।

स्वभाव में विकल्प का कोई विकार नहीं है। गुड़ में मिठास ही भरी होती है, किन्तु कभी कहीं ऊपर कड़वा स्वाद हो जाता है तो वह पर-संयोगाधीन होता है, उसका लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण एकरसरूप से देखें तो गुड़ मिठास का ही पिण्ड है। इसी प्रकार आत्मा असंयोगी ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, उसके स्वभाव में विकार नहीं है; किन्तु मैं वर्तमान अवस्था जितना हूँ, पर का कर्ता हूँ, ऐसी विपरीतदृष्टि से अपने को भूलकर अपने में परसंयोग का आरोप करता है, तब परलक्ष्य से नवीन विकारभाव होता है। स्वलक्ष्य से उस विकारभाव का नाश करके, वर्तमान संयोगाधीन अवस्था का लक्ष्य शिथिल करके त्रिकाल असंग ज्ञायकस्वभाव को देखें तो नित्य एकरूप ज्ञानानन्दरसपूर्ण स्वतन्त्र भगवान आत्मा स्वयं जागृत स्वरूप है, वह रागादि या देहादिरूप कभी नहीं है। ऐसी शुद्धात्मस्वरूप की प्रतीति वर्तमान काल में भी स्वत: शीघ्र हो सकती है।

पुण्यादिक जड़कर्म मुझे सद्बुद्धि प्रधान करें, किसी के आशीर्वाद से गुण प्रगट हों, अथवा बाह्य क्रिया से या शुभराग से गुण हों—इस प्रकार भले ही अज्ञान से माने किन्तु बाह्य क्रिया से या किसी परवस्तु से अन्तरंग स्वभाव के गुण को कोई भी सहायता प्राप्त नहीं होती।

मिथ्यात्व का अर्थ है स्वरूप में भ्रान्तिरूप व्यामोह। मैं देह हूँ, मैं राग कर्त्ता हूँ इस प्रकार जो स्वरूप से विपरीत मान्यता है सो उसे दर्शन-मोह कहते हैं।

सत् के प्रति प्रेम रखकर उसका श्रवण, मनन और उसके लिए सत्समागम से परिचयपूर्वक अभ्यास नहीं किया है, इसलिए आत्मा की बात सुनते ही लोगों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि—यदि आत्मा है तो वह दिखायी क्यों नहीं देता? यदि भीतर

दृष्टि डालते हैं तो अन्धकार दिखायी देता है, बाहर देखते हैं तो जड़ की क्रिया और शरीरादिक दिखायी देते हैं, किन्तु मैं जानता हूँ और मैं नहीं जानता तथा यह अन्धकार है, यह सब निश्चय करनेवाला कौन है ? और निश्चय किसमें किया ? मैं अपने को नहीं देखता यह कहनेवाला स्वयं अपने में स्थिर होकर निश्चय करता है। जो जानता है सो ही आत्मा है, देह और इन्द्रियाँ कुछ नहीं जानते, इसलिए ज्ञान की सम्पूर्ण अवस्था में स्वयं ही प्रत्यक्ष हैं, तथापि अपने में शंका करके उसका निषेध करे यह आश्चर्य की बात है। देह से भिन्न, स्वतन्त्रतया स्थिर रहनेवाला मैं ज्ञाता हूँ, यह इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता किन्तु ज्ञान से मालूम होता है। पुण्य-पाप के जो विकल्प होते हैं, उसमें हर्ष-शोक के भाव आँखों से दिखायी नहीं देते, फिर भी यह कैसे मानता है कि मुझे हर्ष हुआ है ? इसलिए जो इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता, किन्तु ज्ञान से जाना जा सकता है, ऐसे आत्मा को मानना पड़ेगा।

'मैं परपदार्थ में कुछ ग्रहण त्याग कर सकता हूँ, शरीर को निरोग और व्यवस्थित रख सकता हूँ, यदि मैं ऐसा कार्य या आन्दोलन करूँगा तो समाज सुधार हो जायेगा, इस प्रकार जो पर का कुछ कर सकने की मान्यता है सो सब विपरीतदृष्टि है। जगत की प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वतन्त्र कारण को लेकर अपने से ही व्यवस्थितरूप से विद्यमान है, तथापि मैं उसे परिवर्तित कर दूँ—ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव समस्त वस्तु को पराधीन और निर्माल्य मानता है, वह अपनी स्वतन्त्रता को पराधीन मानता है। वह सत्वस्तु को नहीं मानता और परवस्तु में जल्दी सयान बतलाता है, किन्तु उसे यह खबर नहीं होती कि यह आत्मा क्या वस्तु है, कैसी है, और इसमें क्या होता है, वह उसका विचार करते हुए आकुलित हो उठता है। हम इसे नहीं जान सकते, ऐसा मानकर जो स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है—ऐसे सुखी होने के उपाय का अनादर करता है और पराधीनता जो दुःखी होने का उपाय है, उसका आदर कर रहा है। जब घर में विवाहादि का प्रसंग होता है तब उसकी योजना के विचार में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि दूसरा सब कुछ भूल जाता है, क्योंकि उसमें उसे रुचि है, किन्तु वहाँ जो एकाग्रता है सो पापरूप अशुभभाव है, और धर्म के नाम पर यदि दया, व्रत, पूजा इत्यादि के विचार में एकाग्र हो तो शुभभावरूप पुण्य होता है। उस पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माने तथा ग्रहण योग्य माने तो वह मिथ्या मान्यता है।

पर को लक्ष्य में लेकर, उसके विचारों को बढ़ाकर उसमें ऐसा एकाग्र हो जाता है

कि दूसरा सब कुछ भूल जाता है, पास में नगाड़े बज रहे हों तो उनका भी ध्यान नहीं रहता, तथापि वह एकाग्रता परलक्ष्यी है, उससे स्वाधीन स्वभाव को कोई लाभ नहीं है। जो परलक्ष्य से पराश्रय से विचार में एकाग्रता को बढ़ाकर विकार में एकाग्र हो सकता है, वह स्वाधीनस्वभाव में स्वलक्ष्य से-स्वाश्रितभाव से अवश्य एकाग्र हो सकता है, क्योंकि स्वलक्ष्य आत्मा का स्वभाव है। श्रद्धा में बाह्योन्मुखता का त्याग करके स्वलक्ष्य से भीतर के गुणों के विचार में एकाग्र हो तो उसमें अंशत: मन का अवलम्बन टूट जाता है, स्वाश्रितरूप से विचार करनेवाला ज्ञानस्वभाव वर्तमान में भी खुला ही है। स्वभाव कभी विकाररूप नहीं होता, मन और इन्द्रियों के अधीन नहीं होता। ज्ञान स्वतन्त्र है, सदा अपने से ही जानता है और अपना ही अनुभव करता है, इसमें परनिमित्त की सहायता या अवलम्बन नहीं है। ज्ञानस्वभाव में पराश्रयरूप भेद भी नहीं है, वह निश्चय एक रूप नित्य बना रहता है।

जो संसार के विचार में पराश्रितभाव से रुकता है, वह पर में लक्ष्य करनेवाला भी अपना स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव ही है; ज्ञान किसी के आधीन नहीं है, वर्तमान ज्ञान की प्रगटता से सतत त्रिकाल जाननेवाले ज्ञानस्वभाव से मैं ही स्वावलम्बी सम्पूर्ण हूँ - ऐसा निर्णय स्वयं स्वलक्ष्य से कर सकता है। जिसकी दृष्टि देह पर है वह पराश्रय के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखता, उसकी दृष्टि ही परपदार्थ पर है इसलिए उसे ऐसा लगता है कि यदि पर का कुछ आश्रय ग्रहण करूँ तो स्थिर हो सकूँगा, किन्तु पराश्रय का भाव ही स्वाश्रय में भ्रान्ति है। स्वाश्रित स्वभाव की अपार शक्ति की श्रद्धा नहीं है इसलिए मानता है कि देह, इन्द्रियों और शास्त्र इत्यादि के अवलम्बन के बिना धर्म में स्थिर नहीं रह सकता। इस प्रकार जहाँ पराश्रयता को मानता है वहाँ प्रति समय धर्म के सम्बन्ध में आकुल-व्याकुल होता है। स्वलक्ष्य से भीतर के स्वतन्त्र स्वभाव को माने तो अनेक प्रकार की पराधीनता की मान्यताओं का और अज्ञानभाव का शुद्ध स्वभाव के बल से नाश करके क्षण भर में स्वरूप की एकाग्रता को साधकर पवित्र मोक्षभाव को प्रगट कर सकता है। प्रथम दृष्टि में मोक्षस्वभाव का स्वीकार होने पर अंशत: निर्मलतारूप अपूर्व पुरुषार्थ उदित होता है; अस्थिरता में जो अल्प निमित्ताधीन भाव होता है, उसका स्वभाव के बल में स्वीकार नहीं है। इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य से पराश्रय का नाश करके जन्म-मरण को दूर करनेवाली सम्यक्श्रद्धा हो सकती है।

जानने का तो मेरा स्वभाव ही है, स्वभाव में पर की सहायता कैसी ? इस प्रकार स्वतन्त्र स्वभाव को माननेवाला आत्मा अपने त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की स्वानुभवरूप क्रिया का कर्ता हुआ; अपने ज्ञानस्वभाव का ही स्वामी हुआ, अर्थात् पुण्य-पाप विकार का कर्तृत्व और स्वामित्व रहा ही नहीं। इसमें अनन्त पुरुषार्थ और अनन्त ज्ञान की क्रिया आ जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव नित्य प्रगट है, वह कभी किसी से रुका नहीं है, किसी से दबा हुआ नहीं है अथवा किसी के साथ एकमेक नहीं हो गया; ऐसा व्यक्त स्वभाववाला स्वयं अपने ज्ञान के द्वारा जाननेयोग्य (स्वानुभवगोचर) सदा विराजमान है। भीतर स्वतन्त्र गुण की श्रद्धा के बाद यथार्थ ज्ञान स्व-पर को भलीभाँति जानता है, तब जो बाह्य संयोग विद्यमान होता है, वह निमित्त कहलाता है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि से ज्ञान नहीं होता, यदि निमित्त से ज्ञान हो तो सबको एकसा ज्ञान होना चाहिए। निमित्ताधीन दृष्टि ही स्वाधीन सत् की हत्या करनेवाली है। बाह्य साधन के बिना मेरा काम नहीं चल सकता—ऐसी विपरीत मान्यता अनादि काल से बनाये चला आ रहा है, उसका जो जीव स्वावलम्बी स्वभाव के लक्ष्य से प्रथम श्रद्धा में नाश करता है, वह क्रमशः स्वभाव में स्थिर होने पर पराश्रय को छोड़ता जाता है।

लोगों को स्वाधीनस्वभाव की श्रद्धा करते हुए कंपकंपी उठती है कि—अरे! मैं किसी के अवलम्बन के बिना कैसे रह सकूँगा; उसे अपनी ही श्रद्धा नहीं है, इसलिए पराश्रय की श्रद्धा जम गयी है, किन्तु एक बार स्वाश्रित अखण्ड स्वभाव के बल में पराश्रय का निषेध करे तो स्वतन्त्रता का बल प्रगटे और नित्य ज्ञाता-दृष्टारूप ही अपने को देखे।

आत्मा कैसा है ? नित्य निश्चल है; जिसमें चार गतियों के भ्रमण का स्वभाव नहीं है। आत्मा शाश्वत् है, वस्तुस्वरूप में त्रिकाल स्थायी स्वानुभवरूप है, अपने अनुभव से कभी अलग नहीं है और कभी अलग नहीं होता; इसलिए यदि कोई कहे कि 'इस काल में आत्मानुभव नहीं हो सकता', तो उसकी यह बात मिथ्या है, आत्मा नित्य कर्मकलंक से अलग है। यदि वर्तमान में कर्मों से अलग न हो तो फिर अलग नहीं हो सकता। आत्मा हीन, विकारी या पराधीन नहीं है, क्योंकि नित्य गुणस्वरूप में दोष नहीं हो सकता।

जो अवस्था के भेद हैं, सो व्यवहार है। स्वभाव तो वर्तमान में भी परमार्थ से पूर्ण निर्मल है, असंग है। उस स्वभाव का लक्ष्य करते ही प्रगट प्रतीतिरूप विशुद्ध चैतन्य

भगवान अन्तरंग में नित्य विराजमान है और वैसा ही अपने द्वारा नित्य ज्ञात हो रहा है, अनुभव किया जा रहा है। ऐसे आत्मा की प्रतीति सम्यग्दर्शन के होने पर होती है, भव की भ्रान्ति का नाश करके साक्षात् अपने परमात्मस्वरूप का वर्तमान में ही दर्शन हो—ऐसा उत्तम धर्म कहा जाता है।

अनादिकालीन परमुखापेक्षिता का नाश करनेवाला अविनाशी स्वभाव आत्मा नित्य गुणस्वरूप है, पुण्य-पाप के बन्धन भाव की उत्पत्ति के बन्धनभाव को रोकनेवाला है, उसे भूलकर पर्याय का आश्रय ले और विकारी अवस्था को ही स्वभाव मान ले तो विकार की ही उत्पत्ति होती है। जो विकार के अवलम्बन की दृष्टि को लेकर खड़ा हुआ है, वह संसार का इच्छुक है, और जिसने विकार के नाशक अविकारी स्वभाव पर दृष्टि की है, वह संसार में रहता हुआ भी संसार से परे है, वह स्वभाव में परमात्मारूप से विद्यमान है। अन्तरंग तत्त्व का अभ्यास करके एकबार स्वावलम्बी स्वभाव का आदर करे तो परावलम्बनरूप मोह का शीघ्र नाश होता है।

भावार्थः—अवस्था के लक्ष्य को गौण करके त्रिकाल निर्मल ध्रुव स्वभाव को देखनेवाली शुद्धनय की दृष्टि से अन्तरंग में देखा जाये तो सर्व कर्मों के संयोग से रहित पूर्ण ज्ञानानन्दमूर्ति शान्त अविकारी भगवान आत्मा स्वयं निश्चलता से विराजमान है। देहादिक तथा रागादिक बाह्य दृष्टि वाले अन्तरंग में न देखकर बाहर से ढूँढ़ते हैं, यह उनका महा-अज्ञान है। अन्तरंग स्वभाव या कोई भी गुण बाहर नहीं किन्तु स्वभाव में ही सब कुछ विद्यमान हैं।

जिसे यह भ्रान्ति है कि पराश्रय को देखें, वह पर को अपना स्वरूप मान रहा है, उसे पराधीनता की रुचि है, और स्वाधीन गुण की रुचि नहीं है। पहले से ही श्रद्धा में सर्व परावलम्बन का स्वलक्ष्य से निषेध करके मैं पररूप नहीं हूँ, मुझे किसी भी बाह्य निमित्त या मन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है, मैं उस सबसे भिन्न हूँ; ऐसी निरावलम्बन श्रद्धा के लक्ष्य से भीतर से ही गुण प्रगट होता है; किन्तु जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता और बाह्य में दौड़-धूप करता है-बाह्य में ही दृष्टि रखता है, तथा जो इस प्रकार पर-पदार्थ से गुण-लाभ मानता है कि पहले अधिकाधिक शुभराग करके पुण्य एकत्रित कर लूँ तो फिर धीरे-धीरे गुण प्रगट होंगे, वह उस मृग की भाँति व्यर्थ ही बाहर दौड़ लगाता है जिसकी

नाभि में कस्तूरी भरी हुई है और वह उसकी सुगन्धी को अपने भीतर न समझकर उसके लिए बाहर दौड़ता फिरता है; गुण अपने ही भीतर विद्यमान है फिर भी अज्ञानी जीव उनके लिए बाहर भ्रमण करता रहता है। हिरन अपने अज्ञान और हीनता के कारण अपने भीतर विद्यमान सुगन्धी को जानने-देखने का विचार ही नहीं करता, इसी प्रकार जिसकी दृष्टि अपनी हीनता पर है और जो बाह्य में ही गुण मान बैठा है वह अपने भीतर विद्यमान वास्तविक गुणों को नहीं देख पाता। यदि वह अपने में दृष्टि डाले तो अपनी शक्ति की प्रतीति हो।

सर्वज्ञ भगवान ने सभी आत्माओं को अपने ही समान स्वतन्त्र घोषित किया है, सभी की पूर्ण प्रभुता घोषित की है, किन्तु जिसे देहादिक पर पदार्थों में मूर्च्छा है, और जिसे पराधीनता अनुकूल मालूम होती है, उसे यह बात कहाँ से रुच सकती है कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ ? जहाँ पान-बीड़ी और चाय के बिना एक दिन भी न चल सकता हो, थोड़ी सी निन्दा अथवा अपमान होने पर भारी क्षोभ हो जाता हो और स्तुति या प्रशंसा को सुनकर हर्षोन्मत्त होकर अर्पित हो जाता है, साधारण तुच्छ वस्तुओं में मुग्ध हो जाता हो, पराश्रय के आगे किंचित्मात्र भी धीरज न रख सकता हो वह निरावलम्बी पूर्ण गुण का-अपनी प्रभुता का विश्वास कहाँ से कर सकेगा ? किन्तु एक बार रुचिपूर्वक मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी ज्ञायक हूँ, ऐसी श्रद्धा से स्वरूप का यथार्थ आदर करके स्वाश्रय के द्वारा स्वीकार करे तो पराश्रय की पकड़ छूट जाती है।

अज्ञानी जीव सुख और सुख का उपाय बाह्य में मानता है। शरीर में रोग हो जाता है, तो उससे दु:ख होता है, ऐसा मानकर (वास्तव में बाहर से दु:ख नहीं आता, किन्तु अज्ञान ही दु:ख का कारण है, ऐसा न जानने से) बाह्य संयोगों से छूटकर सुखी होऊँ, इस प्रकार बाहर से सुख मानता है और बाह्य में ही प्रयत्न करता है।

लोगों ने ऐसा मान रखा है कि आत्मा अलख, अगोचर है और वह कहीं भी हाथ नहीं लग सकता, इसलिए उसकी बात सुनते ही भीतर से उत्साह नहीं आता, और उसे समझना कठिन प्रतीत होता है। यदि कोई कहता है कि कन्दमूल का त्याग करो, हरी साग का त्याग करो, ऐसा करो और वैसा करो; तो ऐसी बाह्य क्रियाओं को करने के लिए तत्पर हो जाता है, क्योंकि वह सब आँखों से प्रत्यक्ष दिखायी देता है, इसलिए वह यों सन्तोष मान

लेता है कि मैंने इतना त्याग किया है, किन्तु बिना प्रतीति के अथवा ज्ञान के बिना धर्म नहीं होता। (स्मरण रहे कि यहाँ कन्दमूल खाने की बात नहीं है, और न कन्दमूल खाने का समर्थन किया जा रहा है, किन्तु यहाँ विवेक का प्रश्न है।) अन्तरंग गुणों के लिए कोई बाह्य निमित्त किंचित्मात्र भी सहायक नहीं होता, धर्म तो स्वभाव में से ही होता है। स्वभाव की अप्रतीतिरूप अज्ञान ही अनादिकालीन संसार का कारण है।

अब शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है, यह बताते हुए कहते हैं कि:—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्धवा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात्॥१३॥

अर्थः—इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चलरूप से स्थापित करके यह देखना चाहिए कि सदा सर्व ओर से एक ज्ञानघन आत्मा है।

भावार्थः—चौदहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब पन्द्रहवीं गाथा में ज्ञान को मुख्य करके कहेंगे कि, जो यह शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही सम्यग्ज्ञान है। ऐसा होने से ज्ञानी जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ-वहाँ निरंतर ज्ञान की अनुभूति है, स्वाश्रय से यथार्थ श्रद्धा होने के बाद निरन्तर अपने ज्ञान को जानता है। जहाँ पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक तथा पंचेन्द्रियों के विषयों का विचार आता है, वहाँ भी ऐसा ज्ञानमय अनुभव होता है कि मैं निजरूप हूँ, अखण्ड ज्ञायकरूप हूँ, पररूप नहीं हूँ; इसलिए आंशिक आसक्ति का नाश हो जाता है, अतः अपने ज्ञान की स्वच्छता को ही देखता है और उसका अनुभव करता है।

स्वाश्रित शुद्धनय के द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के बाद मैं जहाँ सदा सर्वदा देखता हूँ, वहाँ मुझमें मेरे ज्ञानवैभव की अवस्था दिखायी देती है; मुझमें परवस्तु की नास्ति है, इसलिए बाह्य में निन्दाकारक अथवा स्तुतिकारक शब्दादिक पंचेन्द्रियों के

विषयरूप में जो कुछ मालूम होते हैं, वह सब मेरे ज्ञानमय स्वभाव की स्वच्छता दिखायी देती है। यदि मैं उन शब्दादि का विरोध करूँ (उनके अस्तित्व से इन्कार करूँ) तो मेरे ज्ञान का निषेध होता है। जबकि मैं परविषयों में आसक्त नहीं हूँ तब फिर मैं अपने ज्ञान की स्वविषय की शक्ति को ही देखता हूँ, उसमें शुभ या अशुभ, तथा शब्दादिक पाँच विषयों में से जिसे जितना बुरा मानकर अनादर करूँ, उतना ही मेरे ज्ञान की पर्याय का अनादर होता है, वह पापरूप आकुलता है। और देव, गुरु, शास्त्रादिक शुभ विषय को ठीक मानकर आदर करूँ तो पराधीनता और शुभरागरूप आकुलता होती है; इसलिए पर में अच्छा-बुरा मानकर, उसमें अटक जाना मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है। पर में अटक जाने का स्वभाव तो एक-एक समय की स्थितिरूप से रहनेवाली पराश्रयरूप विपरीत मान्यता का है; उसका नाश करने के बाद निमित्ताधीन अल्प राग पुरुषार्थ की अशक्ति से होता है, जिसका स्वभावाधीनदृष्टि में कोई स्थान नहीं है।

अनादि काल से निमित्ताधीन दृष्टि के द्वारा पर की श्रद्धा से पर को जानता था, वह ज्ञान स्वाश्रितरूप से अपनी ओर हुआ, अर्थात् वह शुभाशुभ रागरूप अथवा पर में कर्तारूप नहीं हुआ। जो ज्ञात होती है सो अपने से अपने में ज्ञान की निर्मल अवस्था ही ज्ञात होती है। यह अपने गुणों के अनुभव की विज्ञप्ति है; राग में या मन, वाणी, देह अथवा इन्द्रियों में जानने की विज्ञप्ति नहीं है।

परवस्तु का ऐसा होना चाहिए और ऐसा नहीं होना चाहिए, इस प्रकार माने तो ज्ञान में जो अपनी स्वच्छता प्रतीत होती है, उसका निषेध होता है, अर्थात् मैं न होऊँ ऐसा अर्थ होता है; क्योंकि उस समय अपने ज्ञान की उस अवस्थारूप योग्यता ही उस प्रकार से जानने की है; उसका निषेध करते ही अपनी अवस्था का निषेध और अवस्था का निषेध होने पर अपना निषेध होता है, क्योंकि अवस्था के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती। जैसे दर्पण की स्वच्छता में विष्टा या सुगन्धित फूल, मिट्टी या सोना, बर्फ या अग्नि इत्यादि जो भी दिखायी देता है, वह सब दर्पण की अवस्था है; उसका निषेध करने पर यह अर्थ होता है कि 'ऐसी स्वच्छता दर्पण की नहीं होनी चाहिए;' और इससे दर्पण का ही निषेध हो जाता है, (किन्तु दर्पण को ज्ञान नहीं होता) इस प्रकार दर्पण के दृष्टान्तानुसार ज्ञान की स्वच्छता में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग उसके ही कारण से दिखायी देते हैं, शरीर में बुढ़ापा या रोगादि

की अवस्था शरीर के कारण से होती है, वह तथा पंचेन्द्रियों के विषय ज्ञान की स्वच्छता में सहज ही ज्ञात होते हैं, उसका निषेध करने पर अपने ज्ञानगुण की स्वच्छता का निषेध हो जाता है। ऐसा जानने के कारण ज्ञानी निरंतर अपने एक ज्ञानभाव का अनुभव करता है, इसलिए पर में अच्छा-बुरा मानकर आदर-अनादररूप से अटकना नहीं होता। परवस्तु मुझे लाभ-हानि का कारण नहीं है तथा ज्ञानस्वभाव भी राग-द्वेष का कारण नहीं है, स्वर्ग-नरक इत्यादि तथा निन्दा-स्तुति के कोई भी शब्द अथवा कोई भी परवस्तु ज्ञात हो तो वह मुझे लाभ-हानि का कारण नहीं है; यह जानकर ज्ञानी जानने में निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़कर, अच्छे-बुरेपन को टालकर स्वाधीन स्वलक्ष्य के द्वारा निरन्तर सभी ओर अपने निर्मल ज्ञान का ही अनुभव करता है, स्वानुभव की शान्ति को ही जानता है; पर को नहीं जानता और पर का अनुभव नहीं करता।

यदि कहीं मरा हुआ-सड़ा हुआ कुत्ता पड़ा दिखायी देता है तो वहाँ ज्ञान अपने में जानने का ही काम करता है। वह दुर्गन्ध ठीक नहीं है इसलिए नहीं चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि क्या तेरे ज्ञान की अवस्था नहीं चाहिए? ज्ञान की स्व-परप्रकाशक दुगुनी शक्ति है। (१) वह अपने को जानता है, और (२) प्रस्तुत वस्तु को अपनी योग्यतानुसार ज्यों की त्यों जानता है। जाननेयोग्य परवस्तु का (ज्ञेय का) निषेध करने पर अपने ज्ञानगुण का ही निषेध होता है, इसलिए स्वाश्रित ज्ञान के द्वारा परावलम्बी आसक्ति को मिटाकर अपने ज्ञानभाव में देखने के अभ्यास से निरन्तर ज्ञान-शान्ति का अनुभव होता है। ज्ञान वस्तु को जाने या परवस्तु सम्बन्धी अपनी ज्ञान अवस्था को जाने, किन्तु उसमें स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान अलग नहीं है, इसलिए जानने में पराश्रय का भेद नहीं होता।

प्रश्नः—ज्ञान का विकास कैसे होता है?

उत्तरः—जिस ओर रुचिपूर्वक उन्मुख होता है, उस ओर का ज्ञान विकसित होता है। जिसे जिस व्यवसाय की रुचि है उस ओर उसके ज्ञान का विकास होता है, इसी प्रकार नित्य स्वावलम्बी आत्म-स्वभाव की ओर स्वरुचि की दृढ़ता होने पर स्वभाव की ओर के ज्ञान का विकास होता है।

राग का त्याग करने पर परवस्तु उसके कारण से छूट जाती है, मुझमें पर का सम्बन्ध नहीं है; परवस्तु भिन्न है इसलिए वह मुझसे छूटी हुई ही है। आत्मा के गुण-

दोषरूप भाव होने में परवस्तु कारण नहीं है, मात्र अपने भावानुसार परवस्तु में आरोप करके जो विद्यमान हो उसे निमित्त कहने का व्यवहार है।

ज्ञानी स्व-पर को जानने पर अपने ज्ञान में अच्छे-बुरे का भेद नहीं करते, और अज्ञानी परवस्तु को देखकर उसमें आसक्त होकर रागी-द्वेषी होते हैं, पर में अच्छा-बुरा मानकर, पर का आदर-अनादर करके ज्ञान में राग-द्वेष के भेद बनाते हैं। ज्ञानी पर से भिन्न ज्ञाता ही रहता है। वह जिस समय जैसा होता है, वैसा ही जानता है। आत्मा में ज्ञातृत्व का नित्य अस्तित्व है, और पर का नास्तित्व है जानने में दोष नहीं है। आत्मा किसी भी तरह परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्वभाव में लाभ-अलाभरूप अपने अरूपी भाव को करता है। ज्ञानी स्वाश्रितस्वभाव को नित्य ज्ञातास्वरूप से एक प्रकार से अनुभव करता है, राग-द्वेष के भेदरूप से अनुभव नहीं करता।

अज्ञानी जीव अन्तरंग के मार्ग को बाहर ढूँढ़ता है, वह पराधीनता की श्रद्धा के द्वारा पर में आसक्त है और ज्ञानी के सदा ज्ञातास्वभाव का अखण्ड आश्रय होने से वह पर में नहीं रुकता, पर का अवलम्बन स्वीकार नहीं करता। कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे, कोई तलवार से उसके शरीर को काटे या उसे चन्दन से चर्चित करे, तो भी वह यह मानता है कि मैं तो मात्र अपने वीतरागी ज्ञानगुण के द्वारा जाननेवाला हूँ। चाहे जैसे संयोग क्षेत्र-काल-भाव हों तथापि उनमें अटके बिना अपने एकरूप ज्ञानगुण को जानता हूँ। वह स्वभाव की क्रिया हुई। सम्यग्दर्शन के द्वारा ज्ञानघन निश्चल हुआ है इसलिए मेरे ज्ञान में कोई विरोधभाव नहीं करा सकता।

पाँच सौ मुनियों को (उनके शरीर को) घानी में पेल डाला, फिर भी उनके आत्मा की अखण्ड ज्ञान-शान्ति भंग नहीं हुई। अन्तरंग गुण में अनन्त शक्ति विद्यमान है, उसमें एकाग्र होकर कोई मोक्ष गये और कोई एकावतारी हुए। अज्ञानी-बर्हिदृष्टि-मूढ़पुरुष कहते हैं कि जब वे मुनि धर्मात्मा थे तो उनमें से किसी ने चमत्कार क्यों नहीं बताया? कोई देव उनकी सहायता करने क्यों नहीं आया? किन्तु ऐसा कहनेवालों को आन्तरिक ज्ञान नहीं है। वीतराग स्वभाव साक्षात् चैतन्यघन-देवाधिदेव प्रगट हो गया, यही सबसे बड़ा चमत्कार है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि—अमुक भक्त का विष भी अमृत कैसे हो गया था? किन्तु वे यह नहीं जानते कि वह तो पुण्य का फल है, पुण्य का और आत्मा का कोई

सम्बन्ध नहीं है, दोनों के मार्ग अलग हैं। शरीर रहे या न रहे, शरीर रोगी हो या निरोगी हो, वह सब जड़ की पर्याय है, उसके साथ अरूपी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके आधार से आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं है।

नाम और रूप, अरूपी ज्ञानस्वरूप आत्मा में नहीं हैं। जड़वस्तु उसकी क्रिया, अवस्था त्रिकाल में अपने स्वतन्त्र आधार से करती है। जड़-जड़ की अवस्था को बदलता है और चैतन्य आत्मा अपने रूप में स्थिर रहकर अपनी अवस्था को अपने से ही बदलता है—वह अपने अरूपीभाव को करता है।

अब, ज्ञान को मुख्य करके कहेंगे कि शुद्धनय का विषयस्वरूप आत्मा सदा सब ओर ज्ञान-शान्तिरूप से अपने में ही अनुभव किया जा रहा है ॥१४॥

सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और आंशिक सम्यक्चारित्ररूप स्वरूपाचरण आ जाता है। अपूर्व पात्रता और सत्समागम के द्वारा अपने स्वाधीन स्वरूप को जानकर अवस्था के भेद का लक्ष्य गौण करके विकार का नाशक हूँ, अक्रिया, असंग, ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार स्वभाव को लक्ष्य में लेकर रागमिश्रित विचार को कुछ दूर करके त्रिकाल एकरूप पूर्ण स्वभाव की आत्मा में प्रतीत करना सो सम्यग्दर्शन है, उसमें पराश्रय नहीं है। निर्विकल्प अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ, जब ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक श्रद्धा करता है, तब मुक्ति की ओर प्रयाण प्रारम्भ होता है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है - जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी आत्मा के स्वभाव को किस प्रकार जानता है, सो कहा जा रहा है; और जानने के बाद स्वभाव के बल से स्थिर होता है, तथा व्रत-प्रत्याख्यान-

संयम आदि किस प्रकार होते हैं, सो आगे सोलहवीं गाथा में कहा जायेगा।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तु की क्रिया मैं कर सकता हूँ, उसके कारण मुझे गुण-लाभ होता है, पुण्य करता हूँ तो उस शुभ विकार से गुण-लाभ होता है। इस प्रकार जो मानता है, सो वह वीतरागकथित जिनशासन का विरोधी है।

मैं अबन्ध, असंयोगी, अरागी हूँ, पराश्रित नहीं हूँ, मेरे गुण-लाभ के लिए पराश्रय की या दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती; ऐसी स्वाश्रित भाव की श्रद्धा होनी चाहिए। जिसे जीतना है उसमें विजित हो गया अर्थात् अपने को रागादिरूप मान लिया अथवा पर क्रिया का कर्ता मान लिया, तब फिर उसमें रागादि को जीतने की बात कहाँ रही ? मैं पराश्रय का नाशक हूँ; विकार को जीतनेवाला हूँ, बन्धन को तोड़नेवाला हूँ, कभी भी पररूप नहीं हूँ, त्रिकाल निजरूप ही हूँ, ऐसी जिनाज्ञा का स्वीकार किये बिना कभी भी राग-द्वेष को जीतकर स्वतन्त्र नहीं हुआ जा सकता।

अब, इस गाथा की पाँच कंडिकाओं का वर्णन करते हैं:—

(१) अबद्धस्पृष्ट - मैं किसी परसंयोग से बँधा हुआ नहीं हूँ, पराधीन नहीं हूँ, असंयोगी ज्ञायक हूँ।

(२) अनन्य - मैं पररूप नहीं हूँ, देहादिक मेरे साथ नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ, परक्षेत्र का कोई सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है, मैं सर्व वस्तुओं से रहित स्व में त्रिकाल अभेद हूँ।

(३) नियत - मैं एक-एक समय की अवस्था के भेद जितना नहीं, किन्तु त्रिकालस्थायी नित्य एकरूप स्वभाव हूँ।

(४) अविशेष - मैं गुण के भिन्न-भिन्न भेदरूप नहीं हूँ, किन्तु सामान्य एकाकार अनन्त गुणों का पिण्ड अभेदस्वरूप हूँ।

(५) असंयुक्त - कर्म के सम्बन्ध से राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदिक जो भेद होते हैं, मैं उस भेदरूप अवस्थावाला नहीं हूँ, निमित्ताधीन होनेवाले विकारों का कर्ता नहीं हूँ, (क्षणिक अवस्था में स्वयं विकार करता है, किन्तु स्वभाव में उसका स्वीकार नहीं है) मैं नित्य स्वभावाश्रित गुणों की निर्मलता का ही उत्पादक हूँ।

टीका—जो उपरोक्त पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है सो निश्चय से वास्तव में समस्त जिनशासन की अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए अविरोधी ज्ञान की जो अनुभूति है, सो आत्मा की ही अनुभूति है। एक जिनशासन देखे ऐसा न कहकर सकल (तीनों काल के—भूत, भविष्यत, वर्तमान के समस्त) सर्वज्ञदेवों की आज्ञा-उपदेश एक ही प्रकार का है, वह जैसा है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मानता है।

आत्मा का स्वभाव उपरोक्त कथनानुसार अबन्ध असंयोगी ही है, किंतु वर्तमान में वैसी अवस्था प्रगट नहीं है; यदि वर्तमान बाह्य अवस्था में भी बन्धरहित ही हो, तो तू बन्धरहित हो जा, विकाररहितता को मान, ऐसा उपदेश देने की क्या आवश्यकता रहती? मैं पररूप या पर में कर्तारूप से पराधीन नहीं हूँ, राग-द्वेष-मोहरूप नहीं हूँ, इससे स्पष्ट सूचित होता है कि—वर्तमान में राग-द्वेष विकार है, किन्तु मैं उसे रखनेवाला नहीं; किन्तु में त्रिकाल निश्चल एकरूप सामान्य ज्ञानस्वभाव को रखनेवाला नित्य एकरूप हूँ।

पन्द्रहवीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि तीनों काल से सर्वज्ञ वीतरागदेवों के द्वारा कथित, वीतराग होने का सच्चा मार्ग इसी प्रकार है। लोग भगवान के नाम पर दूसरे को वीतराग का मार्ग मान बैठते हैं और वीतराग के मार्ग को अन्यरूप से मान लेते हैं - उसे यथावत् नहीं समझते; इसलिए प्रत्येक बात बहुत ही स्पष्टता से सादा सरल भाषा में कहीं है।

आत्मा को पर से अलग, निरावलम्ब, अविकारी और असंगरूप जिसने जाना है तथा स्वभाव की यथार्थ प्रतीति में निःसन्देह हुआ है (कि त्रिकाल में वस्तु का स्वभाव आत्मा का धर्म ऐसा ही है) उसने सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित बारह अंग और चौदह पूर्व को भलीभाँति भावपूर्वक जाना है; क्योंकि सर्वज्ञ के सर्व आगमज्ञान में जो जानना था, सो वही है।

मैं पूर्ण ज्ञान-शान्तिरूप हूँ, पराधीन नहीं हूँ, इस प्रकार जो मानता है सो वह स्वाधीन सुख को प्राप्त करता है; किन्तु जो यह मानता है कि मैं दुःखदायक पराधीन हूँ, बन्धनबद्ध हूँ, वह पराधीनता और दुःख प्राप्त करता है।

कोई कहता है कि जो भाग्य में लिखा होता है सो उसी के अनुसार धर्म होता है, कर्म राग-द्वेष कराते हैं, पहले दुःखद रसवाला कर्म बाँधा होगा उसका अभी बहुत जोर

है, इसलिए मुझमें सत्य को समझने की शक्ति नहीं आती, और पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं होता तो वह जड़कर्म की ओट में जागृत स्वरूप को ढँके रहना चाहता है; वह धर्म के नाम पर कदाचित् भगवान की बातें भले ही करे, किन्तु उसे ज्ञानी की तथा उनके वचनों की पहिचान नहीं है, इसलिए उसे वीतरागमार्ग की शिक्षा नहीं रुचती।

ज्ञानी के ज्ञान में स्वभाव से विरोधरूप विचार नहीं है और विरोधरूप वचन नहीं हैं। ज्ञानी की वाणी में विपरीतदर्शक वचन या विकल्प नहीं आता। स्वतन्त्र स्वभाव में पराश्रयता त्रिकाल में भी नहीं है, तथापि जो निमित्ताधीनता को मानता है, वह वीतराग के वचनों को तथा उनके ज्ञान को यथार्थ नहीं मानता, और सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में क्या रम रहा है तथा क्या अभिप्राय है, इसकी उसे खबर नहीं है, और उसे यह भी मालूम नहीं है कि ज्ञान के विकल्प अपनी ओर उठें तो वे कैसे होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञान की दृष्टि में वीतरागता है, हर्ष-शोक पुरुषार्थ की अशक्ति से होते हैं, तथापि मैं वह या उसरूप नहीं हूँ, मैं तो विकार का नाशक ज्ञातास्वरूप हूँ, इस प्रकार वह अपने स्वाधीन स्वभाव को पर से भिन्न रखता है। जड़कर्म की आड़ में अपने स्वभाव को न छुपाकर जो ऐसा जान लिया कि मैं निरावलम्ब पूर्ण ज्ञानरूप हूँ तो उसे ज्ञातृत्व में (स्वभाव में) स्थिर होकर जान लिया है।

वीतराग की वाणी में ऐसा कहा गया है कि हम स्वतन्त्र हैं, तुम भी स्वतन्त्र हो; आत्मा का स्वभाव पर से त्रिकाल भिन्न है, उसमें कर्म की नास्ति है; विकारी अवस्था स्वभाव में नहीं है—इस प्रकार स्वाश्रित स्वभाव को जानने पर वीतराग की शिक्षा में निर्दोष ज्ञानशक्तिभाव आ गया है, वाणी में भी उसी प्रकार स्वतन्त्रता आ गयी है और सत्य को समझनेवाले ज्ञानी की वाणी के पीछे भी यह भाव इसी प्रकार रम रहा है। स्वावलम्बी लक्ष्य से स्वभाव भी अपने में एकरूप असंग है ऐसा मानता है।

वीतराग ने तो स्वतन्त्रता ही बतायी है, किन्तु परावलम्बी मान्यतावाला उसका विपरीत अर्थ करता है—स्वयं उल्टा समझता है कि मैं अभी स्वतन्त्र नहीं हूँ, अभी देह, मन, वाणी और आत्मा सब एकमेक हैं, मन और वाणी की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मुझे उसकी सहायता चाहिए, अभी कर्म की बहुत प्रबलता है, मुझमें शक्ति नहीं है, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, और यह मानता है कि इस काल में स्वतन्त्र होने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता; वह वीतराग को भी नहीं मानता है, क्योंकि उसे उनकी वाणी की खबर नहीं है, इसलिए उसे

वीतराग भगवान के नाम पर बात करने का अधिकार नहीं है। निमित्ताधीन दृष्टिवाले को वाणी, विकल्प और ज्ञान का विपरीत अर्थ ही मालूम होता है। स्वभावाश्रित ज्ञानी की वाणी, विकल्प और ज्ञान स्वाधीन सत्य वस्तु को ही बतलाते हैं।

मेरा आत्मा पर को नहीं जानता तथा जानने में पर का अवलम्बन नहीं है। पर के अवलम्बन के बिना असंगरूप से अन्तरंग में अनन्त गुणों से पूर्ण हूँ, गुणों के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है, जो वर्तमान विकारी अवस्था होती है सो भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं क्षणिक विकारपर्यन्त नहीं, किन्तु उसका नाशक अविकारी-अविनाशी हूँ; निमित्ताधीन लक्ष्य से जो पुण्य-पाप की भावना उठती है, सो वह भी स्वभाव से विरोधभाव है, वह स्वभाव में सहायक नहीं है। जिस भाव से विकार का नाश होता है, वह अविकारी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता मेरे लिए सहायक है, और निश्चय से तो मेरा अखण्ड पूर्ण गुणरूप स्वभाव ही मेरा सहायक है; इस प्रकार जिसने जाना है उसने वीतरागी भगवान के अन्तरंग रहस्य को जान लिया है।

यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है वही वीतराग कथित निर्दोष शासन है, और उसे मानना-जानना सो व्यवहार है।

ज्ञानी पराश्रयभाव को शत्रु मानता है। क्या कोई शत्रु को भी रखना चाहेगा ? आत्मा के स्थिर वीतरागस्वभाव के शत्रु पुण्य-पाप के भावों को करने योग्य अथवा रखने योग्य कैसे माना जा सकता है ? स्वभाव में पुण्य-पाप का कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है, स्वभाव तो पुण्य-पाप का नाशक है, इस प्रकार जिसने स्वभाव को आदरणीय माना है, वह वीतराग की आज्ञा के रहस्य को जानता है।

जो यह मानता है कि परपदार्थ से कुछ हानि-लाभ होता है, वह परपदार्थ का कर्ता होता है। जो यह पराश्रितभाव मानता है कि मैं परावलम्बन से विचार कर सकता हूँ, वह राग-द्वेष अज्ञान से रहित स्वतन्त्र स्वभाव को नहीं मानता। आचार्यदेव कहते हैं कि— वीतराग का मार्ग एक ही है। सर्वोत्कृष्ट धर्म के नाम पर लोग अन्य मार्ग को वीतराग का-धर्म का मार्ग मानते हैं और कोई वीतराग के मूल मार्ग को अन्य मार्गरूप मानते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

जिसने चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ प्रतीतिपूर्वक निरावलम्बी पूर्ण स्वभाव को जाना है, उसने सर्व आगम के रहस्यों को जान लिया है। यद्यपि वह अभी स्वयं पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है किन्तु स्वभाव से विपरीत अभिप्राय का त्याग करके सम्यग्दर्शन सहित जो यथार्थज्ञान किया उसमें बहुत कुछ आ गया। पर का कर्तृत्व या स्वामित्व न आने देना और पराश्रयरहित निजरूप से हूँ - इसका ज्ञान करना सो इसमें सच्चा पुरुषार्थ है।

अनन्त काल में स्वभाव की प्रतीति के बिना धर्म के नाम पर जीव दूसरा सब कुछ कर चुका है, अनन्त बार शास्त्रों का खूब अभ्यास किया है किन्तु अन्तरंग से पराश्रय की मान्यता नहीं छूटी है, शास्त्रों से धर्म होना माना है किन्तु स्वभाव को नहीं माना। उस अनादिकालीन भूल को आत्मगुण के द्वारा दूर करके स्वाधीन स्वभाव को समझे तो जिसे अनन्त काल में नहीं जान पाया, उसे इसी काल में स्वयं जानने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—जैसा समयसार में कहा गया है, उसी के अनुसार यदि जीव गुरुज्ञान से भलीभाँति समझे तो वह इस काल में भी साक्षात् स्वानुभव के द्वारा भवरहित की श्रद्धा में मोक्ष को देखता है, उसे साक्षात् निर्णय हो जाता है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने भी इसी प्रकार स्वाधीन मार्ग का स्वरूप कहा है। जितने ज्ञानी हो गये हैं उन सबने स्वरूप को इसी प्रकार जाना और कहा था, जो ज्ञानी वर्तमान में हैं वे भी इसी प्रकार जानते हैं, और ऐसा ही कहते हैं तथा भविष्य के ज्ञानी भी ऐसा ही कहेंगे। पहले ऐसा दृढ़ निर्णय होने के बाद पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित, पराश्रयरहित स्वभाव में एकाग्र होने का पुरुषार्थ प्रगट होता है, और पूर्ण स्थिरता होने पर पूर्ण वीतरागता होती है।

जो-जो ज्ञानी हैं वे सब यहाँ कथित पाँच भावस्वरूप स्वतन्त्र वस्तु को लक्ष्य में लेने का ही विचार पहले करते हैं, ज्ञान भी उसी का करते हैं, और द्रव्यश्रुतरूप निमित्त में निर्दोष जिनवाणी भी यही कहती है। जिसने यह जान लिया उसने त्रिकाल के सर्व ज्ञानियों के अन्तरंग रहस्य को जान लिया, और मैं भी ऐसा ही हूँ, इस प्रकार भावश्रुत ज्ञान में शान्त समाधिरूप जिनशासन का जो सार है, सो वही आ गया। यह जाननेवाले ज्ञानी के विचार में निमित्तरूप वाणी और विकल्प भी उसी के अनुसार होते हैं और अन्तरंग स्वभाव में भी

वही है। तीर्थंकरदेव की वाणी में (निमित्त में) और उसे जाननेवाले ज्ञान के विचार में तथा सम्पूर्ण आत्मस्वभाव में (उपादान में) यथार्थ प्रतीति के द्वारा जिसने विरोधभाव नहीं देखा, उसने सर्व आगम का रहस्य स्वत: देखा और जाना है।

(१) तीर्थंकरदेव की उपदेशवाणी में-शिक्षा में,

(२) तत्सम्बन्धी जानने के विचार में, और—

(३) अपने अखण्ड स्वभाव में; इस प्रकार जिसने तीन तरह से यथार्थता को जाना है, उसने सर्व सत्शास्त्र, बारह अंग और चौदह पूर्व को जाना है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—हमने इस पन्द्रहवीं गाथा तक साररूप से बारह अंग और चौदह पूर्व का रहस्य कहा है, उसे यथार्थरूप से, सत्समागम से जिसने जाना है, उसने निश्चय से अपने आत्मा को नि:सन्देह जान लिया है।

यहाँ ऐसा कुछ नहीं है कि—शरीर अशक्त है या हड्डियाँ कमजोर हैं, वर्तमान काल शिथिल है या कर्म का बल अधिक है, अथवा मैं पर से दब गया हूँ, इसलिए पुरुषार्थ नहीं हो सकता, किन्तु स्वभाव के पुरुषार्थ से अवगुणों को जीतना (नष्ट करना) और गुणों को प्रगट करना चाहे जिस समय में हो सकता है; यहाँ यही तात्पर्य है। कहीं ऐसा नहीं कहा है कि यदि शरीर-संहनन अच्छा हो तो ही धर्म होता है। इस प्रकार पाँच भावसहित स्वभाव को जो जीव जानता है, अनुभव करता है, स्वाधीनस्वभाव का अनुसरण करके निज की ओर एकाग्र होता है, उसे सर्व शास्त्रज्ञान की अनुभूति है और वही आत्मा की अनुभूति है।

यहाँ अनादिकालीन पराश्रय की श्रद्धा का—पुण्य-पाप का सम्पूर्ण व्यवहार उड़ा दिया है। अवस्था में बन्ध है, ऐसा जानना सो इसका नाम व्यवहार है, और पाँच भावों से एकरूप अपने निर्मलस्वरूप को जानना सो निश्चय है। स्वरूप की श्रद्धा के द्वारा अंशत: स्थिरता से राग को दूर करना सो व्यवहार है, मैं नित्य निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ, मेरे गुण पराश्रय से या शुभ विकल्प से प्रगट नहीं हो सकते। अन्तरंग में गुण की श्रद्धा के बल से गुण से गुण प्रगट होते हैं, ऐसा जानना सो सम्यग्ज्ञान है, और यही अनेकान्त धर्म है। पराधीनता को स्थापित करे या शुभाशुभराग को सहायक माने-मनाये और इस प्रकार अवगुण को पुष्ट करे, सो ऐसी वीतराग की आज्ञा नहीं है। जो

पर में कर्तृत्व माने, पुण्य की क्रिया को मोक्षमार्ग कहे, और जीतने योग्य (नष्ट करनेयोग्य) शुभाशुभभाव को कर्तव्य मानकर उनका आदर करे, तो समझना चाहिए कि उसे जिनशासन की प्रतीति नहीं है और स्वभाव की खबर नहीं है।

जिनका अर्थ है गुणों के द्वारा अवगुणों को जीतनेवाला। मैं निमित्ताधीन होनेवाली अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु विकार का नाशक अविकारी हूँ। क्षणिक विकार मेरे अविकारी अखंडस्वभाव को हानि पहुँचानेवाले नहीं हैं, किन्तु मैं उनका नाश करनेवाला हूँ। जो पर से विदित हो जाता था अर्थात् जो अपने को पराश्रित मानता था। उस भ्रम का स्वभाव की प्रतीति में रहकर नाश कर दिया सो उसका नाम सत्यधर्म-मोक्षमार्ग है। मैं पर से नित्य निरावलम्ब ज्ञानस्वरूप से स्थिर रहनेवाला हूँ, ऐसी प्रतीति की सो वह सम्यक्श्रुतज्ञान स्वयं ही आत्मा है। अपने में नित्य अभेदरूप से अपने ज्ञान को जाना सो वह श्रुतज्ञान भी आत्मा है, इसलिए श्रुतज्ञान की जो अनुभूति है, सो सम्यग्ज्ञान की एकाग्रता में निरन्तर आत्मा की अनुभूति है।

मैं पर से भिन्न हूँ—इस प्रकार वीतरागी स्वतन्त्र स्वभाव को जानने पर अन्य से जानना मिट गया। मैं शरीरादि पररूप कभी नहीं था, जड़कर्म से दबा हुआ नहीं था, एकाकार नित्य ज्ञानस्वरूप ही था, परनिमित्त के भेद से रहित पराश्रयरहित अपने ज्ञान को अपने में अभेद करके स्वभाव की ओर एकाग्रता की सो निज को ही जानने-देखनेवाला हुआ, अपना ही कर्ता हुआ, इसलिए वह अवगुण का उत्पादक नहीं रहा; यही जिनशासन का रहस्य है, यही आत्मधर्म है, और यही आत्मा का अनुभव है। इसमें जो जीतना था सो जीत लिया। इस प्रकार जिसने दृष्टि में भ्रान्ति और राग-द्वेष का नाश किया है, वह अपने स्वभाव की एकाग्रता के बल से अल्प काल में साक्षात् परमात्मा हो जाएगा।

जैसे किसी पक्षी के पैर में डोरा बाँधकर उसे हाथ में पकड़ रखे तो वह पक्षी इधर-उधर उड़कर भी मर्यादा से बाहर नहीं जा सकता, इसी प्रकार जिसने सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल पर्याय का डोरा पवित्र स्वभाव की श्रद्धा की पकड़ में ग्रहण कर रखा है, जिसने पराश्रय का त्याग किया है, उसे काल और कर्म चाहे जैसे हों तो भी बाधक नहीं हो सकते। मेरा स्वतन्त्र स्वभाव राग-द्वेष-मोह से रहित सीधा है, मैंने सम्यग्ज्ञानरूपी स्वभाव की परिणति की डोरी हाथ में पकड़ रखी है, इसलिए अब चाहे जो शुभाशुभ वृत्ति आये तो वह मुझ पर

अपना प्रभाव नहीं जमा सकेगी, उसका मेरे स्वभाव से विरोध भाव है, वह मेरे लिए किंचित्मात्र भी गुणकारक नहीं है; इस प्रकार उसने भलीभाँति जान लिया है।

वस्तु का स्वभाव और धर्म का प्रारम्भ त्रिकाल में इसी प्रकार होता है। वहाँ मात्र सामान्य (परनिमित्त के भेदों से रहित, बंधरहित, निर्मल निरुपाधिक, अखण्ड) ज्ञान की प्रगटता से और विशेष ज्ञेयाकार रागमिश्रित अवस्था की अप्रगटता से (पर्यायभेद की गौणता से) जब स्वाश्रित ज्ञानभाव मात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है, अर्थात् ऐसा स्वभाव ज्ञात होता है कि मैं स्पष्ट, एकाकी, निर्मल, ज्ञानमूर्ति हूँ। परज्ञेयरूप से पुण्य-पाप के संयोग ज्ञात होते हैं, उसमें आसक्त होनेवाला-निमित्ताधीनता को माननेवाला जीव रागमिश्रित विचारों के खण्डरूप में होकर अपने सतत ज्ञानस्वभाव को ढँककर काम, क्रोध, मोहादिक विकल्परूप से राग में एकाग्र होता है और ज्ञानी जीव परज्ञेयमिश्रित भेद का कर्ता न होकर - मैं विकारी भावों का नाशक हूँ, इस प्रकार भेद को ढँककर पुण्य-पाप के भावों को जानता तो है, किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार सतत ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहकर परविषयाधीन होनेरूप आसक्ति को मिटाकर, भेद का श्रद्धा में निषेध करके, ऐसा अनुभव करता है कि मैं नित्य एकाकार ज्ञायकरूप हूँ।

ऐसा वीतराग के ज्ञान का और उनकी निर्दोष वाणी का रहस्य है, उसे सम्यग्ज्ञानी भलीभाँति जानता है। अकेला, मुझसे मुझमें ही ज्ञातास्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ, पर में अटक जानेवाला नहीं हूँ, एकमात्र ज्ञान में ज्ञान की अवस्था को जाननेवाला एकरूप शान्तिस्वरूप मैं हूँ, इस प्रकार अपना प्रगट स्वरूप अपने पुरुषार्थ के द्वारा अनुभव में आता है।

यहाँ द्रव्यदृष्टि से शुद्धता प्रगट बतायी है। जब तक ज्ञानी के चारित्र की अपेक्षा से अस्थिरता है तब तक राग होता है, किन्तु यदि उसे दृष्टिबल से अलग कर देते हैं (उस पर लक्ष्य नहीं देते) और मात्र सामान्य ज्ञानस्वभाव को रखते हैं कि मैं पररूप-रागादिक नहीं हूँ, मैं पर से भिन्न हूँ, इसलिए पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, नित्य अकेला चैतन्यस्वभावरूप हूँ, ऐसा मानना ही धर्म है।

आत्मा का स्वरूप ऐसा ही एकरूप निश्चल है, तथापि जिसे ऐसे अपने स्वरूप की

खबर नहीं है तथा जो आत्मस्वरूप को इस प्रकार नहीं जानता कि मैं पर से भिन्न हूँ, स्वाधीन हूँ, अविकारी हूँ, असंग हूँ; परन्तु मैं पर का कर्ता हूँ, शुभाशुभ रागरूप हूँ, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पूजा-भक्ति इत्यादि शुभकार्य मेरे ही हैं, इस प्रकार जो पर में यह मानकर कि 'यह मैं हूँ और यह मेरा है'—पराधीनतारूप परज्ञेयों में आसक्त होकर रुका हुआ है, वह ज्ञान से भिन्न मात्र ज्ञेय पदार्थों को ही ज्ञानरूप मान लेता है, और इसलिए वह जहाँ-तहाँ यह मान बैठता है कि परपदार्थ की क्रिया को मैंने किया है और देहादि की क्रिया मेरे आधीन है।—ऐसा माननेवाला एक प्रकार से यह मानता है कि सभी पराधीन और निर्माल्य है।

चैतन्य निर्मल ज्ञानरूपी दर्पण अपनी स्वच्छता को जाननेवाला है, उसमें जो पराश्रय राग-द्वेष की क्षणिक अवस्था दिखायी देती है उसकी नास्ति है; ऐसा न मानकर अज्ञानी के ऐसे मिथ्याभाव होते हैं कि मैं पर का कुछ कर दूँ, पर से मेरा कुछ कार्य हो जाए, पर की प्रवृत्ति मेरे आधीन है इत्यादि; इसलिए वह पर में ही आसक्त है, अर्थात् वह मानता है कि—परसंयोगाधीनता से अलग होना मुझे कैसे पुसा सकता है ? मैं निर्माल्य, पराश्रय बिना क्योंकर टिक सकूँगा ?

मैं किसी पर का कुछ कर दूँ, और कोई मेरी सहायता कर दे, ऐसा माननेवाला अपने को और पर को पराधीन-निर्माल्य मानता है। भगवान का स्मरण करके अपने गुणों को बनाये रखूँ, बाह्य शुभराग की प्रवृत्ति करूँ तो गुण प्रगट हों, मुझमें निरालम्बनरूप स्वतन्त्र गुण और पुरुषार्थ की शक्ति नहीं है, इस प्रकार जो मानता है वह गुण की नहीं किन्तु राग की भक्ति करता है। कहा भी है कि—

दीन भयो प्रभुपद जपै, मुक्ति कहाँ से होय ?

नित्य जाननेवाला ज्ञान निरुपाधिक है, और वही मैं हूँ, इस प्रकार जानकर सामान्य एकरूप ज्ञानस्वभाव में स्थिर होना सो यही प्रगट धर्म है, उसमें पर का कोई कर्तृत्व नहीं है, पराश्रय नहीं है। ऐसी श्रद्धा से पहले मूलधर्म की दृढ़ता होती है, उस स्वभाव की दृढ़ता के बल से चारित्र खिल उठता है और पूर्ण स्थिरता होने पर मुक्तदशा प्रगट होती है।

जैसे आहार का लोलुपी शाक में लीन होकर शाक को खाते हुए नमक के स्वाद

को ढँक देता है-खारेपन का पृथक्त्व लक्ष्य में नहीं लेता, इसी प्रकार अज्ञानी निमित्ताधीन दृष्टि के द्वारा अनेक प्रकार के पर-विषयों में राग के द्वारा एकाग्र होता है, वह अलग अरागी ज्ञान-स्वभाव को भूल जाता है, उसे मैं स्वतन्त्र निरावलम्बी हूँ, इस प्रकार पर से पृथक्त्व की प्रतीति नहीं बैठती, क्योंकि उसने अपने को अपने रूप में और पर से भिन्नरूप में कभी भी प्रगटतया न तो जाना है, न अनुभव किया है, और न माना है।

जिस जीव को पर में रुचि है, वह पर का आश्रय मानकर, उसके विचार में रुक जाता है, किन्तु वह पर का लक्ष्य बदलकर अपने ऊपर दृष्टि डाले और निश्चय स्वभाव की श्रद्धा करके अपने ही में लग जाए, तो उसे कोई नहीं रोक सकता, किन्तु पर में कर्तृत्व मान रखा है इसलिए पराश्रय की श्रद्धा नहीं छूट सकती; ज्ञानस्वभाव का निराकुल आनन्द नहीं आता, और जिन आज्ञा समझ में नहीं आती। ऐसा जीव परपदार्थ में अटककर अपने को दबा हुआ मानकर ज्ञेयमिश्रित आकुलता के स्वाद का अनुभव करता है।

मैं परपदार्थ का कुछ करूँ और मैं पर को भोगूँ - ऐसी मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। ज्ञानी जीव किसी भी परवस्तु का स्वाद नहीं लेते। अज्ञानी अविवेक के द्वारा उस परवस्तु को अपनी मानकर जड़ के रस में आकुल होकर, उसमें राग करके, यह मानता है कि उसमें से रस आता है, किन्तु वास्तव में तो वह अपने राग को ही भोगता है।

ज्ञान के करने में कोई भी संयोग बाधक नहीं होते, ज्ञानस्वभाव निरुपाधिक, निरावलम्बी है। कोई लाखों गालियाँ दे या स्तुति करे तो उसमें अटकना ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ज्ञान तो मात्र उसे जानता है। जो पर को जानने में अच्छा-बुरा मानकर उसमें रुक जाता है, वह पर में आसक्त होकर, अपने ज्ञायकस्वभाव को भूला हुआ है। ज्ञान पर में रुका होने से पर से भिन्न स्वाश्रित ज्ञानानन्द का अनुभव नहीं ले सकता। जो परवस्तु ज्ञात होती है वही मैं हूँ, और उसी से जानता हूँ, इस प्रकार परवस्तु में जो आसक्त है, उसे आत्मप्रतीति नहीं है।

जैसे कोई शाक का लोलुपी व्यक्ति, शाक के रस में एकतान होकर यह मान बैठे कि इसमें नमक का स्वाद है ही नहीं, और इस प्रकार शाक में गृद्धिता के द्वारा उसमें भिन्नरूप से रहनेवाले नमक के स्वाद को नहीं जानता - शाक के सम्बन्ध से भिन्न जो नमक का पृथक्त्व है, उसे भिन्न लक्षणरूप नहीं मानता, किन्तु वह शाक के द्वारा नमक का

ज्ञान होना मानता है; जबकि नमक और शाक से स्वाद के पृथक्त्व को सतत जाननेवाला जो कि शाक का लोलुपी नहीं है, वह नमक के स्वाद को पृथक् जानता है। वह यह जानता है कि खिचड़ी में नमक का स्वाद अधिक है, जबकि उसमें वृद्धिवान पुरुष खिचड़ी को ही खारी समझता है, और कहता है कि खिचड़ी खारी है, इस प्रकार, दोनों का रुख भिन्न-भिन्न प्रकार का है। भोजन की गृद्धिता वाला नमक का सतत् खारापन भूलकर भोजन पर ही भार देता है, और जो गृद्धिवान नहीं है, वह नमक को पृथक् जानकर, नमक तो सतत् खारा ही है, इस प्रकार नमक के स्वाद को सतत् पृथक् जानता है। इसी प्रकार निमित्ताधीन दृष्टिवाला ज्ञेयवस्तु में पराश्रय होकर जो परवस्तु ज्ञात होती है, उस पर भार देता है कि मैं पर को जानता हूँ, पर से जानता हूँ, इस प्रकार वह परलक्ष्य में अटक जाता है और ज्ञानी स्वावलम्बी दृष्टिवाला होने से ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय से सतत पृथक्रूप स्थिर रखकर मैं पराश्रितरूप से जाननेवाला नहीं हूँ, मेरे ज्ञान में पराधीनता नहीं है, परवस्तु नहीं है, मैं पररूप नहीं हूँ, मैं अपने को ही अपने में अपने ज्ञान से जानता हूँ, इस प्रकार अपने एक ही प्रकार से सतत् ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता पर ही वजन देता है, वह ज्ञेयों में नहीं रुकता, अपने प्रगट सतत् ज्ञानस्वभाव से कभी अलग नहीं होता।

जिसे यथार्थज्ञान होता है, उसे अपनी ओर एकाग्रता हुए बिना नहीं रहती। मैं पुण्य-पाप से रहित, कर्म सम्बन्ध से रहित, अशरीरी ज्ञानस्वभाव हूँ, पररूप नहीं हूँ, पर का मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ; मात्र अपने स्वाधीन स्वभाव में अनन्त पुरुषार्थ कर सकता हूँ— ऐसी स्वाधीन स्वभाव की जो श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, और वही जिनशासन के अनुसार राग-द्वेष और मोह को जीतनेवाला धर्म है।

आत्मा स्वभाव से त्रिकाल पर से भिन्न-स्वतन्त्र है, तथापि वर्तमान अवस्था में कर्म का संयोग सम्बन्ध न माने तो वर्तमान अवस्था में स्वयं अपनी स्वतन्त्र योग्यता के द्वारा परलक्ष्य में रुककर जो राग-द्वेष भाव करता है, उसे दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; अपने विपरीत पुरुषार्थ से कर्मसंयोग का निमित्त पाकर जीव शुभाशुभरागरूप विकारी अवस्था को करता है, वह अपनी ही वर्तमान भूल है। स्वभाव से वह भूलवाला नहीं है, जड़कर्म राग-द्वेष या मोहभाव नहीं कराते, किन्तु जब स्वयं राग-द्वेष करता है, तब जड़कर्म की उसके स्वतन्त्र कारण से उपस्थिति होती है। पर की ओर लक्ष्य किये बिना

राग-द्वेष नहीं होता, और पर राग-द्वेष नहीं कराता। जब स्वयं पर में युक्त होकर, स्वलक्ष्य को भूलकर राग-द्वेष-मोहभाव करता है, तब अपने भाव का आरोप करके उस समय उपस्थित वस्तु को निमित्त कहा जाता है। यदि स्वयं शुभभाव करे तो संयोगी वस्तु को शुभ निमित्त का आरोप लगाया जा सकता है, और अशुभभाव करे तो अशुभ में उसे निमित्त कहा जाता है, और शुभाशुभ दोनों भाव छोड़कर मात्र ज्ञाता ही रहे तो अभावरूप निमित्त (ज्ञेय) कहलाता है; इस प्रकार अपने भावानुसार निमित्त में आरोप होता है, किसी निमित्त के साथ आत्मा के भावों का सम्बन्ध नहीं है। निमित्त मात्र उपस्थित होता है, उसे जानना सो व्यवहार है।

निमित्त परवस्तु है, वह स्वतन्त्र है और मैं भी स्वतन्त्र हूँ। विकारी अवस्थारूप होनेवाली मेरी वर्तमान योग्यता के कारण, राग-द्वेष करने पर परवस्तु उसके जो अपने कारण से उपस्थित हैं, उसे निमित्त करके-उसके लक्ष्य से मेरी अवस्था में विकार होता है। बद्धस्पृष्ट आदि भाव व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध हैं, सामान्य एकरूप आत्मा उसरूप नहीं है, आत्मा उस अवस्था तक के लिए नहीं है, जब ऐसा जाने तब व्यवहार से जिनशासन जाना हुआ कहलाता है। वह व्यवहार चित्त शुद्ध का शुभभाव है, किन्तु वह धर्म नहीं है।

प्रत्येक आत्मा अखण्ड स्वतन्त्र है, मेरी अशक्ति से अवस्था में राग-द्वेष, पुण्य-पप की वृत्ति उत्पन्न होती है, परपदार्थ में कुछ कर डालने की वृत्ति उठती है उसमें जड़कर्म के संयोग का निमित्त है, विकारभाव अवस्था दृष्टि से है और वह मैं अपनी अशक्ति से करता हूँ, कोई पर-निमित्त या कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते; दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि के शुभभाव पुण्यबन्ध के कारण हैं, किन्तु धर्म के कारण नहीं हैं, वे धर्म में सहायक नहीं हैं। स्वभाव का पुरुषार्थ मेरे स्वरूप से ही हो सकता है, जब इतना निर्णय कर लेता है, तब कहीं व्यवहार के आँगन तक पहुँचा कहलाता है। जब राग से छूटकर स्वभाव की प्रतीति करके श्रद्धा में राग का निषेध करता है, तब श्रद्धामात्र धर्म होता है, और चारित्र के बल से राग का जितना अभाव करे उतनी निर्मल दशा प्रगट होती है।

शास्त्र से या सत्समागम से जिनशासन को जाने सो व्यवहार है। आँगन तक पहुँचे और निरावलम्बी, सामान्य एकरूप, निर्विकार स्वभाव का एकाकार लक्ष्य करे वह निश्चय से सर्व जिनशासन का ज्ञाता होता है। कर्म के सम्बन्ध से युक्त होने से अशक्ति के

कारण जो पुण्य-पाप की क्षणिकवृत्ति उठती है, उसरूप मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं उस विकार का नाशक हूँ, निरावलम्बी, निर्विकार, ज्ञायक, त्रिकाल अनन्त गुण से पूर्ण हूँ, स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे का कुछ नहीं कर सकता, मेरा स्वभाव राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, मैं कभी भी पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ; जब ऐसी स्वाधीनता यथार्थ श्रद्धा में आती है तब कहा जाता है कि—उस जीव ने वीतराग के कथन को जाना है।

(१) कर्म का संयोग है तथापि निश्चय से अबन्ध-अस्पर्शी हूँ।

(२) शरीर के आकार का संयोग है, तथापि निश्चय से असंयोगी शरीराकार से रहित हूँ।

(३) हीनाधिक अवस्थारूप परिणमन होता है, तथापि निश्चय से प्रतिसमय एकरूप हूँ।

(४) अनन्त गुण भिन्न-भिन्न शक्ति सहित हैं, किन्तु स्वभाव भेदरूप नहीं है, मैं नित्य एकरूप अभेद हूँ।

(५) राग-द्वेष, हर्ष-शोक के भाव निमित्ताधीन होते हैं, किन्तु मैं उसरूप नहीं हो जाता।

इस प्रकार जब अपने यथार्थ स्वरूप को मानता है तब व्यवहार के आँगन में-शुभराग में पहुँचा कहलाता है, (ऐसी चित्तशुद्धि जीव ने अनन्त बार की है किन्तु वह व्यवहार है) व्यवहार से-शुभराग से निश्चय अर्थात् स्वभाव के गुण प्रगट नहीं होते, किन्तु शुभ अथवा अशुभ कोई भाव मैं नहीं हूँ, व्यवहार के समस्त भेदों का अभेद स्वभाव के बल से प्रथम श्रद्धा में निषेध करे तो पराश्रय के बिना स्वलक्ष्य से अन्तरंग में एकाग्रता का जोर देने पर स्वाभाविक गुण खिल उठते हैं।

उपर्युक्त पाँच भावों से स्वतन्त्र पूर्ण निर्मल स्वभावरूप से आत्मा को यथार्थ प्रतीति में माने, तब निर्मल श्रद्धारूप प्रारम्भिक धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। जो इसे जान लेता है वही वास्तव में निज शासन को जानता है।

देहादिक परवस्तु की क्रिया को ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता, इसलिए

उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। आत्मा के स्वभाव में से तो शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, किन्तु स्वभाव को भूलकर परलक्ष्य से जब नवीन करता है, तब होती है। चाहे जैसे उत्कृष्ट शुभभाव भी स्वभाव के विरोधी हैं, जो उन्हें आदरणीय मानता है अथवा सहायक मानता है, वह स्वभाव को नहीं मानता। ज्ञानी के पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पुण्य-पाप की लगनरूप अस्थिरता हो जाती है, तथापि उसमें स्वामित्व नहीं होता, आदरभाव नहीं होता। वह जानता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है।

मेरा स्वभाव नित्य एकरूप सतत गुणरूप है, उसमें क्षणिक अवस्था के भेद नहीं हैं, मैं शुभाशुभ का उत्पादक नहीं हूँ किन्तु नाशक हूँ, जिसने ऐसे आत्मस्वभाव को यथार्थतया जान लिया, उसने सर्व जिनशासन के रहस्य को जान लिया। पराश्रय की श्रद्धारूप अनादिकालीन विपरीत मान्यता और सर्व विकार का नाश करके जिसने ज्ञायकस्वभाव को ही प्राप्त किया है, उसने सर्व वीतराग के हृदयों को जान लिया है।

भगवान की वाणी में शुद्ध ज्ञानभाव है। वह राग के कर्तृत्व को स्थापित नहीं करती, और पराधीनता को आदरणीय—करने योग्य नहीं बतलाती। जिसने अपने निर्मल स्वाधीन स्वभाव को जाना है, उसने वीतराग परमात्मा को जान लिया है, उसने उनके उपदेश को जान लिया और यह भी जान लिया कि जीतने योग्य क्या है।

यह सब बातें आचार्यदेव ने न्याय-प्रमाण से कही हैं, यों ही अनाप-शनाप कुछ नहीं कह दिया है, किन्तु साक्षात् भगवान चिदानन्द आत्मा के स्वस्थानरूप शासन से स्वलक्ष्य में तीर्थंकर भगवान की सही (हस्ताक्षर-प्रमाण) पूर्वक लिखा गया है-कहा गया है, और इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य की साक्षी है, यह बात त्रिकाल में भी नहीं बदल सकती।

जैसे शाक के गृद्धिवान पुरुष को शाक से भिन्न नमक का स्वाद नहीं मालूम होता, और वह शाक को ही खारा मानता है। जो नमक का स्वाद है, सो शाक का स्वाद नहीं है, फिर भी वह शाक और नमक के स्वाद को भिन्न नहीं जानता, और यह कहता है कि 'शाक खारा।' यदि शाकादि के भेद से रहित-संयोग से रहित परमार्थ से नमक के सतत प्रगट खारेपन को देखा जाए तो जो खारेपन का प्रगट स्वाद शाक से ज्ञात होता था, वह खारापन सामान्य नमक का ही स्वाद था, वह शाक का स्वाद नहीं था। नमक को अकेला देखो या

शाक के संयोग में देखो किन्तु वह नित्य एकरूप सामान्य प्रगट खारेरूप में है, वह (नमक) शाक इत्यादि किसी पर-वस्तु के स्वादरूप से नहीं है, इस प्रकार जो अलुब्ध है वह जान सकता है। इस प्रकार नमक के दृष्टान्त से परज्ञेयों में लुब्ध हुआ जो अज्ञानी है सो वह अनेक प्रकार के ज्ञेयाकार से रागमिश्रित भाव से अकेले निरुपाधिक सामान्य-ज्ञानस्वभाव को ढँककर और ज्ञेयविशेष के आविर्भाव से (प्रगटपने से) ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप मानकर निमित्ताधीन आकुलता के स्वाद का अनुभव करता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म—शरीरादि किसी परवस्तु की क्रिया तथा पुण्य-पाप की भावना वास्तव में ज्ञान में नहीं है, किन्तु वह सब परज्ञेय हैं। अज्ञानी अपने ज्ञान में ज्ञात होनेवाले ज्ञेयों से अपने ज्ञान में अच्छे-बुरेपन का भेद करता है, और परज्ञेयों का अपने में आरोप करके, अपने ज्ञायकस्वभाव को ढँकता है।

ज्ञेय में सब कुछ आ गया है। देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् सिद्ध भगवान भी परज्ञेय हैं। उन्हें अपना माने और यह माने कि वे मेरा कुछ कर देंगे तो इस प्रकार यह अपने को पराधीन मानता है। भगवान भी परज्ञेय हैं; उनकी भक्ति, स्तुति, पूजा की इसलिए मुझे लाभ हुआ है, इस प्रकार जो वास्तव में मानता है, वह भगवान की नहीं किन्तु अपने राग की स्तुति करता है। पर का अवलम्बन आवश्यक है यों मानकर रागयुक्त ज्ञान करके, पर से गुण-लाभ मानकर जो उसमें अटक गया है, सो वास्तव में अपने ज्ञानस्वभाव को न जाननेवाला अज्ञानी है, वह अपने ज्ञान को परज्ञेयरूप करता हुआ अनादि काल से परवस्तु में लुब्धभाव से अटक रहा है।

मैं पर से भिन्न हूँ, यह भूलकर जिसे अपने स्वतन्त्र तत्त्व की खबर नहीं है, स्वभाव में अपारशक्ति भरी हुई है, उस पर जो भार नहीं देता और मात्र पुण्य के लिए ही राग-द्वेषादियुक्त क्रिया को अपनी मानकर उसमें धर्म मानता है, वह वास्तव में अपनी आकुलता का-मूढ़ता का ही स्वाद लेता है, उसे अपने ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है, इसलिए बाह्य शुभप्रवृत्ति में 'कि जो परमार्थत: विष है' आसक्त होकर मात्र राग की ही भक्ति करता है। वह अपने राग से भिन्न स्वाधीन प्रगट ज्ञान-शान्ति-स्वरूप को नहीं जानता, इसलिए स्वाश्रित गुण का स्वाद नहीं ले सकता।

अज्ञानी को बाह्य प्रवृत्ति की महिमा है इसलिए वह पर में अनुकूलता को देखकर उसमें एकाग्र होकर उस पराश्रय से हर्षानुभव करता है और कहता कि अहो! मैंने बहुत-बहुत पुण्य किये हैं, इतनी क्रिया की है इसलिए अन्तरंग में गुण-लाभ हुआ होगा, इस प्रकार पराश्रय से गुण का मूल्य आँकता है, और अपने को निर्माल्य-पराधीन मानता है। वह सामान्य एकाकार प्रगट ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य नहीं करता जो कि सर्व पर से भिन्न है और पर से पृथक्त्व के बल के बिना पराश्रय से अलग नहीं हो सकता। 'तू स्वतन्त्र तत्त्व है इसलिए तेरा कोई सहायक नहीं है'—यह सुनते ही उसे घबराहट हो जाती है कि मैं परावलम्बन के बिना अकेला कैसे रह सकूँगा? उसे अपने स्वतन्त्र गुण का विश्वास नहीं है इसलिए भीतर से समाधान नहीं होता। बाहरी मानी हुई प्रवृत्ति को देखे तो समाधान करे, कुछ करूँ तो ठीक हो, अन्यथा प्रमादी मूढ़ के समान हो जाऊँगा, इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता में शंकित रहता है। मात्र ज्ञान क्या है और कहाँ स्थिर होना है, इसकी कोई खबर नहीं होती, इसलिए किसी दूसरी वस्तु को लक्ष्य में लूँ तो विचार कर सकूँगा और गुण की क्रिया की गयी मानी जाएगी। इस प्रकार अनादिकालीन भ्रम से अपने को निर्माल्य मानकर स्वतन्त्र स्वाश्रय की श्रद्धा का अनादर करके स्वभाव को ढ़ँक देता है। पुण्य से अपने गुण को टिका रखूँ और अधिक शुभभाव करूँ तो गुण प्रगट हो - ऐसा मानता है, सो भ्रम है।

यह त्रिकाल सत्य है, यदि कठिन मालूम हो तो भी चाहे जब इसे माने बिना छुटकारा नहीं है, इसके अतिरिक्त धर्म का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि कोई इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग माने तो वह उसके घर का बनाया हुआ स्वच्छन्द मार्ग है, वीतराग का मार्ग नहीं है। इसमें बहुत गहन विचार विद्यमान हैं। अशुभ से बचने के लिए शुभराग में युक्त हो तो शुभराग के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि अनेक हैं, किन्तु वे सब परवस्तु हैं और परवस्तु का जो अवलम्बन है सो राग है। परवस्तु और उसका राग रखूँ, शुभराग का अवलम्बन ग्रहण करूँ तो गुण प्रगट हो, इस प्रकार शुभभाव से या निमित्त से गुण को माननेवाला स्वतन्त्र सत्स्वभाव की हत्या करनेवाला है। भीतर जो गुण भरे हुए हैं उनकी तथा मैं अखण्ड गुणस्वरूप हूँ, निरावलम्ब, निर्विकार और परवस्तु के संयोग से रहित हूँ, ऐसे स्वभाव के बल से गुण प्रगट होते हैं और वे सब गुण वर्तमान में स्वाश्रय के बल से ही स्थिर हैं, इसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा अपने अनन्त स्वतन्त्र गुणों से नित्य भरा हुआ

है, यदि वर्तमान में पूर्ण गुण न हों तो बाहर से नवीन नहीं आते। बाह्य लक्ष्य से जो भाव होते हैं, वे स्वभाव के भाव नहीं हैं; मन, वाणी और देह की क्रिया-जड़ की अवस्था जड़ के आधार से होती है। मूढ़ जीव जड़ की अवस्था के परिवर्तित होने का अभिमान करता है। देह की क्रिया के लक्ष्य से-किसी भी परवस्तु के लक्ष्य से जो भाव प्रगट होते हैं, वे निश्चय से अधर्मभाव हैं, रागभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं; क्योंकि वे अविकारी स्वभाव से विरोधीभाव है।

पहले श्रद्धा में सत्स्वभाव को स्वीकार किये बिना, पूर्ण गुण के परिचय के बिना किसका पुरुषार्थ करेगा ? और कहाँ स्थिर होगा ? जो यह मानता है कि परलक्ष्य से गुण प्रगट होते हैं, उसे सदा रागरूप आकुलता का अनुभव होता है। पराश्रितता से रहित मेरा स्वतन्त्र प्रगट ज्ञानस्वभाव नित्य अबन्ध है, उसकी प्रतीति के बिना उसका स्वाद नहीं आता।

जो करनेयोग्य है और जो स्वाधीनता से हो सकता है, उसे अनन्त काल में न तो कभी माना है और न किया ही है; प्रत्युत जो करनेयोग्य नहीं है और जो स्वाधीनतापूर्वक हो ही नहीं सकता, उस पर का कर्तृत्व मानता है, और अनादि काल से स्वभाव से विरुद्ध राग-द्वेष-मोहभाव को करता आ रहा है।

ज्ञानगुण में राग नहीं है, और कोई परवस्तु राग करने को नहीं कहती; पर को लेकर भूलता नहीं है, किन्तु देहादिक-परपदार्थ की अपनी ममत्वबुद्धि से स्वयं ही गड़बड़ करता है भ्रमित हो जाता है। त्रिकाल-स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है, एकरूप ही है; किन्तु ज्ञेयों में आसक्त होकर अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषयों में तथा पुण्य-पाप की वृत्ति में अच्छा-बुरा मानकर उसमें ज्ञान रुकता है, परवस्तु में राग-द्वेष, आदर-अनादर करता है, इसलिए अपने ज्ञानस्वभाव का ही विरोध करता है।

आत्मा निरन्तर ज्ञातास्वरूप है। ज्ञान का स्वभाव पर-विषय में अच्छे-बुरेरूप से अटक जाना नहीं है। परपदार्थ में अटक जाना वह एक-एक समय की स्थिति के राग-द्वेष-मोह का लक्ष्य है, वह विकाररूप होने से ज्ञानगुण नहीं है। गुण में अवगुण की त्रिकाल नास्ति है। ज्ञान तो सामान्य अकेला निर्मल है, उसकी पर्याय भी निर्मल है, उसमें राग नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के सामान्य और विशेषरूप से होनेवाला ज्ञान

ज्ञानरूप से तो त्रिकाल निर्मल ही है, किन्तु अज्ञानी उसमें राग से अटकनेवाले विकल्प का भेद करता है; यदि स्वाश्रय स्वभाव के लक्ष्य से उस भेद को दूर कर दे तो राग रहित सामान्य एकाकार ज्ञान ज्ञान ही है। जैसे अन्य द्रव्य के संयोग का निषेध करके, मात्र नमक का ही अनुभव किया जाए तो सर्वत: निरन्तर एक क्षाररस के कारण नमक की डली मात्र क्षाररूप से ही स्वाद में आती है, इसी प्रकार परद्रव्य के संयोग का निषेध करके केवल निराकुल शान्त आत्मा का अनुभव किया जाए तो सर्वत: सर्व गतियों में, सर्व क्षेत्र में, सर्व काल में और सर्व भाव में अपने एक विज्ञानघन स्वरूप के कारण यह आत्मा स्वयं ही सतत् ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

शाक-पूड़ी, भजिया इत्यादि भोजन के भेदों की अपेक्षा से नमक अधिक खारा है या कम खारा है—ऐसे भेद होते हैं, किन्तु जिसकी दृष्टि भोजन पर नहीं है वह तो नमक को सतत खारेरूप में प्रत्येक अवस्था में प्रगटतया जानता है, परसंयोग का निषेध करके नमक नमक रूप से खारा ही है, अन्यरूप नहीं है; इस प्रकार ज्ञान में ज्ञेयमात्र से परद्रव्य का संयोग है, किन्तु उस संयोग से ज्ञान भेदरूप नहीं होता। मुझमें परसंयोग नहीं है, इस प्रकार परज्ञेयों का निषेध करके—मेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, पुण्य-पाप के भाव भी पराश्रय से ही होते हैं, परमार्थ से स्वभाव में विकार है ही नहीं, मैं विकारी अवस्था जितना ही नहीं हूँ, शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ उत्पादक नहीं, देहादिक-रागादिक किसी भी परसंयोग का मुझमें अभाव है, और निरन्तर अनन्त गुण-स्वभाव ज्ञायकस्वरूप का ही अस्तित्व है। इस प्रकार स्व-पर की अस्ति-नास्ति जानकर त्रिकालस्थायी मात्र ज्ञानस्वभाव का अनुभव करना ही सम्यग्ज्ञान है।

पहले श्रद्धा में ऐसी यथार्थ प्रतीति करने पर अपने अखण्ड सामान्य ज्ञान के लक्ष्य से विशेष ज्ञान की आंशिक निर्मलता होने पर निराकुल एकरूप स्वभाव का स्वाद आता है। जिसने पर से भिन्न स्वतन्त्र स्वभाव को लक्ष्य में लिया है, उसके सर्वज्ञकथित स्वाधीन सुखरूप धर्म होता है; फिर पुरुषार्थ की अशक्ति से , पराश्रय का लक्ष्य करने से होनेवाले क्षणिक विकारभाव को वह परज्ञेयरूप जानता है, वह क्षणिक अशक्ति का स्वामी-कर्ता नहीं होता। अवस्था के जितने खण्ड होते हैं, उन सभी व्यवहार के भेदों का निषेध करके मैं भेदरहित नित्य ज्ञानस्वभावी हूँ, इस प्रकार यथार्थ श्रद्धा को मानना सो यही सर्व प्रथम

धर्म की शान्ति को प्रगट करने का उपाय है, और निर्मल ज्ञायकस्वभाव के बल से स्थिरता को बढ़ाना सो यही चारित्र है। स्वरूप को यथार्थतया समझकर सर्वज्ञ वीतरागकथित न्याय से सत्समागम से उसी का-स्वरूप का ही अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—क्या पहले गुणस्थान में (मिथ्यात्वदशा में) जीव निरावलम्बी हो सकता है?

उत्तर—सत् श्रवण करते हुए यही यथार्थ सत्य है, इस प्रकार मात्र निज की ओर के विचार से यथार्थ सत् की स्वीकृति होती है, बारम्बार उसके आदर और रुचिरूप में हाँ ही होती है, उसमें अंशत: मन का अवलम्बन छूट गया है और वह यथार्थता का स्वयं निर्णय करता है। निमित्त और अवस्था को भूलकर स्वलक्ष्य की श्रद्धा से यथार्थता का अंश प्रगट होता है, वह अंशत: रागरहित निरावलम्बी होने से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए सन्मुख हुआ कहलाता है। अन्तरंग में अप्रगट रुचि काम करती है, उस रुचि के बल से ही आगे बढ़ता है। प्रारम्भ में यथार्थ सत् की स्वीकृति के रूप में सच्चे कारण में नैगमनय से निरावलम्बी यथार्थता का अंश न हो तो सम्यग्दर्शनरूप प्रगट कार्य में प्रगट अंश से निरावलम्बिता कहाँ से आयेगी? सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में पूर्ण निरावलम्बी सिद्ध परमात्मस्वभाव ही है और उसके बल से ही पूर्ण दशा प्रगट हो सकती है।

पराश्रयरहित स्वाधीन आत्मस्वरूप की अनुभूति ही समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

आत्मा में अवस्थारूप से कर्म का तथा शरीरादि का सम्बन्ध है, ऐसा जानना कहना सो व्यवहार है। जहाँ तक परपदार्थ पर लक्ष्य है वहाँ तक पराधीनतारूप व्यवहार है, वह कहीं आत्मा के लिए गुण का कारण नहीं है।

समयसार की प्रत्येक गाथा में सर्वज्ञ भगवान ने जिस प्रकार निश्चय-व्यवहार कहा है, उसी प्रकार कहा जाता है। व्यवहार का अर्थ है परलक्ष्य से भेद का आरोप। उस भेदरूप व्यवहार को सहायक माने, गुणकर माने और उस पर लक्ष्य रखकर उससे धर्म माने तथा पराश्रयरूप व्यवहार को ही जो निश्चय माने उसे वह मान्यता बन्ध का कारण होती है।

मैं शुद्ध हूँ, असंग हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से निर्मलता प्रगट होती है। पहले यथार्थ प्रतीति में पराश्रयरूप सर्व भेद का (व्यवहार का) निषेध है, फिर पृथक्त्व में स्थिरता पर

भार देना सो शुभाशुभ बन्धनभावरूप-व्यवहार के नाश करने का उपाय है। निमित्तरूप देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सर्व वस्तुएँ जाननेयोग्य हैं, अशुद्ध अवस्था में जो कर्म का संयोग है, उसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार है। अकेली वस्तु में विकार नहीं होता। निश्चय का अर्थ है पर से निराला, नित्य पूर्ण अविकारी स्वभाव, वह पराश्रित खण्डरूप व्यवहार का नाश करनेवाला है। बाह्य की प्रवृत्ति-व्रतादि के शुभराग की प्रवृत्ति भी आन्तरकि गुणों के लिए सहायक नहीं है; जितनी पराश्रयता है उतना ही राग में रुकना होता है। जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती तब तक अवस्था में पराश्रयरूप जो राग रहता है, उसे मात्र जानना ही व्यवहारनय का प्रयोजन है।

पराश्रित बाह्योन्मुखरूप राग को गुणकर माने तो वह व्यवहारनयाभास (मिथ्यात्व) है। देहादिक पर की क्रिया तथा पुण्य-पाप के शुभाशुभराग के भाव-विकार मेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि उस विकार का मेरे स्वभाव में अभाव है। मेरा स्वभाव अवस्थामात्र के लिए नहीं है, किन्तु त्रिकाल स्वतन्त्रतया एकरूप है। पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर परमार्थ, अक्रिय निरावलम्बी स्वभाव की श्रद्धा करना ही स्वतन्त्र गुण की श्रद्धा है और वही जिनशासन की निश्चय से श्रद्धा है।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं गाथा में जो व्यवहार से कहा है उस प्रकार परनिमित्त के भेदरूप अवस्थादृष्टि से आत्मा को यथावत् जानना सो जिनशासन का व्यवहार है; उस व्यवहार को सत्यार्थ मानकर अपने को अवस्था जितना मान ले और यह माने कि मुझे शुभाशुभभाव गुणकर हैं, और मैं उनका कर्ता हूँ, तो उसे निश्चय की (गुणस्वरूप स्वाधीन स्वभाव की) श्रद्धा नहीं है। रागादिक में तथा देहादिक परवस्तु में कर्तृत्व को स्थापित करे-पराश्रयता को माने तो वह जिनशासन का व्यवहार नहीं है। व्यवहार को निश्चय से निषेध्य जानकर निमित्त तथा अवस्था को गौण करके मात्र अवस्था-भेद को जानना सो व्यवहार है।

शास्त्र में अनेक जगह असद्भूत व्यवहारनय के कथन की बात आती है, किन्तु उसका वास्तविक अर्थ इसके शब्दानुसार नहीं होता। मात्र निकट के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए उसे उपचार से कहा है, ऐसा समझना चाहिए।

मैं पर से भिन्न निरावलम्बी वीतरागी स्वभावरूप हूँ; पुण्य-पाप रहित श्रद्धा, ज्ञान

और स्थिरता ही मार्ग है, मैं मोक्षमार्ग की अपूर्ण अवस्था जितना नहीं हूँ; ऐसे आत्मा के ध्रुवस्वभाव की जिसने श्रद्धा की है, उसने निश्चय से जिनशासन को जाना है। 'वीतराग कथित जिनधर्म में व्रत, तप, बाईस परीषह इत्यादि बहुत कठिन होते हैं; देव, गुरु, शास्त्र ऐसे होते हैं, उनकी पूजा-भक्ति इस प्रकार होती है।' ऐसे बाह्य चिह्नों से (परवस्तु में) जिनशासन को मानना सो व्यवहार है, वह वीतरागी कथित परमार्थ जिनशासन नहीं है। व्रतादि के भाव शुभराग हैं-आस्रव हैं, उन व्रतादि के बन्धनभावों में सच्चा जिनशासन नहीं है।

जिनशासन में 'जिन' शब्द का अर्थ जीतना है; और उसमें राग-द्वेष एवं अज्ञान को जीतकर (नष्ट करके) पराश्रयरहित ज्ञान-स्वभाव स्वतन्त्र है, इस प्रकार जानना और श्रद्धा करना सो यही राग-द्वेष-मोह और पंचेन्द्रिय के विषयों की वृत्ति को जीतना है। क्रियाकाण्ड की बाह्यवृत्ति से आन्तरिक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

जो सम्यग्दर्शन सहित है, उसे भी अशुभराग से बचने के लिए पूजा, भक्ति, दान, तप इत्यादि क्रियाकाण्डरूप जितना बाहर की ओर का झुकाव है, वह कहीं सच्चा जिनशासन नहीं है। शुभराग भी पुण्य-बन्ध का कारण है, जो अपने को उसका कर्ता मानता है, वह अपने गुणरूप स्वभाव को नहीं मानता। ज्ञानी की दृष्टि में राग का त्याग है, किन्तु वह पूर्ण वीतराग नहीं हो सकता तब तक पापरूप अशुभभाव में न जाने के लिए पूजा, भक्ति, व्रत, तप सम्बन्धी पुण्य-राग हुए बिना नहीं रहता। किसी भी प्रकार के शुभाशुभराग की प्रवृत्ति का नाम व्यवहारनय नहीं है। कोई भी विकारीभाव गुणकारी नहीं है, किन्तु वह विरोधीभाव है, और जितनी हद तक स्वलक्ष्य में टिका रहे उतना निर्मलभाव है; इसे जानना इसका नाम व्यवहारनय है। शुभाशुभ राग या मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को जो जिनशासन या मोक्षमार्ग का साधन माने अथवा मनवाये उसे वीतराग के उपदेश की-स्वतन्त्र स्वभाव की खबर नहीं है। शुभराग से ही धर्म नहीं होता। मात्र शुभराग चाहे जैसा हो तथापि वह व्यवहारनय से-उपचार से भी धर्म नहीं है।

लोगों को यथार्थ धर्म का स्वरूप समझ में न आये इसलिए कहीं अधर्म को धर्म माना या मनवाया जा सकता है? 'इस समय समझ में नहीं आ सकता' इस प्रकार निषेधकारक मिथ्याशल्य को दूर कर देना चाहिए। जिसे परमार्थ जिनदर्शन की खबर नहीं है, उसे व्यवहार की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिए उसके द्वारा माने गये या किये गये

व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि यथार्थ नहीं होते। पाप से बचने के लिए शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध होता है, इसका कौन निषेध करता है ? किन्तु यदि उस पुण्य की श्रद्धा करे, उसे अपने स्वरूप में माने और यह माने कि उसके अवलम्बन के बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता - गुण प्रगट नहीं होता तो वह महा मिथ्यादृष्टि है, वह स्वाधीन सत्-स्वभाव की प्रति समय हत्या करनेवाला है। यदि कठिन प्रतीत हो तो सत्यासत्य का निर्णय करे, किन्तु असत् से तो कभी भी सत् की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व अशुभभावों को छोड़ने के लिए दया इत्यादि के शुभभाव करता अवश्य है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे सम्यग्दर्शन होता है या गुण-लाभ होता है। अनादि काल से शुभभाव करता चला आ रहा है, फिर भी अभी संसार में क्यों परिभ्रमण कर रहा है ? लोगों को अनादि काल से पुण्यभाव अनुकूल प्रतीत हो रहे हैं इसलिए उन्हें छोड़ने की बात नहीं रुचती। जिसे स्वभाव के अपूर्व पवित्र गुण प्रगट करना है, उसमें शुभभाव जितनी लौकिक नीति की पात्रता तो होती ही है। नव तत्त्व इत्यादि और जैसा कि तेरहवीं गाथा में कह चुके हैं, उस प्रकार सच्चे व्यवहार का ज्ञान होता ही है, उसके बिना सम्यग्दर्शन के आँगन में आने की तैयारी नहीं हो सकती। यहाँ यह नहीं कहते है कि- शुभभाव से गुण प्रगट होते हैं, क्योंकि धर्म के नाम पर उत्कृष्ट शुभभाव भी जीव ने अनन्त बार किये हैं, किन्तु प्रतीति के बिना किंचित् मात्र भी गुण प्रगट नहीं हुए। यहाँ ऐसा अपूर्व वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है कि जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है। और जो कुछ कहा जा रहा है, उसे स्वयं अपने आप निश्चित कर सकता है, और अभी भी वह हो सकता है।

पुण्य का निषेध करने का अर्थ यह नहीं है कि पाप किया जाए या पापभावों का सेवन किया जाए। देह की अनुकूलता के लिए या स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा इत्यादि के लिए जितनी प्रवृत्ति करता है वह सारी सांसारिक प्रवृत्ति—अशुभराग है—पाप है। जिसे धर्म की रुचि है वह पाप की प्रवृत्ति छोड़कर दया-दान इत्यादि शुभभाव किये बिना रहता ही नहीं।

मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसा माने तो मूढ़ता का पाप पुष्ट होता जाता है। अशुभभावों को दूर करके पुरुषार्थ से स्वयं शुभभाव करता है। शुभभाव करने में धन इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती। निरावलम्बी स्वरूप की श्रद्धा के अतिरिक्त निश्चयस्वभाव की ओर अंशमात्र भी उन्मुखता या रुचि नहीं होती। (मात्र व्यवहार से धर्म की रुचि कही

जाती है।)

जिनशासन में किसी शास्त्र में व्यवहार से क्रिया की बात (निमित्त का ज्ञान कराने के लिए) आती है, वहाँ उपचार से वह कथन समझना चाहिए। यदि परमार्थ से वैसा ही हो तो परमार्थ मार्ग मिथ्या सिद्ध होगा। आत्मा गुणस्वरूप है; और जो गुण हैं सो दोषों के द्वारा, शुभाशुभ राग के द्वारा प्रगट नहीं होते। यदि व्रतादि के शुभभावों से गुण प्रगट हों तो अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि भी उस व्यवहार के द्वारा शुभभाव करके नववें ग्रैवेयक तक अनन्त बार हो आया है, किन्तु उसे कभी गुण-लाभ नहीं हुआ; इसलिए सिद्ध हुआ कि राग या मन, वचन, काय की क्रिया से जिनशासन (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी यदि कोई उसे माने तो वह अपनी मान्यता के लिए स्वतन्त्र है।

परलक्ष्य के बिना कभी भी राग नहीं होता, इसलिए शास्त्र में अशुद्ध अवस्था के व्यवहार का तथा शुभराग में अवलम्बन क्या होता है,—इसका ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहार की बात कही है, यदि अज्ञानी उसमें धर्म मान ले तो राग और पर की प्रवृत्ति ही धर्म हो जाए। जीव अनादि काल से परपदार्थ पर तथा रागादि करने पर भार देता आ रहा है, इसलिए यदि कोई वैसी बात करता है तो वह झट उसके अनुकूल पड़ जाती है। ज्ञानियों ने पराश्रय में धर्म स्थापित नहीं किया है, किन्तु निमित्त और अवस्था इत्यादि का ज्ञान कराने के लिए संक्षिप्त भाषा में उपचार से कथन किया है; सच्चा परमार्थ तो अलग ही है।

पुण्यभाव चाहे जैसा ऊँचा हो तथापि वह बन्धनभाव है और आत्मस्वभाव अबन्ध है। स्वभाव में पुण्य-पाप के बन्धभाव नहीं हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ने पुण्य-पाप के किसी भी रागभाव से रहित मोक्षमार्ग कहा है, और आत्मा को कर्मबन्ध से पृथक् एवं पराश्रयरहित बताया है। प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। उसका प्राथमिक गुण भी स्वावलम्बी श्रद्धा से प्रगट होता है, इस प्रकार निमित्त और अपनी अशुद्ध अवस्था तथा स्वभाव इत्यादि को विरोधरहित विकल्प से यथावत् जाने तो व्यवहारश्रद्धा में आया हुआ माना जाए; किन्तु यदि ऐसा मान ले कि अनेक प्रकार के आरोप से कहनेवाला व्यवहार ही सत्यार्थ है, तो उसे सच्चे व्यवहार की भी खबर नहीं है। पराश्रय के कथन को ही परमार्थ जानकर पकड़ ले, अर्थात् जो अभूतार्थ-व्यवहार त्यागने योग्य है, उसी को आदरणीय मान ले और व्यवहार के कथनानुसार ही अर्थ मान ले तो स्पष्ट है कि उसने व्यवहार से भी जिनशासन

को नहीं जाना; किन्तु परनिमित्त के भेद से रहित अबद्ध आदि पाँच भावरूप शुद्ध आत्मा को यथार्थ स्वाश्रित प्रतीति द्वारा जिसने जाना है, उसी ने जिनशासन को जाना है, और उसी ने सर्व आगमों के रहस्य को जान लिया है।

यहाँ स्वाश्रय के बल में पराश्रयरूप व्यवहार का निषेध किया है। कुछ लोग मानते है कि व्यवहार का अवलम्बन आवश्यक ही है, किन्तु व्यवहार का अर्थ (लोगों की दृष्टि में) पुण्यभाव है, वह परलक्ष्य से होनेवाला पराश्रयभाव है, उसके द्वारा कभी निश्चयस्वभाव प्रगट नहीं होता। भला खण्डभाव अखण्ड का साधन कैसे हो सकता है ? सम्यग्दर्शन से पूर्व और पश्चात् भी शुभभावरूप व्यवहार आता तो है, व्यवहार को जाने बिना सीधा परमार्थ में नहीं पहुँचा जा सकता, लेकिन उस व्यवहार से गुण प्रगट नहीं होता।

निम्नदशा में अकेली शुद्धता नहीं होती; व्यवहार अवश्य आता है, किन्तु उससे गुण-लाभ मानने में महादोष है, उदय-अस्त का सा महान अन्तर है। देव, गुरु, शास्त्र के अवलम्ब के बिना गुण कैसे हो सकता है, जिसे ऐसी शंका होती है, वह अपने भ्रम के द्वारा अपने स्वतन्त्र गुण का नाश करता है। निश्चय में जाने से पूर्व बीच में शुभभाव और उसके निमित्तरूप देव, गुरु, शास्त्र आदि अवश्य आते हैं, किन्तु उनसे निश्चय में नहीं पहुँचा जा सकता। इस बात को भलीभाँति समझना चाहिए। जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसी उत्तम वस्तु को सुनने के लिए आनेवाले में-सुननेवाले में अमुक पात्रता, नीति और सज्जनता तो होनी ही चाहिए। कपट, झूठ, हिंसा, व्यभिचार आदि महापापों का त्याग तो सहज होता है, तृष्णा की कमी, कषाय की मन्दता और देहादि में तीव्र आसक्ति का त्याग, एवं ब्रह्मचर्य का रंग इत्यादि साधारण नीति की उज्ज्वलता धर्म को समझने के जिज्ञासु पुरुष के होनी ही चाहिए - होती ही है।

जीव ने अनन्त बार बाह्य में दया, दान और नीतिपूर्वक आचरण इत्यादि सब कुछ किया है, वह कहीं नवीन नहीं है। धर्म के नाम पर आत्मप्रतीति के बिना व्रत, तप इत्यादि अनन्त बार कर चुका है, किन्तु आत्मप्रतीति बिना संसार में परिभ्रमण करना बना ही रहा। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जन्म-मरण के सर्वथा नाश करने का सच्चा उपाय क्या है।

सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा यदि आत्मा में पिरोया हो तो चौरासी के अवतार में वह खो नहीं सकता। जैसे सुई कूड़े-कचरे में जा मिली हो किन्तु यदि उसमें डोरा पिरोया हो तो वह

तत्काल ही हाथ आ जाती है, वैसा ही मेरा स्वभाव जड़कर्म, देहादि की सर्व क्रिया तथा पर की अपेक्षा से रहित त्रिकाल स्वतंत्रतया एकरूप पूर्ण है, ऐसी यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा स्वाधीन स्वभाव का आश्रय लेकर समस्त परद्रव्यों की अपेक्षा का निषेध करके अपने आत्मा को जाना, और फिर भी पुरुषार्थ की अशक्ति से शुभाशुभभाव रह जाएँ तथा कदाचित् उन्हें दूर करके चारित्र को प्राप्त न कर सके तो भी स्वभाव की प्रतीति होने से वह उत्तम देवलोक में जाता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के द्वारा अबन्ध स्वभाव का जिसने आश्रय लिया है, उसका भव और भाव दोनों परमार्थ से बिगड़ते नहीं, वह अल्प काल में ही चारित्र ग्रहण करके मोक्ष को प्राप्त करेगा। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे, उन्हें स्वभाव की प्रतीति थी, उसी प्रतीति को लेकर भगवान श्री महावीरस्वामी के निकट उत्कृष्ट पुण्य (तीर्थंकरगोत्र) दृष्टि में आदर के बिना ही बँध गया था। वे आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होंगे। उन्हें उस भव में बाह्य त्याग या चारित्र नहीं था, फिर भी वे एक भव धारण करके पूर्ण निर्मल साक्षात् मोक्षदशा प्रगट करेंगे।

जो पर की वृत्ति उद्भूत होती है सो वह मेरा स्वरूप नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र का बन्ध होता है, वह शुभभाव भी मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए वह आदरणीय नहीं है। मैं सर्व शुभाशुभभावों से पृथक् चिदानन्द भगवान हूँ, सतत प्रगटरूप से अपने स्वरूप को जानने-देखनेवाले स्वभाव से ही हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक जिन्होंने शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा को स्थिर बना रखा है वे श्रेणिक महाराज वर्तमान में पूर्वकृत भूल के बाह्य फल से प्रथम नरकक्षेत्र में हैं, वहाँ उन्हें अनेक बाह्य प्रतिकूलताएँ हैं, तथापि उनके बाह्य संयोग का दु:ख नहीं है, उससे भिन्न अपने स्वरूप की प्रतीति होने से नरक में भी अपने आत्मा में ज्ञान-शान्ति का वेदन करते हैं। जितना राग दूर होता है, उतनी आकुलता दूर होती है।

जिस जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है, वह भले ही कुछ समय तक संसार में रहे किन्तु उसकी दृष्टि में तो संसार का अभाव हो ही चुका है। जिसे यथार्थ प्रतीतिपूर्वक शुद्ध आत्मा की श्रद्धा से स्वाश्रयरूप निश्चय हो गया है, उसने वास्तव में जिनशासन को जान लिया है अर्थात् अपने स्वरूप को जान लिया है। निश्चय की श्रद्धा के बिना व्यवहार भी यथार्थ नहीं हो सकता।

'व्यवहारे लक्ष दोहीला, काँई न आवे हाथ रे;
शुद्धनयस्थापना सेवतां, नवी रहे दुविधा साथ रे।'

[श्री आनन्दघनजी]

धर्म के नाम पर (अज्ञानी जीव भी) बाह्य में सब कुछ कर चुका है, नवपूर्व और ग्यारह अंगों को भी व्यवहार से अनन्त बार जाना है किन्तु यह ज्ञात नहीं हुआ कि परमार्थ क्या है, क्योंकि उसने स्वाधीन स्वभाव को ही नहीं जाना। कुछ निमित चाहिए या पराश्रय चाहिए इस प्रकार मूल श्रद्धा में ही अनादि से गड़बड़ कर रखी है।

मैं शुद्ध हूँ, पर से भिन्न हूँ—ऐसा मन सम्बन्धी विकल्प भी पराश्रयरूप राग है, धर्म नहीं है। मन के अवलम्बन के बिना स्थिर नहीं रह सकता, मात्र स्वभाव में नहीं रहा जा सकता, इस भ्रम के कारण पराश्रय की श्रद्धा को नहीं छोड़ता और पराश्रय की श्रद्धा को छोड़े बिना यथार्थ श्रद्धा नहीं होती।

अज्ञानी जीव ज्ञेयों में लुब्ध है, अर्थात् पंचेन्द्रियों के विषय में लगने पर मैं भी अखण्डरूप ज्ञान जितना ही हूँ ऐसा मानता है; जानने योग्य शब्दादिक विषयों के आधीन मेरा ज्ञान है तथा उन परवस्तुओं के जानने के कारण मुझे राग-द्वेष होता है, मैं देहादि की क्रिया का कर्ता हूँ, घर में कठोरता का व्यवहार रखूँ तो सारी व्यवस्था ठीक चले—यह सारी मान्यता मिथ्या है, मूढ़ता है। बाहर एक सा रखने के पापभाव के फल में बाहर की व्यवस्था एक सी रहनेरूप पुण्यभाव का फल नहीं हो सकता। बाह्य में सब ठीकठाक बना रहना पूर्व पुण्य से होता है, किन्तु उसे ठीक-ठाक रखने का वर्तमान अशुभभाव नवीन बन्ध का कारण है।

शरीर जड़ है, शरीर की अवस्था जड़ की क्रिया है, शरीररूप से एकत्रित हुए जड़-परमाणु शरीर की अवस्था को अपने स्वतन्त्र कारण से किया करते हैं, उसमें आत्मा की कोई सहायता नहीं होती; तथापि यदि यह माने कि शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, अथवा मेरी प्रेरणा से होती है तो उसे अपने अरूपी ज्ञानस्वभाव की और जड़ से भिन्नता की खबर नहीं है, यदि शरीर की क्रिया को तू कर सकता हो अथवा तेरे कथनानुसार शरीर की अवस्था होती हो तो बुखार को लाने की तेरी इच्छा न होने पर भी शरीर में बुखार क्यों आता है ? लकवा हो जाने पर तू हजार बार चाहता है शरीर के अंग न हिलें, फिर भी वे

क्यों हिलते रहते हैं ? सच तो यह है कि शरीर का एक भी परमाणु एक समयमात्र के लिए भी तेरी इच्छानुसार प्रवृत्ति नहीं करता, उसकी क्रमबद्ध अवस्था प्रति समय अपने स्वतन्त्र कारण से होती है। तू अज्ञानी जीव व्यर्थ ही शरीर का स्वामित्व मान बैठा है। निश्चय से तो आत्मा मात्र ज्ञाता ही है।

शंका—यदि आत्मा शरीर की क्रिया को नहीं करता तो फिर जब शरीर में जीव नहीं होता तब मृत देह की क्रिया क्यों नहीं होती ?

समाधान—जिस समय परमाणु की जैसी अवस्था होने योग्य होती है तदनुसार उसकी अवस्था उस समय होती ही रहती है। परमाणु की अवस्था एक ही प्रकार की नहीं रहती, संयोग-वियोग होना अर्थात् मिलना और अलग होना पुद्गल का स्वभाव ही है, और उसकी क्रिया के अनुसार निमित्त (जीव इत्यादि) उसके कारण से उपस्थित होते हैं।

देह के संयोग में रहनेवाला और देह से भिन्न आत्मा सदा अरूपी ज्ञानस्वभाव है। अनादि काल से देह के संयोग में रहने पर भी कभी एक अंशमात्र भी चैतन्यस्वभाव मिटकर जड़रूप नहीं हुआ है और न जड़ के साथ एकमेक ही हुआ है। वह जड़ से सदा भिन्न है इसलिए जड़ की क्रिया नहीं कर सकता। जिसने यह माना है कि मैं देहादिक जड़ का कुछ कर सकता हूँ, उसने अनन्त पर पदार्थों का कर्तृत्व स्वीकार किया है, अर्थात् अनन्त परवस्तुओं के साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है, और इस प्रकार अपने को और पर को पराधीन माना है। बाह्य में अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता मानकर उसमें निरन्तर राग-द्वेष किया करता है, और राग-द्वेष को भी अपना मानता है - करनेयोग्य मानता है, और प्रगट या अप्रगटरूप से अनन्त कषाय किया करता है, इसलिए एकान्त दु:खी है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता हो और फिर भी पर में अनासक्त रह सके—इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बातें एक साथ नहीं बन सकतीं।

पराधीन (निमित्त पर) दृष्टि रखनेवाला जीव पर का कर्तृत्व माने बिना नहीं रहता। भगवान की स्तुति मैंने की है ऐसा माना कि वहाँ वाणी का कर्ता हो गया, तथा शुभराग का स्वामी होकर उसे करनेयोग्य मान लिया। पर में एकाकार हुआ है इसलिए पर का स्वामित्व और उसके कारण से आकुलता होती है, जिसका वह वेदन करता है। अज्ञानी चाहे जैसी बाह्य क्रिया करे, उसमें अज्ञानता विद्यमान ही है। अज्ञानी सच बोले फिर भी उसमें वाणी

मेरे द्वारा बोली गयी है इस प्रकार जड़ की अवस्था का स्वामित्व मानता है। मुझसे दूसरे को ज्ञान हुआ है, अथवा दूसरे ने मुझे ज्ञान कराया है—ऐसा मानने से वह जड़ शब्दों का स्वामी होता है और ज्ञान को पराधीन मानता है, वह असत्य का ही सेवन करता है। यदि पहला घड़ा उल्टा रख दिया जाता है तो फिर उसके बाद उस पर रखे जानेवाले सभी घड़े उल्टे ही रखे जाते हैं; इसी प्रकार जिसकी प्रथम श्रद्धा ही उल्टी होती है, उसका ज्ञान और चारित्र दोनों उल्टे होते हैं।

जब तक जीव स्वतन्त्र स्वभाव को नहीं समझता तब तक उसे यह सब कठिन मालूम होगा। अज्ञानता कहीं कोई बचाव नहीं है। शरीर और इन्द्रियों की सहायता से मैंने इतने कार्य किये हैं, यों अनेक प्रकार से पर का कर्तृत्व मानकर जिसने राग मिश्रित भाव को अपना माना है, उससे अपने स्वभाव को ही दोषरूप माना है। गुणरूप स्वभाव में से दोष नहीं आता किन्तु दोष में से दोष आता है। पराश्रय की श्रद्धा को छोड़कर स्वतन्त्र स्वभाव को जानने के बाद वर्तमान अवस्था में पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण पराश्रय में अटक जाता है, उसे ज्ञानी जानता है, किन्तु उसमें वह परमार्थ से पर का स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं मानता; वह अवस्था के भेदरूप व्यवहार को परमार्थदृष्टि में स्वीकार नहीं करता, किन्तु दृष्टि के बल से उसका निषेध करता है।

मात्र स्वभाव का ही आश्रय ले तो पर का कुछ कर्तृत्व नहीं आता। कोई जीव अपनी चैतन्य अरूपी सत्ता को छोड़कर पर में कुछ करने को समर्थ नहीं है। मात्र पुण्य-पाप के भाव अपने में (परलक्ष्य से) कर सकता है; किन्तु पर में कुछ भी करने के लिए अज्ञानी या ज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार अपना अरागीपन, असंगता और पर में अकर्तृत्व जानकर स्वाश्रय करके स्वलक्ष्य में स्थिरता का बल लगाये तो पुरुषार्थ के अनुसार स्वयं ही राग का नाश और शुद्धता की प्राप्ति कर सकता है।

भावार्थ—यहाँ आत्मा की अनुभूतिरूप स्वाश्रय एकाग्रता को ही शान्त ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही—इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं।

ज्ञेयों में समस्त परद्रव्य आ जाते हैं। शुभाशुभ वृत्ति या देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् सिद्ध भगवान भी ज्ञेय हैं। उन सबका ज्ञान स्वभाव में वास्तव में अभाव है, क्योंकि वे सब

ज्ञान में जानने योग्य हैं। वे आत्मा की वस्तु नहीं हैं, इसलिए आत्मा के लिए सहायक नहीं हो सकते। ऐसी स्वतन्त्र वस्तु की जिसे खबर नहीं है, वह परज्ञेयों में—देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि में तथा पुण्यादि में लक्ष्य रखता है। इसलिए उसे पराश्रय की श्रद्धा है, जो कि मिथ्या श्रद्धा है। ज्ञानी का लक्ष्य निज में है इसलिए वहाँ पराश्रय को स्थान नहीं है। इस प्रकार दोनों के लक्ष्य में अन्तर है। वस्तु तो ज्यों की त्यों नित्य ही है। अज्ञानी जीव बाह्य पर लक्ष्य रखता है। इसलिए यदि बाह्य में उसकी मान्यतानुसार प्रवृत्ति दिखायी देती है तो वह सन्तोष मान लेता है कि चलो, यह मेरे द्वारा हुआ है। यदि शरीर स्वत: अनुकूल रहता है तो उसमें सुख मानकर स्वयं ही देह की अवस्था का कर्ता बनकर देह पर अपना स्वामित्व मानता है; तथा मैंने उपदेश सुना, मैंने पूजा की, मैंने मूर्ति के दर्शन किये, इस प्रकार परलक्ष्य करता है, जो कि सब राग का विषय है; वीतराग स्वभाव के प्रगट करने में वह लाभकारक नहीं है, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मान सकता।

जिनशासन किसी बाह्य वस्तु में नहीं है, कोई सम्प्रदाय जिनशासन नहीं है, किन्तु पर-निमित्त के भेद से रहित, निरावलम्बी आत्मा में और पराश्रयरहित श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरता में सच्चा जिनशासन है।

बाह्य में शुभाशुभभावों के अनुसार प्रवृत्ति देखकर मानों मैं उसरूप हो गया हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञान में जानने योग्य जो देहादि की प्रवृत्ति है, उसका जो जीव अपने को कर्ता मान लेता है, वह पर को अपना मानता है, तथा परवस्तु में अच्छे-बुरे का भेद करके ज्ञान में अनेकत्व को मानता है, सो वह अज्ञानी है। किन्तु किसी भी ज्ञेय में अच्छा-बुरा करने का मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी समस्त परज्ञेयों से भिन्न, ज्ञायक स्वरूप का ही स्वाद लेता है, वह ज्ञेय में नहीं अटकता।

अज्ञानी को सत्य-असत्य के भेद की खबर नहीं होती, वह ज्ञेय को और ज्ञान को एक मान लेता है। यदि वह कभी यथार्थ सत्संग में आया हो तभी तो वह धर्म को कुछ जान सकेगा? कोर्ट-कचहरी में भी अजान व्यक्ति को जाते हुए डर लगता है, किन्तु सदा परिचितों को कोई भय नहीं मालूम होता। इसी प्रकार जिसने कभी तत्त्व की बात ही नहीं सुनी, कभी परिचय प्राप्त नहीं किया उसे यह सब कठिन मालूम होता है, किन्तु भाई! यह तो ऐसी स्वतन्त्रता की बात है कि जिससे जन्म-मरण के अनन्त दु:ख दूर हो सकते हैं।

पर को अपना बनाना महँगा होता है-अशक्य है, किन्तु मैं पर से भिन्न हूँ, अविकारी हूँ, इस प्रकार स्वभाव की श्रद्धा करना सस्ता है, सरल है और सदा शक्य है।

चाहे जैसा घोर अन्धकार हो किन्तु उसे दूर करने का एकमात्र उपाय प्रकाश की किरण है। अन्य किसी प्रकार से-मूसल से या सूपड़ा इत्यादि से अन्धकार दूर नहीं हो सकता। एक दियासलाई की चिन्गारी में सारे कमरे का अन्धकार दूर करने की शक्ति है, यदि पहले ऐसी श्रद्धा करे तो दियासलाई को जलाकर अन्धकार का नाश और प्रकाश की उत्पत्ति कर सकता है। इसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए अन्तरंग स्वभाव में जो पूर्ण ज्ञान भरा हुआ है, उसकी श्रद्धा करो! तेरा ज्ञानगुण स्वतन्त्र है, वह पररूप नहीं है, उसमें कोई आपत्ति नहीं है। पर के आश्रय से विकास को प्राप्त नहीं होता, ऐसी पहले श्रद्धा कर। यदि पहले से ही ऐसी शंका करे कि यह एक छोटी सी दियासलाई इतने बड़े घोर अन्धकार को कैसे दूर कर सकेगी? यदि कुदाली, फावड़ा इत्यादि साधन साथ में लाते तो ठीक होता! जिसने ऐसी श्रद्धा कर ली हो वह कभी भी दियासलाई को नहीं जलायेगा और अन्धकार का नाश नहीं होगा। जैसे दियासलाई की शक्ति की श्रद्धा जल्दी जम जाती है, वैसे ही आत्मा की श्रद्धा भी पहले से ही करनी चाहिए। अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा देहादि से भिन्न है, राग से या पराश्रय से आत्मा की ज्ञानज्योति प्रगट नहीं होती और अनादिकालीन अज्ञान का नाश नहीं होता। किन्तु मैं अविकारी, नित्य रागरहित, पूर्ण ज्ञान से भरा हुआ हूँ; मेरे स्वरूप में अज्ञान है ही नहीं, ऐसी प्रथम श्रद्धा करे तो उस श्रद्धा के बल से ज्ञान की निर्मलदशा प्रगट होकर अनादिकालीन अज्ञान का नाश हो जाता है।

सर्व प्रथम श्रद्धा आवश्यक है। यदि श्रद्धा न करे और माने कि मैं पामर हूँ, राग-द्वेष से दब गया हूँ, जड़कर्म का अधिक बल है और मैं अपने में पूर्ण केवलज्ञान का बल कैसे मानूँ? तो आत्मा के गुण बाह्य प्रवृत्ति से या पर के आश्रय से कभी प्रगट नहीं होंगे। जैसे दियासलाई को साधारणतया स्पर्श करने से उसमें गर्मी या प्रकाश नहीं मालूम होता, किन्तु जब उसे योग्यविधि से घिसते हैं तब भीतर रहनेवाली अग्नि और प्रकाश प्रगट होता है; इसी प्रकार निरावलम्ब निर्मल ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्र हो तो बाहर के अन्य कारणों के बिना ही स्वभाव में से गुण प्रगट होते हैं। अज्ञानी इन्द्रियाधीन ज्ञान से,

राग से तथा पर विषयों से अपने ज्ञान को अनेक प्रकार से खण्डरूप करके, ज्ञेयाधीन होकर कर्तृत्व-ममत्वरूप आकुलता का ही वेदन करता है; और जो ज्ञानी हैं वे परज्ञेयों में आसक्त नहीं होते। इसलिए जड़ की क्रिया में या रागादिक किसी भी ज्ञेय पदार्थ में ज्ञेय पदार्थ के आधार से, अपने ज्ञानानुभव को नहीं मानते। मेरा ज्ञान किसी निमित्त के आधीन नहीं है, किसी रागादिक ज्ञेय के साथ मेरा ज्ञान एकमेक नहीं हो गया है, ऐसा मानने से ज्ञानी सर्व ज्ञेयों से भिन्न एकाकार स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव का ही निराकुल आस्वाद लेता है।

अवस्था में जितना निरुपाधिक ज्ञानगुण प्रगट होता है, वह आत्मा ही है, और जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, दोनों वस्तुएँ पृथक् नहीं हैं। इस प्रकार गुण-गुणी की अभिन्नता लक्ष्य में आने पर मैं नित्य अभेद ज्ञानस्वरूप पूर्ण गुणों से भरा हुआ हूँ, और सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपने गुणों में और गुणों की सर्व पर्यायों में एकरूप निश्चल हूँ; और पर निमित्ताधीनता से उत्पन्न होनेवाले रागादिक भावों से भिन्न अपना निर्मल स्वरूप-उसका एकाकार अनुभव अर्थात् स्वाश्रित सतत ज्ञानस्वभाव का अनुभव (एकाग्रता) आत्मा का ही अनुभव है। और ज्ञानस्वभाव का अनुभव अंशत: निर्मल भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का निश्चय अनुभव है।

शुद्धनय के द्वारा दृष्टि में राग का निषेध करके स्वभाव पर दृष्टि करने पर उसमें परसंयोग का या रागादिक पराश्रय का अनुभव नहीं होता, किन्तु त्रिकाल के सर्वज्ञ देवों के द्वारा कथित और स्वयं अनुभूत शुद्धात्मा का अनुभव है। निश्चयनय से-शुद्धदृष्टि से उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। जिसने ऐसा जाना उसने अपने स्वरूप को जान लिया।

जिसे अपना हित करना है, उसे प्रथम हितस्वरूप अपने स्वभाव की श्रद्धा करनी होगी। मैं नित्य गुणरूप हूँ, अवगुण (राग-द्वेष की वृत्ति) मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु मैं उसका नाशक स्वभावरूप हूँ, असंग हूँ, ऐसे स्वभाव के बल से सर्व शुभाशुभ विकारीभावों का नाश करके, निर्मल स्वभाव प्रगट किया जा सकता है।

धर्म का अर्थ क्या है ? सो बतलाते हैं:—

(१) कर्म के निमित्ताधीन होने से (राग-द्वेष में युक्त होने से) बन्धनभाव की जो वृत्ति होती है, सो मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे स्वभाव के बल से जो पराश्रय में गिरने से बचकर धारण कर ले सो धर्म है।

(२) मैं पराश्रित नहीं हूँ, निरावलम्बी, अविकारी असंग ज्ञानानन्द से पूर्ण हूँ; ऐसे नित्यस्वभाव के बल से अपने ज्ञान, श्रद्धान और चारित्ररूप निर्मल भावों को धारण कर रखना सो धर्म है।

निर्मल श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र की एकतारूप धर्म आत्मा में त्रिकाल स्वतन्त्रता से भरा हुआ है; उसे न माने किन्तु यह माने कि देहादि की क्रिया का तथा पुण्य-पाप के भावों का कर्ता हूँ, वही मेरा कार्य है और उससे मुझे हानि-लाभ होता है; इस प्रकार जो जीव मानता है या पर को मनवाता है, वह जीव सच्चे जिनशासन को नहीं जानता। पराश्रयरूप व्यवहार का तथा पुण्य-पाप की वृत्ति का स्वाश्रय के बल से निषेध करे तो भीतर जो अविकारी गुण विद्यमान है, वह प्रगट होता है।

(पृथ्वी)

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा-
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अर्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश हमें प्राप्त हो जो तेज सर्वदा चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ है। जैसे नमक की डली क्षाररस से सर्वथा परिपूर्ण है, उसी प्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूप पर अवलम्बित है, और जो अखण्डित है-ज्ञेयों के आकार से खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है - जिसमें कर्म के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशीरूप से अन्तरंग में तो चैतन्यभाव से दैदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य में वचन काय की क्रिया से प्रगट दैदीप्यमान होता है - जानने में आता है, जो स्वभाव से ही हुआ है - जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है, वही उत्कृष्ट आत्मस्वभाव हमें प्राप्त हो कि जिसका तेज सदा चैतन्य परिणमन से परिपूर्ण है। जो बहिर्मुख तुच्छ पराश्रित वृत्ति उद्भूत होती है, उसरूप न होनेवाला जो अविकारी चैतन्यस्वभाव है वही उत्कृष्ट भाव हमें प्राप्त हो! ऐसी भावना आचार्यदेव ने इस कलश में व्यक्त की है।

देहादि या रागादि का कोई सम्बन्ध आत्मा में भरा हुआ नहीं है। कर्म के निमित्ताधीन योग से होनेवाली शुभाशुभ वृत्ति, नवीन विकारभाव करने से होती है, वह स्वभाव में नहीं है। विकार से सदा भिन्न और अपने निर्मल गुण-पर्याय से त्रिकाल अभिन्न सदा जागृतरूप से मैं नित्य, निजाकार में चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ हूँ, और विकार का नाशक हूँ— ऐसा ज्ञानी जानते हैं। स्वाश्रयदृष्टि में विकार है ही नहीं।

जैसे नमक का स्वभाव प्रगटरूप से सतत खारेपन को ही बताता है, इसी प्रकार चैतन्य का निरावलम्बी स्वभाव प्रगटरूप से सतत निरुपाधिक ज्ञातृत्व को ही बताता है। वह पुण्य-पाप में रुकना या पराश्रयता को नहीं बतलाता, क्योंकि स्वभाव में पराश्रितता है ही नहीं।

इस प्रकार धर्मी जीव की भावना है, उसमें अधर्म का नाश करनेवाली निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूप की रमणता बढ़ाने की भावना है, इसमें भूमिकानुसार अनन्त-पुरुषार्थ आ जाता है।

यदि कोई कहे कि—श्रद्धा ज्ञान करके स्थिर होने में और मात्र उसकी बातें करने से क्या धर्म हो जाता है? तो ऐसा कहनेवाले को सच्चे तत्त्व का स्वाधीन स्वभाव का अनादर है। उसे यह खबर नहीं है कि स्वभाव में ही धर्म भरा हुआ है, इसलिए वह यह मानता है कि कुछ बाहर करना चाहिए। वह असत्य का आदर और सत्य का विरोध है। यथार्थ स्वरूप उसके ज्ञान में नहीं जम पाया है। इसलिए वह ऐसा कहकर सत् का अनादर करता है कि—'भला ऐसा कहीं हो सकता है? हम जो कुछ मानते हैं सो तो कुछ नहीं और सब कुछ भीतर ही भरा हुआ है; यह तो केवल बातूनी की बातें मालूम होती हैं!' जो बाह्य क्रिया से अन्तरंग परिणाम का निश्चय करता है, उसे व्यवहार से शुभाभाव की भी खबर नहीं है।

ज्ञानी शुद्ध दृष्टि के स्वाश्रित बल से निरंतर परनिमित्त के भेद से रहित केवल स्वाधीनक ज्ञानरसस्वरूप का ही अवलम्बन करता है अर्थात् पुण्य-पाप की क्रियारूप विकार से रहित, देहादि तथा रागादि से रहित, पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित मात्र चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ही अवलम्बन करता है।

शंका—आत्मा को किसी का आधार है या नहीं? या मात्र निरावलम्बी ही कहते हो?

समाधान—स्वरूप से स्वयं नित्य है, पररूप से कभी नहीं है; इसलिए पराश्रय की मान्यता को छोड़कर चैतन्यस्वभावरूप अपार उत्कृष्ट सामर्थ्य का स्वामी होने से स्वाश्रय से ही शोभा को प्राप्त होनेवाली एकरूप ज्ञानकला का ही अवलम्बन करता है। ज्ञान तेज सदा अखण्डित है, ज्ञेयों के भेदरूप नहीं है, इन्द्रियों के खण्ड जितना नहीं है, परविषयरूप नहीं है। तेरे ज्ञान में जो शुभाशुभ राग की भावना ज्ञात होती है सो वह मुझसे भिन्न है, उस अनेक को जानते हुए भी नित्य एकरूप ज्ञानस्वभाव में अनेकता नहीं आती; क्योंकि ज्ञाता-स्वभाव में पर में अटकना नहीं होता।

स्वाश्रितता में शंका करनेवाला पर में अच्छे-बुरेपन की कल्पना करके, उसमें राग-द्वेष करके आकुलता का वेदन करता है। शुद्धदृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानी या अज्ञानी प्रत्येक के स्वभाव में से तो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की ही पर्याय प्रगट होती है। स्वभाव की शुद्ध पर्याय नित्य एकरूप प्रवाहित रहती है, किन्तु अज्ञानी को नित्य स्वाश्रयस्वभाव की प्रतीति नहीं है, इसलिए वह प्रतिसमय नवीन राग-द्वेष-मोहरूप विकार करता आता है। वह पराश्रय करके राग में युक्त होता है, इसलिए उसे शुद्ध पर्याय का अनुभव नहीं होता। जैसे गुड़ की मिठास ही गुड़ है, और गुड़ ही मिठास है, दोनों अलग नहीं हैं; इसी प्रकार आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है; ज्ञान आत्मा से कदापि अलग नहीं है। ज्ञानस्वभाव में राग-द्वेष या मोह नहीं है; मात्र जानना ही है।

वास्तव में आत्मा सदा स्वतन्त्र पूर्ण गुणस्वरूप है। मात्र दृष्टि की भूल से संसार है और भूल के दूर होने से मुक्ति होती है। अशुद्ध पर्यायरूप पराश्रित व्यवहार को पकड़कर जीव पर्याय में अटक रहा है, यही बन्धन है। कोई पर से बँधा हुआ नहीं है किन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से ही बँधा हुआ है, उस दृष्टि के बदलते ही मुक्त हो जाता है।

त्रिकाल में भी जीव का कोई शत्रु या मित्र नहीं है। कोई उसका सुधारने या बिगाड़नेवाला नहीं है। वह विपरीत मान्यता से पराधीनता के भेद कर रहा था, और एकाकार ज्ञान-शान्तिस्वरूप स्वाधीनता का नाश करता था, उस आकुलता का पूर्ण निराकुल स्वभाव की श्रद्धा के बल से नाश करके ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही चैतन्य भगवान शोभा को प्राप्त होते हैं, और वह स्वाधीन एकत्वस्वभाव में मिल जानेवाली निर्मल पर्याय भी निराकुलतारूप शोभा को प्राप्त होती है।

जगत की मोह-ममता के लिए लोग कितने रुकते हैं ? घर, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा इत्यादि को यथावत् बनाये रखने का महान भार धारण करके, मानों मुझसे ही कुटुम्ब इत्यादि भलीभाँति चल रहे हैं, इस प्रकार पर का कार्य करने के मिथ्याभिमान से केवल आकुलता का ही वेदन करता है। कोई ज्ञानी या अज्ञानी पर का कुछ नहीं कर सकता, तथा पर का उपभोग नहीं कर सकता। अज्ञानी मात्र मूढ़भाव से मानता है, उस मान्यता को कोई दूसरा नहीं रोक सकता। चाहे जो कुछ मानने के लिए सब स्वतन्त्र हैं। अज्ञानी मात्र अपने मोह का ही अज्ञानदशा में कर्ता है, और उसके फलस्वरूप चौरासी के जन्म-मरण में परिभ्रमण करना तथा महादारुण आकुलता का भोगना ही उसके लिए है। वर्तमान में स्वाधीनता से निवृत्ति लेकर सत्समागम से सत्य को श्रवण-मनन करे तो उसके फलस्वरूप उच्च पुण्य का बन्ध होता है, और जो सत्स्वरूप को समझे तो उसके लाभ की तो बात ही क्या है! संसार के घूरे का कूड़ा-कचरा उठाने की मजदूरी करके उसके फलस्वरूप दु:ख ही भोगना होता है, इससे तो सत्य को स्वीकार करके, उसका आदर करके, उसके समझने में लग जाना ही सर्वोत्तम है।

अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त होता है और सत्य को सुनने का सुयोग मिला है। यदि सत्य को एक बार यथार्थतया स्वीकार करके सुने तो अनन्त संसार टूट जाए, ऐसी यह बात है। यदि सत् की दरकार नहीं की तो जैसे समुद्र में खोया हुआ चिन्तामणि रत्न फिर से हाथ में आना लगभग अशक्य होता है, उसी प्रकार मनुष्यभव को पूर्ण करके यदि चौरासी के चक्कर में खो गया तो फिर मानव शरीर मिलना महादुर्लभ है।

परलक्ष्य से होनेवाले कोई भी विकारीभाव-शुभ हों या अशुभ, वे सब आकुलता करानेवाले हैं, और आकुलता दु:खस्वरूप है। मैं शुद्ध हूँ, मैं आत्मा हूँ, इत्यादि विकल्प या जप भी आकुलता ही है, धर्म नहीं। धर्म तो स्वभावाधीन अकषायश्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता में ही है, धर्म ही आत्मा का स्वरूप है, आत्मा में ही सर्व सुख भरा हुआ है। जगत सुख और उसका उपाय बाहर से मानता है इसलिए वह सच्चे सुख से रहित है।

आत्मस्वभाव अविनाशीरूप है। जो अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता, जिसका कभी नाश नहीं होता उसकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् वह अनादि-अनन्त है। निश्चयदृष्टि से-शुद्धनय से देखने पर अन्तरंग में एकाकाकर शान्त चैतन्यस्वभाव अनादि-

अनन्त दैदीप्यमान एकरूप अनुभव में आता है।

सांसारिक रुचिवाला जीव बाह्यदृष्टि से पर-पदार्थ में अच्छा-बुरा मानकर उसमें राग-द्वेष, अज्ञान का सेवन करने की भावना करता है, और ऐसा मानता है कि मैं पर में कुछ करूँ और दानादिक में धर्म-बुद्धि के द्वारा उसकी भावना करता है। लोग चाहते हैं कि ब्याज और मूलधन दोनों को सुरक्षित रखकर घर चलाया जाये; इसी प्रकार अज्ञानी जीव शुभराग को रखकर वीतराग होना चाहते हैं, और शुभराग में एकाग्र होते हैं। किन्तु यदि पराश्रित दृष्टि को बदल डाले तो आत्मा में जो पराश्रित भेद से रहित पूर्ण निर्मल स्वभावी वस्तु है, उस मूलधन और उसकी भावना में परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, राग का अंश भी मुझमें नहीं है, मैं तो निरावलम्बी हूँ, इस प्रकार निर्मल श्रद्धा-ज्ञान की भावना करना और अपने में अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव को देखना सो निर्मलस्वभाव का सच्चा ब्याज है, ज्ञानी उन दोनों को प्राप्त करता है।

ज्ञान का स्वभाव अविरोधीरूप से जानना है। कोई विरोधी प्रहार करने को आये, विरोधरूप शब्द बोले तो 'ऐसा क्यों ? यह नहीं चाहिए'—इस प्रकार ज्ञेय का विरोधरूप ज्ञान न करे, क्योंकि उस समय अपने ज्ञान की वर्तमान योग्यता ही ऐसी है कि वे शब्द ज्ञेयरूप से हों; उसका (ज्ञान की पर्याय का) विरोध करने पर अपना ही विरोध होता है; परज्ञेय की मेरे ज्ञान में नास्ति है, मात्र वह मेरे ज्ञान में जानने योग्य है, उसका निषेध करने पर मेरे ज्ञान का ही निषेध होता है ऐसा ज्ञानी जानता है। जिसने परज्ञेय से हानि-लाभ माना है, उसने पर के साथ अपने को एकरूप माना है।

प्रश्न—धर्मी जीव को बाह्य में (वचन और काय की चेष्टा में) दैदीप्यमान प्रसन्नता होती है सो कैसे ?

उत्तर—धर्मी जीव के उत्कृष्ट पवित्र स्वभाव का बहुमान होता है। इसलिए निमित्तरूप से बाहर मुख पर सौम्यता, प्रसन्नता और विशेष प्रकार की शान्ति सहज होती है। जिसे अधिक कषाय होती है ऐसे अज्ञानी की आँखों में लाली इत्यादि आकुलता दिखायी देती है। जो अनेक प्रकार के हावभाव करने में सयान मानता हो उसकी बैरवृत्ति बाहर से आकुलतारूप दिखायी दिये बिना नहीं रहती, कर्तृत्वभाव तथा अहंभाव का अभिमान

वचन में प्रगट हुए बिना नहीं रहता; और ज्ञानी को पर के प्रति कर्तृत्व या ममत्व नहीं होता इसलिए बाह्य में भी वह अज्ञानी से अलग ही मालूम होता है; उसके वचनों में और चेष्टा में निस्पृहता और धैर्य दिखायी देता है, इसलिए मैं पर का कुछ नहीं कर सकता—ऐसे उसके निस्पृहभाव का अनुमान हो सकता है। ज्ञानी को निवृत्तिमय स्वरूप अनुकूल हो गया है, ज्ञान की निरुपाधिकता प्रतीत हुई है, इसलिए ज्ञानी में और अज्ञानी में अन्तर तथा बाह्य में बहुत बड़ा अन्तर दिखायी देता है, यह सब व्यवहार की अपेक्षा से कथन है। किसी को सत्य की प्रतीति न हो किन्तु बाह्य में स्थिर होकर ध्यान में बैठता है-प्राय: ऐसा देखा जाता है; मैं पर का कुछ करता हूँ, और पर-पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, इस प्रकार तीनों काल के अनन्त पर-पदार्थों के प्रति कर्तृत्व-ममत्व मानता है, इसलिए उसे अनन्त राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। इस प्रकर बाहर से ध्यानमग्न दिखायी दे किन्तु भीतर अनेक प्रकार के मिथ्या अभिप्रायों की शल्य रहती है। इस अपेक्षा से बाह्य प्रवृत्ति पर आन्तरिक गुणों का आधार नहीं है। अज्ञानी बाहर से शान्त बैठा हुआ दिखायी देता हो किन्तु अन्तरंग में ऐसे विचार उठते हैं कि यदि मैं कुछ करूँ और कुछ बोलूँ तो दूसरों से अधिक महान हो जाऊँ, और ज्ञानी बाह्य में राज्य करता हो फिर भी उसके अन्तरंग में ऐसे विचार होते हैं कि मैं बाह्य लक्ष्य से रहित स्वाश्रय स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ तो उसी में मेरी महत्ता है। ज्ञानी को अज्ञानी की भाँति अधैर्य नहीं होता। यदि इकलौता जवान बेटा बीमार हो गया हो तो ज्ञानी उसकी औषधि करता है, उपचार करता है, सेवा करता है, किन्तु उसके अन्तरंग में आकुलता नहीं होती और वह अपने मन को समाधान करके यह सोचता है कि जो होना होगा सो होगा। यदि पुत्र का मरण हो जाए तो कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञानी रोता है और अज्ञानी नहीं रोता; किन्तु इस प्रकार बाह्य चेष्टा से ज्ञानी और अज्ञानी की परीक्षा नहीं हो सकती।

अब आगामी सोलहवीं गाथा की सूचना रूप कलश कहते हैं:—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि:।
साध्यसाधकभावेन द्विधैक: समुपास्यताम्॥१५॥

अर्थ—यह ज्ञानघनस्वरूप नित्य आत्मा है सो उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों को

साध्य-साधक भाव के द्विभेद से एक ही नित्य सेवन करना चाहिए।

यह आत्मा पराश्रय के भेद से रहित, निरुपाधिक ज्ञानस्वरूप है, उसके पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य (पूर्ण निर्मल अवस्था) और साधक (अपूर्ण निर्मल पर्यायरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र) भाव को दो प्रकार से जानकर, एकाकार सामान्यस्वभाव को उपादेय मानकर उसी का सेवन करना चाहिए। वह पूर्णस्वभाव ही साध्य है। केवलज्ञान व्यवहार से साध्य है, क्योंकि वह भी वास्तव में तो पर्याय ही है। निश्चय से त्रिकाल स्थायी पूर्ण आत्मस्वरूप स्वयं ही साध्य है। स्वभाव के बल से पुरुषार्थ प्रगट होता है। साध्य के बल से साधन की निर्मलता होती है।

साध्य-साधनभाव आत्मा में ही है, उसमें मन के अवलम्बन का साथ नहीं है, और शरीर या वाणी भी साधन नहीं है। कोई शुभ-विकल्प भी गुण-लाभ के लिए सहायक नहीं है, ऐसा जानकर निर्विकल्प निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानस्वरूप को लक्ष्य में लेकर अपने एकत्व में स्थिर होना चाहिए।

आत्मा निर्विकल्प अभेदस्वरूप है, ऐसा कहने पर अज्ञानी जीव कुछ नहीं समझ सकता, इसलिए अवस्था के भेद करके ज्ञानी उसे समझाते हैं कि जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो जानता है सो आत्मा है। वास्तव में मात्र ज्ञायकस्वभाव में भेद करना भूतार्थ नहीं है। जाननेवाला स्वयं नित्य स्वत: जानता है। जिसकी सत्ता में स्व-पर के पृथक्त्व को जाननेवाला ज्ञातृत्व मालूम होता है, वह जब अशुद्ध अवस्था में रुक जाता है, तब परपदार्थ में अच्छाई-बुराई मानता है, उसमें अवस्था जितने ही रागादिक मालूम होते हैं, किन्तु वे रागादिक ज्ञानस्वरूप में नहीं होते। राग-द्वेष की अस्थिरता को दूर करके तू निराकुल स्थिरतारूप से रह सकता है। पराश्रय में रुक जानेवाली बहिर्मुख दृष्टि का त्याग करके उसका स्वभाव के बल से निषेध करके अब अपने स्वभाव में स्थिर हो जा।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव आत्मा में हैं और साधुओं को (इसमें श्रावक सम्यक्त्वी आदि सभी ज्ञानियों का समावेश है) उनका सेवन करना चाहिए, यह बात आगे की गाथा में कही जाएगी।

जैसे पिता अपने बड़े पुत्र से घर-गृहस्थी और व्यापार सम्बन्धी बातें करता है, किन्तु वे मात्र उसी के लिए नहीं होतीं, मगर उसके सभी पुत्रों के लिए होती हैं; इसी प्रकार

सर्वज्ञ भगवान की बातें उनके उत्तराधिकारी निर्ग्रन्थ साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका—चारों तीर्थ के लिए हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र मुख्यत: साधुओं को सेवन करने के उद्देश्य से कहा है, उसी प्रकार उपरोक्त चारों वर्ग के लिए भी समझना चाहिए। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों एक आत्मा में ही होते हैं, तीन प्रकार अलग नहीं हैं। उन तीनों गुणों की अवस्था का विचार करना सो राग है; किन्तु राग को दूर करने का उपाय तो स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा के बल से स्वरूप में एकाग्र होना ही है।

पुण्य-पाप की भावना जितना ही आत्मा नहीं है। पराश्रय से-मन के अवलम्बन से जो कुछ शुभाशुभभाव होते हैं सो सब विकारी भाव हैं, उनके आश्रय से कभी भी आत्मा की सुख-शान्ति प्रगट नहीं होती, और उसके द्वारा सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। यदि पुण्य-पाप की भावना से रहित, निर्मल ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ श्रद्धा के द्वारा लक्ष्य में लिया जाए तो ही स्वभाव में जो सुख-शान्ति भरी हुई है, वह अवस्था में प्रगट होती है।

जगत का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र-सुखी होना चाहता है, और प्रत्येक प्राणी ने अपना सुख कहीं परपदार्थ में कल्पित कर रखा है। किन्तु पराश्रय से कभी सुख नहीं मिलता, स्वतन्त्र स्वभाव की प्रतीति के बिना सुख का उपाय भी प्रगट नहीं होता। शुभ या अशुभ जो भाव होते हैं, वह सब पराश्रय से होनेवाला विकारभाव है, अधर्मभाव है, बन्धनभाव है। वह स्वाश्रय स्वभाव में कोई सहायता नहीं करता; इस प्रकार यदि स्वाश्रयस्वभाव को माने तो उसके लिए उपाय करे। पराश्रयरूप अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, मन के योग से किंचित् पृथक् होकर निज में लक्ष्य किया कि फिर उसे दृष्टि में संसार है ही नहीं।

यहाँ तो एक ही बात है-या तो संसार-परिभ्रमण या सिद्धदशा—दोनों विपक्ष हैं, एकसाथ दोनों नहीं हो सकते।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र वस्तु को कोई पर-मन, वचन, काय की क्रिया; देव, गुरु, शास्त्र, बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता, लाभ या हानि किंचित्मात्र भी नहीं कर सकता। उनके आश्रय से लाभ नहीं किन्तु बन्धन है। इसलिए पराश्रय का त्याग करके स्वाश्रय स्वभाव को लक्ष्य में लेना ही प्रथम श्रद्धा का विषय है।

एक सूक्ष्म रजकण भी अपनी अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण अखण्ड वस्तु है, और

अपने आधार से ध्रुवरूप स्थिर होकर प्रति समय स्वतन्त्र अवस्था को बदलता रहता है। वह दूसरे चाहे जितने रजकणों के पिण्ड के साथ रहे फिर भी उसके गुण (स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध इत्यादि) पर से भिन्न ही हैं, उनका किन्हीं दूसरे रजकणों के साथ परमार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनन्त काल से बाह्य वृत्तिरूप अज्ञान का प्रवाह पर की ओर जा रहा है-पराश्रय की ओर उन्मुख है, और पर के लक्ष्य से जितने शुभाशुभभाव करता है वह सब पराश्रयरूप व्यवहार है। पर में कुछ भी करने का जो भाव है, सो सब अधर्मभाव है, वह स्वभाव में नहीं है; किन्तु एक समयमात्र की आत्मा की विकारी अवस्था में परलक्ष्य से होता है। उस क्षणिक अवस्था पर लक्ष्य न देकर एकरूप ज्ञानस्वभाव पर लक्ष्य करे तो आत्मा सदा अखण्ड शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप ही है, पर के अवलम्बनवाला नहीं है। अखण्ड अर्थात् किसी भी वस्तु के संयोग में रहने पर भी उसमें पराधीनता नहीं आती, या उसमें भेद नहीं होता; चैतन्य का कोई अंश अचेतनरूप या राग-द्वेषरूप नहीं हो जाता।

जो पराश्रयरूप शुभाशुभ भेद होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे लिए सहायक नहीं हैं, किन्तु वह विरोधभाव है—ऐसा जानना सो व्यवहार है। मोक्षमार्ग भी अपूर्ण अवस्था है। वहाँ व्रतादि के जो शुभभाव होते हैं, सो वे वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हैं, किन्तु उनका ज्ञान करने के लिए कथनमात्र (व्यवहार) है। अखण्ड के लक्ष्य के बाद उसके निश्चय से युक्त अवस्था को जानना सो व्यवहार है, किन्तु स्वभाव के लक्ष्य के बिना मात्र अवस्था को ही जानना सो व्यवहार भी नहीं कहलाता ॥१५॥

आचार्यदेव अब सोहलवीं गाथा में कहते हैं कि—पराश्रयरहित शुद्धस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप मोक्षमार्ग एक ही है, और शुभाशुभभावरूप संसार-मार्ग एक ही है। दोनों विपक्ष हैं।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम्।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मनमेव निश्चयतः ॥१६॥

अर्थ—साधु पुरुषें को दर्शन, ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करना चाहिए; और उन तीनों को निश्चयनय से एक आत्मा ही जानो।

अपने में सर्व समाधानरूप पूर्ण सुख है, अज्ञानी जीव उसे भूलकर बाहर से ही सुख और सुख का उपाय मानता है; देह, इन्द्रिय, धन इत्यादि में जो सुख की कल्पना कर रखी है, सो वह मान्यता अनादि काल से दृढ़ हो गई है, इसलिए यह मानता है कि मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता, किन्तु यदि उस कल्पना को बदलकर यह माने कि स्वाश्रित निश्चय से मैं एक स्वतन्त्र सुखस्वरूप वस्तु हूँ, तो उसमें किसी की आवश्यकता नहीं होती। मिथ्याकल्पना करनेवाले ने अपने को भूलकर अनन्त परवस्तु में पराश्रय से सुख की कल्पना की थी; उस दृष्टि को बदलकर अन्तरंग में माने कि मैं स्वतन्त्र वस्तु हूँ, और जबकि स्वतन्त्र वस्तु हूँ तो मेरे सुख के लिए, ज्ञान के लिए दूसरे की सहायता लेनी पड़े यह कैसे हो सकता है ? स्वभाव में ही अनन्त गुण भरे हुए हैं, जो कि मेरे ही स्वाश्रय से प्रगट होते हैं। स्वाधीन स्वरूप को माने और उसमें स्थिर हो सो यही सुख का उपाय है। स्वाश्रित स्थिरता पर जितना भार दे उतना सुख प्रगट होता है, और पूर्ण स्थिरता के द्वारा जो अनन्त सुख भरा हुआ है सो प्रगट होता है ? पराश्रय के द्वारा स्वाधीन सुखस्वभाव कभी प्रगट नहीं हो सकता।

पराश्रय में सुख की कल्पना कर रहा था और जो ऐसी पराश्रित दृष्टि थी कि अनन्त परवस्तुएँ मेरे सुख-दुःख का कारण हैं, उसे बदलकर स्वाश्रित दृष्टि से देखने पर—'मैं पर से भिन्न हूँ' ऐसा निर्णय करने पर अपने में जो अनन्त सुख भरा हुआ है, उसका विश्वास हो जाता है। पहले जो दूसरे पर लक्ष्य रहता था, वह अपने पर रहने लगे तो राग-द्वेष कम होता है।

यहाँ स्वाधीन सुख की रीति कही जा रही है। यह बिल्कुल अन्तरंग मार्ग है, उसे बाहर निकालकर कैसे बताया जा सकता है ? तुझे अपने सुख के लिए दूसरे की ओर ताकना पड़े यह कितना आश्चर्य है ! अनुकूलता हो तो आदर करूँ, प्रतिकूलता को दूर कर दूँ, धन-प्रतिष्ठा हो तो सुख मिले—यह सब मिथ्या कल्पनारूप दुःख ही है। जो पर में अच्छा-बुरा मानकर, उसके आधार से सुख-दुःख की कल्पना करता है, उसने पर को अपना माना है और अपने को पराधीन, शक्तिहीन माना है। जैसे डिब्बी के संयोग में

रहनेवाला हीरा डिब्बी से अलग ही है। उसी प्रकार देहादि संयोग में रहनेवाला भगवान आत्मा उससे अलग ही है; इसलिए उस पर लक्ष्य देने से तेरा स्वाधीन सुख प्रगट होगा।

जब पहले बहिर्मुख दृष्टि थी तब बाह्य में कौन अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है, इस प्रकार परपदार्थ के लक्ष्य से राग-द्वेष में एकाग्र होता था और अपने को उसरूप मानता था; उस परोन्मुखता की दृष्टि को बदलकर यदि स्वभाव में गुण की ओर स्वाश्रित दृष्टि करे तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप से स्वयं अकेला अपने को सेवन करनेवाला होता है।

टीका—यह आत्मा जिस भाव से साध्य और साधन होता है। (भाव एक और पर्याय दो—साध्य-साधक) उस भाव से ही नित्य सेवन करनेयोग्य है। भिन्न-भिन्न भावानुसार भेद नहीं करना पड़ते। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म का क्षय करके जो पूर्ण निर्मलभाव प्रगट होने योग्य है, सो साध्यभाव है, और बन्धनरूप राग-द्वेष का नाश करनेवाली जो अपूर्ण निर्मलदशा है सो साधन अथवा साधकभाव है। दोनों (साध्य-साधक) का ज्ञान करे, किन्तु निर्मल साध्यभाव तो मात्र शुद्ध आत्मा का सेवन करने से ही प्रगट होता है।

जैसे दियासलाई में वर्तमान अवस्था में उष्णता और प्रकाश प्रगट नहीं हैं तथापि वे शक्तिरूप से वर्तमान में भी भरे हुए हैं, ऐसी श्रद्धापूर्वक उसे यदि योग्य विधि से घिसा जाए तो उसमें से अग्नि प्रगट होती है; इसी प्रकार आत्मा में तीनों लोक को प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानज्योतिरूप शक्ति भरी हुई है; उस पूर्ण का लक्ष्य करनेवाला निर्मलभाव वर्तमान में अल्प है, तथापि प्रत्यक्ष है और श्रद्धा में पूर्ण है। सिद्धदशा का और केवलज्ञान का भाव भरा हुआ है, वह वर्तमान में अप्रगट है-परोक्ष है।

पानी में उष्णता प्रत्यक्ष है उसका लक्ष्य गौण करके, उसके ठण्डे स्वभाव का लक्ष्य करने के बाद उसे शीतल करने की क्रिया प्रारम्भ की तब उसमें थोड़ी ठण्डक आने लगी सो वह वर्तमान में अंशत: प्रत्यक्ष ठण्डक है और उसमें जो सम्पूर्ण ठण्डक लक्ष्य में आती है सो वह शक्तिरूप से परोक्ष है; उसी प्रकार वर्तमान में आत्मा में परनिमित्त के योगरूप अवस्था को गौण करके पूर्ण निर्मलस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद परोक्ष केवलज्ञानस्वरूप की अखण्डता के लक्ष्य से वर्तमान में स्वाश्रय के बल से आंशिक निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रभाव प्रगट होता है, उसके द्वारा निर्मलस्वरूप आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

यथार्थ प्रतीति में पूर्णस्वभाव की श्रद्धा और उसका लक्ष्य हो उसके साथ ही

पूर्णभाव प्रगट हो जाए तो बीच में, साधकदशा अर्थात् मोक्षमार्ग न आये, किन्तु ऐसा नहीं होता; क्योंकि पूर्ण निर्मलता प्रगट होने से पूर्व बीच में मोक्षमार्ग आये बिना नहीं रहे।

लेंडी पीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट आने की शक्ति वर्तमान में प्रगटरूप से नहीं है, फिर भी उस पूर्ण की प्रतीति के लक्ष्य से वर्तमान में उसे घिसने से थोड़ी चरपराहट प्रगट हो जाती है, जो कि पूर्ण चरपराहट का अंशत: कार्यरूप साधन है, सो प्रत्यक्ष है, और पूर्ण चरपराहट प्रगट नहीं है, तथापि उसकी प्रतीति है; इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान वर्तमान में अप्रगट शक्तिरूप से भरा हुआ है, उसकी प्रथम श्रद्धा करे और किसी भी दृष्टि से विरोध न रहे—इस प्रकार उसके साधन की भी यथार्थ पहिचान करे, पश्चात् स्व-लक्ष्य से एकाग्रता के बल से जिस अंश में निर्मलभाव प्रगट हो वह प्रत्यक्ष है और वह पूर्ण का साधन है।

पीपल के दृष्टान्त में लोगों का लक्ष्य पत्थर पर जाता है, किन्तु पत्थर से पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट नहीं आयी है। यदि पत्थर से चरपराहट आती हो तो कंकड़-पत्थर या लकड़ी के टुकड़ों को खरल में डालकर घोंटने से उसमें भी चरपराहट आनी चाहिए। दृष्टान्त में से एक अंश को लेकर उसमें से सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट थी सो वही प्रगट हुई है। इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान शक्तिरूप से विद्यमान है, उसकी प्रतीतिरूप प्रथम साधन करने के पश्चात् स्थिरतारूप विशेष पुरुषार्थ होता है। पूर्ण अखण्ड की श्रद्धा में एकाकार पूर्ण स्वभाव का ही लक्ष्य है, उसमें अपूर्णभाव के या पूर्णभाव के भेद नहीं होते। भेद के लक्ष्य से अभेद का पुरुषार्थ उद्भूत नहीं होता। अखण्ड पूर्णस्वभाव के बल से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता होती है। वर्तमान में अपूर्ण और शक्ति में पूर्ण - इस प्रकार दो अवस्थाओं का भेद करनेवाले व्यवहार को गौण करके सम्यग्दर्शन का लक्ष्य अखण्ड ज्ञानमय स्वरूप की ओर एकाकार है।

मैं पूर्ण वस्तु एकरूप स्वतन्त्रतया त्रिकाल स्थायी हूँ; उसमें पूर्ण निर्मल अवस्था शक्तिरूप से नित्य भरी हुई है, और वर्तमान में अपूर्ण अवस्था है—यों दो प्रकार के भेद ज्ञान में प्रतीत होते हैं, किन्तु श्रद्धा का ध्येय (साधना का साध्य) पूर्ण अखण्ड स्वरूप ही है।

लोग कुलदेवतादि को सर्वसमर्थ रक्षक मानते हैं, किन्तु यह तो विचार कर कि तुझमें भी कुछ दम है या नहीं ? तू नित्य है या अनित्य ? स्वाधीनता के लक्ष्य से अन्दर तो

देख! त्रिकाल स्वतन्त्रतया स्थिर रहनेवाला भगवान आत्मा सतत जागृत ज्ञातास्वरूप है, वही सर्व समर्थ देव है, उसी की श्रद्धा कर; पर की श्रद्धा छोड़, पर से पृथक्त्व बतानेवाले निर्मल ज्ञान का विवेक कर, स्वभाव के बल से एकाग्रता कर और श्रद्धा, ज्ञान तथा स्थिरता को एकरूप स्वभाव में लगा यही मोक्षमार्ग है।

जो ज्ञान है सो साध्य-साधक दोनों भाव को जानता है, किन्तु सेवन तो मात्र निश्चयस्वरूप का ही करता है। इसका अर्थ यह है कि निश्चय वस्तु-आत्मा पर एकाकार लक्ष्य का जोर दिया जाये। निश्चय स्वभाव के बल से अपूर्ण पर्याय पूर्ण निर्मल हो जाती है। मैं व्यवहार के भेद में रुकनेवाला नहीं, किन्तु पराश्रय के सर्व भेदों को नाश करनेवाला हूँ, ऐसे नि:शंक भाव से अखण्ड स्वभाव के बल से हीन पर्याय को तोड़कर अल्प काल में साध्यरूप पूर्ण मोक्षदशा प्रगट करता है। यदि यह समझ में न आये तो धैर्य रखकर समझना चाहिए, क्योंकि समझ के मार्ग पर ही सत्य का आगमन होता है, विपरीत मार्ग से कभी अन्त नहीं आएगा।

यदि आत्मा में पूर्ण शान्ति और अपार ज्ञान-सुख न हो तो अशान्ति और पराश्रयता का दु:ख ही बना रहे। यदि स्वभाव में सुख न हो तो चाहे जितना पुरुषार्थ करने पर भी वह प्रगट नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा में निरन्तर अनन्त सुख की पूर्ण शक्ति है, उसकी यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यक्श्रद्धा करके अभेदस्वरूप के लक्ष्य से एकाग्र हो और त्रिकाल निश्चयस्वभाव की दृढ़ता करे तो स्वाधीन सुखरूप में शंका नहीं होती। उस श्रद्धा के बल के अनुसार निर्मलभाव की एकता के द्वारा एक आत्मा का ही सेवन करना योग्य है।

इस प्रकार स्वाश्रित निश्चयभक्ति करके अर्थात् एक ही भाव में मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति है इस प्रकार स्वयं निर्णय करे, अखण्ड वस्तु के व्यवहार से भेद करके दूसरे को समझाने के लिए कहते हैं, तथापि लक्ष्य तो पूर्ण का ही है। साधु पुरुषों को पराश्रय के भेद से रहित स्वाश्रित निर्मल दर्शन, ज्ञान और चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिए। यद्यपि कहनेवाले का लक्ष्य पूर्ण अभेद पर है, किन्तु भेद किये बिना दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। यदि किसी अज्ञानी से कहा जाए कि अखण्ड आत्मा सेवन करनेयोग्य है, तो वह समझता नहीं है, इसलिए उपदेशक यह जानता है कि शुद्धनय का उपदेश आवश्यक है, फिर भी वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद करके कथन करता है, किन्तु उसका लक्ष्य

तो अखण्ड निश्चय का ही है। यथार्थ निश्चयरूप निर्मल, एकरूप अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में लेने पर उसी की स्थिरता के बल से अल्प काल में मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। साधक अवस्था में अल्प काल के लिए साधन-साध्यरूप अपूर्ण अवस्था और पूर्ण अवस्थारूप खण्ड पर लक्ष्य रहता है, किन्तु अखण्ड के बल से उस भेद का विकल्प टूटता जाता है, और अपनी ओर के विकल्प भी टूटकर अल्प काल में पूर्ण हो जाते हैं।

व्यवहार से भेद करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताये, वर्तमान अपूर्ण अवस्था को बताये, किन्तु भेद को जानकर एक अभेद आत्मा को ही सेवन करना योग्य है, क्योंकि परमार्थ से तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र यह तीनों भेद आत्मा के ही परिणाम हैं, आत्मा से अलग नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि मन में दर्शन रहे, शास्त्र में ज्ञान रहे, और शरीरादि की क्रिया में चारित्र रहे; किन्तु अन्तरंग में स्वाश्रित अरूपी निर्मलभावरूप से तीनों गुणों की एकतामय आत्मा में स्थिर होना सो स्वरूपाचरणचारित्र है, सम्यक्चारित्र है। एक स्थान पर शरीर का बैठे रहना सो सामायिक नहीं है, शरीर की कोई क्रिया सो चारित्र नहीं है, किन्तु मैं निरुपाधिक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ - इस प्रकार स्वलक्ष्य में स्थिर होना सो सामायिक और चारित्र है। शुभ विकल्प में स्थिर हो जाना भी सच्ची सामायिक नहीं है, किन्तु आत्मपरिणामों की स्थिरता सामायिक है। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु उसी को धर्म मान लिया जाए तो उसका निषेध है। जिसे ऊपर चढ़ने का उपदेश दे रहे हैं, उसे व्यवहार से भी नीचे गिरने को कैसे कहा जाएगा?

जैसे देवदत्त का ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वह देवदत्त के स्वरूप से है, अन्यरूप से नहीं है; इसी प्रकार आत्मा में भी पर से भिन्न, निरावलम्बी पूर्ण शुद्ध हूँ—ऐसी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके अनुसार आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् उसमें से कोई गुण दूसरे का आश्रय नहीं लेता, इसलिए वह नित्य शुद्ध आत्मा के आश्रय पर ही अवलम्बित है, अत: वे भी आत्मा ही हैं अन्य वस्तु नहीं।

यहाँ यह निश्चय हुआ कि पूर्ण निर्मल साध्यभाव भी आत्मा स्वयं है और निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव-मोक्षमार्ग भी स्वयं ही है। मोक्ष और मोक्षमार्ग का निश्चयकारण भी आत्मा स्वयं ही है। आत्मा का कोई साधन व्यवहार से भी किसी परवस्तु

में नहीं है, मन, वाणी देह की प्रवृत्ति में नहीं है, व्रतादि के शुभराग में भी नहीं है, ऐसा निश्चय करके अपने एक आत्मा का ही सेवन करने योग्य है; वह स्वयं अपने आपसे ही प्रगट परमात्मारूप में प्रकाशमान है।

मनुष्य कभी-कभी आकुलित हो उठता है कि—ऐसे निश्चय (सर्वथा सत्य) स्वरूप को समझने बैठेंगे तो कहीं के नहीं रहेंगे, हम जो पुण्य में व्यवहार मानते हैं, यह साधन भी नहीं रहेगा तो फिर किसका आश्रय लेंगे ? किन्तु हे भाई ! तू अकेला ही स्वतन्त्र पूर्ण प्रभु है, स्वयं ही नित्य शरणभूत परमात्मा है, मोक्ष का मार्ग बाह्य में और मोक्ष आत्मा में हो, अर्थात् कारण परपदार्थ में और उसका कार्य आत्मा में हो—ऐसा त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। यह बात कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी, सत्य की समझने की कभी चिन्ता नहीं की, इसलिए जो अपनी ही बात है वह कठिन प्रतीत होती है। समझने की जो रीति है उसके अनुसार सत्य को समझने की आदत रखनी चाहिए। भगवान आत्मा पर से भिन्न, मन और इन्द्रियों से पर है, उसे सत्समागम से समझने का प्रयत्न करे और सत्यासत्य की भली-भाँति परीक्षा करे तो समझ सकेगा। किन्तु यदि अपनी शक्ति में ही शंका करे और अपने से ही अज्ञान रहना चाहे तो अपूर्व रुचि के बिना समझ कहाँ से आएगी ? जिसे समझने की आकाँक्षा है वह सत्य को सुनते ही अति उत्साहित होकर बहुमान करता है कि अहो ! यह अपूर्व बात तो मैंने कभी सुनी ही नहीं, यही मुझे समझना है। स्वभाव की दृढ़ता के द्वारा पर के अभिमान का नाश किया कि वह स्वयं निःसन्देह होकर स्वतन्त्रता को घोषित करता है कि एक-दो भव में ही इस संसार की समाप्ति है। इसलिए समझने की रुचि का उत्साह बारम्बार बढ़ना चाहिए। यदि समझने में विलम्ब होता हो तो मानना चाहिए कि अभी अधिक रुचि की आवश्यकता है। जिससे परम हितरूप सुख ही होना है उसके श्रवण-मनन में आकुलता नहीं आनी चाहिए। पूर्वापर विरोध से रहित अर्थात् पर-निमित्त के भेद से रहित, स्वतन्त्र अविकारी परम सत् को स्वीकार करना सो सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान और चारित्र—यह तीनों आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, वे साधु पुरुषों और श्रावकों के द्वारा नित्य सेवन करने योग्य हैं, और व्यवहार से अन्य को भी वैसा ही उपदेश करनायोग्य है। स्वाश्रित निश्चय का फल मोक्ष है और पराश्रित व्यवहार का फल संसार है।

प्रश्नः—जबकि व्यवहार से मोक्ष प्राप्त नहीं होता तो व्यवहार का उपदेश किसलिए दिया जाता है ?

उत्तरः—व्यवहार का उपदेश तो अज्ञानी जीवों को परमार्थ समझाने के लिए दिया है, किन्तु ग्रहण करनेयोग्य तो मात्र निश्चय ही है।

प्रश्नः—साधारण जनता को लोक-प्रचलित व्यवहार का आदर करने का ही उपदेश क्यों नहीं देना चाहिए ?

उत्तरः—वैसे व्यवहार का उपदेश देनेवाले अनेक स्थूल हैं, किन्तु जिससे जन्म-मरण दूर हो जाए—ऐसे सनातन सत्यमार्ग का उपदेश ही अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे परमार्थ का उपदेश इस समयसार में किया गया है, इसलिए वह सत्य उपदेश सबके लिए करनेयोग्य हैं।

आठ वर्ष के बालक से लेकर वृद्ध पुरुषों तक सभी में सत्य को समझने की योग्यता है, सभी प्रभु हैं। जो सत्यवक्ता होता है, वह परमसत्य का ही उपदेश करता है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित निश्चय के बिना त्रिकाल में मुक्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। सत्य को माननेवालों की संख्या इस जगत में अधिक ही रहेगी, किन्तु इससे सत्य कहीं ढ़ँक नहीं जाता।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र—यह तीनों आत्मा की ही पर्यायें हैं कोई अलग वस्तु नहीं है, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

अर्थ—यदि प्रमाणदृष्टि से देखा जाए तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप (मेचक) भी है, और एक अवस्थारूप (अमेचक) भी है, क्योंकि उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र से तो त्रयत्व है और अपने से अपने में एकत्व हैं।

प्रमाण अर्थात् त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था—दोनों को एक ही साथ लक्ष्य में लेना। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखने पर निश्चय से आत्मा के एकत्व ही है, पर्यायदृष्टि से आत्मा अनेकरूप है। जहाँ तक पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट न हो वहाँ तक भेद होते हैं, किन्तु स्वभावदृष्टि से देखने पर कभी भेद नहीं होते। पर्याय के लक्ष्य को गौण करके

अखण्डस्वभाव की दृढ़ता का बल उस विकार का नाश करनेवाला है। आत्मा में ऐसी अवस्था है और ऐसे गुण हैं, इस प्रकार विचार में भेद करने पर रागमिश्रित विचारों में लगना पड़ता है, इसलिए पराश्रयरूप विकल्प को तोड़ने के लिए अभेद निश्चय पर भार देना चाहिए।

अज्ञानी जीव यह मान बैठा है कि—मैं देह की क्रिया करता हूँ, और पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इसलिए वह उसी की भावना करता है, तथा रागादि को अपना मानकर अनन्त काल से उन्हें करता चला आया है। जिसका स्वभाव ज्ञान अर्थात् सबको जानना है उसमें विकार नहीं होता, किन्तु यदि पर को जानते हुए उसे अपना मान ले तो राग के कारण दु:ख होता है। यदि पुत्र मर जाए और उसका ज्ञान ही दु:ख का कारण हो तो जिन्हें पुत्र-मरण का ज्ञान होता है, उन सबको दु:ख होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसने पुत्र को अपना मान रखा है, उसी को अपने राग के कारण दु:ख होता है; जिसे राग एवं ममता नहीं है उसे दु:ख नहीं होता। ज्ञान दु:ख का कारण नहीं किन्तु उसमें होनेवाला राग और ममता ही दु:ख का कारण है। मात्र ज्ञान करने में न तो कोई राग है और न द्वेष ही।

मैं ज्ञानस्वभावी स्व-पर का ज्ञाता हूँ, किन्तु किसी में अच्छा-बुरा मानकर रुकनेवाला नहीं हूँ। यदि सतत ज्ञातारूप ही रहे, जानने में कहीं न अटके तो राग-द्वेष न हो। जिसने पर के प्रति अपनेपन का और कर्तृत्व का अभिमान रखा है, वह पर में अनुकूलता और प्रतिकूलता मानकर उसमें राग-द्वेष करता है। वही बन्ध का कारण और संसार का मूल है।

जिसकी रुचि होती है उसी को लोग बारम्बार रटते रहते हैं, इस प्रकार चैतन्यस्वरूप की रुचि करके, निरावलम्बी आत्मस्थिरता के लिए बारम्बार श्रवण-मनन करना चाहिए। यथार्थ स्वरूप की दृढ़ता के न्याय को बारम्बार याद करके उसी परम सत्व की भावना करना चाहिए।

अब नयविवक्षा कहते हैं:—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि: परिणतत्वत:।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक: ॥१७॥

अर्थ— आत्मा एक है तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाए तो त्रिधा स्वभाव के कारण अनेकाकाररूप (मेचक) है, क्योंकि दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन भावरूप परिणमन करता है।

भगवान आत्मा एकरूप है, इसका यह अर्थ नहीं है कि—सभी आत्मा मिलकर एक हो गये हैं, किन्तु प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्रतया भगवान है। शरीरादिक सर्व परपदार्थों से भिन्न, अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिण्ड, अपने त्रिकाल गुण और पर्यायों से अभिन्न है - एकरूप है; फिर भी यदि व्यवहारदृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ऐसे तीन स्वगुणों को लेकर अनेकाकार दिखायी देता है।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, किन्तु उनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह तीन मुख्य हैं; इन तीन भेदरूप से आत्मा को लक्ष्य में ले तो विकल्परूप रागमिश्रित मलिनता आती है। परोन्मुखता और पर के करने का भाव परिभ्रमण की क्रियारूप अधर्म है। ज्ञानी उस भेदको जानते तो हैं, किन्तु उसका लक्ष्य गौण करके, त्रिकाल स्थायी ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से एकरूप आत्मा की ही श्रद्धा करते हैं। भेद के लक्ष्य से एकरूप स्वरूप में स्वाश्रयता से स्थिर नहीं हुआ जा सकता, एकस्वरूप में भेद करनेवाली मेचकदृष्टि-मलिनदृष्टि है।

यदि तुझे स्वतन्त्र आत्मस्वभाव चाहिए हो तो पर के किसी भाव को अपने स्वभाव के खाते में मत डाल। निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के खण्ड करके एकरूप स्वभाव का विरोध मतकर; भेदरूप दृष्टि से यथार्थ श्रद्धा प्रगट नहीं होती।

जैसे सोना पीला, चिकना और भारी इत्यादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण एकरूप है, और उसके भिन्न-भिन्न गुणों के विचार से सम्पूर्ण सोना यथार्थतया ख्याल में नहीं आता; इसी प्रकार आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि गुण भी हैं, किन्तु यदि उसके भेदरूप विचार में लग जाए तो सम्पूर्ण वस्तु ख्याल में नहीं आ सकती। भेद करके विचार करने से राग होता है, उसमें मन का अवलम्बन आता है, उसके आधार से आत्मा का गुण प्रगट नहीं होता।

आत्मा एकरूप त्रिकाल स्थायी अखण्ड ज्ञायक ही है। यदि उसे शुद्धनय से देखा जाए तो शुभाशुभ विकल्प लक्ष्य में नहीं आते। इतना ही नहीं, किन्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीनों भिन्न भावों का लक्ष्य भी गौण हो जाता है। एक आत्मा को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार है, यह अभेद में भेद हुआ। यह शुद्धदृष्टि की बात है, इसमें राग-द्वेष या पुण्यादि का कर्तृत्व है ही नहीं।

एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार है, असत्यार्थ है। भेद के द्वारा अभेद शुद्ध स्वभाव नहीं जाना जा सकता, और जाने बिना उसमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता, इसलिए निश्चय से अनेकत्व अभूतार्थ है। एकरूप अभेद वस्तु का लक्ष्य करना सो यही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का कारण है।

अब, यहाँ परमार्थनय से आत्मा का स्वरूप कहते हैं:—

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्व ज्योतिषैकक:।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक: ॥१८॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय से देखा जाए तो प्रगट ज्ञायकता ज्योतिमात्र से आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करने का उसका स्वभाव है, इसलिए वह 'अमेचक' है-शुद्ध एकाकार है।

प्रथम व्यवहार की बात कही है कि—आत्मा में वर्तमान अवस्था में राग है, किन्तु उस व्यवहारदृष्टि में राग-द्वेष को दूर करने की शक्ति नहीं है, पर्याय के लक्ष्य से राग दूर नहीं होता। निमित्त और पर्याय का लक्ष्य करना सो व्यवहार है, उसके लक्ष्य से राग ही उत्पन्न होता है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा को देखा जाए तो प्रगट ज्ञायकज्योतिरूप से ही आत्मा एकस्वरूप है, परनिमित्त के भेदरूप से नहीं है। जहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद के विचार की भी बात नहीं है, जहाँ विकार का या मन, वचन, काय की क्रिया का कर्ता या पुण्य-पाप का कर्ता होने की बात ही कहाँ रही?

इससे पूर्व के कलश में यह बात कही गयी थी कि—भेद को जानना सो व्यवहार है, उससे लाभ होने की बात नहीं कही थी। समस्त भेदों का निषेध करनेवाले स्वभाव से आत्मा अखण्ड वस्तु है, उसे शुद्ध वस्तुदृष्टि से देखने पर सर्व अन्य द्रव्य के स्वभाव तथा उसके निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के विकारों का नाश करनेवाला उसका निर्मल स्वभाव है, इसलिए वह अमेचक शुद्ध एकाकार है। उसमें गुण के भेद नहीं हैं। बन्ध-मोक्षरूप अवस्था के भेद भी नहीं हैं। ऐसे निरपेक्ष पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से विकल्प, राग टूटकर निर्मल दशा प्रगट होती है।

मैं त्रिकालस्थायी अनन्त गुणों से परिपूर्ण एकरूप निश्चल हूँ, निरालम्बी परमात्मा हूँ, ऐसी ध्रुवसत्ता के बल से तीनों गुणों के विकल्प श्रद्धा में छोड़ देना चाहिए, और पूर्ण एकाकार स्वभाव को श्रद्धा के लक्ष्य में अखण्डतया ग्रहण करना चाहिए, भेद में से अभेद स्वभाव को ले लेना चाहिए। एकरूप स्वभाव में गुण को अलग करके विचारने के लिए रुक जाना सो गुण प्रगट करने का कारण नहीं है; एक-एक गुण को अलग करके विचार करने पर एकत्व लक्ष्य में नहीं आता।

अनादि काल से परोन्मुखता का कारण जो बहिर्मुखदृष्टि है, उसे बदला अर्थात् संसार की रुचिरूप परिभ्रमण की दिशा को बदला कि स्वभाव में भव का भाव नहीं रहता, किन्तु उसका अभाव हो जाता है।

सोलहवें कलश में आतमा को प्रमाणज्ञान से बताया है, सत्रहवें कलश में व्यवहार से-भेदरूप से मलिन—'मेचक' कहा है, अठारहवें कलश में निश्चय से अभेदरूप शुद्ध कहा है। अब यह सब चिन्ता छोड़कर, विकल्प छोड़कर स्वरूप में ही एकाग्र होकर स्थिर होना चाहिए; सो कहते हैं:—

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥१९॥

अर्थ—यह आत्मा मेचक है-भेदरूप अनेकाकार है, तथा अमेचक है-अभेदरूप एकाकार है, ऐसी चिन्ता से तो बस करो! साध्य आत्मा की सिद्धि, दर्शन-ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावों से ही होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती—ऐसा नियम है।

मैं राग का कर्ता नहीं हूँ, और अवस्था में कर्तृत्वभाव से जो भेद किया जाता है, उसरूप भी मैं नहीं हूँ। साध्य आत्मा की सिद्धि निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से ही होती है। एकाकार अभेद-स्वभाव के अनुभव से ही हित है, दूसरे से आत्मा का हित नहीं है। बाह्य में क्रियाकाण्ड से, पुण्य-पाप के विकार से, पर की भक्ति-स्तुति से आत्मस्वभाव भिन्न है, इसलिए—गुण में दोषों का अभाव होने से—बाह्यप्रवृत्ति गुणों में किंचित्मात्र भी सहायक नहीं है।

भावार्थः—आत्मा के शुद्ध स्वभाव की साक्षात् प्राप्ति (पूर्ण मोक्षदशा) ही साध्य

है। आत्मा मेचक है या अमेचक है—ऐसे विचारमात्र करते रहने से साध्य की सिद्धि नहीं होती। मैं स्वाश्रय के बल से पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, पर से विकारों से अलग हूँ, ऐसी श्रद्धा होने पर दृष्टि में सर्वथा मोक्ष ही हो गया है। मुक्तस्वभाव को देखनेवाले ज्ञानस्वभाव से तो आत्मा स्वयं ही पूर्ण कृतकृत्यस्वरूप पवित्र मोक्ष ही है और सर्वथा मुक्ति तो केवलज्ञान एवं सिद्धदशा में ही होती है।

निर्मल शुद्ध पूर्ण मुक्तस्वभाव को अखण्डरूप से श्रद्धा के लक्ष्य में लेने के बाद भूमिकानुसार कैसा राग रहता है, और उसमें क्या निमित्त होता है, इसे ज्ञानी भलीभाँति जानता है, किन्तु बाहर से निश्चय करनेवाले को भीतर के गुणों की या बाहर की कोई खबर नहीं होती।

सम्यग्दर्शन साधक अवस्था है और पूर्ण निर्मलस्वभाव तथा उसकी पूर्ण निर्मल प्रगट अवस्था साध्य है। ज्ञानी ने द्रव्यदृष्टि से तो अपने मुक्तस्वभाव का ही ज्ञान किया है, किन्तु पर्यायदृष्टि से पूर्ण मुक्तस्वरूप की निर्मल दशा को प्रगट करे तब मोक्ष होता है; तथापि आंशिक स्वरूपाचरणरूप शुद्ध चारित्र होता है। यदि मात्र ऐसे मेचक-अमेचक विचार ही किया करे तो साध्य की सिद्धि नहीं होगी।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

(समयसार नाटक, जीवद्वार २०)

एक में भेद करने से राग रहता है। प्रथम भेद को जानता तो है, किन्तु अभेद गुण के लक्ष्य से एक का सेवन करना ही योग्य है। अवस्थादृष्टि करके समल-विमल के भेद न करके, मैं एकाकार ज्ञायकस्वरूप हूँ, कृतकृत्य परमात्मारूप हूँ, ऐसे निरपेक्ष एकरूप शुद्ध अखण्ड स्वभाव को ही देखना-जानना और उसमें रमणता करना सो यह एक ही सिद्धि का मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा का अभेदरूप से अवलोकन अथवा उसकी निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान अर्थात् पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव को पर से भिन्न जानना और चारित्र अर्थत् शुद्ध स्वभाव में स्थिरता; इन्हीं से शुद्ध साध्य की सिद्धि होती है, यही मोक्षमार्ग है, इसके अतिरिक्त कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहारी जीव पर्याय के भेदों से समझते हैं। यदि वे भेद से त्रिकाल अखण्डस्वभाव को समझें तो वह भेद, निमित्त (व्यवहार) कहलाता है; इसलिए यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद से समझाया है, किन्तु वास्तव में तो निश्चयस्वभाव में स्थिर होना ही प्रयोजन है ॥१६॥

अब व्यवहारी जीव को मोक्षमार्ग में लगाने के लिए दो गाथाओं में दृष्टान्तरूप से कहते हैं:—

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

अर्थ—जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है, और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है, अर्थात् उसकी भलीभाँति सेवा करता है, इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए, और फिर उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए तथा उसके बाद उसका अनुचरण करना चाहिए, अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए।

जिसे लक्ष्मी चाहिए हो वही राजा से परिचय और उसकी श्रद्धा करता है, इस प्रकार यहाँ इच्छुक पुरुष को ही दृष्टान्त में लिया है। अन्ध श्रद्धा से न मानकर-उसे पहिचानकर श्रद्धा करता है, और फिर वही राजा का प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, अर्थात् सावधानीपूर्वक उसके सेवक के रूप में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार जिसे आत्मलक्ष्मी की इच्छा हो वह पात्र होकर ज्ञानी को (सद्गुरु को) पहिचानकर उसी की विनय करे, (वह वीतराग के मार्ग के विरोधी की विनय नहीं करता) इसी प्रकार मोक्ष के अभिलाषी को, अनन्त गुणों की लक्ष्मी के राजा को—अनन्त गुणों से शोभायमान आत्मा को भलीभाँति जान लेना चाहिए

और फिर उसका ही श्रद्धान करना चाहिए, (यदि श्रद्धा में किसी भी पहलू से विरोध आता है तो भगवान आत्मा प्रसन्न नहीं होता, उत्तर नहीं देता।) और फिर तद्रूप अनुभव के द्वारा लीन हो जाना चाहिए। इस एक ही प्रकार से उसी की सेवा करनी चाहिए।

आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसी का आचरण करना सो यही हित और परमहित का उपाय है। संसार में अंशमात्र भी सुख नहीं है, तथापि उसमें सुख माननेवाला पराधीनता में—आकुलता में सुख मानता है। पराश्रयरूप राग ही संसार है और पराधीनता में सुख मानना सो दु:ख है। लोग कहा करते हैं कि—'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' किन्तु उसके भाव को नहीं समझते। पराधीनता दु:ख का ही लक्षण है। स्वाश्रय हितस्वरूप को जाने बिना पराश्रय दूर नहीं होता, इसलिए अविरोधी दृष्टि का निर्णय करके परनिमित्त के भेद से रहित शुद्धात्म को सर्व प्रथम भली-भाँति जानना चाहिए। उसे जाने बिना अन्य जो कुछ जानना है सो सब व्यर्थ है।

निश्चय से, जैसे धन का इच्छुक कोई पुरुष अत्यन्त उद्यमपूर्वक राजा को जानता है कि यह राजा है। यहाँ धन के इच्छुक को ही लिया गया है, सभी धन के इच्छुक नहीं होते; कोई अन्य वस्तुओं के इच्छुक भी हैं; जैसे-कोई स्त्री का इच्छुक होता है, कोई वस्त्रादि का इच्छुक होता है, इस प्रकार प्रत्येक में एक वृत्ति मुख्यता से होती है। चौबीस घण्टे में से चार घण्टे भी शान्ति से नहीं सो पाते और मात्र रुपये-पैसे की वृत्ति लेकर उसी में लगे रहते हैं।

यहाँ धन का इच्छुक पहले भिन्न लक्षण से यथार्थतया राजा को जाने कि यह सत्ताधारी, राज्यलक्ष्मी का स्वामी अवश्य राजा ही है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई राजा नहीं है, इसकी सेवा करने से अवश्य ही लक्ष्मी की प्राप्ति होगी—इस प्रकार श्रद्धा करता है और फिर उसी का अनुचरण करता है, अर्थात् उसी के अनुकूल आचरण करता है, और उसी की हाँ में हाँ और ना में ना मिलाता है, उसकी अनुकूलता के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है, उसकी आज्ञा में रहता है, और उसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को—जिसे आत्मा की पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट करने की चाह है, उसे मात्र आत्मा की ही सेवा करनी चाहिए।

जहाँ इन्द्रपद की या परमाणु के रागमात्र की अभिलाषा नहीं है, ऐसे उत्कृष्ट वीतराग

स्वभाव की पहले से ही पहिचान करके बलवान रुचि होनी चाहिए; किन्तु यदि बीच में कोई लाग-लपेट की इच्छा करे या स्वर्गादिक और राजपदरूप संयोग की इच्छा हो जाए तो समझना चाहिए कि वह बन्धन ही चाहता है, उसे अबन्धस्वभाव की रुचि नहीं है।

वर्तमान में अत्यंत दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, तथापि प्राप्त अवसर के मूल्य को न जानकर पुनः स्वर्ग की या मनुष्यभव की अर्थात् पुण्य के संयोग की इच्छा करता है। कोई देवपद का इच्छुक है तो कोई राजपद का आकांक्षी है, कोई मानार्थी है, तो कोई रागार्थी है; इस प्रकार प्रत्येक पुरुष अपनी वृत्ति को पुष्ट करने का इच्छुक होता है, किन्तु मोक्षमार्ग में ऐसा कुछ नहीं है। जिसे आत्मा की स्वतन्त्रता, निर्मलता और परिपूर्णता चाहिए, उसे सर्व प्रथम आत्मा को ही जानना चाहिए अन्य कुछ नहीं। जब तक यह नहीं जान लेता कि स्वयं कौन है, तब तक देव-गुरु-शास्त्रों को भली-भाँति नहीं जाना जा सकता। वीतरागी देव-गुरु भी आत्मा ही हैं, और जो आत्मा की स्वतन्त्र वीतरागता को बतलाते हैं, वही सर्वज्ञ वीतरागकथित शास्त्र हैं।

प्रथम आत्मा को जानना चाहिए—ऐसा कहा है, सो उसमें अखण्ड स्वाधीन वस्तुस्वरूप को लिया है। द्रव्य और गुण त्रिकाल हैं, वे नवीन उत्पन्न नहीं होते, गुण त्रिकाल एकरूप अखण्ड है। वर्तमान अवस्था में पर निमित्त के अवलम्बन से भेदरूप विकार और अपूर्णता दिखायी देती है, सो वह स्वभाव में नहीं है। जो विकारी अपूर्ण अवस्था है सो संसार है और निर्विकारी पूर्ण निर्मल अवस्था है सो मोक्ष है—यह दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं। निश्चय से तो आत्मा एकरूप ही है। पहले उसी की यथार्थ पहिचान करनी चाहिए और फिर उसी में स्थिर होना चाहिए स्वानुभव में लीन होना ही प्रगट आनंद का उपाय है।

पराश्रय को नष्ट करनेवाला स्वाधीन स्वाश्रयस्वभाव क्या है, उसे अनन्त काल में भी नहीं पहिचान पाया। दूसरे की सहायता से, पराश्रय से पराधीनता का नाश नहीं हो सकता, और स्वाधीनता प्रगट नहीं हो सकती। प्रत्येक जीव और अजीव त्रिकाल में पर से भिन्न-स्वतन्त्र हैं। कोई अपनी शक्ति में अपूर्ण नहीं है, इसलिए पराधीन नहीं है। इतना निश्चित कर ले तो, मैं पर का कुछ नहीं करता और पर से मुझे कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता, इतनी स्वाश्रित श्रद्धा में स्थिर होने में भी पर से निवृत्तिरूप अनन्त क्रिया और अनन्त

पुरुषार्थ आ जाता है। पराश्रित लक्ष्य से छूटकर अन्तर्मुख दृष्टि करने पर, इस प्रकार अभेद स्वरूप की श्रद्धा करे कि—दूसरे की सहायता अथवा पुण्य-पाप ही नहीं, किन्तु जो आन्तरिक स्वभाव में गुण के भेद होते हैं, सो उसरूप भी मैं नहीं हूँ; यही प्राथमिक उपाय कहा गया है।

यदि आत्मा को समझकर उसी का इच्छुक हो तो सत्समागम और अपनी पात्रता के द्वारा सत्य को भलीभाँति जाने-पहिचाने, यही धर्म का प्रथम मार्ग है, इसके अतिरिक्त मोक्ष की निर्मलदशा और उसके उपाय (मोक्षमार्ग) रूप धर्म का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। शुद्धात्मा की यथार्थ श्रद्धा होने के बाद यह प्रश्न ही नहीं रहता कि अब मुझे क्या करना चाहिए। आत्मा को जैसा जाना है, उसी का आचरण करना होता है। रागरहित स्वाश्रय से जैसा अभेद आत्मा को जाना है वैसा ही ग्रहण करके बारम्बार उसमें अभेद लक्ष्य की दृढ़ता को बढ़ाना सो यही अंशत: राग नष्ट होकर गुण में स्थिर होने की क्रिया है। जो स्वभाव में स्थिर हुआ है, सो पर में नहीं हुआ है। मैं पुण्य करूँ, गुण के भेद करूँ या पराश्रय ग्रहण करूँ तो धर्म हो - ऐसा नहीं है, किन्तु अभेद आत्मा का ही आचरण करने से कर्मों से अवश्य मुक्ति मिल जाएगी, ऐसी दृढ़ता होती है। उसमें ऐसी शंका नहीं होती कि—यदि कर्म कठिन होंगे तो कैसा होगा? अरे! तू भगवान आत्मा जागृत हुआ है और फिर दूसरे को याद करता है? स्वतत्त्व को अखण्डरूप से लक्ष्य में लेकर उसके बल से स्वरूप में स्थिर होगा, उसकी रुचिरूप स्वलक्ष्य में एकाग्र होना-दृढ़ होना, सो गुण की क्रिया है।

पहले इस प्रकार सुख की प्राप्ति का जो उपाय है सो उसकी श्रद्धा करता है कि मैं त्रिकाल गुणरूप अखण्ड हूँ, पररूप नहीं हूँ, क्षणिक पर्याय के रागरूप नहीं हूँ, किन्तु उसका नाशक हूँ। त्रिकाल अखण्ड गुणस्वरूप पर दृष्टि गयी कि वर्तमान क्षणिक पर्याय का आश्रय और बाह्योन्मुखता नहीं रही, किन्तु स्वाश्रित दृढ़ता का जो अपूर्व बल आया सो उसमें प्रतिसमय अनन्त सुल्टा पुरुषार्थ आ गया। वर्तमान में पूर्ण चारित्र नहीं है तथापि दृष्टि में अपने पूर्ण पुरुषार्थ स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड अपार शक्तिरूप से हूँ, उसकी प्रतीति पर भार देने पर निराकुल ज्ञान-शान्ति का नि:शंक पुरुषार्थ जागृत होता है और स्वरूप में रुचि तथा सत्रूप सावधानी बढ़ती है।

ज्यां शंका त्यां गण संताप,
ज्ञान तहां शंका नहिं स्थाप।

जो ऐसी शंका करता है कि अरे, मेरा क्या होगा ? उसे भगवान आत्मा की यथार्थ श्रद्धा नहीं है। जिसे पुरुषार्थ में सन्देह होता है तथा भव की शंका रहती है, उसे अपने स्वभाव की ही शंका रहती है, उसने वीतरागस्वभाव की शरण ही नहीं ली है। सर्व प्रथम भगवान आत्मा स्वतन्त्र है, पूर्ण पवित्र अनन्त सुखरूप है, उसकी प्रतीत कर, पर्यायदृष्टि का भार छोड़कर अखण्डस्वभाव पर भार दे, तो स्वत: विश्वास होगा कि अवश्य एक-दो भव में पूर्ण हो जाऊँगा। गुणों की दृढ़ता होने पर नि:सन्देहता हो जाएगी कि—मुझमें भय, शंका, दोष या दु:ख का अभाव है, मेरे स्वभाव में विरोधभाव है ही नहीं।

महान सज्जन राजा की शरण लेनेवाले को लौकिक दु:ख या भय नहीं होता, इसी प्रकार जिसने चैतन्य भगवान पूर्ण महिमामय आत्मा की शरण ली है, उसे दु:ख या भय है ही नहीं। सत् को समझ लिया हो और असत् जो राग-द्वेष-मोहरूप संसार है, उसे पार करके किनारे पर न आये यह कैसे हो सकता है ? जिसे ऐसी श्रद्धा का बल प्राप्त हो चुका है कि मैं भवरहित हूँ, स्वतन्त्र एवं पूर्ण हूँ, उसे कर्म, काल, क्षेत्र या कोई अन्य बाह्य संयोग बाधक नहीं होते।

वह अखण्ड गुण की दृढ़ता में अकेले पुरुषार्थ को देखता है, पूर्ण स्वभाव की महत्ता को देखता है, उसी के गीत गाता है, अन्यत्र बड़प्पन नहीं देखता। परवस्तु उससे स्वतन्त्र है, मैं अपनेरूप से निज में अभेद हूँ, ऐसी श्रद्धा की प्रतीति में पर से निवृत्त हुआ कि पर में अटकना न रहा, किन्तु स्वाधीन स्वभाव में ही स्थिर होना रहा। पर में अटक जाने के राग (भावकर्म) की मेरे स्वभाव में नास्ति है। ऐसे रागरहित स्वभाव की प्रतीति के बल से और स्थिरतारूप चारित्र के बल से सर्व विकार का नाश ही करूँगा। ऐसी स्वाधीन स्वभाव की दृढ़ता मोक्ष का कारण है। यथार्थ स्वरूप को जाने बिना, उसकी श्रद्धा किये बिना, उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र किसके बल से होगा ?

कोई कहता है कि 'आत्मा शुद्ध है, उसे मैंने जान लिया है, अब मुझे क्या करना चाहिए ?' किन्तु जिसने पर से भिन्न यथार्थ स्वरूप को जान लिया है, उसके यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता है कि—अब क्या करना चाहिए ? अथवा मेरा क्या कर्तव्य है ? या किस प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिए ? स्वभाव की श्रद्धा करके उसका ज्ञान और फिर उसी का एकाकाररूप से श्रवण करना चाहिए, दूसरा कोई प्रश्न है ही नहीं।

अखण्ड स्वभाव में अभेद लक्ष्य का जोर देने पर बुद्धिपूर्वक विकल्पवृत्ति तोड़कर कुछ समय के लिए निर्विकल्प स्व में स्थिर हो जाए सो चारित्र है, और सामान्य एकरूप स्वभाव की रुचि के द्वारा स्वलक्ष्य की जितनी स्थिरता को बना रखा है उतने अंश में निर्विकल्प चारित्र की सतत प्रवृत्ति है। पहले सत् का स्वरूप जाने बिना सत्य में स्थिर नहीं हुआ जा सकता।

स्व-स्वरूप का आश्रय करके उसमें परिपूर्ण नि:सन्देहरूप से श्रद्धा करना और परावलम्बन के भेद से रहित अखण्ड स्वतन्त्र वस्तुरूप से हूँ सो ऐसा ही हूँ, अन्यरूप नहीं हूँ; ऐसा ज्ञान करना और फिर उसी का अनुचरण करना अर्थात् उसी में ज्ञातारूप से रहना, स्वानुभव में लीन होना, सो यही सच्चा उपाय है। पूर्ण निर्मल मोक्षस्वरूप जो निष्कर्म अवस्था है, सो वह मुझमें ही है, मुझसे अभेद है, वही मेरा शुद्धस्वरूप है। इसमें पर का कुछ करना या किसी का आधार माँगना अथवा पुण्य की क्रिया करना इत्यादि कुछ नहीं होता। बीच में जब अशक्ति का कोई प्रकार होता है, तब किस प्रकार का राग और कैसे निमित्त होते हैं, इसे ज्ञानी भलीभाँति जान लेते हैं, किन्तु वे उसे सहायक नहीं मानते।

अब आत्मा की श्रद्धा के लिए क्या करना चाहिए, सो विशेषरूप में समझाते हैं। आत्मा के अनुभव में (जानने में) आने पर जो अनेक पर्यायरूप भेदभाव (पराश्रयरूप राग) होते हैं, उनके साथ समिश्रता होने पर भी उससे सर्व प्रकार भिन्नता का ज्ञान करनेवाला जो ज्ञायकभाव है, सो उसमें रागभाव या पराश्रितता नहीं है, किन्तु पर से पृथक्त्व का अनुभव होता है।

वर्तमान अवस्था में परनिमित्त में युक्त होता हुआ विकारीभाव है और स्वभाव त्रिकाल एकरूप है, इस प्रकार दोनों की मिश्रता है। इस प्रकार अवस्था और स्वभाव को यथावत् जाना जाए तो स्वभाव के लक्ष्य से अवस्था में जो विकार है, सो वह दूर किया जा सकता है।

पानी का सतत प्रवाह चला जा रहा हो और उसमें पेशाब के (क्षाररूप) प्रवाह का कुछ भाग मिल जाए तो वह वर्तमान समय के लिए ही मिश्र होता है, किन्तु वह क्षाररूप क्षारपन से है, जल की मिठासरूप में नहीं है, और मीठे जल का प्रवाह उसके मूलस्वभाव

से स्वच्छ ही है; इसी प्रकार स्वभाव के गुण का प्रवाह एकरूप से है, उसमें पराश्रित शुभाशुभभाव का वर्तमान क्षणिक अवस्था में समिश्रण है; वह मिश्रता एक समय की अवस्थापर्यन्त है, तथापि स्वभाव में निश्चय से मिश्रता नहीं है।

आत्मा अनादि-अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें बाहर से गुण नहीं आते। अखण्डस्वभाव की ओर दृष्टि न करके मैं बाह्योन्मुखरूप से हूँ, मुझे पराश्रय चाहिए- इत्यादि प्रकार से अज्ञानी जीव अनादि काल से पर में एकत्व मान रहा है। उस भाँतिरूप पराधीनता की मान्यता को आतमा की अपारशक्ति के द्वारा दूर करने पर, नित्य ज्ञायकरूप से जो जाननेवाला है, सो ही मैं हूँ, क्षणिक विकारी या पररूप नहीं हूँ, ऐसे शुद्धस्वभाव की श्रद्धा होती है।

जैसे गाँव के निकट कोई बड़ा तालाब भरा हुआ हो और ऊपर से वर्षा का खूब पानी गिर रहा हो, जिससे तालाब छलककर फूटने की तैयारी में हो; तब ग्रामवासी विचार करते हैं कि यदि तालाब गाँव की ओर फूट गया तो गाँव डूब जाएगा; इसलिए वे जंगल की ओर थोड़ा सा फोड़ देते हैं, जिससे तालाब का सारा पानी उस ओर चला जाता है और गाँव का भय दूर हो जाता है। इस दृष्टान्त को विपरीतरूप से घटाया जाए तो आत्मा में अनन्त गुण परिपूर्ण छलाछल भरे हुए हैं, उन्हें भूलकर बाह्योन्मुख होने से गुणों का घात होता है। मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता, मैं पर का कर्ता हूँ, राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसी विपरीत मान्यता की दिशा को बदलकर भीतर जो पूर्ण गुणों से अखण्ड स्वभाव भरा हुआ है, उसमें स्वाश्रय श्रद्धा की शक्ति लगाने पर-स्वोन्मुखता की ओर होने पर सर्वथा एकरूप ज्ञान-सामर्थ्य का ही अनुभव होता है। फिर चैतन्य-प्रवाह अपनी ज्ञानधारा से एकरूप भाव से स्वभाव की ओर ढलता है। जैसे पानी का जो भाग मैल को स्पर्श करता है उतना ही पानी मैला होता है, इसी प्रकार ज्ञानभाव को भूलकर गुणों में भेद करे तो शुभाशुभ में रुकने का भाव होता है; किन्तु उसका गुण में स्वीकार नहीं होता। स्वभाव की शक्ति में क्षणिक विकार पर भार नहीं है।

अखण्ड आत्मवस्तु को भूलकर बाह्य में लक्ष्य करके राग-द्वेष जितना ही मैं हूँ, ऐसा माना सो मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याचारित्र है, और इसी से संसार में परिभ्रमण

होता है। इसलिए जिसे परिभ्रमण दूर करना हो उसे उस पर से लक्ष्य हटाकर एकरूप ध्रुव ज्ञायकस्वभाव का ही लक्ष्य करना चाहिए। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, राग-द्वेष उसे प्रकाशित नहीं करते।

वस्तु पूर्ण गुणरूप है, किन्तु वर्तमान अवस्था पर्यंत बाह्य में रुक जाने से-पराश्रयता स्वीकार करने से अवस्था में भेद हो जाता है, एकरूप भाव में रागरूप भाव की मिश्रिता क्षणिक अवस्था में होती है, उसे अपना स्वरूप मान लेना सो मिथ्यादृष्टि है, स्वरूप की भ्रान्ति है। जहाँ गुण है वहीं उसकी विपरीत दशारूप भूल और विकार हो सकता है, तथा जहाँ भूल और विकार है वहाँ उसे दूर करने का अविकारी स्वभाव भीतर भरा हुआ ही है, मात्र उस स्वभाव पर दृष्टि डालकर अखण्ड स्वाश्रय में निःशंकता का अनुभव करने की आवश्यकता है। आत्मा में ज्ञातारूप स्वभाव नित्य है, और पूर्ण गुण भी नित्य है। वस्तु की अवस्था उससे अलग नहीं है तो उसमें दोष कैसे हो सकता है? आत्मा गुणस्वरूप है, उसके ज्ञानादि गुण सतत एकरूप निर्मल हैं, उसकी अवस्था भी निर्मलरूप से ही होती है, किन्तु मात्र दृष्टि में भूल है, उसे टालकर यदि स्वभाव पर देखें तो अपने में अपने से नित्य ज्ञान का ही अनुभव होता है।

ज्ञानगुण त्रिकाल एकरूप रहनेवाला है, वर्तमान विकारी अवस्थापर्यंत ही नहीं है। स्वलक्ष्य का करनेवाला स्वयं है। अपनी ओर झुकता हूँ—ऐसा निश्चय करनेवाले ज्ञानस्वभावरूप ही मैं हूँ। अवस्था में राग का जो भेद होता है वह मैं नहीं हूँ, किन्तु जिस ओर झुकता है वह मैं हूँ; रागादिक-देहादिक परपदार्थ मुझे जाननेवाले नहीं हैं, मुझमें उनकी नास्ति है। जो क्षणिक शुभाशुभ वृत्ति होती है सो मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार भेदज्ञान में प्रवीणता से ऐसा स्वाश्रित ज्ञातृत्व नित्य ज्ञातारूप से है सो वही मैं हूँ। जितना ज्ञान है उतना ही मैं हूँ—ऐसी प्रतीति होती है।

विपरीत-पराश्रित दृष्टि के कारण विकार को अपना मानता है, किन्तु पराश्रय की मान्यता को बदलकर जब नित्य गुणस्वरूप को अपना स्वरूप मानता है, तब विकाररूप नहीं होता, पराश्रयरूप से रुकनेवाला नहीं होता; ऐसे नित्य जागृत स्वरूप को (प्रगट अनुभूतिस्वरूप को-ज्ञायकस्वरूप को) अपना मानता है, इस प्रकार स्वसत्ता में ज्ञाता-स्वभाव की निःशंक प्रतीति जिसका लक्षण है—ऐसी नित्य अखण्ड स्वविषय करनेवाली श्रद्धा प्रगट होती है।

आत्मा में अन्तरंग स्वभाव में अविकार और स्वतन्त्र सामर्थ्य से पूर्ण अनन्त गुण भरे हुए हैं, उसमें से किसी गुण को अलग करके लक्ष्य में लेना सो रागमिश्रित—रुकनेवाला भाव है। उसी समय मैं परोन्मुखरूप नहीं हूँ, रागरूप नहीं हूँ, पराश्रय के भेद-भंग मुझमें नहीं हैं, मैं तो स्वभावोन्मुख ज्ञानरूप हूँ, स्वाश्रयरूप से त्रिकाल जाननेवाला हूँ—ऐसी आत्मप्रतीति से प्राप्त होनेवाली स्वाश्रित निर्मल श्रद्धा प्रगट होने से समस्त अन्य भावों से रुकनेवाला भाव नष्ट हो गया है।

आत्मानुभव से प्राप्त हुई श्रद्धा लक्ष्य है, और स्वभाव की अभेद प्रतीति उसका लक्षण है। अज्ञानी भी वास्तव में तो अपने ज्ञानगुण की अवस्था का ही अनुभव करता है, किन्तु अपने स्वभाव की प्रतीति नहीं है, इसलिए बाह्य में दृष्टि करके मैं पराश्रित हूँ—ऐसा मानकर स्वभाव में भेद करके आकुलता का अनुभव करता है।

अन्तरंग में अखण्ड गुणरूप से पवित्र स्वभाव नित्य भरा हुआ है, किन्तु मान्यता के अन्तर से-पराश्रयदृष्टि से सब कुछ बाह्य में मानता है। जो पंचेन्द्रियों से ज्ञात होता है सो ही मैं हूँ, परपदार्थ मुझे जानने में सहायता करते हैं, परपदार्थ राग-द्वेष कराते हैं, पर से हानि-लाभ होता है, इस प्रकार अपने स्वभाव को ही पराश्रित मानकर आकुलता करता है, और स्वभाव में भेद डालता है, इसलिए अखण्ड स्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

ज्ञानगुण में राग नहीं है, किन्तु अपनी स्वाधीनता को भूलकर पर-पदार्थ के साथ सम्बन्ध मानकर उसमें राग के भेद करके अज्ञानी जीव अटक रहा है। चावलों में से कंकड बीननेवाला कहता है कि—मैं 'चावल बीन रहा हूँ' किन्तु वह जानता है कि चावल रखनेयोग्य है और कंकड़ निकाल देने योग्य है, उसके लक्ष्य में मुख्य मात्र चावल ही है; इसी प्रकार चैतन्य आत्मा स्पष्ट ज्ञायक असंग है; उसमें पर सम्बन्ध का स्वीकार करके उस ओर उन्मुख होकर पराश्रयरूप जितनी बाह्यवृत्ति होती है, वह रागमिश्रित कंकड़ हैं, उसे ज्ञानी जानता तो है किन्तु अन्तरंग में उन्हें दूर करने की दृष्टि है, रखने योग्य तो मेरा नित्य-ज्ञानस्वभाव शान्तिरूप ध्रुव है। स्वाश्रय से रहनेवाला ज्ञानगुण नित्य है और स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यरूप से पूर्ण है।

यथार्थ ज्ञान हुआ कि उसके साथ ही राग संपूर्ण दूर नहीं हो जाता। श्रद्धा में स्वभावदृष्टि के प्रगट होते ही पर से भिन्न प्रगट स्वभाव ज्ञानरूप नित्य है, ऐसा झलकने

लगता है। ज्ञान तो नित्य ज्ञातास्वभाव ही है, पर में अच्छा-बुरा मानकर उसमें रुक जाने के स्वभाववाला नहीं है। असंयोगी निश्चलस्वरूप आत्मा में अखण्ड स्वाश्रयरूप से जो ज्ञान स्थिर बना हुआ है वही मैं हूँ, वर्तमान अपूर्ण भेदरूप अवस्था को लेकर मैं नहीं हूँ, रागादिक-देहादिक भी मैं नहीं हूँ। प्रति समय स्वभाव की ओर ढलती हुई निर्मल अवस्था ज्ञानभाव से उत्पन्न होती है, उस रूप ही मैं हूँ; ऐसी स्वाश्रित प्रतीति में अपने ओर की दृढ़ता के बल से सम्यक्श्रद्धा प्रगट होती है। जिस समय अवस्था के खण्ड का लक्ष्य ढीला करके, अखण्ड स्वभाव की ओर लक्ष्य किया उसी समय नित्य स्वभाव का प्रगट अनुभव होता है। स्वयं अनन्त गुणों से पूर्ण होने पर भी गुणों में पराश्रयता मानना, उसमें खण्ड करना सो रागमिश्रित भाव है। उस भेदरूप या पराश्रितरूप से मैं नहीं हूँ, किन्तु एकरूप रहनेवाला जो ज्ञान है उसीरूप मैं हूँ, और ज्ञान ही मेरा कर्तव्य है, ऐसी श्रद्धा ही निश्चयश्रद्धा है। मैं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ, ऐसी नि:शंक प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसी श्रद्धा उदित होती है—प्रगट होती है। अन्तरंग में निर्मल श्रद्धावाला स्वभाव तो नित्य था, उस स्वभाव के बल से आंशिक निर्मल शक्ति प्रगट हुई है। जब इस प्रकार स्वाधीन पूर्ण स्वभाव की प्रतीति होती है तब समस्त अन्य भावों से पृथक्त्व होने के कारण स्वभाव में नि:शंक स्थिर होने के लिए समर्थ होता है, इसलिए आत्मा का आचरण उदय को प्राप्त होता हुआ शुद्धता का ही साधन करता है। प्रथम अनन्त पर के प्रति दृष्टि करके उसके प्रति राग में अटक जाता था और स्वभाव में शंका करके आकुलित होता था कि अब क्या करूँ, कि जिससे गुण-लाभ हो ? यदि भगवान की तीन बार पूजा करूँ तो क्या गुण-लाभ होगा ? अथवा यात्रा करने से या धर्म के कार्यों में सदा आगे आकर मुखिया बनकर रहूँ तो गुण-लाभ होगा ? ऐसा अनेक प्रकार से पराश्रय की आकुलता के झूले पर झूलता था, और पराश्रय की आकुलता का ही वेदन करता था, उसका निराकरण स्वोन्मुख होने पर तत्काल ही हो जाता है।

स्वाधीन स्वभाव में नि:शंक होने के बाद स्वभाव के बल से सहज ही पुरुषार्थ उत्पन्न होता है। पहले पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से आंशिक निर्मलता को स्थिर रखकर, अशुभभाव से छूटकर, शुभभाव का अवलम्बन रहता है, और फिर शुभभाव को छोड़कर शुद्ध में ही रहना होता है, इसलिए पहले स्वाधीनता की श्रद्धा करनी चाहिए। ऐसा करने

से परावलम्बन की व्याकुलतामय भ्रान्ति दूर हो जाएगी। निरावलम्बी अभेदस्वभाव की यथार्थ समझ होने पर ऐसी मान्यता नहीं होती कि—मैं देहादिक तथा पुण्यादि का कर्ता हूँ, और परपदार्थ मुझे हानि-लाभ करते हैं, एवं स्वभाव में तथा पुरुषार्थ में शंका नहीं होती। अब जो कुछ करना है वह सब अन्तरंग में ही विद्यमान है, ऐसी अपूर्व प्रतीति हुई कि पर का कर्तृत्व छूट जाता है। पहले भी परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता था, मात्र अज्ञान से कल्पना करके ही ऐसा मान रहा था।

जैसे अन्धे को कमरे में से बाहर निकलना हो तो उसे जब तक यह ज्ञात नहीं होता कि—किस ओर द्वार है तब तक वह नि:शंकतया गति नहीं कर सकता; किन्तु यदि कोई उससे कहे कि दाहिने हाथ की ओर जाइये, या अपने हाथ की लकड़ी की सीध में चले जाइये, तो उसे विश्वास हो जाता है कि इस ओर द्वार है; फिर वह निर्भयतापूर्वक चलकर उस ओर पहुँच जाता है; किन्तु किसी प्रकार का यथार्थ चिह्न मिले बिना उसे सभी दिशाएँ एक सी शंका वाली मालूम होती हैं; इसी प्रकार मैं परपदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, मैं त्रिकाल पर से भिन्न ज्ञाता ही हूँ, पर का कर्ता नहीं हूँ, इस प्रकार स्वलक्ष्य के बल से अनुभवसहित आत्मा का यथार्थ लक्ष्य हुए बिना नि:सन्देहरूप से स्वभाव में स्थिर होने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता। किस ओर चलना चाहिए या क्या करना चाहिए, इस प्रकार स्वभाव की दिशा से अनादि काल से अजान है, इसलिए आत्मा में गुण की क्रिया की प्रतीति नहीं है, किन्तु भेदज्ञान होने के बाद नि:शंक श्रद्धा होती है और मुख्य दिशा की ओर अर्थात् मुख्य ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मा की ओर-ज्ञानगुण के अखण्ड खुले हुए द्वार की ओर स्वाश्रय के बल से स्वभाव में स्थिर होने के लिए नि:शंक चला जाता है; पुण्य-पाप में कहीं भी नहीं रुकता। स्वाश्रय की श्रद्धा होते ही पराश्रय की ओर का झुकाव छूट जाता है। स्वरूप में स्थिर होने रूप जो क्रिया है, सो वही यथार्थ चारित्र है।

आत्मा का चारित्र तो नित्य है ही, किन्तु यथार्थ श्रद्धा के द्वारा आत्मा का ज्ञान करके जो अपने में स्थिर हो जाता है, वह मोक्षदशा को निकट लाता है। इस प्रकार आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के द्वारा साध्य आत्मा की सिद्धि होती है। अज्ञानदशा में जो आचरण पर की ओर करता था वह स्वाश्रयी तत्त्व की श्रद्धा होने के बाद नित्य स्वभाव की ओर आ जाता है।

अनुभूतिस्वरूप-ज्ञानमय भगवान आत्मा ज्ञानमात्र का अनुभव करनेवाला है, और आबाल-वृद्ध अर्थात् बालक से लेकर बूढ़े तक सभी आत्माओं को (जो अनुभव करना चाहते हैं उनको) सदा ज्ञानस्वरूप से अनुभव में आता है। आत्मस्वरूप किसी की समझ में न आये ऐसा नहीं है। देहादि की क्रिया को, सर्व परपदार्थों को, और रागादि को जाननेवाला जो ज्ञान है सो उस ज्ञान को करनेवाला स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ-पररूप नहीं हूँ, यह भूलकर अज्ञानी ने परपदार्थ पर दृष्टि जमा रखी है इसलिए वह यह मानता है कि मैं पर को ही जानता हूँ, किन्तु निश्चय से तो वह भी अपनी स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति को ही जानता है; राग-द्वेष, मन, वाणी या इन्द्रियाँ आदि कुछ नहीं जानते।

ज्ञान से सभी प्राणियों को अपना नित्य ज्ञानभाव ही अनुभव में आता है, किन्तु श्रद्धान्तर होने से अज्ञानी यह मानता है कि -पर से ज्ञान होता है। यद्यपि अज्ञानी जीव यह मानता है कि मैं स्वत: नहीं जानता, किन्तु देह, इन्द्रियादिक पर की सहायता से जानता हूँ, तथापि वह स्वत: ही अपनी अवस्था को जानता है - पर से नहीं जानता; मात्र मान्यता में ही उल्टा है, इसलिए मानता है।

प्रत्येक आत्मा को वर्तमान विकास के अनुसार निर्मल अवस्था में निर्मल स्वभाव का नित्य अनुभव होता है, तथापि अनादि-बन्धन के वश होकर (पराश्रितता से) दूसरे के साथ तथा पुण्यादिक में एकत्व के निर्णय के द्वारा ऐसी मान्यता हो गई है कि मैं विकारी हूँ, बन्धनबद्ध हूँ; किन्तु वास्तव में आत्मा का स्वभाव वैसा नहीं हो गया है। आत्मा में अपना ज्ञानगुण नित्य चैतन्यस्वरूप से प्रगट है, विकासस्वरूप है, यदि उसके द्वारा अपना विचार करे तो अन्तरंग में पूर्ण निर्मल शक्ति भरी हुई है; किन्तु अपनी ज्ञानस्वभाव की शक्ति का विश्वास न करके मूढ़-अज्ञानी जीव बाह्य देहादि-रागादि को ही अपना स्वरूप मानता है, इसलिए उसे यथार्थ ज्ञान प्रगट नहीं होता, और यथार्थ जाने बिना सच्ची श्रद्धा कभी नहीं होती। जब तक पराश्रय की श्रद्धा होती है तब तक नित्यस्वभावी की दृढ़ता अंशमात्र नहीं होती। पराश्रय की श्रद्धा के द्वारा विपरीत मान्यता से अनन्त परपदार्थों में कर्तृत्व-ममत्व का अभिमान रखकर उसकी ओर के राग-द्वेष में रुक जाता है, और भिन्न स्वभाव में नि:शंकतया स्थिर होने के लिए असमर्थ होने से यह मानता है कि जो रागमिश्रित विचार हैं सो ही मैं हूँ, पराश्रय के बिना मैं स्थिर नहीं रह सकता, कुछ जान नहीं सकता, और इस प्रकार अपने

को पराधीन मानता है, इसलिए क्षणिक विकारभाव से भिन्न हूँ, नित्य हूँ, असंग ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा प्रगट नहीं कर सकता। अपनी आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार न करनेवाला स्वरूपस्थिरतारूप चारित्र अंशमात्र भी प्रगट नहीं कर सकता।

साध्य करनेयोग्य भगवान आत्मा की प्राप्ति तो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान सहित स्थिरता से ही होती है, अन्य प्रकार से नहीं; क्योंकि पहले तो आत्मा को स्वानुभवरूप से जानता है कि देहादि-रागादि से भिन्नरूप जो नित्य जाननेवाला प्रगट अनुभव में आ रहा है, सो वह मैं हूँ, तत्पश्चात् नि:शंकस्वभाव की दृढ़ता के बल से आत्मा में नि:शंक श्रद्धा होती है, फिर समस्त अन्य भावों से अलग होता है। मैं राग, द्वेष, मोहरूप नहीं हूँ, किन्तु राग का नाशक अखण्ड गुणरूप हूँ, इस प्रकार स्वाधीन ज्ञायकस्वभाव का अपने में एकरूप निर्णय करके अपने में स्थिर हो तो वह साध्य ऐसे शुद्धात्मा की सिद्धि है। किन्तु जैसा सत्य है वैसा न जाने तो सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती, और श्रद्धा के बिना स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिए उपरोक्त कथन के अतिरिक्त अन्य प्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा नियम है।

कोई कहे कि बहुत जानकर क्या काम है? बहुत अधिक सूक्ष्मरूप से जानकर क्या लाभ होना है? यह सच है और यह मिथ्या है, ऐसा जानने से तो उल्टा राग-द्वेष होता है, इसलिए सच्चे-झूठे को जानना हमारा काम नहीं है; कुछ करेंगे तो पायेंगे; यों मानकर बाह्य प्रवृत्ति पर भार देता है और जिससे जन्म-मरण दूर होता है, ऐसे तत्त्वज्ञान की दरकार नहीं करता। आत्मा को जाने बिना सत्य-असत्य क्या है, हित-अहित क्या है, यह नहीं जाना जा सकता। अपनी दरकार करके अपूर्व रुचि से समझने का मार्ग ग्रहण न करे तो मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अनन्त चैतन्य जिसका चिह्न है, ऐसी इस आत्मज्योति

का हम निरन्तर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव के बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति कैसी है ? जिसने किसी प्रकार से त्रित्व को अंगीकार किया है तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई है और जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।

आत्मा को शरीर, मन, वाणी से हानि-लाभ नहीं है, क्योंकि आत्मा परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता; परवस्तु आत्मा के आधीन नहीं है और आत्मा पर के आधीन नहीं है। परनिमित्त से (पर लक्ष्य से) वर्तमान अवस्था में पुण्य-पाप की जो विकारवृत्ति होती है सो क्षणिक है, नाशवान है; और जो नाशवान है, उसके द्वारा अविनाशी-अविकारी आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता; यदि उस विकार को अपना माने तो अपने विपरीत भाव से हानि होती है, मान्यता का भाव अपना होने से वह लाभ-हानि का कारण होता है, किन्तु देहादि की किसी क्रिया से आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता।

आत्मा के नित्य चैतन्यस्वरूप होने से देहादि या रागादि की क्षणिक अवस्थारूप से उसका अस्तित्व नहीं है; इसलिए सबसे भिन्न ज्ञायकस्वभाव से स्वतन्त्र हूँ—ऐसी पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करके हम इस अविकारी आत्मज्योति का निरन्तर अनुभव करते हैं, राग-द्वेष-मोहरहित होने की भावना करते हैं। मैं एकरूप ज्ञानमात्र हूँ, वर्तमान अवस्था में जो पराश्रयरूप अस्थिर वृत्ति उत्पन्न होती है, वह स्वभाव का कार्य नहीं है, मैं उस क्षणिक विकार जितना नहीं हूँ, किन्तु उसका नाशक हूँ, इसलिए मेरा स्वरूप वीतरागी ज्ञानस्वभाव है। ऐसे स्वभाव के बल से स्वलक्ष्य की एकाग्रता के द्वारा मोक्षदशा की प्राप्ति होती है।

मैं नित्य एकरूप अमृत का पिण्ड हूँ, पुण्य-पाप का विकारी भाव तथा देहादिक मृतक कलेवर चेतन नहीं है; देहादि-रागादि नाशवान हैं और मैं अविनाशी ज्ञानस्वभाव से नित्य हूँ। मैं पराश्रयरूप शुभाशुभ राग में अटकनेवाला स्वभाव से नहीं हूँ। निर्मल ज्ञानस्वरूप हूँ, पर से भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीति पूर्वक चिदानंद स्वभाव से जितना स्थिर होऊँ उतना मेरा स्वाधीन अमृतधर्म है। एकरूप निरुपाधिक ज्ञान-शान्तिस्वरूप अखण्ड स्वभाव है उसी का मेरे अवलम्बन है, इसलिए जो कुछ परोन्मुखता के भेदरूप शुभाशुभ भाव होते हैं, वे पवित्रस्वरूप धर्मभाव नहीं हैं।

पूर्ण स्वभाव के एकाकार लक्ष्य के बल से स्वरूप की एकाग्रता के बिना अन्य

प्रकार से शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती। प्रथम ही मानने में, जानने में और प्रवृत्ति में भी यही प्रकार चाहिए।

वह आत्मज्योति कैसी है ?

जिसने किसी प्रकार से-व्यवहार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था को अंगीकार किया है, तथापि जो निश्चय एकस्वभाव से नहीं हटती और जो निर्मल ज्ञान-शान्तिरूप से नित्य प्रगट होकर ज्ञायकत्व को प्राप्त हो रही है।

व्यवहारदृष्टि से देखने पर तीन गुण हैं। पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करनेवाली श्रद्धा, पर से भिन्न नित्य ज्ञानस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान और स्वाश्रय के बल से उसमें जो स्थिरता होती है सो चारित्र; इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन गुणों के भेद होने पर भी एकरूप आत्मा कभी उन तीनरूप-भेदयुक्त नहीं हो जाता। व्यवहार से-रागमिश्रित विचार से देखें तो तीन भेद दिखायी देते हैं, किन्तु निश्चय से आत्मा का स्वभाव नित्य एक प्रकार से अभेद-निर्मल है। उस अखण्ड के लक्ष्य से स्वरूप में सावधान होने से प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती है। ऐसी निर्मल आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

यह सब आत्मा का धर्म अन्तरंग से ही किस प्रकार प्रगट होता है सो कहते हैं। जगत माने या न माने उस पर सत् का आधार नहीं है। आत्मा स्वभाव में ही सब कुछ कर सकता है। आत्मा अपने गुणों से पृथक् नहीं है, उसे गुणों के लिए किसी पर का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता।

यह समझे बिना अन्तरंग में धर्मभाव की निर्दोष एकाग्रता नहीं होती, अर्थात् मुक्ति नहीं होती। आचार्यदेव कहते हैं कि हम एक समय का भी अन्तर डाले बिना अखण्ड-स्वरूप में लीन होकर ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव कर रहे हैं, अन्तरंग गुणों की एकाग्रता में लीन होकर उन्हीं का स्वाद ले रहे हैं। ऐसा कहने का यह आशय समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थदशा में भी जैसा अनुभव हम करते हैं वैसा ही आंशिक अनुभव करते हैं—वे हमारी ही भाँति अनुभव इस काल में कर सकते हैं। कोई यह कह सकता है कि—यदि धर्मात्मा-आचार्यों को निरन्तर आत्मानुभव होता रहता है तो उन्होंने शास्त्र क्यों रचे और वे धर्म का उपदेश क्यों देते हैं ? उसका समाधान यह है कि—अनुभव तो नित्य

आत्मा का होता है, किन्तु जितना राग है-अस्थिरता है, उसमें शुभाशुभभाव की वृत्ति रहती है और कभी-कभी ऐसा विकल्प भी उठता है कि दूसरे को धर्म प्राप्त कराऊँ, किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है, वहाँ तो निर्विकल्प स्वरूप में स्थिर होने की मुख्यता है।

मैं निर्विकार एकरूप ज्ञान-शांति का अनुभव करनेवाला एकरूप ज्ञायक हूँ, एकाकार लक्ष्य का अनुभव निरन्तर धारावाही है, जो अप्रतिहत स्वानुभव है, उसमें काल का, कर्म का, रागादि का और किसी भी संयोग का भेद नहीं होता; क्योंकि वहाँ निरावलम्ब स्वाश्रित गुण की शक्ति में ढलने का बल मुख्य है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से पुण्य-पाप की जो वृत्ति उठती है, उसे वह जानता है, किन्तु दृष्टि में उसका स्वीकार नहीं है। अखण्ड निर्मल स्वभाव के बल से परावलम्बी वृत्ति का निरन्तर नाश ही होता है, और गुण का ही अनुभव बढ़ रहा है, इस अपेक्षा से निरन्तर चिदानन्द स्वरूप का ही अनुभव करते हैं, ऐसा कहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'न खलु न खलु यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः' वास्तव में, निश्चय से कहते हैं कि—इस रीति के बिना त्रिकाल में भी कोई दूसरा उपाय नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानन्द की शाश्वत मूर्ति अमृतकुण्ड आत्मा है, उसकी शरण में आना होगा। पुण्य-पाप के भाव और शरीर तो मृतक कलेवर-विषकुण्ड के समान हैं, नाशवान हैं। तेरे नहीं हैं। तू पर का कर्ता नहीं है; इसलिए पराश्रयरूप अधर्मभाव को छोड़! पर का कुछ भी करने का जो भाव है सो उपाधिमय दुःखरूप भाव है। एक बार भी सत्य की शरण लेने पर त्रिकाल के असत्य की शरण छूट जाती है। मैं परमुखापेक्षी-पराधीन नहीं हूँ, इस प्रकार स्वाश्रितता की एक बार श्रद्धा तो कर! कोई भी परवस्तु तेरे आधीन नहीं है। ऐसे परम सत्य को न मानकर जो यहाँ मानता है कि परपदार्थों की सहायता के बिना हमारी सारी व्यवस्था टूट जाएगी, उसे पूर्व पुण्यानुसार ही संयोग मिलते हैं, यह खबर नहीं है, उसे पुण्य की श्रद्धा नहीं है। बाह्य संयोग, देहादि की अवस्था किसी आत्मा के आधीन नहीं है, किन्तु अपने में राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कार्य करना अथवा सत्य को समझकर तदनुसार मानना, स्थिर होना ही वर्तमान पुरुषार्थ से हो सकता है।

मैं पराश्रय के बिना नहीं रह सकता, मैं पुण्य-पाप की लगनवाला हूँ, मैं देहादि की क्रिया कर सकता हूँ, इत्यादि मान्यता का नाम ही मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र

है; उस विरुद्ध भाव को अपना मानने में त्रिकाल ज्ञानस्वभाव की नास्ति आती है।

जो पुण्य-पाप के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं सो वह मैं नहीं हूँ, मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं त्रिकाल असंयोगी, अविकारी चैतन्यरूप हूँ, इस प्रकार मानना, जानना और स्थिर होना ही मेरा स्वधर्म है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि आपने यह कहा कि—ज्ञान के साथ आत्मा तत्स्वरूप है, एकमेक है, ज्ञान से कभी अलग नहीं है, इसलिए ज्ञान का ही नित्य सेवन करता है; यदि ऐसा ही है तो ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? जैसे अग्नि और उष्णता अलग नहीं हैं इसलिए अग्नि को उष्णता का सेवन करने की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, अन्यस्वरूप नहीं, वह ज्ञान को ही नित्य सेवन करता है और ज्ञान में ही एकाग्र है, तो उसे ज्ञान की उपासना-सेवा करने की क्या आवश्यकता है ? यहाँ पर शिष्य ने अन्ध श्रद्धा से न मानकर समझने की दृष्टि से जिज्ञासाभाव से पूछा है; और इस प्रकार वह भलीभाँति निश्चय करना चाहता है।

जैसा सम्यक् स्वभाव है उसी प्रकार निश्चय करके मानना, जानना और सेवन करना सो सेवा अर्थात् सेवन है।

शिष्य कहता है कि आपने तो एक ज्ञान की ही सेवा करने को कहा है, किसी दूसरे की या दूसरे प्रकार से कुछ करने को नहीं कहा है, यह बात मेरे मन में कुछ जमी है। जड़-देहादि परपदार्थों की कोई क्रिया कोई नहीं कर सकता, पुण्य-पाप के राग में लग जाना आत्मा की सेवा नहीं है, क्योंकि आत्मा उससे भिन्न है; और आत्मा ज्ञान से अलग नहीं है। इतना सत्य तो शिष्य ने ढूँढ़ निकाला है।

मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, उसमें परवस्तु की—पुण्य-पाप की लगन का अभाव है, उसे अपना मानना सो अनन्त संसार का कारण है। जन्म-मरण का नाश होकर शाश्वत सुख प्राप्त करने का उपाय सुनने को मिले तथापि उसे भावपूर्वक सुनकर विचार पूर्वक सत्य का निर्णय न करे, स्व-पर के भेद को न जाने और सत्य का बहुमान करके जब तक अन्तरंग से उत्साहित न हो तब तक मानों वह अज्ञानी ही रहना चाहता है। सत्य के लिए मनन-मन्थन न करे तो समझना चाहिए कि उसे सत्य की रुचि ही नहीं है।

जैसे किसी मकान के द्वार और खिड़कियाँ कई वर्ष से बन्द हो तो उन्हें खोलने पर

जब भीतर वायु प्रवेश करती है तब बहुत समय से पड़ा हुआ वहाँ का कूड़ा-कचड़ा इधर-उधर उड़ने लगता है; तब यदि कोई खेद करे कि इससे तो अच्छा यही होता कि द्वार और खिड़कियाँ बन्द ही रहती इससे कचरा तो नहीं उड़ता। ऐसा कहनेवाला मानों कचरे को रखनेयोग्य मान रहा है, क्योंकि उसे स्वच्छता की महिमा का ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि आत्मा तो दिखायी नहीं देता, उसे समझने के लिए समझ के द्वार खोलकर गहराई में उतरकर, शंका करके भीतर खलबलाहट करने की अपेक्षा तो अनादि काल से जिस प्रकार राग-द्वेष और शरीरादि में मूढ़ हो रहे हैं, वह ठीक है। यदि ऐसा माने तो कभी भी अज्ञान दूर नहीं होगा और यथार्थ समझ प्राप्त नहीं होगी। समझने के लिए अवश्य आशंका करके पूछना चाहिए और यथार्थ बात का समझपूर्वक मेल बिठाना चाहिए।

शिष्य ने समझने के लिए जिज्ञासपूर्वक प्रश्न किया है, इसलिए अवश्य ही यथार्थ समाधान हो जाएगा। हिताहित क्या है और सत्या-सत्य क्या है—इसका निर्णय न करे और जहाँ-तहाँ धर्म के नाम पर हाँ-जी-हाँ और 'सत्यवचन महाराज' कह दे तो इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। पहले स्वाधीनता का-दुःखों से मुक्त होने का उपाय सोचना चाहिए। कोई आत्मा दूसरे के द्वारा नहीं समझ सकता और न कोई दूसरे को ही समझा सकता है, किन्तु स्वयं अपनी दरकार करके सत्य को समझे तो समझानेवाले को व्यवहार से निमित्त कहा जाता है।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द इत्यादि अनन्त गुण विद्यमान हैं; उनमें से यहाँ ज्ञानगुण को मुख्यता से लिया है। शिष्य ने इतना तो निश्चित कर लिया है कि स्वाधीन वस्तु त्रिकाल है और वह पर से भिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न और अपने ज्ञानगुण से त्रिकाल अभिन्न है।

शंका—यह तो सच है कि कोई आत्मा किसी पर का कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु यदि आप यह कहते हैं कि आत्मा ज्ञान से कभी पृथक् नहीं है तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने को क्यों कहते हैं ?

समाधान—जैसा कि तुम कह रहे हो वैसा नहीं है। ज्ञानादिक समस्त गुणों के साथ आत्मा तादात्म्यस्वरूप से है, तथापि अनन्त काल से अपने गुणों का एक समयमात्र को भी सेवन नहीं किया है। पराश्रय से हटकर स्वाश्रिततारूप से अन्तर्मुख होकर उस ओर

ढलना सो यही ज्ञानस्वभाव की सेवा है, इस प्रकार निःशंक होकर एक समय भी अपना सेवन नहीं किया है; अनादि काल से अपने को भूलकर दूसरे पर विश्वास जमा रखा है। कुछ करूँ तो ठीक हो—इस प्रकार बाह्योन्मुखता के द्वारा राग की सेवा की है। अपनी सेवा कर सकता है सो तो की नहीं और पर का कुछ कर नहीं सकता सो उसका अभिमान किया है। पराश्रय की श्रद्धा ही भ्रान्ति है। धर्म के नाम पर भी बाह्य में सब कुछ किया, और राग-द्वेष में लगा रहा। जो एक क्षणमात्र को भी आत्मा की सेवा करे तो उसके जन्म-मरण और बन्धन नहीं रह सकता। स्व-लक्ष्य में दोष या दुःख नहीं हो सकते। जो बाह्योन्मुखता की वृत्ति उद्भूत होती है, सो त्रिकाल में भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, अन्तरंग गुणों में विकार नहीं है। निश्चय से या व्यवहार से गुणों में दोष प्रविष्ट नहीं हो सकते।

अज्ञानी ने विपरीत मान्यता से परभावों का सेवन किया है। यदि एक समयमात्र को सत्यस्वभाव का सेवन किया हो तो संसार में परिभ्रमण न करे, क्योंकि स्वयंबुद्धता से अर्थात् वर्तमान में ज्ञानी की उपस्थिति के बिना स्वयं अपने आप स्वभाव से जो जान लिया सो वह अथवा बोधितबुद्धत्व अर्थात् समझानेवाले सच्चे गुरु के द्वारा जानना, या गुरुज्ञान के सत्समागम से जानना सो, इस प्रकार कारणपूर्वक स्वयं अपने स्वभाव से ही जागृत होता है। एक बार सच्चे गुरु के निकट से अपनी रुचि के बल से जो यथार्थ सत्य को सुनता है उसे देशनालब्धिरूप कारण कहा जाता है; और स्वयं अपनी निज की आकांक्षा से अन्तरंग में निर्मल तत्त्व के विचार में लगने पर पहले गुरु के द्वारा सुना किन्तु वर्तमान में निमित्त विद्यमान नहीं है, तथापि स्वयं अपने आप जाने-स्वभाव से अपनी ओर उन्मुख होकर यथार्थ स्वरूप को जाने तो तब गुरुगम निमित्त कहलाता है। इस प्रकार कारणपूर्वक निर्मल अवस्थारूप कार्य की उत्पत्ति होती है।

स्वाश्रित ज्ञान का कारण दिये बिना स्वरूप सेवा नहीं कर सकता। सच्ची सेवा का मूल कारण भेदविज्ञान है, यह उन्नीसवीं गाथा में कहा जाएगा। अनादि कालीन बाह्योन्मुखता को छोड़कर स्वसन्मुख हुआ, नित्य स्वाधीन ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्यरूप नहीं, पर का कर्ता-भोक्तारूप नहीं हूँ—इस प्रकार स्वभाव की दृढ़ता करके उसमें पुरुषार्थरूप स्वकाल जागृत होता है, अर्थात् स्वसन्मुख होने पर स्वयं स्वभाव से ही जागृत होता है, अथवा स्वरूप को समझने की उत्कृष्ट आकांक्षा से सद्गुरु के पास जाकर उनके उपदेश से स्वरूप को

समझता है। जैसे सोया हुआ पुरुष स्वयं अपने आप जागृत होता है अथवा उसकी जागने की तैयारी होने पर कोई जागनेवाला निमित्त मिल ही जाता है, तब स्वयं जागृत होता है। एक में उपादान के कथन की मुख्यता और दूसरे में निमित्त का कथन है; किन्तु दोनों में जागता स्वयं अपने आपसे ही है।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है तो प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होने के दो कारणों सहित अपने आत्मा को जानने में पूर्व क्या यह आत्मा अनादि काल से अज्ञानी ही रहा है? अपने में अपना अजानपन ही हूँ? मूढ़तारूप अविवेकीपन-अप्रतिबुद्धता ही है? (इस प्रकार सत् को समझने की जिसे जिज्ञासा है उसे अपनी गहन आन्तरिक आकुलता को दूर करने के लिए प्रश्न उपस्थित होता है।)

उत्तर—यह बात ऐसी ही है, अज्ञानी ही रहा है। समयसार में अत्यंत अप्रतिबुद्ध जो कि यथार्थ कारण सहित अपनेपन को नहीं समझा है और जो पर में अपनापन मान रहा है, उसे समझाने के लिए उपदेश है।

उन्नीसवीं गाथा में कहा गया है कि जब तक अज्ञान के नाश का कारण जो भेदविज्ञान है, उसे प्राप्त नहीं करेगा तब तक वह अज्ञानी ही है। ऐसे अत्यंत अज्ञानी को समझाने के लिए मूल उपदेश समयसार में है, समझे हुए को समझाते हैं।

पर को अपना माननेरूप अज्ञान कब तक रहेगा? ऐसा पूछनेवाला, अज्ञानी रहने के लिए नहीं पूछता, किन्तु उसे अज्ञान को दूर करने की जिज्ञासा हुई है, कि अरे! यह अनादि कालीन अविवेक और मूढ़ता कब तक रहेगी? पूछनेवाले की ऐसी भावना है कि मुझे अब अधिक समय तक अज्ञान न रहे। यथार्थ को समझ लेता है वह अल्प काल में ही स्वतन्त्र -स्वभाव अर्थात् मुक्ति को प्रगट कर लेता है, ऐसी सन्धिपूर्वक यह बात कही गयी है।

अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी भूल और अशुद्धता की स्थिति एक समयमात्र की अवस्था में है, किन्तु अन्तरंग स्वभाव में वह भूल या विकारी अवस्था प्रविष्ट नहीं हो गयी है; गुण में कहीं दोष नहीं है। मात्र बाह्य लक्ष्य करके पर को अपना मानता है सो उस अवस्था की भूल किस प्रकार है—यह उन्नीसवीं गाथा में कहते हैं:—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥१९॥

अर्थ—जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादिक नोकर्म में ऐसी बुद्धि रहती है कि 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

शास्त्र में यह सुन लिया कि कर्म हैं, इसलिए अज्ञानी ने इसी को पकड़ लिया कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, और वे ही सुखी-दुःखी करते हैं, वे मेरे हैं और उनके कारण से मैं हूँ। जब देह पर दृष्टि थी तब मानता था कि शरीर और उसकी प्रवृत्ति मेरे आधार से होती है और जब शास्त्र में पढ़ा या सुना कि कर्म एक पदार्थ है, उसका निमित्त पाकर संयोगाधीन पुण्य-पाप के भाव तुझमें होते हैं, वहाँ निमित्त पर दोषारोपण करना सूझा। जब इच्छानुसार कुछ होता है तो कहता है कि इसे मैंने किया और जब अनुकूल नहीं बैठता तब कर्म पर दोष डालता है कि मैंने पहले बुरे कर्म किये होंगे सो उन्हें भोग रहा हूँ। शास्त्रों ने तो तुझे तेरी शक्ति बता दी है कि स्व-पर को जानने की तेरे ज्ञान में शक्ति है। विकार होने में कर्म मात्र निमित्त हैं, ऐसा सुनकर अज्ञानी जीव कर्म को अपना मान बैठा है; और कहता है कि धर्म सुनने की इच्छा तो बहुत होती है, किन्तु अन्तराय कर्म का उदय हो तो कहाँ से सुन सकता हूँ? जब तक कि अन्तरायकर्म मार्ग न छोड़ दे तब तक सुनने का सुयोग कहाँ से मिल सकता है? किन्तु ऐसा मानना बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि जब स्वयं विपरीतभाव में लीन होता है तब कर्म मात्र निमित्त कहलाते हैं, किन्तु कर्म किसी को रोकते नहीं हैं। उन अन्ध-जड़ कर्मों पर दोषारोपण करना बहुत बड़ी अनीति है।

स्त्री, धन, कुटुम्ब, शरीर इत्यादि नोकर्म कहलाते हैं, उन्हें जब तक अपना मानता है, तब तक ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं होती कि मैं पर से भिन्न हूँ।

टीका—जिस प्रकार स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध आदि भावों में विविध आकार में परिवर्तित पुद्गल के स्कन्ध में 'यह घड़ा है' इस प्रकार और घड़े में 'यह स्पर्श रस, गन्ध, वर्ण आदि भाव तथा विविध आकार में परिणत पुद्गल स्कन्ध हैं,' इस प्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है। परमाणु में मुख्य गुण स्पर्श है। जीव में पंचेन्द्रियों में मुख्य स्पर्शन इन्द्रिय है। एकेन्द्रियता में अन्य सब इन्द्रियों की शक्ति दब जाती है, तथापि एक

स्पर्शन इन्द्रिय का विकास बना ही रहता है। परमाणुओं के स्कन्धरूप होने में स्पर्शगुण मुख्य है। सिद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता है।

जो पुद्गल परमाणु हैं सो वस्तु है, उसमें जो स्पर्शादिकभाव हैं सो गुण हैं, और आकार-प्रकार उसकी पर्याय हैं; इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का अभेदत्व अपने-अपने गुण-पर्याय से जाना जाता है। इसी प्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म शरीर आदि बाह्य वस्तुएँ कि जो सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं—उनमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकार और आत्मा में 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरंग तथा नोकर्म-शरीर आदि बहिरंग आत्मतिरस्कारी पुद्गल-परिणाम हैं,' इस प्रकार वस्तु के अभेद से जहाँ तक अनुभूति है, वहाँ तक आत्मा अज्ञानी है। परवस्तु को अपनी मानने में पर की महिमा की, इसलिए स्वयं अपनी स्वतन्त्रता का तिरस्कार किया; ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा निर्मल परमानन्दमूर्ति है, उसमें वर्णादिक या रागादिक कुछ नहीं हैं। अपनी मूढ़ता के कारण पर की ओर दृष्टि डालने से अपने स्वभाव में आवरण आता है, अर्थात् स्वयं ही अपने स्वभाव का तिरस्कार करनेवाला है। यदि ज्ञायकरूप से ही रहे तो गुण का विकास होना चाहिए, उसकी जगह ज्ञान को पराश्रय में रोकता है, पर से विकास मानता है, उसमें अच्छा-बुरा करके राग में लग जाता है, इसलिए ज्ञान का विकास रुक जाता है। राग-द्वेष भाव आत्मस्वरूप को हानि पहुँचानेवाले हैं, तिरस्कार करनेवाले हैं, इसलिए राग-द्वेष को आत्मा का स्वरूप माननेवाला स्वयं अपना ही शत्रु है।

मैं बालक हूँ, वृद्ध हूँ, देहरूप हूँ, हम दोनों एक हैं, इस प्रकार देह को अपना मानता है, और कहता है कि जैसे पानी में लाठी मारने से पानी अलग-अलग नहीं हो जाता, इसी प्रकार मैं और मेरा शरीर एक ही है, और देह की अवस्था को अपनी ही अवस्था मानता है। किन्तु जड़ पदार्थ तुझे हानिकारक नहीं हैं। राग-द्वेष में एकाग्र होने से अपने वीतराग स्वभाव का तिरस्कार होता है। जो यह मानता है कि जब तक मैं रहता हूँ, तब तक घर और व्यापार की व्यवस्था ठीक चलती रहती है, वह यह मानता है कि मैं इन परपदार्थरूप हूँ और समस्त परपदार्थ मेरे अधिकार में हैं, और ऐसा मानने से स्पष्ट है कि उसे पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है। यदि परपदार्थ में कहीं कुछ परिवर्तन हो जाता है तो कहने लगता है कि मुझसे नहीं बन सका इसलिए बच्चे बीमार हो गये हैं, मैं कुछ असावधान हो गया इसलिए

व्यापार में हानि हो गयी है, इस प्रकार पर में कर्तृत्व के अभिमान से वह स्वाधीन तत्त्व का अनादर करता है।

राग-द्वेष या पुण्य से अच्छा कर दूँ, यदि अमुक व्यक्ति की सहायता मिल जाए तो अच्छा हो, इस प्रकार वह स्वभाव का तिरस्कार करनेवाले शत्रुभाव को अपना मानता है। यह मानना कि शरीर अच्छा हो तो धर्म हो, इसका अर्थ यह है कि मैं स्वयं निर्माल्य और पराधीन हूँ। जब तक यह मानता है कि मेरे स्वभाव में धर्म है ही नहीं तब तक वह अज्ञानी ही है। मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम, उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे, वह मेरे भावों में सहायक हो सकते हैं-इस प्रकार जो मानता है, उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं है। पुण्य-पापभाव उस स्वभाव से विरोधीभाव हैं, उनसे अविकारी गुण को सहायता मिलती है। इस प्रकार जो मानता है, उसे विकाररहित पृथक् स्वभाव की खबर नहीं है, अपने गुणों की प्रतीति नहीं है। देहादिक अथवा रागादि में कभी चैतन्य नहीं है और चैतन्य में देहादि-रागादि नहीं हैं।

कोई कहता है कि एकांत वन में किसी गुफा में बैठे हों, चारों तरफ हरा-भरा वन दिखायी देता हो, झरने कलकल नाद करते हुए बह रहे हों, तो ऐसा स्थान आत्मशान्ति के लिए सहायक हो सकता है या नहीं ? किन्तु इस प्रकार जो आत्मशान्ति के लिए दूसरे को सहायक मानता है वह परक्षेत्र से गुण-लाभ मानता है, अर्थात् वह यह नहीं मानता कि अपने में किसी के आधार के बिना स्वत: गुण भरे हुए हैं। घर में स्त्री, पुत्रादि का संयोग मुझे ध्यान की स्थिरता नहीं होने देता, इस प्रकार माननेवाला अपने को निमित्ताधीन तत्त्व मानता है।

जो अपने में अस्तिरूप से हो वह अपने को हानि-लाभ का कारण हो सकता है, किन्तु शरीरादिक जो कि अपने में नास्तिरूप से ही हैं, वे हानि-लाभ का कारण नहीं हो सकते। जिनकी अपने में नास्ति है, वह मुझे हानि पहुँचाते हैं, यों कहना मानों ऐसा है कि मुझे खरगोश ने अपने सींगों से छेद दिया है और उससे बहुत खून निकला है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मस्तक में ब्राह्मी के तेल की मालिश करने से, बादाम खाने से बुद्धि की वृद्धि होती है, किन्तु परपदार्थ से बुद्धि का आना या बढ़ना मानना सर्वथा मिथ्या है। क्या जड़वस्तु में चैतन्य को गुण देने की शक्ति हो सकती है ? यदि जड़वस्तु आत्मा को सहायक

हो तो आत्मा स्वयं शक्तिहीन और पराधीन कहलायेगा। जिस वस्तु पर लक्ष्य करने से शुभाशुभ भाव होते हैं, उस वस्तु को सहायक मानना भी मूढ़ता है।

सत्समागम की महिमा अपने गुण की रुचि का बहुमान प्रगट करने के लिए है। पर की ओर का झुकाव राग है, राग के आश्रय से वीतरागता नहीं होती अथवा वीतरागी गुण में सहायता भी नहीं होती। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्बन भी शुभराग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नहीं है। यह नग्न-सत्य है। जो सत्य है सो त्रिकाल सत्य ही रहेगा। असत्य कभी सत्य नहीं होता। पर की ओर का विषय सब राग में जाता है; उस निमित्त और राग को भूलकर स्वाश्रय के बल से स्वलक्ष्य में स्थिर हो सो यही गुणकर है।

जो यह मानता है कि—मैं पर को हानि-लाभ कर सकता हूँ, और पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है, वह दो तत्त्वों को एक मानता है, वह स्वतन्त्र आत्मा को नहीं मानता इसलिए वह मूढ़ है-अविवेकी है। निज का अस्तित्व कहने से पर के नास्तित्व का ज्ञान आ जाता है।

जैसे स्वच्छता दर्पण का गुण है, उसमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह स्वच्छता ही दिखायी देती है; उसके सन्मुख रखी हुई अग्नि अग्निरूप में ही है, दर्पणरूप में नहीं है; तथा दर्पण, दर्पणरूप से है अग्निरूप से नहीं है। इसी प्रकार अरूपी आत्मा में स्व-पर को जाननेवाला ज्ञायकत्व ही है, पर में कहीं रुकना नहीं होता। जानना ही आत्मा का स्वरूप है, पुण्य-पाप और रागादिक सब जड़ के हैं। इस प्रकार अपने से ही अथवा पर के उपदेश से सम्यक् भेदविज्ञान की अनुभूति होती है। यह अध्यात्मशास्त्र है, इसलिए स्वभाव से बोध होता है, यह पहले कहा है। पहले एक बार पात्रता से सत्समागम के द्वारा गुरु के निमित्त से समझना चाहिए।

बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीति,
पावे नहि गुरुगम बिना, अे ही अनादि स्थिति।

जहाँ सत् को समझने की अपनी प्यास-तीव्र आकांक्षा होती है, वहाँ सत् को समझानेवाला गुरु मिल ही जाता है। किसी को यह नहीं मान लेना चाहिए कि—गुरुज्ञान के बिना अपने आप ही समझ लेंगे तथा गुरु भी समझा देंगे। अपनी पूर्ण तैयारी होने पर

सत्समागम के लिए रुकना नहीं पड़ता किन्तु अपनी जागृति में अपूर्णता हो, कमी हो तो अपने ही कारण से अपने को रुकना पड़ता है। जहाँ अपनी तैयारी होती है, वहाँ सद्गुरु का निमित्त मिल ही जाता है।

हम निमित्त पर भार न देकर उपादान पर भार देते हैं। गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं करता, किन्तु उसके निमित्त के बिना सत्समागम के बिना सत्य को नहीं समझता। या तो पूर्व के सत्समागम का स्मरण करके अपने-आप समझे या जिस समय स्वयं समझने को तैयार हो उस समय ज्ञानी पुरुष का समागम अवश्य मिलता है। इस प्रकार जब भेदविज्ञान मूलक अनुभूति उत्पन्न होगी तभी स्वयं प्रतिबुद्ध होगा, अर्थात् स्व-पर की भिन्नता को जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी होगा। ज्ञान होने के बाद पुरुषार्थ की जितनी अशक्ति होती है, उतना राग होता है, किन्तु दृष्टि में उसका स्वीकार नहीं है।

पहले सामान्य ज्ञान तो था, किन्तु भेदविज्ञान अर्थात् विशेषत: पृथक्त्व का ज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं था। जब यथार्थ स्वाश्रय से भेदज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति प्रगट होगी तभी पर में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता की भ्रान्ति दूर करके स्वरूप का सच्चा ज्ञान होगा-स्वभाव का ही कर्ता होगा।

शिष्य पूछता है कि आत्मा अपने धर्म से अजान कब तक रहता है? इसके उत्तरस्वरूप उन्नीसवीं गाथा है।

जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है, अर्थात् जो जड़ है सो रस गन्ध आदि है, और जो रस गन्धादि है, सो जड़ है। वे दोनों जैसे एकरूप मालूम होते हैं वैसे ही आत्मा में कर्म-नोकर्म को माने और वे दोनों एकरूप भाषित हों तब तक वह अज्ञानी है, उसे पृथक्त्व की प्रतीति नहीं है। पृथक्त्व को जाने बिना मुक्ति की प्राप्ति कैसे कर सकता है?

आत्मा तो ज्ञाता ही है। कर्म और राग-द्वेष जड़ के घर के ही हैं, ऐसा जान ले तभी धर्म होता है। दृष्टि में से शरीर, कर्म, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का अभिमान दूर हुआ कि मैं मात्र उसका ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार ज्ञान में दृढ़ता का रहना ही धर्म है। आत्मा तो ज्ञान ही है, और ज्ञानस्वभावमय ही है, कर्म-नोकर्म सब पुद्गल के ही हैं, इस प्रकार जिसने जान लिया उसने आत्मस्वभाव को जान लिया।

जिस दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखायी देती है, उस दर्पण में अग्नि नहीं दिखायी देती, किन्तु उस दर्पण की स्वच्छता ही दिखायी देती है। अग्नि के गुण कहीं दर्पण में प्रविष्ट नहीं हो गये हैं। दर्पण में लालरूप में परिणमित होने की योग्यता थी इसलिए वह लाल रंगरूप हो गया है, कहीं अग्नि ने लालरूप में परिणमित नहीं किया है। यदि अग्नि से दर्पण की लाल अवस्था हुई होती तो लकड़ी में भी हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। उसमें योग्यता हो तभी वह उसरूप हो। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, उसमें जो कर्म-नोकर्म दिखायी देते हैं, सो उसके ज्ञान की स्वच्छता है। कर्म या नोकर्म आत्मा में घुस नहीं गये हैं। आत्मा स्वयं अपनी अवस्था को ही जानता है, प्रस्तुत निमित्त को लेकर जानता हो सो बात नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ऐसा निर्मल दर्पण है कि उसमें जो मकान इत्यादि दिखायी देते हैं, उन्हें वह नहीं जानता, किन्तु अपने ज्ञान की अवस्था को ही जानता है। अपना ज्ञानस्वभाव परनिमित्त को लेकर नहीं, किन्तु पर्याय होने की योग्यतानुसार ज्ञान की शक्ति के अनुसार निमित्त सन्मुख उपस्थित होता है, किन्तु वह निमित्ताधीन आत्मा का ज्ञान नहीं है।

दर्पण में जब लाल-पीलेरूप में होने की योग्यता होती है, तब उस प्रकार के निमित्त सन्मुख उपस्थित होते हैं। दर्पण में रंग गुण त्रिकाल है; किन्तु काली, पीली, लाल अवस्थाएँ त्रिकाल नहीं हैं। अवस्थाएँ बदल जाती हैं स्थिर नहीं रहतीं; किन्तु रंग गुण सदा ही बना रहता है। परमाणु की अवस्था बदलना स्वतन्त्र स्वभाव है।

शरीर, इन्द्रियाँ और कर्म तो रजकण हैं, उनके कारण ज्ञान नहीं होता। जहाँ यह जाना कि शरीर हिला है, वहाँ उस ज्ञान की स्वच्छता की योग्यता में अपने ज्ञान की अवस्था जानी जाती है; शरीर के हिलने से ज्ञान हुआ हो सो बात नहीं है। जो अवस्था बदलती है सो अपने कारण से बदलती है, पर के-निमित्त के कारण से नहीं। आत्मा का ज्ञानगुण सदा बना रहनेवाला है, उसमें जो अवस्था होती है, वह प्रस्तुत वस्तु के कारण नहीं, किन्तु अपनी उस अवस्था की योग्यता के कारण है। शरीर की चलने-बोलने इत्यादि की क्रिया जड़ की क्रिया है। वह ज्ञान की अवस्था में उसी समय ज्ञान की अवस्था के कारण ज्ञात होती है। आत्मा न तो हिलता है, न बोलता है, न खाता है, न पीता है, किन्तु वह शरीर की अवस्था को अपने ज्ञान की अवस्था में अपने स्वतन्त्र कारण से जानता है। इस प्रकार सत्स्वभाव को जानना सो उसका नाम धर्म है।

शब्द के कारण ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान की अवस्था तैयार हुई है, तब वैसे शब्द विद्यमान होते हैं। शब्द को लेकर ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान को लेकर ज्ञान होता है। शब्द को लेकर ज्ञान मानना ही सबसे बड़ी 'मूल में भूल' है।

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी,
तातैं वचन भेद भ्रम भारी;
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी,
निजरूपा-पररूपा भासी॥

एक ज्ञानगुण अपनी और पर की अवस्था को अपने कारण से जानता है। जो शब्द से ज्ञान मानता है, वह यह मानता है कि मैं पर में हूँ। मेरे ज्ञान की अवस्था मुझमें है, ऐसा न मानकर यह मानता है कि प्रस्तुत वस्तु के कारण मेरे ज्ञान की अवस्था होती है, वह अपने स्वतन्त्र स्वभाव को ही नहीं मानता, सो यही अज्ञान-मिथ्याभ्रान्तिरूप अधर्म है। आत्मा के ज्ञान की अवस्था ही कुछ ऐसी है कि जिस समय प्रस्तुत वस्तु उपस्थित होती है, उस समय उसमें (ज्ञान में) अपनी वैसी अवस्था अपने स्वतन्त्र कारण से होनी होती है।

कर्म-नोकर्म कहीं आत्मा में घुसे हुए नहीं हैं। ज्ञान की अवस्था ज्ञान से ही होती है, ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव किसी समय अपने से होता है और किसी समय उपदेश से होता है। यहाँ उपादान से और निमित्त से बात ली है। आत्मा के ज्ञान की अवस्था की जिस समय जैसी योग्यता होती है, उस समय निमित्त उसके कारण से सन्मुख उपस्थित होता है। ऐसा आत्मा पर के अवलम्बन से रहित, पर के आधार से अवस्थारूप न होनेवाला है, उसका जो ज्ञान है सो भेदविज्ञान है। आत्मा की अवस्था पर के कारण से नहीं होती और न पर की अवस्था आत्मा के कारण से होती है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्यरूप कहते हैं:—

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव॥२१॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आप ही अथवा पर के उपदेश से-किसी भी प्रकार से, भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है—ऐसी अविचल अपने आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से निरन्तर विकार रहित होते हैं; ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं, उनसे वे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

शरीरादि की अवस्था उसके अपने स्वतन्त्र कारण से है। मेरी अवस्था मुझमें अपने कारण से है। देह के जितने जन्म-मरणादि स्वभाव संयोग हैं, वे सब भगवान आत्मा के ज्ञान की सामर्थ्य भूमिका में ज्ञात होते हैं, किन्तु आत्मा उसकी अवस्था को नहीं करता, अथवा वे पर पदार्थ आत्मा की अवस्था को नहीं करते। आत्मा अरूपी है, उसमें यदि वृक्षादिक रूपी पदार्थ आ जाते हों तो वह रूपी हो जाए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। परपदार्थ ज्ञानस्वभाव में ज्ञात होते हैं सो वह अपनी ही अवस्था है। उसमें किसी का प्रतिबिम्ब नहीं आता। यह तो मात्र निमित्त से कहा जाता है कि मुझे इससे ज्ञान हुआ है।

परपदार्थ में अच्छा-बुरा माने, और ऐसा माने कि पर को लेकर मैं और मुझे लेकर परपदार्थ हैं, तो राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा। किन्तु यदि ऐसा माने कि न तो पर को लेकर मैं हूँ और न मेरे कारण परपदार्थ हैं; तो राग-द्वेष नहीं होगा।

निन्दा-स्तुति आदि कोई पर आत्मा से ऐसा नहीं कहता कि तू मुझमें अच्छा-बुरा करके रुक जा। तथा आत्मा स्वयं भी पर में नहीं जाता - वह अपने में ही रहकर पर को अपने ज्ञान की स्वच्छता में जानता है।

दर्पण में अग्नि इत्यादि दिखायी देती है सो तो दर्पण की निर्मलता की अवस्था है; वह अग्नि इत्यादिक दर्पण में प्रविष्ट नहीं हो जाते। इसी प्रकार निन्दा-स्तुति इत्यादिक कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाते। यदि शरीरादिक आत्मा में प्रविष्ट हो जाएँ या एकमेक हो जाएँ तो आत्मा जड़ हो जाए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा चैतन्य है, उसके गुण चैतन्य हैं और उसकी पर्याय भी चैतन्य है। पुद्गल जड़ है, उसके गुण जड़ हैं, और उसकी पर्याय भी जड़ है। आत्मा के ज्ञानरूपी निर्मल दर्पण में राग-द्वेषादिक परवस्तु ज्ञात होती है किन्तु उसमें अच्छा-बुरा कुछ भी करना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। इसलिए धर्मात्मा पृथक्त्व के स्वभाव की प्रतीति के कारण पर में राग-द्वेष नहीं करते। स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, यदि

कभी कुछ अल्प राग-द्वेष हो तो वह पुरुषार्थ की अशक्ति है। कोई परवस्तु राग-द्वेष का कारण नहीं है।

मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, यह तो अभिमान है; इसे दूर किये बिना ज्ञान नहीं हो सकता। तीन लोक में और तीन काल में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। आत्मा तो एक मात्र ज्ञाता ही है।

प्राय: लोग कहा करते हैं कि कोई इतनी गालियाँ दे तो फिर कहीं क्रोध हुए बिना रह सकता है ? किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि—जैसे पाँच गालियों के शब्दों को जानने की आत्मा में शक्ति है, उसी प्रकार अनन्त ज्ञेयों के जानने की शक्ति भी उसमें है; किन्तु अज्ञानी कहता है कि—'ऐसी कान को फाड़ देनेवाली गालियाँ कैसे सुनी जा सकती हैं ?' किन्तु प्रभो! तेरा ज्ञानगुण तो अनन्त स्वभाववाला है, उसमें चाहे जो कुछ हो वह सब उस ज्ञान में ज्ञाता होता है। यदि पर को जानने से इंकार करे तो अपने ज्ञान की अवस्था का ही निषेध होता है। यह बात कहीं वीतराग हो जानेवालों की नहीं है, किन्तु जिन्हें वीतराग होना हो, जिन्हें आत्मा की निर्विकल्प शान्ति चाहिए हो, उनके लिए यह बात है ॥१९॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किस प्रकार पहिचाना जा सकता है ? उसका कोई चिह्न बताइये। पहले शिष्य ने काल पूछा था और अब लक्षण पूछ रहा है। उसके उत्तर में तीन गाथाएँ कही हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।२०।।

आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि।।२१।

एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।२२।।

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा।।२०।।

आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि।।२१।।

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति सम्मूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसम्मूढः।।२२।।

अर्थ—जो पुरुष अपने से अन्य परद्रव्य को-सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त धन-धान्यादिक, अथवा मिश्र ग्राम-नगरादिक को-यह समझता है कि मैं यह हूँ और यह परद्रव्य मुझस्वरूप हैं, मैं इनका हूँ और यह मेरे हैं, यह मेरे पहले थे, मैं भी पहले इनका था, यह भविष्य में मेरे होंगे, मैं भविष्य में इनका हूँगा; ऐसा झूठा आत्मविकल्प करनेवाले मूढ़ हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं; और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानते हुए ऐसा झूठा विकल्प नहीं करते वे मूढ़ किन्तु ज्ञानी हैं।

स्त्री-पुत्रादिक मेरे कारण पल-पुस रहे हैं, मैं उन्हें जिस प्रकार रखना चाहूँ वैसे रहते हैं, धन-धान्यादि को इस प्रकार लुका-छिपाकर रखता हूँ कि किसी को खबर नहीं हो सकती, मैं ही सारे गाँव का रक्षक हूँ, इस प्रकार अज्ञानी मानता है; वह स्त्री को अर्द्धांगिनी मानता है किन्तु उसका शरीर अलग है और तेरा शरीर अलग है, प्रत्येक का आत्मा अलग है। यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पुत्रियाँ हैं, यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ, यह पहले मेरे थे और मैं भी पहले इनका था, भविष्य में ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा, यह मेरा पालन करेंगे और मैं इनका पालन करूँगा, यह मेरी सेवा करेंगे और मैं सबकी सेवा करूँगा; जो ऐसे झूठे विकल्प करता है वह अज्ञानी, अधर्मी और सच्चा मूर्ख है। और जो उपरोक्तभाव नहीं करता वह ज्ञानी है, धर्मात्मा है।

टीका—यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि—जैसे कोई पुरुष अग्नि और लकड़ी को एकरूप दिखायी देने से एकरूप ही मान ले और यह समझे कि अग्नि लकड़ी की है और लकड़ी अग्नि की है। पहले ऐसा था और भविष्य में भी ऐसा होगा, तो ऐसा विपरीत भाव करनेवाले को अग्नि और लकड़ी के त्रिकाल भिन्न स्वभाव की प्रतीति नहीं है। अग्नि उष्ण है और लकड़ी उष्ण नहीं है, इस प्रकार दोनों का स्वभाव भिन्न है, यह स्पष्ट बात अज्ञानी को मालूम नहीं होती। इस प्रकार आत्मा को अग्नि की, और परद्रव्य को लकड़ी की उपमा दी गयी है। जो ऐसा विचार करता है कि जब तक मैं हूँ तब तक घर, स्त्री, पुत्र,

रुपया-पैसा इत्यादि हैं, और जब तक यह हैं तब तक मैं हूँ, इस प्रकार परद्रव्य की-परवस्तु को अपने आधार पर अवलम्बित माने और अपने स्वभाव को परद्रव्यों पर अवलम्बित माने तो उसे अपने त्रिकाल स्वतन्त्र चैतन्यस्वरूप की प्रतीति नहीं है।

जिसने शरीर को अपना माना है वह शरीर की समस्त क्रियाओं को अपनी मानता है।

आत्मा अखण्डानन्द त्रिकाल पर से भिन्न है, पर के कारण मेरी कोई अवस्था नहीं है, ऐसी जो श्रद्धा है सो आत्मा का व्यवहार है। शरीरादि की जो क्रिया होती है, सो वह मेरी है और मैं मनुष्य हूँ, ऐसी जो मान्यता है सो मनुष्य का व्यवहार है। अज्ञानी जीव पर की सत्ता के साथ अपनी सत्ता को मान लेता है, अर्थात् पर से अपने को हानि-लाभ होना मानता है। जो यह मानता है कि—अपने में पर-पदार्थ की सत्ता प्रविष्ट हो गयी है उसे पर से भिन्न स्वतन्त्र स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, इसलिए वह अधर्मी है। अज्ञानी मानता है कि यह लोग मेरे सम्बन्धी थे, यह वर्तमान में मेरे सम्बन्धी हैं और भविष्य में यह मेरे सम्बन्धी होंगे, किन्तु वास्तव में कोई किसी का त्रिकाल में भी नहीं होता।

अब सीधी दृष्टि से विचार करते हैं। अग्नि, अग्नि की है और ईंधन, ईंधन का है। अग्नि कभी ईंधन की नहीं थी और ईंधन अग्नि का नहीं था। भविष्य में भी अग्नि ईंधन की और ईंधन अग्नि का नहीं होगा। दोनों पृथक् ही हैं, इसलिए त्रिकाल पृथक् ही रहते हैं।

जो जिसके होते हैं, वे उससे कभी अलग नहीं होते। किसी परद्रव्य की अवस्था तेरे हाथ की बात नहीं है। मैं होऊँ तो दूसरे का ऐसा समाधान करा दूँ, मैं दुकान पर बैठूँ तो इतना व्यापार कर डालूँ, इत्यादि मान्यता जिसकी है, वह परद्रव्य को ही अपना स्वरूप मानता है। परद्रव्य मुक्तस्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ, और परद्रव्य परद्रव्य ही है, त्रिकाल में भी मैं कभी परद्रव्य का नहीं था, मैंने कभी परद्रव्य का कुछ नहीं किया। पहले मैं ही अपना था, परद्रव्य परद्रव्य का ही था; मैं भविष्य में अपना होऊँगा और परद्रव्य भविष्य में उसी का होगा, इस प्रकार परद्रव्य से अपने पृथक्त्व का और अपने से परद्रव्य के पृथक्त्व का सच्चा ज्ञान, सच्चा विकल्प जो करता है, वह प्रतिबुद्धि है-ज्ञानी है। धर्मी का वह लक्षण है।

परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हूँ, ऐसा अभिमान जिसके हृदय में रहता है, वह अज्ञानी है और जिसके मन में ऐसा विकल्प नहीं रहता और जो ऐसा नहीं मानता, वह ज्ञानी है।

भावार्थ—आत्मा अनादि काल से अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मान रहा है, उसका लक्षण क्या है ? और वह कैसे पहिचाना जा सकता है ?

जो परवस्तु को अपनी मानता है, वह अज्ञानी का चिह्न है। वह यह कहा करता है कि मुझे कर्मों ने अनादि काल से चारों गतियों में परिभ्रमण कराया है, अभी करा रहे हैं और भविष्य में भी करायेंगे। इस प्रकार जड़ से अपनी हानि मानता है; और यह नहीं मानता कि मैं अपने भावों से ही परिभ्रमण करता हूँ, वह अज्ञानी है।

यदि कोई यह कहे कि 'भूखे भजन न होय गोपाला' और यह माने कि पेट में रोटियाँ पड़ने पर ही आत्मा का गुण प्रगट हो सकता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह रोटियों में से ही आत्मा का गुण प्रगट होना मानता है। क्योंकि उसने रोटियों से आत्मा को माना है, इसलिए पर को अपना माना है, अर्थात् आत्मा को जड़ माना है, वह अज्ञानी है। पर को लेकर आत्मा में धर्म नहीं होता। शरीर साधन कहलाता है किन्तु यह सच्चा साधन नहीं है। शरीर के रजकणों में परिवर्तन होने से, आत्मा को हानि-लाभ नहीं होता। यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि घूमने को जाएँगे तो शरीर अच्छा रहेगा और शरीर स्वस्थ होगा तो आत्मा में स्फूर्ति रहेगी, तथा उससे धर्म होगा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'हमने जो अपनी आँखों से देखा है सो वह सब मिथ्या है;' उससे कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि ही मिथ्या है। किसी ने यह अपनी आँखों से नहीं देखा कि कुनेन से बुखार उतरता है। यदि आँखों से देखा हो, और यह सच हो तो प्रत्येक आदमी का बुखार कुनेन से उतर जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। लोग तो अपने विपरीत अभिप्राय को ही आँखों से देखते हैं। साता का उदय होने पर ही बुखार उतरता है, किन्तु निमित्त से यह कहा जाता है कि दवा से बुखार उतरा है।

जैसे जादूगर डुगडुगी को इधर हिलाता है, तो इधर बजती है और उधर हिलाता है तो उधर बजती है; इसी प्रकार संसार का जादूगर (संसारी जीव) यह मानता है कि मैं संसार को इस प्रकार तैयार करूँ तो वह ऐसा चले, मैंने चतुराई से काम लिया तो ऐसा हो

गया, मैंने अपनी होशियारी से माल खरीदकर रख लिया था, भाव बढ़ गया इससे लाभ हुआ है, किन्तु यह धारण बिल्कुल गलत है। पर का जो होना होता है, सो वही होता है, किन्तु अज्ञानी जीव पर में कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि करता है, वह मानता है कि मुझे पर से ही हानि होती है और पर से लाभ होता है, किन्तु आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है, जगत के किसी परपदार्थ से आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं होता, तीन लोक और तीन काल में कोई परपदार्थ आत्मा का कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है।

यह ग्राम ही ऐसा है कि जिससे मुझे सुख प्राप्त नहीं होता, पानीपत के मैदान में बुरे विचार उत्पन्न हुए, धरती का भी ऐसा असर होता है, इस प्रकार की मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उसी पानीपत के मैदान में से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं।

कोई अज्ञानी जीव इन्द्रियों को राग-द्वेष का कारण मानकर अपनी आँखें फोड़ डाले और कान बन्द कर ले तो इससे क्या होगा? परवस्तु राग या द्वेष का कारण है ही नहीं। परपदार्थ से लाभ-हानि माननेवाला जो पदार्थ अनुकूल होता है, उससे अपना राग नहीं हटाता और जो प्रतिकूल मालूम होता है, उससे द्वेष कम नहीं करता। इस प्रकार अज्ञानी की मान्यता है। अनादि काल से उसकी दृष्टि परपदार्थ पर ही है।

ज्ञानी मानता है कि मेरा आत्मस्वभाव ज्ञायक, शुद्ध चैतन्य है। जो राग-द्वेषादिक होते हैं, वे पर के कारण नहीं किन्तु मेरे अपने पुरुषार्थ की ही अशक्ति से होते हैं, ऐसा जानकर वह राग-द्वेष को दूर करने का उपाय करता है। ज्ञानी की दृष्टि अपने ऊपर ही है।

यह बात अग्नि ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ की गयी है। अब आचार्य भगवान जगत के जीवों पर करुणा करके कलशरूप काव्य कहते हैं:—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥२२॥

अर्थ—हे जगत के जीवो! अनादिकालीन संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर एवं उदय होते हुए ज्ञान का आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में जो आत्मा हैं, वे वास्तव में किसी भी प्रकार से

अनात्मा के साथ कभी भी तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि आत्मा अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।

हे जगत के जीवो! अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये हुए मोह को शरीर, मकान, धन, इत्यादि सर्व परवस्तुओं पर की दृष्टि को अब तो छोड़ो! हे जगत के प्राणियों! अविकारी स्वभाव का नाश करनेवाली शरीर, मन, वाणी, पर की तथा विकारीभाव की दृष्टि को अब तो छोड़ो! जगत के जड़ पदार्थों के रसिकजनों! परपदार्थ पर जो मिथ्याभाव है, उसे अब तो छोड़ो!

चैतन्यमूर्ति आत्मा का स्वरूप पर से भिन्न है, जिसका अनुभव अनादि काल से आज तक कभी भी नहीं किया; इसलिए हे भव्य जीवो! अब तो स्वभाव का अनुभव करो! स्वभाव के रसिकजनों को रुचिकर और उदय को प्राप्त जो ज्ञान-चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव का झरना है, सो उसका रसास्वादन करो, अनुभव करो! सांसारिक स्वाद विष के समान है, उसके साथ स्वाभाविक सुख और ज्ञानामृत के स्वाद की तुलना कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती।

अनादि काल से परपदार्थ के साथ रह रहा है, तथापि भगवान आत्मा ज्ञानानन्द की मूर्ति मिटकर शरीर, मन, वाणी जैसा कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो अलग हैं वे कभी एकमेक नहीं हो सकते। इसलिए तू पर से भिन्न अपने एकरूप स्वभाव का अनुभव कर सकता है।

अज्ञानी ने परपदार्थ के साथ एकत्व मान रखा है, इसलिए भिन्नत्व की मान्यता करना कठिन प्रतीत होती है। आत्मा एक है, परवस्तु अनेक हैं, इसलिए आत्मा उन परवस्तुओं के साथ कभी भी एकरूप नहीं होता। जबकि आत्मा और परपदार्थ कभी भी न तो एकमेक हुए हैं और न हो ही सकते हैं, तो फिर परवस्तुओं का मोह छोड़ो! और एकरूप आत्मस्वभाव का आस्वादन करो! अनादि काल से परवस्तुओं का ज्ञान कराकर कहते हैं कि अनादि काल से जिस मूढ़दृष्टि से आत्मस्वभाव ढका हुआ है, उस मोहदृष्टि को अब तो छोड़ो! ज्ञान के अनाकुल आनन्द का आस्वादन करो! दूसरा कोई भी स्वाद ग्रहण करनेयोग्य नहीं है।

मोह मिथ्या है; परवस्तु को अपना मानना व्यर्थ है, वह सर्वथा विपरीत मान्यता है। मोह वृथा है, मिथ्या है, दु:ख का ही कारण है, इसलिए उसे छोड़कर अब ज्ञान का आस्वादन करो!

अब इस गाथा में आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। अप्रतिबुद्ध का अर्थ है बिल्कुल अज्ञानी जो कि शरीर, शरीर; मन और वाणी से धर्म मानता है, उसे आचार्य समझाते हैं। पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानवर्ती को नहीं समझा रहे हैं, किन्तु बिल्कुल अप्रतिबुद्ध को समझा रहे हैं:—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः।।२३।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्।।२४।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम्।।२५।।

अर्थ—जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह, राग आदि विविध भावों से युक्त है ऐसा जीव यह कहता है कि यह शरीरादिक बद्ध तथा धन-धान्यादिक अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा है। आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोग लक्षणवाला जीव है, सो वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है। तू कैसे कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाए और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को

प्राप्त हो जाए, तो तू यह कह सकता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता)।

जो अनादि काल से धर्म के विषय में बिल्कुल अज्ञान है, जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा और जीव पृथक् हैं, ऐसे अज्ञानी को समझाने के लिए इस गाथा में स्पष्ट कथन है। विशेषत: यह पंचम काल के अज्ञानी जीवों के लिए कहा है।

अज्ञानी जीव मानता है कि-यह शरीरादिक बद्ध तथा धन-धान्य इत्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं और मैं इनका हूँ, यह मेरा कार्य करते हैं और मैं इनका कार्य करूँ। यहाँ बद्ध का अर्थ है निकट एक-क्षेत्र में में रहनेवाले और अबद्ध का अर्थ है दूर-अलग क्षेत्र में रहनेवाले। शरीरादिक बद्ध हैं, क्योंकि वे एकक्षेत्र में रहते हैं, और घर आदिक अबद्ध हैं, क्योंकि वे दूर-भिन्न क्षेत्र में रहते हैं।

एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि के अति निकटरूप से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभाव भावों को अज्ञानी जीव अपना मानता है। वेगपूर्वक बहने का अर्थ यह है कि बाहर के अनेक प्रकार से संयोग-वियोग, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब इत्यादि का एक ही साथ आना और जाना, इच्छा हो और शरीर एकदम चले या न चले, रुपयों-पैसों का आना जाना, यह सब शीघ्रता से होता है और भीतर कर्म के निमित्त से अनेक प्रकार के विकारीभाव होते हैं, यह सब एकदम वेगपूर्वक बहता है, शीघ्रता से भाव बदलते हैं। एक ही साथ एक क्षण में अनेक प्रकार के बंधनों की उपाधि से अति वेगपूर्वक होता हुआ परिणमन वह अस्वभाव है, संयोगभाव है, किन्तु वह स्वभावभाव नहीं है। भावकर्म, द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म का बाह्यफलरूप जो नोकर्म है, उसके संयोग का दल एकसाथ आता है। जैसे कर्म के निमित्त से अपने विपरीत पुरुषार्थ से होनेवाली इच्छा, शरीरादि की प्रवृत्ति और बाह्य संयोग आदि अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि एकसाथ बनी हुई है; ऐसे पर परिणमन के अस्वभाव भावों के संयोग के वश होकर जीव अज्ञानी हो जाता है, और इसीलिए अपने भिन्न निर्मल स्वभाव को नहीं जानता।

अज्ञानी जीव परसंयोग से भिन्न अपने स्वभाव को नहीं समझता। जैसे स्फटिकमणि अपने स्वभाव से शुभ्र है, किन्तु परसंयोग से उसमें रंग दिखायी देता है। स्फटिकमणि स्वयं तो स्वच्छ-निर्मल है, किन्तु उसमें भिन्न-भिन्न रंग दिखायी देते हैं, सो स्फटिक में वह पर की उपाधि है; इसी प्रकार आत्मा मूल स्वभाव से तो शुद्ध निर्मल ही है, किन्तु अनेक प्रकार

के जो शुभाशुभ विकारी उपाधिभाव चैतन्य में परसंयोग से दिखायी देते हैं, अज्ञानी जीव उनके वश में हो गया है, अथवा पर को अपने वश में करता है, और स्वयं दूसरे के वश में हो जाता है। वह अनेक प्रकार के पदार्थों के संयोग से रंगे हुए स्फटिकमणि के समान हैं।

स्फटिक में परसंयोग के समय भी स्फटिक का स्वभाव तो स्वच्छ और निर्मल ही है, किन्तु अन्य वस्तु की निकटता से उसमें रंग दिखायी देता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा का विकारीभाव के संयोग के समय भी निर्मल स्फटिक के समान शुद्ध स्वभाववाला है, परन्तु अत्यन्त निकटवर्ती राग-द्वेष-मोह इत्यादि अनेक प्रकार के अस्वभावभाव के वश होकर जिसकी बुद्धि परवश हो गयी है, जिसकी समस्त भेदज्ञान-ज्योति अर्थात् बोधबीजरूप शक्ति अस्त हो गयी है और जो यह मानता है कि पुण्य-पाप की क्रिया मैं करता हूँ, शरीरादिक क्रिया मैं करता हूँ, विकारीभाव का कर्ता मैं हूँ, वह मेरा स्वभाव है, तथा अपने को ऐसा मानता है कि—दोनों निज में ज्ञाता-दृष्टापन है ही नहीं और मैं तो पर की क्रिया करनेवाला ही हूँ; इस प्रकार अत्यन्त तिरोभूतरूप से अर्थात् स्वभाव के ढ़क जाने से जिसकी भेदज्ञानज्योति अस्त हो गयी है अर्थात् नष्ट नहीं हुई है, किन्तु ढ़ंक गयी है, सूर्य की भाँति अदृश्य हो गयी है, जो चैतन्य के ज्ञानस्वभाव के द्वारा ज्ञात होनेवाले विकारी भावों को अपना मानता है, ऐसा अज्ञानी जीव स्व-पर की भिन्नता न करके अस्वभावभाव को ही अपना मानता है; पर से भिन्नत्व के स्वभाव को भूलकर पुद्गल द्रव्य को और विकारी भाव को अपना मानता हुआ स्वयं अपने से ही विमोहित हो रहा है, किसी ने उसे मोहित बनाया नहीं है, स्वयं अपने आपसे ही भूला हुआ है। किसी ईश्वर ने या किसी कर्म ने उसे नहीं भुलाया है।

जैसे स्फटिकमणि में लाल-पीले रंग का आभास होता है, यह बात असत्य नहीं है, इसी प्रकार कर्म संयोग के समय आत्मा विकारी होता है, यह बात भी असत्य नहीं है। अवस्था में-पर्याय में राग-द्वेष होता है, इसलिये आत्मा पर्याय से अशुद्ध है; किन्तु यदि कोई यह माने कि—आत्मा वर्तमान में विद्यमान अवस्था में भी शुद्ध है तो वह बात असत्य है। पर्यायदृष्टि से भी आत्मा में विकार हुआ ही नहीं, और वह शुद्ध ही है-यह मानना असत्य है। अवस्था में विकारीभाव हुआ है अर्थात् संयोगीभाव के वश हुआ उसी समय अज्ञानी हुआ है और तब वह अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है। विकारीभावों को

भी पुद्गलद्रव्य कहा गया है। यहाँ दो प्रकार से बात कही है, एक चैतन्य द्रव्यदृष्टि और दूसरी पुद्गल द्रव्यदृष्टि। एक ओर राग-द्वेष, पुण्य-पाप का फल, शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति, कुछ करने की इच्छा, द्रव्यकर्म, यह सब परसंयोग का दल है-परदल है, और वह एक ही प्रकार का है, उसका एक ही प्रकार है, पुद्गल के ही भाव हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीति न करके जो और संयोगीभाव हैं सो मैं हूँ, वे मेरे हैं—ऐसी जो दृष्टि है सो पुद्गल द्रव्यदृष्टि है। ऐसी दृष्टिवाला निरा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी है।

दूसरी ओर चैतन्य का दल है, यह पुद्गल के दल से भिन्न है। जो मात्र शुद्ध चैतन्यदल है, सो ही मैं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है सो चैतन्यद्रव्यदृष्टि है। यहाँ द्रव्य के दो भेद किये गये हैं। परसंयोगजनित होनेवाले शुभाशुभभाव को भी जड़ में गिना है और चैतन्य-उपयोग अकेला कहकर जीव को भिन्न किया है।

जो विकारीभाव हैं सो वे परपदार्थ के संयोगवश होनेवाले भाव हैं, वे अस्वभावभाव हैं, आत्मा का स्वभावभाव नहीं हैं। अज्ञानी जीव कर्म की अनेक प्रकार की उपाधि को अपनेरूप में मानता है, इसलिए उसे यह नहीं दिखायी देता कि आत्मा का शुद्धस्वभाव ढ़ंक गया है, और पुद्गल द्रव्य मेरा है-ऐसा अनुभव करता है।

यदि कोई मनुष्य लक्ष्मीचन्द नाम के मनुष्य से मिलना चाहता हो, किन्तु वह यह न जानता हो कि लक्ष्मीचन्द कैसे होंगे या किस स्वभाव के होंगे; तथा लक्ष्मीचन्द को उनके लक्षण द्वारा भी नहीं पहिचानता इसलिए उनके स्थान पर वह पोथीचन्द को भी लक्ष्मीचन्द मान लेगा। इस प्रकार लक्ष्मीचन्द अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप ज्ञान-आनन्द और शान्तिरूप लक्ष्मीस्वभाव को न समझे, न पहिचाने और पोथीचन्द अर्थात् पोथी में ऐसा लिखा है, आगम में ऐसा कहा है, और इस प्रकार मात्र पोथी के पन्ने को बदलता रहे—उसने पोथी में आत्मा को मान लिया है किन्तु पोथी में आत्मा नहीं है। पोथी अलग है, विकारीभाव अलग हैं और आत्मा अलग है, इस प्रकार भिन्न लक्षणों के द्वारा जिसने पृथक् आत्मा को नहीं जाना किन्तु पर को अपना मान लिया है, उसने पोथीचन्द को लक्ष्मीचनद मान लिया है, जो कि लक्ष्मीचन्द से अलग है। जो पर की प्रभा को-आभास को अपना मानता है और अपने स्वभाव को आच्छादित कर बैठा है, ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि

हे दुरात्मन्! तू अपने स्वभाव को भूल रहा है और पर को अपना मान रहा है, यही आत्मा की हिंसा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मन्! तुझे अपने चैतन्यस्वभाव की प्रतीति नहीं है, यही तेरे आत्मा की हिंसा है। पर को अपना मानना और अपने निर्मल स्वरूप को भूल जाना ही हिंसा है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि आचार्यदेव ने पहली गाथा में समस्त आत्माओं को सिद्ध समान कहा था, और यह कहा था कि मेरे तुम्हारे सर्व आत्माओं को सिद्ध समान स्थापित करके बात कर रहा हूँ। इस प्रकार एक बार सभी आत्माओं को सिद्ध कहकर यहाँ दुरात्मा क्यों कहा है?

उत्तर—पहले जो सिद्ध कहा था सो द्रव्यदृष्टि से-स्वभाव की अपेक्षा से कहा था; तेरा जो नित्य ध्रुवस्वभाव है, उस अपेक्षा से कहा था, किन्तु यहाँ तो पर्याय की बात है। पर्याय को सुधारने के लिए कुछ कठोर होकर कहा है, किन्तु उसमें करुणाभाव निहित है, यहाँ अवस्था में रहनेवाली अशुद्धता को दूर करने के लिए कहा है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी 'अधमाधम' शब्द का प्रयोग अवस्थादृष्टि से किया है और पुरुषार्थ को जागृत करके अपनी पर्याय को शुद्ध करने के लिए कहा है। अपनी भूल कहाँ होती है, इसे समझे बिना भूल को दूर करने का क्या उपाय करेगा?

आचार्यदेव दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं कि दुरात्मन्! आत्मघातक अर्थात् आत्मा के अहिंसक स्वभाव को न जाननेवाले। जैसे परम अविवेक पूर्ण खानेवाला हाथी लड्डुओं को तृण सहित खा जाता है, ऐसे अविवेकपूर्ण खाने के स्वभाव को तू छोड़! जैसे हाथी को परम अविवेक के कारण मिष्टान्न के सुन्दर आहार और तृण की खबर नहीं होती इसी प्रकार तुझे तृणवत् पुण्यादि के भाव और मिष्टान्नवत् आत्मस्वभाव के पृथक्त्व का भान नहीं है। ऐसे पर से भिन्न करने के प्रतीतिहीन स्वभाव को तू छोड़! अज्ञानी को मात्र पर का ही स्वाद आता है, उसे अपने निर्मल स्वभाव का स्वाद नहीं आता।

विकार के साथ एकमेक होने से तू अपनी अविकारी स्वभाव को भूल गया है, इसलिए अब स्वभाव के अमृतरस को जानकर पर के स्वाद को छोड़! तू जो कुछ भोग रहा है, वह तेरा स्वभाव नहीं है। कोई पर को नहीं भोगता किन्तु उस पर के प्रति होनेवाली

राग-द्वेष, हर्ष-शोक की आकुलता को ही भोगता है। यह भोग तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए तू उसे छोड़!

सर्वज्ञदेव ने पूर्णस्वभाव से प्रत्यक्ष देखा है कि तेरा स्वभाव भिन्न है। जिसने आत्मा की पूर्णदशा प्रगट की है, तथा समस्त सन्देह दूर किये हैं, ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने कहा है कि तेरा स्वभाव पर से भिन्न है और पर का स्वभाव तेरा नहीं है।

हम तो कुछ नहीं समझते, किन्तु धर्म कुछ होगा-इसका नाम है अनध्यवसाय और विपरीत मानना सो विपर्यय है। भगवान ने ऐसे अनध्यवसाय और विपर्यय को सर्वथा दूर किया है। सर्व दोषों से मुक्त सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि तेरा उपयोगस्वरूप आत्मा पर से बिल्कुल भिन्न है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ही मात्र अकेला नहीं कह रहा हूँ, किन्तु सर्वज्ञदेव का यह कथन है, मैं तो उनके कथन का मात्र एक दलाल हूँ। तू महा अज्ञानी-मूढ़ है, जबकि सर्वज्ञदेव सम्पूर्ण ज्ञानी हैं। आचार्यदेव ने यह नहीं कहा है कि 'मैं कहता हूँ' किन्तु 'सर्वज्ञदेव कहते हैं;' ऐसा कहकर सवयं मात्र बीच में दलालवत् ही रहे हैं। सर्वज्ञ को बीच में रखने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि—स्वयं भी सर्वज्ञ होने की तीव्र आकांक्षा है।

कैसे हैं सर्वज्ञभगवान? जिन्होंने जगत के सर्व पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली अपूर्व अचिंत्य ज्योति को प्रगट किया है। सूर्य, चन्द्रमा तो अमुक स्थान पर ही प्रकाश करते हैं किन्तु यह अपूर्व ज्योति सर्व स्थलों पर प्रकाश करती है। ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने नित्य सम्पूर्ण निर्मल उपयोगस्वभाव को स्वयं प्रगट करके तुझसे कहा है कि आत्मा सदा निर्मल उपयोगस्वभाववाला है।

नित्य उपयोगस्वभाव कहने से यह भी प्रगट होता है कि—द्रव्य की अनादि-अनन्त निरपेक्ष कारणपर्याय भी शुद्ध है। द्रव्य और गुण तो त्रिकाल शुद्ध हैं, किन्तु उनकी निरपेक्ष पर्याय भी शुद्ध है, यह बात इसमें से स्पष्ट ज्ञात होती है।

ऐसे नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का वर्णन भगवान ने किया है। वह चैतन्यस्वरूप आत्मा पुद्गलमय कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि पुद्गल द्रव्य मेरा है, तथा अपने शुद्धस्वभाव को भूलकर परपदार्थ के प्रति ऐसा कहता है कि यह मेरा है? यहाँ द्रव्यदृष्टि को सामने रखकर विचार किया गया है। एक ओर चैतन्यद्रव्यदृष्टि अर्थात्

चैतन्य के अखण्ड पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि है और दूसरी पुद्गलद्रव्यदृष्टि है। पुण्य-पाप, कर्म, शरीर और परसंयोग से होनेवाले शुभाशुभ भावों को जड़ में अन्तर्गत करके एक पुद्गलद्रव्य कह दिया है। उस पर जिसकी दृष्टि है, वह पुद्गलद्रव्यदृष्टि है।

आत्मा शुद्ध, निर्मल, सदा पर से भिन्न है। वह सदा उपयोग* सहित चैतन्यलक्षणवाला है। ज्ञानक्रिया ही शुद्ध आत्मा के निर्मल स्वभाव का लक्षण है।

वस्तु तो सदा स्थिर है, उसका लक्षण भी स्थिर है, उसका लक्षण नित्य शुद्ध निर्मल है। भगवान ने ऐसा नित्य टंकोत्कीर्ण आत्मा एकरूप स्वभाव से देखा है; भला वह कैसे पुद्गल द्रव्यमय हो सकता है, कि जिससे तू पुद्गल द्रव्य में अपनापन मान रहा? चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा परद्रव्य से पृथक् है; यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझायी जा रही है।

यहाँ आत्मा का अधिकार है। आचार्यदेव ने जड़ और चैतन्य दोनों को बिल्कुल अलग बताया है। शरीर, मन, वाणी आदि मेरे हैं, और इनसे मुझे सुख मिलता है, तथा वे परद्रव्य चैतन्य आत्मा का कुछ कर सकते हैं, ऐसा माननेवाले अप्रतिबुद्ध हैं। उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव देखा है, वैसा कहा है।

चैतन्यस्वभाव नित्य उपयोगस्वरूप है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान-दर्शन स्वभाव; भला वह पुद्गल कैसे हो सकता है? और जड़स्वरूप पुद्गल क्यों कर उपयोगस्वरूप हो सकते हैं? आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन की क्रिया का करनेवाला है, वह पर का कुछ करनेवाला नहीं है। जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, वह आत्मा को जड़ मानता है। तू एक स्वभाव से अनाकुल शांतस्वरूप है, उसे भूलकर पर को अपना मान रहा है; किन्तु परपदार्थ तेरा तब हो सकता है जबकि जड़ आत्मा हो जाए और आत्मा जड़ हो जाए; और यदि ऐसा होता हो तो तेरी मान्यता सच कहला सकती है, किन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है और न हो ही सकता है।

शरीर, वाणी, मन-जो कि जड़ हैं, यदि वे आत्मा हो सकते हों, और उनका काम आत्मा कर सकता हो तो तेरा अनुभव सच कहला सकता है, किन्तु ऐसा तो कभी भी किसी भी प्रकार से नहीं होता।

---

* चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः=चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके होनेवाला आत्मा का जो व्यापार है, सो उपयोग है।

अपने पवित्र ज्ञानस्वरूप को भूलकर मैं शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि को भोग सकता हूँ, और यही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार की तेरी मान्यता सच तब हो सकती है, जबकि नमक का पानी और पानी का नमक बनने के समान आत्मा जड़ हो जाए और जड़ आत्मा हो जाए; किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता।

जैसे पानी स्पष्टतया खारा नमक होता हुआ दिखायी देता है, उसी प्रकार यदि शरीर, मकान, कुटुम्ब इत्यादि तेरे आत्मा के होते हुए दिखायी दें तो तेरी मान्यता सच कही जा सकती है; किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता।

नमक लक्ष्य है, और खारापन उसका लक्षण है; ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ देखा जाता है और पानी लवणरूप होता हुआ देखा जाता है, अर्थात् पानी नमकरूप और नमक पानीरूप में परिवर्तित होता हुआ अनुभव में आता है।

जैसे समुद्र का पानी नमक की डली में परिवर्तित हो जाता है, और नमक की डली फिर पानीरूप हो जाती है; अर्थात् खारेपन और प्रवाहीपन के एकसाथ रहने में कोई बाधा नहीं आती और प्रवाही-जल का डलीरूप होने में कोई विरोध नहीं आता, उसी प्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य तथा उसकी जानने-देखनेरूप क्रिया भी नित्य है, उसे पुद्गल द्रव्यरूप में परिवर्तित होता हुआ कभी नहीं देखा जाता।

जैसे नमक की डली का स्वरूप खारा है, इसी प्रकार चैतन्य आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। वह कभी शरीर मन या वाणीरूप में होता हुआ दिखायी नहीं देता। जैसे नमक पानी में गल जाता है, उसी प्रकार आत्मा शरीरादिक पुद्गल द्रव्य में गलता हुआ दिखायी नहीं देता। जिसका व्यापार जानने की-देखने की क्रिया से रहित है, वह जड़द्रव्य चेतनरूप होता हुआ दिखायी नहीं देता।

जैसे नमक की एक पर्याय पानी के रूप में और दूसरी पर्याय डली के रूप में होती है, उसी प्रकार आत्मा की एक अवस्था जानने-देखने की और दूसरी अवस्था जानने-देखने से रहित हो, ऐसा त्रिकाल और तीन लोक में भी नहीं हो सकता।

जिसका परिणमन जानने-देखने की क्रिया से रहित है ऐसे जड़ रजकण (अष्टकर्म की धूल) बदलकर कभी चैतन्यरूप नहीं होते।

जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसी प्रकार ज्ञानदर्शन की क्रिया और जड़ की क्रिया दोनों परस्पर विरोधी हैं, अर्थात् जड़ की क्रिया और चैतन्य की क्रिया दोनों एकद्रव्य में नहीं रह सकतीं।

जैसे अन्धकार में प्रकाश नहीं होता और प्रकाश में अन्धकार नहीं होता, इसी प्रकार शुभाशुभ परिणाम और शरीरादि की क्रिया तेरे ज्ञानप्रकाश में नहीं होती, और तेरा ज्ञानप्रकाश शुभाशुभ परिणाम और शरीरादि की क्रिया में नहीं हो सकता।

जैसे अन्धकार के प्रकाशरूप होने में विरोध है, उसी प्रकार नित्य स्थायी उपयोगलक्षण चैतन्य को अनुपयोगस्वरूप जड़ होने में विरोध है। जड़ की क्रिया चैतन्यस्वरूप हो और चैतन्य की क्रिया जड़रूप हो यह तीन काल और तीन लोक में नहीं हो सकता।

जैसे अन्धकार और प्रकाश एकसाथ नहीं होते, इसी प्रकार जागृत चैतन्यज्योति और जड़स्वरूप अन्धकार कभी भी एकसाथ-एकत्रित नहीं हो सकते। आत्मा के चिदानन्द स्वभाव का, उपाधिरूप विकारीभाव और शरीरादिक जड़ पदार्थों के साथ रहने में विरोध है। न तो जड़ पदार्थ बदलकर आत्मा हो सकता है और न आत्मा जड़रूप हो सकता है।

यहाँ तो पुण्य-पाप के विकार को भी जड़ कह दिया है, अर्थात् द्रव्यों में दो भेद कर दिये हैं। ज्ञान-दर्शन का व्यापार पुण्य-पाप के विकाररूप नहीं होता और पुण्य-पाप का विकार ज्ञान-दर्शन के व्यापाररूप नहीं होता। ज्ञान-दर्शन की आन्तरिक अरूपी क्रिया और जड़ की रूपी क्रिया—दोनों एक ही समय होती हैं, तथापि दोनों भिन्न हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा धर्म अर्थात् तेरा गुण और तेरा सुख क्या आत्मा में से जड़ में चला गया है कि जिससे तू उसे जड़ में ढूँढ़ना चाहता है? और क्या जड़ तेरे आत्मस्वरूप में परिणत हो गया है, कि जिससे तू परपदार्थ में सुख ढूँढ़ने जाता है? स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, किन्तु दूसरे में ज्ञानस्वरूप को ढूँढ़ने जाता है, यह आश्चर्य की बात है। अज्ञानी जीव जड़-अनुपयोग को लक्ष करके कहता है कि-मुझे तेरा ज्ञान है, किन्तु मुझे अपना ज्ञान नहीं है। शरीर कुटुम्ब लक्ष्मी इत्यादि को अपना मान रखा है, इसलिए उनकी देखरेख करता है, किन्तु अपनी देखरेख करना नहीं सूझता। अज्ञानी मानवों को रुपया-पैसा कमाने की बात सरल मालूम होती है किन्तु यदि आत्मा के विचार करने की बात

कही जाती है तो कठिन मालूम होती है।

उपयोगस्वरूप आत्मा में जड़स्वरूप मन, वाणी, देह का और अनुपयोगस्वयप जड़ में चैतन्य उपयोग का अंश भी नहीं है।

परद्रव्य को अपनेरूप मानना सो भ्रान्ति है, और अनुकूलता-प्रतिकूलता में राग-द्वेष का होना अचारित्र है।

भाई! तेरा निरुपाधिक स्वभाव है, अर्थात् उपाधिरहित स्वभाव है जो कि निराकार है। उसमें किसी भी प्रकार का परद्रव्य का आकार* नहीं। शरीर के रजकण और रक्त इत्यादि आकारवाले हैं। शरीर के रजकणों को और रक्त को यह खबर नहीं होती कि—हम किस आकार में और किस रंग में परिणति हुए हैं; शरीर का ऐसा रंग है और ऐसा आकार है यह निर्णय कौन सी सत्ता-भूमिका में किया है? वैसा निर्णय जड़ सत्ता में नहीं होता, किन्तु चैतन्य सत्ता में ही होता है। नित्य ध्रुवस्वरूप ज्ञाता चैतन्य और शरीर तथा रंग के साथ कभी मेल नहीं खा सकता, अर्थात् वे कभी एकमेक नहीं हो सकते।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! जड़ की क्रिया में अपने धर्म को ढूँढ़ना छोड़ दे। इस चैतन्य में अर्थात् जानने-देखने में तेरा धर्म है, सो वह कभी भी जड़ नहीं हुआ है। अब मैं दो द्रव्यों के भेद करके कहता हूँ कि तीन काल-तीन लोक में भी बाह्य में धर्म नहीं है। इसलिए तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्ज्वल करके सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा मानकर अनुभव कर।

तू एक वस्तु है और ज्ञाता-दृष्टा स्वभावस्वरूप है; इसलिए न तो जड़ तेरे लिए सहायक है और न तू जड़ के लिए। इसलिए तुझसे कह रहे हैं कि—विकारीभाव को बदलकर अविकारी हो जा, एक बार सम्पूर्णतया प्रसन्न हो, आनन्दानुभव कर।

'धर्म कैसे होता होगा? धर्म कहाँ मिलेगा? बाह्य में तो अनेक प्रकार के धर्म दिखायी देते हैं' इस प्रकार विचार करके आकुलित मत होना। श्री आनन्दघनजी ने कहा है कि:—

---

* आत्मा परद्रव्य की अपेक्षा से निराकार है किन्तु स्वद्रव्य की अपेक्षा से साकार है।

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म; जिनेश्वर!
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म; जिनेश्वर।

समस्त जगत धर्म-धर्म कह रहा है, किन्तु धर्म का मर्म क्या है इसे लोग नहीं जानते। धर्म अर्थात् आत्मा के स्वभावरूप चरण को ग्रहण करने के कर्म नहीं बँधते। तेरा ज्ञानानन्द चिदानन्दस्वरूप है, उसे पहिचानकर मान, और उसमें स्थिर हो, तो यही धर्म है, तेरे गुण कहीं अन्यत्र नहीं चले गये हैं, वे जड़ में नहीं जा मिले हैं।

२३ से २५ वीं गाथा तक आचार्यदेव ने बिल्कुल अप्रतिबुद्ध को समझाने की स्पष्ट बात कही है। यहाँ चौथे या छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती की बात नहीं है, किन्तु आचार्यदेव महा अज्ञानी से कहते हैं कि तू ऐसा मानना छोड़ दे कि मेरी समझ में नहीं आ सकता। यह ज्ञानमूर्ति आत्मा कभी भी जड़ के साथ एकमेक नहीं हुआ है, इसलिए जड़ और आत्मा दोनों भिन्न पदार्थ हैं। इस प्रकार भलीभाँति जानकर अपने चित्त को उज्ज्वल कर सावधान हो। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, मेरा कुछ बिगड़ा नहीं है, यह समझकर अपने चित्त को उज्ज्वल कर! कहीं अन्यत्र से सुख प्राप्त होगा, ऐसे मलिन भाव को हटाकर उज्ज्वल हो।

जैसे लोक व्यवहार में लड़के के लिए धन-दौलत का हिस्सा बाँटकर दे दिया जाता है, उसी प्रकार आचार्यदेव ने जड़ और चेतन का बँटवारा करके दो भाग कर दिये हैं कि 'तेरा भग तुझमें और जड़ का भाग जड़ में है' इसलिए अब एक बार आनन्दित हो और आश्चर्य कर कि अहो! आनन्दघन चैतन्यस्वभाव ऐसा है? इस प्रकार आनन्द विभोर होकर सावधान हो, अनादिकालीन दशा को बदल दे, उसके बिना तेरे परिभ्रमण का अन्त नहीं आयेगा।

जब किसी का मरण होता है तो कहा जाता है कि मरनेवाले ने महाप्रयाण किया है, इसी प्रकार आचार्य कथित आत्मस्वरूप को समझ लेने पर चौरासी के भवभ्रमण का अन्त आयेगा। अज्ञानी जीव यह मानता है कि शरीर मकान इत्यादि मेरे हैं, किन्तु वह धूल-मिट्टी के अतिरिक्त और क्या है? और जो पुण्य-पाप के परिणाम की क्रिया को अपना मानता है, वह जोंक के समान केवल दुर्गुणग्राही है।

हे भाई! सावधान हो! सावधान हो! यह तेरे हाथ की बात है। आचार्यदेव ने कहीं यह नहीं कहा है कि काल बाधक होता है या पंचम काल बाधा देता है; किन्तु 'सावधान

हो' यह कहकर पुरुषार्थ बताया है। पहले कहा था कि तू स्वयं ही विमोहित हो रहा है और अब कहते हैं कि तू स्वयं ही सावधान हो।

आचार्यदेव कहते हैं कि तू तनिक कह तो कि तुझे क्या चाहिए है, कुछ बोल तो सही! पर पदार्थ को अपना मानने का जो भूत तेरे सिर पर चढ़ा हुआ है, उसे छोड़ दे और सावधान हो जा।

यहाँ जो सावधान होना कहा है सो इसमें मिथ्यात्व का अभाव बताया है और कहा है कि धर्म तुझमें भरा हुआ है; तेरा आत्मा नमक की डली के समान पृथक् चैतन्यमात्र है, वह कभी जड़ नहीं होता।

जड़ कभी आत्मा नहीं होता और आत्मा कभी जड़ नहीं होता, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने दोनों पदार्थ अलग-अलग देखे हैं, तब फिर तूने एक कहाँ से देख लिए? उपयोगस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर हो!

देवाधिदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं कि अब व्यर्थ की मान्यताओं को छोड़ो! सुख और स्वाधीनता का मार्ग तुम्हीं में है।

अब आचार्यदेव तीन गाथाओं का साररूप कलश कहते हैं:—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अर्थ—आचार्यदेव अत्यन्त कोमल सम्बोधन 'अयि' से कहते हैं कि हे भाई! तू किसी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर, इस शरीरादिक मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त के लिए पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर, कि जिससे तू अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर इस शीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को तुरन्त ही छोड़ सके।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो और अनादिकालीन विपरीत मान्यता और महापाप कैसे दूर हो? इसका उपाय बताते हैं।

आचार्यदेव अत्यन्त कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई! क्या यह तुझे शोभा देता है? और वे जागृत करते हुए कहते हैं कि तू किसी प्रकार से महाकष्ट सहन करके अथवा मरकर भी अर्थात् मरण के बराबर कष्ट आयें तो उन्हें भी सहन करके एक बार तत्त्व का कौतूहली हो।

जैसे कोई डुबकी लगानेवाला साहसी पुरुष कुएँ में डुबकी मारकर नीचे से घड़ा निकालकर ले आता है। इसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए चैतन्यरूपी कुएँ में पुरुषार्थ करके गहरी डुबकी लगा और ज्ञानघट को ले आ, तत्त्वों के प्रति विस्मयता ला, और दुनियाँ की चिन्ता छोड़ दे! दुनियाँ तुझे एक बार पागल कहेगी, किन्तु दुनियाँ की ऐसी अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं के आने पर भी तू उन्हें सहन करके, उनकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान कैसे हैं—उन्हें देखने का एक बार कौतूहल तो कर! यदि तू दुनियाँ की अनुकूलता में या प्रतिकूलता में लग जाएगा। तो तू अपने चैतन्यभगवान को नहीं देख सकेगा। इसलिए दुनियाँ के लक्ष्य को छोड़कर और उससे अलग होकर एकबार महाकष्टों से भी तत्त्व का कौतूहली हो।

जैसे सूत और वेत का मेल नहीं खाता वैसे ही जिसे आत्मा की पहिचान करनी हो उसका और जगत का मेल नहीं खा सकता। सम्यग्दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप वेत का मेल नहीं खाता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे बन्धु! तू चौरासी के कुएँ में पड़ा हुआ है, उसमें से निकलने के लिए चाहे जितने उपसर्ग-परीषह आयें और मरण जितना भी कष्ट उठाना पड़े तो भी तू उनकी चिन्ता छोड़कर पुण्य-पाप विकारभाव का दो घड़ी के लिए पडौसी हो तो तुझे चैतन्य दल अलग ही मालूम होगा। शरीरादिक तथा शुभाशुभभाव सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ, इनका पड़ौसी हूँ, इस प्रकार एक बार पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर।

यथार्थ समझपूर्वक निकट में रहनेवाले पदार्थों से मैं अलग हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, शरीर, मन, वाणी इत्यादि बाहर के नाटक हैं, इन सबको नाटकस्वरूप से ही देख, तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तरंग ज्योति से ज्ञानभूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है, सो वह मैं नहीं हूँ; किन्तु उसे जाननेवाला मात्र मैं हूँ, इस प्रकार उसे जान तो सही! और उसे

जानकर उसमें लीन हो जा! आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य करके एकबार पड़ौसी बन।

जैसे किसी मुसलमान का और ब्राह्मण का घर पास-पास हो तो ब्राह्मण उसका पड़ौसी होकर रहता है, किन्तु वह उस मुलसमान के घर को अपना नहीं मानता, इसी प्रकार तू भी परपदार्थों का दो घड़ी के लिए पड़ौसी होकर चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर आत्मा का अनुभव कर।

शरीर, मन और वाणी की क्रिया तथा पुण्य-पाप के परिणाम इत्यादि सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा पर में स्वामित्व मान रखा है, विकारीभावों की ओर तेरा बाहर का लक्ष्य है, वह सब छोड़कर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके एक अन्तर्मुहूर्त के लिए अलग होकर चैतन्यमूर्ति को पृथक्रूप में देख, चैतन्य के विलासरूप आनन्द को कुछ अलग होकर देख, उस आनन्द को अन्तरंग में देखने पर तू शरीरादि के मोह को तत्काल ही छोड़ सकेगा। यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभाव की बात है। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को स्वरूपसत्ता की भूमि में स्थिर होकर देख, तो परपदार्थ सम्बन्धी मोह को झट छोड़ सकेगा।

यदि तीन काल और तीन लोक की प्रतिकूलताओं का समूह एक ही साथ सन्मुख आ उपस्थित हो तो भी मात्र ज्ञातारूप रहकर उस सबको सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है। जिसने शरीरादि से भिन्नरूप आत्मा को जाना है, उस पर इन परीषहों का समूह किंचित्मात्र भी असर नहीं कर सकता, अर्थात् चैतन्य अपने व्यापार से किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता।

जैसे किसी सुकोमल राजकुमार को किसी अग्नि की भयंकर भट्टी में जीवित ही फेंक दिया जाए तो उसे जो दु:ख होता है, उससे भी अनन्त गुना दु:ख पहले नरक में है, और पहले नरक से दूसरे, तीसरे आदि सातों नरकों में एक-दूसरे से अनन्त गुना दु:ख है। ऐसे अनन्त दु:खों की प्रतिकूलता की वेदना में पड़ा हुआ, महाभयंकर घोर पाप करके वहाँ गया हुआ तथा तीव्र वेदना के समूह में पड़ा हुआ होने पर भी कभी कोई जीव यह विचार करने लगता है कि—अरे रे! ऐसी वेदना! इतनी पीड़ा! और ऐसा विचार करते हुए स्वोन्मुख होने पर उसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। वहाँ सत्समागम नहीं है, किन्तु पहले

एकबार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था, इसलिए वर्तमान सम्यक्विचार के बल से सातवें नरक की घोर वेदना में पड़ा हुआ होने पर भी, उस वेदना के लक्ष्य को दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, आत्मा का संवेदन होने लगता है। सातवें नरक में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव को उस नरक की वेदना असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे यह दृढ़ प्रतीति है कि—मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य पर कोई अन्य पदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्त वेदनाओं में पड़ा हुआ जीव भी आत्मानुभव को प्राप्त हो जाता है तो फिर यहाँ तो सातवें नरक के बराबर दु:ख नहीं है, मनुष्यभव पाकर भी व्यर्थ का रोना क्यों रोया करता है ? अब सत्समागम से आत्मा को पहिचानकर आत्मानुभव कर। आत्मानुभव की ऐसी महिमा हे कि परीषह आने पर डिगे नहीं, और एक दो घड़ी के लिए स्वरूप में लीन हो जाए तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, जीवन-मुक्तदशा प्राप्त हो जाती है, और मोक्षदशा प्रगट होती है। तब फिर इस मनुष्यभव में मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो और भी सुगम है।

शंका—आप तो एक अन्तर्मुहूर्त की बात कहते हैं किन्तु हम तो घण्टों बैठकर विचार करते हैं फिर भी क्यों कुछ समझ में नहीं आता ?

उत्तर—अपना निज का ही दोष है; स्वत: समझने की चिन्ता करता, और या तो गुरु का दोष निकालता है या फिर शास्त्रों को दोषी ठहराता है; किन्तु इसमें गुरु का या शास्त्र का कोई दोष नहीं है, जो कुछ दोष है सो तेरा अपना ही है। अभी तक तूने सत्य को समझने की रुचि या जिज्ञासा ही नहीं की। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी अपनी वाणी द्वारा कहकर अलग हो जाते हैं किन्तु समझना तो अपने हाथ की बात है।

अभी तक आचार्यदेव ने अप्रतिबद्ध शिष्य से यह कहा है कि शरीर, मन, वाणी और विकार तेरे नहीं हैं, परोन्मुख होनेवाले शुभाशुभभाव भी तेरे नहीं हैं, तो फिर शरीरादिक तो तेरे कहाँ से हो सकते हैं ? अनादि काल से शरीरादि को अपना मानता चला आ रहा है सो भेदज्ञान के द्वारा उसको पृथक्स्वरूप समझाया है; और कहा है कि पर-पदार्थ का और तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तू यह अनुभव कर कि—चिदानन्द परमात्मस्वरूप आत्मा परपदार्थ से बिल्कुल भिन्न है। तीन काल और तीन लोक में शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, यह बात महा-अज्ञान विमोहित चित्तवाले जीवों को भलीभाँति समझाई है ॥२५॥

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु! आपने अत्यन्त भार देकर कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों बिल्कुल भिन्न हैं, किन्तु मैं शास्त्र का प्रमाण देकर बतला सकता हूँ कि शरीर आत्मा एक है। वह गाथा इस प्रकार है—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः।।

अर्थ—अप्रतिबुद्ध कहता है कि जो जीव है वह शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति की है सो सब मिथ्या सिद्ध होती है; इसलिए हम तो यह समझते हैं कि जो आत्मा है सो वह देह ही है।

अप्रतिबुद्ध पुरुष कहता है कि हे प्रभु! जो जीव है वह यदि नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की आप भी जो स्तुति करते हैं सो वह भी मिथ्या सिद्ध होगी। जब आप स्वयं भगवान की स्तुति करते हैं, तब आप मात्र आत्मा की ही स्तुति नहीं करते और केवल यही नहीं कहते कि भगवान का आत्मा ऐसा है, किन्तु उनकी स्तुति में यह भी कहते हैं कि भगवान का रूप रंग ऐसा था, उनकी दिव्यध्वनि ऐसी थी, उनका आकार-प्रकार ऐसा था इत्यादि; इसलिए मैं समझता हूँ कि जो आत्मा है सो वह शरीर है। आप भले ही भार देकर यह कहते हों कि शरीर और आत्मा बिल्कुल अलग है, किन्तु मैं तो शास्त्राधार पूर्वक यह कह रहा हूँ कि शरीर और आत्मा एक है। शिष्य शास्त्रों को जानता है, और उसी के आधार पर प्रश्न करता है कि जब आप भी भगवान के शरीर की स्तुति करते हैं, तब यह कैसे कहते हैं कि शरीर और आत्मा अलग हैं? यदि आपका कथन सत्य है तो आपकी स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है।

आपकी यह स्तुति इस प्रकार है:—

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

अर्थ—वे तीर्थंकर-आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं-निर्मल करते हैं, अपने तेज के द्वारा उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढँक देते हैं, अपने रूप से लोगों के मन को मोह लेते हैं-हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनि से (भव्य जीवों के) कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं और जो एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।

जब जगत के जीवों की पात्रता स्पष्टतया तैयार होती है, तब कोई एक जीव ऐसा होता है कि जो जगत के जीवों में से उन्नतिक्रम से बढ़ता हुआ, दूसरे जीवों के तारने में निमित्तरूप जगद्गुरु का बिरद लेकर आता है, उन्हें तीर्थंकरदेव कहते हैं। तीर्थंकरदेव उसी शरीर से मोक्ष जाते हैं, वह महापुरुष पुण्य और पवित्रता में परिपूर्ण होते हैं। आचार्यदेव भी छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए, गुण के निधान और विशेष पुण्यवान होते हैं। वे तीर्थंकर और आचार्यवर्य वन्दना करनेयोग्य हैं। वे तीर्थंकरदेव अपने शरीर की कान्ति से दसों दिशाओं को धोते हैं-उन्हें निर्मल करते हैं, उनकी दिव्यध्वनि में से साक्षात् अमृतरस की वर्षा होती है, वे अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि को ढँक देते हैं, इत्यादि कथन शास्त्रों में आता है, और आप ऐसी स्तुति करने को भी कहते हैं, इसलिए हम यह समझते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही है।

जिज्ञासु शिष्य उपरोक्त शंका करता हुआ कहता है कि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर यह लिखा पाया जाता है कि—भगवान ऐसे रूपवान हैं, ऐसे सुन्दर हैं, उनकी वाणी ऐसी सुन्दर है इत्यादि। हमारे पास इनके लिए अनेक शास्त्रीय प्रमाण मौजूद हैं।

शिष्य कहता है कि हे प्रभु! आप बारम्बार यह कहते हैं कि आत्मा शरीर से बिल्कुल अलग है, किन्तु जब आप भगवान की स्तुति करते हैं, तब यह नहीं कहते कि भगवान का आत्मा निर्विकार वीतराग पिण्ड अलग है, और शरीर की स्तुति निमित्त से है।

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर ऐसा स्पष्ट कथन है कि तीर्थंकरदेव का शरीर स्फटिकमणि जैसा हो जाता है, उनके शरीर में सर्वोत्कृष्ट पुण्य होता है, भगवान के शरीर के रजकणों की रचना ऐसी होती है कि जिसमें पुण्य के पूर्ण रस की सामग्री का योग होता है; इसलिए वह

लोगों के मन को हर लेता है। तीर्थंकर भगवान के शरीर में एक हजार आठ लक्षण होते हैं, ध्वजा, जहाज आदि लक्षण होते हैं। उनके होंठ बन्द होते हैं और सम्पूर्ण शरीर में से ॐकारध्वनि खिरती है, जिसे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समझ लेते हैं, वह दिव्यध्वनि भव्य जीवों के कान में साक्षात् अमृत ही पिला देती है, इत्यादि। इसलिए शिष्य का प्रश्न यह है कि—आपने तीर्थंकरदेव की स्तुति करते समय यह न कहकर कि उनका स्वरूप केवलज्ञान केवलदर्शन और निर्विकल्प समाधिस्वरूप है, किन्तु शरीर का वर्णन करके, उसी दृष्टि से भगवान का स्वरूप बताया है। आपने भगवान की स्तुति करते समय कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा कि यह शरीर का रंग-रूप और तेज भगवान के आत्मा का नहीं किन्तु शरीर का है, प्रत्युत आप तो हमें ऐसी स्तुति करना सिखाते हैं कि—हे नाथ! आपकी सुन्दरता ऐसी है, आपका रूप-रंग ऐसा है, आपकी वाणी ऐसी है, और उस प्रकार आप ही भगवान को वाणी और शरीर का स्वामी सिद्ध करते हैं।

यहाँ शिष्य परमार्थ की बात को भूलकर केवल व्यवहार को पकड़ बैठता है और शास्त्र की बात सुनकर अपने को शास्त्राभ्यासी एवं घर का भेदिया मानकर ऐसे कुतर्क करता है।

आचार्यदेव शिष्य को उत्तर देते हुए कहते हैं कि—शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिए शास्त्रों में निमित्त से कथन है कि—भगवान का शरीर ऐसे वर्ण का है और उनकी वाणी ऐसी है इत्यादि। जैसे मिट्टी के घड़े को घी के संयोग से घी का घड़ा कहा जाता है, और ऐसा रूढ़ व्यवहार अनादि काल से चला आ रहा है। यद्यपि घी का घड़ा कहा जाता है किन्तु घड़ा मिट्टी का होता है—यदि यह लक्ष्य में हो तो उस निमित्त के कथन का व्यवहार भी सच कहा जा सकता है; इसी प्रकार शरीर और आत्मा का एक ही स्थान पर रहने का सम्बन्ध है, इसलिए शरीर के द्वारा भगवान की स्तुति की जाती है; किन्तु परमार्थ से तो दोनों द्रव्य अलग ही हैं; यदि यह लक्ष्य में हो तो निमित्त के कथन से होनेवाली स्तुति का व्यवहार भी सच है।

शास्त्र में निमित्त से यह कथन आता है कि आत्मा के साथ कर्म बँधे हुए हैं और कर्म आत्मा के लिए बाधक हैं। यह बात जहाँ आती है, वहाँ निमित्त को ही पकड़ बैठना ठीक नहीं है। परपदार्थस्वरूप जो कर्म हैं सो आत्मा को हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकते

तथापि जगत के जीव व्यवहार-कथन को ही परमार्थ मान बैठते हैं, इसलिए उनके द्वारा 'मूल में भूल' होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! शास्त्रों में दो प्रकार का कथन होता है, एक परमार्थ का और दूसरा निमित्त का। जैसे यह कहा जाता है कि—ज्ञानावरणी कर्म ने आत्मा के ज्ञानगुण को रोक रखा है; किन्तु क्या जड़कर्म चैतन्य आत्मा के गुणों को रोक सकते हैं? सच तो यह है कि स्वयं अपने से रुका हुआ है, किन्तु उपचार से यह कहा जाता है कि-ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञानगुण को रोक रखा है। किन्तु तू अपेक्षा-कथन को नहीं समझता और व्यवहार को परमार्थ के खाते में तथा परमार्थ को व्यवहार के खाते में डाल देता है। भूल तो स्वयं करता है, किन्तु अनादि काल से व्यावहारिक रूढ़िवश ऐसा कहा जाता है कि कर्म भूल कराते हैं। शास्त्रों में अनेक अपेक्षाओं को लेकर, अनेक दृष्टियों से कथन होता है, उसमें व्यवहार की भी हजारों बातें होती हैं। भगवान की वाणी और उनके आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, इसलिए भगवान की स्तुति करते हुए भगवान के आत्मगुणों पर लक्ष्य पहुँचाने के लिए व्यवहारदृष्टि से यह कहा जाता है कि हे भगवन्! आपके मुख से अमृत की वर्षा हो रही।

शिष्य कहता है कि आप व्यवहार की तो बात करते हैं और परमार्थ समझाना चाहते हैं; ऐसी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। मैं तो समझता हूँ कि निश्चय ही शरीर और आत्मा एक ही है।

उसका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि हे भाई! शास्त्रों में व्यवहार और परमार्थ दोनों प्रकार का कथन होता है। एकबार शास्त्र में यह कहा हो कि आत्मा में तीन लोक और तीन काल में भी राग-द्वेष नहीं हैं, वहाँ यह समझना चाहिए कि कथन स्वभाव की अपेक्षा से-द्रव्यदृष्टि से है और उसी शास्त्र में यह भी लिखा होता है कि आत्मा में राग-द्वेष हैं, तो वहाँ यह समझना चाहिए कि-यह कथन वर्तमान अशुद्ध अवस्था की अपेक्षा से-पर्यायदृष्टि से है। इस प्रकार जो कथन जिस दृष्टि से है, उसे उसी दृष्टि से समझना चाहिए, दोनों की खिचड़ी नहीं बना डालनी चाहिए।

जहाँ शास्त्रों में यह कथन आता है कि आत्मा नित्य है, वहाँ द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से नित्य समझना चाहिए और जहाँ शास्त्र में यह कथन होता है कि आत्मा अनित्य है, वहाँ

पर्याय की अपेक्षा से-अवस्थादृष्टि से कहा हुआ समझना चाहिए। यदि कोई अपेक्षादृष्टिपूर्वक कही गयी दोनों बातों को भलीभाँति न समझे और सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य को ही मान बैठे तो वह निरा अज्ञानी है, एकान्तदृष्टि है। आत्मा चिदानन्द भगवान, पर से भिन्न, शुद्ध ज्ञायक है, ऐसी जो दृष्टि है सो परमार्थदृष्टि है-ध्रुवदृष्टि है। प्रतिक्षण बदलनेवाली अवस्था पर जो दृष्टि है सो व्यवहारदृष्टि-भेददृष्टि है।

शास्त्रों में एक स्थान पर मुनियों के लिए ऐसा कहा गया है कि मुनि को ईर्यासमिति पूर्वक देखकर चलना चाहिए और दूसरी जगह यह कहा गया है कि यदि यह मानेगा कि शरीर की क्रिया मेरा आत्मा करता है तो महामिथ्यादृष्टि कहलायेगा। एक डग उठाना भी तो तेरे हाथ की बात नहीं है। यहाँ बुद्धिपूर्वक कथन का पृथक्करण करना चाहिए। जहाँ, यह कहा है कि देखकर चलना चाहिए, वहाँ यह समझना चाहिए कि जब आत्मा अपने निर्विकार शुद्धस्वभाव में सम्पूर्णतया स्थिर न रह सके तब अशुभभावों को दूर करने के लिए शुभभाव करना कहा है, और जब शुभभाव हो अर्थात् परजीवों को दु:ख न देने के भाव हों तब शरीर की क्रिया ऐसी नहीं होती कि जिससे दूसरे जीवों को हानि पहुँचे, लगभग ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। जो चैतन्य के विकारी शुभपरिणाम होते हैं, सो अपने कारण से होते हैं, शरीर की क्रिया शरीर के कारण से होती है, और जो दूसरा जीव नहीं मरता सो उसमें उसकी आयु कारण होती है; इसी प्रकार सबके अपने-अपने कार्य भिन्न स्वतन्त्रतापूर्वक होते हैं, तथापि उपचार से यह कहा जाता है कि इस जीव ने इसे बचाया है।

अपने शुभभाव का निमित्त हो, शुभभावानुसार शरीर की क्रिया का उदय हो और आयु कर्म का उदय हो -ऐसा मेल लगभग हो जाता है, तब उपचार से यह कहा जाता है कि इसके शुभभावों से यह जीव बच गया; किन्तु यदि उसे कोई परमार्थ से ऐसा ही मान ले तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक जीव दूसरे जीव को बचा सके ऐसी शक्ति तीन लोक और तीन काल में भी किसी की नहीं है। किन्तु दूसरे जीव को दु:ख देने के भाव न हों, अर्थात् शुभभाव हों तब शरीर की क्रिया भी दूसरे जीवों को दु:ख देने की नहीं होती; लगभग ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को लेकर दूसरे जीवों को बचाने का और देखकर चलने का उपदेश दिया जाता है। यदि शुभभाव करने से कोई जीव बच सकता हो तो जब

जब शुभभाव हों तब-तब हर बार उसे बच ही जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। जैसे कोई मुनि ईर्यासमिति पूर्वक चले जा रहे हों तथापि उनके पैर के नीचे कोई जीव आकर मर जाए तो मुनि को दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके भाव मारने के नहीं हैं, इसलिए 'देखकर चलना चाहिए' इस कथन का यह भाव है कि—जब सम्पूर्ण अप्रमत्त ध्यान में न रहा जा सके तब हिंसा के अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव में रहने को कहा है। शरीर की क्रिया आत्मा के अधीन नहीं है। चैतन्यतत्त्व पर से भिन्न है, वह पर का कुछ नहीं कर सकता। यदि इसे न समझे और व्यवहार में ही फँसा रहे तो यह ठीक नहीं है ॥२६॥

आचार्यदेव कहते हैं कि तू नय के विभाग को, उसकी व्यवस्था को नहीं जानता। वह नयविभाग इस प्रकार है:—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।२७।।

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः।।२७।।

अर्थ—व्यवहारनय तो यह कहता है कि—जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चय का कहना यह है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

जो एक वस्तु को परवस्तु की अपेक्षा से जानता है, और कथन करता है उस ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं, और जो वस्तु को वस्तु की स्व अपेक्षा से जानता है और कथन करता है उस ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं। जो जानता है सो ज्ञाननय और जो कथन करता है सो शब्दनय। स्व आश्रित वह निश्चयनय, और पर-आश्रित वह व्यवहारनय।

जैसे इस लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक करने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है। सोना और चाँदी—दोनों को गलाकर उन्हें एकत्रित करने से एक पिण्ड हो जाता है, उसे लोग मिलवाँ सोना कहते हैं। यद्यपि यहाँ एक वस्तु नहीं है, किन्तु रूढ़ि से एक पिण्ड का व्यवहार होता है; वास्तव में सोना और चाँदी एकमेक नहीं हुए हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप में परिणत नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त है। जैसे सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर के

परस्पर एकक्षेत्र में रहने से एकत्व का व्यवहार होता है। इसप्रकार व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकत्व है, परन्तु निश्चय से एकत्व नहीं है; आत्मा और शरीर का एकक्षेत्र में रहने का जो सम्बन्ध है, सो वह पर्याय को लेकर है, द्रव्य को लेकर नहीं। दोनों को एकक्षेत्र में रहने की पर्याय की योग्यता है। एकक्षेत्र में रहने पर भी दोनों की पर्याय अलग-अलग है, वह कभी एक नहीं होती। भगवान का केवलज्ञान और दिव्यध्वनि—दोनों की पर्यायें एक स्थान पर होती हैं, तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दिव्यध्वनि और आत्मप्रदेशों का कम्पन—दोनों अवस्थाएँ एक ही स्थान पर होती हैं, तथापि दोनों की पर्याय भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु जो एक ही स्थान पर दोनों की पर्यायें हैं, सो व्यवहार हैं। व्यवहार अर्थात् कथनमात्र है; वह व्यवहार व्यापकरूप से नहीं है। व्यापक का अर्थ यह है कि उस द्रव्य की पर्याय उस द्रव्य में ही हो, दूसरे द्रव्य में न हो; और व्यवहारनय एक द्रव्य की अवस्था को दूसरे द्रव्य की अवस्थारूप से कथन करता है, इसलिए व्यापकरूप से नहीं है।

जैसे सोने का पीलापन इत्यादि और चाँदी का सफेदी इत्यादि स्वभाव है और उन दोनों में अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए वे दोनों एक पदार्थ नहीं हो सकते, अत: उनमें अनेकत्व ही है। इसी प्रकार उपयोगस्वभाववाले आत्मा और अनुपयोगवाले शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से वे दोनों एक पदार्थ नहीं हो सकते, अत: उनका अनेकत्व सदा सिद्ध है।

जैसे सोना और चाँदी—दोनों पृथक् पदार्थ हैं, इसी प्रकार उपयोगस्वरूप अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला आत्मा और अनुपयोगस्वरूप अर्थात् न जानने-देखने के स्वभाववाला जड़ पदार्थ—दोनों सर्वथा भिन्न हैं। उन पृथक् पदार्थों को यथावत् पृथक् ही जानना सो निश्चय और पृथक् पदार्थ में पर का आरोप करना सो व्यवहार है।

यदि व्यवहार में निमित्त को पकड़े और निश्चय को न पकड़े तो जैसा ऊपर शिष्य ने कहा है, वैसे अनेक भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। यद्यपि व्यवहार से कहा जाता है कि-यह भगवान का शरीर है, किन्तु परमार्थ से भगवान और शरीर दोनों पृथक् हैं।

'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और' होते हैं। इसी प्रकार शास्त्र के कथन

का भेद समझने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्र में व्यवहार का कथन बहुत होता है, किन्तु जितने व्यवहार के-निमित्त के कथन होते हैं, वे अपने गुण में काम नहीं आते अर्थात् पेट भरने में काम नहीं आते, मात्र वे बोलने में काम आते हैं। आत्मा परमार्थ से पर से भिन्न है -ऐसी श्रद्धा करके उसमें लीन हो तो आत्मजागृति हो। जो परमार्थ है सो व्यवहार में-बोलने में काम नहीं आता, किन्तु उसके द्वारा आत्मा को शान्ति होती है, ऐसा यह प्रगट नयविभाग है।

ऐसे नय विभाग को न समझकर मात्र व्यवहार को ही पकड़कर कहता है कि—हम परदु:खभंजन हैं। किन्तु वास्तव में इसका अर्थ तो यह है कि—स्वयं दूसरे के दु:ख को देखकर कातर हो जाता है, और उस वेदना को स्वयं नहीं कर सकता इसलिए उसे मिटाने के लिए अपना समाधान करता है और बीच में दूसरे निमित्तरूप से आते हैं। जब बीच में दूसरे का निमित्त आता है, तब लोगों को यह दिखायी देता है कि इसने उसका दु:ख दूर किया है; किन्तु कोई पर का दु:ख दूर नहीं कर सकता। निम्न भूमिका में शुभाशुभभाव आये बिना नहीं रहते, इसलिए स्वयं अपने भाव का ही समाधान करता है।

प्रश्न—यदि आँखें बन्द करके बैठे तो आत्मप्रतीति होगी या नहीं?

उत्तर—आँखें बन्द करने से क्या हो जानेवाला है। यदि अन्तरंग के ज्ञाननेत्रों को जागृत करे तो राग-द्वेष न हो। जो वीतराग निर्विकल्प आनन्दगुण है, वही गुण विकारी होता है, पर से विकार नहीं होता; इसे न समझे और आँखें बन्द करके बैठा रहे या कान में खीले ठोककर बैठ जाए तो वह केवल भ्रान्ति है। जो यह मानता है कि—आँखें बन्द कर लेने से रूप नहीं दिखायी देगा, और कानों में खीलें ठोकने से शब्द नहीं सुनायी देगा, अर्थात् सत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होगा; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसने यह माना है कि परपदार्थ मुझे राग-द्वेष कराता है, और ऐसा माननेवाले ने निमित्त पर भार दिया है। आँख बन्द करके और कान बन्द करके तो वृक्ष भी खड़े हुए हैं (वृक्ष के आँख-कान होते ही नहीं हैं) इसलिए उन्हें भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिए, किन्तु स्वयं ही अपने स्वभाव को भूलकर पर में भटक रहा है इसलिए राग-द्वेष होता है; कोई दूसरा-परपदार्थ राग-द्वेष नहीं करा देता। आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वभावी है, उसे अपने में न जानकर, अपने विकास को भूलकर विकार में लग जाना ही परमार्थत: बन्धन है।

व्यवहारनय पर की अपेक्षा से एकक्षेत्र में रहना बतलाकर उपचार से यह कहता है कि शरीर और आत्मा एक है। अत: व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान! आप एक बार आत्मा को अलग कहकर फिर व्यवहार से ऐसी स्थिति सिखलाते हो सो यह कुछ मेरी समझ में नहीं आता, हम तो सरल और सीधी बात समझ सकते हैं।

आचार्य कहते हैं कि जो परपदार्थ है, वह त्रिकाल में भी कभी अपना नहीं होता, इसलिए पर को अपना बनाना ही दुर्लभ है और अपना स्वभाव जो कि अपने ही पास है, उसे समझना ही सरल है, किन्तु अनादिकालीन अनभ्यास के कारण वह कठिन मालूम होता है।

जो शरीर वाणी और रंग-रूप को आत्मा कहा है सो तो व्यवहार से बोलने की रीति है। जैसे भगवान पार्श्वनाथ कृष्णवर्ण थे, भगवान नेमिनाथ श्यामवर्ण थे और भगवान महावीर स्वर्णवर्ण थे, यह सब व्यवहार से कहा जाता है किन्तु शरीर और आत्मा तीन लोक और तीन काल में कभी भी एक नहीं हैं। भगवान की प्रतिमा की ओर देखकर कहता है कि हे भगवान! मेरा उद्धार करो! किन्तु वह यह भूल जाता है कि—भगवान अपनी ओर-स्वयं ही है, और मात्र निमित्त की ओर देखता है, मानों परपदार्थ में से ही गुण-लाभ प्राप्त होता है! किन्तु यह तो विचार कर कि गुण का सम्बन्ध गुणी के साथ होता है या पर के साथ? स्वयं निर्विकल्प वीतराग स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता इसलिए निमित्त की ओर का शुभ विकल्प उठता है, अत: स्तुति में लग जाता है, किन्तु भगवान कौन हैं, यह प्रतीति हुए बिना यह मानना कि परपदार्थ से मुझे गुण-लाभ होता है, सो पराश्रित मिथ्यादृष्टिता है।

भगवान को 'तरणतारण' कहा जाता है, किन्तु जीव तरता तो अपने भाव से ही है, फिर भी वीतराग के प्रति बहुमान होने से विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि हे भगवान! आपने मुझे तार दिया। जब अपने में तरने का उपाय जान लिया तब निमित्त में उपचार से कहा जाता है। स्वयं अभी अपूर्ण है और वीतराग होने की तीव्र आकांक्षा है, इसलिए देव-गुरु-शास्त्र के प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता, विनय हुए बिना नहीं रहती। ऐसा नयविभाग है।

अभी तक आचार्यदेव ने यह कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों पृथक् हैं, क्योंकि यह शरीरादि तो अजीव जड़वस्तु है और वह रूपी है; तथा आत्मा चैतन्य एवं अरूपी है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, बल इत्यादि अनन्त गुण अरूपी हैं; आत्मा स्वयं अरूपी हैं, उसके गुण अरूपी हैं, और उसकी पर्याय भी अरूपी है, तथा शरीरादिक जड़ हैं जो कि रूपी हैं; इसलिए दोनों पदार्थ अलग हैं। इसलिए रूपी से अरूपी को कोई लाभ नहीं हो सकता और उस रूपी से धर्म भी नहीं होता। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण वीतरागस्वरूप है, यदि उसको पहिचानकर उसमें स्थिर हो तो धर्म हो ॥२७॥

शिष्य ने प्रश्न किया था कि हे प्रभु! आपने तो जड़ और आत्मा दोनों को पृथक् कहा है, और मात्र आत्मा के ही गीत गाये हैं, किन्तु प्रभो! आप भी भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें अनेक प्रकार की ऐसी उपमाएँ देते हैं कि-आपका मुख चन्द्रमा से अधिक उज्ज्वल है और सूर्य से भी अधिक प्रतापी है; तथा शास्त्रों में भी अनेक स्थलों पर ऐसा ही कथन है, एवं ज्ञानियों और मुनियों इत्यादि ने भी भगवान के शरीर की स्तुति करके भगवान की स्तुति की है; इसलिए हम भी यही समझते हैं कि शरीर के गुणों से भगवान की स्तुति होती है, शरीर का गुणगान करने से आत्मा का गुणगान होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि शरीर और आत्मा एक है। यदि शरीर और आत्मा एक न हो तो ज्ञानी और मुनिगण शरीर की स्तुति से भगवान की स्तुति क्यों करते हैं ? और इसीलिए हमको यह बात नहीं जमती कि शरीर और आत्मा अलग हैं।

निम्नलिखित गाथा में इस बात का विशेष स्पष्टीकरण करते कहा है कि:—

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं।।२८।।

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान्।।२८।।

अर्थ—जीव से भिन्न इस पुद्गल देह की स्तुति करके साधु यह मानते हैं कि हमने केवली भगवान की स्तुति की है, उनकी वन्दना की है।

जैसे परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव न होने पर भी चाँदी का गुण जो सफेदी

है, उसके नाम से स्वर्ण का नाम 'श्वेतस्वर्ण' कहा जाता है, सो यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है।

जैसे सोने को और चाँदी को गलाकर एक पिण्ड किया जाता है, और उसे 'श्वेतस्वर्ण' व्यवहार से कहा जाता है। किन्तु परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, तथापि पीलापन मिटकर सफेदी दिखायी देती है इसलिए उसे श्वेतस्वर्ण कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर एक स्थान पर अपनी-अपनी योग्यता से रह रहे हैं। उस आत्मा और शरीर को एक स्थान पर रहने का जो सम्बन्ध है सो द्रव्य की अपेक्षा से नहीं, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से है; किन्तु एकक्षेत्र में रहने पर भी दोनों पृथक् हैं।

मुनिगण और ज्ञानीजन शरीर के द्वारा भगवान की स्तुति करते हैं, किन्तु उन्हें अन्तर में यह प्रतीति वर्तती है कि भगवान देह से अलग हैं, भगवान का आत्मा और भगवान का शरीर दोनों एकक्षेत्र में रह रहे हैं इसलिए शरीर का आरोप भगवान के आत्मा पर करके उनकी स्तुति में यह कह दिया जाता है कि भगवान स्वर्णवर्ण हैं। वास्तव में तो भगवान देह से सर्वथा भिन्न हैं। भगवान की जो वाणी खिरती है, सो वह भी उनकी इच्छा के बिना ही खिरती है। जो वाणी खिरती है, उसमें भगवान की उपस्थितिमात्र का सम्बन्ध है, इसलिए ऐसा उपचार से कहा जाता है कि हे नाथ! आप दिव्यवाणी की अमृतवर्षा करते हैं। जहाँ केवलज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है वहीं ऐसी दिव्यवाणी का योग होता है, दिव्यवाणी के समय केवलज्ञान की विद्यमानता का ही सम्बन्ध है, अर्थात् ऐसी वाणी का योग केवलज्ञानी के अतिरिक्त अन्य किसी के नहीं हो सकता। ऐसा निमित्त की उपस्थिति मात्र का सम्बन्ध है - यह लक्ष्य में रखकर श्रावक और मुनिगण विवेकपूर्वक भगवान के शरीर और उनकी वाणी को निमित्त बनाकर स्तुति करते हैं; ऐसी प्रतीतिपूर्वक होनेवाली स्तुति व्यवहारस्तुति कहलाती है। जहाँ ऐसी प्रतीति नहीं होती वहाँ की जानेवाली स्तुति व्यवहार से भी स्तुति नहीं है।

भक्तजन स्तुति-पाठ में कहा करते हैं कि 'सिद्धा सिद्धं मम दिसंतु' अर्थात् हे सिद्ध भगवान! आप हमें सिद्धपद दीजिये। किन्तु भगवान किसी को मुक्ति नहीं दे देते। जिसे ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है कि यदि साक्षात् सिद्ध भगवान ही उतर आयें तो भी वे किसी को मुक्ति नहीं दे सकते, मैं स्वयं ही ज्ञानमूर्ति पूर्ण सिद्ध समान हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है, मेरे

पुरुषार्थ के द्वारा ही मेरी सिद्धपर्याय प्रगट हो सकती है; वही विनयपूर्वक भगवान को आरोपित करके कहता है कि हे सिद्ध भगवान! मुझे सिद्धपद दीजिये, और जब इस प्रकार समझपूर्वक स्तुति करता है तब उसकी इस बाह्यस्तुति को व्यवहार कहा जाता है। ऐसे निश्चय की प्रतीतिपूर्वक होनेवाले स्तुति के शुभपरिणाम अशुभ से बचाते हैं, इसलिए व्यवहार कथंचित् सत्य है। जब अन्तरंग आत्मा में परमार्थ-स्तुति प्रगट होती है तब बाह्यस्तुति को निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी का लक्ष्य मात्र भगवान के शरीर पर ही रहता है, और वह मात्र शारीरिक दृष्टि रखकर ही स्तुति करता है, इसलिए उसकी स्तुति यथार्थ नहीं है; व्यवहार से भी उसकी स्तुति ठीक नहीं है; अज्ञानी मात्र भगवान के पुद्गलरूप शरीर पर ही लक्ष्य रखकर भगवान के शरीर को ही भगवान मानकर स्तुति करता है; जैसे सोलह भगवान स्वर्णवर्ण और शेष आठ भगवान रक्त, श्याम आदि वर्ण के हो गये हैं, इस प्रकार अज्ञानी जीव शरीर पर ही लक्ष्य रखकर स्तुति करता है इसलिए उसका व्यवहार भी सत्य नहीं है। इस प्रकार की स्तुति करते हुए यदि कषाय को मन्द करे तो शुभभाव होता है और उससे पुण्यबन्ध होता है, किन्तु आत्मप्रतीति के बिना भव-भ्रमण दूर नहीं होता।

जिनेन्द्रस्तवन में अनेक जगह यह कहा जाता है कि स्वर्णवर्ण वाले सोलहों जिनेन्द्रों की वन्दना करता हूँ; किन्तु वह निमित्त से कथन है; क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान वर्णवाले थे? वास्तव में भगवान वैसे स्वर्णवर्ण के नहीं थे, किन्तु जिन्हें ऐसा भान नहीं है, वे अज्ञानी जीव शरीर को ही भगवान मान लेते हैं। भगवान सुवर्ण वर्ण हैं, चलते हैं, बोलते हैं, इसप्रकार जो एकान्तभाव से मानता है, वह व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है; वह शरीर के गुण गाकर भगवान को ही वैसा मान लेता है। इस प्रकार माननेवाला भगवान की सच्ची स्तुति नहीं कर सकता और न वह वीतराग का भक्त ही है। जगत के अज्ञ जीव व्यवहार और निश्चय में गड़बड़ करके व्यवहार को ही निश्चय मान लेते हैं।

यदि अज्ञानी जीव ऐसी स्तुति करता हुआ राग को कम करे तो मात्र पुण्य का बन्ध करता है, किन्तु इससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। अज्ञानी के स्तुति का व्यवहार अर्थात् भगवान के शरीर पर जो आरोप करता है वह भी यथार्थ नहीं है।

जिसे सोने के पीले गुण के स्वभाव की खबर है वह सोने पर सफेदी का आरोप

कर सकता है, किन्तु जिसे यह खबर ही नहीं है कि सोना कैसा होता है उससे आरोप ही क्या होगा ? अर्थात् उसका आरोप भी सच नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिन्हें ऐसी प्रतीति है कि मेरा आत्मा पर से भिन्न है, ज्ञायकस्वरूप है, वे मुनि आदि ज्ञानीजन यह जानते हैं कि भगवान का आत्मा शरीर आदि से भिन्न है, इसी प्रकार मेरा आत्मा शरीर आदि से रहित है, इस प्रकार दोनों को अलग जानकर जो शरीरादि की स्तुति करता है, वही भगवान की स्तुति कर सकता है, और उसके द्वारा भगवान के आत्मा पर शरीर एवं वाणी का किया गया आरोप भी सच है और वही वीतराग का सच्चा भक्त है। जिसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति है, उसके द्वारा किया गया आरोप भी सच है। आरोप का अर्थ है एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ को घटित करके कहना, किन्तु जिसे वस्तु के पृथक् स्वभाव की प्रतीति नहीं है, वह आरोप को ही वस्तु मान लेता है, इसलिए उसका आरोप ही कहाँ रहा ?

भगवान अरूपी हैं और शरीरादिक रूपी हैं, अरूपी भगवान शरीरादि रहित हैं, और जो शरीरादि हैं वह भगवान नहीं हैं। ज्ञानी को यह प्रतीति होती है कि मैं जो शरीर के गुणों की स्तुति करता हूँ, सो वे परमार्थ से भगवान के गुण नहीं हैं। जिनेन्द्र भगवान के जो वीतरागता, सर्वज्ञता, अनन्त चतुष्टय आदि अनन्त गुण हैं, वे जिनेन्द्रदेव के आत्मा में हैं और शरीरादि से भिन्न हैं। ऐसे लक्ष्यसहित जैसे जिनवर के गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मा में हैं, इस प्रकार जो जिनेन्द्रदेव के गुणों की स्थापना अपने आत्मा में करके स्तुति करता है सो वही सच्ची स्तुति है।

ज्ञानी समझता है कि मेरा आत्मा पूर्ण आनन्दसागर अरूपी है, इसलिए अरूपी की स्थिति ही अरूपी होती है। जिनेन्द्रदेव का आत्मा और मेरा आत्मा भिन्न हैं, इसलिए पर-दृष्टि छोड़कर अन्तरंग स्वभाव में स्थित होना ही सच्ची परमार्थ स्थिति है। अपने स्वरूप में पुण्यादि का विकल्प छोड़कर स्थिर हो तो भगवान को आरोपित करने की आवश्यकता न रहे और यही निश्चय स्तुति है। किन्तु स्वयं स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए स्व-सन्मुख दृष्टि स्थापित करके, स्व-पर के भेदपूर्वक जिनेन्द्रभगवान पर लक्ष्य रखकर स्तुति करने का जो शुभ विकल्प उठता है, सो वह व्यवहारस्तुति है। जितना स्वरूप में स्थिर होना है, सो निश्चयस्तुति है और जितना शुभविकल्प में युक्त होना है, सो व्यवहारस्तुति है।

जैसे भगवान का आत्मा शरीरादिक और पुण्य-पाप के विकार से रहित है, उसी प्रकार शरीरादिक मेरे नहीं हैं, और पुण्य-पापरूप विकारभाव मेरा स्वभाव नहीं है; ऊँचे से ऊँचा जो शुभविकल्प उठता है, सो वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रतीति ज्ञानी को निरन्तर रहती है। ऐसे भिन्न आत्मा की प्रतीतिपूर्वक स्वरूप में सर्वथा स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए अशुभ से बचने के लिए शुभविकल्प (भगवान की स्तुति का) आता है, सो व्यवहार है, और जितने अंश में प्रतीति ज्ञान और स्थिरता होती है, उतनी निश्चयस्तुति है।

स्तुति का जो शुभविकल्प है, सो असद्भूत व्यवहारनय है। क्योंकि वह अपना स्वभाव नहीं है इसलिए असद्भूत है; किन्तु अपनी अवस्था में विकार अवश्य होता है, वह व्यवहार है, और उसका ज्ञान करना सो नय है; और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि का जो पुरुषार्थ है सो सदभूत व्यवहारनय है। क्योंकि वह अपना स्वभाव है इसलिए सद्भूत है। साध्य-साधक का भेद होता है, इसलिए व्यवहार है, अभेद में भेद पड़ता है इसलिए व्यवहार है; उसका ज्ञान करना सो नय है। अपूर्ण और विकारी पर्याय से रहित अखण्ड पूर्ण ज्ञायकस्वभाव का जो ज्ञान है सो निश्चयनय है। इस नय के प्रकार आत्मा का परिचय होने के पश्चात् धर्मात्मा के ही होते हैं-दूसरे के नहीं।

प्रश्न—व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, और शरीर जड़ है, ऐसी स्थिति में व्यवहारनय के आश्रय से जड़ की स्तुति करने का क्या फल है ?

उत्तर—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा हुई कि पूर्ण स्वभाव की प्रतीति हो जाती है; और प्रतीति के होते ही उसी समय पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाए ऐसा नहीं होता, इसलिए बीच में पुण्य-पाप के परिणाम आये बिना नहीं रहते, अर्थात् अशुभ से बचने के लिए शुभभाव के अवलम्बन में भगवान की प्रतिमा इत्यादि का निमित्त आता है, सो व्यवहार है, जो कि कथंचित् सत्यार्थ है। व्यवहार व्यवहार से सच है, किन्तु परमार्थ से असत्यार्थ है। शुभभाव भगवान के निकट नहीं पहुँचाता किन्तु यदि शुभभाव का नाश करके शुद्धभाव प्रगट करे तो वह भाव भगवान (आत्मा) तक पहुँचा देता है, इसलिए वह व्यवहार असत्यार्थ है। किन्तु जब तक साधक है, अपूर्ण है तब तक शुभपरिणाम आये बिना नहीं रहते, इसलिए व्यवहार कथंचित् सत्य है। देव-गुरु-शास्त्र की ओर उन्मुख करनेवाला शुभभाव होता है यह जानना सो व्यवहारनय है। जब स्वयं

समझे तब शुभभाव और देव-गुरु-शास्त्र निमित्त कहलाते हैं, निमित्त का निमित्त के रूप में ज्ञान में स्वीकार करना सो व्यवहारनय है। निमित्त के बिना नहीं होता किन्तु निमित्त से भी नहीं होता; जो निमित्त को सहायक मानता है सो मिथ्यादृष्टि है। निमित्त आये बिना नहीं रहता किन्तु निमित्त से कुछ होता नहीं है। जिसे निश्चय की प्रतीति है, उसका व्यवहार यथार्थ है, और वहाँ ही सच्चा निश्चय तथा व्यवहार है। किन्तु जिसे निश्चय की प्रतीति नहीं है, वह व्यवहार को ही निश्चयरूप मान बैठा है; उसके न निश्चयनय है और न व्यवहारनय ही। जो व्यवहार को आदरणीय मानता है, सो मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो ज्ञानी के विवेक की बात है। प्रतीति के बिना शरीर के लक्षणों से भगवान की स्तुति करे तो पुण्यबन्ध करता है, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

संसार की प्रशंसा करने के और स्त्री-पुत्रादि की प्रशंसा करने के भाव निरे पापभाव हैं, मात्र अशुभभाव हैं। भगवान के गुणों की प्रशंसा और स्तुति करने के भाव शुभभाव हैं। अशुभभावों को दूर करके शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि उससे धर्म होगा तो वह मिथ्यादृष्टि है। जितनी पुण्यभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है वह मैं नहीं हूँ, वह मुझे किंचित्मात्र भी सहायक नहीं है। जिसे यह प्रतीति है कि—मेरा आत्मलाभ पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है, उसे भगवान की ओर उन्मुख होने का शुभभाव होता है; इसे समझना सो सच्चा व्यवहारनय है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि जड़ की स्तुति करने का क्या फल है ? उसका उत्तर यह है कि—साक्षात् जिनेन्द्रदेव या उनकी प्रतिमा की शान्तमुद्रा को देखकर अपने को भी शान्तभाव होता है, ऐसा निमित्त जानकर शरीर का आश्रय लेकर भी स्तुति की जाती है। वीतराग की शान्तमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है, यह भी उपकार (निमित्त) है। छद्मस्थ को अरूपी आत्मा प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता, किन्तु उसकी प्रतीति हो सकती है, इसलिए भगवान की प्रतिमा की अक्रिय मुद्रा को देखकर अपने आत्मा के अक्रिय स्वभाव का निश्चय होता है। अपने अक्रिय स्वभाव का तथा वीतराग स्वभाव का निश्चय हुआ और स्व में स्थिर हुआ सो यह अपने ही वीर्य से होता है, उसमें निमित्त ने कुछ नहीं किया किन्तु उस समय भगवान की मुद्रा की निमित्तरूप उपस्थिति होने से भगवान सम्यग्दर्शन होने में कारण (निमित्त) कहे जाते हैं, यह भी उपकार (निमित्त) है।

ज्ञानी को स्वभाव की शान्ति प्रगट होती है; उसे भगवान की शान्ति, उनकी अक्रियता और वीतरागी मुद्रा देखकर अपने में शान्तभाव होता है, और ऐसी प्रतीति होती है कि मैं तो अक्रिय ज्ञानानन्द हूँ, मन-वाणी की क्रियारूप नहीं हूँ; तथा वहाँ भगवान की ओर उन्मुख होता हुआ शुभलक्ष्य है, किन्तु भगवान की निमित्तरूप उपस्थित में उनकी वीतरागता को देखकर अपनी वीतरागता का स्मरण स्वत: हो आता है, और तब अपने द्वारा अपना लक्ष्य करके अन्तरंग वीतरागभाव में स्थिर हो जाता है, अर्थात् शुभभाव छूट जाता है। इस अपेक्षा से भगवान की और उनकी प्रतिमा को शान्तभाव प्रगट होने में निमित्त कहा जाता है। यदि इसमें कहीं कोई शब्द उल्टा-सुलटा हो जाए तो सारा न्याय ही बदल सकता है। तीन काल और तीन लोक में यह सत्य नहीं बदल सकता।

धर्मात्मा जब परलक्ष्य को छोड़कर और विकल्प को तोड़कर अन्तरंग में स्थिर होते हैं, तब भगवान की ओर का विकल्प नहीं रहता। स्वोन्मुखता से परोन्मुखता को छोड़कर अपने पुरुषार्थ से शान्ति प्रगट हो तो जो भगवान की ओर का बाह्य लक्ष्य किया था, उस बाह्य लक्ष्य को और भगवान को उपचार से निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसे भगवान की मुद्रा देखकर अक्रिय स्वभाव का निश्चय नहीं हुआ और शान्तभाव प्रगट नहीं हुआ, उसे भगवान का निमित्त कैसा ? यदि स्वयं समझे तो भगवान निमित्त कहलाते हैं ॥२८॥

अब इस गाथा में कहते हैं कि शारीरिक गुणों का स्तवन करने से परमार्थत: केवली भगवान के गुणों का स्तवन नहीं होता:—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि।।२९।।

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिन:।
केवलिगुणान् स्तौति य: स तत्त्वं केवलिनं स्तौति।।२९।।

अर्थ—वह स्तवन निश्चय से योग्य नहीं है, क्योंकि शरीर के जो गुण हैं वे केवली के नहीं हैं; जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

जैसे चाँदी के सफेद गुण का सोने में अभाव है, इसलिए निश्चय से सफेदी के नाम

से सोने का नाम नहीं बनता, किन्तु सोने के पीत आदिक जो गुण हैं, उन्हीं के नाम से सोने का नाम होता है; इसी प्रकार शरीर के गुण जो शुक्लता-रुक्तता इत्यादि हैं, उनका तीर्थंकर-केवली पुरुष में अभाव है, इसलिए निश्चय से शरीर के शुक्लता-रक्ततादि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवली पुरुष का स्तवन नहीं होता; किन्तु तीर्थंकर-केवली पुरुष के स्तवन करने से ही तीर्थंकर-केवली पुरुष का स्तवन होता है।

जैसे चाँदी का गुण सफेद है, इसलिए सोने में चाँदीपन के गुण का अभाव है, इसी प्रकार भगवान के शरीर में जो एक हजार आठ लक्षण हैं, वे भगवान के आत्मा में नहीं हो सकते। वाणी वाणी में है, और शरीर के गुण शरीर में हैं। वह जड़ है इसलिए शरीर का और वाणी का कोई कर्तव्य भगवान के आत्मा में नहीं हो सकता, इसलिए परमार्थ से उस शरीरादि की स्तुति या भक्ति भगवान की नहीं है, किन्तु भगवान के गुणों की स्तुति भगवान की स्तुति है। देव-गुरु-शास्त्र की ओर होनेवाले जो भाव हैं, उन्हें छोड़कर स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के साथ स्वरूप में स्थिर होना सो यही सच्ची परमार्थ स्तुति और भक्ति है, यही सच्चे व्रत हैं। वास्तव में तो स्वयं ही चिदानन्द है और पर से अलग है, जब ऐसी श्रद्धा करे तब उसके बाद स्तुति का जो शुभभाव आता है, उसके व्यवहार से बाह्य में केवली के गुण गाता है-ऐसा कहा जाता है, किन्तु निश्चय से तो अपने गुणों की ही स्तुति करता है।

शरीर का स्तवन करने से भगवान का स्तवन नहीं होता, परन्तु भगवान के आत्मा के गुणों का स्तवन करने पर भगवान का स्तवन होता है। यदि वास्तव में देखा जाए तो भगवान के गुणों का स्तवन करने पर निश्चय से अपने आत्मा का ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थ स्तुति है। इस प्रकार शरीर के स्तवन से भगवान का स्तवन नहीं होता किन्तु भगवान आत्मा के गुणों का जो स्तवन है, सो वही परमार्थ से भगवान का स्तवन है और जो भगवान के गुणों का स्तवन है, सो अपने आत्मा का स्तवन है, और यही सच्ची स्तुति है। अखण्डस्वभाव की जो स्तुति है, सो केवली भगवान की स्तुति है। जो स्वरूप में स्थिर होता है, वह केवली के गुण गाता है, अर्थात् वह स्वयं ही अंशत: केवली होता है, यही वास्तव में परमार्थस्तुति है। भगवान की ओर का जो भाव है, सो परोन्मुखता का राग भाव है, उसे छोड़कर स्वयं ही अंशत: वीतराग होना सो यही निश्चयस्तुति है। स्वयं अपने में स्थिर हुआ सो स्वयं ही परमार्थ से अंशत: भगवान होता है, यही परमार्थभक्ति है।

जब भगवान के गुणगान करता है, तब जो स्वभाव की दृष्टि उपस्थित होती है, सो वह धर्म है और जो शुभभाव होता है, उतना पुण्य है।

भक्ति कहो या स्तुति कहो, बाह्य दया कहो या व्रत के परिणाम कहो, यह सब शुभभाव हैं, विकार हैं। जो विकार हैं सो निर्मल निर्विकारी स्वभाव की हत्या करनेवाले हैं। जैसे अच्छा रक्त निरोगता का चिह्न है, और उसमें जो मवाद पड़ जाता है सो रोग है, इसलिए जितना मवाद होता है, वह निकाल देना पड़ता है; इसी प्रकार आत्मा वीतराग स्वभाव है, उसमें जितना राग होता है, उतना मवाद है-विकार है, उसे दूर कर देने पर ही आत्मा की पूर्ण निर्मलता और निरोगता होती है, किन्तु स्वभाव में स्थिर हो पाता इसलिए शुभ का अवलम्बन लेना पड़ता है, वह आत्मा के स्वभाव की हत्या करनेवाला है।

धर्म क्या है ? वह कहाँ है ? यह बात लोगों ने अनादि काल से कभी नहीं सुनी, इसलिए उन्हें यह कहाँ से मालूम हो सकता है कि धर्म कैसा होता है ? धर्म के नाम पर जगत में अनेक प्रकार की गड़बड़ चल रही है। प्राय: लोग बाह्यक्रिया में धर्म मान रहे हैं, किन्तु बाह्यक्रिया से आत्मा को तीन काल और तीन लोक में धर्म का अंश भी प्राप्त नहीं होता। पुण्यभाव तो मवाद है-विकार है, उससे संसार ही फलित होता है। धर्म तो तभी होता है जब पर से रहित अपने स्वभाव को पहिचाने।

जिसे अब संसार नहीं चाहिए है, उसे यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए। जिसे परिभ्रमण अच्छा लगता है उसे आत्मा नहीं रुचता, और जिसे आत्मा रुचता है, उसे कदापि परिभ्रमण नहीं रुचता। यदि संसार का नाश करना हो तो पहले यह जानना होगा कि अविनाशीस्वभाव क्या है।

जहाँ आत्मप्रतीति होती है वहाँ शुभभाव भी अलौकिक होता है। जैसे-महाराजा श्रेणिक को आत्मप्रतीति थी, और उन्होंने उस आत्मप्रतीति की भूमिका में उच्च शुभभाव होने से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था। आत्मप्रतीति के बिना ऐसे अलौकिक शुभभाव भी नहीं होते।

लोग कहते हैं कि ऐसी बारीक बातें समझना तो कठिन मालूम होता है, यदि हम पाँच-दस उपवास कर डालें तो क्या हमारी तमाम झंझटें नहीं मिट सकतीं ? इस प्रकार लोगों ने शुभ परिणामरूप उपवास को ही धर्म मान लिया है, और वे स्वयं कोरे उपवास में

धर्म मानते हैं तथा दूसरों से मनवाते हैं। किन्तु ऐसे निर्जल उपवास तो सतत छह-छह महीने तक अनन्त बार किये हैं, किन्तु आत्मस्वभाव की प्रतीति न होने से अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। धर्म तो आत्मा को पहिचानने से ही होता है ॥२९॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है-स्वमी है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चयतः क्यों युक्त नहीं है? शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन हो जाता है, इसका आप विरोध क्यों करते हैं? आप यह कैसे कहते हैं कि शरीर के गुणों को भगवान के आत्मा के गुणों पर आरोपित करना उचित नहीं है? शरीर का कर्ता आत्मा है, आत्मा शरीर का हलन-चलन कर सकता है, इसलिए शरीर का अधिष्ठाता आत्मा है-यह बात मैं ही नहीं किन्तु सब लोग मानते हैं, परन्तु आप शरीर और आत्मा को पृथक् कैसे मानते हैं, आपने ऐसी नयी बात कहाँ से ढूँढ़ निकाली?

इन प्रश्नों के उत्तरस्वरूप दृष्टान्तसहित गाथा कहते हैं:—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।।३०।।

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति।।३०।।

अर्थ— जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता।

जैसे कोई नगर का वर्णन करे कि नगर ऐसा सुन्दर है, नगर में ऐस बाग-बगीचे हैं और नगर के ऐसे सुन्दर बाजार हैं, किन्तु इस प्रकार नगर के गुण गाने से राजा का गुणगान नहीं होता। ऐसे सुन्दर नगर का जो राजा राज्य करता हो वह यदि अधर्मी हो, लेपटी हो, प्रजा पर अनुचित कर डालकर अपना बड़प्पन बढ़ाता हो, तो उसकी नगरी की प्रशंसा करने से राजा की प्रशंसा नहीं होती, और यदि राजा अच्छा हो तो भी नगरी की प्रशंसा से राजा की प्रशंसा नहीं होती; क्योंकि नगर और राजा दोनों भिन्न हैं।

राजा में अनेक प्रकार के अवगुण हों या अनेक प्रकार के गुण हों, किन्तु नगरी की प्रशंसा में राजा के गुण-दोष नहीं आते। कोई कहता है कि ऐसा अधर्मी राजा हमें नहीं

चाहिए और कोई कुछ कहता है। इस प्रकार लोग दूसरे का दोष निकालते हैं किन्तु अपना दोष नहीं ढूँढ़ते। अपने पुण्य की कमी के कारण ऐसे निमित्त मिलते हैं, इसलिए अपना ही दोष समझना चाहिए।

राजा के अधर्मी होने पर भी बन्दीजन बिरदावली बखानते हैं कि महाराजाधिराज, अन्नदाता आप ईश्वर के अवतार हैं इत्यादि, किन्तु ऐसे लम्बे-लम्बे विशेषणों से राजा गुणवान नहीं कहलाता। राजा नीतिवान हो, उदार हो, शीलवान हो, परस्त्री का त्यागी हो, उसे परस्त्री माता-बहिन के समान हो, प्रजा का प्रतिपालक हो, प्रजा के प्रति पिता की भाँति स्नेह रखनेवाला हो, इत्यादि लौकिक गुण राजा में हों तो कहा जाता है कि यह रामराज्य है। इस प्रकार राजा ऐसा गुणवान हो तो उसके ऐसे गुणगान करने पर राजा के गुण गाये जाते हैं, किन्तु नगरी की प्रशंसा से राजा की प्रशंसा नहीं होती।

इसी प्रकार शरीर के स्तवन से केवली भगवान का स्तवन नहीं होता, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न हैं। वस्तु, गुण और पर्यायभेद-तीनों प्रकार से शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इसलिए शरीर का अधिष्ठाता आत्मा नहीं है, शरीर तो परमाणुओं की एक पर्याय है, परमाणु वस्तु है और रंग गन्ध आदि उसके अनन्तगुण हैं और लाल, पीला, सुगन्ध, दुर्गन्ध, उस रंग और गन्ध गुण की पर्यायें हैं। वस्तु और गुण स्थायी हैं और पर्याय क्षण-क्षण में बदलती रहती है। जैसे- रोटियाँ जब ठिब्बे में रखी थीं तब परमाणु की अवस्था से वे रोटीरूप थीं और जब वे रोटियाँ पेट में चली गयीं सो उनकी पर्याय बदलकर इस शरीररूप हो गयी। शरीर उन परमाणुओं की अवस्था है, इसलिए उनका कार्य स्वतन्त्रतया अपने कारण से होता है, आत्मा के कारण से नहीं होता। इसलिए आत्मा उस शरीर की अवस्था का कर्ता नहीं है।

आत्मा भी वस्तु है, उसके ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं, और जो क्षण-क्षण में बदलती रहती है, सो उसकी पर्यायें हैं। आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सहज आह्लादरूप आनंद की शक्ति का पिण्ड है। स्वयं पवित्र अन्तरंग में शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, यदि उसकी रुचि करे तो वैसी पवित्र अवस्था हो, और यदि ऐसी रुचि करे कि मैं शरीरवाला हूँ, मैं इन्द्रियवाला हूँ, तो ऐसी भ्रान्तिरूप मलिन अवस्था होती है। जिसकी जैसी रुचि होती है, उसकी वैसी अवस्था होती है। आत्मा या तो भ्रान्ति से मलिन अवस्था को अथवा अपने

स्वभाव की रुचि करे तो निर्मल अवस्था को प्राप्त हो, किन्तु आत्मा त्रिकाल में भी जड़ की अवस्था का कर्ता नहीं होता। लोगों ने भ्रान्तिवश आत्मा को पर का कर्ता मान रखा है, किन्तु जड़ शरीरादि का कर्ता आत्मा त्रिकाल में भी नहीं है। शरीर और आत्मा वस्तुदृष्टि से, गुणदृष्टि से और पर्यायदृष्टि से-सभी प्रकार भिन्न है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

जात-पाँत ब्राह्मण वैश्य इत्यादि सब शरीर की अवस्थाएँ हैं। मैं वणिक हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अग्रवाल हूँ, मैं खण्डेलवाल हूँ, इत्यादि शरीर की अवस्थाओं को आत्मरूप मानना सो अज्ञान है-मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा न तो वणिक है, न ब्राह्मण है और न किसी जात-पाँतवाला है, आत्मा तो इन समस्त जातियों से रहित, स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक वीर्य की मूर्ति है। यदि उसे उस स्वभाव से देखे तो वैसी उसकी निर्मलता प्रगट हो।

समस्त आत्मा द्रव्य और गुणों में समान हैं, किन्तु आत्मप्रतीति करे तो मुक्ति और उसे भूले तो संसार है। यदि विकार की दृष्टि को छोड़ दे तो आत्मा निर्मल ही है, किन्तु परपदार्थ पर दृष्टि रखने से विकार होता है। दृष्टि के बदलने से ही संसार होता है और दृष्टि के बदलने से ही मोक्ष मिलता है।

जगत को ऐसा मिथ्याविश्वास जम गया है कि—आत्मा की जैसी आज्ञा या जैसी इच्छा होती है तद्नुसार आत्मा में क्रिया होती है। लोग यह मानते हैं कि हाथ पैरों का हिलना, आँखों का फिरना और बोलचाल इत्यादि सब हम ही कर सकते हैं; किन्तु हे भाई! मात्र शरीर के रजकणों की अवस्था तो शरीर के कारण से होती है। श्वांस का चढ़ना, कफ निकलना, पसीना निकलना इत्यादि शरीर के ही परिवर्तन से होता है। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था भी शरीर के अपने कारण से होती है। बाल्यावस्था अर्थात् शरीर की कोमल अवस्था, युवावस्था अर्थात् रक्त माँसादि की सुदृढ़ अवस्था, वृद्धावस्था अर्थात् रक्त-माँस की शिथिल अवस्था। यहाँ विचार यह करना है कि युवावस्था को छोड़कर वृद्धावस्था को कौन चाहता है ? फिर भी इच्छा के बिना वृद्धावस्था तो आती ही है। दाँतों का गिरना, आँखों से दिखायी न देना, कानों से सुनायी न देना इत्यादि शारीरिक परिवर्तन

शरीर के कारण होते ही रहते हैं। इसमें आत्मा की इच्छानुसार कुछ भी नहीं होता। युवावस्था हो, अच्छा शारीरिक वैभव हो और सर्व प्रकार से सांसारिक सुखों से सम्पन्न हो, ऐसी स्थिति में मरने के किंचित्मात्र भी भाव न हों, तथापि आयु के पूर्ण होने पर मरता तो है ही! कुछ इच्छित हो ही नहीं सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-आत्मा शारीरिक अवस्थाओं का किंचित्मात्र भी अधिष्ठाता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि शरीर के स्तवन से भगवान के आत्मा का स्तवन परमार्थत: नहीं हो सकता। भगवान के शरीर का स्तवन करने से निर्विकल्प आत्मा की स्तुति नहीं होती, तथा भगवान के आत्मा की स्तुति नहीं होती।

यहाँ शिष्य पूछता है कि भगवान का शरीर ऐसा है, भगवान का रंग ऐसा है, इत्यादि प्रकार से स्तुति तो होती हे, किन्तु आप कहते हैं कि आत्मा ऐसा है और आत्मा वैसा है, तब फिर दोनों का मेल क्या है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो भगवान के आत्मा को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। भगवान जैसे निर्विकारी शान्त और वीतरागी हैं, वैसा ही मैं हूँ, ऐसा निर्णय करे तो फिर भगवान की प्रतिमा को देखकर जो शुभभाव होते हैं, उसे व्यवहार से स्तुति कहते हैं।

भगवान का आत्मा शुभाशुभभाव से रहित है। उसीप्रकार मेरा आत्मा भी शुभाशुभभाव से रहित है, ऐसा निश्चय न करे और मात्र भगवान के शरीर पर ही लक्ष्य करके स्तुति करे तो वह व्यवहार से भी स्तुति नहीं है, मात्र शुभभाव है। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता है और जहाँ निश्चय नहीं है, वहाँ व्यवहार भी नहीं है।

कई लोग यह मानते हैं कि भगवान हमें मुक्ति दे देंगे, किन्तु वीतरागभगवान का सत्व अलग है और प्रत्येक आत्मा का सत्व भी अलग है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कुछ नहीं दे सकता, एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व को कोई लाभ नहीं होता। यदि कोई एक आत्मा किसी दूसरे का कुछ कर सकता हो तो एक आत्मा आकर मुक्ति देगा और दूसरा आत्मा आकर उसे नरक में ढकेल देगा; तब फिर इसमें स्वतन्त्रता कहाँ रही? स्वयं अपने द्वारा देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप और अपने आत्मा का स्वरूप अपने ज्ञान के द्वारा निश्चित करता है तब देव-गुरु-शास्त्र के द्वारा उपकार हुआ कहलाता है। कोई वस्तु किसी के वश

में नहीं है, कोई किसी का उपकार नहीं करता जब स्वयं तैयार होता है तब देव-गुरु-शास्त्र में निमित्त का आरोप कहलाता है। व्यवहार से कहा जाता है कि भगवान की प्रतिमा देखकर शान्तभाव हो गया है, किन्तु जब यह प्रतीति होती है कि न तो मैं पुण्य हूँ न पाप, तब व्यवहार से कहा जाता है कि वह प्रतिमा मेरे लिए उपकाररूप है, यह गुरु मुझे उपकाररूप हैं और यह शास्त्र मुझे उपकाररूप हैं। देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त के बिना यह नहीं होता किन्तु निमित्त से भी नहीं होता। कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। अपने गुण की पर्याय अपने ही द्वारा होती है, किन्तु मुझे निमित्त से ज्ञान हुआ है। इस प्रकार देव-गुरु पर आरोप करके विनय से नम्रतापूर्वक कहता है कि प्रभो! आपने मुझ पर उपकार किया है। जब स्वयं सच्ची समझ करता है तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को निमित्त के रूप में स्थापित करके कहता है कि हे प्रभु! आपने मुझे तार दिया; आपने मुझे निहाल कर दिया।

मैं शान्त हूँ, निर्मल हूँ, ऐसी प्रतीति आत्मा में रहे और भगवान के गुणों के लक्ष्यपूर्वक भगवान के शरीर की स्तुति का शुभभाव हो तो उसे व्यवहार से स्तुति कहते हैं।

विकारी शुभभावों से आत्मा के अविकारी गुणों का निश्चय और लाभ हो ऐसा किसी भी क्षेत्र, काल, या भाव में नहीं हो सकता।

सांसारिक व्यवहार में भी पर का कुछ भी नहीं किया जा सकता। मात्र शुभाशुभभाव कर सकता है; फिर भी जगत का बहुभाग असत्य को स्वीकार कर रहा है। किन्तु ज्ञान में सत्य का स्वीकार होना चाहिए अर्थात् वस्तु का स्वभाव जैसा है, उसका वैसा ही स्वीकार होना चाहिए तभी मुक्ति होती है।

जीवों ने अनादि काल से यह नहीं जान पाया कि तत्त्व क्या है, पुण्य-पाप क्या है, धर्म क्या है, वस्तुस्वभाव क्या है और न इसकी कभी जिज्ञासा ही की है; किन्तु दूसरे का ऐसा कर दूँ, वैसा कर दूँ, ऐसी पर में विपरीत श्रद्धा जमी हुई है, ज्ञान में विपरीतता को पकड़ रखा है और उल्टा-सीधा समझ रखा है। किन्तु यदि स्वभाव में कुलाँट मारे तो विपरीत श्रद्धा नाश होकर सच्ची श्रद्धा प्रगट हो जाये।

आचार्यदेव ने शिष्य को दृष्टान्त देकर समझाया है कि—नगरी का वर्णन करने से उस नगरी के राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार शरीर की स्तुति से आत्मा की यथार्थ

स्तुति या वर्णन नहीं होता, किन्तु यदि शरीर की स्तुति की पीछे अन्तरंग में आत्मा के गुणों की शुद्ध प्रतीति हो, और भगवान के गुणों का भान हो तो वह व्यवहार से भगवान की स्तुति है। किन्तु जब तक शरीर पर दृष्टि है, तब तक आत्मा की स्तुति परमार्थ से नहीं होती, और भगवान के आत्मा की स्तुति भी परमार्थ से नहीं होती, तथा शरीर के वर्णन से भगवान के गुणों का वर्णन नहीं होता।

नगरी के वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता, सो नगर का वर्णन करते हुए कलश में समझाते हैं कि:—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्।।२५।।

अर्थ—यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है, और बगीचों की पंक्तियों से भूमितल को निगल गया है, तथा कोट के चारों ओर जो खाईयाँ हैं। उनके घेरे से मानों पाताल को ही पी रहा है। अर्थात् नगर का गढ़ बहुत ऊँचा है, चारों और बगीचों से पृथ्वी ढँकी हुई है, और उसकी खाई बहुत गहरी है।

यह नगर ऐसा है कि जिसका कोट मानों आकाश तक पहुँच गया है, और यह नगर बाग-बगीचों की पंक्तियों से भूमितल को निगल गया है, अर्थात् बगीचों के कारण भूमितल दिखायी नहीं देता, और चारों ओर खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक पहुँच गयी हो। यहाँ आचार्यदेव ने ऊर्ध्व, मध्य और अध: इस प्रकार तीनों ओर से नगरी को उपमा दी है।

ऊर्ध्व:—चारों ओर से गढ़ मानों आकाश तक पहुँच गया हो।

मध्य:—सम्पूर्ण भूमि मानों बगीचों से ढँक गयी हो।

अध:—चारों ओर की खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक चली गयी हो।

इस प्रकार नगरी का भलीभाँति वर्णन किया किन्तु इससे कहीं राजा का वर्णन नहीं हो सकता, नगर के निमित्त संयोग के कारण से राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहार से कहलाता है; तथापि राजा को ऐसा अभिमान होता है कि मैं इस नगरी का मालिक हूँ

इसलिए यह कहा जाता है कि राजा उसका अधिष्ठाता है; किन्तु राजा के शरीर में या उसके आत्मा में नगर का कोट बाग या खाई आदि कुछ भी नहीं पाया जाता। नगर और राजा दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

शरीररूपी नगरी के स्तवन से भी आत्मा का स्तवन नहीं होता। यह भगवान के शरीर का वर्णन करके इस कलश द्वारा समझाते हैं:—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥२६॥

अर्थ—जिसके सर्व अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, और जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, ऐसा जिनेन्द्र का परमरूप जयवन्त हो!

जिनेन्द्र भगवान का उत्कृष्टरूप सदा जयवन्त हो। देवों और इन्द्रों के शरीर से भी तीर्थंकरदेव के शरीर में रूप और उत्कृष्ट सुन्दर कान्ति सदा बनी रहती है। सामान्यजनों का युवावस्था में जो रूप होता है, वह वृद्धावस्था में बदल जाता है, किन्तु जिनेन्द्रदेव के शरीर की सुन्दरता अन्त तक ज्यों की त्यों जयवन्त रहती है। जिनेन्द्रदेव के सर्व अवयव सदा अविकार रहते हैं, भगवान के समस्त अंग सुस्थित होते हैं, उनके अंगों में कहीं भी कोई दूषण नहीं होता, और जिस स्थान पर जैसा जो सुन्दर अवयव चाहिए सो वैसा ही होता है; भगवान के जन्म से ही अपूर्व लावण्य होता है, जिसे देखकर इन्द्र भी विस्मित हो जाते हैं, उनका वह अपूर्व लावण्य स्वाभाविक होता है, भगवान का लावण्य ऐसा अपूर्व होता है जिसे देखकर इन्द्र भी स्तम्भित रह जाता है। जिनेन्द्रदेव बाल्यावस्था से ही ऐसी मधुर वाणी बोलते हैं कि वह सबको अत्यन्त प्रिय मालूम होती है, भगवान का शरीर बिना आभूषणों के ही सुशोभित रहता है, शरीर को सुन्दर दिखने के लिए कोई कृत्रिम शृंगार बनाव नहीं करना पड़ता। उनका शरीर बाल्यावस्था से ही समुद्र की भाँति सहज गम्भीर होता है- अक्षोभ होता है। यदि कोई नयी बात दिखायी दे तो उनके शरीर में कौतूलह-विस्मय और आश्चर्य के चिह्न नहीं दिखायी देते; उनका शरीर छोटा होने पर भी गम्भीर होता है, मानों कि वे सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त करके कृतकृत्य ही हो गये हों।

इस प्रकार शरीर के पुण्य के वर्णन का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पुण्य आदरणीय हैं, किन्तु यहाँ तो मात्र यही कहा जा रहा है कि उत्कृष्ट शुभभावों से ऐसा पुण्यबन्ध होता है। इस शरीर का रूप आत्मा का रूप नहीं किन्तु पुद्गल की पर्याय है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पूर्वभव में जब पवित्रदशा में आगे बढ़ रहे हों, तब अलौकिक शुभभाव होने पर ऐसे अलौकिक पुण्य का बन्ध होता है।

यह तो शरीर की प्रशंसा हुई, किन्तु इसमें भगवान के आत्मा की कोई प्रशंसा नहीं आयी। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न हैं, इसलिए शरीर के गुणों का आत्मा के गुणों में अभाव है, किन्तु यदि कोई शरीर के गुणों के स्तवन में ही लग जाए और यह माने कि भगवान का आत्मा ही ऐसा है, तो वह ठीक नहीं है। वे भगवान के आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता। तीर्थंकर भगवान को शरीर का अधिष्ठाता कहा जाता है, किन्तु शरीर के गुण आत्मा के गुण नहीं हैं, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता।

अज्ञानी मानता है कि भगवान मुझे संसार से पार उतार देंगे, इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने को बिल्कुल निर्माल्य मानता है, दीन-हीन मानता है। और इस प्रकार पराधीन होकर भगवान की प्रतिमा अथवा साक्षात् भगवान के समक्ष खड़ा होकर दीनतापूर्वक भगवान से कहता है कि मुझे मुक्त कर दो!

'दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होय?' फिर भी दीन-हीन और निर्माल्य होकर कहता है प्रभु! मुझे मुक्ति दीजिये, किन्तु भगवान के पास तेरी मुक्ति कहाँ है? तेरी मुक्ति तो तुझमें ही है। भगवान तुझसे कहते हैं कि—प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, मैं भी स्वतन्त्र हूँ और तू भी स्वतन्त्र है, तेरी मुक्ति तुझ ही में है।

आत्मा अपने पद की ओर उन्मुख न हो और मात्र पर प्रभु पद को भजता रहे तो कौन मुक्ति दे देगा? राग-द्वेष से मुक्त तेरा जो निर्मल स्वभाव है, उसकी पहिचान किये बिना भगवान वह नहीं दे देंगे, इसलिए यह निश्चय जान कि तेरी मुक्ति तुझ ही में है। जब परिचयपूर्वक तैरने का उपाय अपने में ज्ञात कर लिया तब भगवान पर आरोपित करके विनयपूर्वक यह कहा जाता है कि भगवान ने मुझे तारा है; यह शुभभाव व्यवहार स्तुति है।

जो शरीरादि है सो मैं हूँ, पुण्य-पापभाव भी मैं हूँ, ऐसे मिथ्याभाव छोड़कर, मैं एक

चैतन्यस्वभाव अनन्त गुण की मूर्ति हूँ ऐसी प्रतीति पूर्वक जो भगवान की ओर का शुभभाव होता है, सो व्यवहार स्तुति है, और ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुभभावों का भी परित्याग करके स्वरूप में स्थिर हो सो परमार्थस्तुति है ॥३०॥

अब आगामी गाथा में परमार्थ-स्तुति की स्पष्टता करते हुए तीर्थंकर-केवली की निश्चय-स्तुति बतलाते हैं। इसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके कहते हैं कि:—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः।।३१।।

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानता है, उसे जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे यथार्थ जितेन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ विधि-निषेध द्वारा धर्म का स्वरूप बताया है। अपना आत्मा ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है, पृथक् है। अन्य द्रव्यों से पृथक् कहने पर स्वद्रव्य से परिपूर्ण हो जाता है। अन्य द्रव्य से आत्मा भिन्न है, इसमें यह भी आ गया कि अन्य द्रव्य के निमित्त से होनेवाले रागभाव से भी आत्मा भिन्न ही है। अन्य द्रव्य से पृथक् मात्र स्वद्रव्य में विकार नहीं हो सकता; यदि एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का सम्बन्ध लक्ष्य में लिया जाए तो उस द्रव्य में विकार कहा जा सकता है, किन्तु अन्य द्रव्यों का सम्बन्ध तोड़कर (सम्बन्ध का लक्ष्य छोड़कर) मात्र द्रव्य को अलग लक्ष्य में ले तो द्रव्यदृष्टि हुई, और द्रव्यदृष्टि में विकार नहीं होता। यही सच्ची स्तुति है।

टीका—'णाणसहावाधिअं' अर्थात् ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अलग—ऐसा कहकर द्रव्यदृष्टि करायी है, द्रव्यदृष्टि का करना ही जितेन्द्रियता है। जब द्रव्यदृष्टि करके अपने ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में लिया तब इन्द्रियों का अवलम्बन छूट गया, मन सम्बन्धी वृद्धिपूर्वक विकल्प छूट गये और परद्रव्यों का लक्ष्य भी छूट गया; इस प्रकार द्रव्यदृष्टि होने पर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत परद्रव्यों से-सबसे

अलग हुआ-अलग हुआ सो वही जितेन्द्रियता है। द्रव्यदृष्टि के द्वारा ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने पर विकार से किंचित्मात्र (दृष्टि की अपेक्षा से) अलग हुआ सो वही वीतराग की स्तुति है। वीतराग केवलज्ञानी विकार रहित हैं, और उनकी निश्चय-स्तुति भी विकार रहितता का ही अंश है।

प्रश्न—यदि कोई जीव ज्ञानस्वरूप आत्मा को न पहिचाने और शुभभाव से भगवान की स्तुति किया करे, तो वह व्यवहारस्तुति कहलायेगी या नहीं ?

उत्तर—भगवान कौन हैं और स्वयं कौन है, यह जाने बिना निश्चय और व्यवहार में से कोई भी स्तुति नहीं हो सकती। शुभभाव करके कषायों को मन्द करे तो उससे पुण्यबन्ध होगा किन्तु आत्मा की पहिचान के बिना, मात्र शुभराग को व्यवहारस्तुति नहीं कहा जा सकता। जगत के पापभावों को छोड़कर भगवान की स्तुति, वन्दना, पूजा इत्यादि शुभभाव करने का निषेध नहीं है किन्तु मात्र शुभ में धर्म मानकर उसी में सन्तुष्ट न होकर आत्मा का परिचय करने को कहा जा रहा है, क्योंकि आत्मा को पहिचाने बिना अनन्त बार शुभभाव किये तथापि भव का अन्त नहीं आया। जो पहले अनन्त बार कर चुका है उस शुभ की धर्म में मुख्यता नहीं है, किन्तु जिसे अनन्त काल में कभी नहीं किया ऐसा अपूर्व आत्मज्ञान करके भव का अन्त करने की मुख्यता है।

यहाँ निश्चयस्तुति और व्यवहारस्तुति की चर्चा हो रही है। जीव राग से अलग होकर अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य में स्थिर हुआ सो निश्चयस्तुति है, और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने पर भी अस्थिरता के कारण स्तुति के राग की वृत्ति उत्पन्न होती है; किन्तु ज्ञानी के उस वृत्ति का निषेध होता है, इसलिए वह व्यवहारस्तुति कहलाती है। परन्तु अज्ञानी उस वृत्ति को ही अपना स्वरूप मान बैठा है और वृत्ति से पृथक् स्वरूप को नहीं मानता इसलिए उसकी शुभवृत्ति व्यवहारस्तुति भी नहीं कही जा सकती। विकल्प को तोड़कर ज्ञानस्वभाव को राग से अलग अनुभव करता है, सो वह निश्चयस्तुति है, क्योंकि इसमें राग नहीं है। और जीव को आत्मा के ज्ञानस्वभाव का परिचय होने के बाद राग की शुभवृत्ति उद्भूत होती है, उसे ज्ञानस्वभाव में स्वीकार नहीं करता, किन्तु वहाँ राग का निषेध करता है, इसलिए उसकी व्यवहारस्तुति कही जाती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मात्र राग को व्यवहार नहीं कहा है, किन्तु रागरहित स्वभाव की श्रद्धा के बल से राग का निषेघ

पाया जाता है तब राग को व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी को रागरहित स्वरूप की खबर नहीं है इसलिए वास्तव में उसके व्यवहार भी नहीं होता। निश्चय की प्रतीति के बिना, पर की भक्ति, राग की और मिथ्यात्वस्वरूप अज्ञान की ही भक्ति है, अर्थात् संसार की ही भक्ति है, उसमें भगवान की भक्ति नहीं है।

स्तुति कौन करता है ? स्तुति पुण्य-पाप की भावना से रहित शुद्धभाव है। आत्मा की पहिचानपूर्वक और रागरहित जितनी स्वरूप में एकाग्रता की जाती है, उतनी ही सच्ची स्तुति है, जो राग का भाव है, सो वह स्तुति नहीं है। सच्ची स्तुति तो साधक-धर्मात्मा के ही होती है। जिसे आत्मप्रतीति नहीं है, उसके सच्ची स्तुति नहीं होती, तथा जो आत्मप्रतीति करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं, उन्हें स्तुति करने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वे स्वयं ही पूर्णदशा को प्राप्त हो गये हैं, अब उससे आगे कोई ऐसी दशा नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए वे स्तुति करें। जिसने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति तो की है किन्तु पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, ऐसे साधक जीव स्तुति करते हैं। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि से लेकर बारहवें गुणस्थान तक स्तुति होती है, बारहवें गुणस्थान के बाद स्तुति नहीं होती। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक स्तुति के तीन प्रकार हैं—चतुर्थ गुणस्थान में जघन्य स्तुति प्रगट होती है और बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट स्तुति होती है, तथा बीच के गुणस्थानों में मध्यम स्तुति होती है। स्तुति करनेवाला कौन है यह जाने बिना सच्ची स्तुति नहीं होती।

इस गाथा में पहली—प्रारम्भिक स्तुति का स्वरूप बताया है। ज्ञान से अलग ज्ञानस्वभाव को जानना ही प्रथम स्तुति है। 'अधिक ज्ञानस्वभाव' कहने से ज्ञान में विकार नहीं रहा, इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं रहा और अपूर्णता भी नहीं रही, मात्र परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही लक्ष्य में आया सो यह पहली स्तुति है, यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता ही है।

देव-गुरु-शास्त्र की ओर का प्रेम सच्ची स्तुति नहीं है। जो यह मानता है कि देव-गुरु-शास्त्र की ओर का जो शुभराग होता है, उससे आत्मा को लाभ होता है, वह राग की भक्ति करता है, आत्मा के साथ एकता करके आत्मा की भक्ति नहीं करता। जितनी आत्मश्रद्धा करके आत्मा के साथ एकता प्रगट की जाती है, उतनी ही निश्चय स्तुति है, किन्तु जितना परलक्ष्य है, उतना राग है। अज्ञानी को आत्मा की प्रतीति ही नहीं है, इसलिए उसे आत्मा की भक्ति नहीं है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण अनात्मा की-विकार की ही भक्ति कर रहा है।

भक्ति का अर्थ है भजना। प्रत्येक जीव प्रति समय भक्ति तो करता ही है, किन्तु अज्ञानी जीव जड़ की और विकार की ही भक्ति करता है तथा ज्ञानी अपने वीतराग स्वभाव की भक्ति करता है। निश्चयभक्ति में अपने हो ही भजना होता है, और व्यवहार में परलक्ष्य होता है। जब आत्मा को निश्चयस्वरूप की प्रतीति हो किन्तु अभी स्वरूप में स्थिरता न कर सके तब पूर्णता की भावना करने पर राग के द्वारा वीतराग भगवान पर लक्ष्य जाता है, उस राग का भी आदर नहीं है। इसलिए उसके व्यवहारस्तुति है। निश्चयस्तुति में सबका लक्ष्य छूटकर मात्र स्वरूप में ही एकाग्रता होती है। (यहाँ निश्चयभक्ति और निश्चयस्तुति दोनों को पर्यायवाची समझना चाहिए।)

यहाँ कोई यह कह सकता है कि यह बात तो बहुत कठिन है, यह हमसे नहीं हो सकती, उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—हे भाई! यह बात कठिन नहीं है, पहले तू सच्ची जानकारी प्राप्त कर, अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कर। अनन्त धर्मात्मा क्षणभर में अपने भिन्न तत्त्व की प्रतीति करके स्वरूप की एकाग्रतारूप निश्चयस्तुति करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में ऐसी ही प्रतीति करनेवाले अनेक जीव हैं, और भविष्य में भी अनन्त जीव ऐसे ही होंगे; इसलिए इसमें अपना स्वरूप समझने की ही बात है। स्वरूप न समझा जा सके ऐसा नहीं है। तू राग तो कर सकता है, और राग को अपना मान रहा है, तब फिर राग से अलग होकर, ज्ञान के द्वारा आत्मा को पहिचानना और राग को अपना न मानना तुझसे क्यों नहीं हो सकता? जितना तुझसे हो सकता है उतना ही कहा जा रहा है।

अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान के बिना कोई जीव भगवान की सच्ची स्तुति या भक्ति कर ही नहीं सकता; यदि वह बहुत करे तो अज्ञानभाव से दान-पूजा द्वारा लोभ को कम करके पुण्यबन्ध कर सकता है, किन्तु उसे व्यवहार से भी भक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुण्य को अपना मानता है, और इसीलिए वह प्रतिक्षण मिथ्यात्व के महापाप का सेवन कर रहा है। ज्ञानी समझता है कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, एक रजकण भी मेरा नहीं है, जो राग होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, परपदार्थ के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है, समस्त परपदार्थों से भिन्न मेरा ज्ञानस्वभाव स्वतन्त्र है। जहाँ ऐसी ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान होता है, वहीं वास्तव में ममता कम होती है। ज्ञानी जैसी तृष्णा कम करता है, वैसी अज्ञानी नहीं कर सकता। ज्ञानी वीतरागस्वभाव के भक्त होते हैं, वे वीतराग भक्ति के द्वारा स्वयं

वीतराग होनेवाले हैं, उन्हें वीतराग का उत्तराधिकार मिलनेवाला है।

सम्यग्दर्शन अपूर्व वस्तु है। जिसके आत्मा में सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे आचार्यदेव ने 'जिन' कहा है; सम्यग्दृष्टि जीव 'जिनपुत्र' है। सम्यग्दर्शन होने से जो जिनेन्द्र के लघुनन्दन हो जाते हैं वे एक-दो भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त होंगे। जो भगवान का सच्चा भक्त है, वह अवश्य भगवान होगा उसे भव की शंका नहीं रहती। जिसे भव की शंका होती है, वह भगवान का भक्त नहीं है। सम्यग्दृष्टि को भव की शंका नहीं होती। सम्यग्दर्शन ही सर्व प्रथम सच्ची स्तुति है।

द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और परवस्तुओं से अपने आत्मा को पृथक् अनुभव करना सो यही उसका जीतना है। वह आत्मा के ही बल से जीता जाता है या उसके लिए किसी की आवश्यकता होती है सो कहते हैं—उसमें पहले द्रव्येन्द्रियों को किस प्रकार अलग करना चाहिए सो बतलाते हैं—'निर्मल भेद अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त जो अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव है, उसके अवलम्बन के बल से अपने से द्रव्येन्द्रियों को अलग जानना, सो द्रव्येन्द्रियों को जीतना है।'

यहाँ चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन का ही बल कहा है। चैतन्य स्वभाव अन्तरंग में प्रगट ही है। जिस ज्ञानस्वभाव में शरीरादिक सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, वह ज्ञानस्वभाव अन्तरंग में प्रगट ही है।

आत्मा में ज्ञानस्वभाव प्रगट है, किन्तु विकार में ज्ञान नहीं है। चैतन्य-आत्मा अन्तरंग में सदा प्रगट ही है। उसका ज्ञान कभी ढँका ही नहीं है। भले ही विकार हो किन्तु आत्मा का ज्ञान तो उससे भिन्न रहकर जान लेनेवाला है, विकार में ज्ञान ढँक नहीं जाता जैसे किसी हीरे को सात डिब्बियों के बीच रख दिया जाए तो यह कहा जाता है कि हीरा ढँका हुआ है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं ढँकता। ज्ञान में तो हीरा स्पष्ट झिलमिला रहा है, अर्थात् हीरा सम्बन्धी ज्ञान तो प्रगट ही है, ज्ञान ढँका हुआ नहीं है। शरीर और कर्म दोनों को जाननेवाला चैतन्यस्वभाव प्रगट ही है।

पहले २३-२५वीं गाथा में कहा था कि वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुभव करता है किन्तु

उसे अपना चैतन्यस्वभाव अनुभव में नहीं आता। वहाँ अस्वभावभावों को 'वेगपूर्वक बहता हुआ' विशेषण दिया है, अर्थात् वे प्रतिक्षण बदलते ही रहते हैं। जो क्षायोपशमिक ज्ञान है सो वह भी बदलता है, शुभाशुभ इच्छा भी बदलती है, और बाह्य क्रियाएँ भी बदलती हैं, तब सदा एकरूप स्थिर चैतन्यभाव को न जाननेवाले अज्ञानी को ऐसा प्रतिभासित होता है कि इस सारी क्रिया का कर्ता मैं ही हूँ, और ज्ञान तथा राग एकत्रित ही हैं।

प्रतिक्षण इच्छा बदले और जो इच्छा हो उसे ज्ञान जाने, इस प्रकार ज्ञान का परिणमन होता रहता है, और जैसी इच्छा होती रहती है, लगभग वैसी ही बाह्य में शरीरादि की क्रिया होती है, वहाँ जो इच्छा है सो राग है; जो ज्ञान किया सो आत्मा है; और जो बाहर की क्रिया है सो जड़ का परिणमन है; इस प्रकार तीनों अलग हैं किन्तु अज्ञानी उन्हें अलग नहीं कर सकता, इसलिए वह यह मानता है कि सब कुछ अपने से ही होता है। मैं राग और शरीर से अलग हूँ, ज्ञाता हूँ, ऐसी प्रतीति के बल से अपने आत्मस्वभाव को अस्वभाव से अलग अनुभव करने की उस अज्ञान में शक्ति नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं कि चैतन्यस्वभाव अन्तरंग में प्रगट ही है, उसके बल से ही इन्द्रियाँ अलग की जाती हैं। ज्ञान यह जानता है कि मुझे अमुक शुभ या अशुभभाव हुआ है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं इस भावरूप हो गया हूँ, क्योंकि ज्ञान राग में नहीं चला जाता। जो शुभ या अशुभभाव होता है, वह क्षणभर में बदल जाता है और उसे जाननेवाला ज्ञान अलग ही रह जाता है। जहाँ अज्ञानी यह कहता है कि मैं शरीर से ढँक गया हूँ और मुझे अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता, वहाँ यह किसने जाना कि मैं ढँक गया हूँ? जाननेवाले का ज्ञान प्रगट है या अप्रगट? अप्रगट तो जान नहीं सकता। अत: जो प्रगट है उसी ने जाना है। सच तो यह है कि चैतन्यस्वभाव कभी ढँकता ही नहीं है।

प्रश्न—इसमें भगवान की स्तुति की बात कहाँ है?

उत्तर—स्तुति का अर्थ यह है कि जिसकी स्तुति करता है, उसी जैसा अंश अपने में स्वयं प्रगट करना। यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपने में शुद्धता का अंश कैसे प्रगट हो। अन्तरंग में प्रगट चैतन्यस्वभाव के अनुभव से, यह जानना कि द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और समस्त परपदार्थों से मैं भिन्न हूँ, यह जितेन्द्रियता है तथा यह जघन्य स्तुति है। आत्मा का स्वरूप जाने बिना भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती। जिस भाव से तीर्थंकर तरे हैं, उस

भाव को पहिचानकर उसका अंश अपने में प्रगट करना सो यही स्तुति है। जिसे स्वभाव की प्रतीति हुई है किन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, ऐसे साधक जीव जिनकी पूर्णदशा प्रगट हो गयी है, ऐसे भगवान की निश्चयस्तुति करते हैं। किन्तु जिसे स्वभाव की प्रतीति ही नहीं है, वह निश्चयस्तुति नहीं कर सकता और जो स्वभाव की प्रतीति तथा स्थिरता करके पूर्ण हो गये हैं, उन्हें स्तुति करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

मैं जाननेवाला हूँ, अपने चैतन्यस्वभाव के द्वारा मैं समस्त पदार्थों से भिन्न हूँ, इस प्रकार अपने स्वभाव की अधिकता को जानना सो भगवान की सच्ची स्तुति है; परन्तु ज्ञानस्वभाव की सच्ची श्रद्धा और पर से पृथक्त्व के ज्ञान के बिना, किसी के निश्चयस्तुति या व्यवहारस्तुति नहीं हो सकती। शुभराग को व्यवहारस्तुति नहीं कहा जा सकता। अपने राग से रहित स्वभाव की जो श्रद्धा और ज्ञान है, सो भगवान की निश्चयस्तुति है, और भगवान की स्तुति की ओर का जो विकल्प पाया जाता है सो वह मेरा स्वरूप नहीं है, यदि ऐसी प्रतीति है तो उस विकल्प को व्यवहारस्तुति कहा जाता है। तू चैतन्यस्वरूप है, जड़ इन्द्रियों और उस ओर का क्षयोपशम ज्ञान तेरा स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव परवस्तु में सुख मानकर परपदार्थ के राग और आकुलता से प्रतिक्षण हत हो रहा है। अज्ञानी जीव से कहते हैं कि तू इन्द्रियों में और उनके विषय में सुख मान रहा है, किन्तु तेरा सुख पर में नहीं है, फिर भी पर में सुख मानकर तू संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जड़ इन्द्रियों में या पुण्य के फल में सुख नहीं है, और जो खण्ड-खण्ड रूप प्रगट ज्ञान है, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है; वर्तमान में पुण्य का फल जिसे मीठा लग रहा है ऐसे अज्ञानी के मन में यह बात कैसे जमेगी ? किन्तु तू अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं है, यह बताकर पृथक् ज्ञानस्वभाव की पहिचान कराते हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यवाणी से भी तेरे स्वरूप का पूरा गुणगान नहीं हो सकता, ऐसी तेरी प्रगट महिमा है, किन्तु स्वयं अपना विश्वास नहीं है। अज्ञानी को स्वरूप की प्रतीति नहीं है इसलिए उसकी दृष्टि बाह्य में है। वह बाह्य में शारीरिक व्याधि को देख सकता है, और उसे दुःख मानता है, किन्तु अन्तरंग में स्वरूप की अचेतदशा से पुण्य-पाप की व्याधि में प्रतिक्षण भावमरण हो रहा है, सो उस अनन्त दुःख को अज्ञानी नहीं देख सकता। अन्तरंग में ज्ञानस्वरूप को भूलकर जो आकुलता होती है, सो वही दुःख है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है; इसलिए यहाँ सच्ची स्तुति का

स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव अन्तरंग में प्रगट है और इन जड़ इन्द्रियों से तथा राग से भिन्न है। इस प्रकार पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप का जानना सो यही भगवान की निश्चयस्तुति का प्रारम्भ है।

सम्यग्दर्शन के द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्मा की यथार्थ पहिचान करना ही निश्चयभक्ति है। निश्चयभक्ति का सम्बन्ध अपने आत्मा के साथ है, किन्तु प्रथम संसार की ओर के तीव्र अशुभराग से छूटकर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के परिचयपूर्वक उनके प्रति भक्ति का शुभराग होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की पहिचान और भक्ति का उल्लास हुए बिना किसी को अपने आत्मा की निश्चयभक्ति प्रगट नहीं होती; और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग से भी निश्चयभक्ति नहीं होती। निश्चयभक्ति का अर्थ है सम्यग्दर्शन, वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो यह विचारणीय है।

पहले संसार की रुचि और कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की मान्यता के अशुभभावों से छूटकर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होनेवाले भाव से राग की दिशा को बदलकर और फिर 'यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं राग से अलग ज्ञानस्वभाव हूँ, पर की ओर जानेवाला राग-मिश्रित ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार रागरहित अपने अखण्ड स्वभाव को प्रतीति में ले तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और यही भगवान की प्रथम निश्चयस्तुति है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का शुभराग पहले होता तो है, किन्तु वह शुभराग सम्यग्दर्शन में सहायक नहीं है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव निर्विकार ज्ञानस्वरूप है और राग विकार है। विकार निर्विकारता में बाधक ही है, सहायक नहीं। इसलिए राग के द्वारा भगवान की निश्चयस्तुति नहीं हो सकती।

यहाँ यह समझाया है कि—सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होनेवाले राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, वहाँ यदि कोई देव-गुरु-शास्त्र का सच्चा परिचय करना ही छोड़ दे तो वह वस्तुस्वरूप को ही नहीं समझा। प्रथम भूमिका में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का परिचय और उसकी श्रद्धा का शुभविकल्प आये बिना नहीं रहता। बीच में विकल्प का जो राग होता है यदि उसे न माने तो वह विकल्प को दूर करके स्वभाव का लक्ष्य कैसे कर सकेगा? यद्यपि उस शुभराग के द्वारा स्वभाव का लक्ष्य नहीं होता परन्तु स्वभाव का लक्ष्य करते हुए बीच

में शुभविकल्प आ जाता है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग का जो विकल्प उठता है, वह अभावरूप नहीं है, यदि उसे अभावरूप माने तो वह ज्ञान मिथ्या है, तथा यदि उस राग को सम्यग्दर्शन का कारण मान लिया जाए तो वह मान्यता (श्रद्धा) भी मिथ्या है। बीच में शुभराग आता तो है किन्तु उसे जानकर भी सम्यग्दर्शन का कारण न माने तो वह प्रमाण है, अर्थात् ज्ञान और मान्यता दोनों सच हैं।

आत्मा का स्वभाव अनन्त गुणस्वरूप निर्विकार है, और उसे जाननेवाला तथा श्रद्धा में लानेवाला सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी विकाररहित है। देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी शुभ विकल्प भी राग है, विकार है, विकार करते-करते आत्मा का निर्विकार स्वभाव कभी प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि कारण में विकार हो तो उसका कार्य निर्विकार कभी भी नहीं हो सकता। कारण और कार्य एक ही जाति के होते हैं। यहाँ यह बताना है कि राग के द्वारा भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती, किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के द्वारा ही सच्ची स्तुति होती है। भगवान सम्पूर्ण वीतराग हैं, वीतराग की स्तुति राग के द्वारा नहीं हो सकती, किन्तु वीतरागभाव से ही हो सकती है। सम्यग्दर्शन ही सर्व प्रथम स्तुति है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर आंशिक वीतरागभाव प्रगट होते हैं। जितना वीतरागभाव प्रगट होता है, उतनी ही निश्चयस्तुति है, और जो राग शेष रह जाता है, वह निश्चयस्तुति नहीं है।

यह बारम्बार कहा गया है कि शुभराग आत्मा के निर्विकार स्वरूप के लिए सहायक नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि—शुभभाव भी पाप है, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा इत्यादि के भावों से पुण्य होता है, किन्तु यहाँ पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करने को नहीं कहा है। किसी जीव की हिंसा-चोरी इत्यादि का भाव करना सो पाप है, और पर जीव की दया, दान, सेवा इत्यादि की जो भावना है सो लौकिक पुण्य है, एवं सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करके उनकी भक्ति इत्यादि के शुभभाव करना सो उसमें अलौकिक पुण्य है। यह पुण्य भी वास्तव में धर्म का कारण नहीं है, किन्तु यह प्राथमिक दशा में आये बिना नहीं रहता। अपना स्वरूप उस शुभराग से अलग है, जो यह जानता है वह जितेन्द्रिय अर्थात् सम्यग्दृष्टि है, और वही भगवान का सच्चा भक्त है।

अनादि अनन्त बन्ध पर्याय के वश होकर जिसमें समस्त निज पर का विभाव अस्त हो गया है (जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखायी नहीं देता) ऐसी

शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ है, उन्हें अपने से अलग कर दिया है। उन्हें कैसे अलग किया है सो कहते हैं, निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त जो अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव है, उसके अवलम्बन के बल से अलग किया है।

अज्ञानी को 'अनादि-अनन्तरूप बन्ध पर्याय के वश' की बात समझायी जा रही है। सम्यग्दर्शन से पूर्व भी यह जीव इतना तो समझा ही है कि मैं अनादि काल से हूँ और अनादि काल से मुझमें बन्ध पर्याय हो रही है; मैं पहले मुक्त था और बाद में बँध गया ऐसी बात नहीं है, किन्तु बन्धन अनादि काल से है, और उस बन्धन से मैं अपने आत्मा को अलग करना चाहता हूँ। जो बन्धन है उससे आत्मा अलग हो सकता है। जो आत्मा भेद करने का प्रयत्न करता है, वही भिन्नता कर सकता है, मैं दोनों के बीच भेद करना चाहता हूँ (दोनों को अलग करना चाहता हूँ), किन्तु जगत में दूसरे अनन्त आत्मा हैं, जो सब भेद करने का पुरुषार्थ नहीं करते; तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है और प्रत्येक का पुरुषार्थ स्वतन्त्र है। इतनी बात तो सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ही समझने के लिए आनेवाले जीव ने स्वीकार कर ली है।

बन्धन अनादि काल से है किन्तु मेरा स्वरूप बन्धन स्वरूप नहीं है, इसलिए बन्धन दूर हो सकता है, इतना मानकर जीव बन्धन को दूर करने का उपाय करने के लिए आया है। जीव की भूल तो अनादि काल से हो रही है किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा उस भूल को जो नष्ट कर देता है, उसकी बलिहारी है। 'बन्ध पर्याय के वश' का अर्थ यह है कि-मेरी पर्याय में बन्धन है, उसके वशीभूत होकर भूल हुई है, अर्थात् मैंने बन्ध पर्याय को अपना मानकर भूल की है, किसी दूसरे ने भूल नहीं करायी है तथा किसी ईश्वर की प्रेरणा से मैंने भूल नहीं की है। जो यह सब समझता है उसके व्यवहार शुद्धि होती है, जब जीव इतना समझता है, तब वह गृहीत मिथ्यात्व से छूटकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के उपाय की ओर उन्मुख होता है, किन्तु अभी यहाँ तक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ है। अब यहाँ यह बताते हैं कि भेदज्ञान किस प्रकार करता है।

शरीर परिणाम को प्राप्त जो इन्द्रियाँ हैं उन्हें चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल द्वारा आत्मा से अलग कर दिया सो यह भेदज्ञान है। यहाँ 'शरीर परिणाम को प्राप्त जो इन्द्रियाँ' इतना कहकर जड़वस्तु और उसका परिणमन दोनों सिद्ध किये हैं। चेतन से भिन्न

जो जड़ वस्तु है, उसका अपना स्वतन्त्र परिणमन है, वह स्वयं अपने परिणमन से बदलकर इन्द्रियादिरूप होती है। चेतन का परिणमन और जड़ का परिणमन अलग-अलग है। परमाणु स्वतन्त्र वस्तु है, अभी जिन परमाणुओं की शरीररूप अवस्था हुई है, इससे पूर्व वे परमाणु दूसरी पर्याय के रूप में थे। इस प्रकार परमाणु बदलते रहते हैं और वही परमाणु बदलकर इन्द्रियरूप हुए हैं, इसलिए इन्द्रियों और इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला राग मिश्रित ज्ञान दोनों मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु एकरूप जो चैतन्य है सो मैं हूँ—इस प्रकार परिचय करके यदि इन्द्रिय सम्बन्धी राग को छोड़ दे तो उन परमाणुओं में भी इन्द्रियरूप अवस्था बदलकर अलग हो जायेगी। तू अपने ज्ञान को इन्द्रियों की ओर से खींच ले तो इन्द्रियों के परमाणु स्वयं दूसरी अवस्थारूप में परिणमित हो जायेंगे। तू अपने ज्ञान को स्वान्मुख कर तो इन्द्रियों का निमित्तभाव भी छूट जायेगा। यह बात तो अभी सम्यग्दर्शन को प्रगट करने के लिए है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रियों से मेरा चैतन्यस्वभाव अलग है, ऐसे प्रवीण भेदज्ञान के अभ्यास से अपने चैतन्यस्वभाव को इन्द्रियों से पृथक् अनुभव करना सो द्रव्येन्द्रियों को जीतना है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय को जीतने की बात कहकर अब भावेन्द्रिय को जीतने की बात कहते हैं। यद्यपि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसके विषयभूत पर द्रव्यों को जीतना (उनसे भिन्नत्व का ज्ञान) एक ही साथ होता है, परन्तु यहाँ क्रम से बात कही गयी है। जहाँ अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का परिचय करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया कि वहाँ उन तीनों को अपने से अलग जान लिया है। इससे पहले यह बताया गया है कि द्रव्येन्द्रिय की भिन्नता किस प्रकार है।

अब यहाँ यह बतलाते हैं कि—भावेन्द्रिय का पृथक्त्व किस प्रकार है। 'भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो खण्ड-खण्डरूप में ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप जानती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों की प्रतीति में आने पर अखण्ड एक चैतन्य शक्तिभाव के द्वारा अपने से अलग जानकर इन भावेन्द्रियों का जीतना हुआ, इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाता है।

भावेन्द्रिय का अर्थ है क्षयोपशम ज्ञान। क्षयोपशम ज्ञान भी आत्मा से भिन्न है, क्योंकि यहाँ निश्चयस्तुति का अधिकार होने से निश्चय स्वभाव क्या है सो बतलाना है। आत्मा का

त्रिकाल केवलज्ञान स्वभाव है, उसकी वर्तमान अपूर्ण दशा को भावेन्द्रिय कहते हैं, वह अल्प क्षयोपशमवाला ज्ञान एक-एक विषय को जानता है। जब वह एक विषय के जानने में प्रवृत्त होता है, तब अन्य विषयों में प्रवृत्त नहीं होता इस प्रकार वह खण्डरूप ज्ञान है; जबकि आत्मा का ज्ञानस्वभाव सबको एक साथ जानने का अखण्डरूप है। जिस ज्ञान में खण्ड होते हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपूर्ण ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा ज्ञानस्वभाव पूर्ण है। पूर्ण स्वभाव क्या है और अपूर्ण स्वभाव क्या है, यह सब ध्यान में आये बिना परमार्थस्वरूप में प्रवेश नहीं हो सकता। पूर्ण स्वभाव की प्रतीति के बिना सम्यक् श्रद्धा नहीं हो सकती। और वर्तमान अपूर्ण दशा का ज्ञान किये बिना परमार्थस्वरूप के लक्ष्य में नहीं पहुँचा जा सकता। परिपूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लेनेवाला ज्ञान निश्चयनय है, और अपूर्ण दशा का ज्ञान करना सो व्यवहारनय है। यदि अवस्था पर से दृष्टि हटाकर निश्चयस्वयप पर दृष्टि करे तो अवस्था के ज्ञान को व्यवहार कहा जाता है। व्यवहार को जाने बिना परमार्थ सच नहीं हो सकता, और निश्चय की श्रद्धा के बिना व्यवहार अकेला नहीं होता; निश्चय और व्यवहार दोनों साथ में ही हैं। अपूर्ण ज्ञानदशारूप व्यवहार को जानकर पूर्णस्वभाव को प्रतीति के बल से, अपूर्णता का निषेध करना सो यही भावेन्द्रिय को जीतने का उपाय है। भावेन्द्रिय को जीतना सो नास्ति से कथन है, और अस्ति भाव से ले तो ज्ञानस्वभाव आत्मा की पहिचान करके उसका लक्ष्य करने पर भावेन्द्रिय का (ज्ञान की अपूर्ण पर्याय का) लक्ष्य छूट जाना सो यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि भगवान की निश्चयस्तुति किस प्रकार हो सकती है। ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष के परिहार से पहली स्तुति होती है, उसके बिना सच्ची स्तुति नहीं होती। ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष अर्थात् ज्ञेय और ज्ञायक का एक मानने का दोष अथवा स्व-पर को एकमेक मानना स्व-पर को भिन्न-भिन्न न मानना सो ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष है। आत्मा ज्ञायक स्वरूप है, उसमें शरीरादिक पर वस्तु को तथा पुण्य-पाप के भावों को एकमेकरूप से मानना सो मिथ्या दर्शन है, क्योंकि उस मान्यता में यथार्थ सत् की स्वीकृति नहीं है। सच्ची समझ के द्वारा उस मिथ्या मान्यता रूप दोष का नाश हो सकता है।

जिसे स्वतन्त्र आत्मस्वभाव प्रगट करना है, उसे सत् स्वरूप को पहिचानना होगा। सत् स्वरूप की शरण के बिना असत् के मार्ग से स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होगी। आत्मा

ज्ञातास्वरूप है। शरीरादिक वस्तुएँ पर हैं, इन्द्रियाँ पर हैं। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होनेवाले परपदार्थ और उन परपदार्थों की ओर होनेवाली पुण्य-पाप की विकारी भावनाएँ—सब आत्मा के ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं। उनसे आत्महित होता है, यह मानना ही मिथ्या दर्शन है। मिथ्या दर्शन का अर्थ है, सत् स्वरूप का अनादर। यही अनन्त संसार का कारण है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थों की एकताबुद्धि का त्याग कैसे हो, और मिथ्या दृष्टिपन कैसे दूर हो? मिथ्यादृष्टिपन के दूर हुए बिना व्रत-तप इत्यादि सच्चे हो ही नहीं सकते धरती के बिना वृक्ष कहाँ उगेंगे? सम्यग्दर्शन के द्वारा वस्तु को जाने बिना कृत तप या चारित्र पालन कहाँ करेगा? जैसे धरती के बिना वृक्ष नहीं होता इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना चारित्रधर्म कदापि नहीं हो सकता। आत्मा के निर्मल स्वरूप की प्रतीति ही प्रथम धर्म जीव की धर्म-भूमिका है। आत्मा धर्मी है और आत्मा की शुद्ध पर्याय धर्म है। धर्मी वस्तु को पहिचाने बिना धर्म नहीं होता। आत्मप्रतीति के बिना राग को कम करे तो पुण्य बन्ध हो जायेगा, किन्तु आत्मधर्म नहीं हो सकता, और आत्मधर्म के बिना भगवान की सच्ची स्तुति नहीं कहलाती। अब यहाँ वह बतलाते हैं कि आत्मधर्म की प्रतीति कैसे हो सकती है?

सर्व प्रथम चैतन्य आत्मबल से यह प्रतीति करनी चाहिए कि मैं इन्द्रियों से भिन्न हूँ। इस प्रतीति के लिए परपदार्थ की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वह स्वपदार्थ के अवलम्बन से होती है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय है। सम्यक्त्व गुण नहीं किन्तु पर्याय है। गुण त्रिकाल रहता है और पर्याय नयी-नयी प्रगट होती है। अनादि काल से जो मिथ्यात्व है सो श्रद्धा-गुण की विकारी दशा है क्षण भर में उस दशा को बदलकर सम्यक्त्व दशा प्रगट की जा सकती है। श्रद्धा-गुण त्रैकालिक है, वह नया प्रगट नहीं होता, तथा नष्ट भी नहीं होता। यदि सम्यक् श्रद्धा कहो तो वह श्रद्धा-गुण की निर्मल पर्याय है, जो कि नवीन प्रगट होता है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है, उसके अनन्त गुण त्रिकाल हैं और इन गुणों की पर्याय नयी-नयी हुआ करती हैं। यह द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जैनदर्शन का मूल या जैनदर्शन की इकाई है। यदि द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप ध्यान में ले तो यह स्वलक्ष्य में आ सकता है कि अपना ज्ञान इन्द्रियादिक परपदार्थ के आधीन नहीं है, किन्तु वह अपनी ओर से ही प्रगट होता है किन्तु जो इन्द्रियों के

अवलम्बन से या राग से ज्ञान का होना मानते हैं, वे द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप को ही नहीं जानते। सम्यग्दर्शन आत्मगुण की पर्याय है जो कि आत्मा में से ही प्रगट होता है, वह किसी देव-गुरु-शास्त्र के आधार से प्रगट नहीं होता।

आत्मा त्रिकाल वस्तु है। वस्तु गुण के बिना नहीं होती। आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान हैं। शक्ति का अर्थ है गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, कर्तृत्व इत्यादि। अनन्त शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में विद्यमान हैं, यह अपनी त्रिकाल शक्तियाँ हैं किन्तु उनकी प्रतीति में अन्तर आने से यह संसार दशा होती है, और उस शक्ति की यथार्थ प्रतीति होने पर मोक्षदशा प्रगट होती है। यह संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं, इनमें से मोक्षदशा तो वर्तमान में (समझने के लिए आनेवाले जीव के) है नहीं, वर्तमान विकार दशा है, इसलिए भेदज्ञान कराते हैं कि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, और ज्ञान विकार से भिन्न है, विकार दोष है, इसलिए विकार आत्मा का स्वरूप नहीं और विकार की ओर जाता हुआ ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार आत्मा के अखण्ड ज्ञानस्वरूप को पर से और विकार से भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है और यही तीर्थंकर केवली भगवान का पहला स्तवन है।

पर से और विकार से भिन्न आत्मतत्त्व अविनाशी है; उसके गुण भी अविनाशी हैं, उसमें ऐसी विपरीत मान्यता करना कि 'पर से मुझे ज्ञान होता है, देव-गुरु-शास्त्र मेरा हित कर देंगे' सो मिथ्यात्व दशा है और वह मिथ्यात्व दशा मेरा स्वरूप नहीं है, पर से मेरा ज्ञान भिन्न है, किसी परद्रव्य से मुझे हानि या लाभ नहीं है, ऐसा अपने ज्ञानस्वरूप में आत्मा की जो यथार्थ मान्यता है, सो सम्यक्त्व दशा है। वस्तु और गुण त्रिकाल हैं, बन्ध और मोक्ष अवस्था में हैं। मोक्षदशा नवीन प्रगट होती है, किन्तु गुण नवीन प्रगट नहीं होता यदि द्रव्य गुण न हो तो वे नवीन प्रगट नहीं होते, और जो द्रव्य गुण हैं वे कभी नष्ट नहीं होते, मात्र उनकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। यदि पर्याय में स्वभाव को भूलकर पर में दृष्टि करें तो वह विपरीत दृष्टि है, और विपरीत दृष्टि में विकारी दशा होती है। यदि पर्याय को स्वोन्मुख करके स्वभाव की दृष्टि करे तो सीधी दृष्टि या द्रव्यदृष्टि है, उस दृष्टि में निर्विकार दशा होती है। मान्यता की विकारी दशा ही संसार का मूल्य है, उस विकारी मान्यता को छोड़कर सच्ची मान्यता करना ही मोक्ष का कारण है, आत्मधर्म के लिए परवस्तु के ग्रहण

या त्याग की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु विपरीत मान्यता का ही त्याग करना होता है। स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा विकारी अवस्था का त्याग ही संसार का त्याग और मुक्तदशा की उत्पत्ति है।

द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों में अपनेपन की मान्यता ही संसार है, उसमें स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर विकार से विदित हो गया है; और मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ, इन्द्रियों और परपदार्थों की ओर जानेवाला ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, जो अखण्ड चैतन्यता है सो मैं हूँ ऐसी स्वभाव की श्रद्धा करना सो उसमें, स्वभाव के बल से स्वयं द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियों को जीता है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है। आत्मा में ज्ञानगुण अखण्ड है, किन्तु ज्ञानगुण की वर्तमान अपूर्ण दशा विषयों को खण्ड-खण्डरूप से जानती है, अपूर्ण ज्ञान खण्ड-खण्डवाला है, सो वह आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है, किन्तु वह अपूर्णता आत्मा की ही अवस्था में है, किसी जड़ में नहीं है। जो अपूर्ण ज्ञान है सो आत्मा का ही अरूपी भाव है, किन्तु आत्मा उतने ज्ञानवाला नहीं है, इसलिए अपूर्ण ज्ञान को ही अपना स्वरूप मान ले और पूरे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति न करे तो स्पष्ट है कि उसने भगवान की सच्ची स्तुति नहीं की है। पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति रखकर अपूर्ण दशा को जानता तो है, किन्तु उससे अपना स्वभाव भिन्न है ऐसा माने तो वह भावेन्द्रियजयी है। परलक्ष्य में खण्ड-खण्ड होनेवाले ज्ञान को स्वोन्मुख करके जितनी अखण्डता की जाती है, उतनी निश्चयस्तुति है।

द्रव्येन्द्रियाँ जड़ हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं। जड़ इन्द्रियों से आत्मा का पृथक्त्व पहले ही बता दिया है, अब यहाँ भावेन्द्रिय से (अपूर्ण ज्ञान से) आत्मा के स्वभाव का पृथक्त्व बतलाते हैं। अपूर्ण ज्ञान को ही पूर्ण आत्मा मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है, क्योंकि जिसने आत्मा को अपूर्ण ज्ञान जितना ही माना है, उसने आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव का अनादर किया है, अर्थात् केवली के परिपूर्ण ज्ञान को भी उसने नहीं माना है इसलिए उसने केवली भगवान की अस्तुति की है। किन्तु जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को पूर्णतया स्वीकार किया है, और यह जाना है कि केवली भगवान को वैसा ज्ञानस्वभाव सम्पूर्ण प्रगट हो गया है, उसी ने केवली भगवान की सच्ची स्तुति की है।

आत्मा का चैतन्य गुण त्रिकाल परिपूर्ण है तथापि पर्याय में ज्ञान अपूर्ण जानता है। अपूर्ण जानना ज्ञान का मूल स्वरूप नहीं है। ज्ञान का स्वभाव एक ही पर्याय में सब कुछ

एक ही साथ जान लेना है, उसकी जगह यदि जीव ऐसा मान ले कि एक के बाद दूसरे यथार्थ को जानने की शक्तिवाला खण्डरूप ज्ञान मेरा स्वरूप है तो वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह पर्याय के लक्ष्य में अटक रहा है। पर्याय है अवश्य, किन्तु यदि अपूर्ण ज्ञान की पर्याय को ही स्वीकार करे तो उसकी व्यवहारदृष्टि ही मिथ्या है, और वह स्थूल गृहीत मिथ्यादृष्टि है। परन्तु अपूर्ण पर्याय को जानने पर यदि ऐसा मान ले कि इस पर्याय जितना ही मैं हूँ, और सम्पूर्ण द्रव्य को भूल जाए तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जब तक अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव को दृष्टि में स्वीकार नहीं करता, तब तक मिथ्यादृष्टिपन दूर नहीं हो सकता।

आत्मा और उसका ज्ञान त्रिकाल है। ज्ञान की वर्तमान पर्याय अपूर्ण है। मेरा ज्ञानस्वभाव पूर्ण है, तथा मेरी कचाई के कारण पर्याय में ज्ञान अपूर्ण है—इतना जो पहले स्वीकार नहीं करता उसे व्यावहारिक स्थूल भ्रान्ति है, अपनी पर्याय का विवेक भी वह चूक गया है, जिसे अपनी पर्याय का ही विवेक नहीं है, वह द्रव्य स्वभाव को भी कहाँ से स्वीकार करेगा ? यदि पहले पर्याय के अस्तित्व को स्वीकार करे तो फिर उसके लक्ष्य को छोड़कर द्रव्य की ओर उन्मुख हो, किन्तु जिसने अभी पर्याय को भी स्वीकार नहीं किया वह कभी द्रव्य की ओर नहीं झुक सकता। क्या ज्ञान की अपूर्ण अवस्था सर्वथा नहीं है ? क्या अपूर्ण दशा का खर-विषाण की तरह सर्वथा अभाव है ? यदि अपूर्ण दशा नहीं है तो क्या अभी तेरा द्रव्य पर्यायरहित है ? अथवा परिपूर्ण दशा विद्यमान है ? यदि पूर्ण दशा हो तो परमानन्द प्रगट होना चाहिए, और सम्पूर्ण ज्ञान एक ही साथ होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है, और द्रव्य, पर्याय रहित कभी होता ही नहीं, इसलिए यह निश्चय से जानना चाहिए कि वर्तमान पर्याय अपूर्ण है। पहले अपूर्ण दशा है, इसे यदि स्वीकार न करे तो समझने का उपाय ही क्यों करे ? पहले अपूर्ण दशा को स्वीकार न करे तो उसका व्यवहार ही मिथ्या है। और यदि मात्र अपूर्ण दशा को ही स्वीकार करे और परिपूर्ण स्वभाव को न समझे तो उसका निश्चय मिथ्या है। पहले अपूर्ण दशा को स्वीकार करने के बाद उस अपूर्ण दशा का ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो अखण्ड पूर्ण हूँ, इस प्रकार स्वभाव की श्रद्धा करे तो उसकी यथार्थ श्रद्धा है, यथार्थ श्रद्धा सहित ज्ञान भी सच्चा होता है। सच्चा ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों को भलीभाँति जानता है। मैं परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, किंचित् मात्र भी अपूर्ण स्वभाव नहीं है और वर्तमान पर्याय अपूर्ण है, इस प्रकार ज्ञान में दोनों को जानने के

बाद, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से ज्ञान अपूर्ण दशा का निषेध करता है, और स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा अपूर्ण दशा को दूर करके पूर्णता प्रगट करता है। इसमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। इसका नाम भगवान की स्तुति है। इसे समझे बिना किसी के सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। अज्ञानीजन मात्र स्तोत्र-पाठ पढ़ जाने को ही स्तुति मानते हैं, और समझ से तो बिल्कुल काम ही नहीं लेते-ऐसे लोगों के सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। स्तुति करनेवाला आत्मा है या जड़ ? भाषा और शब्द तो जड़ हैं, तब क्या जड़ के द्वारा स्तुति हो सकती है ? स्तुति करनेवाला आत्मा है, और आत्मा की जो शुद्ध पर्याय है, वही आत्मा की स्तुति है।

जो पहले द्रव्य, गुण और पर्याय को यथावत् नहीं जानता वह जैन नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु वह जैन व्यवहार तक भी नहीं पहुँच सका है। यदि अपूर्ण पर्याय को ही नहीं मानेगा तो उस अपूर्णता को कौन दूर करेगा ? अपूर्ण पर्याय को स्वीकार करने के बाद इससे भी आगे को जाना है, कि अपूर्ण अवस्था को स्वीकार कर लेने से भी धर्मीपन नहीं आता। यहाँ यह बताया है कि भावेन्द्रिय आत्मा का स्वरूप नहीं है अर्थात् जो समझने के योग्य हो गया है, उस जीव को भावेन्द्रिय (अपूर्ण ज्ञान) की तो खबर है, किन्तु वह सम्पूर्ण स्वभाव और अपूर्ण दशा के बीच भेद नहीं कर सका, उसे अब भेदज्ञान करवा कर ज्ञेय-ज्ञायक संकर-दोष दूर करते हैं।

मैं तो खण्ड एक चैतन्य स्वभाव हूँ, अखण्ड ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो मानता है सो धर्मी-जितेन्द्रिय है। जो जीव अपूर्णता को मानता ही नहीं वह पर्याय को ही स्वीकार नहीं करता, ऐसे जीव की यहाँ बात ही नहीं है, अर्थात् वह तो तीव्र मिथ्यादृष्टि है। जो अपूर्ण दशा को स्वीकार करता है किन्तु उसी को पूर्ण स्वरूप मान बैठा है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसने व्यवहार को स्वीकार किया है, किन्तु परमार्थ को नहीं माना।

अब यहाँ परमार्थ को स्पष्ट करते हैं। प्रतीति में आने पर 'अखण्ड एक चैतन्य शक्ति के द्वारा (भावेन्द्रिय को) अपने से भिन्न जाना'—ऐसा जो कहा है, सो उसमें प्रतीति में आनेवाला जो अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव है, वह परमार्थ है—निश्चय है, और भावेन्द्रियों को अपने से भिन्न जाना—इसमें जाननेवाली पर्याय व्यवहार है। यहाँ प्रत्येक गाथा में निश्चय-व्यवहार की सन्धि पायी जाती है। यह ऐसी अलौकिक रचना है कि प्रत्येक गाथा

में निश्चय और व्यवहार दोनों बतलाकर बाद में व्यवहार को उड़ा दिया है। जो निश्चय एक रूप स्वरूप है सो तू है, जो कि अंगीकार करने योग्य है, किन्तु जो व्यवहार बताया है सो वह तेरा स्वरूप नहीं है और वह आदरणीय नहीं है; इस प्रकार विवेक जागृत किया है।

इसमें त्रिकाल स्वभाव और वर्तमान पर्याय दोनों का ज्ञान आ गया है। मैं अखण्ड एकरूप चैतन्य पिण्ड हूँ ऐसे अस्ति स्वभाव की प्रतीति करना और अपूर्ण खण्डरूप भाव को अपना स्वभाव न मानना सो सम्यग्दर्शन है। यही भावेन्द्रियविजय है और यही सच्ची स्तुति है।

यदि आत्मा की पर्याय में भूल न हो तो आत्मा को समझने का अवसर ही कहाँ रहा ? इसलिए जो भूल ही स्वीकार नहीं करता उसकी यहाँ बात नहीं है, किन्तु जो भूल को स्वीकार करके दूर करने आया है, उसे भूल को दूर करने का उपाय बताया जा रहा है। भूल को स्वीकार कर लेने मात्र से भूल दूर नहीं हो जाती और भूल के दूर हुए बिना धर्म नहीं होता। भूल मेरा स्वरूप नहीं है, विकार या अपूर्णता भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अखण्ड चैतन्यस्वरूप हूँ, त्रिकाल ज्ञानमूर्ति हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करने पर अन्तरंग में अपूर्ण अवस्था का ज्ञान रहे किन्तु प्रतीति में पूर्ण स्वभाव का बल प्रगट हो गया है, वह सम्यक् दृष्टि है, और उसी को भगवान स्वरूप अपनी आत्मा की स्तुति प्रारम्भ हुई है।

सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति करनेवाला जीव श्रद्धा में विकार से अलग हो गया है। मैं शरीर-मन-वाणी नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ और अपूर्ण ज्ञानदशा भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो अखण्ड एकरूप पूर्ण स्वरूप हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तु की प्रतीति करने पर विकार के अनुभव से अलग हुआ सो यही सम्यग्दर्शन, इसी में भगवान की सच्ची स्तुति है। यद्यपि आत्मा की अवस्था अपूर्ण है, किन्तु शक्ति स्वभाव से आत्मा त्रिकाल पूर्ण है, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की वाटिका का फल (समूह) तो आत्मा ही है। आत्मा के स्वभाव में से ही केवलज्ञान और केवल दर्शनादिक प्रगट होते हैं, कहीं बाहर से नहीं आते। केवलज्ञानादि को प्रगट करने की शक्ति का कन्द तो भीतर ही पड़ा है, किन्तु स्वभाव शक्ति के प्रतीतिरूप पोषण के अभाव से केवलज्ञान रुका हुआ है; जहाँ पूर्ण स्वभाव का प्रतीतिरूप पोषण मिला कि वहाँ केवलज्ञानादिरूप फल प्रगट हो

जाता है। मात्र श्रद्धा के अभाव से ही पर्याय रुक रही है। जगत को बाहर की श्रद्धा जमी हुई है, वह पुण्य की-विकार की श्रद्धा करता है, किन्तु अन्तरंग में जो केवल ज्ञानस्वभाव विद्यमान है, उसकी श्रद्धा नहीं करता; यही संसार का कारण है।

जगत के लोग यह विश्वास तो कर लेते हैं कि मोर के छोटे से अण्डे में से रंग-बिरंगे पंखोंवाला तीन हाथ मोर निकलेगा किन्तु इस अखण्डानन्द आत्मा के स्वभाव के प्रतीतिरूप अण्डे में से केवलज्ञान रूपी मोर प्रगट होता है। इस स्वभाव-महिमा की प्रतीति नहीं होती, और श्रद्धा में यह स्वभाव भाव नहीं जमता। स्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यक् श्रद्धा होती है और स्वभाव की स्थिरता के द्वारा वीतरागता तथा केवलज्ञान होता है; वह केवलज्ञान बाह्य अवलम्बन से नहीं आता किन्तु अन्तरंग स्वभाव से ही प्रगट होता है। अखण्ड स्वभाव की प्रतीति के बल से स्वाश्रय से गुण की पूर्ण परिणति प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान के प्रगट होने में अपूर्ण ज्ञान का अवलम्बन भी नहीं है। खण्ड-खण्ड ज्ञान के आश्रय से सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान नहीं होता, इसलिए यहाँ यह कहा है कि खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान अर्थात् भावेन्द्रिय आत्मा के स्वभाव से भिन्न है।

ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, स्वभाव के कारण ज्ञान की अपूर्ण अवस्था नहीं होती। अपूर्णता पर निमित्त में युक्त होने से होती है, इसलिए वह अपूर्ण ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा का स्वरूप सम्पूर्ण जानना है; पूर्ण ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है-इस प्रकार पूर्ण की श्रद्धा के बल से केवलज्ञान प्रगट होता है, किन्तु यहाँ केवलज्ञान प्रगट होने से पूर्व पूर्ण स्वभाव की सच्ची श्रद्धा और ज्ञान करने की बात चल रही है। जिसे पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा ही नहीं है, वह पूर्णदशा लायेगा कहाँ से! क्योंकि 'मूलं नास्ति कुतोशाखा' अर्थात् जहाँ मूल ही नहीं है-जड़ ही नहीं है, वहाँ वृक्ष कहाँ से होगा? इसी प्रकार सम्यक् श्रद्धाहीन कोई व्यक्ति कहे कि मैंने बहुत कुछ धर्म किया है तो उसकी बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि सम्यक्श्रद्धाज्ञान रूपी बीज के बिना केवलदर्शन और केवलज्ञानरूपी वृक्ष कहाँ से आयेंगे? जिसके श्रद्धारूपी जड़ पक्की होगी, उसके वृक्ष अंकुरित होकर कुछ ही समय में केवलज्ञानादि रूपी फल अवश्य उत्पन्न होंगे। इसलिए जैनधर्म सर्व प्रथम सम्यक्श्रद्धा करने पर भार देता है। जो अपूर्ण अवस्था को आत्मा का सच्चा स्वरूप मान लेता है, वह आत्मा के पूर्ण स्वरूप की हत्या करता है। और जिसने यह माना है कि—अपूर्ण अवस्था से मेरा त्रिकाल स्वरूप भिन्न है, वह भावेन्द्रिय को जीतता है, यही भगवान की स्तुति है।

यहाँ ज्ञान की अपूर्ण दशा से अपने को भिन्न जानने की बात कही है, किन्तु ज्ञान की अपूर्ण दशा उस समय आत्मा से अलग नहीं की जा सकती, आत्मा से अवस्था अलग नहीं की जा सकती। किन्तु त्रिकाल परिपूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से यह प्रतीति में लेता है कि यह अपूर्ण दशा मेरा स्वरूप नहीं है, जो अपूर्णता है सो मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं अखण्ड चैतन्यमूर्ति हूँ। इस प्रकार स्वभाव की ओर लक्ष्य करने पर पर्याय का लक्ष्य छूट जाता है, उसमें 'भावेन्द्रिय को अलग कर दिया' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से अपना स्वरूप भावेन्द्रिय से भिन्न है, यह प्रतीति में लिया सो जितेन्द्रियता है, और यही भगवान की सच्ची स्तुति है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से आत्मा की भिन्नता बतानेवाली बात कही है।

अब यहाँ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से आत्मा की भिन्नता बतलाते हैं—ग्राह्य ग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन के साथ परस्पर एक से हुए दिखायी देते हैं, ऐसे भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले जो इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ हैं, उन्हें अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली जो असंगति है, उसके द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न किया, सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इसका विस्तृत विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

ग्राह्य=जाननेयोग्य परपदार्थ। ग्राहक=जाननेवाला ज्ञान। यहाँ पहले ही 'ग्राह्य ग्राहक' कहकर परवस्तुओं और आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। 'जगत सब कल्पना मात्र है, परवस्तुएँ कुछ हैं ही नहीं,' इस प्रकार जो वस्तु का अस्वीकार करता है और यह मानता है कि एक आत्मा ही सर्व व्यापी है सो वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक-एक आत्मा अपने से पूर्ण है, ऐसा न मानकर 'सब मिलकर एक ही आत्मा है, और सब उसी के अंश हैं' इस प्रकार जो मानता है, वह एक आत्मा को अनन्तवाँ भाग मानता है, और जगत के अनन्त आत्माओं को भी पूर्ण स्वरूप से न मानकर अनन्तवाँ भाग माना है। उस मान्यता में अनन्त जीव हिंसा का पाप है। इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे सब अपने स्वरूप से पूर्ण हैं, देव-गुरु-शास्त्र हैं, कर्म हैं, जड़ पदार्थ हैं, राग है, संसार है, मोक्ष है; यह सब स्वीकार करने के बाद उन देव-गुरु-शास्त्र या रागादि के साथ आत्मा का कैसा सम्बन्ध है, सो कहते हैं।

आत्मा और समस्त पदार्थों का ग्राह्य ग्राहक लक्षणवाला सम्बन्ध अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। पंचेन्द्रियों के विषयों की ओर का जो लक्ष्य है, सो शुभ या अशुभ राग है। देव-गुरु-शास्त्र शुभराग के निमित्त हैं, और स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि अशुभ राग के निमित्त हैं। शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार का राग इन्द्रिय-विषयों के लक्ष्य से ही होता है, स्वभाव के विषय में किसी प्रकार का राग नहीं होता; इसलिए देव-गुरु-शास्त्र तथा स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि के लक्ष्य होनेवाला शुभाशुभराग भी परमार्थ से तो ज्ञेय में ही जाता है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से राग नहीं होता, इसलिए आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है, और इसलिए राग ज्ञेय पदार्थ में जाता है, तथा ज्ञानस्वभाव उसे जाननेवाला है; इस प्रकार ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है।

देव-गुरु-शास्त्र और रागादि के साथ आत्मा का ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध है, आत्मा उस सबको जाननेवाला है और वे सब जाननेयोग्य हैं, वहाँ उसे जानते हुए यदि यह माने कि यह वस्तु मुझे हानि-लाभ करेगी तो वह मिथ्यादृष्टि है। मात्र जानने में राग-द्वेष कहाँ है?

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता के कारण आत्मा और पर पदार्थ एक से दिखायी देते हैं, किन्तु एक नहीं हैं भिन्न ही हैं, यहाँ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता बतलाते हैं— जिस प्रकार का ज्ञेय प्रस्तुत हो वैसा ही आत्मा में ज्ञान होता है, और जैसा ज्ञान होता है वैसा ही प्रस्तुत ज्ञेय होता है। सामने सफेद मूर्ति विद्यमान हो और ज्ञान में काली हंडिया ज्ञात हो, ऐसा नहीं होता; ज्ञेय ज्ञायक का ऐसा मेल है, उसे यहाँ निकट सम्बन्ध कहा है; निकट सम्बन्ध दो पदार्थों का पृथक्त्व बतलाता है, यदि ज्ञेय के आधार से ज्ञान हो तो ज्ञेय ज्ञायक में निकट सम्बन्ध नहीं रहा किन्तु दोनों एकमेक हो गये। ज्ञान और ज्ञेय की एकता नहीं है इसलिए ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञेय और ज्ञान का निकट सम्बन्ध होने पर भी ज्ञेय पदार्थों के कारण ज्ञान नहीं होता।

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की ऐसी निकटता है कि सामने अलमारी हो तो ज्ञान में अलमारी ही ज्ञात होती है, घड़ी हो तो घड़ी दिखायी देती है, घड़ी में चार बजकर सत्रह मिनिट हुए हों तो ज्ञान में वैसा ही ज्ञान होता है; तात्पर्य यह है कि सामने जैसा भी पदार्थ हो ज्ञान वैसा ही स्वतन्त्रतया जान लेता है। जो ऐसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को नहीं समझता

उस अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि मेरा ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के आश्रय से होता है। जब राग होता है, तब ज्ञान में राग ही प्रतीत होता है, द्वेष नहीं इसलिए मेरा ज्ञान राग के आधीन है। इस प्रकार अज्ञानी अपने ज्ञान को पराधीन मानकर ज्ञेय ज्ञायक संकर-दोष उत्पन्न करता है, और इसलिए उसे ज्ञेय पदार्थों से भिन्न अपने स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है। यहाँ ज्ञेय ज्ञायक की भिन्नता समझाते हैं कि भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव स्वत: जाननेवाला है, और समस्त ज्ञेय तेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, ऐसा ज्ञेय ज्ञायकता का निकट सम्बन्ध है, किन्तु कर्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए समस्त पदार्थों से अपने ज्ञानस्वरूप को भिन्न मान।

यह भगवान की स्तुति की बात चल रही है। जैसा भगवान ने किया वैसा करने से भगवान की स्तुति होती है या उससे कुछ दूसरा करने से? भगवान ने तो सर्व से और विकार पर से अपने ज्ञानस्वभाव को अलग जाना है, और राग-द्वेष को दूर करके उसमें स्थिर हुए तब उनके पूर्ण दशा प्रगट हुई है। उन भगवान की स्तुति करने के लिए पहले यह निश्चय करना चाहिए कि—भगवान की ही भाँति मेरा ज्ञान-स्वभाव पर से विकार से भिन्न है; तभी भगवान की सच्ची स्तुति हो सकती है, दूसरे उपाय से नहीं।

जैसे भगवान का केवलज्ञान किसी पर पदार्थ के आधार से नहीं जानता उसी प्रकार निम्न दशा में उसे ज्ञान पर के आधार से नहीं जानता, किन्तु स्वत: जानता है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता उस भूल का कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को कर्ता-कर्म रूप से मान लेता है, यही विपरीत मान्यता है, और यह मान्यता ही विकार का मूल है। यदि ज्ञेय पदार्थों के साथ निकट सम्बन्ध भूल का कारण हो तो केवली भगवान को बहुत से भूलें होनी चाहिए क्योंकि वे सभी ज्ञेयों को जानते हैं; ज्ञान में जो वस्तु ज्ञात होती है वह भूल का कारण नहीं है। ज्ञान में अधिक वस्तुएँ ज्ञात हों या थोड़ी वह आत्मा के चैतन्यस्वभाव की घोषणा है। उस समय 'मैं आत्मा तो जाननेवाला हूँ, राग करनेवाला नहीं हूँ, पर के कारण मेरा ज्ञान नहीं होता' इस प्रकार अपनी स्वाधीनता की श्रद्धा करने की जगह यह माने ले कि 'परवस्तु के कारण अपना ज्ञान हुआ है और ज्ञान में परवस्तु ज्ञात हुई इसलिए राग हुआ है, अर्थात् मेरा ज्ञान ही रागवाला है' सो यही भूल है। ज्ञेय का लक्ष्य करते हुए अपने सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव को ही भूल जाता है, और इसलिए ज्ञेय पदार्थों के साथ

ज्ञान का एकत्व भासित होता है। किन्तु ज्ञेयों को जानकर 'मेरा ज्ञानस्वभाव सबसे भिन्न ही है' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को अलग ही प्रतीति में लेना, सो यही इन्द्रियों के विषयों को अलग करना है। जिसने ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की है, उसने अस्थिरता के कारण पर लक्ष्य से होनेवाले अल्प राग-द्वेष भी वास्तव में ज्ञेयरूप में ही हैं, जो राग-द्वेष होता है, सो उसे वह जान लेता है किन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं मानता, यही भगवान की सच्ची स्तुति है, यही धर्म है।

हे भाई! तुझे धर्म करना है, सुखी होना है, किन्तु मैं कौन हूँ और पर कौन है, ऐसे स्व-पर के पृथक्त्व को जाने बिना तू अपने में क्या करेगा? पहले परपदार्थों से अपने पृथकत्व को तो पहिचान! समस्त परपदार्थों से मेरा स्वरूप भिन्न है, यह निश्चय करने पर अनंत परवस्तु की दृष्टि दूर होकर स्वभाव की दृष्टि में आ गया अथात् सम्यक् दर्शन हो गया। बस, यहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है इसलिए सब प्रथम आचार्य भगवान स्व-पर का स्वरूप बताकर भेदविज्ञान ही कराते हैं, भेदविज्ञान से ही सर्व सिद्धि होती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है और पर वस्तुएँ उसका ज्ञेय हैं। ज्ञान आत्मा को लेकर है और ज्ञेय वस्तुओं को लेकर है। दोनों अपने-अपने स्वतन्त्र कारण से हैं, किन्तु उन्हें ज्ञेय ज्ञायक की निकटता का व्यावहारिक सम्बन्ध अनादि काल से है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को यहाँ व्यावहारिक सम्बन्ध इसलिए कहा है कि वह पर्याय की अपेक्षा से है, द्रव्य की अपेक्षा से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। स्वद्रव्य और परद्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं, तथापि अज्ञानी को ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता से मानों स्व-पर एक हो जाते हों इस प्रकार एक से भासित होते हैं, पृथक्त्व भासित नहीं होता। स्व और पर एक नहीं हैं, किन्तु एक से भासित होते हैं, इसलिए अज्ञान है। यदि स्व-पर के पृथक्त्व को जान ले तो अज्ञान न रहे।

अच्छे मिष्टान्न को देखने पर उस समय राग होता है, और मुँह में पानी आ जाता है। वहाँ मिष्टान्न के कारण अथवा उसके ज्ञान के कारण राग नहीं हुआ है, और न मुँह में पानी आने का कारण कोई रोग है। मिष्टान्न अलग वस्तु है, ज्ञान अलग है, राग अलग है, और मुँह में जो पानी आया है सो वह अलग है। ज्ञान जाननेवाला है, और मिष्टान्न, राग, पानी, ज्ञेय हैं। ज्ञानी उस होनेवाले राग को जानता अवश्य है, किन्तु उसे अपना स्वभाव नहीं

मानता। और अज्ञानी उस राग को जानता है, किन्तु वह उस राग और ज्ञान के बीच भेद नहीं कर सकता, अर्थात् राग को अपना स्वरूप मान बैठा है। यहाँ आचार्यदेव ने राग और ज्ञान के बीच सूक्ष्म भेदज्ञान कराया है। आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान क्षयोपशम होता है, उसी प्रकार का ज्ञेय स्वयं विद्यमान होता है, वहाँ जिसे आत्मा का लक्ष्य नहीं है, उसे यह खबर नहीं है कि अपना ज्ञान आत्मा में से ही प्रगट होता है, इसलिए 'यह प्रस्तुत वस्तु ऐसी है जिसके कारण मुझे ज्ञान हुआ है' इस प्रकार अज्ञानी को ज्ञेय और ज्ञायक एक-से मालूम होते हैं, किन्तु वे एक नहीं हैं, अपनी चैतन्य शक्ति का स्वयमेव अनुभव में आनेवाला जो असंग भाव है, सो उसके द्वारा पृथक्त्व स्पष्ट भासित होता है। चैतन्य शक्ति असंग है, वह अपने स्वभाव से ही जानती है, किसी पर पदार्थ के संयोग से नहीं है।

प्रश्न—यदि आप यह कहेंगे कि ज्ञेय पदार्थ के कारण से ज्ञान नहीं होता तो कोई सत् शास्त्रों का बहुमान नहीं करेगा; क्योंकि शास्त्र के कारण से तो ज्ञान होता नहीं है ?

उत्तर—जो सत्य को समझेगा उसी को सत् के निमित्तों की ओर का यथार्थ शुभ विकल्प उठेगा। शास्त्र के कारण ज्ञान नहीं हुआ है, किन्तु जब स्वयं सत्य को समझता है तब सत् शास्त्रादिक ही निमित्त के रूप में होते हैं। जब निमित्त की ओर से लक्ष्य को हटाकर निज में लक्ष्य किया तब सत्य को समझता है, और तभी परवस्तु में निमित्तपन का उपचार होता है। कोई जीव परमार्थ से देव-गुरु-शास्त्रादि परपदार्थों का बहुमान नहीं करता, किन्तु अपने को जो सत् समझ में आया है, उस सत् समझ का ही स्वयं बहुमान करता है, किन्तु अभी वीतराग दशा नहीं है। इसलिए सत् को समझने का बहुमान करने पर शुभविकल्प उठता है, और शुभविकल्प के समय अशुभ निमित्तों का लक्ष्य नहीं होता, किन्तु सच्चे देव-गुरु-शास्त्रादिक शुभ निमित्तों का ही लक्ष्य होता है; इस प्रकार यथार्थ समझ होने पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान का शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहेगा। किन्तु जो जीव देव-गुरु-शास्त्र के कारण से आत्मा का ज्ञान होना मानता है, वह अपने स्वाधीन तत्त्व की हिंसा करता है, और देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा का अनादर करता है। देव-गुरु-शास्त्र तो यह बतलाते हैं कि-तू ज्ञान स्वरूप है, तेरा ज्ञान तेरे स्वभाव में से ही प्रगट होता है, तेरे ज्ञान के लिए पर का आधार नहीं है, ऐसा न मानकर जो ऐसा विपरीत मानता है कि - मेरा ज्ञान पर के आधार से प्रगट होता है, वह देव-गुरु-शास्त्र के कथन को नहीं मानता।

'ज्ञान अमुक इन्द्रियों के विषय में लग गया है' ऐसा कहा जाता है, वहाँ विषय जड़ नहीं किन्तु राग है; परवस्तु में ज्ञान नहीं रुकता, किन्तु परवस्तु को जानने पर स्वयं रागभाव करके राग में अटक जाता है। जानने में राग करके अटक जाना ही विषय है। स्व-विषय का लक्ष्य छोड़कर पर में लक्ष्य का जाना ही विषय है। ज्ञान की एकता आत्मा के साथ करने की जगह पर लक्ष्य में ज्ञान की एकता हुई सो यही विषय है। राग और राग का निमित्त परवस्तु दोनों को एक करके उसे 'इन्द्रिय विषय' कहकर आत्मा से अलग कहा है। एक ओर मात्र ज्ञानस्वभाव रखा है, दूसरी ओर सब ज्ञेय में अन्तर्हित कर दिया; इस प्रकार दृष्टि के द्वारा दो भेद ही कर डाले हैं। शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार का राग, और उस राग के निमित्त आदि सबसे मैं अलग ज्ञाता ही हूँ ऐसे असंग स्वरूप का ज्ञान करना ही इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थों को जीतना है।

यहाँ 'इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ' कहा है, इसलिए किसी को प्रश्न उठ सकता है कि—स्पर्शादिक तो गुण है, तब उन्हें पदार्थ क्यों कहा है ? उसका समाधान यह है कि—यद्यपि स्पर्शादिक गुण हैं, किन्तु गुण-गुणी के अभिन्न होने से स्पर्शादिक गुण के जानने पर वस्तु ही साथ ही साथ ज्ञात हो जाती है, इस अपेक्षा से यहाँ स्पर्शादि को पदार्थ कहकर गुण और वस्तु की अभिन्नता से कथन किया है। और फिर यहाँ स्पर्शादि कहने का यह भी आशय है कि यहाँ इन्द्रियों के विषय का वर्णन है। इन्द्रियों के द्वारा परमाणु ज्ञात नहीं होता, तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण यह सभी गुण एक साथ ज्ञात नहीं होते, किन्तु स्पर्शादि एक गुण ही ज्ञात होता है, इसलिए यहाँ स्पर्शादिक पदार्थ कहा है।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों की ओर लक्ष्य करने पर राग का अनुभव होता है, किन्तु यह प्रतीति में लेने पर कि मेरा ज्ञान विषयों से भिन्न है—चैतन्य की असंगता स्वयमेव अनुभव में आती है, वहाँ राग की या इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है। ज्ञान के समय पर वस्तुएँ भले ही विद्यमान हों किन्तु उन वस्तुओं के आधार से ज्ञान का विकास नहीं हुआ है, ज्ञान का विकास तो मात्र ज्ञानस्वभाव के ही आधार से होता है। चैतन्य का ज्ञान राग में या पर में नहीं मिल जाता, इसलिए वह असंग है। ज्ञान पर के आधार से तो होता ही नहीं, किन्तु वास्तव में ज्ञान अपनी ज्ञानदशा को ही जानता है, पर को नहीं जानता, ज्ञान के द्वारा स्वयमेव ज्ञान का अनुभव करने पर परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं।

परपदार्थों से ज्ञान की भिन्नता ही है, इस प्रकार स्वयमेव (मात्र आत्मा से) अनुभव में आनेवाली जो असंगता है, उसकी श्रद्धा के द्वारा इन्द्रियों के विषयभूत परद्रव्यों को अपने से जुदा कर दिया। असंग चैतन्यस्वरूप का अनुभव करने पर राग और परद्रव्यों का लक्ष्य छूट जाता है, इसी को जितेन्द्रियता कहा है। जो असंग चैतन्यस्वरूप और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों की एकता मानकर संग-असंगता की खिचड़ी बनाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, संकर दोष युक्त हैं और चैतन्य की असंगता की श्रद्धा के द्वारा उस विपरीत मान्यतारूप संकर दोष का परिहार होता है; संकर दोष का परिहार भगवान की सच्ची स्तुति है।

भगवान की सच्ची स्तुति तीन प्रकार हैं। उसमें से द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय को जीतने के दो प्रकार कहे जा चुके हैं, यहाँ तीसरे की चर्चा है। पर पदार्थों से अपनी असंगता है, ऐसी दृष्टि के द्वारा अपने ज्ञानस्वभाव से परपदार्थ को सर्वथा अलग किया-अलग जाना सो परपदार्थों को जीतना है। मैं अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा जड़ इन्द्रियों से भिन्न हूँ, खण्ड-खण्ड ज्ञान से भिन्न अर्थात् अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं हूँ, और सर्व ज्ञेय पदार्थों से भिन्न हूँ, ऐसी अन्तरंग स्वभाव की दृष्टि का होना ही सच्ची स्तुति है। परपदार्थ की सहायता से मुझे आत्म-लाभ होता है, ऐसी मान्यता छोड़कर अपने स्वभाव में एकाग्रता करना सो उसका लाभ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीतना अथवा सम्यग्दर्शन है और यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

प्रश्न—इसमें कहीं भी भगवान का तो नाम ही नहीं आता और मात्र आत्मा ही आत्मा की बात है, तब फिर इसे भगवान की स्तुति कैसे कहते हो?

उत्तर—यहाँ भगवान की निश्चयस्तुति की बात है। निश्चय से तो जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही स्वयं है, इसलिए निश्चय में आत्मा की ही बात आती है। पर की स्तुति (भगवान का लक्ष्य) निश्चयस्तुति नहीं है, किन्तु शुभराग है। अपने पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करना ही भगवान की निश्चयस्तुति है-यही आत्मधर्म है। अपने लिए तो स्वयं ही भगवान है, इसलिए निश्चय से जो अपनी स्तुति है सो वही भगवान की स्तुति है। भगवान में और अपने में निश्चय से कोई भी अन्तर माने तो वह भगवान की स्तुति नहीं कर सकता। दृष्टि में असंग चैतन्यस्वरूप की स्तुति की सो वह जितेनिद्रय हो गया। अपने अलग स्वरूप की दृष्टि करने पर सभी पर पदार्थों को और विकार को अपने में पृथक् जानना ही

जितेन्द्रियता है। यहाँ टीका में द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पर पदार्थों को जीतने की बात क्रमशः की गयी है, परन्तु उसमें कोई क्रम नहीं होता। जहाँ अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ कि वहाँ तीनों का जीतना एक ही साथ होता है। यहाँ जीतने का अर्थ उन पदार्थों का दूर ढकेल देना नहीं है, और न उन पर द्रव्यों में कोई परिवर्तन ही करना है, किन्तु अपना लक्ष्य अपनी ओर करके उन्हें लक्ष्य में से दूर करना है। उन सबकी ओर के लक्ष्य को छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य किया सो यही उनका जीतना है।

द्रव्येन्द्रियों से खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान से या ज्ञेय पदार्थों से आत्मा का सम्यग्दर्शनादि कार्य कर सकता हूँ। ऐसी मान्यता में ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष है, स्व-पर की एकत्व मान्यता है, और यही मिथ्यात्व है, किन्तु उस ओर से लक्ष्य को छोड़कर स्वलक्ष्य से उस स्व-पर के एकत्व की मान्यता को छोड़ देने पर संकर दोष दूर हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ। परन्तु यदि इन्द्रियों से ज्ञान माने या विकल्प से अथवा परवस्तु से ज्ञान माने तो उसका ज्ञान कभी भी वहाँ से हटे ही नहीं; किन्तु मेरा ज्ञान स्वतन्त्र है, जड़ इन्द्रियों की, विकल्प की या पर वस्तु की मेरे ज्ञान में नास्ति है, यदि इसे समझ ले तो ज्ञानस्वभाव में लक्ष्य करे और उन पर से ज्ञान का लक्ष्य हटा ले।

यहाँ द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत परपदार्थों से ज्ञानस्वभाव अलग है, यह बात तीन प्रकार से भेद करके बतायी है, किन्तु वास्तव में तीनों में एक ही का समझाना है कि—तेरा जो लक्ष्य पर की ओर जाता है, उसे अपनी ओर कर। जब तेरा लक्ष्य अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव से हटा है तब वह जड़ इन्द्रियों पर गया है, और जब जड़ इन्द्रियों की ओर लक्ष्य गया तब ज्ञान में भेद होकर भावेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, और भावेन्द्रियों के द्वारा जाननेवाला ज्ञान पर ज्ञेयों को ही जानता है, इसलिए उन तीनों का निषेध करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का लक्ष्य कराया है।

अतीन्द्रिय आत्मा इन्द्रियों से परे है। उसका लक्ष्य करने पर इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है, वही इन्द्रियों का जीतना है। परसन्मुख होने में द्रव्येन्द्रियादिक तीनों एक साथ आते हैं, और स्व-सन्मुख होने पर तीनों के अवलम्बन का एक साथ अभाव होता है। निमित्त खण्ड और पर इन तीनों से परे स्वतन्त्र, अखण्ड चैतन्य स्वभाव की ओर ढलकर उसकी प्रतीति करना ही धर्म है, यही अनन्त तीर्थंकरों की सच्ची स्तुति है।

इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप के लक्ष्य से इन्द्रियादि को जीतकर स्तुति की सो उस स्तुति के फल का यहाँ कुछ वर्णन करते हैं। 'इस प्रकार द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीतकर, (अज्ञानदशा में) जो ज्ञेय ज्ञायक संकर नामक दोष आता था वह सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थत: भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है।'

(श्री समयसार-गुजराती, पृष्ठ ५७)

यहाँ आचार्यदेव ने सम्यग्दृष्टि को निश्चय में जिन कहा है। जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे अल्प काल में ही अवश्य जिन होंगे। जिन्होंने जिनेन्द्रदेव की भाँति ही अपने आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रतीति कर ली है, वे जिन हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि को अनेक स्थान पर शस्त्रों में जिन कहा है। अरे! जगत को सम्यग्दर्शन की महिमा ज्ञात नहीं है। सम्यग्दर्शन ने तो सम्पूर्ण पूर्णानन्दी द्रव्य को प्रतीति में समाविष्ट कर लिया है। सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया कि फिर पूर्ण दशा अलग हो ही नहीं सकती।

आत्मा का एक रूप स्वाभाविक चैतन्यस्वभाव होने पर भी, पहले अज्ञानदशा के कारण अनेक रूप से खण्ड-खण्ड रूप मानता था, किन्तु जहाँ सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वभाव की प्रतीति में लिया कि वहाँ पर के साथ एकत्वबुद्धि दूर हो गयी और खण्ड-भेद रहित एकत्व स्वरूप में स्थित टंकोत्कीर्ण एकाकार स्वभाव अनुभव में आ गया, ऐसा अनुभव करनेवाला जितेन्द्रिय जिन है।

प्रश्न—यहाँ सिद्ध पर्याय का स्वरूप बताया जा रहा है?

उत्तर—सिद्धपर्याय का स्वरूप नहीं किन्तु अखण्ड द्रव्य का स्वरूप बताया जा रहा है। सिद्ध तो एक पर्याय है और यहाँ ऐसी अनन्त पर्यायों से अखण्ड द्रव्य बताया जाता है, इस द्रव्य में से ही सिद्धदशा प्रगट होती है। यहाँ पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष्य करने को कहा गया है, क्योंकि अखण्ड द्रव्य स्वभाव को लक्ष्य में लेना ही धर्म है। अखण्ड एकरूप चैतन्यस्वभाव की प्रतीति में पर की ओर का लक्ष्य ही नहीं है, आत्मा की सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति अन्तर्मुख होने की शक्ति से युक्त है, वह शक्ति इन्द्रियादिक बाह्य सामग्री की हीनता से हीन नहीं होती। स्वयं स्वभाव की रुचि करके अपूर्ण ज्ञान को अपनी ओर करे तो कोई परद्रव्य उसे नहीं अटकाते। यहाँ जो परलक्ष्य से अवस्था के खण्ड होते

हैं, उन्हें उड़ा दिया है, एक ओर सम्पूर्ण ज्ञानमूर्ति अखण्ड आत्मा को रखकर इन्द्रियों, खण्डरूप ज्ञान और परवस्तुओं को आत्मा से अलगरूप में बताया है। इस प्रकार पर का, विकल्प का और पर्याय का लक्ष्य हटाकर एकरूप अखण्ड स्वभाव की प्रतीति करना ही ईश्वर का साक्षात्कार है, वही आत्मदर्शन है, वही निश्चय-स्तुति है, और वही प्रथम धर्म है।

अवस्था में अपूर्ण ज्ञान हो यदि वह पर की ओर जाए तो आत्मा को नहीं जान सकता, तथा जो ज्ञान आत्मा को नहीं जानता, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अवस्था में अल्प ज्ञान हो तथापि यदि वह सामान्य स्वभाव की ओर ढले तो वह ज्ञान आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव की ओर का हुआ। जितना ज्ञान अपने स्वभाव की ओर गया उतना ज्ञान तो आत्मा के साथ एक हुआ है, इसलिए वह अखण्ड है और जो ज्ञान पर की ओर जाता है, वह खण्ड-खण्डरूप है; उस खण्ड-खण्ड ज्ञान को यहाँ आत्मा का स्वरूप नहीं कहा है, क्योंकि यहाँ सम्यग्दर्शन को अखण्ड विषय बताया है; इसलिए यहाँ मात्र सामान्य की बात ली गयी है। ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड एक रूप स्वभाव पर है, स्व के जानने पर पर का ज्ञान होता है। अज्ञानी को स्व का भान न होने से वह परोन्मुख होकर इस प्रकार ज्ञान का माप करता है कि—मैं पर को ही जानता हूँ, मेरा ज्ञान पर को जाननेवाला है। ज्ञानी जानता है कि मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ, अपने ज्ञान के विशेषों के द्वारा मैं अपने को ही जानता हूँ।

अपूर्ण खण्ड-खण्डरूप ज्ञान आत्मा की पर्याय में होने पर भी यहाँ उसे चैतन्यस्वभाव से अलग क्यों कहा है ? वास्तव में तो ज्ञान की अपूर्ण पर्याय भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव के ही विशेष है, परन्तु दर्शन का विषय अभिन्न है, उसमें विशेष अवस्था का ग्रहण नहीं है। दर्शन में तो सामान्य परिपूर्ण ही आता है। जब दर्शन सामान्य स्वभाव को निश्चित करता है तब पर्याय को गौण करके ज्ञान स्वोन्मुख होकर सम्यक् होता है, और वह सम्यक् ज्ञान सामान्य विशेष दोनों को जानता है।

अखण्ड आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाले-चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक् दृष्टि को यहाँ जितेन्द्रिय 'जिन' कहा है। राग और अपूर्णता से रहित पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में लिया है और पर्याय की अशक्ति से अल्प राग-द्वेष होता है, उसे अपना नहीं मानता, इसलिए दृष्टि की अपेक्षा से वह (सम्यक् दृष्टि) जिन है। आत्मा पर से भिन्न मात्र ज्ञाता-

दृष्टा है, ऐसे स्वभाव की स्वाश्रित दृष्टि के द्वारा ज्ञान को स्वोन्मुख करके जिसने पर के आश्रय को जीत लिया है (ज्ञान में से पराश्रय को छोड़ दिया है) वही जिन है। ज्ञान में से पराश्रयता को छोड़ दिया या उसे अस्वीकार कर दिया सो इससे अपूर्णता का भी निषेध हो गया। क्योंकि ज्ञान में जो अपूर्णता थी वह पराश्रय से थी। स्वभाव के आश्रय से अपूर्णता नहीं है। ऐसी प्रतीति करने के बाद अल्प अस्थिरता के कारण जो राग रह गया उसका ज्ञाता हो गया है। पहले अज्ञानदशा में विकार जितना ही अपना स्वरूप मानकर स्वयं पर वस्तु से विदित हो जाता था, तब विकाररहित अपने त्रिकाल स्वभाव की प्रतीति के द्वारा विकार से अलग हो जाता है, अर्थात् पृथक् ज्ञानस्वभाव के द्वारा इन्द्रियों की विषयभूत परवस्तु को जीत लिया है, इसलिए वह वास्तव में जितेन्द्रिय जिन है।

ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसे लेकर आत्म सर्वाधिक है, अलग ही है। जड़ पंचेन्द्रियों की हीनता होने से आत्मा के ज्ञान की हीनता माननेवाला जड़ बुद्धि है। पंचेन्द्रियाँ तो अचेतन हैं, उनसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता, किन्तु यहाँ आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि पंचेन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान कदाचित् शिथिल हो जाए (पर को जानने के लिए अशक्त हो जाए) तथापि आत्मा की ओर की श्रद्धा में किंचित् मात्र भी शिथिलता नहीं आती। यहाँ इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले ज्ञान के शिथिल होने की बात कही है, क्योंकि इन्द्रियों के निमित्त से जाननेवाला ज्ञान पर को ही जानता है, और पर को जाननेवाले ज्ञान की महिमा नहीं है, किन्तु निज को जाननेवाले ज्ञान की महिमा है, इसलिए पर को जानने में ज्ञान की शिथिलता हो तथापि कहीं स्व को जानने की मेरे ज्ञान की शक्ति कम नहीं होती। भले ही पर का ज्ञातृत्व विशेष न हो किन्तु ज्ञान की स्व में एकाग्रता के द्वारा मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँगा, क्योंकि मेरे ज्ञानस्वभाव को किसी पर का अवलम्बन नहीं है।

जड़ इन्द्रियाँ तो अचेतन हैं ही किन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—जड़ इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला पर की ओर का खण्ड-खण्ड ज्ञान भी अचेतन है; क्योंकि कपर के जानने में रुका हुआ ज्ञान चैतन्य के विकास को रोकता है। पर को जानते-जानते केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु निज को जानते-जानते केवलज्ञान होता है। पर को जानने में रुक जानेवाला ज्ञान केवलज्ञान को रोकता है, इसलिए वह भी अचेतन है। जिसका एकत्व

चैतन्य के साथ नहीं है, उसे चेतन कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए इन्द्रियों और खण्ड-खण्डरूप ज्ञान से चैतन्यस्वभाव भिन्न है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि अनुभव करते हैं।

जो इन्द्रियाँ अपने स्वरूप में नहीं हैं, वे उग्र रहें या मन्द, इससे आत्मा को क्या लेना देना है ? इतना ही नहीं किन्तु यदि पर को जाननेवाली खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान की शक्ति कम हो तो भी स्व के लिए कोई बाधा नहीं है। पर को जाननेवाला ज्ञान कम हो या बढ़े, उसके साथ केवलज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र आत्मा स्व-ज्ञान स्वभाव का पिण्ड है, जहाँ उस अन्तर स्वभाव में दृष्टि गयी कि वहाँ बाह्य पदार्थों को जानने की वृत्ति ही छूट जाती है, अर्थात् भावेन्द्रियाँ भी छूट ही जाती हैं, क्योंकि भावेन्द्रियों का झुकाव बाहर ही है। निमित्ताधीन होने पर ज्ञान का झुकाव निज में नहीं होता। जो ज्ञान स्वोन्मुख होता है, उस ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन छूट जाता है।

समस्त निमित्तों का अवलम्बन छूटकर मात्र ज्ञान के द्वारा अनुभव में आनेवाला आत्मा का ज्ञानस्वभाव कैसा है, सो कहते हैं। ''विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर रहता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उस रूप न होनेवाला) प्रत्यक्ष उद्योतभाव से सदा अन्तरंग में प्रकाशमय अविनश्वर स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव है।''

(श्री समयसार गुजराती, पृष्ठ ५८)

जो ज्ञानस्वभाव है सो भगवान ही है, क्योंकि मात्र ज्ञान में विकार नहीं रहता, अपूर्णता नहीं रहती, पर वस्तु का संग नहीं होता। सबके ज्ञातृत्व और अपने में परिपूर्णता युक्त ज्ञान भगवान ही है। भगवान के भव नहीं है, तथा ज्ञानस्वभाव में भी भव नहीं। जिसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है, उसे भव की शंका नहीं रहती 'ज्ञानस्वभाव विकार से अधिक है, वह विश्व के ऊपर स्पष्ट ज्ञात होता है; वह समस्त पदार्थों को जानता है, किन्तु कहीं भी अपनापन मानकर अटक नहीं जाता। वह सबसे अलग ही रहता है, ज्ञानस्वभाव ऐसा नहीं है कि जिसे विकार हो सके। विकार के द्वारा ज्ञानस्वभाव दब नहीं जाता किन्तु विकार से अलग का अलग साक्षीभूत रहता है, वह विकार भी ज्ञाता ही रहता है। जहाँ विकार का मात्र ज्ञाता ही होता है, वहाँ विकार कहाँ रहेगा ? आत्मा तो ज्ञाता है, ज्ञाता भाव में विकार भाव नहीं रह सकता, इसलिए वह अल्प काल में दूर हो ही जाता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त भावों से पृथक् रहकर मात्र जानता है इसलिए वह विश्व पर उत्तरित रहता है।

और वह ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष उद्योत भाव से सदा ही अन्तरंग में प्रकाशमान है, अर्थात् वह खण्ड-खण्ड ज्ञान जितना नहीं है। पहले ज्ञान बाह्योन्मुख रहता था किन्तु अब यह ज्ञान सदा अन्तरोन्मुख रहनेवाला है, अपने को जानने में प्रत्यक्ष उद्योतमान है। इन्द्रियज्ञान सदा बाहर का ही जानता था, किन्तु यह स्वभावोन्मुख ज्ञान सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव सदा अविनश्वर और स्वत:सिद्ध है। ज्ञानस्वभाव नया नहीं, किन्तु त्रिकाल स्वत:सिद्ध है। ज्ञान किसी परपदार्थ के कारण से नहीं किन्तु वह आत्मा का स्वत:सिद्ध स्वभाव है, वह अविनश्वर होने से कभी नष्ट नहीं होता, त्रिकाल जैसा का तैसा रहता है। यहाँ पर्याय नहीं बतानी है, क्योंकि पर्याय तो क्षणिक है, मोक्षमार्ग की पर्याय भी नाशवान है, यहाँ पर्याय को गौण रखकर त्रिकाल ज्ञानस्वभाव सामान्यतया नित्य बना रहता है, इसलिए उसे अविनश्वर कहा है। ऐसा जो भगवान ज्ञानस्वभाव है। वह परमार्थ स्वरूप है। मात्र ज्ञाता स्वभाव उसमें विकार नहीं है। ऐसा ज्ञाता स्वभाव परमार्थ स्वरूप है।

जहाँ अपूर्ण दशा और पूर्ण दशा के बीच भेद होता है, वहाँ स्तुति करनी होती है, किन्तु पूर्ण दशा होने के बाद स्तुति करना नहीं होता। इस गाथा में जिस स्तुति का वर्णन किया है, उस स्तुति के करनेवाले चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव हैं। सभी सम्यग्दृष्टियों के यह स्तुति होती है। इससे आगे की जो उच्च स्तुतियाँ हैं वे मुनियों के होती हैं, जिनका वर्णन बत्तीसवीं और तेतीसवीं गाथा में किया गया है। इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई। पहले अज्ञानभाव से स्व-पर को एकरूप मानकर खण्ड-खण्डरूप ज्ञान की तथा पर की स्तुति करता या राग में ही अपना स्वरूप मानकर अटक रहा था, उस पर में एकाग्रता करके विकार की स्तुति करता था, उसके स्थान पर इकतीसवीं गाथा में जिस प्रकार कहा गया है, उस प्रकार पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति और अनुभव करना सो यही अखण्ड ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा की निश्चयस्तुति है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव ही भगवान है, और उसकी स्तुति-एकाग्रता ही भगवान की निश्चयस्तुति है, यही सच्चा धर्म है।

आत्मा की परिचय युक्त इस एक निश्चयस्तुति में सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—यह छहों क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती है।

सामायिक - अपने ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता होने पर ऐसा विषय भाव छूट गया

कि पुण्य अच्छा और पाप खराब है, और स्वभाव से उनका इस प्रकार ज्ञाता रह गया कि पुण्य-पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं; यही सच्ची सामायिक है।

स्तुति-पहले परपदार्थ में एकाग्रता करके ज्ञानस्वभाव को भूल जाता था, और अब ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता की सो यही सच्ची स्तुति है। इसी में अनन्त-केवली-सिद्ध भगवन्तों की स्तुति आ जाती है।

वन्दना-पहले विकार से लाभ मानकर विकार की ओर झुक जाता था, उसकी जगह अब विकार से पृथक् स्वरूप जानकर स्वोन्मुख हो गया सो यही सच्ची वन्दना है। इसमें अनन्त तीर्थंकरों की वन्दना का समावेश हो जाता है।

प्रतिक्रमण-पहले शुभराग से आत्मा का लाभ मानता था और ज्ञान को पराधीन मानता था, उसमें ज्ञानस्वभाव भगवान का अनादर और मिथ्यात्व के महापाप को सेवन होता था, किन्तु अब सच्ची पहिचान कर ली कि—मेरा ज्ञान पर के कारण से नहीं होता, और शुभराग से मुझे धर्म नहीं होता, इस प्रकार यथार्थ समझपूर्वक मिथ्यात्व के महापाप से हटकर लौट आया सो यही सच्चा प्रतिक्रमण है। सच्ची समझ होने पर प्रतिक्षण असत् के अनन्त पाप से दूर हट गया है।

प्रत्याख्यान—पहले विपरीत समझ से यह मानता था कि मैं पर पदार्थों का कुछ कर सकता हूँ और परपदार्थों से तथा पुण्य से मुझे लाभ होता है। और इस प्रकार अनन्त परद्रव्यों का तथा विकार का स्वामित्व मानता था, वह महा अप्रत्याख्यान था, अब ऐसी यथार्थ समझ होने पर कि न तो मैं किसी का कुछ करता हूँ, और न पर पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, तथा पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है; अनन्त परद्रव्य और विकार का स्वामित्व छूट गया है, सो यही सच्चा प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग—पहले शरीर की समस्त क्रियाओं का कर्ता बनता था और अब यह समझ गया कि मैं तो ज्ञाता हूँ, शरीर की एक भी क्रिया मेरे द्वारा नहीं होती, शरीर की किसी भी क्रिया से तुझे हानि-लाभ नहीं होता। इस प्रकार शरीर से उदास होकर मात्र ज्ञाता रह गया सो यही कायोत्सर्ग है। इस प्रकार छहों आवश्यक क्रियाएँ एक निश्चयस्तुति में आ जाती हैं, और यह निश्चयस्तुति अपने एकत्व स्वरूप और पर से तथा विकार से भिन्न

ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा की सच्ची समझ ही है। ऐसी सच्ची समझवाले सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव के लघुनन्दन हैं ॥३१॥

अब भाव्यभावक संकर दोष दूर करके स्तुति कहते हैं:—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति।।३२।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति।।३२।।

अर्थ—जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य भावों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के ज्ञाता जितमोह कहते हैं।

इकतीसवीं गाथा में ज्ञेय-ज्ञायक को पृथक् करने की बात कही गयी है। मैं आत्मा परिपूर्ण आनन्दकन्द हूँ, वह आनन्द मुझसे मेरे द्वारा ही प्रगट होता है, उसमें किसी परद्रव्य की सहायता नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादिक और पुण्य-पाप के परिणाम मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। देव-गुरु-शास्त्र भी मुझसे भिन्न हैं, और मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं; ऐसी प्रतीति और ज्ञान होने पर यह प्रथम कक्षा की भक्ति हुई और तब वह सम्यक्त्वी हुआ कहलाता है।

अब इस गाथा में आचार्यदेव उससे बढ़कर दूसरी कक्षा की भक्ति बतलाते हैं, उच्च भूमिका को विशेष स्थिरता की भक्ति कहते हैं। यहाँ जितमोह की बात है, अर्थात् उपशम श्रेणी की बात है।

जो अपना निर्मल और निर्दोष है वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मलिनताओं से रहित है, ऐसे सम्यग्ज्ञान के द्वारा जो साधु शुभाशुभभाव से अलग होकर अन्तरंग में आनन्दघन स्वभाव में विशेष स्थिर होता है-रमणता करता है, उसे परमार्थ के ज्ञाता ज्ञानीजन जितमोह कहते हैं।

आत्मा तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द की मूर्ति है, जिसे इसकी प्रतीति नहीं है, वह अज्ञानी जीव पर को अपना मानता हुआ और चैतन्यसत्ता का अनादर करता हुआ, मोहकर्म को बाँधता है।

आत्मा स्वयं शरीर, मन, वाणी तथा आठ प्रकार के कर्म रजकणों से सर्वथा भिन्न

वस्तु है। वह स्वतन्त्र निर्विकारी तत्त्व है। अज्ञानी को अनादि काल से इसकी खबर नहीं है, इसलिए पंचेन्द्रियों में सुख मान रहा है, पर में मोह कर रहा है, और यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। इस प्रकार का मोह आत्मा अज्ञान भाव से करता है, किन्तु उसमें कर्म तो निमित्त मात्र है, कर्म परवस्तु है। परवस्तु आत्मतत्त्व को रोके या लाभ पहुँचाये यह तीन लोक और तीन काल में कभी नहीं हो सकता, किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर जो यह शरीर, कुटुम्बादिक और शुभाशुभ परिणाम हैं, सो ही मैं हूँ, यह मानकर स्वरूप की सावधानी को चूक गया और पर में रागी हुआ सो वास्तविक मोह है। उसमें जड़कर्म निमित्त मात्र है, स्वयं पर में सावधान हुआ और स्वरूप में असावधान हुआ तब जड़कर्म को निमित्तरूप कहा जाता है; यह द्रव्य मोह है।

मोहकर्म फल देने की शक्ति के द्वारा प्रगट उदयरूप होकर भावकरूप से प्रगट होता है, इसका अर्थ यह है कि—जैसे कच्चे चावलों को पकाने पर उनका भात बनता है, इसी प्रकार मोहकर्म पककर फल देने की शक्ति के द्वारा तैयार होता है, अर्थात् उदयरूप प्रगट होता है, तब चैतन्य अपनी प्रतीति न करे और विकार में युक्त हो तो नवीन कर्म बँधता है। वह कर्म पककर फल देने के लिए तैयार होता है, और प्रतीति न करे तो फिर युक्त होता है; वैसा का वैसा प्रवाह अनादि काल से जब तक प्रतीति न कर ले तब तक चलता रहता है।

जैसे चावल पकते हैं, उसी प्रकार जड़ मोहकर्म भी पककर फल देने को तैयार होता है। चावल तो मात्र परमाणु-धूल हैं, जड़ हैं, और आत्मा चैतन्य है। चावल रूपी हैं, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शवाले हैं, और आत्मा अरूपी ज्ञानघन है। जब कच्चे चावल पककर-भातरूप हो जाते हैं, तब उसमें स्वाद तो वही आता है जो उन चावलों में भरा हुआ था। चावल का स्वाद चावल में है। वह स्वाद कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता, तथापि अज्ञानी तो ऐसा ही मानता है। चावल (भात) को जीभ पर रखा और स्वाद आया कि अज्ञानी यह मानता है कि—चावल के स्वाद की अवस्था मेरे आत्मा में आ जाती है, उसका मुझे स्वाद आता है; उस चावल का स्वाद ज्ञान में ज्ञात होता है किन्तु अज्ञानी उस स्वाद के राग में एकाग्र हो जाता है, अर्थात् वह राग का स्वाद लेता है और मानता है कि मुझे चावल का स्वाद आया है; किन्तु कोई पर का स्वाद ले ही नहीं सकता, मात्र अपने राग का ही स्वाद लेते हैं।

जैसे, अज्ञानी चावल के स्वाद में एकाग्र होता है, उसी प्रकार आम का रस, खीर और हलुआ-पूरी सबका समझना चाहिए। अज्ञानी यह मानता है कि आम का रस मानों मेरे आत्मा में ही पहुँच रहा है। किन्तु आत्मा तो अरूपी है, उसमें कहीं मिठास प्रविष्ट नहीं हो जाती, किन्तु उसके अनुसार जिसे राग होता है, वह यह मानता है कि ओहो! आज का कितना अच्छा स्वाद है। आज खाने में कैसा आनन्द आया? किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि मैं रागादि में रुक गया हूँ। देखो तो सही, अज्ञानी जीव आत्मा में आनन्द न मानकर खाने-पीने में और परवस्तु में आनन्द मानता है! और जो यह मानता है, वह प्रकारान्तर से अपने आत्मा को सर्वथा निर्माल्य मानता है, और परपदार्थ को ससत्व मानता है। वह खीर, पूरी, आम का रस इत्यादि ज्ञान में ज्ञात होते हैं, किन्तु उस रस को खाते समय जीभ पर रखा सो जीभ तो जड़ है, और खीर पूरी तथा आमरस इत्यादि भी जड़ हैं। उन्हें जीभ पर रखकर और चबाकर जिस पेट में उतारा वह पेट भी जड़ है, तब फिर वह स्वाद तेरे भीतर कौन सी जगह पर आता है? उस जड़ की पर्याय आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं आ सकती, किन्तु अज्ञानी जीव मूढ़ होकर यह मानता है कि मुझे परपदार्थ से स्वाद मिला है; यह उसका अज्ञान है। चावल यह नहीं कहते कि—तू राग कर, किन्तु अज्ञानी राग में लग जाता है।

जिसे यह प्रतीति है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ, चावल के स्वाद का ज्ञाता हूँ, चावल की पर्याय तीन काल और तीन लोक में मुझसे नहीं आती, चावल और चावल की पर्याय चावल में ही है, वह चावल की पर्याय का ज्ञान करनेवाला-ज्ञायक है। आत्मा ने स्वयं अनादि काल से जो भूल की है कि मैं आनन्द नहीं हूँ, मैं ज्ञान नहीं हूँ, किन्तु मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, ऐसी भूल का निमित्त पाकर जो कर्मबन्ध हुआ है उस रजकण में जब पाक आता है, तब एक क्षेत्र में एक स्थान पर उदयरूप होकर भावकरूप से प्रगट होता है, जो कर्म का फल आया है, तद्नुसार जिसकी प्रवृत्ति है, वह मोहकर्म का बन्ध करता है। कर्म कहीं राग-द्वेष, काम-भोग नहीं कराते। जैसे चावल पककर तैयार होते हैं, तब वे यह नहीं कहते कि तुम मेरे स्वाद में लग जाओ और राग करो, इसी प्रकार जब कर्म पककर फल देने आते हैं, तब वे यह नहीं कहते कि तुम तेरे स्वाद में लग जाओ और राग करो; कर्म तो मात्र विद्यमानरूप में, फल रूप में-विपाकरूप में आते हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम मुझमें अटक जाओ; किन्तु तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना भाव्य आत्मा है

सो (भाव्य का अर्थ है कर्मानुसार होनेयोग्य आत्मा की अवस्था) जो कर्म का उदय भावकरूप से प्रगट होता है, तद्नुसार जो विपरीत पुरुषार्थ के द्वारा राग-द्वेष किया करता है, वह मोहकर्म को बाँधता है।

भावक अर्थात् मोहकर्म, जो फलरूप से प्रगट हुआ है; तद्नुसार राग-द्वेष की भावनारूप जो आत्मा की अवस्था हुई सो भाव्य है; उसे भेदज्ञान के बल से दूर से ही लौटा लिया। यहाँ 'दूर से ही' शब्द यह सूचित करता है कि उसमें किंचित् मात्र भी नहीं मिला। मैं परिपूर्ण चैतन्य भगवान हूँ, मुझमें मलिनता का अंश भी नहीं है, मुझे कोई पर पदार्थ सहायक नहीं है, इस प्रकार भेदज्ञान के बलपूर्वक अपने आत्मा में राग होने से पूर्व ही आत्मा को बलपूर्वक हटाकर मोह का तिरस्कार करता है।

बलपूर्वक मोह का तिरस्कार किया कि—जगत के किसी भी पदार्थ का मैं कर्ता-हर्ता नहीं हूँ, जगत के कोई भी पदार्थ तथा कोई भी शुभाशुभभाव मुझे सुखरूप या सहायक नहीं हैं, इस प्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके समस्त भाव्य-भावक संकरदोष दूर किया है। यहाँ आचार्यदेव ने 'बलपूर्वक मोह का तिरस्कार' कहकर पुरुषार्थ बताया है। मैं ज्ञायकज्योति चैतन्यमूर्ति हूँ, निर्दोष और निरावलम्ब हूँ। मुझे देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन नहीं है। इस प्रकार पर के अवलम्बन के बिना निरावलम्बन स्वभाव में एकाग्र हुआ और पर में युक्त नहीं हुआ सो इससे सहज ही मोह का बलपूर्वक तिरस्कार हो गया। अन्य किसी प्रकार का तिरस्कार नहीं करना है, किन्तु अपने निर्विकल्प वीतराग स्वभाव में स्थिर हुआ कि मोह का तिरस्कार सहज ही हो जाता है। यही सच्चा पुरुषार्थ है, यही सच्चा धर्म है, और यही भगवान की सच्ची भक्ति है।

पहले इकतीसवीं गाथा में स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि और देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि की ओर होनेवाले शुभाशभभाव से आत्मा को अलग बताकर सम्यग्दर्शन बताया और यहाँ सम्यग्दर्शन होने के बाद जो कर्म का फल हुआ, उसमें एकमेक नहीं हुआ, अर्थात् उसमें युक्त नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि अशुभ परिणाम में एकमेक नहीं हुआ, इतना ही नहीं देव-गुरु-शास्त्र की ओर जो शुभ परिणाम होते हैं, उनमें भी नहीं मिला, इसी प्रकार पर से भिन्न होकर मोह में नहीं मिला, और अपने में स्थिर हो गया, इसलिए विशेष स्थिरता हो गयी। पहले इकतीसवीं गाथा में द्रव्य को अलग किया है और यहाँ पर्याय को अलग किया

है। श्रद्धा में द्रव्य को अलग करने पर भी पर्याय में मलिनता होती थी, इसलिए पर्याय को स्वभावरूप करके पर्याय में जितने क्रोध, मान, राग-द्वेषादि होते थे, उनसे अलग होकर विशेष स्थिर अवस्था की। जो कर्म का फल हुआ उसका श्रद्धा में ही नहीं किन्तु पर्याय में भी आदर नहीं है, अर्थात् अस्थिर होते रूप भी आदर नहीं है। भावक अर्थात् मोहकर्म और उसमें मिलते रूप आत्मा की जो अवस्था है सो भाव्य है। उससे अलग होकर अपने में स्थिर हुआ, मोह का तिरस्कार किया। अभी यहाँ मोह का तिरस्कार किया है, परन्तु मोह का नाश नहीं किया है, अर्थात् यहाँ उपशम श्रेणी की बात है; जैसे अग्नि को राख से ढँक देते हैं, उसी प्रकार यहाँ मोह को ढँक दिया है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं किया है। यह द्वितीय कक्षा की मध्यम भक्ति है।

प्रथम सम्यग्दर्शन होने पर यह प्रतीति हुई कि—शरीरादिक ही नहीं किन्तु जो शुभाशुभ भावनाएँ उद्भूत होती हैं, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो ऐसा स्वन्त्र स्वभाववाला हूँ, जहाँ ऐसी श्रद्धा हुई वहाँ धर्म का प्रारम्भ होता है। मार्ग को देखा, आत्मा जागृत हो गया, किन्तु पुरुषार्थ की मन्दता से कर्मानुसार अस्थिरता की जो अवस्था होती थी, वह अब कर्मानुसार न होकर पुरुषार्थ के द्वारा चैतन्यमूर्ति अमृतसागर आत्मा के अनुसार अवस्था होने लगी, आत्मा के स्वभावानुसार अवस्था होने लगी। वह मुनि एकत्व में टंकोत्कीर्ण-निश्चल और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होनेवाले सर्व अन्य भावों से परमार्थत: भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोह हैं, जिन हैं, धर्मी हैं, वीतराग हैं और केवलज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में विद्यमान हैं।

वह ज्ञानस्वभाव कैसा है ? समस्त लोक के ऊपर तरता हुआ; अर्थात् राग-द्वेष में एकमेक न होता हुआ, राग-द्वेष और शुभाशुभ परिणाम से भिन्न का भिन्न, अर्थात् अधिक से अधिक रहता हुआ; ऐसा वह ज्ञानस्वभाव सबके ऊपर तरता सा प्रतीत होता है। जैसे हजारों भंगियों के किसी मेले में कोई एक वणिक पहुँच जाए तो भी उसे यह शंका नहीं होती कि मैं भंगी तो नहीं हूँ ? उसे यह नि:शंक विश्वास है कि मैं भंगी नहीं हूँ। मैं इन हजारों भंगियों के बीच आ अवश्य गया हूँ किन्तु हूँ तो वणिक ही; इस प्रकार वह भंगियों के मेल से अलग ही तरता प्रतीत होता है; इसी प्रकार शरीर, रुपया, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब आदि और पुण्य-पाप के परिणाम सब भंगी-मेला है, उससे मेरा ज्ञानस्वभाव आत्मा अलग ही है। वह

कभी भी भंगी-मेलारूप में परिणत नहीं हुआ है, इसे वह नि:शंकतया जानता है, और वह सम्पूर्ण भंगी-मेला से अलग तरता का तरता रहता है। जैसे कोयला और अग्नि दोनों अलग हैं, इसी प्रकार शरीरादि से, पुण्यादि से और समस्त लोक से, देह-मन्दिर में विराजमान ज्ञानमूर्ति अलग है। ऐसे आत्मा को जिसने जान लिया है वह समस्त लोक पर तरता है। मेरा स्वभाव स्पष्ट प्रगट निर्मल सबका ज्ञाता है, वह पररूप नहीं होता, इस प्रकार जिसने जाना है, वह समस्त लोक के ऊपर तरता है।

मेरा ज्ञानस्वभाव पर से निराला और प्रत्यक्ष उद्योतभाव से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है। लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष हो तो हम उसे मानें, किन्तु आत्मा स्वयं ही सदा जाननेवाला प्रत्यक्ष है। यह सब कुछ जो दृष्टि से दिखायी देता है, उसे जाननेवाला प्रत्यक्ष होगा या अप्रत्यक्ष? यदि जाननेवाला तू नहीं है तो कौन जानता है? और जो ज्ञात होता है, सो किसके आधार से होता है? जड़ को भान नहीं होता, जड़ कुछ नहीं जानता, इसलिए जाननेवाला आत्मा स्वयं ही सदा प्रत्यक्ष है। अपनी चैतन्यशक्ति सदा प्रगट प्रत्यक्ष है। सूर्योदय होता है और अस्त हो जाता है, किन्तु भगवान आत्मा तो सदा अन्तरंग में प्रकाशमान जागृत ज्योति की भाँति विराजमान है, ऐसे आत्मा को जो अनुभव करता है, उसने भगवान और गुरु की सच्ची निश्चय-स्तुति की है।

वह आत्मा अविनाशी है। पुण्य-पाप के विकारीभाव और पुण्य-पाप के फलरूप बाह्य संयोग, सब क्षणिक और नाशवान हैं, क्षणभर में बदल जाते हैं, और अध्रुव स्वभाव हैं। इसके विपरीत ज्ञानानन्द आत्मा त्रिकाल स्थायी-ध्रुव और शाश्वत है, उसका कभी नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी है।

भगवान आत्मा स्वयं स्वत: ही सिद्ध और परमार्थरूप ज्ञानस्वभाव है। मैं स्वयं सिद्ध हूँ, मैं अपने से ही सिद्ध हुआ हूँ, मुझे सिद्ध करने में-मेरी सिद्धि करने में कोई शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। परमार्थरूप भगवान आत्मा स्वत: सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए-निश्चित करने के लिए पुण्य का-राग का या परसंयोग का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता।

परमार्थरूप भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्मा की ज्ञान से पहिचान करायी है।

जैसे गुड़ की मिठास के द्वारा पहिचान करायी जाती है, इसी प्रकार आत्मा की ज्ञानगुण से पहिचान करायी गयी है। कर्म के उदय में राग-द्वेष से युक्त होकर जो अस्थिर होता था, वह अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर स्थिर हुआ, अर्थात् उस भाव्य-भावक संकर-दोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति की है। मेरी महिमा ऐसी है कि जो सर्वज्ञ के मुख से भी नहीं कही जा सकती; उसे जानकर जो उसमें स्थिर होता है, उसने अपनी भक्ति की है, केवलज्ञानी की भक्ति की है और तीर्थंकर भगवान की भक्ति की है।

यहाँ किसी के मन में यह विचार उठ सकता है कि इसमें कौन से भगवान और कौन से तीर्थंकर आ गये ? उसका समाधान यह है कि-जो अपने आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर हो गया उसी ने आत्मा की सच्ची भक्ति की है और जिसने आत्मा की भक्ति की है, उसने सभी तीर्थंकरों की सभी केवलियों की और सभी सिद्धों की भक्ति की है। यह द्वितीय कक्षा की मध्यम निश्चयभक्ति है।

जहाँ निश्चय की प्रतीति है, वहाँ अपूर्णता को लेकर भगवान की भक्ति का शुभभाव होता है, सो वह व्यवहारस्तुति है, किन्तु शुभराग विकार है, इसलिए वह आत्मा को लाभ नहीं करता, अपने स्वभाव की प्रतीति ही गुणकारी है।

इस गाथा-सूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है, उसमें मोहपद को बदलकर उसके स्थान पर राग-द्वेष इत्यादि सोलह सूत्र लेना चाहिए। जैसे राग मेरा स्वभाव नहीं है राग और राग के फल में केवलज्ञान नहीं होता, राग को तोड़ने का स्वभाव जिस श्रद्धा में लिया है, उसके द्वारा आगे बढ़कर राग को तोड़कर केवलज्ञान होगा, इस प्रकार राग से युक्त न हो और अपने में एकाग्रता बढ़ाये सो यह आत्मा की भक्ति हुई।

इसी प्रकार द्वेष भी मेरा स्वरूप नहीं है। रोग आदि प्रतिकूलता के प्रसंग में जो अरुचि होती है, वह द्वेष है। उस द्वेष से मेरा निर्मल स्वभाव अलग है, इसी प्रकार अपने स्वभाव में एकाग्र हुआ और द्वेष से अस्थिरता छूटकर स्थिर अवस्था हुई, सो द्वितीय कक्षा की स्तुति है।

इसी प्रकार मैं क्रोध से भी अलग हूँ। परपदार्थ मुझे क्रोध नहीं कराते। मेरे आत्मस्वभाव में क्रोध नहीं है, वर्तमान अवस्था में पुरुषार्थ की अशक्ति को लेकर क्रोध होता है; पर की ओर जितना क्रोध में रुकता है, इससे अलग होकर गुण में सावधानी पूर्वक एकाग्र हो गया

सो द्वितीय कक्षा की उच्च भक्ति है। इकतीसवीं गाथा में आत्मा को क्रोधादि से अलग करने को कहा है अर्थात् भेदज्ञान करने को कहा है, और बत्तीसवीं गाथा में अवस्था में जो अस्थिरता होती थी, उससे भी छूटकर विशेष स्थिर होने को कहा है।

इसी प्रकार मान से भी अपने को अलग करे। जगत में जो निन्दा-प्रशंसा होती है, सो मैं नहीं हूँ, मेरे आत्मा की कोई निन्दा या प्रशंसा नहीं कर सकता, क्योंकि मैं आत्मा अरूपी हूँ, और निद्रा-प्रशंसा के शब्द रूपी हैं। रूपी में मेरा अरूपी आत्मा नहीं आ सकता, अथवा मेरे अरूपी आत्मा में रूपी पदार्थ प्रवेश नहीं कर सकता इसलिए कोई मेरी निन्दा या प्रशंसा कर ही नहीं सकता। जिसे जो अनुकूल पड़ता है, वह उसी के उल्टे-सीधे गीत गाता है, कोई दूसरे की निन्दा या प्रशंसा कर ही नहीं सकता। निन्दा-प्रशंसा होने से जो राग-द्वेष होता है, वह कोई कराता नहीं है; मेरी अशक्ति के कारण अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। परपदार्थ मुझे राग-द्वेष नहीं कराते, मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, ऐसी प्रतीति होने पर अनन्त राग-द्वेष चला गया, इतना ही नहीं किन्तु अवस्था में जो कुछ लचक आ जाती थी उससे भी अब स्थिर हो गया। विशेष स्वरूपस्थिरता के द्वारा मोह का अभाव करने लगा सो यहाँ उस वीतरागी स्थिरता की बात है।

पर में अहंकार तब आता है जब यह विचार करे कि—मेरी प्रशंसा की है, मेरी निन्दा की है; और इस प्रकार जो पर में अपनापन मानता है, उसके कुछ भीतर से अहंकार होता है, और तीव्र राग-द्वेष होता है। किन्तु हे भाई! न तो तेरा नाम है, और न तेरी जातपाँत है, फिर भी ऐसे शरीर के नाम से तुझे कोई पहिचाने (सम्बोधन करे) और उस नाम से तेरी निन्दा करे तो तेरा उसमें क्या चला गया? जो यह मानता है कि यह नाम मेरा है, और जिसका यह अनादर हो रहा है वह मैं हूँ, वह पर को अपना मान रहा है इसलिए उसके भीतर से राग-द्वेष होता है। जब कोई नाम को गाली देता है, तब वह उसे (गाली को) अपने खाते में ले लेता है और तब राग-द्वेष होता है, किन्तु तू अब इसे रहने भी दे! अब तू नाम को अपना मत मान। दूसरे लोग जिस नाम से पुकारते हैं, उस नाम में तेरा आत्मा नहीं है। जिसे यह प्रतीति है कि मेरा आत्मा किसी की वाणी में नहीं आ सकता, उसके राग-द्वेष बढ़ता नहीं किन्तु घटता जाता है, तथा आत्मगुण की शान्ति और स्थिरता बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में वह भगवान की द्वितीय कक्षा की निश्चयस्तुति करता है।

अनादि काल से अप्रतिबुद्ध शरीर, वाणी और मन को अपना मान रहा था, उसे समझाते समझाते निश्चयस्तुति की बात कही गयी है।

आत्मा आत्मारूप से है परवस्तुरूप नहीं और न परवस्तु आत्मारूप ही है। यदि आत्मा परवस्तुरूप हो जायें और परवस्तु आत्मारूप हो जायें, तो दोनों द्रव्य एक हो जायें स्वतन्त्र न रहें।

आत्मा ज्ञान-शान्ति आदि अनन्त गुणों का पिण्ड है। आत्मा में जो राग-द्वेषादि भाव होते हैं, वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नहीं किन्तु क्षणिक विकारी भावी है। आत्मस्वभाव को भूलकर, पर को अपने रूप में मानना गुण को भूल जाना है, और गुण को भूल जाना स्वतन्त्रता को खो देना है। स्वतन्त्रता के खो देने से दुःख भोगना पड़ते हैं। जब अपने गुण जानने में नहीं आते तब कहीं तो अपने को मानेगा ही ? अर्थात् यह शरीर, राग-द्वेष और विकाररूप मैं हूँ। इस प्रकार पर में अपने अस्तित्व को स्वीकार किया मानो यह मान लिया कि मैं परमुखापेक्षी हूँ और सर्वथा निर्माल्य हूँ। यदि मैं शरीरादि, रागादि को छोड़ दूँगा तो मैं नहीं रहूँगा, यदि मुझमें से विकार निकल गये तो मुझमें कुछ नहीं रहेगा, इस प्रकार अपने को निर्माल्य माननेवाला अपने आत्मा का अनादर करता है, और अपने गुणों की हत्या करता है। और इस प्रकार अपने गुणों की हत्या करनेवाला कभी भी पराधीनता को नहीं हटा सकता तथा वह सदा परमुखापेक्षी बना रहेगा। आत्मा ज्ञान, दर्शन, स्वतन्त्र, सुख, आनन्द और वीर्य की मूर्ति है, उसे यथावत् न माने और जब तक पर को अपना मानता रहे तो तब तक स्वतन्त्र धर्म नहीं हो सकता। और जब तक स्वतन्त्र धर्म नहीं होगा तब तक परतन्त्र विकार अर्थात् दुःख होगा।

आत्मा बिल्कुल पृथक्-पर से भिन्न है, उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु अज्ञानी जीवों का बाह्य लक्ष्य है, और वे बाह्य से ही देखते हैं, इसलिए उनके मन में यह बात नहीं जमती।

यहाँ अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। अप्रतिबुद्ध वह है जो अपने को किसी प्रस्तुत वस्तु से अलग नहीं जानता और जो इस बात से अजान है कि-स्वयं आत्मा ध्रुव है; और जो अपना अजान है, अर्थात् अपने को नहीं मानता वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है।

वस्तुस्वभाव को जाने बिना कहाँ टिका जाये ? और टिके बिना चारित्र नहीं होता,

तथा चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता, इसलिए मोक्ष के लिए चारित्र चाहिए और चारित्र को यथार्थ ज्ञान चाहिए।

इकतीसवीं गाथा में परिचय होने की बात कही है। परिचय होते ही सब वीतराग हो जाते हों सो बात नहीं है। किन्तु जो जाना और माना उसमें पुरुषार्थ करके क्रमशः स्थिर होता जाता है सो यह वीतराग की सच्ची भक्ति है।

यहाँ मान-कषाय की चर्चा की जा चुकी है; जहाँ कोई शरीर के नाम का अपमान करता है या प्रशंसा करता है, वहाँ अज्ञानी को कुछ ऐसा लगता है कि यह मेरा नाम है और जो इस नाम की प्रशंसा की वह मेरी प्रशंसा है; इस प्रकार मान बैठना सो मान है। शरीर की निन्दा-स्तुति सुनकर अज्ञानी को राग-द्वेष होता है किन्तु शरीर तो जड़-पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ है। वह सदा रहनेवाला नहीं है। अब पूर्वभव से माता के उदर में आया तब तैजस और कार्मण—दो शरीर साथ लेकर आया था। यह स्थूल शरीर तो माता के उदर में आने के बाद बना है। पूर्व भव का नाम कर्म लेकर आया था, इसलिए माता के उदर में शरीर की रचना हुई, और फिर बाहर आया; तत्पश्चात् दूध, दाल, भात, रोटी, शाक इत्यादि से इतना बड़ा शरीर हुआ। यह शरीर सदा स्थायी वस्तु नहीं है, किन्तु अमुक समय तक रहनेवाली वस्तु है। इसी प्रकार राग-द्वेष विकार भी अमुक समय तक रहनेवाले हैं, सदा स्थायी नहीं हैं। इसलिए ज्ञानी समझता है कि - न तो यह शरीर ही मेरा है और न राग-द्वेष ही, तथा मेरे आत्मा की निन्दा-स्तुति कोई नहीं कर सकता। तीन लोक और तीन काल में कोई भी व्यक्ति आत्मा की निन्दा-स्तुति नहीं कर सकता; इस प्रकार ज्ञानी को प्रतीति है और विशेष स्थिरता है इसलिए संसार के चाहे जैसे प्रसंग आयें तो भी उसे कुछ नहीं होता, और स्थिरता बनी रहती है। यह भगवान की द्वितीय कक्षा की भक्ति है।

धर्म वह है कि धर्म को जाना-माना और फिर प्रतिकूल प्रसंग आने पर समझे कि—वह उसी में है और मैं अपने में हूँ, उसमें न मेरा हाथ है न मुझमें उसका। किन्तु अभी जब तक अपनी अशक्ति है तब तक अशुभराग को दूर करके शुभराग होता है। वह शुभराग भी मर्यादा में होता है, क्योंकि स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके शुभराग भी नहीं होता। किन्तु यहाँ तो उस मर्यादित शुभराग को भी दूर करने की बात है।

ज्ञानी समझता है कि मैं ज्ञाता हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, वीतरागस्वरूप हूँ, मेरे आत्मा की

कोई जात-पाँत नहीं है। तब फिर मुझे कौन कहेगा कि तू ऐसा है, और तू वैसा है, तू अच्छा है, तू बुरा है। इस प्रकार धर्मात्मा जीव पूर्व कर्म के उदयानुसार जो प्रसंग आता है, उसमें मान नहीं होने देता।

अज्ञानी को लगता है कि मेरी जाति-पाँति है, मेरा कुटुम्ब-परिवार है। इस प्रकार वह पर को अपना मानकर परतन्त्र बनता है। जब जन्म ग्रहण किया तब कहाँ खबर थी कि मैं अमुक जाति का हूँ, अथवा इस शरीर का यह नाम है ? जन्म के बाद माता-पिता ने या स्नेहीजनों ने इच्छित नाम रख दिया; तब अज्ञानी उस नाम को पकड़ बैठता है और कहता है कि यह नाम मेरा है। फिर जब कोई वह नाम लेकर निन्दा करता है, तो क्रोध के मारे उसके शरीर में काँटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु भाई नाम तेरा कहाँ है ? अज्ञानी जीव ने जहाँ-तहाँ मेरा-मेरा मान रखा है, इसीलिए उसे क्रोध-मान आदि होता है, किन्तु ज्ञानी किसी भी प्रसंग में मान नहीं होने देता।

माया भी मेरा स्वरूप नहीं है। माया का अर्थ है दम्भ। उस दम्भ से मैं आत्मा अलग हूँ, इस प्रकार पृथक्त्व तो इकतीसवीं गाथा में बताया जा चुका है; किन्तु जो अवस्था में भी अस्थिरतारूप माया न होने दे और अवस्था की स्थिरता करे उस जितमोह की यहाँ बात है।

लोभ भी मेरा स्वरूप नहीं है। लोभ विकारी भाव है, वह मेरा स्वभावभाव नहीं है। मैं तो सन्तोषस्वरूप अनन्त हूँ यह जानकर अपने में स्थिर हो और लोभ-प्रवृत्ति का उदय होने पर उसमें युक्त न हो तो उसने लोभ को जीता है।

अष्टकर्म के रजकण भी मेरा स्वरूप नहीं हैं, उनसे मैं अलग हूँ। इसी प्रकार कर्मों के निमित्त से जो अवस्था होती है, वह भी मेरा स्वभाव नहीं है। इसलिए अपने स्वभाव में रहना और अवस्था को मलिन न होने देना सो भाव्यभावक-संकर दोष से दूर रहता है।

नोकर्म भी मैं नहीं हूँ। किसी ने गाली दी सो वह नोकर्म है। उस गाली देनेवाले ने गाली नहीं दी है, किन्तु तेरे ही पूर्वकृत अशुभभाव से जो कर्मबन्ध हुआ था उसी के उदयस्वरूप यह प्रतिकूल संयोग मिला है। दृढ़ता पूर्वक यह प्रतीति क्यों नहीं करता कि पहले जो अशुभ परिणाम हुए थे उन्हीं का यह फल है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव या तो कर्म का दोष निकालता है या नोकर्म का। किन्तु तू उसका मात्र ज्ञान ही कर

और यह जान कि यह पूर्वकृत भूल का परिणाम है।

जो-जो संयोग मिलते हैं, वह कर्म का फल नोकर्म है। नोकर्म में अनेक बातों का समावेश हो जाता है। अच्छा अन्न-जल मिले, शरीर अच्छा रहे या न रहे, और बाहर की अनुकूलता हो या प्रतिकूलता यह सब नोकर्म है। जो यह मानता है कि यदि घूमने जायेंगे तो शरीर अच्छा रहेगा, वह नोकर्म को अपना मानता है। अधिकांश मनुष्य यह मानते हैं कि—यदि हम सवेरे चाय न पियें तो हमारा सिर दुखने लगे, यदि चाय पी ले तो मस्तिष्क में शांति रहे और ज्ञान अच्छा काम करे! किन्तु यह तो विचार करो कि चाय की जरा-सी धूल तुम्हारे ज्ञान में कैसे सहायक हो सकती है? यदि चाय के एक प्याले से ज्ञान अच्छा काम करने लगे तो फिर जगत भर की चाय इकट्ठी करके पी लेने से तो केवलज्ञान हो जाना चाहिए। अरे! यह कैसी विपरीत मान्यता है? अपनी विपरीत धारणा से ऐसा मान रखा है कि—यह पर वस्तुएँ मेरे ज्ञान में सहायक हो सकती हैं। ज्ञानी समझता है कि नोकर्म मेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु अपनी निर्विकार स्वभाव में एकाग्र होकर रहना ही मेरा स्वरूप है।

इस प्रकार मन, वचन, काया का जो योग है, उस योग को कम कर डालना अर्थात् विकल्पों को कम कर देना और स्वरूप में एकाग्र होना सो भगवान की सच्ची स्तुति है।

इसी प्रकार इकतीसवीं गाथा में यह बात आ चुकी है कि—मैं पंचेन्द्रियों से भिन्न हूँ, और इन्द्रियाँ मेरी नहीं हैं।

जैसे यदि रूप को देखकर अस्थिरता की ओर झुकाव होता हो तो उसे दूर करके स्थिर होना चाहिए, उसी प्रकार यदि कोई शब्द सुनकर अस्थिरता होती हो तो दूर करके स्थिर होना चाहिए। इसी प्रकार स्पर्शन, रसना और घ्राण के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

राग-द्वेष को भेदज्ञान के बल से अलग करके अपने में स्थिर होकर उपशान्त किया है, नष्ट नहीं किया। पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मानुभव करने से जितमोह जिन हो गया। यहाँ यह आशय है कि श्रेणी के चढ़ने पर जिसके अनुभव में मोह का उदय न रहे, और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मा का अनुभव करता है, वह जितमोह है। यहाँ मोह को दबा दिया है, नष्ट नहीं किया। यह भगवान की द्वितीय कक्षा की निश्चयस्तुति है।

भगवान की स्तुति अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध रखती है, पर भगवान के साथ

सम्बन्ध नहीं रखती। सन्मुख विद्यमान भगवान की ओर जो परोन्मुख भाव है, सो शुभभाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं। स्त्री-पुत्रादि की ओर जानेवाला भाव अशुभभाव है। उस अशुभभाव को दूर करने के लिये भगवान की ओर शुभभाव से युक्त होता है, किन्तु आत्मा क्या है और धर्म का सम्बन्ध मेरे आत्मा के साथ है, यह न जाने न माने तो उसे भगवान की सच्ची स्तुति या भक्ति नहीं हो सकती। जो इस पचरंगी दुनिया में अच्छा शरीर अच्छे खान-पान और अच्छे रहन-सहन में रचा-पचा रहता है, उसे यह धर्म कहाँ से समझ में आ सकता है ? ॥३२॥

तीसरी स्तुति भाव्य-भावकभाव के अभावरूप निश्चयस्तुति है, इसे आचार्यदेव समझाते हैं; जो उस स्वरूप को समझ लेता है, उसे तत्काल ही ऐसी स्थिरता नहीं हो जाती; किन्तु यहाँ यह समझाते हैं कि निश्चयस्तुति और भक्ति का यह स्वरूप है।

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः।।३३।।

अर्थ—जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट होता है तब निश्चय के ज्ञाता उस साधु को निश्चय से 'क्षीणमोह' इस नाम से पुकारते हैं।

अज्ञानी अर्थात् अनादि काल से अज्ञान और शरीरादि संयोग को अपना माननेवाले जीव से कहते हैं कि हे भाई ! तेरे आत्मा का सम्बन्ध तेरे साथ है, पर के साथ नहीं है। तू अपने आत्मधर्म के सम्बन्ध को पर के साथ मानता हो, देव-गुरु-शास्त्र को भी अपने आत्मधर्म के सम्बन्धरूप मानता हो तो यह सच्ची स्तुति नहीं है; यह समझाते हैं।

इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके पूर्व कथनानुसार ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे अपने स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से

मोह की सन्तति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश होता है कि फिर उसका उदय नहीं होता।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी। उस मोह को स्वरूप की सावधानी से नष्ट कर दिया। पहले तो मोह का तिरस्कार करके उसे दबा दिया था, किन्तु यहाँ स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करके मोह का ऐसा नाश किया कि फिर उसका उदय नहीं होगा।

प्रथम कक्षा की निश्चयस्तुति में मोह से पृथक् जानने और मानने को कहा है।

द्वितीय कक्षा की स्तुति में बताया है कि मोह में एकमेक नहीं हुआ किन्तु दूर से ही लौट आया है अर्थात् मोह का तिरस्कार कर दिया, और इस प्रकार मोह का उपशम कर दिया है।

तीसरी कक्षा में मोह का क्षय किया है।

इस प्रकार यह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्तुति कही है।

अपने आत्मा की उत्कृष्ट शुद्ध निर्मलभाव की भावना का अर्थ है आन्तरिक एकाग्रता। निर्विकल्प स्वभाव में स्थिर हुआ, मात्र शुद्ध वीतराग स्वभाव में एकाग्रता करने में लग गया, और उसका भलीभाँति ऐसा अवलम्बन किया कि दो घड़ी में ही केवलज्ञान प्राप्त हो जाए, ऐसी यह उत्कृष्ट भक्ति है।

यहाँ ऐसा स्वतन्त्र स्वभाव बताया है कि कोई परपदार्थ कुछ कर नहीं देता। जब तेरा ही आत्मा स्वरूप की जागृति के द्वारा प्रयत्न करे और जब मोह का क्षय करे तभी मोह क्षय होता है, उसे कोई परपदार्थ या व्यक्ति नहीं कर सकता, ऐसा स्वतन्त्र स्वरूप बताया है। बत्तीसवीं गाथा में 'दूसरे में मले बिना' और 'तिरस्कार करके' ऐसा कहा गया है, किन्तु यह नहीं कहा गया है कि स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन किया है। यहाँ तेतीसवीं गाथा में स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने की बात है, अर्थात् स्थिरता की ऐसी जमावट की है कि मोह का एक अंश भी न रहे।

जड़ को अपनी खबर नहीं है। उसकी खबर करनेवाला प्रत्यक्ष उद्योतमान जागृतज्योति, चैतन्यप्रभु ज्ञायकस्वभाव है। उसका भलीभाँति अवलम्बन करने से मोह ऐसा नष्ट हो जाता है कि फिर वह प्रगट नहीं होता। यदि अग्नि को राख से दबा दिया जाए तो वह पुनः प्रगट

हो सकती है, किन्तु यदि नष्ट कर दिया जाए तो वह प्रगट नहीं हो सकती। इसी प्रकार मोह को दबा दिया जाए तो वह पुनः प्रगट हो जाता है, यदि उसे नष्ट कर दिया जाए तो वह फिर प्रगट नहीं हो सकता। ज्ञानस्वरूप परमात्मा में ऐसा स्थिर हो कि अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो जाए। जो इस प्रकार मोह का क्षय करता है वह क्षीणमोह जिन कहलाता है। यह बारहवें गुणस्थान की बात है, तथापि सर्वथा अप्रतिबुद्ध को समझा रहे हैं।

परमात्मा को प्राप्त हुआ अर्थात् बारहवें गुणस्थान में परमात्मा हुआ, अपने में युक्त हो गया सो वह निश्चयभक्ति या निश्चयस्तुति है। यहाँ तो अभी परमात्मा की भक्ति और स्तुति है। तेरहवें गुणस्थान में स्तुति का फल है, क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण परमात्मा हो जाता है।

यहाँ भी जैसा कि पहले कहा गया है उसी प्रकार राग का क्षय किया और द्वेष का क्षय कर दिया; इत्यादि सभी बातें ले लेनी चाहिए।

पहले अपने बल से उपशम भाव के द्वारा मोह को जीता, फिर स्वरूप की सावधानी के द्वारा महा सामर्थ्य से मोह का सत्ता में से क्षय करके जब परमात्मा को प्राप्त होता है, तब 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। अन्तरंग में पर से भिन्न होकर एकाग्र हो सो वह स्तुति और धर्म है। निम्नदशावाले से कहा है कि अपने में जितना सम्बन्ध स्थापित करे उतनी ही सच्ची भक्ति है, परावलम्बन से धर्म नहीं होता किन्तु अन्तरंग स्वरूप में सम्यग्ज्ञानपूर्वक जितनी एकाग्रता-स्थिरता होती है, उतना धर्म है। परोन्मुखता का जो भाव है सो शुभभाव-पुण्यभाव है। उस अशुभराग को दूर करके शुभ विकल्परूप राग होता है। यदि शुभराग न हो तो पापराग होता है, इसलिए ज्ञानी अशुभराग को दूर करके शुभराग में युक्त होता है, किन्तु वह शुभभाव विकारीभाव है, उससे मेरा स्वभाव विकसित होगा ऐसा वह नहीं मानता। यह जो तीनों वर्ग की निश्चयस्तुति कही है, सो तीनों का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। अब यहाँ इस निश्चयव्यवहाररूप स्तुति का अर्थ कलशरूप में कहते हैं:—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

अर्थ—शरीर और आत्मा में व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है, इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इत्यादि (उपरोक्त) प्रकार से होता है। अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था, उसका इस प्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; उस उत्तर के बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है।

शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं, इतना सम्बन्ध व्यवहार से है, निश्चय से नहीं; शरीर के स्तवन से व्यवहार से स्तवन होता है। उसे पुण्यबन्ध होता है, किन्तु वह आत्मा का धर्म नहीं है। चैतन्य का स्तवन चैतन्य से ही होता है। चैतन्यमूर्ति—पर से भिन्न स्वभाव में एकाग्र होना ही निश्चय स्तवन है। केवली भगवान के शरीर की ओर लक्ष्य जाए या उनके आत्मा की ओर लक्ष्य जाए किन्तु दोनों व्यवहारस्तुति हैं। उनसे पुण्यबन्ध होता है, किन्तु आत्मा का धर्म नहीं होता।

अपने स्वरूप में एकाग्र होना भी व्यवहार है, क्योंकि परमार्थ ध्रुव स्वरूप अखण्ड आत्मा ही परमार्थ अर्थात् निश्चय है, किन्तु यहाँ तो पराश्रय को छुड़ाकर स्वाश्रय की अपेक्षा से स्व में एकाग्र होने को निश्चय कहा है। वैसे तो परमार्थ ध्रुवस्वरूप आत्मा ही परमार्थ है। आत्मा की ओर का भाव आत्मा की मूक भक्ति और स्तुति है। पराश्रय के बिना आत्मा में एकाग्र होना सो मूक भक्ति है, धर्म है, और आत्मा का स्वभाव है। भक्ति में बोलने का भाव हो सो विकल्प है, किन्तु स्वरूप में एकाग्र होने का दूसरा नाम मूक भक्ति है।

पर से अलग हुआ अर्थात् पर का अभिमान दूर हो गया, फिर अस्थिरता को दूर करने का प्रयास हुआ। यहाँ कोई कह सकता है कि इसे जानने का क्या काम है ? किन्तु भाई ! आत्मविवेक के बिना स्थिर होने का प्रयास नहीं होता; और विवेक, दृढ़ता तथा स्थिरता के बिना मुक्ति नहीं होती।

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नैक एव ॥२८॥

अर्थ—जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनियों ने जब आत्मा और शरीर के एकत्व को इस प्रकार नयविभाग की युक्ति के द्वारा जड़मूल से उखाड़ फेंका है—अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने निजरस के वेग से आकृष्ट होकर प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल यथार्थता को प्राप्त न होगा ?

अब आचार्यदेव एक अद्‌भुत बात कहते हैं।

जिसने नय-विभाग की युक्ति से पर से आत्मा का पृथक्त्व जान लिया है, परिचय प्राप्त किया है, उसने शरीर के साथ माने गये एकत्व को जड़मूल से उखाड़ फेंका है।

शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप के भाव तेरा कुछ भी नहीं कर सकते। तू उनसे पर है, वे तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। तुझमें पर पदार्थ नहीं है, इस प्रकार आत्यन्तिक रूप से निषेध किया है। जिसने पर से पृथक्त्व को जान लिया है, उसने पर से एकत्व को उखाड़ फेंका है। जबकि ऐसे मुनियों ने पर सम्बन्धी एकत्व का अत्यन्त निषेध कर दिया है, तब फिर किस पुरुष को तत्काल ज्ञान न होगा ?

आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अनेक प्रकार से आत्मा को पर से भिन्न बताया है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष होगा कि जिसे सम्यक् प्रतीति न हो ? अब तो सम्यक् प्रतीति होनी ही चाहिए। ऐसी अद्‌भुत बात सुनकर भी किसी के मन में यह शंका हो सकती है कि पहले ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया था तब भी आत्मप्रतीति प्रगट नहीं हुई थी, तो अब क्या होगी ? तो यह उचित नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, पुण्य-पाप के विकारीभाव नाशवान हैं। उनसे तेरा अविनाशी स्वरूप पृथक् है। उस अविनाशी स्वरूप को हमने प्रगट कर लिया है, सो तुमसे कह रहे हैं, तब फिर तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आयेगा ? अवश्य आयेगा, अवश्य प्रतीति होगी। यह वस्तु तुम्हारे कानों में पड़े, तुम्हारी सच्ची जिज्ञासा हो, रुचि हो तब फिर यह बात क्यों समझ में नहीं आयेगी ? जबकि हमने अनेक प्रकार से आत्मा को भिन्न बताया है तब तत्काल ही आत्मप्रतीति क्यों नहीं होगी ? इससे तो आबाल-वृद्ध सभी को तत्काल प्रतीति हो ही जाती है।

वह ज्ञान अपने निजरस से आकृष्ट एकरस होता हुआ प्रगट होता है। मैं आनन्दमूर्ति हूँ, ऐसी श्रद्धा के द्वारा उसमें एकाग्र हो जाए तो मात्र ज्ञान ही नहीं किन्तु साथ में आनन्द भी प्रगट होगा, और आकुलता तथा पराधीनता भी नहीं रहेगी। आत्मप्रतीति के होने पर शान्ति होती है, आनन्द होता है, आत्मप्रतीति होने पर आकुलता दूर न हो और शान्ति प्राप्त न हो, ऐसी बात इस शास्त्र में कहीं है ही नहीं। शरीर और आत्मा दोनों त्रिकाल में पृथक् पदार्थ हैं, शरीर के भाव आत्मा के, और आत्मा के भाव शरीर के आधीन नहीं हैं।

सच्ची सेवा और सच्ची भक्ति तब कहलाती है, जब यह प्रतीति हो जाए कि—शरीर और इन्द्रियों से मैं ज्ञानस्वभाव ध्रुव आत्मा भिन्न हूँ, जो यह क्षणिक विकार है सो मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे स्व-पर विवेक शक्तिवाले से ज्ञानस्वरूप की एकाग्रतारूप सेवा करना सो सच्ची भक्ति है। आत्मा अकेला, निर्विकल्प, निर्विकार और ध्रुवस्वभाव है, उसका अनुभव करना ही धर्म है; और फिर आगे जाकर स्थिरता करना तथा राग-द्वेष का समूल नाश करना सो यही भगवान की सच्ची स्तुति है।

अट्ठाईसवें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि—हमने जो अधिकार कहा है, सो अपने स्व-पर के पृथक्त्व के विवेक से कहा है।

इसमें अनेक प्रकार बताये हैं। जिस जीव को आत्मधर्म चाहिए है, उसे स्वरूप से परिचित ज्ञाता गुरु पहले मिलना चाहिए। यहाँ वक्ता और श्रोता की बात कही जा रही है। जिन धर्मात्मा मुनियों ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय अर्थात् अभ्यास करके अनुभव कर लिया है, उनसे सुनने के बाद अन्तरंग पुरुषार्थ से एकाग्र हुआ जा सकता है। यहाँ उस पात्र को लिया गया है, जो तत्काल समझ सकता है।

शरीर, मन और वाणी से तो धर्म नहीं होता, किन्तु पराश्रय से शुभाशुभ विकल्प की ओर झाँके तो वह भी धर्म का यथार्थ स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानमूर्ति ध्रुवस्वरूप है, वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप है। ऐसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिचय करके, जो केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए बारम्बार स्वरूपस्थिरता करते हैं, ऐसे मुनियों ने आत्मा और शरीर के एकत्व को जड़ से उखाड़कर फेंक दिया है।

जैसे पत्थर पर टाँकी से उत्कीर्ण अक्षर मिट नहीं सकते, इसी प्रकार आत्मा शरीर, मन और वाणी से मिट नहीं सकता। आत्मा का ऐसा टंकोत्कीर्ण ध्रुव स्वरूप है कि वह

अन्तरंग में होनेवाली शुभाशुभ भावनाओं से भी नहीं मिटता। वस्तुस्वभाव किसी भी बाह्य पदार्थ से या आन्तरिक शुभाशुभ भाव से नष्ट नहीं होता।

भगवान आत्मा शरीर में और शरीर आत्मा में त्रिकाल नहीं रहा है। शरीर, शरीर में है और आत्मा आत्मा में है। शरीर का प्रत्येक रजकण पृथक्-पृथक् है। जब शरीर का एक रजकण बदलता है, तब उस स्वतन्त्र रजकण को इन्द्र भी नहीं बदल सकता।

अन्तरंग स्वरूप चैतन्य शुद्ध मूर्ति पर से भिन्न आनन्दघन है। उसकी प्रतीति होने पर सम्यग्दर्शन होता है। मैं शरीरादिक परपदार्थों को ऐसा कर दूँ और वैसा कर दूँ—ऐसी मान्यता में रुक जाने से स्वरूपसन्मुख होने की शक्ति रुक जाती है। आत्मा वस्तु, उसका क्षेत्र अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई, उसका काल अर्थात् वर्तमान समय की अवस्था और उसका भाव अर्थात् ज्ञान-दर्शनादिक अनन्त गुण अपने आपमें हैं, इसी प्रकार जड़ वस्तु और उसका क्षेत्र, काल एवं भाव जड़ में है। इस प्रकार परस्पर अपेक्षित ज्ञान की युक्ति से विभाजन के द्वारा शरीर और आत्मा के एकत्व को जड़मूल से उखाड़ फेंका है। जिसने यह नहीं जान पाया कि आत्मा सर्वथा भिन्न है और जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, उसे धर्म की गन्ध तक नहीं मिली है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी कही हुई इस बात को सुनकर किस पुरुष को यथार्थ ज्ञान न होगा? जबकि कहनेवाला ज्ञानी है और समझनेवाला पात्र है तो फिर समझ में क्यों नहीं आयेगा? शरीर, मन और वाणी मेरे नहीं हैं, उस ओर होनेवाले भाव भी मेरे नहीं हैं, इस प्रकार वीर्य पर में से रुक गया और मेरा ज्ञानानन्द का वीर्य मुझमें है, यह जान लिया, तो फिर किस पुरुष को यथार्थ प्रतीति शीघ्र-तत्काल न होगी? जिसने पात्र होकर सुना है वह यथार्थता को क्यों नहीं प्राप्त करेगा? आचार्य कहते हैं कि हमारी कही हुई बात जगत को अवश्य मोक्ष दिलायेगी। हमने शरीर और आत्मा की भिन्नता के गीत गाये हैं, पृथक्त्व को स्पष्ट बता दिया है, तब फिर ऐसा कौन पुरुष है जो जड़-चैतन्य के विभाजन को न समझ सके? ऐसी अपूर्व बात को प्राप्त किये बिना पंचम काल के जीव क्यों रह जायें? इस पंचम काल में ऐसा शास्त्र रचने का विकल्प उठा और हमारे द्वारा यह शास्त्र रचा गया तो फिर ऐसा कौन पुरुष है जो इसे पढ़कर-समझकर स्वरूप को प्राप्त न होगा? यह बात सुनकर ऐसा कौन जीव होगा जिसे आत्मप्रतीति न होगी।

स्व-सत्ता के सन्मुख हुआ जीव स्वरूप को पहिचानता है, और पर सत्ता में रहनेवाला स्वरूप को भूल जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि पंचम काल के जीव क्रियाकाण्ड में फँस गये। हमें इस पुस्तक के रचने का विकल्प उठा तो जगत के जीव क्यों न समझेंगे ? अवश्य समझेंगे। समयसार की महिमा क्या कहें ? इसे तो जिसने समझा हो वही जानता है। आचार्यदेव ने अद्‌भुत करुणा रस की वर्षा की है। यह समयसार किसी बलवत्तर निमित्त-उपादान के योग से रचा गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि—हम अपने स्व-स्वभाव के बल से कर रहे हैं, इसलिए हमारा निमित्त ही ऐसा है कि जीव यथार्थ तत्त्व को अवश्य प्राप्त करेंगे। कैसा ज्ञान यथार्थता को प्राप्त होगा ? अपने निजरस से आकृष्ट होकर अज्ञान में जिस राग और आकुलता के रस का वेदन होता था, उस वेदन को तोड़कर अपने ज्ञान-आनन्द रस से आकृष्ट होकर प्रगट होता है, ऐसा प्रभु शान्त और मधुर रस से भरपूर है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर पुण्य-पाप के आकुलतामय भाव को अंशत: नाश करता हुआ अपने में एकाग्र होकर निजरस प्रगट होता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन और इसी का नाम है सम्यक्त्व। शेष सब मनगढ़न्त बातें हैं।

व्यवहार का अर्थ है पराश्रित भाव, उससे आत्मा को अलग बताया है। उस पराश्रितभाव से कभी पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार विभाजन करके आत्मा को अलग बताया है। व्यवहार से परमार्थ कभी प्राप्त नहीं हो सकता, यह जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे भेदज्ञान न हो ? पंचम काल के प्राणियों की पात्रता देखकर आचार्यदेव ने शास्त्र लिखे हैं। इनके द्वारा पंचम काल के पात्र जीव जड़-चैतन्य का विभाजन करके अवश्य स्वरूप को प्राप्त होंगे, एकावतारी होंगे। यह तो सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात है, जो कि धर्म-मन्दिर की नींव है और मोक्ष का बीज है। जो वीतराग हो गये हैं, उनके लिए नहीं किन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों की यह बात है। शरीर, मन और वाणी की क्रिया है सो मैं नहीं हूँ, और संसार के बहाने से, धर्म के बहाने से या ऐसे ही किसी भी बहाने से होनेवाली परोन्मुखी वृत्तियाँ मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं तो एक चैतन्यमूर्ति अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ। इस प्रकार यहाँ पर से भिन्नत्व की प्रतीति बतायी है। जो दीर्घ संसारी हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है, किन्तु जो यह प्रतीति करके एक-दो भव में मोक्ष जानेवाले हैं, उनकी बात है। जिसने आत्मा का अनन्त पुरुषार्थ नहीं देखा वह अनन्त संसार में परिभ्रमण करेगा। जो यह कहता है कि कर्म बाधा डालते हैं, काल आड़े आता

है और जड़ मुझे दुष्कर्म कराता है, वह पाखण्डदृष्टि अनन्त संसारी है; उसकी यहाँ बात ही नहीं है।

जेम-जेम मति अल्पता अने मोह उद्योत।
तेम-तेम भवशंकना अपात्र अन्तर ज्योत॥ (श्रीमद् राजचंद्र)

ज्यों-ज्यों है मति अल्पता और मोह उद्योत
त्यों-त्यों भवशंका रहे अपात्र अन्तर ज्योत॥

जिसकी मति में अल्पता है, ज्ञान में विवेक नहीं है, मोह उद्योत अर्थात् जो परपदार्थ पर भार देता है, और जिसे यह विश्वास नहीं है कि मैं अनन्त पूर्ण शक्तिरूप हूँ, और जो काल, क्षेत्र तथा कर्म को बाधक मानकर दूसरे पर दोषारोपण करता है, उसी को भव की शंका होती है, मैं अपने पुरुषार्थ से स्वतन्त्र आत्मतत्त्व से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता हूँ जिसे ऐसा श्रद्धा न हो, और जिसकी बुद्धि में यह बात न बैठे कि राग को तोड़ना मेरे आत्मा के हाथ की बात है, वह अपात्र अन्तरज्योत है।

मैं आत्मतत्त्व एक क्षण में अनन्त पुरुषार्थ करके अनन्त काल की आकुलता को नष्ट करनेवाला हूँ, क्योंकि मैं अनन्त वीर्य की मूर्ति हूँ, यह बात जिसकी बुद्धि में जम जाती है, उसके अनन्त संसार नहीं होता।

भृगु पुरोहित के दो पुत्र कहते हैं कि हे माता! हमें अब दूसरा भव धारण नहीं करना है।

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिंपवन्नान पुणम्मवायो।
अणागयं नेवय अत्थि किंचि सद्धारवमनेविणइन्तुरागं॥

छोटी आयु के दो बालक जिन्हें जातिस्मरण-ज्ञान हो गया है, आत्मज्ञान हो गया है, वैराग्य प्राप्त करके अपने माता-पिता से कहते हैं कि—हे माता! और हे पिता! हम आज ही आत्मा की निर्मल शक्ति को अंगीकार करेंगे और हम यह निश्चय से कहते हैं कि अब हम दूसरा भव धारण नहीं करेंगे। हमें आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्रतीति हो गयी है, इसलिए अब पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। हे माता! अब हम दूसरी माता के पेट में जन्म नहीं लेंगे, अब दूसरी माता को नहीं रुलायेंगे। हे माता! अब एकमात्र तुझे तो दुःख होगा किन्तु दूसरी माताओं को नहीं रुलायेंगे, हम अब अशरीरी सिद्ध होंगे, फिर से इस भव में नहीं

आयेंगे। इस प्रकार कहनेवाले केवलज्ञानी नहीं किन्तु छद्मस्थ हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन के बल से ऐसा कहा है।

माता कहती है कि हे पुत्रो! तुम अभी छोटे हो इसलिए संसार के सुख भोगकर फिर संसार का त्याग करना, हम सब साथ ही गृहत्याग करेंगे। तुमने अभी विषयों को नहीं देखा है, तुम्हारे मन में तृष्णा रह जायेगी इसलिए भुक्तभोगी होकर फिर गृहत्याग करना।

पुत्रों ने कहा कि हे माता! जगत में अप्राप्त कौन सी वस्तु रह गयी है? मोक्ष आत्मस्वभाव को छोड़कर इस जगत में कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रही है, केवल आत्मा ही अप्राप्त रह गया है। अहिमिन्द्रादि के सुख भी हमने भोगे हैं, इसलिए हे माता! आज्ञा दो। हमारे प्रति जो राग है उसे तोड़कर श्रद्धा लाइये जो कि आपके आत्मा के श्रेय का कारण है। हमारे प्रति जो राग-लालसा है उसे छोड़कर आत्मा की श्रद्धा करो, जो तुम्हारे लिये क्षेम-कुशल का कारण है।

माता को सम्बोधन करके उन बालकों ने जागृत होकर यह वचन कहे हैं। जो आत्मा कल्याण को उद्यत हुआ है, वह रुक नहीं सकता। उन बालकों ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक बारम्बार कहा कि माता! हमें आज्ञा दो, हम आज ही धर्म को अंगीकार करेंगे।

जो क्षत्रिय शूरवीर युद्ध के लिये सन्नद हो जाता है, वह कभी पीछे नहीं रहता, और विजय प्राप्त करके ही चैन लेता है। कौरव-पाण्डवों के युद्ध में श्रीकृष्ण ने जो विजय प्राप्त की थी, वह किसी से छिपी नहीं है। जो कायर होते हैं, वे युद्ध से घबराते हैं, और या तो वे युद्ध में मर जाते हैं या भाग जाते हैं।

इसी प्रकार जो पहले से ही कहते हैं कि आत्मा क्या करे, कर्म बाधा डालते हैं, यदि कर्म मार्ग दें तो धर्म हो; और इस प्रकार जो घबराकर रुदन करने बैठ जाते हैं, उन्हें मरा ही समझो, अथवा वे हारे ही पड़े हैं। हे भाई! तू चैतन्यमूर्ति अनन्त शक्ति का स्वामी है, तुझे कर्म की-रंकता की बात शोभा नहीं देती। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने इस समयसार में जो भेदज्ञान की बात कही है, वह निर्मल और नि:शंक होने की बात है; जो तीन काल में भी बदल नहीं सकती ऐसी अप्रतिहतता की यह बात है। यह सुनकर जिसे अन्तरंग से श्रद्धा जम जाए उसे भव की शंका नहीं रहती, उसका पुरुषार्थ आगे बढ़े बिना नहीं रहता।

श्री कृष्ण के शांब-चक्र इत्यादि से जैसे युद्ध के सैनिकों का पहला, दूसरा और तीसरा भाग, भाग गया था, उसी प्रकार श्रीकृष्णरूपी आत्मा अकेला स्वभाव में सन्नद्ध हुआ और श्रद्धापूर्वक रत हुआ कि वहाँ कर्म का पहला भाग, भाग गया और जहाँ ज्ञान किया वहाँ दूसरा भाग, भाग गया, और चारित्र हुआ सो तीसरा भाग एकदम भाग गया। सम्यग्दर्शन का शंख फूँका और सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष की डोरी खेंची कि वहाँ विवेक जागृत हो गया कि जो-जो विकल्प उठते हैं, वह मैं नहीं हूँ। वहाँ कर्म के दो भाग तो दूर हो गये और जो कर्म का तीसरा भाग शेष रहा सो वह स्वरूप में स्थिर होकर वीतराग होने से एकदम दूर हो गया।

जो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आराधना करता है उसके संसार नहीं रहता, उसमें भी जो उत्कृष्ट आराधना करता है, उसके तो निश्चय से भव रहता ही नहीं है, किन्तु जो जघन्य आराधना करता है, वह भी भव रहित हो जाता है। यह आचार्यदेव की वाणी और आत्मा की साक्षी है।

इस मानव जीवन में आत्मकल्याण कर ले। इस पचरंगी दुनिया में व्यर्थ ही मोह करता फिर रहा है, किन्तु हे भाई! जब शरीर का एक रजकण भी इधर से उधर होगा तब तू उसे नहीं रोक सकेगा। तू यह मान रहा है कि मैं उसे रोक देता हूँ, किन्तु यह तो तू अपनी मूढ़ता को ही पुष्ट करता है।

रजकण की जिस समय जो अवस्था होती है, वह नहीं बदल सकती। किन्तु यहाँ तो लोग यदि हजार पाँच सौ रुपये का वेतन पाने लगते हैं तो वे आसमान सिर पर रख लेते हैं और समझते हैं कि मैं सब कुछ करने को समर्थ हूँ। लेकिन क्या कभी बालू का गढ़ बन सकता है? टाट के थैले में हवा भरी जा सकती है? यदि नहीं तो फिर परपदार्थ को अपना मानकर अभिमानपूर्वक सिर उठाकर चलना भी ठीक नहीं है; पर को अपना मानकर अभिमान करना 'अशक्यानुष्ठान' है। चैतन्य भगवान अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसे भूलकर परपदार्थ को अपना मानेगा तो यह भव वृथा जायेगा। जबकि ऐसा समागम प्राप्त हुआ है तो आत्मकल्याण करता हुआ आगे बढ़।

अज्ञानी जीव अनादि मोह के सन्तान-क्रम से निरूपित जो आत्मा और शरीर का

एकत्व है, उसके संस्कार को लेकर अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, अज्ञानी जीव को शरीर सम्बन्धी ऐसा स्वाद लग गया है कि—जो शरीर है सो ही मैं हूँ, ऐसे निरे अज्ञानी जीव को आचार्यदेव ने यह समयसार समझाया है। उसने पात्र होकर सुना तब तत्त्वज्ञानज्योति प्रगट हो गयी, सम्यक् श्रद्धा का उदय हुआ, और यह प्रतीति हुई कि वस्तु पर से निराली है। स्मरण रहे कि ऐसी प्रतीति गृहस्थाश्रम में रहनेवाले आठ वर्ष के बालक को भी हो सकती है, आबाल-वृद्ध सभी को हो सकती है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप निर्दोष मूर्ति हूँ, ऐसी प्रतीति होने से कर्म-पटल हट गये। जैसे नेत्रों में जब विकार था तब वर्णादिक अन्य प्रकार से दिखायी देते थे, और जब विकार मिट गया तब ज्यों के त्यों दिखायी देने लगे, इसी प्रकार वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही है, किन्तु पर का स्वामी बनकर घूम रहा था। इसलिए यह प्रतीति न होने से कि आत्मा पर से भिन्न है—पर को अपना मान रहा था। जब बिल्ली के बच्चे की आँखें खुलती हैं तब वह कहता है कि—माँ यह जगत कब से है? बिल्ली ने कहा कि बेटा, जगत को तो सब इसी प्रकार ज्यों का त्यों देखते चले आ रहे हैं, तेरी आँखें अभी खुली हैं इसलिए तुझे यह जगत अब दिखायी दिया है। इसी प्रकार अज्ञानी को स्वरूप विपरीत ही भासित हो रहा था, किन्तु स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है, और शरीर भी ज्यों का त्यों है, किन्तु उसे यह प्रतीति हुई कि अरे! मेरा ऐसा स्वरूप है!....इस प्रकार प्रतीति होने पर कर्मों का आवरण भलीभाँति हट जाने से प्रतिबुद्ध होता है। स्मरण रहे कि—यहाँ मात्र 'कर्मों का आवरण हट जाने से' न कहकर यह कहा है कि—'भलीभाँति कर्मों का आवरण हट जाने से' प्रतिबुद्ध होता है, इसी प्रकार भविष्य में भी उसे विघ्न का निमित्त नहीं रहेगा। यहाँ अस्ति-नास्ति दोनों का ग्रहण है। तत्त्वज्ञान की प्रतीति हुई सो अस्ति है और आवरण का अभाव हुआ सो नास्ति है। कोई कहता है कि—हम पुरुषार्थ तो करते हैं किन्तु कर्म मार्ग नहीं देते; लेकिन भाई, ऐसा नहीं हो सकता। जितना प्रबल कारण होगा उतना कार्य बिना नहीं रहता।

जो अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था उसे सम्यग्दर्शन हुआ है। साक्षात् दृष्टारूप अपने को अपने से ही जानकर इस पर भार दिया है कि—अन्य जो देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि हैं, उनमें से किसी से भी नहीं किन्तु अपने से ही जाना है, अपने से ही श्रद्धा की है। देव-गुरु-शास्त्र तो मात्र निमित्त थे, अब जो जाना है उसी के आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि—आत्माराम को अन्य द्रव्य का त्याग करना या प्रत्याख्यान क्या है?

सम्यग्दर्शन होने के बाद ही प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान अर्थात् विरति-निवृत्ति। जो कुछ जाना है उसी का आचरण करने का इच्छुक होकर पूछता है। यहाँ 'उसी का' शब्द पर भार दिया है। इसका अर्थ यह है कि जो जाना है उसी का आचरण करना है दूसरे का नहीं। अर्थात् आत्मा में जो निर्मलस्वभाव है, उसी का आचरण-क्रिया करना है। भगवान आत्मा में स्थिर होती हुई जो क्रिया है सो क्रिया है। शिष्य पूछता है कि प्रभो! सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र क्या होता है ? और प्रत्याख्यान किसे कहते हैं ? यद्यपि उसे भान तो हो ही चुका है, तथापि वह गुरु से अत्यन्त विनयपूर्वक-बहुमान करता हुआ पूछता है कि—प्रत्याख्यान कैसे होता है। सम्यक्त्व हो जाने के बाद क्या उसे यह खबर नहीं है कि—चारित्र किसे कहते हैं ? वह यह भलीभाँति जानता है कि—प्रतीति होने के पश्चात् स्वरूप में कैसे स्थिर होना चाहिए, और वह यह सब कुछ जानता है, तथापि उसने गुरु से यह प्रश्न करके मात्र अपनी आन्तरिक विनय प्रदर्शित की है। उसकी यह नम्रता स्पष्ट प्रगट करती है कि—निकट भविष्य में ही उसके केवलज्ञान प्रगट होनेवाला है। उसे अब चारित्र की उत्कट इच्छा हुई है, और वह गुरु के निकट उपस्थित है, इसलिए पूछे बिना नहीं रहा जा सकता, यह विनय का एक प्रकार है। सम्यक्त्वी सब कुछ भान होते हुए भी पूछ रहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि—वह चारित्र की परिभाषा जानना चाहता है, किन्तु वह स्थिर होने के लिए विनयपूर्वक पूछता है। और क्योंकि वह चारित्र की उत्कट आकांक्षा से पूछ रहा है, इसलिए शीघ्र ही उसके चारित्र प्रगट होनेवाला है। जब शिष्य अप्रतिबुद्ध था, तब वह शरीर को ही अपना मानता था, और जब उसे आत्मप्रतीति हो गयी तब वह उल्लसित हो उठा, और तब अपने को 'आत्माराम' कहकर पूछता है, कि प्रभो! आत्माराम को अन्य वस्तु के त्याग करने को कहा है, सो वह क्या है ? आचार्यदेव ने इसका जो उत्तर दिया है, सो वह आगे कहा जायेगा।

आत्मा और शरीरादि की क्रिया सर्वथा भिन्न है। शरीर और आत्मा दोनों एक वस्तु नहीं हैं, उन दोनों का एक प्रवर्तन नहीं है; उसका अर्थ यह है कि—न तो दो क्रियाएँ एक की हैं, और न दो मिलकर एक क्रिया ही हुई है।

त्रिकाल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि यदि अधिक लोग मानें तो सत् सत्रूप कहलाये, और यदि थोड़े मनुष्य मानें तो सत् असत् रूप हो जाए, क्योंकि सत् के लिए

बहुमत या अल्पमत की आवश्यकता नहीं होती। सत् का माप संख्या पर अवलम्बित नहीं है। जब यह कहा जाता है कि—जड़ की क्रिया स्वतन्त्र है, पुण्य से आत्मधर्म नहीं होता, तब ऐसी बात सुनकर सामान्य जनता को विरोध सा मालूम होता है—विचित्रता-सी लगती है; किन्तु कहीं भी कितना भी विरोध मालूम हो, यहाँ तो विरोध को दूर करके अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त करनी है। भगवान महावीर के समय में भी सत्य का विरोध करनेवाले थे, तब आजकल की तो बात ही क्या कहना?

यहाँ त्याग का सच्चा स्वरूप बतलाया है। समझे बिना त्याग कर-करके सूख गया, छह-छह महीने तक उपवास किये और इतना कष्ट दिया गया कि—शरीर की चमड़ी उतारकर उस पर नमक छिड़का गया फिर भी मन से भी क्रोध नहीं किया, ऐसा एक बार नहीं, किन्तु अनन्त बार कर चुका है, तथापि भव का अन्त नहीं हुआ। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह कहा है कि सन्त के बिना अन्त की बात का अन्त प्राप्त नहीं होता।

आन्तरिक प्रतीति के बिना अन्य समस्त क्रियाएँ की; उनसे कषाय मन्द हुई, पुण्य का बन्ध हुआ, और नववें ग्रैवेयक तक गया किन्तु जन्म-मरण दूर होकर भव का अन्त नहीं हुआ। उन क्रियाओं से मोक्ष नहीं हो सकता। यदि यह कहे कि यह तो सातवें और बारहवें गुणस्थान की बात है, तो वह मिथ्या है। क्योंकि यहाँ तो अनसमझ-अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी को समझाया जा रहा है।

आत्मा पर से भिन्न चैतन्यदल अलग ही है। उसे एक क्षणभर को भी अलग नहीं जाना। और एक क्षण भर को भी कभी ऐसी प्रतीति नहीं हुई कि—मेरी श्रद्धा पर से भिन्न मुझमें है, मेरा ज्ञान भी पर से भिन्न मुझमें है, और मेरी अन्तर रमणतारूप क्रिया अर्थात् चारित्र भी पर से भिन्न मुझमें है। यदि ऐसी प्रतीति हो जाए तो ज्ञान ऐसा प्रगट और स्पष्ट हो जाए जैसे आँख की जाली दूर हो जाने से स्पष्ट दिखायी देने लगता है।

शारीरादि के प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वतन्त्र होती है, फिर भी जीवों को वैराग्य प्रगट नहीं होता। यह मनुष्यभव प्राप्त करके ऐसा भाव प्रगट नहीं किया कि जिससे मात्र एक भव रह जाए और अशरीरी अवस्था प्राप्त हो जाए। जैसा वीतरागदेव ने कहा है, वैसा आत्म-परिचय प्राप्त किये बिना भव का अन्त नहीं होता। बिना समझे वह नरभव व्यर्थ

जाएगा। ऐसा अवतार तो कुत्ते, बिल्ली की तरह हैं, ऐसे बहुत से जीव इस जगत में जन्म ग्रहण करते हैं और मरते हैं, किन्तु यदि ऐसा भाव प्रगट करे कि फिर भव ग्रहण न करना पड़े तब जीवन सफल है। यदि कोई यह कहे कि—दुनिया के कहने के अनुसार चलने से आत्मा का धर्म होता है या उससे जन्म-मरण दूर हो जाएगा तो यह बात त्रिकाल में भी नहीं हो सकती। दुनिया अपना कहा माने तो दुर्गति दूर हो जाये और न माने तो दुर्गति हो जाए, ऐसा त्रिकाल में कभी हो ही नहीं सकता। जीवों ने अनादि काल से आत्मा के स्वरूप को सुना ही नहीं है, तब वे सुने बिना कहाँ से समझेंगे ? उन्हें यह भी खबर नहीं है कि सच्चा देव किसे कहा जाए और सच्चे गुरु कौन हैं। यदि आत्मा की पहिचान किये बिना सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान कर ले तो भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है, जो कि पुण्यबन्ध है, धर्म नहीं। देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तु हैं, और मैं उनकी ओर के होनेवाले शुभाशुभ भावों से रहित अकेला, अखण्ड, शुद्ध निर्विकल्प हूँ, ऐसी श्रद्धा और ज्ञान के बिना, आत्मा की ऐसी अन्तरंग शुद्धि किये बिना कभी किसी का जन्म-मरण दूर नहीं हुआ, और न दूर होगा ही।

चैतन्य पिण्ड पर से पृथक् है, उसकी प्रतीति के बिना चतुर्थ गुणस्थान नहीं हो सकता। चतुर्थ गुणस्थान होने के बाद अमुक अंश में स्थिरता बढ़ने पर पंचम गुणस्थान होता है, तत्पश्चात् विशेष स्थिरता बढ़ती है और छठवाँ, सातवाँ गुणस्थान होता है, और फिर विशेष स्थिरता बढ़ने पर केवलज्ञान होता है।

आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद चतुर्थ गुणस्थानवर्ती शिष्य अन्तरंग एकाग्रता की बात पूछता है, सप्तम गुणस्थानवर्ती नहीं।

सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे व्रत नहीं होते और सच्चा त्याग नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान की खबर न हो और सातवें की बात करे तो व्यर्थ है। यदि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा कषाय को मन्द करे तो पुण्यबन्ध करता है। यह बात भले ही कठिन मालूम हो, किन्तु यह बदल नहीं सकती। प्रायः लोग त्याग ही त्याग की बात कहते हैं, स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि के छोड़ देने को लोग त्याग समझ बैठे हैं; किन्तु त्याग अन्तरंग से होता है या बाह्य से ? यह बात आगे की गाथा में कही जा रही है ॥३३॥